कांग्रेस का इतिहास

[दूसरा खण्ड]

●

— १९३५-१९४२ —

लेखक

डॉ० बी० पट्टाभि सीतारामय्या

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

प्रथम बार : १९४८
मूल्य
दस रुपए

अमर
राजहंस प्रेस,

समर्पण

सत्य और अहिंसा के चरणों में, जिनकी भावना ने कांग्रेस का भाग्य-संचालन
किया है और जिनकी सेवा में हिन्दुस्तान के असंख्य पुत्र-पुत्रियों ने
खुशी-खुशी अपनी मातृभूमि की मुक्ति के लिए
महान् त्याग और बलिदान किये हैं।

प्रकाशक की ओर से

डा० पट्टाभिसीतारामय्या लिखित कांग्रेस के इतिहास के दूसरे खण्ड का यह हिन्दी-संस्करण पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए हमें जहाँ प्रसन्नता हो रही है वहाँ हम यह भी अनुभव करते हैं कि यह संस्करण बहुत पहले प्रकाशित हो जाना चाहिए था। देर हुई, इसके लिए हम पाठकों की दृष्टि में दोषी तो हैं, परन्तु कुछ कारण ऐसे थे कि जिनके रहते हम अपनी इच्छा पूरी न कर सके। आज के समय में कागज और प्रेस की कठिनाइयों पर किसी का बस नहीं है।

इस संस्करण में १९३७ से १९४२ तक का इतिहास आता है। तीसरे यानी अन्तिम खण्ड का अनुवाद प्रेस में है। वह शीघ्र ही पाठकों के सामने आने वाला है।

अनुवाद को यथाशक्ति सुबोध और प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। हम अपने इस प्रयत्न कहाँतक सफल हुए हैं, यह पाठक स्वयं देख सकेंगे।

इस पुस्तक के अनुवाद तथा तैयारी में सर्वश्री सुरेश शर्मा, राधेश्याम शर्मा, ठाकुर राजबहादुर सिंह आदि बन्धुओं का हमें जो सहयोग मिला है। उसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। उनके अनथक परिश्रम के बिना इसके प्रकाशन में सम्भवतः कुछ और विलम्ब हो जाता।

— मंत्री

दो शब्द

कांग्रेस के इतिहास का यह दूसरा खण्ड पहले खण्ड का उत्तर-भाग है।

किसी व्यक्ति के जीवन में स्वर्ण-समारोह एक मंज़िल का निशान है और हीरक-महोत्सव उसकी बढ़ी हुई उम्र का परिचय और उसकी ह्रासोन्मुखी आशाओं का प्रदर्शन। संस्थाओं के लिए यह बात लागू नहीं होती, क्योंकि उनकी उम्र की कोई हद नहीं होती। उनकी शुरुआत तो होती है, पर अन्त नहीं। क्या कांग्रेस ऐसी ही संस्था है? नहीं, हालांकि यह एक संस्था है तो भी यह अधिकतर जीवधारी के समान—एक व्यक्ति के समान है; क्योंकि यह १८८५ ई० में एक खास मकसद के लिए एक हस्ती की शक्ल में बनी थी। इसका उद्देश्य पूरा हो जाने पर इसके जारी रखने की ज़रूरत नहीं रहेगी। दरअसल साठ साल की लम्बी कोशिशों के बाद कांग्रेस संघर्ष करनेवाली जमात नहीं रही, वह तो किसी भी तरह हिन्दुस्तान को विदेशी हकूमत से छुटकारा दिलाने के काम में ही लगी रही। बदकिस्मती से उसकी पुरज़ोर कोशिशों के बाद भी मकसद अभीतक हासिल नहीं हो सका है। आशा है कि 'प्लाटिनम'–महामहोत्सव के आने (यानी कांग्रेस के जन्म को ७० साल हो जाने) के बाद कांग्रेस अपना निर्धारित काम पूरा कर लेगी।

१९४१ और १९४२ से १९४५ तक जेल की जिन्दगी में काफी फुर्सत मिली, जिससे लेखक यह लम्बा इतिहास लिख सका। अवकाश मिलना लिखने की दृष्टि से सुविधा की बात होती है, पर चालू जमाने का इतिहास लिखना कोई सुविधाजनक बात नहीं है। सबसे पहली बात तो इसमें अनुपात समझने की होती है। जो ऐतिहासिक वर्णन किसी ज़माने में काफी महत्त्व के होते हैं, वे भी यकायक अपनी अहमियत और विश्वस्तता खो बैठते हैं। इसीलिए जो इतिहासकार अपने लिखे हुए को छाती से लगाये रहता है, वह अपनी इतिहासकारिता का उपहास कराता है। इस सचाई को ध्यान में रखते हुए ही, जितनी सामग्री प्रकाशित हो रही है उससे दुगनी बड़ी कठोरता से और कुछ अफसोस के साथ अस्वीकार कर दी गई है, यहाँ तक कि पोथी भारी न होने देने के लिए अनेक बहुमूल्य विवरण छोड़ देने पड़े हैं।

जो विद्यार्थी बीते दस साल की घटनाओं का घनिष्ट अध्ययन करना चाहेंगे, वे 'कांग्रेस बुलेटिन' का एक सेट इस खण्ड के साथ और रख लेंगे तो उनकी इस विषय की पढ़ाई पूरी हो जायगी। यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि 'उपद्रवों के लिए कांग्रेस की ज़िम्मेदारी' नामक सरकारी पुस्तिका का जवाब 'गांधीजी का जवाब' भी एक ऐसी पुस्तिका है जो इस विषय को पूरे तौर पर समझने के लिए ज़रूरी है। अगस्त (१९४२) की क्रांति के बाद जो घटनाएँ हुई हैं उनकी पूरी फेहरिस्त नहीं दी जा सकी है। उसकी सूचनाएं (अगर वह देनी ही हुईं तो) अब भी इकट्ठी करनी हैं। सबसे ज़्यादा दिलचस्प वर्णन वह है जहाँ न्याय और शासन

विभागों का संघर्ष होता है। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' सम्बद्ध मुकदमों के बारे में एक बड़ी जिल्द प्रकाशित कर चुका है। इसके अलावा, इस अवधि की घटनाओं को विषयवार कई लेखकों ने संग्रहीत किया है। इन पृष्ठों में कांग्रेस के दृष्टि-विन्दु से उसके कार्य-काल का वर्णन किया गया है। इसमें अर्थ, व्यापार और उद्योग-सम्बन्धी अध्याय जोड़े जा सकते थे—राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्यक्रम आदि को भी जोड़ा जा सकता था। देशी राज्यों के बारे में भी एक अध्याय जोड़ना असंगत न होता, बल्कि उससे इस पुस्तक की उपयोगिता ही बढ़ती। कांग्रेस और लीग के संबंध जिस भयंकर स्थिति में पहुंच चुके हैं उसके वर्णन के लिए एक अलग ही पुस्तक प्रकाशित करने की ज़रूरत है। बंगाल और उड़ीसा के मनुष्यकृत दुष्काल की विस्तृत गाथा भी कोई बिना आंसू बहाये न पढ़ता। लेकिन इन विषयों का कांग्रेस के इतिहास के साथ सीधा सम्बन्ध खण्डनात्मक मार्ग का अवलम्बन किये बिना न होता। यह और कितने ही अन्य विषय एकत्र करने पर 'हमारे ज़माने का इतिहास' तैयार हो जाता, 'कांग्रेस का इतिहास' नहीं।

लेखक दो नवयुवक मित्रों—श्री के० वी० आर० संजीवराव और वी० विट्ठल बाबू बी० ए०—को धन्यवाद दिये बिना इस वक्तव्य को पूरा नहीं कर सकता, क्योंकि इन्होंने इसके लिए अपनी कष्टपूर्ण सेवाएँ अर्पित की हैं। लिखना आसान है—जिस तरह भवन-निर्माण सरल है, पर उसे सुथरे रूप में पेश करने में बड़े ध्यान और शक्ति की ज़रूरत होती है, जो नौजवान ही दे सकते हैं।

नई दिल्ली,
दिसम्बर, १९४६

—बी० पट्टाभि सीतारामय्या

प्रस्तावना

कांग्रेस का इतिहास मुख्यतः मानवीय इतिहास है । हम इसे गिब्बन के शब्दों में "इन्सान के अपराधों, मूर्खताओं और बदकिस्मतियों का लेखा" कैसे मान सकते हैं ? हिन्दुस्तान में तो इन तीनों ही बातों की इस इतिहास-काल में बहुत अधिकता रही है । फिर क्या हम इसे लार्ड बेलफ़ोर के शब्दों में 'छोटे ग्रह में एक के ठंडा हो जाने के संक्षिप्त और अविश्वसनीय प्रसंग' के रूप में वर्णन करें ? यह दोनों ही हम काफ़ी तौर पर कर चुके हैं । तो फिर क्या हम ऐक्टन के शब्दों में सारी कहानी का सार "आज़ादी"—जैसी ऊँचे मक़सद की चीज़ हासिल करने के लिए "मानवीय भावनाओं का संघर्ष मात्र" कह लें । हाँ, आज़ादी इस भावना की चाह है, यह कांग्रेस का प्यारा मक़सद है और कांग्रेस ने इस आज़ादी को पूरे तौर पर हासिल करने के लिए अपने भक्तों पर सेवा और कष्टसहन की शर्त लगायी है और तकलीफों को आमंत्रित करके तथा उन्हें बर्दाश्त करते हुए-दुश्मनों को अपने ध्येय की न्याय-संगतता का विश्वास दिलाया है । यह सब सच है, पर सवाल यह है कि हमें इतिहास कब लिखना चाहिए—जल्दी में या फ़ुर्सत के समय ?

वाल्टर इलियट ने कहा था—"अख़बारनवीसी साहित्य नहीं है । हाँ, उसके औचित्य और शक्ति का प्रदर्शक अवश्य है ।" यह समसामयिक 'रिकार्ड' है । उसकी भविष्य की जानकारी [illegible]ज़ीन पुरुष और स्त्रियों सम्बन्धी है; और किसी विषय की नहीं । इसीलिए इतिहासकार के लिए उसका मूल्य है । यह इतिहास शायद जल्दी में लिखा गया है । यह ठीक ही कहा गया है कि इस ज़माने के इतिहासकार आम तौर से जल्दबाज़ी करते हैं--घटनाओं का तत्कालिक उपयोग करने और 'रायल्टी' वसूल करने के लिए ही वे वैसा करते हैं । 'प्रतिष्ठित लेखक' अनेक कारणों से बहुत-सी बातों के बारे में मीठी बातें करते हैं—जिन में व्यक्ति-विद्वेष, निष्ठा, सुविधाओं के लिए एहसानमन्दी और पाठकों को खुश करने की बातें आदि होती हैं। कुछ भी हो, लेखक की दृष्टि बहुत सीमित है चाहे वह ऊँची हो या नीची । वर्त्तमान दृश्य-बिन्दु का देखना ही मुश्किल है; बीस वर्ष तक इन्तज़ार करने का पुराना विचार अब ठीक नहीं है । आप सचाई को बाद की अपेक्षा मौजूदा ज़माने में आसानी से देख सकते हैं बशर्ते कि आप आवश्यक तथ्य प्राप्त कर सकें । परन्तु बड़ी घटनाओं में से कुछ तथ्य ऐसे हैं जो इतिहास सुनानेवाले की उस योग्यता पर निर्भर करते हैं जो अनुकूल तथ्यों से युक्त हो । मानहानि-सम्बन्धी पुराने कानूनों के होते हुए, खासकर उद्देश्यों के बारे में, बहुत-सी बातों का विवरण नहीं दिया जा सकता । हर शख्स जानता है कि बिना नाम की व्यक्तिगत रायों के खूबसूरत पहलुओं का वर्णन करना भी कितना मुश्किल हो सकता है ।

यह भी कहा गया है कि "बड़ी घटनाएं अपने पीछे सुखद बातें बहुत ही कम छोड़ती हैं ।" वह हमारे पुस्तकालयों को तो सजा देती हैं; किन्तु सम-सामयिक इतिहास के बारे में लिखी गई पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनमें विचित्र असमताएँ पाई जाती हैं । जैसा कि मेटलैण्ड ने कहा

है, ऐसा इतिहास लिखने के कुछ गम्भीर प्रयत्न किये गए हैं जिनके सम्बन्ध में विचार करने या दुबारा मूल्याङ्कन का अवसर नहीं मिला और जिनके बाद में लिखे जाने पर अधिक कद्र होती। यह सच है कि सम-सामयिक इतिहासकार को इस व्यंग के द्वारा चिढ़ाया जाता है कि उसकी रचना तो सिर्फ़ 'अखबार-नवीसी' है, इतिहास नहीं। लेकिन अगर ऐसा इतिहास-लेखक ईमानदार है और अपना काम जानता है तो उसकी कृति पर ऐसे व्यंग का कोई असर नहीं पड़ सकता।

आख़िर, आज का इतिहास कल राजनीति था जो सार्वजनिक आलोचना की ज़बर्दस्त रोशनी से परिपक्व होकर इतिहास बन गया है और इसी तरह आज की राजनीति संशुद्ध और ठोस बनकर कल का इतिहास बन जायगी। इस तरह राजनीति तो इतिहास का अग्रदूत है और इतिहास अपनी दौड़ में अपने रचयिता को इसलिए नहीं भूल सकता कि कहीं वह प्रगति का सच्चा मार्ग न भूल जाय। जब दोनों के अध्ययन समुचित रूप से मिश्रित और अन्तर्सम्बन्धित हों तो ज्ञान के साथ बुद्धि का समावेश हो जाता है और इतिहास-वेत्ता दार्शनिक बन जाता है यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रकार का सम्मिश्रण कठिन है, यही नहीं बल्कि बहुत कम हो पाता है और यह बात तो आलोचक पर निर्भर करती है कि वह देखें कि इन पृष्ठों में 'पक्षपात और अनुचित आवेश' हैं या नहीं। यूनान के इतिहासकार मिलफ़ोर्ड ने अपने लिए गर्वपूर्वक कहा था कि वह सम-सामयिक इतिहासकार के लिए आवश्यक गुणों से मण्डित है। ऐसे देखना यह चाहिए कि इतिहासकार उस निर्लिप्तता और संतुलन का भाव प्रदर्शित करते हैं या नहीं, और यह कि लार्ड ऐक्टन की शब्दावली में 'ये पृष्ठ याददाश्त पर बोझ और आत्मा के लिए प्रकाश'—चाहे वह कितना ही क्षीण क्यों न हो—प्रदान करते हैं या नहीं।

फिर भी यदि काल लेखक की उक्तियों को पलट दे तो उसे यह याद करके तसल्ली हो सकती है कि उसने ऐसी अनिवार्य सेवा की है, जिसके बिना राजनीतिज्ञ तत्काल जानकारी नहीं हासिल कर सकता और न अपने से पहले के राजनीतिज्ञों की ग़लतियों से फ़ायदा उठाकर अपने तत्कालीन कर्त्तव्य का निश्चय ही कर सकता है। आख़िर, सभी तरह के लोग दो श्रेणियों में विभाजित किये जाते हैं कुछ तो अपने तजरबे से जानकारी हासिल करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो दूसरों के अनुभव से लाभ उठाते हैं। निस्सन्देह इस दूसरे प्रकार के लोग अधिक बुद्धिमान होते हैं और उन्हें मिसाल या चेतावनी के तौर पर सम-सामयिक या चालू ज़माने का इतिहास पढ़ने की आवश्यकता होती है। भावी राष्ट्रीयता के लिए समय-समय पर उसकी सफलताओं का लिपिबद्ध होना आवश्यक है जिससे भावी नेता बदले हुए ज़माने और परिवर्तित स्थिति के अनुसार अपना रास्ता तय कर सकें, इसलिए हिन्दुस्तान के संघर्ष की कहानी को ऐसे समय पर चालू ज़माने तक की बनाने और पूरी कर देने की साहस-पूर्ण कोशिशें करने की ज़रूरत है, जब कि अंग्रेज जून १९४८ तक हिन्दुस्तान छोड़ जाने की घोषणा कर चुके हैं।

ठीक ही कहा गया है कि "एशिया दुनिया का केन्द्र है।" भौगोलिक दृष्टि से यूरोप उसकी शाखा है, अफ्रीका उप-महाद्वीप है और आस्ट्रेलिया उसका टापू। एशिया एक पुराना महाद्वीप है जो बड़ी परेशानी-भरी तेज़ी से नई परिस्थितियों में फँस गया है। एशिया के भौगोलिक-खण्ड और ऐतिहासिक स्वरूप ऐसा उलझन-भरा नमूना उपस्थित करते हैं जो अपनी ही परम्परा और प्रक्रियाओं से संयुक्त हैं। आधुनिक 'टेकनिक' ने उस नमूने को विध्वस्त कर दिया है। 'अपरिवर्तित पूर्व' की कहावत अब पाश्चात्य अहम्मन्यता की द्योतक रह गई है।

"पच्छिमी सभ्यता के बाहर, पुराने के ख़िलाफ़ नये का जो संघर्ष हुआ है उसका नतीजा यह हुआ है कि एक बड़ी गहरी बेचैनी फैल गई है। एशिया में यह भावना बहुत ज़ोरदार बन गई है। इस परिवर्तन की रफ्तार और इसका विस्तार और कहीं भी इतनी हद तक नहीं पहुंचा है, न वह और जगहों में इतना दुःखद, या ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण बन सका है। यह महाद्वीप न केवल उबल रहा है, बल्कि इसमें आग लग चुकी है। ऐशिया के परिवर्तन का विस्तार बड़ी दूर तक की सरहदों तक हुआ है और करोड़ों मनुष्यों पर उसका प्रभाव है। इसके संघर्ष बड़े प्रबल हुए हैं—दूसरी जगहों की बनिस्बत यहाँ ज्यादा क्षोभ फैला है। हिन्द-महासागर से महाद्वीप के उत्तरी छोर तक यह सब हो रहा है। वैंघम कॉर्निश के कथनानुसार भूगोल का सम्बन्ध महत्त्व पूर्ण भूखण्डों से होता है और इतिहास का विशिष्ट युगों से।

इसीलिए किसी देश के ऐतिहासिक भूगोल मे हमें निश्चय करना होता है कि उसकी कहानी के कौन-से विशिष्ट युग में अनुकूल परिस्थितियां आई थीं। मौजूदा ज़माने में ऐतिहासिक भूगोल एशिया के हक़ में मालूम पड़ता है। १८४२ से पच्छिमी ताक़तों ने चीन में जो कुछ हासिल किया था वह करीब-करीब सभी खो दिया। आर्थिक दृष्टि से भी अब एशिया दुनिया में मुख्य सामाजिक स्थिति हासिल करने की कोशिश कर रहा है।

१६वीं सदी की शुरूआत का ज़माना ऐसा था जब उपेक्षित भूखण्डों का साबका दुनिया की बड़ी-बड़ी कौमों से पड़ा। इस सम्बन्ध से एशिया का पुनर्स्थापन हो गया और वह अपने आदर्शों की छाप बाहरी दुनिया पर डालने लगा। टैगोर और गांधी एशिया के बौद्धिक प्रसार की मिसालें हैं। सिकन्दर महान् का पूर्व और पश्चिम को मिलाने का स्वप्न पुनर्जीवित हो रहा है। एशिया का समन्वयकारी आदर्श एक ऐसे विकास की ओर ले जा रहा है, जो मुक्ति की दिशा में है। एशिया महाखण्ड अपने भविष्य में विश्वास रखता है और उसका यह भी विश्वास है कि वह संसार को एक सन्देश देगा। उसमें आत्म-चेतनता जग रही है, जो चंगेज़ खां की वह यादगार ताज़ी कर देती है जिसने सब से पहले एशिया की एकता का आन्दोलन चलाया था। उन भावनाओं को जापान में समुचित उर्वर भूमि मिली। पर सारा एशिया इस बात को महसूस करता है कि कनफ्यूशियस के शब्दों में हम अभी तक अव्यवस्थित हालत में जी रहे हैं, हम उस शांति की मंजिल से दूर हैं, जिससे 'कुछ स्थिरता' मिलती है और वह 'अन्तिम शांति की अवस्था' तो अभी हमारी दृष्टि में नहीं आई है।'[1]

दुनिया अब जुदा-जुदा कौमों का समूह नहीं है। राष्ट्रीयता को व्यापक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धांत में बदल देने पर भी उसे उस दूर तक पहुँचानेवाले परिवर्तनों का प्रतिनिधित्व पर्याप्त रूप में नहीं मिलता जो दूसरे विश्व-व्यापी महायुद्ध ने इसके स्वरूप में ला दिया है। इसी की बदौलत हिन्दुस्तान के साथ एक स्वतंत्र अलग टुकड़े के रूप में बर्ताव नहीं हुआ। इसी कारण दुनिया मि० विन्सटन चर्चिल के इस झांसे से परितुष्ट नहीं हुई कि हिन्दुस्तान का मामला तो इंग्लैण्ड का अपना है और अटलांटिक का समझौता ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों पर लागू नहीं होगा। हिन्दुस्तान अब ब्रिटिश-भवन का महत्वपूर्ण भाग नहीं रहा। यह बात अब आमतौर पर स्वीकार कर ली गई है कि हिन्दुस्तान संसार के धर्मों का सन्धि-स्थल और विश्व-संस्कृति का एक संस्थल है, पर साथ ही यह देश संसार के ध्यान में ध्रुव-

१ एशिया और अमेरिका, जून १६४४, पृष्ठ २७९

नारा बन गया है, और संसार को दिलचस्पी का केन्द्र हो गया है। जिस प्रकार भूमण्डल के उस गोलार्द्ध में अमेरिका है, उसी तरह इस गोलार्द्ध में यह अटलांटिक और प्रशांत महासागर का सन्धि-स्थल है। कन्याकुमारी जाकर आप पवित्र 'केप' के छोर पर खड़े होकर समुद्र की ओर मुंह कीजिए। आपके दाहिने हाथ अरब सागर होगा जो 'केप आव गुडहोप' (अर्थात् अफ्रीका के दक्षिणी छोर पर स्थित आशा अंतरीप) पर जाकर अटलांटिक महासागर से मिलता है, और आपके बायें हाथ की ओर बंगाल की खाड़ी होगी, जो प्रशांत महासागर मे जा मिलती है। इस तरह हिन्दुस्तान पूर्व और पश्चिम के मिलने का स्थान है, प्रशांत-स्थित राष्ट्रों की आजादी की कुंजी है और अटलांटिक-स्थित राष्ट्रों की मनमानी पर एक नियंत्रण है। हिन्दुस्तान उस चीन के लिए मुख्य द्वार है जिसकी स्वतंत्रता टापू के राष्ट्र जापान द्वारा खतरे में पड़ गई थी और उसने वहां के ४५ करोड़ निवासियों की आज़ादी को संकट में डालने की कोशिश की थी, पर अब खुद विजेता के गर्वीले चरणों पर गिरा पड़ा है। जापानी साम्राज्यवाद के भयंकर रोग की एक दवा आज़ाद चीन है। पर गुलाम हिन्दुस्तान आधे-गुलाम चीन के लिए नहीं लड़ सकता था। या यूरोप को गुलाम नहीं बना सकता था। ऐसी अवस्था में हिन्दुस्तान की आज़ादी नई सामाजिक व्यवस्था का बुनियादी तथ्य कायम करेगी और इस देश के चालू सामूहिक संघर्ष का ध्येय ऐसे ही आज़ाद हिन्दुस्तान की स्थापना करना है। इस लड़ाई में अगर हिन्दुस्तान निष्क्रिय दर्शक की तरह बैठा यह देखता रहता कि यहां दूसरे स्वतन्त्र देशों को गुलाम बनाने के वास्ते परिचालित युद्ध में भाग लेने के लिए भाड़े के टट्टू भर्ती किये जा रहे हैं और भारत की अपनी ही आज़ादी-जैसी वर्तमान समस्या की उपेक्षा की जा रही है, तो इस का मतलब भावी विश्व-संकट को निमंत्रण देना होता, क्योंकि बिना आज़ादी हासिल किये हुए हिन्दुस्तान पर लालच-भरी निगाह रखनेवाले नव-शक्ति-संयुक्त पड़ोसी या पड़ोसी के पड़ोसी की लार टपकती। उस समय भारत की अभिनव राजनीति, संसार की आर्थिक परिस्थिति और विविध नैतिक पहलुओं के बाहरी दबाव के कारण कांग्रेस ने एक योजना की कल्पना की और १९४२ में सामूहिक अवज्ञा आरम्भ करने का निश्चय किया। इन पृष्ठों मे उस संघर्ष के विभिन्न रूपों और उसके परिणामों का वर्णन है जो बम्बई में ८ अगस्त १९४२ में किये गए फैसले को अमल में लाने के लिए किया गया था। 'भारत-छोड़ो' का नारा इस ऐतिहासिक प्रस्ताव का मूल-बिन्दु था जिसके चारों ओर उसी के अनुसरण में आन्दोलन चलता था। जल्द ही यह लड़ाई का नारा बन गया जिसमें स्त्री-पुरुष और बच्चे सभी समा गये; शहर, कस्बे और गांव सभी जुट गये, पदाधिकारी से किसान तक सभी सम्मिलित हो गये; व्यापारी और कारखानेदार, परिगणित जातियां और आदिम निवासी सभी इस भावना के भंवर में, हंगामा और क्रांति की लहर में आगये। अलग-अलग ज़माने में विभिन्न शताब्दियों में जुदा-जुदा राष्ट्र ऐसे ही प्रभावों में बहते रहे हैं। किसी समय अमेरिका की बारी थी, कभी फ्रांस की, किसी दशाब्द में यूनान की तो कभी जर्मनी की। इन सभी विद्रोहों के कार्य-कारण का तात्विक मूल एक ही था। सरकारों की शरीर-रचना, शासन की अवयव-क्रिया और राजनैतिक जमातों का रोगाणु निदान सभी ज़माने में और सभी मुल्कों में हुआ है।

२

जूलियन हक्सले ने कहा है—"आख़िर इतिहास उन कलाओं में नहीं है जो मानवीय संदर्भों—तथ्यों को निम्नतर स्थान में पहुंचाती हैं। किसी स्वर से चित्र को उद्बोधन नहीं भी मिल सकता, और चित्र का कोई कहानी कहना भी ज़रूरी नहीं है। पर इतिहास पुरुष, स्त्रियों और

बच्चों-सभी के बारे में होता है। मनुष्य ऐसा प्राणी है जिसका निर्माण मनोविज्ञान के द्वारा होता है—चाहे उसे आत्मा कह लीजिए, या और कुछ। चूड़ांत आध्यात्मिक तत्व के बारे में जो बातें हमें कवियों और लेखकों ने आम अनुभव और भविष्यवाणी के रूप में सिखायी हैं, इतिहासकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। और सब से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि जीवन की विजय और दुःखद घटनाओं का अर्थ पात्र-विशेष पर निर्भर करता है और एक छोटे-से परिवार में ही ऐसे कितने ही प्रकार के मनोवैज्ञानिक विभिन्नताओं के नमूने मिलते हैं। हमारे पूर्वजों ने इनमें से चार को लिखा था—रक्त प्रकृति या आत्माभिमानी, उष्ण प्रकृति या चिड़चिड़े, उदासीन स्वभाव के और मन्दप्रकृति या भोले। आधुनिक विश्लेषण के अनुसार मनुष्य के दो ही प्रकार हैं—एक बहिर्मुखी प्रकृति का और दूसरा अन्तर्मुखी प्रकृति का। इनके अतिरिक्त चार वर्गीकरण और हैं जिनका आधार है--विचार-शक्ति, भावना, अनुभूति और अन्तस्करण। यूरोप के उन सुपरिचित मनोवैज्ञानिक और दैहिक नमूने का सादृश्य हमें अफ्रीका में मिलता है। काला रंग, नीग्रो मुख-मुद्रा और अन्य जातीय चाल-चलन तो आवरणमात्र है। इसके भीतर रस-वाहिका नलिकाओं से हीन मांसपेशी वाले, स्नायविक निर्माण वाले अन्तर्मुक्त मनोवैज्ञानिक आधार वाले विभेद ऐसे हैं जो मानव-जाति की विभिन्नताओं के नमूने के रूप में अफ्रीका में भी देखने में आते हैं और यूरोप में भी।

अक्सर दुनिया में जो लड़ाइयां हुई हैं उनमें शस्त्रास्त्रों और साज-सरंजामों की उत्कृष्टता को ही सब से ऊंचा महत्व प्राप्त हुआ है। एक इतिहासकार ने कहा है कि मैसेडोनिया के भालों की बदौलत यूनान की संस्कृति एशिया में पहुँची है और स्पेन की तलवार ने रोम को इस योग्य बनाया था कि वह आजकल की दुनिया को अपनी परम्परा प्रदान कर सका है। इसी तरह १९४४ में जर्मनी के 'उड़ानेवाले बमों' द्वारा लड़ाई का पलड़ा ही पलट जानेवाला था, पर वह व्यर्थ हो गया। तो भी तथ्य यह है कि यूरोप के युद्ध-कौशल के अतिरिक्त युद्ध में काम देने वाली और शक्तियां भी होती हैं जिनका वर्णन बेकन ने इस प्रकार किया है--"शारीरिक बल और मानव-मस्तिष्क का फौलाद, चतुरता, साहस, धृष्टता, दृढ़ निश्चय, स्वभाव और श्रम।" इस बात के बावजूद कि बेकन एक दार्शनिक और वैज्ञानिक था, वह सामान्य बुद्धि के स्तर से अधिक ऊँचा नहीं उठ सका और जहां वह उठा वहां वह साहस से बढ़कर और गुणों की कल्पना नहीं कर सका। हिन्दुस्तान में हमने सामान्य स्तर से ऊपर उठकर सत्य और अहिंसा के लिए कष्ट-सहन करते हुए लड़ाई जारी रखी है, और इस तरह हम सत्याग्रह की जिस ऊँचाई पर पहुँचे हैं। उससे निस्सन्देह इतिहास का रूप बदल गया है, और शक्ति और अधिकार, सत्य और झूठ, हिंसा और अहिंसा तथा पशु-बल एवं आत्म-बल के संघर्ष में विजय की सम्भावना भी परिवर्तित हो गई है। जिस युद्ध को संसार का दूसरा महायुद्ध कहा जाता है उसका श्रीगणेश किसी ऊँचे सिद्धांत को लेकर नहीं हुआ था और अटलांटिक का समझौता--जो एक साल बाद हुआ था, टीका-टिप्पणी के बाद भी हिन्दुस्तान और जर्मनी के लिए एक जैसा किसी पर भी लागू न होनेवाला होगा। उससे बीसवीं सदी के आरम्भिक चालीस वर्षों के युद्ध-नायकों का असली रूप प्रकट हो गया। और उस पर भी तुर्रा यह कि यह युद्ध एक सर्वग्राही युद्ध बन गया जिसने खुले रूप में एकाधिकार के द्वारा और मनमाने ढंग से--आयोजित रूप में जनता की सैनिक भर्ती करके युद्ध-संचालन किया और आज़ादी तथा प्रजातन्त्र की सभी ऊँची बातें हवा, भाप और सुन्दर वाक्यालंकार की तरह उड़ गईं। जब कष्ट-

प्रश्नों के दांतों पर अपनी नीति की दृष्टि से विचार करने का अवसर आया और चर्चिल की 'अपने पर दृढ़ रहने' की अस्पष्ट बात को कार्यान्वित करने का मौका आया तो ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के नामधारी राजद्रोहियों को दण्ड देने, अपने पसन्द की सन्धि करने, निर्वाचन स्थगित करने और समाचारपत्रों तथा पत्र-व्यवहार तक पर कठोर निरीक्षण—सेंसर रखने की नीति बरती गई। यदि युद्ध का यही उद्देश्य था और उसे जीतने के लिए यही ढंग थे, तो हिन्दुस्तान को इस बात के लिए बदनाम नहीं किया जा सकता कि उसने पोलैण्ड, चेकोस्लवाकिया, यूनान और फिनलैण्ड को आज़ाद कराने के उत्तम कार्य में उत्साह और उत्तेजना क्यों नहीं प्रदर्शित की। केवल ब्रिटेन साम्राज्यवादी और अनुदार नहीं है, बल्कि रूस ने भी वह वैदेशिक नीति ग्रहण करली जो ज़ारशाही के शासन के लिए अधिक उपयुक्त होती और सीधे निकोलस द्वितीय द्वारा परिचालित होने पर अधिक उपयुक्त प्रतीत होती। पोलैण्ड का उद्धार करने के लिए जो युद्ध संचालित किया गया था उसका नतीजा यह हुआ कि उसके टुकड़े हो गये और उसे रूस की निर्दयतापूर्ण इच्छा पर छोड़ दिया गया और उन्होंने मामले को वहीं तक नहीं रखा। रूस ने बसराबिया और बुकोविना, फिनलैण्ड और लटविया तथा इस्टोनिया और लिथुआनिया तक पर आक्रमण किया और डार्डेनिल्स के द्वारा मेडिटरेनियम या मृतक सागर पर भी कब्ज़ा जमाने की मांग की। डार्डेनिल्स पर रूस का हाथ होने का मतलब था फ़ारस की मौत। इस युद्ध में हिन्दुस्तान को, बिना उससे पूछे या जांचे ही ग्रस्त कर लिया गया। यह वह युद्ध था जो अपने साथ ब्रिटेन के लिए 'भारत-छोड़ो' का नारा लगाया जिसके लिए हिन्दुस्तान को भारी दण्ड भोगना पड़ा—सैकड़ों को बेंत लगाये गये, हज़ार से अधिक को गोली से उड़ा दिया गया, कितने ही हज़ारों को जेल में ठूंस दिया गया और करीब दो करोड़ के सामूहिक जुर्माने वसूल किये गये।

यद्यपि इतिहास का विकास सारे संसार में सामान्य सिद्धांतों पर होता है, विशिष्ट राष्ट्रों, देशों और राज्यों के विकास का मार्ग उनकी अपनी विलक्षण स्थिति में होता है। खासकर हिन्दुस्तान में इन स्थितियों का जन्म और विकास विचित्र रूप में हुआ है। एक ऐसे विस्तृत देश का, जो लम्बाई-चौड़ाई में महाद्वीप के समान और ज़मीन और आकृति में विभिन्न है, लगभग दो सदी तक पराधीन रहना एक ऐसी बात है जिसका उदाहरण आधुनिक इतिहास में नहीं मिल सकता। इसके लिए हमें संसार के इतिहास में बहुत पीछे तक मुड़ना पड़ेगा जब ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में रोम ने एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की थी जिसका विस्तार पश्चिम में ब्रिटेन से पूर्व में मिस्र तक था और जो लगभग चार सदियों तक क़ायम रहा था। किन्तु इस पराधीनता के उदाहरण में एक जगह सादृश्य समाप्त हो जाता जब मुक्ति की प्रक्रिया आरम्भ होती है तो हिन्दुस्तान में यह पराधीनता एक ऐसा नितांत विरोधी रूप धारण कर लेती है जैसा संसार के इतिहास में कहीं भी देखने में नहीं आता। हिन्दुस्तान में गत चौथाई सदी से घटनाओं ने जो रूप धारण किया है वह संसार में अद्वितीय है और सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों का प्रयोग—जिसे संक्षेप में 'सत्याग्रह' कहते हैं—ऐसा है जिसकी बहुत-सी मंज़िलें और दर्जे हैं जिनके द्वारा राष्ट्रीय क्षोभ—असहयोग से करबन्दी तक सविनय अवज्ञा-आंदोलन के विभिन्न रूपों द्वारा प्रकाशित किया गया है और युद्ध-काल में हिन्दुस्तान की यह अस्पृहणीय—अप्रत्याशितता—स्थिति बनादी गई है। कांग्रेस की हमेशा यह राय थी कि युद्ध-प्रयत्न में हिन्दुस्तान का भाग लेना इस बात पर निर्भर करना चाहिये कि वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उसमें जुटना अपना कर्त्तव्य समझे। इस तरह की मांग लगातार की गई, पर वह फिजूल साबित

हुई। संघर्ष का कारण स्पष्ट था। सविनय-अवज्ञा-आंदोलन के लिए वातावरण तैयार था—जो देश के लड़ने और साहसपूर्वक लड़ने के लिए एकमात्र मार्ग था। जिस प्रकार स्वशासन की योग्यता की कसौटी यह है कि जनता को स्वशासन प्रदान कर दिया जाय, उसी प्रकार संघर्ष के लिए योग्यता की कसौटी यही है कि देश को संघर्ष करने दिया जाय। क्या इंग्लैण्ड १ अगस्त, १९१७ या ३ सितम्बर १९३९ को लड़ाई के लिए तैयार था? जनता जब युद्ध में लग जाती है तो उसे सीख लेती है। हिंसा और अहिंसा दोनों ही प्रकार की लड़ाइयों में यह बात सच है। सवाल सिर्फ उसकी माप-तोल का रह जाता है कि वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक। पहले की परीक्षा हो चुकी है और 'क्रिप्स मिशन' के समय उसका आंशिक परिणाम भी देखने में आया है। दूसरे ने सारी दुनिया को प्रबल वेग से हिला दिया जिसके फलस्वरूप मार्च १९४६ में हिन्दुस्तान में ब्रिटेन से 'मन्त्रि-मण्डल मिशन' आया।

३

इस ऐतिहासिक काल का वर्णन इस पुस्तक संक्षिप्त रूप में किया गया है। कांग्रेस करीब ३३ महीने जेल में रही और न केवल बिना किसी प्रकार की हानि में पड़े बल्कि इज़्ज़त के साथ बाहर आई फिर भी इस थोड़े से अन्तर्काल में कितनी ही घटनाएँ गुज़र चुकीं। हम एक ऐसे ज़माने में रहते हैं जब सदियों की तरक्की सघन होकर दशाब्दियों में और दशाब्दियों की बरसों में आ-जाती है। कांग्रेस की गिरफ्तारी से व्यापक हलचल फैल गई। पुरानी और नई दोनों ही दुनिया के लोगों ने पूछा कि क्या हिन्दुस्तान को लड़ाई में घसीटने के पहले उससे पूछ लिया गया था, और यह कि क्या ब्रिटिश-सरकार हिन्दुस्तान की जनता के बारे में जैसी होने का दावा करती है वैसी सचमुच है; और अगर ऐसा है तो फिर हिन्दुस्तानियों ने लड़ाई में भाग लेने के विरुद्ध इतना शोर क्यों मचाया? यह प्रश्न भी हुआ कि अगर मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों ही ने युद्ध की कोशिशों में मदद नहीं की, तो क्या जो रँगरूट फौज में भर्ती हुए हैं वे साम्राज्य के भक्त के रूप में आये हैं या इसे खेल समझ कर इसमें साहसी पुरुषों की तरह शामिल हो गये हैं अथवा वे लड़ाई के कठिन दिनों में गुज़ारे के लिए पेशेवर सैनिक सिपाही के रूप में भर्ती हुए हैं? एक शब्द में, आज़ादी के लिए हिन्दुस्तान का मामला इस प्रकार व्यापक रूप में विज्ञापित हुआ कि दूसरा महायुद्ध शुरू होने के पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था। ब्रिटेन में जो लोग युद्ध-क्षेत्र में जाने से रह गये थे उनकी आवाज़ अभी तक क्षीण तो थी, पर उसमें समानता और न्याय की पुट थी, इसलिए उसमें काफ़ी ज़ोर था। वह युद्ध की घोर ध्वनि और धूलि में भी सुनाई पड़ी। धीरे-धीरे यह लड़ाई सर्वग्राही और सर्वशोषक बन गई।

अमेरिका में लोग दो हिस्सों में बँट गये थे—एक तो राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के साथ यह विचार रखते थे कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन का निजी मामला है, और एक दूसरा छोटा दल इस विचार का था कि हिन्दुस्तान की आज़ादी जैसी विशाल समस्या पर लड़ाई के दिनों में विचार नहीं हो सकता, उसे लड़ाई खत्म होने तक रुकना चाहिए। तीसरा और सबसे बड़ा दल जनता के उन सीधे-सादे लोगों का था जो चाहते थे कि हिन्दुस्तान को इसी वक्त आज़ादी मिल जानी चाहिए।

जब हिन्दुस्तान ने अमेरिकन और चीनी राष्ट्रों से अपील की तो वह इस बात को जानता था कि ब्रिटेन यह दावा करेगा कि हिन्दुस्तान तो उसका घरेलू मामला है और अन्य राष्ट्रों का हिन्दुस्तान या ब्रिटेन के किसी भी उपनिवेश या अधीनस्थ देश से कोई सम्बन्ध नहीं है। तो भी हिन्दुस्तान और कांग्रेस इस बात से अवगत थे कि ब्रिटेन सभ्य-राष्ट्रों के नक्षत्रमण्डल से अलग

कोई चीज़ नहीं है और वह अन्य राष्ट्रों के साथ घनिष्ट रूप में अन्तर्सम्बन्धित है। हिन्दुस्तान अपनी शक्ति और कमज़ोरी दोनों को जानता है और वह केवल मानवता के नाम पर बाहरी देशों का हस्तक्षेपमात्र नहीं चाहता। ऐसा होने पर भी तथ्य यह है कि यदि किसी व्यक्ति के साथ उसके ही देश में बुरा बर्ताव होता है, तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसका बचाव किसी तरह नहीं कर सकता। तो भी किसी भी देश का अपने देशवासियों या उसके किसी हिस्से के प्रति दुर्व्यवहार कभी-कभी इतना घोर होता है (जैसा कि बेलजियन कांगो के मूल निवासियों के साथ हुआ है या टर्की-साम्राज्य द्वारा आर्मेनियन ईसाइयों के प्रति किया गया) कि ऐसी हालत में दुनिया का लोकमत उससे प्रज्वलित हो उठता है। सामान्य मानवता की भावना दूसरे राष्ट्रों को प्रेरित करती है कि वह ऐसे अत्याचारों का विरोध करें। ज़ारशाही के १६०५ के कार्यक्रम का विरोध करते हुए संयुक्त-राष्ट्र के राज्यमन्त्री रोस्टन ने उन दिनों कहा था—"जो लोग निराशा में हैं, उन के लिए यह जानकर प्रोत्साहन मिलेगा कि दुनिया में दोस्ती और हमदर्दी भी है और सभ्य-संसार द्वारा ऐसी क्रूरताओं के प्रति घृणा एवं निन्दा का प्रकाशन उसमें रुकावट पैदा कर सकता है।"

इसलिए अगर हिन्दुस्तान दमन का हाथ रोकने में सफल नहीं हुआ तो उसके शारीरिक कष्टसहन और त्याग उस पूर्ण नैतिक समर्थन द्वारा अपनी क्षतिपूर्ति कर चुके जो संघर्ष ने अपने औरों से प्राप्त किया है, क्योंकि सत्य और अहिंसा के ऊँचे मापदण्ड की दृष्टि से देखते हुए उसका आज़ादी का ध्येय ऐसा ऊँचा है कि वह हिमालय की उंचाई से बजता हुआ प्रतिध्वनित होता है, और काबुल के सघन देश में होते हुए मक्का मुअज्ज़न, मदीना मुनव्वर, फिलस्तीन के सीनाई पर्वत और एशिया माइनर के पार्मीर तक उसकी आवाज़ पहुँचती है। यहा नहीं, आल्प्स के द्वारा वह पच्छिम की ओर और एपीनाइन, पाइरेनीस और एलबियन की चाक्की शृङ्गमाला तक जा पहुँचती है। इसी प्रकार उसकी गूँज काकेशिया और यूराल तक भी पहुंचती है और कितने ही दुर्लंघ्य पहाड़ियों को पार करती हुई नई दुनिया में पहुंच जाती है। हिन्दुस्तान अच्छी तरह जानता है और पहले से जानता आया है कि उसके उद्देश्य की सफलता उसके हाथों में है और 'देशी तलवार और देशी हाथों द्वारा' ही उसका उद्धार होगा; पर उसने बायरन का युद्ध-कृपाण गांधीजी की शान्ति-पूर्ण सहारे की लाठी से बदल लिया है। हिन्दुस्तान ने युद्ध के लिए नये शस्त्र का प्रयोग करके इतिहास बनाने की कोशिश की है और खून के प्यासे योद्धाओं के रक्त-भोग्य प्रदर्शन को बदल कर उसे उँचाई पर पहुंचा दिया है, जहाँ मानवीय विवेक दैवी आत्मा बन जाता है। बीसवीं सदी ने एक नया ही ध्येय प्राप्त कर लिया और पा लिया है, एक नया झण्डा और नया नेता और इन पृष्ठों में भारत की आज़ादी के पवित्र ध्येय के प्रति संसार की प्रतिक्रिया का वर्णन किया गया है। उसकी आज़ादी के राष्ट्रध्वज के परिवर्तन और स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए भारत के राष्ट्रव्यापी संघर्ष का नेतृत्व करने वाले महात्मा गांधी के महान् उपदेश और उनकी योजना का भी इसमें समावेश है।

विषय-सूची

: १ :

हिन्दुस्तान फिर निर्णय-संकट में

कांग्रेस ने अपने जीवन में—पहले पचास बरसों की भारतीय जनता के सेवाकाल में—अपने ही उपासकों में निरन्तर संघर्ष देखा है। इस संघर्ष का प्रकटीकरण क्रमशः एक ओर तो सक्रियता के उफान और दूसरी ओर बीच-बीच में ख़ामोशी और अन्तरावलोकन से होता रहा है। संघर्ष की भावना की पहली झलक उस समय अभिव्यक्त हुई, जब 'लन्दन टाइम्स', ब्रिटेन में बसे हुए पेंशनयाफ्ता आंग्ल-भारतीय और भारतीय नौकरशाही के झूटे आक्षेपों के विरुद्ध ब्रिटिश हुकूमत के प्रति वफ़ादारी की बार-बार घोषणा की गई और राजद्रोह के अपराध को मानने से साफ़ इंकार कर दिया गया। बाद में बंग-भंग के साथ वह ज़माना आया जब लोग खुशी से राजद्रोही बने, लेकिन साथ ही अदालत में अपना बचाव भी करते रहे। फिर करीब दस बरस तक ख़ामोशी-सी रही और बाद में होम-रूल आन्दोलन आया। इस आन्दोलन में आयर्लैंड की एक महिला श्रीमती एनी बेसेण्ट ने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सत्ता का विरोध किया, लेकिन साथ ही आख़िरी फैसले और समझौते का जो नक्शा उनके दिमाग़ में था उसमें उन्होंने ब्रिटिश हितों को भी अपनी आंखों से ओझल नहीं किया। नया पहलू आया, लेकिन इस बीच में वह ख़ामोशी, जो हर बार मौजूद होती थी, ग़ायब रही। असल में डा० बेसेन्ट कुछ वक्त के लिए ही मैदान से अलग-सी हुईं, लेकिन थोड़े-से ही अर्से के बाद वह गांधीजी के प्रगतिशील बल्कि क्रान्तिकारी आंदोलन के विरोध में आकर मैदान में जम गईं। गांधीजी तो मैदान में बीस से भी ज्यादा बरसों से अग्रणी रहे—कभी कांग्रेस के प्रमुख नेता के रूप में और कभी उसके एकमात्र प्रेरक के रूप में। जो हो, चाहे वे कांग्रेस के चार आना मेम्बर रहे हों या न रहे हों, लेकिन सत्याग्रह के उनके प्रयोगों ने उनको सहज ही एक ऐसे स्थान पर ला दिया था कि कांग्रेस के अगुआ, हिन्दुस्तान के नीतिकार और इस व्यापक जगत के मित्र के रूप में वे कांग्रेस के सलाहकार बराबर बने रहे।

यह बात दिखाई पड़ेगी कि इन मौकों और मोड़ों पर जो लोग किसी समय अगुआ होते वे बाद में अपने साथियों और सहकारियों के तेज क़दम की वजह से चाल में पिछड़ जाते, उन्हें पृष्ठभूमि में ही सन्तुष्ट होना पड़ता और वे प्रायः सार्वजनिक रंगमंच से अलग हो जाते। कभी-कभी वे नये प्रगतिशील पक्ष के विरोध में मोर्चा खड़ा करते जैसे कि गोखले और मेहता ने तिलक के विरोध में किया और डा० बेसेण्ट ने गांधीजी के। मोटेतौर पर इतिहास में घटनाओं का आवर्तन होता रहता है। बम्बई कांग्रेस (अक्टूबर १९३४) अधिवेशन के बाद गांधीजी ने कांग्रेस की चार आना सदस्यता को भी छोड़ देना पसन्द किया; वैसे इस फैसले पर वह अप्रैल १९३४ में ही पहुँच गये थे। किन्तु यह एक ऊपरी चीज थी। कारण कि गांधीजी एक शक्ति हैं—ऐसी शक्ति, जो अपने आपको सिकोड़कर एक केन्द्र में संकुचित हो जाती है, जहां अत्यधिक दबाव में

: १ :

हिन्दुस्तान फिर निर्णय-संकट में

कांग्रेस ने अपने जीवन में—पहले पचास बरसों की भारतीय जनता के सेवाकाल में—अपने ही उपासकों में निरन्तर संघर्ष देखा है। इस संघर्ष का प्रकटीकरण क्रमशः एक ओर तो सक्रियता के उफान और दूसरी ओर बीच-बीच में ख़ामोशी और अन्तरावलोकन से होता रहा है। संघर्ष की भावना की पहली झलक उस समय अभिव्यक्त हुई, जब 'लन्दन टाइम्स', ब्रिटेन में बसे हुए पेंशनयाफ्ता आंग्ल-भारतीय और भारतीय नौकरशाही के झूटे आक्षेपों के विरुद्ध ब्रिटिश हुकूमत के प्रति वफादारी की बार-बार घोषणा की गई और राजद्रोह के अपराध को मानने से साफ इंकार कर दिया गया। बाद में बंग-भंग के साथ वह ज़माना आया जब लोग खुशी से राजद्रोही बने, लेकिन साथ ही अदालत में अपना बचाव भी करते रहे। फिर करीब दस बरस तक ख़ामोशी-सी रही और बाद में होम-रूल आन्दोलन आया। इस आन्दोलन में आयर्लैंड की एक महिला श्रीमती एनी बेसेण्ट ने हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सत्ता का विरोध किया, लेकिन साथ ही आख़िरी फैसले और समझौते का जो नक्शा उनके दिमाग़ में था उसमें उन्होंने ब्रिटिश हितों को भी अपनी आंखों से ओझल नहीं किया। नया पहलू आया, लेकिन इस बीच में वह ख़ामोशी, जो हर बार मौजूद होती थी, ग़ायब रही। असल में डा० बेसेन्ट कुछ वक्त के लिए ही मैदान से अलग-सी हुईं, लेकिन थोड़े-से ही अर्से के बाद वह गांधीजी के प्रगतिशील बल्कि क्रान्तिकारी आंदोलन के विरोध में आकर मैदान में जम गईं। गांधीजी तो मैदान में बीस से भी ज्यादा बरसों से अग्रणी रहे—कभी कांग्रेस के प्रमुख नेता के रूप में और कभी उसके एकमात्र प्रेरक के रूप में। जो हो, चाहे वे कांग्रेस के चार आना मेम्बर रहे हों या न रहे हों, लेकिन सत्याग्रह के उनके प्रयोगों ने उनको सहज ही एक ऐसे स्थान पर ला दिया था कि कांग्रेस के अगुआ, हिन्दुस्तान के नीतिकार और इस व्यापक जगत के मित्र के रूप में वे कांग्रेस के सलाहकार बराबर बने रहे।

यह बात दिखाई पड़ेगी कि इन मौकों और मोड़ों पर जो लोग किसी समय अगुआ होते वे बाद में अपने साथियों और सहकारियों के तेज क़दम की वजह से चाल में पिछड़ जाते, उन्हें पृष्ठभूमि में ही सन्तुष्ट होना पड़ता और वे प्रायः सार्वजनिक रंगमंच से अलग हो जाते। कभी-कभी वे नये प्रगतिशील पक्ष के विरोध में मोर्चा खड़ा करते जैसे कि गोखले और मेहता ने तिलक के विरोध में किया और डा० बेसेण्ट ने गांधीजी के। मोटेतौर पर इतिहास में घटनाओं का आवर्तन होता रहता है। बम्बई कांग्रेस (अक्टूबर १९३४) अधिवेशन के बाद गांधीजी ने कांग्रेस की चार आना सदस्यता को भी छोड़ देना पसन्द किया; वैसे इस फैसले पर वह अप्रैल १९३४ में ही पहुँच गये थे। किन्तु यह एक ऊपरी चीज थी। कारण कि गांधीजी एक शक्ति हैं—ऐसी शक्ति, जो अपने आपको सिकोड़कर एक केन्द्र में संकुचित हो जाती है, जहां अत्यधिक दबाव में

उसका आयतन घनीभूत हो जाता है; किन्तु किसी दूसरे समय में वह अप्रत्याशित घटनाक्रमों में रूपान्तरित होकर एक विस्तृत क्षेत्र में छा जाती है।

अगले साल कांग्रेस की स्वर्णजयन्ती थी, किन्तु उस वर्ष (१९३५) उस महान राष्ट्रीय संस्था का कोई अधिवेशन नहीं हुआ। अगला वार्षिक अधिवेशन अप्रैल १९३६ में लखनऊ में हुआ। इसके सभापति पं०जवाहरलाल नेहरू थे, जो हाल ही में अपनी पत्नी कमला की असामयिक मृत्यु के बाद, जो कि अप्रत्याशित नहीं थी, दुःखी हृदय लेकर यूरोप से लौटे थे। कमला की मृत्यु केवल जवाहरलालजी पर ही एक व्यक्तिगत चोट नहीं थी वरन् वह राष्ट्र के लिए भी एक असाधारण क्षति थी। जवाहरलालजी के जीवन-कार्य में उनकी प्रिय पत्नी का जो सहयोग था उसके प्रति राष्ट्रीय कृतज्ञता और जवाहरलालजी के दुख से राष्ट्रीय सहानुभूति की यह तो एक तुच्छ अभिव्यक्ति थी कि उनको कांग्रेस का दूसरी बार सभापति बनाया गया। भारत में जवाहरलालजी की वापसी पर एक मज़ेदार बात हुई और वह थी एक मामले में बंगाल सरकार पर उनकी छोटी-सी जीत। बंगाल-शासन की रिपोर्ट में जवाहरलालजी ने कुछ बातों का विरोध किया था। बंगाल-सरकार को विवश होकर खेद प्रकट करना पड़ा और जवाहरलालजी के कथन को मानना पड़ा। उस घटना के संबंध में बंगाल-सरकार का कलकत्ते से ७ जनवरी, १९३६ को दिया बयान यह है :—

"शासन रिपोर्ट, बंगाल-सरकार की अधीनता में और उसकी स्वीकृति से प्रकाशित होती है, किन्तु जैसा कि उसके परिचय में स्पष्ट कर दिया गया है उसमें मत-समर्थन है। सरकार ने लेखक से पूछताछ की है और उसका कहना यह है कि जिस कथन पर आपत्ति की गई है वह पं० जवाहरलालजी की गिरफ्तारी से पहले के उनके सार्वजनिक भाषणों से, विशेषकर कलकत्ते में १८ जनवरी १९३४ के भाषण से, निकाला हुआ एक नतीजा भर है। इस भाषण में, जिसका मूल पूर्ण रूप से उपलब्ध है, पंडित नेहरू ने उन सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनों को, जिनके लिए वे सलाह दे रहे थे, खूब बारीकी से समझाया और यह भी बताया कि वे आन्दोलन बुनियादी तौर पर ग़ैर-कानूनी थे, क्योंकि उनके वर्तमान सामाजिक ढांचे और शासक सत्ता के अस्तित्व को ख़तरा था।

"किसानों और मज़दूरों में काम करने की ज़रूरत को बताते हुए उन्होंने यह ज़ाहिर किया कि यह काम लाज़िमीतौर से सरकार के ख़िलाफ़ होगा। वजह यह थी कि सारा आन्दोलन एक ऐसी हद तक पहुँच गया था कि वह मौजूदा क़ानून और समाज के लिए एक खुली चुनौती था। इसके बाद ही उन्होंने हरिजन-आन्दोलन का ज़िक्र किया और बताया कि यह एक ऐसा कार्यक्रम था कि ज्योंही इसको वास्तविक शक्ति का सहारा मिला, इसकी सरकार से मुठभेड़ होगी। इस भाषण की दलील के मुताबिक, और ज़ाहिर है कि ऐसा नतीजा निकालना तर्कसंगत है, यह साफ है कि जिस हरिजन काम का जिक्र किया गया है उसका खर्च हरिजन फंड से चलाया जायगा और वह बयान, जिस पर आपत्ति की गई है, रिपोर्ट के लेखक की राय में एक जायज़ नतीजा है।

"जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रिपोर्ट में जो मत प्रकट किये गए हैं वे बंगाल-सरकार के मत के रूप में नहीं रखे गये, लेकिन उनका प्रचार करने के कारण सरकार का उस ज़िम्मेदारी से बचने का इरादा नहीं है। रिपोर्ट के लेखक ने पंडित नेहरू के उक्त सार्वजनिक भाषणों का सहारा लिया और उसने पं० नेहरू की राजनैतिक प्रवृत्तियों को (जैसा कि वह लेखक समझा है) ध्यान में रखते हुए उन भाषणों के मायने लगाये। सरकार ने इस मामले पर फिर से ग़ौर किया है और वह इस बात को बिला झिझक मंजूर करती है कि जिस वक्तव्य पर आपत्ति की गई है वह

असलियत से परे था और उसकी बुनियाद इस ज़ाहिरा नतीजे पर थी कि भूतकाल में अ-राजनैतिक आन्दोलनों का भी राजनैतिक उद्देश्य से दुरुपयोग किया गया है। पंडित नेहरू की आपत्ति को स्वीकार करते हुए बंगाल-सरकार अपना खेद प्रकट करती है कि जो चीज़ सिर्फ एक नतीजा भर थी, उसको एक तथ्य के रूप में रखा गया और वह रिपोर्ट जो वर्तमान घटनाओं की सही तस्वीर देने के लिए थी, उसमें एक ऐसा बयान आया। उस रिपोर्ट की जो प्रतियाँ अभी सरकार के पास हैं उनमें से उक्त बयान को निकाल दिया जायगा।''

अप्रैल सन् १९३६ में हिन्दुस्तान कहाँ था? उसका क्या दृष्टिकोण था? वे आर्थिक-सामाजिक शक्तियाँ, जो यूरोप को क्रान्ति के भँवरों में फेंक रही थीं, उनकी यहाँ क्या प्रतिक्रिया हो रही थी? क्या यह संभव था कि अथाह अटलांटिक, असीम प्रशांत सागर और दुर्गम हिमालय पश्चिम में उथल-पुथल मचाने वाले विचारों को हिन्दुस्तान से अलग रख सकते? अलग-अलग ज़मानों में दुनिया की लड़ाइयों के बुनियादी मक़सद नई-नई शक्ल लेकर आते हैं। जब राजा धर्मराज ने अपना अश्वमेध यज्ञ किया तो वह अश्व उनकी अविजित और अजेय श्रेष्ठता का प्रतीक था। जो कोई भी उस अश्व को रोकता उसे राजा से युद्ध करना होता, नहीं तो उसकी अधीनता स्वीकार कर उस घोड़े को निकल जाने देना पड़ता। यह राजनैतिक विजय थी। जब अशोक ने कलिंग पर विजय पाई तो उसने वहाँ एक विजय-स्तंभ स्थापित किया और उस पर अपने चौदह आदेश खुदवाये। वह सांस्कृतिक विजय थी। अनंतर प्रादेशिक लोभ की लड़ाइयाँ होने लगीं और फिर उनकी जगह साम्प्रदायिक लड़ाइयाँ आईं, जिनके बारे में उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले वर्षों में लॉर्ड रोज़बरी ने अपनी भविष्यवाणी की थी। दूसरे महायुद्ध को विचारों और आदर्शों की लड़ाई बताया गया। एक ओर लोकतंत्र बताया गया और दूसरी ओर तानाशाही—एक ओर सार्वजनिक सत्ता और दूसरी ओर निरंकुश व्यक्तिगत सत्ता। ये विरोध एक दिन में ही खड़े नहीं हो गये। असल में क्रान्ति दीर्घकालीन और धीमे विकास का शिखर और चरम बिन्दु है। जब एक पेड़ गिराया जाता है या एक साम्राज्य टूटकर गिरता है तो कुल्हाड़ी की आखिरी चोट तक और आखिरी लड़ाई तक उनकी शक्ल और ऊँचाई बराबर बनी रहती है; लेकिन उसके बाद आश्चर्यचकित दर्शकों के सामने से उसकी शक्ल ग़ायब हो जाती है। वे कारण और वे सक्रिय आदर्श और उद्देश्य जिन्होंने फिर यूरोप को युद्ध की चपेट में फेंक दिया है, अचानक ही कैलोडस्कोप (एक खिलौना, जिसमें रंग-बिरंगी तस्वीरें दिखाई देती हैं) की तस्वीरों की तरह नहीं उठ खड़े हुए। बहुत पहले, इनकी शुरुआत हुई और आने वाले तूफ़ान के लक्षण पूर्वी हवाओं, घुमड़ते हुए बादलों, बिजली और बादलों की गरज से प्रकट हुए।

सन् १९३६ में और लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर हमको चारों तरफ से घेरते हुए तूफ़ान के कुछ आरंभिक लक्षण दिखाई दिये। सन् १९३५ में एबिसीनिया पर इटली ने हमला कर ही दिया था। हिन्दुस्तान में नागरिक स्वतंत्रता बिलकुल ख़त्म कर दी गई थी यहाँ तक कि जुलाई १९३४ में ही हिन्दुस्तानी जेलों में लगभग २१०० लोग नज़रबन्द थे। गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार से स्वीकृत क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेंट कानून मौजूद था ही। करीब पाँच सौ अख़बारों से जमानतें माँगी गई थीं और इसकी वजह से करीब ३५० अख़बार बन्द हो गये थे। १६६ अख़बारों की जमानतों की रकम २,५०,००० रु० थी। विदेशों में दशा यह थी कि रूस ने बड़ी तेज़ी से उन्नति की थी और सारी दुनिया की आँखें उधर ही थीं। इस अर्ध-प्राच्य देश से, जिसने गुलामी की जंज़ीरों को तोड़ा था और पूँजीवाद के बन्द तोड़े थे, जब कोई

प्रगति की खबर मिलती तो हिन्दुस्तान के लोगों को, जिनकी लम्बी गुलामी ने आज़ादी की सारी उम्मीदों को दूर कर दिया था, एक चैन-सा मिलता। आम जनता के उत्थान की दिशा में इस विशालकाय रूस ने जो लम्बे-लम्बे कदम बढ़ाये थे और जो नई समाज-व्यवस्था बनाई थी और जिससे रूस के सभी भाग समान रूप से प्रभावित थे, उसको देखकर रूस और यूक्रेन से प्रेरणा लेकर यहाँ के लोगों में वैसा ही आन्दोलन करने, वैसा ही ढाँचा बनाने और वैसी ही सार्वजनिक स्वतंत्रता स्थापित करने की तीव्र उत्कंठा जगी। हिन्दुस्तान की औद्योगिक जनसंख्या बीस लाख से अधिक नहीं थी और असली समस्या हिन्दुस्तान के दसियों करोड़ किसानों की ही थी जो बेकार तो नहीं, वरन् अध-बेकार ज़रूर रहते। हिन्दुस्तान विदेशी शासन से कुचला जा रहा था और वह शासन किसी राष्ट्रीय, निरंकुश तानाशाह के शासन से बेहतर नहीं था। रूस को देखकर यहाँ लोगों की कल्पनाएँ जगतीं, आशाएँ और आकांक्षाएँ उभरतीं और अपने पड़ोसी की एकांगी किन्तु आकर्षक कहानियों को सुनकर भावनाएँ सजीव होतीं। भूख भगाने के लिए इटली और जर्मनी का दूसरा ही ढर्रा था, जिससे वे अपने-अपने राष्ट्रों की निहित शक्तियों को गतिशील बनाकर पुनःस्थापन के लिए सर्वसाधारण में आत्म-विश्वास भरना चाहते थे। इंग्लैंड विजेता राष्ट्र था और उसका अपना ही ढंग था। साम्यवाद के तूफान को ठंडा करने के लिए सामाजिक कष्ट-निवारण के उद्देश्य से उसकी अपनी सुचिन्तित और सुव्यवस्थित योजना थी। फिर भी वास्तविकता यह थी कि उसकी नज़र तकलीफ़ को कम करने की ही तरफ थी। एक शताब्दी से पूँजीवाद और एक ज़माने से सामन्तवाद के कारण वहाँ जो अव्यवस्था थी उसको जड़ से उखाड़ फेंकने का उसका कोई इरादा नहीं था। वृद्धावस्था में पेंशन, श्रम-कानून, मातृत्व-काल में सहायता, बीमारी का बीमा, अनाथालय, अस्पताल और इन सब के ऊपर बेकारी का भत्ता, ये वे हथियार थे, जिनसे ब्रिटेन ने अपने आपको अब तक साम्यवाद के आघात से सफलतापूर्वक बचाया है। लेकिन इंग्लैंड की कमज़ोरी सारी दुनिया को मालूम थी; क्योंकि जैसा कि मार्शल फोच ने कहा है, "सेना इतनी कमज़ोर कभी भी नहीं होती, जितनी कि अपने विजय के दिन।"

अपनी राजनैतिक मुक्ति के लिए हिन्दुस्तान ने कांग्रेस के ज़रिये जो योजना चालू की थी, उसको पचास बरस बीत चुके थे। इस लम्बे अर्से में राष्ट्रीयता का वह सिद्धान्त, जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही यूरोप के राजनैतिक विकास में गहरी जड़ जमा चुका था, सारे हिन्दुस्तान में भी समा गया और उसकी वजह से राष्ट्रीय-जीवन, विचार, आकांक्षा, प्रयत्न, उपलब्धि और आदर्श में एक ऐक्य की भावना स्थापित हुई। इस ऐक्य के साथ ही, उसे आप ऐतिहासिक कहें या भौगोलिक, सामाजिक कहें या सांस्कृतिक, जीव-विज्ञान संबंधी कहें या मानव-विज्ञान संबंधी, हिन्दुस्तान उस आर्थिक विचारधारा के उन तेज परिवर्तनों के साथ, जिन्होंने यूरोप और एशिया के राष्ट्रों में सामुदायिक जीवन में क्रान्ति ला दी है, अपना कदम मिलाता रहा। एक जाति, एक परम्परा, एक सीमाएँ, एक-से जातीय गुण, एक-सी राष्ट्रीय भावनाएँ, स्वतंत्रता की एक-सी आकांक्षाएँ, इन सब ने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से संयुक्त प्रयत्न और सहयोगपूर्ण काम पर प्रभाव डाला है। राष्ट्रीयता के अमूर्त विचारों की जगह कुछ ही समय में विचित्र मनुष्यों के सामाजिक संघर्षों की पार्थिव धारणाओं ने ले ली। नये आर्थिक सिद्धान्त उठ खड़े हुए और मानव-समाज का निर्देश करने वाले नये सिद्धान्तों का प्रचार किया गया। राजसत्ता के पुराने दैवी अधिकार की धारणा बहुत पहले बीत चुकी थी और उसकी जगह राजा को पूर्ण सत्ता का प्रतीक माना जाने लगा, जिसका उद्गम और निर्देश आम जनता से था। धर्म पर अवलम्बित व्यक्ति-

गत राजकीय सत्ता का लोकतंत्रीय रूपान्तर यह हुआ कि जन-मत ही ईश्वर-मत है; किन्तु किसी देश के लिए इसी से तुष्टि नहीं हो सकती कि जनता अपनी बात कह सकती है या उसे मत देने का अधिकार मिला हुआ है। वोटों से पेट नहीं भरता और तब कम-से-कम आदमी की ज़रूरत के लिए खाने, कपड़े और रहने के लिए मकान के इन्तज़ाम की ज़िम्मेदारी का आदर्श बना। हर जीवित प्राणी को इन चीज़ों के पाने का आश्वासन हो और वह भी जल्दी-से-जल्दी। असल बात यह थी कि कोरी राजनैतिक स्वतंत्रता उस समय तक काफ़ी नहीं थी जब तक कि उसके साथ सामाजिक समता और आर्थिक तृप्ति न हो। हिन्दुस्तान की परिस्थिति यह थी कि वहाँ एक विदेशी राज्य था और इसलिए यह बात साफ़ थी कि सामाजिक पुनर्निर्माण से पहले ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता की समस्या को हल किया जाय। किन्तु एक देश में जहाँ डेढ़ सौ बरसों से विदेशी राज्य था, जहाँ शिक्षा के पारस्परिक सिद्धान्तों को बिलकुल उलट दिया गया था और जहाँ न्याय और आर्थिक संगठन को विकृत कर दिया गया था, वहाँ सामाजिक पुनर्निर्माण के बिना स्वतंत्रता प्राप्त करना भी दुर्लभ पाया गया—सामाजिक पुनर्निर्माण, स्वतंत्रता के बाद नहीं, वरन् उसको पाने की कोशिशों के साथ ही-साथ। यही वजह थी कि गांधीजी के नेतृत्व में काँग्रेस ने बार-बार रचनात्मक कार्यक्रम पर, विशेषकर किसानों की उन्नति, साम्प्रदायिक ऐक्य और अस्पृश्यता-निवारण पर ज़ोर दिया। यह बड़े दुख की बात है कि राष्ट्रीय दृष्टि, हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतंत्रता की समस्या पर विशेष रूप से केन्द्रित थी और हिन्दुस्तान के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण पर कम। पहली चीज़ में सारे बलिदान लोगों के सामने आते। दूसरी चीज़ में विच्छिन्न समाज के मलबे के नीचे काम करते-करते अपने आपको दफ़ना देना था। जो हो, काँग्रेस विभिन्न दिशाओं में राष्ट्रीय प्रगति के लिए बराबर कोशिश करती रही और राजनैतिक स्वतंत्रता और सामाजिक पुनर्निर्माण की गाड़ी को, सविनय आज्ञा-भंग और रचनात्मक कार्यक्रम को, विदेशी राज्य के अत्याचार के बीच में होते हुए, प्राचीन सेवा की भावना की जगह स्थापित धन के आधिपत्य को चीरते हुए आगे ले चली। असाधारण दूरदर्शिता के साथ काँग्रेस ने सन् १९२९ में बम्बई की महासमिति की बैठक के समय ही यह कहा कि हिन्दुस्तानी जनता की गरीबी और तकलीफ़ सिर्फ़ हिन्दुस्तान के विदेशी शोषण की वजह से ही नहीं थी, वरन् समाज के आर्थिक ढाँचे की वजह से भी थी, जिसको विदेशी शासक इस गरज़ से बनाये हुए थे कि उनका राज्य और शोषण बना रहे। इसी वजह से काँग्रेस ने मौजूदा आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की सलाह दी और हिन्दुस्तानी जनता की दशा सुधारने और साथ ही गरीबी और तकलीफ़ दूर करने के ध्येय से सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए कहा। यह बात ध्यान देने की है कि पूर्ण स्वाधीनता के लिए लाहौर में जो प्रस्ताव पास किया, उससे छः महीने पहले ही उपर्युक्त प्रस्ताव पास हो गया था। इस तरह चाहे सिद्धान्त में नई समाज-व्यवस्था स्वतंत्रता आने तक इन्तज़ार करती रहे, लेकिन सामाजिक-आर्थिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन की इच्छा पूर्ण स्वतंत्रता की माँग से छः महीने पहले ही प्रकट हो चुकी थी। इस प्रकार सन् १९२९–३० में स्वतंत्रता और पुनर्निर्माण के विचार साथ-साथ चलते हुए नज़र आते हैं और कराची के कार्यक्रम में यह बात तय की गई कि आम जनता का शोषण दूर करने के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता में करोड़ों भूखों की आर्थिक स्वतंत्रता भी शामिल होनी चाहिए। बाद में इसी चीज़ को लखनऊ के खेतिहर कार्यक्रम में अपनाया गया।

इस अर्से में, बल्कि उसी समय से, जब से कि स्वराज्य सन् १९२० में कांग्रेस का उद्देश्य बना, भारत के कुलपति, विद्वान और महारथी डा० भगवानदास, कांग्रेस पर स्वराज्य की परिभाषा

करने के लिए ज़ोर देते रहे। क्या हिन्दुस्तान का यह इरादा था कि वहाँ इंग्लैंड की भांति चालीस राजघरानों के समुदाय का या फ्रांस की तरह दोसौ घरानों का राज्य हो या सामाजिक पुनर्निर्माण की बुनियाद उपभोग के लिए उत्पादन पर होनी थी और उत्पादन का उद्देश्य निर्यात से लाभ उठाना नहीं था? किसी प्रणाली को नाम देने में बेकार के झंझट हो सकते थे,लेकिन सामाजिक परिवर्तन को नाम दिया जाय या नहीं, उसकी गतिशीलता तो प्रकट होती ही है और उसकी सक्रियता पीछे से समय-शक्ति के दबाव के परिणाम-स्वरूप नहीं होती वरन् वह आगे से ही भावना-शक्ति से खिंचती है।

यहां हिन्दुस्तान में लोगों में आगे बढ़ने की प्रवृत्ति ही नहीं थी और जहाँ ऐसी प्रवृत्ति न हो,वहां जिम्मेदारी की भावनाएँ उन वास्तविकताओं के स्पर्श द्वारा नियंत्रित होनी समाप्त हो जाती है, जिनका जरूरी तौर पर एक स्वशासित राष्ट्र प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दों में इंजन में कोई रोक नहीं थी। इसलिए मज़दूरों को साम्यवादी ढंग पर अपना संगठन करने का लालच होता था। नौजवानों के दिमागों पर उग्र समाजवादी विचार हावी होते जा रहे थे और इस वजह से पूंजीवादी और सामन्तवादी लोग बेबसी के साथ विदेशी शासकों की गोद में जाने लगे। बीच में चट्टान की तरह कांग्रेस जमी हुई थी। एक तरफ साम्यवाद की लहरों की चोट थी, दूसरी तरफ़ धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से पूँजीवाद की लहरें किनारा काट रही थीं। कांग्रेस के सामने केवल एक प्रश्न था—अहिंसा द्वारा राष्ट्रीय उत्थान। अंगरेजों के सुधार और दमन, प्यार और दबाव के दुहरे कार्यक्रम की तरह कांग्रेस का भी लड़ाई और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का दुहरा कार्यक्रम था। इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि कांग्रेस का उद्देश्य सिर्फ राजनैतिक आजादी ही था और एक नया सामाजिक ढाँचा बनाना नहीं था। कॉंग्रेस नें बहुत पहले ही, यहाँ तक कि सन् १९२०–२१ में ही, यह समझ लिया था कि सत्ता के लिए अंगरेजों से लड़ते हुए उसको रचनात्मक कार्यक्रम भी अपनाना पड़ेगा; क्योंकि हिन्दुस्तान को उन अंगरेजों से फिर जीतना था, जिन्होंने एक सदी की अपनी इरादतन कोशिश से हिन्दुस्तान की राजनैतिक और प्रादेशिक विजय के साथ ही उस पर नैतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और सामाजिक विजय भी प्राप्त कर ली थी। 'नई समाज-व्यवस्था' का नारा, जिसका महायुद्ध के समय से प्रचार बढ़ गया था, कांग्रेस के कार्यक्रम में गुथा हुआ था। वह तो मशीन-युग था, जिसने यूरोप का और फिर बाद में अमेरिका का औद्योगीकरण किया और उससे एक द्वन्द्व पैदा हुआ। उस प्रतिद्वन्द्विता की जड़ में, जो कि आज पश्चिमी संस्कृति की प्रेरक है, वही द्वन्द्व विद्यमान है। पूर्व में हमेशा से समाज का आधार सहयोग की भावना रही है। उस समाज में अहिंसा की भावना पनपी है, ठीक उसी तरह जैसे पश्चिम के आर्थिक-सामाजिक संगठन की जड़ में हिंसा। इस ढंग से ही अहिंसा की प्रणाली के अनुसार गाँवों की पुरानी दस्तकारी को वापस लाकर उनमें फिर से ज़िन्दगी डाल देने की योजना है। दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता की लोलुपता और लोभ है, जो कि प्रतिद्वन्द्विता में केन्द्रित है। यही चीज़ पूर्व और पश्चिम में, एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के, देहात और शहर के, खेती और उद्योग के स्वयं-पर्याप्तता और साम्राज्यवाद के संघर्ष की जड़ में है और इसी पर दोनों महायुद्धों की जिम्मेदारी है। किन्तु पूर्व में हमारे लिए ब्रिटेन का लोकतंत्र और जर्मनी का नाजीवाद, (उन्हें आप चाहें किसी नाम से पुकारें) एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। वजह यह है कि दोनों का इरादा अपनी शान बढ़ाने के लिए दुनिया के बाजारों पर काबू करने का है। इससे खुद उन बाज़ार वालों को नुकसान होता है और उनकी हैसियत लकड़हारों और भिश्तियों की-सी हो जाती है। कांग्रेस की आंखों से यह बात ओझल नहीं थी कि उद्योगवाद

और पूँजीवाद की चपेट हिन्दुस्तान के शहरों और उसके पड़ोस में चुपके से लेकिन तेजी के साथ बढ़ रही थी। सामन्तवादी ढर्रे को, जो इस देश के लिए नया नहीं था, बड़ी होशियारी से स्थायी बनाने की कोशिश की गई थी। जमींदारियां कायम की गई थीं और बड़े-बड़े जमींदारों को वोट देने का अधिकार दिया गया था और इस तरह जागीरदार, मुआसदार, मनसबदार, मालगुज़ार और मुत्तादारों की एक जमात खड़ी कर दी गई थी। युक्तप्रांत में ऐसे बिचौलियों के तेरह अलग नाम थे और यहां तक कि दक्षिण में भी दो-तीन शक्लों में ये बिचौलिये मौजूद थे। तब यह कहना कि हिन्दुस्तान एक औद्योगिक राष्ट्र नहीं है और यहाँ मिल-मजदूरों की गिनती कभी २० लाख से ज्यादा नहीं हुई, सामाजिक पुनर्निर्माण की जरूरत को मेट नहीं देता। कांग्रेस ने इस ज़रूरत को महसूस किया और तुरन्त कराची कांग्रेस (१९३१) में मौलिक अधिकारों और कर्त्तव्यों पर एक बयान निकाला। इस बात को उसी साल बम्बई में महासमिति की बैठक में एक सीधे-सादे शब्द 'गांधीवाद' से फिर स्पष्ट किया गया। इस शब्द को कराची के खुले अधिवेशन से पहले एक सार्वजनिक सभा में गांधीजी ने पहली बार इस्तेमाल किया था।

लेकिन इसमें एक बहुत बड़ा फर्क था और अब भी है। वह कौन-सी चीज़ है, जिसके ज़रिये यह नई समाज-व्यवस्था स्थापित होगी? इस उद्देश्य पर पहुंचने के लिए कौन-सा साधन है—हिंसा या अहिंसा? बम्बई के अधिवेशन (१९३४) में महासमिति और विषय-निर्वाचन समिति ने कांग्रेस के उद्देश्य में 'शान्तिपूर्ण और उचित' की जगह 'सत्य और अहिंसा' को नहीं रखा; लेकिन इसके मायने यह नहीं थे कि अधिकांश कांग्रेसियों और आम जनता में अहिंसा के सिद्धान्त की पकड़ कुछ ढीली होगई थी। पर देश के तरुण हिंसा से जल्दी सफलता प्राप्त करने की प्रत्याशा और सम्भावना से ललचाये। सन् १९३०-३४ के बीच वे जेलों में उन लोगों के सम्पर्क और प्रभाव में आये, जिन्होंने हिंसा में अपने विश्वास के कारण हिन्दुस्तान की अंगरेज़ी हुकूमत के हाथों अत्यन्त अमानुषिक बर्ताव भुगता था। हिंसा के लिए उन्होंने बहुत ज़बर्दस्त बलिदान किये थे और बड़ी हिम्मत और मज़बूती के साथ उन्होंने अपने ऊपर होनेवाले सारे अत्याचारों को बर्दाश्त किया था। इनमें से कुछ लोगों की कहानियां टाइप कर ली गईं और उनका प्रचार किया गया। इन्हीं लोगों के सजीव सम्पर्क का और भी ज़्यादा असर पड़ा और एम० एन० राय के सिद्धान्तों का गुप्त रूप से प्रचार बढ़ा। इस तरह हिंसा में एक नया विश्वास आया या यों कहिये कि पुराना विश्वास फिर जड़ पकड़ कर जम गया। इसके अलावा एक बात और थी। जब अहिंसा का आन्दोलन ऊपर से असफल हो जाता तो शासकों का रुख और भी ज़्यादा तीखा और अक्खड़ हो जाता; और तब नौजवानों में फिर से आग भड़क उठती। देश के नौजवानों में चारों तरफ़ समाजवाद की आवाज़ थी। विद्यार्थी-संघ और यूथ लीग की स्थापना हुई। कुछ ही समय में नियमित रूप से कार्य करने वाली एक पार्टी बनी जो कांग्रेस समाजवादी दल के नाम से कांग्रेस के ही अन्दर काम करने लगी। धीरे-धीरे एक नई पार्टी साम्यवादी पार्टी तैयार हुई और वह समाजवादी दल से ज्यादा ताकतवर हो गई। दोनों दल जनता में एक-से सुपरिचित हो गये। सरकार जब षड्यंत्र के मुकद्दमे चलाती तो ये बातें लोगों में और भी ज़्यादा फैलतीं। दक्षिण भारत की समाजवादी पार्टी की वार्षिक रिपोर्ट में यह बात साफ़ कर दी गई कि समाजवादी दल, साम्यवादी दल के ही रूप में काम कर रहा था। थोड़े से समय में समाजवादी दल कमज़ोर पड़ गया और १९४० में तो करीब-करीब ग़ायब-सा हो गया और मैदान साम्यवादियों के हाथ में आगया। दूसरे महायुद्ध के दिनों में इनकी हलचल और कार्रवाइयां बहुत बढ़ गईं। सन् १९४१ में सरकार

ने बताया कि उसने छह सौ आदमियों को नज़रबन्द कर रखा था और इनमेंसे ज़्यादातर विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थी थे। इन बातों पर विस्तार से हम आगे विचार करेंगे, लेकिन संक्षेप में हम इन बातों को इसलिए यहाँ दे रहे हैं कि पाठक लखनऊ कांग्रेस (१९३६ अप्रैल) के अधिवेशन की पृष्ठभूमि को समझ सकें।

इस सारी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यह सवाल सामने था कि लखनऊ में सभापति कौन हो? गांधीजी धार्मिक मालूम हो सकते हैं और उन्हें राजनीतिज्ञ की जगह संत अधिक आसानी से समझा जा सकता है; लेकिन इसके मायने यह नहीं कि उनमें राजनीति-चातुर्य न हो और उनकी अपनी नीति न हो। उनका ढर्रा अब पुराना हो सकता है; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे जीवन की नई प्रवृत्तियों के सम्पर्क में नहीं हैं। एक विशेष बात तो यह है कि वह मानव हैं। वे हर साल और हर दिन की घटनाओं पर पैनी नज़र रखते हैं। कमला नेहरू, जिनको मई १९३५ में इलाज के लिए बेडनवीलर ले जाया गया था,जाने से पहले गांधीजी से मिलीं और अपने हस्पताल की देख-भाल उनको सौंप गईं। बाद में मियाद पूरी होने से ५॥ महीने पहले पं० जवाहरलाल नेहरू को ४ सितम्बर १९३५ को जेल से छोड़ दिया गया और वे जल्दी से जर्मनी गये। बरसों के कष्ट और संघर्ष के बाद कमला नेहरू चल बसीं और मार्च १९३६ में जवाहरलालजी अपने ही प्रान्त में कांग्रेस का सभापतित्व करने के लिए वापस आये। इन परिस्थितियों में उनका चुना जाना बहुत स्वाभाविक ही था; क्योंकि एक ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसने राष्ट्र की सेवा में अपनी पत्नी और अपना सर्वस्व दे दिया था, राष्ट्र की ओर से यही सर्वप्रथम और सर्वोत्तम सान्त्वना हो सकती थी। अगर और दूसरी वजह न भी होती तब भी इस चुनाव के लिए यही बात काफी थी। लेकिन दूसरी तरफ अगर वह मृत्यु न भी होती तब भी परिस्थितियाँ उन्हीं को चुनने के लिए मजबूर करतीं। गांधीजी के बाद सबसे ज्यादा प्रभावशाली कांग्रेसी वही थे, जो कांग्रेस को अन्दर से आगे बढ़ने की शक्ति देते और बाहर से रोक भी लगा सकते। उन्होंने ईमानदारी से और जी-जान से मौका पड़ने पर गांधीजी का विरोध किया है; लेकिन हमेशा से उनका इरादा आख़ीर में गांधीजी का ही फैसला मानने का रहा है। इसके अलावा उन्हींके शब्दों में उन्होंने "रूस, जर्मनी, इंगलैंड, अमेरिका, जापान, चीन, फ्रांस, स्पेन, इटली और मध्य यूरोप की घटनाओं का गहरा अध्ययन करने के बाद वर्तमान समस्याओं की उलझन समझने की कोशिश की।" वह इस बात को मानते हैं कि जीवन के साम्यवादी दर्शन से उनको चैन मालूम हुआ और आशा मिली। हिन्दुस्तान की अपनी परिस्थिति से भी वे अपरिचित नहीं थे, जहाँ और सारी बातों के अलावा राजनैतिक स्व-तंत्रता की समस्या राष्ट्रीय वातावरण में समाई हुई थी और उसका राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर पूरा असर था। उन्होंने इस बात को तत्परता से स्वीकार किया है कि "आज के हिन्दुस्तान में मध्यमवर्गीय बुद्धिवादी ही सबसे बड़ी क्रान्तिकारी शक्ति है" और उन्होंने भारतीय साम्यवादियों की यह आलो-चना की है कि उनकी यह "मौलिक भूल है कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपीय मज़दूर वर्ग के मानदंड से देखा है।" उन्होंने 'मेरी कहानी' में लिखा है,"भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन स्पष्टत: मज़दूर या श्रमिक आन्दोलन नहीं है। वह तो एक मध्यमवर्ग का आन्दोलन है और उसका उद्देश्य समाज का ढाँचा बदलने का नहीं है, वरन् राजनैतिक आज़ादी पाने का है।" इसके मायने यह नहीं कि वह यह चाहते थे कि ज़मीन की व्यवस्था न बदली जावे और पूँजीवादी व्यवस्था को भी न छेड़ा जावे। सच तो यह है कि वह इनको बदलने के लिए सबसे ज़्यादा उतारू हैं। बल्कि उसके मायने यह थे कि उन शब्दों में सन् १९३६ में कांग्रेस जो कुछ थी उसे वह राष्ट्र

को समझा रहे थे। निस्सन्देह उनके दिमाग में एक बहुत बड़ा संघर्ष था--संघर्ष उनके विश्वास और कर्त्तव्य में, उनकी भावना और बुद्धि में--और उसमें संतुलन करने के लिए उन्हें बहुत परिश्रम करना पड़ा है। जो हो, इस तरह वे पुराने और नये में एक जोड़ने वाली कड़ी थे। वे गांधीवाद और साम्यवाद के बीच में एक सेतु की तरह थे और इसी वजह से लखनऊ में सभापति-पद ग्रहण करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त थे। यहाँ रूस की द्वैध पद्धति का ध्यान आ सकता है। वहाँ ड्यूमा पर पूँजीवादी पार्टियों का आधिपत्य था और वे लोग वैधानिक लोकतंत्रियों से मिलना चाहते थे, जिनको कैडेट और सोवियेएट कहा जाता था। इनमें मज़दूर, सैनिकों और किसानों के प्रतिनिधियों की कौंसिलें थी और इनपर पहले सामाजिक क्रान्तिकारियों और मैनशैविकों का कब्ज़ा था।[१] कुछ दक्षिणपक्षीय समाजवादियों जैसे केरेन्स्की,शेखिश्रोज़ और त्सेरेटेल की सोवियट और ड्यूमा दोनों में जगह थी और वे दोनों की खाइयों के बीच पुल का काम देते। यह बात शायद ठीक उसी वक्त समझ में न आती।

इसमें कोई शक नहीं कि लखनऊ अधिवेशन जो कुछ हुआ—या यों कहिये कि कुछ भी नहीं हुआ—उससे जवाहरलालजी को बड़ी भारी और तीखी निराशा हुई। जब उन्होंने लाहौर अधिवेशन में सभापतित्व किया था तो उन्होंने अपने सभापति-पद से दिये भाषण में यह कहा था कि मैं एक समाजवादी और प्रजातंत्री हूँ। जब सात बरस बाद उन्होंने लखनऊ में सभापति का आसन लिया तो वे समाजवाद की युक्तिसंगत अगली अवस्था साम्यवाद पर पहुँचे। लेकिन साम्यवादी होते हुए भी उन्होंने शान्तिपूर्ण और उचित उपायों से स्वराज्य पाने के कांग्रेस के उद्देश्य से अपने आप को मिला लिया और उसी बहाव में अपने को डाल दिया। यह सच है कि इसका अर्थ 'सत्य और अहिंसा' नहीं था। वस्तुतः कांग्रेस विधान की पहली धारा को बदलने की गांधीजी की कोशिश बम्बई अधिवेशन (अक्तूबर १९३४) में बेकार हो चुकी थी और इस बात की ओर समाजवादी और साम्यवादी बराबर इशारे कर रहे थे। स्वराज्य के साधन के रूप में इन दोनों गुणों के प्रति इन लोगों का झुकाव नहीं था। सन् १९२९ के बाद भावना में अहिंसा के प्रति जवाहरलाल की आसक्ति दृढ़तर हो गई और गांधीजी के प्रति अनन्य निष्ठा के कारण वह शब्दों में भी दृढ़तर हुई। हाँ, बाद के वर्षों में जब-कभी खद्दर और अहिंसा के खिलाफ वे फूट भी पड़े। सच यह है कि जवाहरलालजी बराबर दो मनःस्थितियों में काम करते रहे हैं : एक तो श्रेष्ठता की, जिसके कारण उन्होंने हिन्दुस्तान में अपने आपको सब से श्रेष्ठ अनुभव किया है और दूसरी मनःस्थिति आत्मदीनता की है, यानी गांधीजी के सामने कहीं उन्हें छोटा न माना जाय। सन् १९२९ में जब जवाहरलालजी सभापति बने तो गांधीजी का अपना रुख उनकी तरफ कैसा था, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

"पिछले महीने की २९ तारीख़ को महासमिति ने उस समय एक बहुत बड़ा और बुद्धिमत्ता-पूर्ण कदम उठाया, जब उसने सन् १९२९-३० के लिए कांग्रेस का कर्णधार जवाहरलाल नेहरू को चुना। किसी भी ऐसे राष्ट्र के लिए, जो अपने आपको समझता हो और आज़ादी के लिए कमर कसे हुए हो, कोई भी आदमी, चाहे वह महात्मा ही क्यों न हो, अनिवार्य नहीं है। जिस तरह पूर्णभाग अंश से हमेशा बड़ा होता है उसी तरह कांग्रेस, जो राष्ट्र की प्रतिनिधि है, अपने बड़े-से-बड़े हिस्से से भी ज्यादा बड़ी है। एक सजीव संस्था होने के लिए उसे अपने अत्यन्त प्रतिभापूर्ण सदस्यों से भी

---

१ 'बिटवीन दि टू वार्स' लेखक के. ज़ैं लिएकस, पृष्ठ ८२

ऊपर होना होगा। महासमिति ने अपने निर्णय से यह दिखा दिया है कि वह कांग्रेस की अंतर्हित शक्ति में विश्वास करती है।

"कुछ लोगों का डर है कि पुराने से नये हाथों में कांग्रेस की ताकत का आना उसके बुरे भविष्य की निशानी है। मेरा मत ऐसा नहीं है। बुराई का डर तो मुझ जैसे व्यक्ति के नेतृत्व से था, जो हाथ-पैरों से इस समय अपाहिज है। भेद की बात तो यह है कि इस ज़िम्मेदारी के लिए जवाहरलाल का नाम पेश करने से पहले मैंने उनसे पूछ लिया था कि क्या इस बोझ को उठाने की ताकत वे अपने आप में महसूस करते हैं। अपने ही तरीके पर उन्होंने जवाब दिया, "अगर मेरे ऊपर बोझ डाला जायगा तो मुझे उम्मीद है कि मैं उससे घबरा कर भागूँगा नहीं।" बहादुरी में कोई उनसे आगे नहीं बढ़ सकता। देश-प्रेम में कौन उनसे अधिक है? कुछ लोगों का कहना है कि वे 'उग्र हैं और काम में अपने आपको अंधाधुंधी से झोंक देते हैं।' इस गुण का इस समय तो और भी अधिक महत्व है। अगर उनमें योद्धा की-सी झोंक है तो साथ ही उनमें कूटनीतिज्ञ की समझदारी भी तो है। निस्सन्देह वे अत्यन्त उग्र हैं और अपनी परिस्थितियों से कहीं आगे की सोचते हैं। साथ ही उनमें काफ़ी विनम्रता और व्यवहार-बुद्धि है, जिसकी वजह से वे कदम को इतना नहीं बढ़ाते कि फिर चला ही न जा सके। वे शीशे की तरह साफ़ हैं और उनकी सचाई शक से परे है। वे एक निर्भीक और निश्चल सेनानायक हैं। राष्ट्र उनके हाथों में सुरक्षित है।"

उस वर्ष के सभापति का गांधीजी ने इन शब्दों में चित्र उपस्थित किया था। पिता मोतीलालजी ने इन्हें अपना अभिमान और पक्षपात सौंपा था। उनके धर्म-पिता गांधीजी ने उनको समझ दी थी। फिर भी यह कहना ज़रूरी है कि जहाँ गांधीजी हिन्दुस्तान के लिए, दुनिया के सलाहकारों में ही नहीं वरन् विश्व-सभ्यता के पुनर्निर्माण में एक ऊँचे स्थान की सोच रहे थे, वहां जवाहरलाल की तीव्र इच्छा यह थी कि संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रगति को ध्यान में रखते हुए हिन्दुस्तान को राष्ट्र-समुदाय में एक उचित स्थान मिले। लखनऊ-अधिवेशन ने जिस साहित्य को जन्म दिया उसमें एक अनुच्छेद यह है, जो भारतीय पुनर्जागरण के उच्चतर आदर्शों को चित्रित करता है। लखनऊ-अधिवेशन की स्वागत-समिति के अध्यक्ष श्रीप्रकाश के भाषण का वह अनुच्छेद इस प्रकार है :

"हमारे सामने जो काम है वह सचमुच बहुत बड़ा है। हमको स्वराज्य प्राप्त करना है। हमारे लिए स्वराज्य का अर्थ केवल अपनी खोई सम्पत्ति को ही नहीं, वरन् अपनी खोई हुई आत्मा को भी प्राप्त करना है। हम स्वराज्य इसलिए चाहते हैं कि हम अपने जीवन को अपने ही ढंग पर ढाल सकें। अपनी चीज़ बनाने के लिए हम अपनी सामर्थ्य चाहते हैं।"

इस लम्बे अर्से के बाद शायद हम यह भूल सकते हैं कि लखनऊ अधिवेशन के समय पर चारों तरफ कैसे धूल के बादल उठाये गये थे, ख़ासतौर से पद-ग्रहण की बात निश्चय करने के बाद। कुछ ही वक्त बीता कि दूसरे महायुद्ध के दौरान में मंत्रिमंडलों को स्तीफे देने पड़े। पिछली घटनाओं को बाद के अनुभवों के आधार पर देखना हमेशा ग़लत होता है; फिर भी यह बात तो है ही कि घटनाओं के क्रमवार वर्णन में जैसे-जैसे वे तथ्य और घटनाएँ घटीं और उस समय पर उनको जो महत्व दिया गया उसका उसी ढंग से उल्लेख होना चाहिये। सन् १९३५ के एक्ट के अनुसार प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल बनाने और पद-ग्रहण के सवाल में कोई बहुत बड़ा नैतिक सिद्धान्त नहीं आता था; लेकिन लखनऊ अधिवेशन में प्रमुख व्यक्तियों का ऐसा मत था कि इस नीति को अपनाने से कांग्रेस नरम विचारधारा के करीब पहुँच जायगी और वह सार्वजनिक उन्नति और सार्व-

जनिक काम की गांधीवादी विचारधारा से दूर हो जायगी। नरम दल के लोग इस बात के इच्छुक थे कि कांग्रेस पद-ग्रहण करले—इसलिए नहीं कि उन्हें कांग्रेस से कोई प्रेम था, बल्कि इस लिए कि विधान तोड़ने की नीति से वे डरते थे। उन्होंने बड़े परिश्रम से यह बात समझाने की कोशिश की कि एक्ट के अनुसार गवर्नर कांग्रेस को उसके माँगे हुए आश्वासन नहीं दे सकते थे। यहाँ तक भी कहा जाता था कि गवर्नर अल्पमत वाले दल में से मंत्रियों की नियुक्ति कर सकते थे। दोनों के दृष्टिकोण दो अलग सिरों पर थे। कांग्रेस की लड़ाई विदेशी राज्य के जुए से आज़ाद होने की थी। वोट से प्रकट होने वाले सार्वजनिक मत को वह कानून बनाने वालों के लिए आदेश के रूप में सामने रखती और देश की मुक्ति के लिए कहती। प्रो० कीथ पर अफ़सरी का असर नहीं था और वे अल्पमत वाले मंत्रिमंडल के निन्दक थे और उन्होंने गांधीजी और उनके साथियों को इस बात पर बधाई दी कि उन्होंने उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्तों का अध्ययन किया था उन्होंने कहा कि विचाराधीन विधान मूलतः दोषपूर्ण था; क्योंकि गवर्नर को विशेषाधिकार देकर सारे उत्तरदायित्व को बेमानी बना दिया गया था। प्रो० कीथ ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "यह एक दुःख की बात है कि गवर्नरों को यह अधिकार नहीं मिला कि वे एक अधिक निश्चित आश्वासन दे सकते।" सवाल विधान को उदार बनाने का था—कानून के ज़रिये नहीं, जो कि चुनाव के बाद इतनी जल्दी मुमकिन नहीं था; बल्कि उसकी व्याख्या से, जिसके लिए कोई कठिनाई नहीं थी। आखिर में जून १९३८ में लार्ड लिनलिथगो ने जो आश्वासन दिये वे इसी व्याख्या पर अवलम्बित थे। कांग्रेस ने चुनाव एक ऐसे घोषणा पत्र के आधार पर लड़ा था जिसमें पद-ग्रहण का कोई इरादा नहीं था। इसलिए पद-ग्रहण करने के लिए यह आश्वासन जरूरी था। हमने सुधारों पर जनता की राय लेने के लिए ही वोट ली थी। जब कांग्रेस को जन-मत का पता लग गया तो अब यह उसका काम था कि वह उस आदेश को ऐसे औज़ार की तरह इस्तेमाल करती कि एक्ट में उदारता बढ़ जाती।

दूसरी तरफ एक बड़ा भारी डर यह था कि कहीं ऐसा न हो कि मंत्रिमंडल के नरम गद्दों और सुखद वायुमंडल से लोग ललचा जायें। सारे लालचों को अन्दर नहीं, बाहर ही रोक देना था। घटनाओं से प्रकट है कि जिस प्रकार अचानक और निःसंकोच रूप से मंत्रिपद से त्यागपत्र दिये गये, उससे व्यवहार में वह डर झूठा निकला। सिद्धान्त रूप से वह डर होना स्वाभाविक था। खुले अधिवेशन में यह बात भी ठीक नहीं समझी गई कि इस फैसले को बाद में किसी छोटी समिति द्वारा करने के लिए स्थगित कर दिया जाय। लेकिन इतने अर्से के बाद हमको फिर यह बात मंजूर करनी होगी कि वे लोग, जिन्होंने लखनऊ और फ़ैज़पुर में पद-ग्रहण का विरोध किया, इस बात को मानते थे कि जहां तक प्रान्तीय स्वाधीनता का सवाल था, गांधीजी ने बड़े-बड़े कानूनी और वैधानिक पण्डितों के विरोध के होते हुए, जो कांग्रेस की मांग को अवैधानिक समझते थे, वाइसराय और गवर्नरों से आश्वासन लेकर ऐक्ट के विशेषाधिकारों की पकड़ को ढीला कर दिया था।

जवाहरलालजी जब हिन्दुस्तान में लौटे तो उनका दिमाग़ साम्यवादी और मार्क्सवादी विचारों से भरा हुआ था। लखनऊ की कार्रवाई से उनको निराशा हुई। उन्होंने ऐसा महसूस किया मानो वे अकेले एक तरफ़ हों, सारी दुनिया दूसरी तरफ़। खेतिहर कार्यक्रम पर जो प्रस्ताव था वह तो उस बड़े क्रान्तिकारी सामाजिक उभाड़ के कार्यक्रम के लिहाज़ से, जिसे जवाहरलालजी राष्ट्र से मनवाना चाहते थे, एक बहाना भर था। उस वक्त उन्होंने तीन कट्टर समाजवादियों को कार्यसमिति

में लेकर मौक़े का ज़्यादा-से-ज़्यादा फ़ायदा उठाया। ये लोग थे श्री जयप्रकाशनारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव और अच्युत पटवर्धन। यहां तक कि सरोजिनी देवी को भी समिति से छोड़ना पड़ा और इस पर अन्दर कुछ वायवैला भी मचा। बाद में एक जगह ख़ाली होने पर उन्हें ले लिया गया। लखनऊ अधिवेशन की मनोदशा का अन्दाज़ तो इस बात से हो जाता है कि वहां रचनात्मक कार्यक्रम पर कोई प्रस्ताव ही नहीं था। यह बात याद रखने की है कि कुछ ही समय पहले (अक्टूबर १९३४ में) बम्बई में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ पर प्रस्ताव पास किया गया था और यह उम्मेद की जा सकती थी कि उसका कहीं ज़िक्र हो। यह बात नहीं कि किसी ने उस मामले को उठाया न हो; बल्कि जब उस संबंध में प्रस्ताव बनाया गया और कार्यसमिति के सामने रखा गया तो उसे समर्थन नहीं मिला और लखनऊ अधिवेशन से कुछ ही पहले इलाहाबाद में कार्य-समिति की बैठक में उसे छोड़ दिया गया। एक छोटी-सी लेकिन दिलचस्प बात यहां कहना ठीक ही होगा कि कुछ वक्त से एक प्रस्ताव था कि युक्तप्रांत का नाम बदल कर सूबा-ए-हिन्द कर दिया जाय। युक्तप्रांत, आगरा और अवध के उत्तरी पश्चिमी प्रान्त के नाम की यादगार था और सन् १९२० से कुछ वक्त पहले तक वही नाम चला आता था। इस प्रान्त के साथियों की यह मुनासिब शिकायत थी कि वहां के नाम का बंग, उत्कल, आन्ध्र और महाराष्ट्र की भांति प्राचीन इतिहास से कोई सम्बंध नहीं था। असल में पुराने ५६ राज्यों में से कोई नाम छाँटा जा सकता था जैसे कोशल प्रान्त। प्रान्तीय राजधानी पर भी नाम रखा जा सकता था, जैसे प्रयाग प्रान्त, इलाहाबाद प्रान्त या लखनऊ प्रान्त, लेकिन ग्यारह में से एक सूबे को 'सूबा-ए-हिन्द' का नाम देना कांग्रेस को नहीं जँचा; क्योंकि हिन्द और हिन्दुस्तान नाम तो समूचे देश के लिए था। रियासतों का सवाल भी बहुत बड़ा था। यहां यह याद दिलाना जरूरी होगा कि यह उन तीन-चार विषयों में से एक था, जिस पर गांधीजी ने ६ अप्रैल १९३४ को एक बयाब दिया था। इस विषय पर कांग्रेस के एक समुदाय में और उनमें काफ़ी मतभेद था। जो हो, लखनऊ में जो प्रस्ताव इस विषय पर पास हुआ उसने इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दिलाया कि शेष सारे भारत की ही भांति रियासतों की जनता को भी अपने आत्म-निर्णय का उतना ही अधिकार था और कांग्रेस भारत के हर भाग में एक-सी राजनैतिक, नागरिक और लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता की समर्थक है। फिर भी कांग्रेस यह बता देना ज़रूरी समझती है कि वर्तमान परिस्थितियों में रियासत के अन्दर स्वतन्त्रता के लिए लड़ाई, रियासती जनता को खुद ही लड़नी होगी।

खेतिहर कार्यक्रम मौके पर लिया गया था। सारे देश में किसानों में हलचल मची हुई थी और सरकार और ज़मींदारों की मनमानी लगान-नीति का विरोध हो रहा था। जमींदार तालाबों, बन्दों, सिंचाई के साधनों, चरागाहों और जंगलों पर विशेषाधिकार जता रहे थे। सरकार और किसानों के बीच बंगाल में बिचौलियों की संख्या तेरह तक थी और विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग थी। इसी कारण कांग्रेस ने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों से उन नौ बातों पर, जिन पर हम आगे जिक्र करेंगे, कार्यकारिणी से ३१ अगस्त १९३६ तक सिफारिश करने के लिए कहा। उन बातों को चुनाव के घोषणा-पत्र में भी रक्खा गया।

असली सवाल पर यानी नये ऐक्ट पर कांग्रेस ने अपना असन्तोष जताया और उस एक्ट की निन्दा की, लेकिन साथ ही यह तय किया कि चुनाव के लिए एक घोषणा-पत्र बनाया जावे और उसकी बुनियाद पर चुनाव लड़ा जावे। पद-ग्रहण करने के सवाल पर कांग्रेस ने उस वक्त किसी फैसले की जिम्मेदारी लेना मुनासिब नहीं समझा; क्योंकि आगे की परिस्थिति का कुछ ठीक

नहीं था और उसने इस फैसले को समय आने पर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के परामर्श में महासमिति पर छोड़ दिया। ऐक्ट का प्रमुख दोष यह था कि उसमें न तो आत्म-निर्णय था, न संयुक्त निर्णय; बल्कि कुछ और ही निर्णय था। इसके अलावा सरकारी योजना में एक और स्पष्ट दोष था जिसको कि जान-बूझकर रखा गया था। वह यह कि राजसत्ता का धड़ तो था, लेकिन सिर का कोई पता नहीं था और इस तरह सारे काम अनियंत्रित और असंबद्ध थे। न तो उस शरीर का दिमाग़ था, जो चालक-शक्ति देता और न वह भाग जो विभिन्न प्रान्तों के कामों में सामञ्जस्य बनाये रखता। स्पष्ट शब्दों में बात यह थी कि फ़ौज, धर्म-प्रचार, विदेश-विभाग, युद्ध और शान्ति, सशस्त्रीकरण और अन्वेषण-यात्रा के विषय सुरक्षित रखे गये थे। राजस्व मन्त्री का परामर्शदाता एक ऐसा व्यक्ति होता जिसका दृष्टिकोण व्यवहार में ऊपर से आने वाले आदेशों के अनुसार होता। रेलवे बोर्ड एक ऐसी स्थायी संस्था पार्लमेण्ट के ऐक्ट से बन गई थी जिस पर धारा-सभा का कोई नियंत्रण ही नहीं था। वह बोर्ड ही सफर-किराया और माल-किराया तय करता। आरंभिक योजना (श्वेतपत्र) के अनुसार रिजर्व बैंक के विधान में संशोधन हो सकता था, लेकिन ऐक्ट में इस बात को भी रद कर दिया गया। धारा-सभा का मुद्रा और सिक्का-ढलाई से कोई संबंध नहीं था, न इस बात से कि रुपये में कितनी चाँदी हो, न इससे कि रुपये और मोहर का क्या अनुपात हो, और न इससे कि काग़ज़ी द्रव्य का किस परिमाण में चलन और उसके पीछे कितना कोष हो। ढाई सौ रुपये प्रति माह से अधिक वेतन पाने वाले सरकारी नौकरों को दंड नहीं दिया जा सकता था, उनसे सफ़ाई नहीं मांगी जा सकती थी और यहाँ तक कि एक मन्त्री उनका स्थान-परिवर्तन भी नहीं कर सकता था। खुफ़िया विभाग, सुरक्षित विषय की तरह काम करता रहता। वाइसराय गवर्नर जनरल भी था और बहुत से काम निज-निर्णय पर कर सकता था। इसके अलावा रजवाड़ों के लिए वह सम्राट का प्रतिनिधि था। इस प्रकार पहले जो द्विमुखी जानस था वह अब पंचमुखी ब्रह्मा हो गया।[१] इनके अलावा भी बहुत से संरक्षण और व्यावसायिक विशेषाधिकार थे। कहीं अंगरेज़ी माल के दाम न बढ़ जावें, इसलिए उस पर तट-कर निश्चित नहीं किया जा सकता था। भारतीय कम्पनियों का नियंत्रण करने वाले नियमों से अंगरेज़ी कम्पनियों को सदा के लिए मुक्ति थी। जहाज़ी नीति में भी अंगरेज़ी कम्पनियों को ऐसी ही रियायतें मिली हुई थीं। न्याय का दिखावा करने के लिए यह मज़ेदार बात भी एक मद में लिखी हुई थी कि अगर इंगलैंड में किसी भारतीय कम्पनी को वही और वैसी ही सुविधाएँ न दी जावें तो भारत-सरकार को यह अधिकार होगा कि वह हिन्दुस्तान की अंगरेज़ी कम्पनियों से वे रियायतें वापस ले ले, जो कि हिन्दुस्तानी कम्पनियों को दी जाती थीं। क्या मज़ाक है ! क्या एक मिनट को भी यह सोचा जा सकता है कि कोई भारतीय कारबार इंगलैंड में जाकर वहां पर प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर अपना काम चालू करेगा ? गवर्नर के संरक्षण और विशेषाधिकारों के अलावा मन्त्रियों के अधिकारों में और भी कमियाँ थीं। इस बार आदेश-पत्र को एक्ट के साथ ही मिला दिया गया था। पद-ग्रहण का प्रश्न हल

---

१ जानस एक ग्रीक देवता है, जिसके दो मुख होते हैं। एक आगे और दूसरा पीछे देखता है। गवर्नर जनरल जो वाइसराय की हैसियत से इंग्लैंड की तरफ़ देखता था और गवर्नर जनरल की हैसियत से हिन्दुस्तान की ओर, १६३५ के एक्ट के अनुसार उसे पाँच तरफ़ देखना पड़ता था, अर्थात् वह पंचानन ब्रह्मा बन गया। वाल्मीकि रामायण में प्रारम्भ में ब्रह्मा के पंचमुखी होने का उल्लेख है।—लेखक

करना एक्ट के गुण दोषों पर इतना निर्भर नहीं था जितना कि इस बात पर कि राजनैतिक शतरंज में क्या नीति अपनाई जायगी ? इसलिए अन्तिम निर्णय को चुनावों के बाद तक रोक रखा गया।

इस तरह लखनऊ अधिवेशन ने महासमिति को दो महत्वपूर्ण काम सौंपे। एक तो खेतिहर कार्यक्रम की अन्तिम रूपरेखा और दूसरे चुनाव के घोषणा-पत्र की तैयारी। दोनों चीज़ें परस्पर संबंधित थीं। असल में पहली चीज़ दूसरी का हिस्सा बनती और दोनों मिलकर वह बुनियाद उपस्थित करतीं, जिसके मुताबिक कांग्रेस चुनाव जीतने पर अगर पद-ग्रहण करती तो अपना वैधानिक काम करती। उस वक्त इन तीनों चीज़ों में जो गहरा और सजीव नाता था, उसे अनुभव नहीं किया गया। छः साल बीतने पर (जून १९४१ में) और साथ ही आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के अनुभवों और उनके सवा दो वर्ष के काम की सफलताओं के बाद, भविष्य के इतिहास के लिए लखनऊ के निर्णयों का औचित्य साफ़ समझ में आता है।

फिर भी घटनाओं की प्रगति में एक मौलिक कठिनाई थी : कार्यसमिति के अधिकांश सदस्यों से सभापति का मतभेद था। तीन नये दोस्त जो अन्दर लिये गये, उनके साथ कमेटी का एक-चौथाई से ज्यादा हिस्सा उनकी तरफ़ था; लेकिन आमतौर पर कांग्रेस के फ़ैसले, विचार-विनिमय, और विवाद बहुमत और अल्पमत के अनुसार नहीं होते थे। जवाहरलालजी ने शुरू में ही अपना त्याग-पत्र देना चाहा, पर उनसे कह-सुन कर उनको वहीं बनाये रखा। बने तो वे रहे, लेकिन दिल में बेचैनी थी। एक तरफ़ सभापति पद से दिया गया उनका भाषण था, जो सिर्फ़ एक विद्वद्विवेचन नहीं था, बल्कि एक कार्यक्रम था। दूसरी तरफ़ गांधीजी थे और कार्य-समिति में उनसे सहमत दस सदस्य। ये लोग एक चट्टान की तरह थे। पन्द्रहवां व्यक्ति जेल में था—सुभाषचन्द्र बोस, जो अगर बाहर भी होता तो भी वह किसी एक तरफ़ न मिलकर अपना अलग ही रास्ता बनाता। सभापति के भाषण में पूरा साम्यवाद का पक्ष था—एक ऐसे देश में जहां कम-से-कम तीन हज़ार बरस से अपनी परम्परा थी, जहां का सामाजिक ढाँचा समय और परिस्थितियों की चोट खाकर भी जीवित था और जो राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक और नैतिक जीवन में समाया हुआ था। जिस तरह धार्मिक क्षेत्र में हिन्दुस्तान में एक पृष्ठभूमि विद्यमान थी उसी तरह एक सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि भी थी; किन्तु नयेपन में एक अपनी मोहिनी होती है। यह बात तो सच है कि यह चीज़ ज़्यादा दिन टिक नहीं सकती; लेकिन आंख खुलने से पहले जो अर्सा बीतता है वह राष्ट्र और उसके नेताओं के लिए सख्त परेशानी का होता है। आख़िर मार्क्सवाद भी एक नये ढंग की तरह है, जिसमें मार्क्स एक मसीहा है। मार्क्सवाद एक नया मत है, एक नया सम्प्रदाय है। यही बातें हिन्दुस्तान में साम्यवाद के प्रचार में सबसे बड़ी मुश्किलें हैं। हिन्दुस्तान में, वली, रसूल, पैग़म्बर, ऋषि, महात्माओं और अवतारों की खुद ही एक बहुत बड़ी सूची है। वहां मस्जिद और मन्दिर वे बिजलीघर हैं, जो उस बिजली को बनाते हैं जिससे समाज की शक्ल बनती है और समाज में गति रहती है। यहां बर्नार्ड शॉ के एक उद्धरण की याद आती है, जो उनकी 'इन्टैलिजैण्ट वुमैन्स गाइड टु सोशलिज्म' में है। वह इस प्रकार है :—

"समाजवाद सम्प्रदाय के लोग 'ईश्वर' शब्द का इस्तेमाल नहीं करते, न अपनी संस्था को गिरजाघर की शक्ल देते हैं और न अपने जलसों में और कोई मज़हबी दिखावा करते हैं। लेकिन इन बातों से गुमराह होने की ज़रूरत नहीं। विश्व के विधान में वे उस अन्तिम श्रेष्ठतम श्रेणी की चर्चा करते हैं, जिसमें पहली और निचली श्रेणियों के विरोध ख़त्म हो जावेंगे। उनका

पैग़म्बर कार्ल मार्क्स है। वे अपने आपको कैथोलिक चर्च नहीं कहते, बल्कि 'थर्ड इण्टरनेशनल' कहते हैं। उनकी फ़िलॉसफ़ी का साहित्य हेगल, फेनेरबैक आदि जर्मन दार्शनिकों से शुरू होता है और मार्क्स की सर्वोत्तम साहित्यिक कृति 'दास कैपिटल' में ख़त्म होता है। इस किताब को मज़दूर वर्ग की बाइबिल कहा जाता है और माना जाता है कि वह किताब निर्भ्रांत है और उसमें सर्वज्ञता है। जिस तरह इंगलैंड के चर्च के २८ वें 'आर्टिकल' के पहले दो अनुच्छेद एक दूसरे के विरोधी हैं, उसी तरह मार्क्सवाद की दो बातें एक दूसरे की उलटी हैं। एक तो यह कि पूँजीवाद से समाजवाद का विकास पूर्व निश्चित है। इसके मायने यह हैं कि हमें कुछ नहीं करना है। विश्वास और श्रद्धा से मुक्ति का यह मार्क्सवादी रूपान्तर है। दूसरी बात यह कि इसके लिए एक क्रान्ति करनी होगी और मज़दूर-वर्ग की एकछत्र सत्ता स्थापित करनी होगी। यह कर्म द्वारा मुक्ति का रूपान्तर है। सरकार की व्यवहार-नीति के रूप में मार्क्सवाद बेकार ही नहीं, बल्कि विनाशकारी है।

"ऐसी हवाई बातें समझ में नहीं आतीं और उनसे किसी छोटी-सी दुकान का भी संचालन पांच मिनट तक नहीं हो सकता। फिर शासन-संचालन की तो बात ही क्या ! इस बात को लेनिन ने महसूस किया और बिला झिझक स्वीकार किया।

"लेकिन लेनिन और उसके उत्तराधिकारी इस नई स्वाभाविक रूसी सरकार को नये रूसी इण्टरनेशनल के फंदे से छुड़ा नहीं पाये, ठीक उसी तरह जैसे हेनरी द्वितीय अंगरेजी सत्ता को रोम के चर्च के फंदे से आज़ाद नहीं करा पाया। इस बात का आज कोई अन्दाज़ नहीं हो सकता कि संकटकाल में रूस की नीति का निश्चय सोवियट पार्थिव और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से करेगी, या वह नीति तीसरे इण्टरनेशनल द्वारा मार्क्सवादी आधार पर निश्चित होगी। रूस में राजसत्ता को, मार्क्सवादी सम्प्रदाय की भौतिक शक्ति को तोड़कर, उसके हाथों से राजनीति को थोड़े या बहुत समय में निकालना ही होगा; लेकिन तब तक पहले पादरियों की तरह मार्क्सवाद का चर्च, यह तीसरा इण्टरनेशनल, दुख देता रहेगा।

"जहां पार्लमेण्ट की नीति की तरह यह मार्क्सवादी बाइबिल बेकार है, वहां उनके क्रान्तिकारी पोथे भी वैसे ही बेकार हैं। लेकिन सिर्फ इसी वजह से हम उन धर्मग्रंथों को जला नहीं देते और यह नतीजा नहीं निकालते कि वे चीजें हमें कुछ भी नहीं सिखा सकतीं। मार्क्स एक बड़ा शिक्षक था और जिन्होंने उसके पाठों को नहीं पढ़ा और समझा वे बड़े भयंकर कूटनीतिज्ञ हो सकते हैं। लेकिन जिन्होंने उसे वास्तव में समझा है वे अंधविश्वासियों की तरह काम नहीं करते। वे उसी तरह मार्क्सवादी नहीं हैं जिस तरह कि खुद मार्क्स भी नहीं था।

"सार्वजनिक कामों में उत्तरदायित्व-पूर्ण व्यवस्था का उसे अनुभव नहीं था, इस बात का साफ़ पता लगता है। उसने मज़दूरों की जो तस्वीर खींची है उसका दुनिया की किसी मज़दूर औरत से ज़रा बारीकी के साथ मुकाबला किया जाय तो पता लगेगा कि उन दोनों में बहुत फर्क है। यही बात मध्यम श्रेणी के लोगों की मार्क्स द्वारा खींची तस्वीर और वास्तविक लोगों के बारे में है।

"मार्क्सवाद बुनियादी तौर पर एक नये सम्प्रदाय के लिए आवाहन है।"

इसी मार्क्सवाद पर जवाहरलालजी के विचार इस प्रकार हैं :

"आज कांग्रेस के सामने मार्क्सवाद की समस्या नहीं है। सवाल यह है कि हमारे चारों तरफ जो दुष्परिणाम दिखाई देते हैं, हम उनको दूर करें या उनके कारणों का, जो कि छिपे पड़े हैं, पता लगावें ? जो सिर्फ़ नतीजे से ताल्लुक रखते हैं, वे दूर नहीं जाते। उनको यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि वे परिणामों से लड़ रहे हैं, उन परिणामों के कारणों से नहीं। वे पतन को

धीमा जरूर करते हैं, लेकिन उसकी दिशा नहीं बदलते। वे ऊपरी इलाज करते हैं, लेकिन बीमारी को जड़ से नहीं उखाड़ते।

"असली समस्या है : परिणाम या कारण। अगर हम कारणों को तलाश करते हैं जैसा कि हमें करना ही चाहिए तो समाजवादी विश्लेषण से उन पर प्रकाश पड़ता है और इस तरह चाहे समाजवादी सरकार की स्थापना सुदूर भविष्य की ही बात क्यों न हो और हममें से बहुत से लोग उसे अपने जीवन में भले ही न देख पावें, लेकिन समाजवाद वर्तमान में वह प्रकाश है, जो हमारे पथ को आलोकित करता है।"[1]

लेकिन एक ऐसे देश में, जहाँ बहुत अर्से से विदेशी राज्य की गुलामी रही हो, वहाँ उस राष्ट्र के नौजवानों का पुरानी नीति और व्यवस्था से जी ऊब जाता है और शासक राष्ट्र की नीति और व्यवस्था के प्रति घृणा पैदा हो जाती है। ऐसी हालत में उनके लिए यह स्वाभाविक है कि वे एक ऐसा हल तलाश करें जो दोनों से भिन्न हो। एक बिलकुल दूसरी जगह पर जो रूसी प्रयोग हुआ, जिसमें सशस्त्र क्रान्ति का सहारा लिया गया और जिसमें उसके ७५ लाख नागरिकों की बलि चढ़ी, और जिसे चलाने के लिए पार्टी के बीस लाख सदस्यों ने काम किया, उसके लिए एक ज़बर्दस्त लालच होता है; लेकिन जबकि वह प्रयोग पूरा ही नहीं हुआ है और उसकी गति पर परिस्थितियों और परम्पराओं का बहुत बड़ा असर पड़ रहा है तो यह बात तत्काल मान ली जायगी कि हर राष्ट्र को अपने उत्थान के लिए विगत और वर्तमान में सामञ्जस्य स्थापित करना होता है और दोनों की सहायता से ही भविष्य का निर्माण किया जाता है। सारी तकलीफ़ों और बीमारियों में समय एक बहुत बड़ा घावपूरक है। समय के साथ ग़लतफ़हमी और अत्युक्ति भी दूर हो जाती हैं। लखनऊ की तेज़ रोशनी को धीमा होने में ज़्यादा वक्त नहीं लगा; क्योंकि फ़ैज़पुर से स्वयं जवाहरलालजी ने ही समाजवादी सम्मेलन के लिये २० दिसम्बर १६३६ को यह संदेश भेजा—

"साथी एम० आर० मसानी ने आपके सम्मेलन के लिए मुझसे एक संदेश माँगा है। मैं सहर्ष अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूं और आशा करता हूँ कि आपके विचार-विनिमय से उस महान् उद्देश्य को, जिसके लिए हम सब जी-जान से लगे हुए हैं, लाभ होगा। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम बात यह है कि हम सब मिलकर देश में एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चा बनायें। यह स्पष्ट है कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो संयुक्त मोर्चे का काम दे सकती है।

"जैसा कि आप लोगों को मालूम है, मुझे हर समस्या के प्रति समाजवादी दृष्टिकोण में बड़ी भारी दिलचस्पी है। इस पद्धति के पीछे जो सिद्धान्त है, उसे हमें समझना चाहिये। इससे हमारी दिमागी उलझन दूर होती है और हमारे काम की कुछ उपयोगिता हो जाती है। इसी सवाल पर मेरे अपने दिमाग़ में दो पत्त हैं। पहला तो यह कि भारतीय परिस्थितियों में इस पद्धति को कैसे काम में लाया जाय और दूसरा यह कि हिन्दुस्तान की भाषा में समाजवाद को किस तरह समझाया जाय? मेरा ऐसा ख़याल है कि कभी-कभी हम लोग यह भूल जाते हैं कि समझे जाने के लिए हमको देश की भाषा में ही अपने आपको व्यक्त करना चाहिये। मेरा मतलब सिर्फ़ भारत की विभिन्न भाषाओं से ही नहीं है। मेरा असली मतलब तो उस भाषा से है जो पुराने इतिहास और पुरानी संस्कृति के साथ वर्तमान परिस्थिति के विभिन्न आघातों से पनपती है। जब तक हम किसी ऐसी भाषा को काम में नहीं लाते, जिसकी पृष्ठभूमि में भारतीय मनोदशा

---

१ 'एट्टीन मन्थस इन इंडिया', पृष्ठ ४१

है तो हमारा प्रभाव बहुत घट जाता है। ऐसे शब्दों और वाक्यों का प्रयोग, जिन्हें हम चाहे समझते हों, लेकिन जिन्हें सर्वसाधारण नहीं समझ पाते, एक निरर्थक प्रयत्न होता है। मेरे दिमाग़ में जो सवाल है वह यह कि भारत की दृष्टि से समाजवाद को किस तरह समझाया जाय? समाजवाद के आशापूर्ण सन्देसे को लेकर किस तरह लोगों के दिल तक पहुँचा जाय? यह एक ऐसा सवाल है, जिस पर मैं यह चाहूँगा कि हर एक समाजवादी अच्छी तरह ग़ौर करे।"

लेकिन लखनऊ और फ़ैज़पुर (दिसम्बर १९३६) के बीच में घटनाओं की एक विशेष प्रगति हुई और उनका ज़िक्र ज़रूरी है। इनमें एक अत्यन्त दुखपूर्ण बात तो यह थी कि गुजरात के बुजुर्ग अब्बास तय्यबजी का १० जून १९३६ को मसूरी में स्वर्गवास हो गया और उधर लखनऊ अधिवेशन के कुछ ही बाद रेल-सफ़र में डा० अन्सारी की मृत्यु हो गई। १७ मई १९३६ को डा० अन्सारी की मृत्यु पर देश-भर में शोक मनाया गया। कार्यकारिणी की सलाह पर सारे देश में दो दिन और मनाये गये : एक तो ९ मई को 'अबीसीनिया-दिवस' मनाया गया और इटली की निन्दा करते हुए अबीसीनिया के साथ सहानुभूति के प्रस्ताव पास किये गये। कई जगह लीग ऑव नेशन्स की भी निन्दा की गई कि उसने अबीसीनिया के साथ विश्वासघात किया। पांच बरस बाद फिर समय ने पलटा खाया और दूसरे महायुद्ध में अंग्रेज़ों की मदद से जून १९४१ में हेल सिलासे (अबीसीनिया के सम्राट्) ने इटली को हराकर राजधानी अदिस अबाबा में प्रवेश किया।

दूसरा दिन १० मई को मनाया गया। यह था सुभाष-दिवस। देश भर में नाराज़ी थी। सरकार ने श्री सुभाषचन्द्र बोस को कुर्सिओंग में उनके भाई के बंगले में नज़रबन्द कर लिया था। गृह-विभाग के सदस्य ने कहा कि सार्वजनिक हित में उन पर खुला अभियोग नहीं चलाया जा सकता। इस तरह की यह नज़रबन्दी मनमानी थी। देश-भर में सरकार के इस काम की निन्दा की गई और विरोध में प्रस्ताव पास किये गये।

सन् १९३६ में हिन्दुस्तान में राजबन्दियों के दमन और उनके साथ दुर्व्यवहार की बात नई नहीं थी। जब स्वराज्य स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय चेतना जगी और जब उस गौरव का ध्यान आया, जो स्वतन्त्र राष्ट्र के नाते भारत को राष्ट्र-समूह में मिलता, तो दूसरी तरफ़ सरकार ने दमननीति शुरू कर दी। इस दमननीति का आरंभ लार्ड लिटन के ज़माने में सन् १८७७-७८ में वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट और आर्म्स एक्ट से हुआ। सन् १८९७ में ताज़ीरात हिन्द में दो नई धाराएँ और बढ़ा दी गई—१२४ अ, जो राजद्रोह से संबंधित थीं और १५३ अ, जो वर्णभेद से संबंधित थी। ये धाराएँ लोकमान्य तिलक के कार्य की तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ थीं। जब रंगमंच महाराष्ट्र से बंगाल की भूमि में पहुँचा और जब प्लेग-विरोधी उपायों की जगह (जिनके फलस्वरूप लेफ़्टिनैण्ट रैंड और कैप्टन आयर्स्ट की पूना में हत्याएँ हुई) सन् १९०५ में बंग-भंग आया तो दमन के ऐसे उपाय काम में लाये गये, जिन पर पहले कभी सोचा भी न गया था, ताकि लड़के जलूस न निकालें और राजनीति में भाग न लें। बाकरगंज ज़िले में एक ख़ास लम्बाई और मोटाई से ज्यादा की छड़ी लाने और ले जाने पर रोक लगा दी गई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे श्रद्धेय नेता पर लाठी बरसाना भविष्य का पूर्वाभास था। सन् १९३० के बाद तो लाठी-चार्ज एक आम बात हो गई। सन् १९०८ में राजद्रोही मीटिंग एक्ट, सन् १९१० में प्रेस एक्ट और सन् १९१२ के क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेण्ड एक्ट, सन् १९१४ के भारतरक्षा एक्ट के पूर्वाभास थे, जिसको दो रौलेट बिलों के ज़रिये बाद में स्थायी बनाने की कोशिश हुई। उनमें से एक बिल को तो लागू कर दिया गया और दूसरे को छोड़ दिया गया। इस ज़माने का आख़ीर जालियाँवाले बाग़ के हत्याकांड में हुआ।

मॉण्ट-फ़ोर्ड सुधारों से जो नया युग आरम्भ हुआ उससे लोगों की नागरिक स्वतंत्रता को कोई बढ़ावा नहीं मिला और न उन लोगों को, जो दमनकारी कानूनों के शिकार हुये थे, कोई चैन पहुँचा। इनमें से ज्यादातर कानून बाद में रद्द कर दिये गये; लेकिन क्रिमिनल लॉ एफेण्डमेण्ट एक्ट की वसीयत बराबर बनी रही। नये ज़माने के साथ नये आर्डिनेन्स बनते और नई सज़ाएँ होतीं। जेल में लोगों के साथ जो बर्ताव किया जाता, वह इतना घृणास्पद था कि एक नवयुवक (जतीन्द्र-नाथ सेन) ने इस बुरे बर्ताव के ख़िलाफ़ अनशन शुरू कर दिया और अपनी भूख-हड़ताल के ६१ वें दिन १३ सितम्बर १९२९ को अपनी जान दे दी। अमर रहे उस तरुण देशभक्त की स्मृति! और लोगों ने भी उसका अनुकरण किया और इसमें से एक जोगेश चटर्जी थे, जिन्होंने जतीन्द्र के ही ढंग पर भूख-हड़ताल की। बाद में उनसे अनशन छुड़वा दिया गया। अखिल भारतीय राज-नैतिक बन्दियों की कमेटी के सभापति की हैसियत से बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने इन बन्दियों की मांग पर एक लम्बा बयान निकाला और इन्सानियत के साथ बर्ताव करने के लिए कहा। यह बयान जगह-जगह बाँटा गया और कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि इन बन्दियों को मानव-सम्पर्क ज्यादा मिले, ज्यादा मुलाक़ातों की सुविधाएँ हों, अधिक पत्र-व्यवहार की इजाज़त हो; किताबों, अख़बारों और लिखने के सामान के ज़रिये इन्हें मानसिक भोजन दिया जावे और उन लोगों को अकेले न रखा जावे। साथ ही राजनैतिक कैदियों को अंदमान से हटा लिया जावे। इसी वजह से १३ सितं-बर को जतीन्द्रदास के मृत्यु-दिवस पर कांग्रेस के सभापति जवाहरलालजी ने कांग्रेसियों और कांग्रेस कमेटियों से राजबन्दी दिवस मनाने के लिए कहा। यह सच है कि इस चीज़ को उसी वक्त काम-याबी नहीं मिली, लेकिन इससे दोनों तरफ़ हृदय-परिवर्तन के लिए रास्ता खुला। बन्दियों ने आतंकवाद की निरर्थकता को अनुभव किया और सरकार ने धीरे-धीरे इन लोगों को छोड़ना शुरू कर दिया; लेकिन उनकी रिहाई इतने लम्बे अर्से में फैला दी कि इस काम में जो कुछ खूबी और भलमनसाहत थी, वह आधी भी नहीं रही।

राजनैतिक बन्दियों की रिहाई एक बहुत बड़ा राजनैतिक सवाल होता जा रहा था और हरिपुरा अधिवेशन पर यह बात सामने आ ही गई। राजबन्दियों की दशा सभी जगह, विशेषकर बंगाल में, बहुत बुरी थी और उसपर जनता सख़्त नाराज़ थी।

बंगाल में राजबन्दियों की हालत बेहद ख़राब थी। बीस घंटों तक उन्हें कोठरियों में ताला बन्द करके रखा जाता और उस दौरान में भी जब कि इन पर मुकदमा चल रहा होता उन्हें बाहर से कैसा ही कच्चा या पक्का खाना मँगाने की छूट नहीं थी। कुछ लोग रात-दिन हथकड़ी और बेड़ियों से कसे रहते। जो खाना मिलता वह खाने के काबिल नहीं होता। चावलों में कंकड़ियाँ होतीं, उसके साथ जो चीज़ मिलती वह ऐसी ही उलटी सीधी होती। मछली का झोल अगर होता तो उसमें मछली न होती। तीसरे दर्जे के कैदियों को साबुन, तेल, चप्पल और जूतों की इजाज़त न होती। उन्हें कोई अख़बार न मिलता। वे आपस में पुस्तक-विनिमय भी नहीं कर सकते थे। ढाका जेल में डंडों का इस्तेमाल आज़ादी से होता। राजनैतिक बन्दियों को तीसरे दर्जे के कैदियों में मिला देना मामूली सज़ा थी। डाक्टरी इलाज की व्यवस्था अपर्याप्त और असन्तोषप्रद थी। कभी-कभी तेल पेरने का भारी काम भी दे दिया जाता।

जहाँ एक ओर हिन्दुस्तान में दमन-चक्र चल रहा था वहाँ दूसरी ओर अधिकारी नये एक्ट को लागू करने के लिए इन्तज़ार कर रहे थे। लेकिन बाहर जो घटनाएँ हो रही थीं, उनकी तरफ़ भी कांग्रेस को उतना ही ध्यान देना जरूरी था, जितना कि घरेलू मामलों पर। एक तरफ़ इटली द्वारा

अबीसीनिया पर बलात्कार और नीगस के अपने यहाँ से गायब हो जाने तथा लीग ऑव नेशन्स की खामोशी की बात थी, दूसरी तरफ यूरोपीय राष्ट्र निश्चित रूप से अपराधी की मदद कर रहे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तानियों के दिमाग से अपनी आज़ादी के सिलसिले में न्याय की रही-सही आशा भी जाती रही। दुनिया में शान्ति चाहने वाले लोग ख़ामोश तो नहीं थे, लेकिन उनकी आवाज़ ही क्या थी! लोकतन्त्र कही जाने वाली धारा-सभाओं में वे अपनी बात कह रहे थे। जब ६ सितम्बर को विश्व-शांति सम्मेलन की ब्रसेल्स में बैठक हुई तो ऐसा लगा कि सारी दुनिया के शान्ति चाहने वाले लोगों ने एक संयुक्त मोर्चा बनाया है। इसमें जो लोग शामिल हुए थे, उनकी विचारधारा ज़रूर अलग-अलग थी। इसमें इंगलैंड के अनुदार, नरम और मज़दूर दल के लोग थे, फ्रांस की विचित्र पार्टियों के लोग थे, लीग ऑव नेशन्स के भी हिमायती थे और समाजवादी, साम्यवादी आदि प्रगतिशील लोग भी थे। ख़ैर, इन सब लोगों ने फासिस्टवाद और युद्ध के घुमड़ते हुए संकट के विरुद्ध शक्ति एकत्र की। कॉंग्रेस इस संसारव्यापी संगठन में पूरा-पूरा भाग ले रही थी और वहां पर उसकी ओर से वी० के० कृष्ण मेनन प्रतिनिधि थे। जब इन सब लोगों ने, जो विभिन्न राष्ट्रों और विभिन्न संस्थाओं के थे, शांति के लिए कोशिश की तो उनकी तस्वीर क्या थी? पिछले दस बरसों से लड़ाई के किसी वक्त भी छिड़ने की अफ़वाह चल रही थी और उस वक्त जब कि यह सम्मेलन हुआ, युद्ध के बादल दुनिया के सिर पर मंडराते हुए बहुत नीचे झुक आये थे। स्पेन में हिंसापूर्ण गृह-युद्ध चल ही रहा था और उसके पड़ोसी अपने आपको तटस्थ बताते हुए भी एक-न-एक तरफ़ हिस्सा ले ही रहे थे। स्पेन में शांतिपूर्वक निर्वाचित लोकतन्त्रीय सरकार पर, जो कि प्रगतिशील शक्तियों की प्रतिनिधि थी, किराये की विदेशी फ़ौज की सहायता से विद्रोहियों ने हमला किया था। ऐसा भी कहना है कि स्पेन का झगड़ा असल में स्टैण्डर्ड ऑयल कं० और रॉयल डच शैल फ़र्म का झगड़ा था और इस बात पर हमको चकित नहीं होना चाहिये; क्योंकि हम यह भी तो जानते हैं कि यूरोप के प्रमुख शस्त्र-निर्माता अपने दुश्मनों को, अपने ही ख़िलाफ़ इस्तेमाल के लिए हथियार भेजते रहे हैं और इस चीज़ को अक्सर सरकार भी जानती रही है। हम बाद में देखेंगे कि कांग्रेस सभापति ने किस तरह खुद स्पेन पहुँच कर चीज़ों को देखा और उस देश में भूखों मरने वाली जनता को खाद्य सामग्री भेजने की कोशिश की। इस शान्ति-सम्मेलन के मौके पर राष्ट्रपति ने शुभ कामनाओं का यह सन्देश भेजा—

"जहां हम शान्ति चाहते हैं और लड़ाई की शक्तियों को रोकना चाहते हैं, वहां हम यह भी अनुभव करते हैं कि असली शान्ति लड़ाई के कारणों को दूर कर देने पर ही कायम हो सकती है। अतः इस शान्ति-सम्मेलन को युद्ध के कारण खोज कर उनको दूर करने की कोशिश करनी चाहिये, वरना उसके प्रयत्न बेकार होंगे। हमें उन कारणों पर यहां ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं है, जिनसे कि दुनिया में लड़ाइयाँ होती हैं और जो इस समय यूरोप में हलचल मचा रहे हैं, क्योंकि उनसे आप परिचित ही हैं। किन्तु मैं यहाँ इस बात पर ज़रूर ज़ोर दूंगा कि उपनिवेशों में शांति साम्राज्य-वाद के ख़ात्मे पर ही हो सकती है। उस आधिपत्य को बनाये रखने के लिए शान्ति का बहाना नहीं लिया जा सकता; क्योंकि साम्राज्यवाद तो खुद ही शान्ति के लिए ख़तरा है। इसलिए हमारे लिए हिन्दुस्तान में और ऐसे ही और दूसरे देशों में सबसे पहले राजनैतिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये और मैं आशा करता हूँ कि उसके बाद सामाजिक स्वतन्त्रता आवेगी। इस तरह हम अपने देश में और दूसरे देशों के साथ शांति, स्वतन्त्रता और मानव-प्रगति की मज़बूत नींव बना सकेंगे।

"आज हिन्दुस्तान में हम साम्राज्यवादी शासन और शोषण के सारे दुख भोग रहे हैं। इसीलिए हमारी ताकत उन बुराइयों को दूर करने की तरफ़ लगी हुई है। ब्रिटिश पार्लमिण्ट ने भारत के विधान पर जो नया एक्ट पास किया है उससे यह साम्राज्यवाद कमज़ोर होने की जगह और भी ज़्यादा मज़बूत होता है। इसलिए हमें उससे लड़ना है और हम चाहते हैं कि दूसरे देशों के हमारे साथी हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत को समझें और हमारी मुश्किलों को महसूस करें। आर्थिक क्षेत्र में किसानों का, मज़दूरों का और मध्यमवर्ग के अधिकांश बेकार लोगों का बुरा हाल है। इस तरह आर्थिक स्थिति उस सीमा पर पहुँच गई है, जहां कोरे राजनैतिक हल से लोगों को चैन नहीं पहुँच सकता। फिर भी यह सच है कि और किसी भी कदम से पहले राजनैतिक हल होना चाहिये। वह हल है भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता। कांग्रेस इसी आज़ादी के लिए लड़ रही है, क्योंकि उसका यह विश्वास है कि इसी तरह वह देश के सामने जो सामाजिक समस्या है, उसको हल कर सकती है।

"भारतीय कांग्रेस देश की आज़ादी के लिए काम कर रही है, और वह पृथक और आक्रामक राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करती। उसकी निगाह राष्ट्रों की बराबरी और सहयोग पर अवलम्बित एक विश्व-व्यवस्था की ओर है। हमें आशा है कि विश्व-शान्ति-सम्मेलन इसी उद्देश्य के लिए काम करेगा ताकि लड़ाई के कारण दूर हो सकें और इस दुखी जगत् में शान्ति और प्रगति का युग आरम्भ हो सके।"

सन् १६३६ में बड़ी उथल-पुथल रही और जबर्दस्त दमनचक्र चला। तलाशियाँ हुईं, गिरफ्तारियाँ हुईं और बड़ी विचित्र आज्ञाएँ जारी की गईं। 'व्हाई सोशलिज़्म' (समाजवाद क्यों ?); 'सोवियट साइड लाइट्स' जैसी सीधी-सादी किताबें पकड़ी गईं। इनके अलावा और भी किताबें थीं, जैसे गोर्की की 'वाइट सी केनाल' शेरवुड एडी की 'चैलेंज ओव दि ईस्ट', 'यू एस० एस० आर—हैण्ड बुक' और मौरिस थौरोज़ 'फ्रांस टुडे' तथा 'पीपिल्स फ्रंट' और अहमदाबाद के श्री भट्ट की 'दरिये दाव लग्यो'। राजद्रोह के कानून की वजह से सन् १६३६ से पहले के कुछ ही बरसों में ३४८ अखबारों को बन्द होना पड़ा; क्योंकि ऊपर सेन्सर बोर्ड बैठा था। विद्यार्थियों को स्कूलों और कालेजों से निकाला गया। चुङ्गियाँ जब कांग्रेस सभापति को मान-पत्र देतीं तो उनका विरोध होता और इस सम्बन्ध में लायलपुर चुङ्गी के प्रस्तावों को रद कर दिया गया। मज़दूरों के अधिकारों को सीमित किया गया। यह छूत की बीमारी पांडेचरी में भी पहुँची, जहाँ फ्राँसीसी कब्ज़ा था। साम्यवादी दल का एक घोषणा-पत्र ज़ब्त कर लिया गया। एक लिफ़ाफ़ा जिस पर गांधीजी की तस्वीर बनी हुई थी, डाकखाने से भेजने वालों के पास 'ज़ब्त' लिखकर लौटा दिया गया। खुली सभा में जलूस और प्रदर्शनों पर कलकत्ते के पड़ोस में दफ़ा १४४ के अधीन रोक लगा दी गई। प्रजा समिति और किसान कमेटियों पर पाबन्दियाँ लग गईं। छोटी-छोटी कानूनी बातों की असावधानी पर लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया। कपूरथला, जोधपुर, मैसूर, बड़ौदा, सिरोही, मारवाड़ और राजनांदगाँव की देशी रियासतों ने भी दमन-नीति का अनुकरण किया। चारों तरफ़ इस अँधेरे में एक प्रकाश की किरण दिखाई पड़ी उस वक्त, जब अल्मोड़े से १ अगस्त १६३६ को मियाद ख़त्म होने पर ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ को छोड़ा गया ; लेकिन जेल के दरवाज़े पर उन्हें यह हुक्म मिला कि वे सीमाप्रांत में और पंजाब में न घुसें। सीमाप्रान्त की सरकार की शिकायत तो यह थी कि उनका ढर्रा सार्वजनिक सुरक्षा के लिए ख़तरनाक रहा था और पंजाब सरकार का यह कहना था कि उनका ढर्रा

ऐसा ही रहा था या ऐसा होने वाला था। लाहौर सेण्ट्रल जेल में एक बन्दी और थे श्री परमानन्द, जो लाहौर षड्यन्त्र केस में सन् १९१४-१५ के बन्दी थे और जिनकी सज़ा को २३ साल बीत चुके थे। सरकार की तरफ़ से कामन्स सभा में यह कहा गया कि सरकार का उनको छोड़ने का इरादा नहीं है। यह बात ध्यान देने की है कि जुलाई सन् १९३६ में अकेले बंगाल में ही ३००० से अधिक लोग नज़रबन्द थे और फिर भी दमनचक्र बराबर ज्यादा तेज़ होता जा रहा था। कम-से कम ५० कांग्रेसियों और समाजवादियों को पंजाब में ये नोटिस दे दिये गये थे कि वे अपने गाँवों को न छोड़ें। सन् १९३६ में सितम्बर, अक्तूबर और नवम्बर में एक-एक करके क्रमशः तीन नज़रबन्दों की बंगाल में आत्महत्या से मृत्यु प्रकट की गई। इस पर कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ ने सार्वजनिक जाँच की माँग की। बंगाल सरकार ने अपने अधिकारियों, विशेषकर कलकत्ते के पुलिस कमिश्नर और कुछ ज़िलाधीशों, को सन् १९३२ के बंगाल सार्वजनिक सुरक्षा एक्ट के अलावा और नये अधिकार दिये। खास शिकायत साम्यवादी और क्रान्तिकारी प्रचार की थी। इन व्यापक और अस्पष्ट अधिकारों का नतीजा यह हुआ कि यूथ लीगों, मज़दूर और समाजवादी संगठनों पर ज्यादती की गई। आतंकवादी और क्रान्तिकारी सन्देह पूरी तरह दूर नहीं हुए थे। ढाका में घर में नज़रबन्द रखने का ढर्रा ज़ोरों के साथ अपनाया गया।

चार अगस्त को एक हुक्म जारी किया गया कि "सूर्यास्त से सूर्योदय के बीच में" कोई शख्स, जिसकी उम्र १२ और ३० साल के बीच में हो, घूमता हुआ न पाया जाय। यह हुक्म एक साल के लिए था और यह मनाही ढाका में १९ जगहों के लिए थी और नारायणगंज में १६ के लिए। इन जगहों में पार्क, खेलने के मैदान और मन्दिर भी शामिल थे। इस हुक्म को न मानने पर ६ महीने के लिए जेल और जुर्माने की सज़ा थी। जब से बंगाल आतंकवादी दमन एक्ट बना था, ऐसा हुक्म तीसरी बार जारी हुआ था।

कलकत्ता विश्वविद्यालय से लम्बी बातचीत के बाद बंगाल सरकार ने उसे यह सूचना दी कि जिला स्कूलों में फ़ौजी टुकड़ियों के रखने से स्कूल का जो हर्ज होता है उसको अब आगे से न होने देने की कोशिश की जावेगी। पहले तो सरकार का यही खयाल था कि कोई हर्ज नहीं होता।

दिल्ली—बम्बई शहर से, बम्बई शहर पुलिस एक्ट १९२० की २७ वीं धारा के अनुसार जो लोग वहां से १९३३-३४, १९३४-३५ और १९३५-३६ में निर्वासित किये गये उनकी संख्या क्रमशः ३४६, ५७८ और ६९३ थी।

इसी अर्से में सन् १८६४ के फ़ॉरेनर्स एक्ट के अनुसार ६७ लोगों का देश-निकाला हुआ था। इन में से कुछ लोगों पर उनकी पहली मियाद खत्म होने पर दुबारा हुक्म जारी किये गये थे।

सिंध—डी० जी० नेशनल कालेज हैदराबाद के प्रोफेसर एस०पी० वस्वानी को तीन दिन के अन्दर अपनी प्रोफेसरी से इस्तीफा देने के लिए कहा गया, क्योंकि ऐसा ख्याल था कि वे कांग्रेसी राजनीति में हिस्सा ले रहे थे और उन्होंने अपने मकान में मिस्टर एम० आर० मसानी को ठहराया था।

सीमाप्रान्त—गवर्नर ने निर्देश किया कि पब्लिक ट्रैंक्विलिटी एडीशनल पावर्स एक्ट की ५, १६ और १७ वीं धाराएँ कोहाट, बन्नू, डेरा इस्माइलखां और हज़ारा ज़िले में २३ दिसम्बर १९३६ तक जारी रहेंगी। यह ऐक्ट पेशावर में तो पहले से ही लागू था।

प्रेस-दमन—पूना के जिलाधीश ने मराठी दैनिक 'लोकशक्ति' से प्रकाशन के लिए एक हज़ार रुपये की ज़मानत मांगी। एक राजनैतिक सम्मेलन के सभापति के भाषण में से कुछ हिस्सों को उद्धृत करने पर अमृतसर के दैनिक 'पंजाब कीर्ति' से दो हज़ार रुपये की ज़मानत मांगी गई। 'हंस,' जो बिलकुल साहित्यिक मासिक पत्र था और जो विभिन्न भारतीय भाषाओं की मिलन-स्थल बनना चाहता था, उससे एक हज़ार की ज़मानत मांगी गई। पटना के 'आज़ाद' और आगरे के 'सैनिक' से क्रमशः एक हज़ार और दो हज़ार की ज़मानतें मांगी गई। कलकत्ते के एक श्रमिक साप्ताहिक 'मज़दूर' को ज़मानत की मांग की वजह से प्रकाशन बन्द कर देना पड़ा।

दमन सन् १९३६ में शुरू नहीं हुआ। जिन चीजों का ऊपर ज़िक्र किया गया है वे तो बराबर बहनेवाली नदी की एक बूंद की तरह थीं। लखनऊ अधिवेशन के बाद जिस चीज़ पर राष्ट्रपति ने सबसे पहले ध्यान दिया, वह थी भारतीय नागरिक स्वतन्त्रता यूनियन की स्थापना। इस संस्था के अवैतनिक सभापति डा०रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उसकी प्रमुख श्रीमती सरोजिनी नायडू थीं।

ऊपर से देखने पर हिन्दुस्तान में ऐसी यूनियन का चलाना, हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञ को ऐसा महसूस हो सकता है कि वह पश्चिमी लोकतन्त्रों का अनुकरण था। वजह यह है कि नागरिक स्वतंत्रता का संरक्षण एक बड़े राष्ट्रीय महत्व की चीज़ है; क्योंकि इस बात का ख़तरा है कि लोकतंत्र के नेताओं द्वारा ही बड़ी कुर्बानी से पाई हुई नागरिक आजादी की अवहेलना हो सकती है। आख़िर लोकतंत्र में भी व्यक्तिगत निर्णय होता है। जन-प्रतिनिधि मंत्री फैसला करते हैं। एक बार ताक़त आने पर उन्हें या तो हुकूमत करनी है, या पद छोड़ देना है। हुकूमत मुश्किल होती है। पद छोड़ने की प्रक्रिया धीमी होती है। दोनों के बीच में ऐसा संभव है, और प्रायः ऐसा ही होता है, कि जन-निर्वाचित मंत्री लोगों के अधिकारों का अतिक्रमण करता है और ऐसी दशा में ये 'नागरिक स्वतंत्रता यूनियन' उचित ही नहीं, आवश्यक हैं। इन यूनियनों का क्षेत्र, ढांचा और काम, ऐक्ट, प्रथा और सनदों द्वारा दिये हुए अधिकारों, सुविधाओं और विशेष नागरिक स्वतंत्रता की अवहेलना न होने देना है। दूसरी ओर हिन्दुस्तान में जहां लोगों के कोई अधिकार ही नहीं हैं और जहां तथाकथित विधान भी अ-लोकतंत्रीय है और जो नागरिक अधिकार एवं सार्वजनिक स्वतंत्रता का उलटा है, वहां ऐसी यूनियन सचमुच एक खिलौना थी। हां, यह बात दूसरी थी कि वह अपने ऊपर उस जबर्दस्त बोझ और उन सारी जिम्मेदारियों को ले ले, जिन्हें पिछली आधी सदी से कांग्रेस ने ढोया था; क्योंकि हिन्दुस्तान में उस यूनियन को सबसे पहले नागरिक अधिकारों को कायम करना होता। उनको बचाने का सवाल तो बाद में पैदा होता, किन्तु उसका एक औचित्य फौरन समझ में आता है। सन् १९३६ में जो यूनियन कायम हो रही थी वह उस बड़ी यूनियन का बीज होती जो आगे चलकर हिन्दुस्तान में लोकतंत्रीय विधान कायम होने पर लाज़िमी होती। ऐसा सोचना बहुत स्वाभाविक था, क्योंकि फ्रांस में मानव-अधिकार लीग सन् १८९८ में कायम हुई और अमेरिका में नागरिक अधिकार यूनियन सन् १९२० में।

कांग्रेस—महासमिति के विदेश-विभाग का प्रकाशन "ऑन दि स्ट्रगल फॉर सिविल लिबर्टीज़" (राममनोहर लोहिया) फ्रांस, अमेरिका और इंगलैंड में ऐसी यूनियनों की वृद्धि का विस्तृत वर्णन करता है और उसमें भारत में नागरिक अधिकारों की धारणापर भी चर्चा की गई है। इन पन्नों की कुछ बातों पर नज़र डालना दिलचस्प होगा। इन बातों का जिक्र युद्ध-पूर्व काल से है। फ्रांस और अमेरिका जैसे राष्ट्रों में भी, जहां उनके पूर्वजों ने व्यक्तिगत निरंकुश शासन की समाप्ति और नागरिक अधिकारों की स्थापना के लिए अपना खून बहाया था, व्यक्ति,

संस्था और जनता के विरुद्ध ऐसा अन्याय, कानूनों और शक्ति का दुरुपयोग होता है और ऐसे मनमाने काम होते हैं कि वहां लीग स्थापित करनी पड़ी, जनता में चेतना उत्पन्न करनी पड़ी, सार्वजनिक सत्ता के लिए प्रतिनिधित्व किया गया, पार्लामेण्ट में अर्जियां दी गईं, साहित्य प्रकाशित करना पड़ा, सम्मेलन करने पड़े और समय-समय पर प्रदर्शन किये गये। फ्रांसीसी लोगों की महा-क्रांति में जो नारे थे उनको याद दिलाने की ज़रूरत नहीं, लेकिन वे मामूली-सी बातें, जो कि क्रांति की बुनियाद थीं, अमल में नहीं लाई जातीं और आम तौर पर उनकी अवहेलना की जाती है। "कानून के सामने आदमी आज़ाद और बराबरी का दर्जा लेकर पैदा हुआ है", लेकिन अदालत में आदमी-आदमी में फ़र्क किया जाता है। हालांकि मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों में आज़ादी, जायदाद, सुरक्षा और दमन के विरोध की बातें शामिल हैं और साथ ही सार्वभौम सत्ता राष्ट्र में निहित बताई जाती है और कानूनों को सार्वजनिक मत की अभिव्यक्ति कहा जाता है, लेकिन इन्हीं बातों की अवहेलना बचाने के लिए यूनियन को बहुत बार दखल देना पड़ा है। यह कहा जाता है कि लड़ाई के दौरान में भी एक नागरिक का यह हक है कि वह सुलह की बात का सुझाव रखे और उसे विधान बदलने और शान्ति स्थापित करने की अपनी राय बताने की आजादी है; लेकिन जिन्होंने ऐसी बातें कीं उन्हें बरसों तक जेल भुगतना पड़ा। फ्रांस में लीग ने न्याय और शासन के कामों में मेल बैठाने की कोशिश की, ताकि व्यक्तिगत रूप से जिन लोगों पर चोट पहुंचती है उनके साथ न्याय हो सके। अखबारों द्वारा जन-मत उभाड़ा जाता है और विभिन्न महत्वपूर्ण अभियोगों पर पैम्फलेट बांटे जाते हैं। राजबन्दियों के व्यक्तिगत अभियोगों की जांच की जाती है और सरकार के सामने प्रतिनिधित्व किया जाता है। फ्रांस की लीग, राजद्रोह और प्रेस आदि के कानूनों की मार से अधिकारों की हिफ़ाजत ही नहीं करती, बल्कि ग़लत न्याय, ग़लत शासन को सही कराते हुए लोकतन्त्र और शांति की विजय के लिए प्रयत्नशील रहती है—उन चीजों के लिए जिनके बिना मानव स्वतन्त्रताएं, निरंकुश शासन में समा जाने के संकट में हैं। लीग ने मज़दूरों के पेट के सवाल को भी अपने हाथों में ले लिया है। हर एक को काम मिले, अपने आपको प्रकट करने की आज़ादी हो और हड़ताल करने की स्वतंत्रता हो; राजसत्ता और साथ ही प्रचार के साधनों पर धनी समुदाय का एकाधिपत्य न हो। इन बातों के लिए उसकी कोशिश रहती है। वह बैंकों का राष्ट्रीयकरण चाहती है, 'शस्त्र' उद्योग पर राजसत्ता का स्वामित्व चाहती है और युद्ध समाप्त कर उपनिवेशों की स्वतंत्रता देने के पक्ष में है। इस तरह यह प्रकट होगा कि लीग जिस स्तर पर काम करती है वह केवल न्याय और शासन से ही नहीं, वरन राजनीति से भी संबंधित है और इस प्रकार वह निश्चित रूप से लोकतंत्र और प्रजातंत्रवाद का रक्षण करती है।

संयुक्त राष्ट्र जैसे देश में, जिसको बीसियों बरसों से लोकतंत्रीय अधिकारों का स्रोत माना जाता है, यह असाधारण बात दिखाई देती है कि वहां "धनिकों का प्रभाव तेजी से बढ़ा है और उनकी ओर से इन अधिकारों पर बड़े वेग से आक्रमण हुआ है।" एक ज़माना था, जब हड़तालों से सिर्फ़ उसी वक्त छेड़छाड़ होती थी जब सिद्धान्त छिन्न-भिन्न होकर ऐसी हरकतें होने लगती थीं कि उनसे शान्ति और व्यवस्था ही लुप्त हो जाती थी। आज अमेरिका में हड़तालों को फ़ौजी अनुशासन से दाब दिया जाता है और संगीन के जोर पर बम बरसाने वाले जहाज़ों को बनाने की माँग की जाती है। लोग ऐसा ख्याल करते कि हमारे जैसे देश में एक ग़लत या गैर कानूनी राय देने पर (जब कि उसके साथ कोई कार्रवाई न होती) पाँच बरस की सजा देने से ऐसा लगता है कि वह दमन की नीति का प्रदर्शन है, जिसका कोई समर्थन नहीं कर सकता और यही कहा जाता कि

कसूर ऐसा बड़ा नहीं था, जिस पर कि इतनी कड़ी सज़ा दी गई। लेकिन यही बात अमेरिका में हुई। न्याय को विकृत करने की मिसालें कम नहीं हैं। फ़ौजी और अदालती शासन बड़ी सम्पत्ति वालों के पक्ष में हैं। जब हम अपनी नज़र देहाती हिस्सों की तरफ़ ले जाते हैं और उन लड़ाइयों को देखते हैं जो खेतिहर उपज के दामों के गिरने के बाद हुई और जब हमें एकाधिकारी के बढ़े हुए दाम, रेल के ब्याज और बैंक के ढर्रे दिखाई देते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि अमरीकी किसान किस हालत पर पहुँच गया है और हमको हिन्दुस्तान के किसानों और खेत के मज़दूरों पर होने वाले दमन और दबाव और उनकी भूख और ग़रीबी की याद आती है। वहाँ उन्हें वैसी ही नीलामी और कुड़की का सामना करना पड़ा है, जैसी कि यहाँ लगान-बन्दी के आन्दोलन में नजर आई। अगर खेत की कोई मशीन चार आने को भी नहीं बिकती और घोड़े का जोड़ा बिल्कुल ही नहीं तो कहने की आवश्यकता नहीं कि अधिकारों और स्वतंत्रता पर इस हमले से उन किसानों को कितना क्रोध आता और तब संगठित होकर हड़ताल की जाती। नतीजा यह होता कि झगड़े होते और सशस्त्र लड़ाई तक की नौबत आजाती। अमेरिका की दक्षिणी रियासतों में फ़सल के साझे की जो व्यवस्था थी उस सिलसिले में जब काश्तकारों को अपने अधिकारों का होश हुआ तो उनके साथ सख्ती की जाने लगी। नतीजा यह हुआ कि किसान गिरफ़्तार किये गये, उनकी सभाओं पर पाबन्दी लगा दी गई और जब सभा होती तो हिंसात्मक तरीके पर उनको तोड़ दिया जाता। अमेरिका के उपनिवेशों जैसे फिलपाइन, पोर्टो रिको, वर्जिन द्वीप, हवाई, समोव, गुवान और हैटी में शिकायतें दूर करने के लिए शांतिपूर्ण संगठन पर भी रोक है। राजद्रोह के क़ानून से, आज़ादी के साथ बातचीत करने और अपनी राय जाहिर करने पर कड़ी पाबन्दी है। फ़ौज का इस्तैमाल, संगठन पर रोक और अवाञ्छित लोगों का देश-निर्वासन मामूली बात है। यह भी कहा जाता है कि इस दमन के पीछे अमरीकी संस्कृति और स्वेच्छाचारी, केन्द्रित, अधिकारियों की सरकार के अमरीकी व्यावसायिक हितों की नाराज़गी है। इन सब की वजह से वे नागरिक अधिकार ग़ायब हुए जिनको बचाने के लिए सन् १९२० में नागरिक स्वतन्त्रता यूनियन संगठित की गई। उन रियासतों की कुछ पाबन्दियों से हमें हिन्दुस्तानी हालतों की याद आती है—यह एक ऐसी चीज़ है, जिस पर यकीन करना मुश्किल है। बहुत-सी रियासतों में शिक्षकों से राजभक्ति की शपथ ली जाती है। एक रियासत में यह कथन कि जनता अमरीकी काँग्रेस को स्थिति बदलने के लिए विवश कर सकती है, राजद्रोह समझा जाता है। पुस्तकालयों का और पाठ्य-पुस्तकों का सेंसर होता है। उग्र राजनैतिक दलों को अपनी मीटिंग करने के लिए स्कूलों के हॉल नहीं मिल सकते। सबसे बड़ी बात यह कि बड़े-बड़े स्थापित स्वार्थ वाले लोग व्यक्तिगत रूप से सशस्त्र शक्ति का संगठन करते हैं और कुछ रियासतें इससे आँख बचा जाती हैं। दूसरी रियासतों में खुद राजनैतिक मशीन ही किसी-न-किसी ढंग से मदद करती है।

अमेरिका की यूनियन की लड़ाई चार वर्गों में आती है और चौदह विभिन्न मोर्चों पर चलती है। (१) मत-स्वातंत्र्य : इसमें शिक्षा भी शामिल है; राजबन्दियों को सार्वजनिक स्थान पर सभा करने का अधिकार। (२) मज़दूर और किसानों के अधिकार : इसमें हड़ताल और पिकेटिंग शामिल है। (३) रेडियो, सिनेमा, किताबों और डाकखानों पर सेन्सर। (४) जातीय अल्पसंख्यकों के लिए लड़ाई।

इंगलैंड में भी, जिसको लोकतन्त्र का घर कहा जाता है और जहाँ की पार्लमेण्ट सब से ज्यादा पुरानी है, नागरिक अधिकारों पर ज़बर्दस्त चोट होने लगी है। यह बात सच है कि पहले

स्त्रियों को मताधिकार नहीं था। वे वकालत और विश्वविद्यालयों में प्रवेश नहीं पा सकती थीं और रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालों के विश्वविद्यालयों और नौकरियों में घुसने पर रोक थी। ये बातें पुरानी हो चुकीं और अब लोग यह समझते हैं कि इंगलैंड में हर अंगरेज़ का घर उसका क़िला है; पर ऐसा है नहीं। हम लोग जानते हैं कि किस तरह जब सर जॉन साइमन एटर्नी जनरल थे तो तिहरी हड़ताल को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। सम्पत्ति और सम्पत्तिशाली संस्थाओं का यह असर तेजी से बढ़ता जा रहा है कि ग़लत आदमियों को गिरफ्तार किया जाता है, उन्हें ज़मानत पर छोड़ा नहीं जाता, आदि आदि। पुलिस वालों का इधर यह शौक हो गया है कि अपनी तरक्की की गरज़ से वे कुछ इरादा लिये हुए इधर-उधर घूमते रहते हैं। ग़लत गिरफ्तारियों की पुलिस की हरकत को प्रेस और पार्लमेण्ट में खोल कर रखना ज़रूरी हो गया है। शाही कमीशन ने पुलिस की ताकतों के सिलसिले में अपराधी से अपराध की पूछताछ के सिलसिले में जो हिदायतें दी हैं, उनपर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता। पुलिस के ही कहने पर ज़मानत या तो नामंजूर कर दी जाती है, या बहुत बड़ी रकम माँगी जाती है। अक्सर गिरफ्तार आदमियों को नज़रबन्द रखा जाता है।

हमने इस बात पर कभी-कभी आश्चर्य किया है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार ने किस तरह गुज़रे हुए कानूनों का इस्तेमाल किया है और उनको निर्वासन, १४४ वीं और १०८ वीं धारा का वर्तमान अर्थ देकर जनता के सामने रखा है। हमें शायद यह जानकर कुछ सन्तोष होगा कि कानूनों का ऐसा दुरुपयोग इंगलैंड में भी हुआ है। सौ बरस पहले तूती या दूसरे शोर मचाने वालों बाजे बजाने पर रोक लगाने के लिए जो कानून बना था, उसको हाल ही में पुलिस ने इस लिए इस्तेमाल किया कि लाउड स्पीकर की मदद से शान्ति के लिए होने वाले आन्दोलन को रोकना था। इसी तरह तीसरे एडवर्ड ने सन् १३६१ में जो कानून बनाया था उसका कुछ लोगों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया गया। शिकायत यह थी कि उन्होंने किया तो कुछ नहीं है, पर सरकार को इस बात का शक है कि वे कुछ ऐसी बात कह सकते हैं, जिनसे ख़तरा खड़ा हो सकता है। बस इसी पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इन सरकारी पाबन्दियों से खतरे का पता लगता है और इन्हीं से बचाव के लिए ब्रिटिश नागरिक स्वतन्त्रता यूनियन चालू की गई। जलूसों और सभाओं पर हाल ही में पुलिस ने कड़ी बन्दिश लगा दी है और उनके सामने स्थानीय कानूनों का भी कोई महत्त्व नहीं। मज़े की बात यह कि ऐसी जगहों पर जहाँ हमेशा से जलसे होते आये हैं, वहाँ पर पुलिस ने रोक लगाने का यही बहाना निकाला कि उससे आने-जाने के मार्गों में बाधा पड़ती है और भीड़ से आना-जाना रुक जाता है। एल्बर्ट हॉल के मालिकों ने ख़ास ढंग की राजनैतिक सभाओं के लिए हॉल देना बन्द कर दिया था। प्रोफ़ेसर और अध्यापकों को युद्ध और शान्ति जैसे विषयों पर बोलने और स्वतन्त्र मत प्रकट करने पर परेशान किया जाता है। बी० बी० सी० रेडियो विभिन्न मतों में पक्षपात और भेदभाव करता है और यह एक शिकायत की बात है। इंगलैंड में सन् १९३४ में 'इनसाईटमेण्ट टु डिसएफेक्शन एक्ट' पास हुआ। इस एक्ट में ऐसी मदें हैं, जिनसे देश में मत—स्वातन्त्र्य का दमन होता है; लेकिन किसी भी रूप में सैनिक वर्ग को नाराज़ नहीं किया जाता। इस नये कानून के ख़बरे ब्रिटिश जनता को बताने के लिए बड़ा भारी आन्दोलन करना पड़ा, सम्मेलन बुलाना पड़ा और सार्वजनिक प्रदर्शन करने पड़े। कुछ चीज़ों के प्रकाशन में बहुत-सी कठिनाई सिर्फ़ हिन्दुस्तान में ही होती हो, यह बात नहीं। इंगलैंड में भी बहुत से मुद्रकों ने कुछ जायज़ चीज़ों

को भी सिर्फ़ डर की वजह से छापने से इन्कार कर दिया। यह कहा जाता है कि जहाँ अमेरिका में नागरिक स्वतंत्रता के लिए कानून से खतरा हुआ है, वहाँ इंगलैंड में यह खतरा शासन-व्यवस्था से है। ब्रिटिश यूनियन ब्रिटिश पार्लामेण्ट के अधीन सारी जनता का ध्यान रखती है और उनके लिए लड़ती है। सन् १६३४ के एक्ट के फलस्वरूप नागरिक अधिकारों की नेशनल कौंसिल स्थापित हुई और उसका किसी दल-विशेष से सम्बन्ध नहीं था। इस कौंसिल को ६ शीर्षकों में रिपोर्ट मिलती है : (१) सभाएँ (२) जलूस (३) प्रचार (४) पुलिस के मनमाने काम (५) सेन्सर, छेड़खानी (७) तलाशी और अभियोग (८) राजनैतिक विचारों के कारण पासपोर्ट देने से इन्कार (६) राजनैतिक विचारों के कारण अनधिकृत देश-निर्वासन।

अब हम फिर हिन्दुस्तान की घटनाओं और कांग्रेस के काम पर आते हैं। इस साल के कामों में एक खास चीज़ यह थी कि कांग्रेस की पार्लामेण्टरी कमेटी और मज़दूर कमेटी ने जिनको पहले अधिवेशन पर नियुक्त किया गया था, नियमित रूप से काम किया। पहली कमेटी का एक बहुत बड़ा काम था अगली फ़रवरी (सन् १६३७) में प्रांतीय धारा-सभाओं के चुनावों के सिलसिले में घोषणा-पत्र की तैयारी। इन चुनावों में ३॥ करोड़ नागरिकों को मताधिकार मिला हुआ था। फिर इरादा मुस्लिम और परिगणित जातियों की सीटों के लिए भी चुनाव लड़ने का था। ऐसी दशा में कांग्रेस का सन्देश, जो अभी गाँवों में गहरा नहीं घुस पाया था, चुनाव के घोषणा-पत्र से अन्दर तक समा जावेगा, यह बात साफ थी। कांग्रेस महासमिति ने २२,२३ अगस्त १६३६ को बम्बई में जिस घोषणा-पत्र को स्वीकार किया उसका सार इस प्रकार है :

पहले तो उसने हिन्दुस्तान के आर्थिक संकट का ज़िक्र किया और किसान व मज़दूरों की गरीबी व बेकारी बताई और कहा कि राष्ट्रीय आज़ादी का सवाल करोड़ों देशवासियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है ; लेकिन इस सिलसिले में उनकी लड़ाई का नतीजा सिर्फ़ यह हुआ कि उनकी नागरिक आज़ादी को कुचलकर दबा दिया गया है। कांग्रेस ने सन् १६३५ के एक्ट को नामंजूर किया है और यह तय किया है कि धारासभाओं में काम करते हुए अन्दरूनी ताकत को बढ़ाया जाय। कांग्रेसियों की नीति ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके नियम-उपनियमों के खिलाफ़ लड़ने की होगी। कराँची में मौलिक अधिकार और कर्त्तव्यों पर उसने जो प्रस्ताव पास किया था उस पर वह अब भी डटी हुई है। पहले काम जो उसे करने हैं वे ये हैं—मद्य-निषेध, भूमि-व्यवस्था में सुधार, धरती के भार को घटाना, बिचौलियों को दूर करना, कर्ज़ घटाना और सस्ते ऋण की सुविधा करना। औद्योगिक श्रम के क्षेत्र में रहन-सहन का मापदंड ठीक हो,काम के घंटे और मजदूरों की हालत नियमित हो। झगड़ों के फैसले हों, बीमारी, बुढ़ापा और बेकारी में गुज़र का इन्तज़ाम हो, यूनियन बनाने और हड़ताल करने का अधिकार हो। इन्हीं सब बातों के लिए कोशिश की जायगी। मज़दूरिनों को मातृत्वकाल में सुविधा और सहायता मिले, नागरिक की हैसियत से उनका बराबर का दर्जा हो, इन बातों को भी कांग्रेस ले आना चाहती है। इनके अलावा कांग्रेस छूआछूत दूर करके हरिजनों और दलित जातियों को उठाना चाहती है और खादी व ग्रामोद्योगों को बढ़ावा देना चाहती है। वह राजनैतिक बन्दियों के साथ बर्ताव में भी सुधार चाहती है और साथ ही साम्प्रदायिक झगड़ों को दूर कर समझौता करना चाहती है। धारासभा में पहुँचकर कांग्रेस अपना जो कार्यक्रम बनावेगी, वह उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही बनाया जायगा। मन्त्रिमंडल बनाने और न बनाने की बात को चुनावों के बाद देखा जायगा।

मज़दूर कमेटी ने, जिसके मंत्री कृपलानीजी थे, अपना कार्यक्रम बनाया। इसमें मज़दूर

यूनियनों के संगठनों और औद्योगिक झगड़ों के बारे में सूचना एकत्र करना था। यहाँ एक ज्यादा दिलचस्प और अहम बात यह थी कि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने कांग्रेस मज़दूर कमेटी के मेम्बरों से मिलने की इच्छा प्रकट की। इस पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस, नेशनल फेडरेशन ऑव ट्रेड यूनियन, अ०भा० रेलवे मेन्स फेडरेशन, अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन, अ०भा० पोस्टल और आर० एम० एस० यूनियन और अ० भा० प्रेस कर्मचारी फेडरेशन के प्रतिनिधियों को कमेटी ने अपनी अगली बैठक के मौके पर बुलाया। इसके अलावा बम्बई में अ० भा० ट्रे० यू० कांग्रेस का जो पन्द्रहवां अधिवेशन हुआ उसमें कांग्रेस सभापति को आमंत्रित किया गया था और वे वहाँ पहुँचे भी थे। यह जलसा १७, १८ और १९ मई को हुआ और इसमें अध्यक्ष श्रीमती मणिबेन कारा थीं। सम्मेलन में अहम मसलों पर ध्यान दिया गया, जैसे फ़ेडरेशन में एका, आज़ादी के लिये लड़ाई और राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ घनिष्ठ सम्पर्क। सन् १९३९ की १८, १९ अगस्त को मज़दूर कमेटी ने विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधियों के साथ इस बात पर ग़ौर किया कि वह इन संगठनों को किस प्रकार मदद पहुँचा सकती थी और किस तरह उनके लिए उपयोगी हो सकती थी। देश के मिल-मालिकों का ध्यान इस ओर खींचा गया कि वे मज़दूरों को अपना संगठन करने के लिए ज़रूरी सुविधाएँ दें, कायदे से बनी हुई यूनियनों की सत्ता को स्वीकार करें और उनसे समझौते की बातचीत करें। इसके अलावा वे लोग उन मज़दूरों के साथ जो यूनियन में काम करते हों कोई तकलीफ़ न दें। धारासभाओं में जो कांग्रेस दल थे उनसे मज़दूरों के लिए उचित वेतन और उनके साथ सद्व्यवहार के लिए कानून बनवाने के लिए सिफ़ारिश की। ब्रिटिश और भारत की कांग्रेस कमेटियों और रियासतों का ध्यान इस तरफ़ भी खींचा गया कि मज़दूरों की हालत सुधारने के लिए कदम बढ़ाने की सख्त ज़रूरत है और औद्योगिक श्रम की बहतरी के मामलों में दिलचस्पी लेना ज़रूरी है। रेलवे कम्पनियों का काम सरकार के हाथों में आता जा रहा था। सरकारी रेलों में छंटनी हो रही थी और निचले दर्जे के नौकरों के वेतन घटाये जा रहे थे। इस सिलसिले में जो सवाल उठ खड़े हुए थे उन पर मज़दूर कमेटी और सम्मेलन ने कार्यकारिणी से सिफ़ारिश की कि वह उपयुक्त प्रस्ताव पास करे।

इस तरह यह ज़ाहिर है कि कांग्रेस पार्लामेण्टरी काम तेज़ी से बढ़ रहा था। इस काम को सफलता-पूर्वक करने के लिए अनुशासन की आवश्यकता थी। लेकिन अनुशासन का अभाव चारों तरफ़ दिखाई दे रहा था। त्रिचनापल्ली में एक घटना के संबंध में श्री राजगोपालाचार्य ने कार्यकारिणी की सदस्यता से इस्तीफ़ा देना उचित समझा। श्री जयप्रकाश ने भी इस्तीफ़ा दे दिया। उनका यह कहना था कि कार्यकारिणी में आने के कई महीनों बाद तक वे महासमिति के सदस्य नहीं हुए थे और ऐसी हालत में उनका कार्यकारिणी में रहना ठीक नहीं था। इसी वजह से वह पिछली बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में महासमिति के लिए खड़े भी नहीं हुए। इन ख़ाली जगहों पर श्रीमती सरोजिनी नायडू और श्रीगोविन्द वल्लभ पन्त की नियुक्ति कर दी गई।

लखनऊ अधिवेशन का अध्याय समाप्त करने से पहले हम यह उचित समझते हैं कि उस वर्ष के सभापति की स्थिति को उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट कर दिया जाय :

"सभापति की हैसियत से मैं कांग्रेस का प्रमुख कार्य-निर्वाहक था और यह आशा की जा सकती है कि मैं उस संस्था का प्रतिनिधित्व करता था। लेकिन नीति-संबंधी कुछ बड़े सवालों पर मैं बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करता हूँ, वह दृष्टिकोण लखनऊ कांग्रेस के प्रस्तावों में प्रकट है। इस प्रकार कार्यसमिति एक साथ दोनों मेरे और बहुमत के दृष्टिकोण को नहीं रख सकती थी।" यह एक ऐसी स्थिति थी जैसी

कि बाद में त्रिपुरी (सन् १९३९) में और अप्रैल १९४२ में महासमिति की इलाहाबाद वाली बैठक के बाद पैदा हुई। लेकिन धीरज, आत्मविसर्जन और अपने चारों ओर की वस्तुस्थिति की स्वीकृति के साथ जवाहरलालजी को पहले तो यह प्रेरणा हुई, जैसा कि खुद उन्होंने कहा कि मैं "इस ज़िम्मेदारी को महासमिति को दे दूं कि वह ऐसे लोगों को नियुक्त कर दे, जिन्हें वह अपना प्रतिनिधि समझती हो," लेकिन "बाद में सोच-विचार से मैं इस फैसले पर आया कि यह सही चीज़ नहीं होगी" और उन्होंने जिम्मेदारी से बचने की कोशिश नहीं की। महासमिति में बहुमत के दृष्टिकोण वाले लोग ही ज्यादा थे, लेकिन साथ ही कुछ दूसरे मतवाले लोग भी थे और जवाहरलालजी को यह आशा हुई कि कमेटी कुल मिला कर साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई को ठीक ढंग से चलाती रहेगी।

अपने दोस्तों और आलोचकों से जवाहरलालजी ने लखनऊ की अपनी परेशानियों का फिर ज़िक्र किया। उन्होंने कहा, "मेरा ऐसा ख़याल है कि मैं लखनऊ में और फिर बाद, में अपनी विचित्र स्थिति को काफ़ी स्पष्ट कर चुका हूँ। हाँ, उस विचित्र स्थिति का मेरी समाजवादी निष्ठा से कोई संबंध नहीं है। लखनऊ में जो अन्तर था वह तो सिर्फ़ राजनैतिक था। महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर हम लोगों ने अपनी भावनाओं और धारणाओं को बिला झिझक और संकोच के स्पष्ट व्यक्त किया था। हिन्दुस्तान के भाग्य की निर्णायक जनता के सामने हमको खुलकर बात कहनी थी। इसलिए हमने खुले मतभेद को स्वीकार किया। लेकिन इसके साथ-साथ हमने सहयोग और हाथ मिलाकर चलने की बात भी तय की। इसकी वजह सिर्फ़ यही नहीं थी कि हम सबको हिन्दुस्तान की आज़ादी प्यारी थी, बल्कि उसकी वजह यह थी कि वे बातें जिन पर हम सहमत थे उन बातों से कहीं ज्यादा अहम थीं, जिन पर कि हमारा मतभेद था। विभिन्न बातों में दृष्टिकोण का भेद अनिवार्य था। यह सारी चीज़ सामाजिक नहीं थी, बल्कि राजनैतिक थी। सामाजिक थी तो उस हद तक जहां तक कि समाजवाद का उन पर असर पड़ा था। लखनऊ के प्रस्तावों में ऐसी कोई चीज़ नहीं थी, जिसको समाजवादी कहा जा सके। समाजवादियों ने भी यह अनुभव किया कि सबसे अहम प्रश्न राजनैतिक था—स्वतन्त्रता का प्रश्न, और उन्होंने भी उस पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। फूट की बात बेमानी थी। जब स्वतंत्रता की पुकार हमारे ख़ून में हिलोरें ला रही थी तो हममें फूट की बात कैसे उठ सकती थी? हम सहमत हों, चाहे हममें मतभेद हों, कभी-कभी हम साथ भी छोड़ सकते हों; लेकिन आज़ादी की पुकार में हम सब एक साथ हैं।" खादी पर उन्होंने जो आलोचना की थी, उसके सिलसिले में लोगों को उन्होंने फिर जवाब दिया, "मैं इस चीज़ को कई बार साफ़ कर चुका हूँ कि मैं खादी को अपनी आर्थिक समस्याओं का अन्तिम हल नहीं मानता और इसलिए मैं उस हल को दूसरी जगह तलाश करता हूँ। फिर भी मेरा यह विश्वास है कि आज की परिस्थिति में खादी का एक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक महत्त्व है और हमें उसे बढ़ावा देना चाहिए।" उन्होंने फिर यह कहा कि रूस के सामाजिक ढाँचे की नींव में जो मौलिक आर्थिक सिद्धान्त था वे उसमें विश्वास करते हैं। उनका ऐसा विचार था कि रूस ने सांस्कृतिक, औद्योगिक, शिक्षा-संबंधी और सही मायनों में आध्यात्मिक क्षेत्र में असाधारण प्रगति की है; लेकिन इसके माने यह नहीं थे कि वे रूस में जो कुछ हुआ था, उस सबको अच्छा समझते और मानते थे। इसी वजह से उनका कहना यह नहीं था कि रूस का अंधानुकरण किया जाय। इसलिए साम्यवाद की जगह उन्होंने समाजवाद शब्द का प्रयोग करना उचित समझा; क्योंकि साम्यवाद सोवियट रूस का द्योतक था। अन्तिम विश्लेषण में जवाहरलालजी और उनके साथियों के आदर्श में फ़र्क़ नहीं के बराबर था। "मैं जिस

चीज़ को चाहता हूँ वह यह है कि समाज में से मुनाफे का भाव निकल जाय और उसकी जगह समाज-सेवा की भावना आ जाय। प्रतिद्वन्द्विता की जगह सहयोग ले ले। उत्पादन लाभ के लिए न होकर उपभोग के लिए हो। वजह यह है कि मैं हिंसा से घृणा करता हूँ और उसे निंद्य समझता हूँ। वर्तमान व्यवस्था हिंसा पर खड़ी हुई है और मैं उसे स्वेच्छा से सहन नहीं कर सकता। इसलिए मैं एक ऐसी स्वेच्छापूर्ण, सुदृढ़ और समर्थ व्यवस्था चाहता हूँ, जिसमें से हिंसा की जड़ें निकाल दी गई हों, जहाँ घृणा लुप्त हो गई हो और उनकी जगह श्रेष्ठतर भावनाओं ने ले ली हो। इस सब को मैं समाजवाद कहता हूँ।'' इसे समाजवाद कहो या गांधीवाद, कांग्रेस जिस चीज़ के पक्ष में है वह सही है। यही नहीं, जवाहरलालजी जिस चीज़ को चाहते हैं उसमें और कांग्रेस के आदर्श में और भी ज्यादा अनुरूपता है। जवाहरलालजी कहते हैं,''इससे पहले कि समाजवाद आये या उसकी कोशिश की जाय, हमारे हाथ में अपने भाग्य-निर्माण की शक्ति होना आवश्यक है। पहले राजनैतिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। हम सबके सामने सबसे बड़ा और सबसे पहला सवाल यही है। फिर हम चाहे समाजवाद में विश्वास करें या न करें; लेकिन अगर हम आज़ादी चाहते हैं तो हम सबको मिलकर उसे एेसे लोगों के हाथों में से निकालना होगा, जो उस बात के लिए तैयार नहीं हैं।'' सच बात यह है कि गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस समाजवाद का अपना ताना-बाना बुनने के लिए आज़ादी का भी इन्तज़ार नहीं करती। उसके लिए गाँव के आर्थिक पुनर्निर्माण का ताना है, सामाजिक ऐक्य का बाना है और वह इनकी बुनाई समय-रूपी करघे से हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता रूपी कपड़े में नैतिक पुनरुत्थान के सिरों को लेकर, काम और वेतन की चिन्ता किये बिना ही रात-दिन कर रही है।

: २ अ :

फ़ैज़पुर अधिवेशन : दिसम्बर १९३६

कांग्रेस का अगला अधिवेशन फ़ैज़पुर में बुलाया गया। यह जगह इतिहास और भूगोल दोनों के लिए अपरिचित-सी थी। अब तक कांग्रेस के अधिवेशन के लिए बड़े-बड़े शहरों में होड़ रहती थी और बड़े-बड़े फैसलों में वे अपना नाम चाहते थे। देश की निगाह में बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, इलाहाबाद, लाहौर, बनारस, लखनऊ, नागपुर, अमरावती, बाँकीपुर, कराँची, पूना, अहमदाबाद, सूरत, गौहाटी, अमृतसर, गया, कोकोनाडा, बेलगाँव, कानपुर और दिल्ली जैसे शहरों में ही वार्षिक अधिवेशन बुलाने की और उसका स्वागत करने की सामर्थ्य थी; लेकिन १९३०-३२ के सत्याग्रह के बाद गांधीजी ने, जिन्होंने सन् १९३४ में अ० भा० ग्रामोद्योग संघ का उद्घाटन किया था, ऐसा अनुभव किया कि असली हिन्दुस्तान तीन हज़ार शहरों और कस्बों में नहीं, बल्कि साढ़े सात लाख गांवों में बसता है। पहले बड़े शहरों की बारी थी, फिर छोटे शहर जैसे बेलगांव और कोकानाडा सन् १९२३ और '२४ में आये; लेकिन फिर बड़े शहरों की ही बारी आने लगी। गांधीजी की यह तबियत थी कि बजाय इसके कि शहर में कांग्रेस का अधिवेशन कर गाँव वालों को वहाँ बुलाया जाय, अधिवेशन ही क्यों न गांवों में किया जाय और शहरों को देहात और गाँव वालों के पास ले जाया जाय। उन लोगों को राष्ट्रीय संस्था का संगठन और नियंत्रण करना सीखना चाहिये। इस तरह फैज़पुर, हरिपुरा, त्रिपुरी और रामगढ़ भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में ऐतिहासिक स्थान बन गये।

एक चीज़ और है, जो अपने आपमें छोटी नहीं है; बल्कि जो हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के सामने गौण पड़ गई है। हिन्दुस्तान को साम्राज्य के ताज का सबसे चमकता हुआ रत्न कहा जाता है। एक ज़माना था जब ऐसा कहकर हमारी गुलामी और तकलीफ़ की एवज़ में हमें तसल्ली दी जाती थी। हिन्दुस्तान रत्न ही नहीं, ख़ुद ताज है और इसको पिछले डेढ़ सौ बरस से धारण किया गया है। शायद ही कुछ लोगों ने इस देश में बादशाह को देखा हो। पिछले ज़माने में बादशाह के लिए लोगों में कुछ रुचि रही हो तो रही हो, अब वह बात नहीं थी। अब तो बादशाह और राजसिंहासन बीते इतिहास के अध्याय हो गये हैं और बहुत-से ताजों को सुनारों ने गला दिया है। लेकिन ब्रिटेन में, भारत को छोड़ दीजिये, इस बादशाहत के चारों तरफ़ एक ऐसी मोहिनी है, जो आसानी से ख़त्म नहीं होती। वहाँ पर राष्ट्र की विरोधी शक्तियाँ भी मिलती हैं और परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करती हैं। अंग्रेज अपने बादशाहों का ज़रूरत पड़ने पर सिर काटने में भी नहीं झिझके; लेकिन सौभाग्य से कुछ सदियों से अब ऐसी नौबत नहीं आई है। जार्ज पंचम के मरने पर उनके सबसे बड़े पुत्र एडवर्ड अष्टम बादशाह बने। जब वह वेल्स के राजकुमार थे तभी उनका एक अपना ढंग था। उनका समाजवाद की तरफ झुकाव था और वे सामाजिक और राजसी परम्पराओं से घृणा करते थे। दीन-हीन व्यक्तियों के

उत्थान से उनकी सजीव सहानुभूति थी और वे वेल्स और दूसरी जगहों के बेकार लोगों के घर अक्सर मिलने चले जाते थे। जानबूझ कर अपनाये गये बादशाह के इस ढर्रे से बड़े-बड़े लोग बिगड़े। मई १९३४ में एक शाही घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें कहा गया कि १२ मई १७३७ को बादशाह को ताज पहनाया जायगा। सन् १९३६ में अपनी पार्लामेण्ट के पहले भाषण में बादशाह ने राजगद्दी के बाद हिन्दुस्तान जाने और वहाँ पर दरबार करने का इरादा ज़ाहिर किया। लेकिन २ दिसम्बर को एक संकट उठ खड़ा हुआ। बेडफोर्ड के बिशप (बड़े पादरी) ने यह आशा प्रकट की कि बादशाह को भगवान की दया चाहिए और कहा कि राजगद्दी का लाभ सम्राट के आत्म-त्याग पर निर्भर होगा। बात यह थी कि बादशाह ने एक अमरीकी महिला श्रीमती अर्नेस्ट सिम्पसन से विवाह करने की अपनी इच्छा अपने मन्त्रियों के सामने प्रकट की थी। श्रीमती सिम्पसन पहले ही दो पतियों को तलाक़ दे चुकी थी। वे दोनों ही ज़िन्दा थे और उनमें से एक तो ब्रिटिश नागरिक ही था। मन्त्रियों को यह प्रस्ताव पसन्द नहीं आया। ४ दिसम्बर को कामन्स-सभा में मि० बाल्डविन ने यह सूचना दी कि सम्राट की सरकार हीनतर स्तर की महिला से विवाह की अनुमति देने के लिए कोई विशेष कानून बनाने को तैयार नहीं। तब १० दिसम्बर को बादशाह को राजगद्दी छोड़ने के निश्चय का सन्देश सुनाया गया। राजगद्दी त्याग-बिल दोनों सभाओं में बाक़ायदा पास हुआ और उसे शाही स्वीकृति मिली। रातोंरात अंधेरे और मेंह में भूत-पूर्व बादशाह को समुद्र पार अपरिचित स्थान के लिए लाद दिया गया। यहाँ एक ऐसा आदमी सामने आता है, जिसने एक लड़की के लिए राज्य छोड़ दिया और तब से वह दुनिया के नागरिक के मामूली अधिकारों में खुश है। उसके बाद के जीवन से हमारा संबंध नहीं है। एडवर्ड विन्डसर के ड्यूक के रूप में राष्ट्र की युद्ध और शान्तिकाल में सेवा करता रहा है, हालाँकि यह जरूर एक अजीब-सी बात थी कि युद्धकाल में उसे बरमूडा का गवर्नर बना कर भेज दिया गया था, जहां की आबादी सिर्फ़ ५० हजार थी।

सन् १९३६ में हिन्दुस्तान की ऐतिहासिक तस्वीर समझने के लिए हम ब्रिटेन की चर्चा पर पहुँचे; और अब हमें रूस पहुँचना होगा। नई आर्थिक नीति के बाद वहाँ की नई सामाजिक व्यवस्था अब धीरे-धीरे ठोस और साफ़ होती जा रही थी। पुरानी पूँजीवादी छाप अब भी बनी हुई थी और नये विधान के अनुसार राष्ट्रीय-अर्थ-व्यवस्था के सारे क्षेत्रों से उस पूंजीवाद को उखाड़ फेंकना था। सन् १९२४ से सन् १९३६ आ गया था। फ़ैज़पुर अधिवेशन से ठीक एक महीने पहले २५ नवम्बर १९३६ को क्रैमलिन महल में सोवियट रूस के नये विधान पर विचार कर उसे अपनाने के लिए २०४० प्रतिनिधि एकत्र हुए। पिछले बारह बरसों में जो आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति हुई थी, उसकी यह अभिव्यक्ति थी। ज़रा-सी देर में एक विशुद्ध खेतिहर देश, संसार की अत्युन्नत शक्तियों में गिना जाने लगा था और वहाँ खेती के साथ उद्योगों का भी समान रूप से विकास हो गया था। सारे काम आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से होते थे। नये विधान से नया युग आरंभ हुआ और राजसत्ता का एक नया संगठन हुआ। लेनिन के उत्तराधिकारी स्टैलिन के हाथों में जब सत्ता आई तो उसकी उम्र सिर्फ़ ३४ बरस की थी। लेनिन ने जिस वक्त राजसत्ता संभाली थी उस वक्त उसकी उम्र ४७ बरस की थी। सोवियट के आठवें अधिवेशन में स्टैलिन ने वैधानिक कमीशन की स्थापना और उसके काम, पिछले बारह बरसों में रूसी जीवन में हुआ अन्तर, नये विधान की प्रमुख विशेषताएँ, उसकी मध्यमवर्गीय आलोचना, उसके संशोधन और वैधानिक महत्व, पर जो भाषण दिया, उसका तालियों, नारों और जयकारों से ज़बर्दस्त स्वागत हुआ। नई आर्थिक नीति में, समाजवाद की उन्नति अधिक-

से-अधिक करते हुए भी, शुरूआत में कुछ पूँजीवाद के लिए भी गुंजाइश छोड़ दी गई थी। स्टैलिन ने कहा, "उस समय (१९२४ में) हमारे उद्योग की दशा स्पर्धा करने लायक नहीं थी और खेती का तो और भी बुरा हाल था । जमींदार-वर्ग खतम हो चुका था, लेकिन कुलक (Kulaks) वर्ग में काफ़ी शक्ति बची हुई थी। कुल मिलाकर उस वक्त खेती छोटे-छोटे किसानों के हाथों में थी, जिसका खेती-बाड़ी का पुराना ढर्रा था। देश में वस्तु-वितरण की दशा भी ऐसी ही थी। वस्तु-चलन में समाजवादी या सामाजिक अंश केवल पचास से लेकर साठ फीसदी तक ही था। सन् १९३६ तक पूँजीवाद बिलकुल दफ़ना दिया गया था। उद्योग बहुत बड़ी शक्ति बन गया था और खेती का दुनिया में सबसे अच्छे ढंग पर संगठन हो गया था। सरकारी फ़ार्मों पर सामूहिक रूप से मशीनों द्वारा खेती होती थी। इस तरह शोषण समाप्त कर दिया गया था और उत्पादन के साधनों में राजसत्ता का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया था। जिन लोगों को नागरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था, अर्थात् कुलक, पुराने पादरी लोग, पुराने स्थापित स्वार्थों वाले लोग और ज़ार की पुलिस के आदमी, उन सबको नागरिक स्वतंत्रता अब फिर लौटा दी थी। विधान में एक संशोधन का प्रस्ताव रखा गया कि यूनियन से अलग होने का अधिकार वापस ले लिया जावे;किन्तु इसको रद्द कर दिया गया,ताकि सोवियट रूस की समानाधिकार वाली यूनियनें स्वेच्छापूर्वक सोवियट रूप में संगठित रही आवें। स्टैलिन दूसरी सभा के तोड़ने के ख़िलाफ़ थे; क्योंकि सोवियट एक बहुराष्ट्रीय सरकार थी। स्टैलिन ने १२४ वीं मद पर एक संशोधन का विरोध किया। उस संशोधन का अभिप्राय यह था कि सोवियट में धार्मिक अधिकारों पर पाबन्दी लगा दी जावे। स्टैलिन ने कहा कि ऐसा संशोधन विधान की भावना से बेमेल है। अन्त में एक प्रस्ताव यह आया कि जो लोग सामाजिक उपयोगिता का कोई काम न करते हों, उन्हें मताधिकार नहीं होना चाहिये या कम-से-कम उन्हें निर्वाचित होने का अधिकार नहीं मिलना चाहिये । इसका भी स्टैलिन ने विरोध किया। उन्होंने कहा कि सोवियट ने काम न करने वालों और शोषण करने वालों को मताधिकार से हमेशा के लिए वंचित नहीं किया था। "वह कानून जिसने उन्हें उस अधिकार से वंचित किया,सोवियट सरकार के विरुद्ध है। तब से वक्त बदल गया है।" स्टैलिन ने अन्त में कहा, "मज़दूर-वर्ग के समाजवादी आन्दोलन के खिलाफ़ फ़ासिस्टवाद जो ज़ोर पकड़ रहा है और जो सभ्य जगत के सर्वोत्तम लोगों की लोकतंत्री आकांक्षाओं को कुचल रहा है, उसके लिए हमारा यह नया विधान एक खुली चुनौती है और इससे उन लोगों को, जो फासिस्टवाद की बर्बरता के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं, नैतिक सहायता और सच्चा अवलम्बन मिलेगा।"

फिर क्या आश्चर्य कि फ़ैज़पुर के सारे वातावरण में समाजवादी लहरें दौड़ रहीं हों ! एक तरफ़ मज़दूरों और किसानों के अधिकारों पर जोर दिया जा रहा था, दूसरी तरफ़ फ़ासिस्टवाद और साम्राज्यवाद का विरोध था। फ़ैज़पुर कांग्रेस में विषय-निर्वाचन-समिति के सामने समाजवादी दल ने इस बात पर जोर दिया कि कांग्रेस भारतीय जनता की दुनिया के गुलाम लोगों के साथ—चाहे वे उपनिवेशों के हों या तथाकथित आजाद देशों के—सोवियट रूस की जनता के साथ एकता की घोषणा करे। इस बात की आशा स्वाभाविक थी; क्योंकि स्टैलिन ने कहा था,"यह इस बात का प्रमाण है कि जो कुछ रूस में हुआ है, वह दूसरे देशों में भी हासिल किया जा सकता है।" इस पुकार का एक महीने के ही अन्दर कांग्रेस समाजवादी दल ने फ़ैज़पुर में जवाब दिया।

रूसी विधान के पास होने के चार सप्ताह बाद और एडवर्ड के राजगद्दी छोड़ने के दो सप्ताह

बाद एक बांस से बनी बस्ती में जिसका नाम 'तिलकनगर' था, फ़ैज़पुर अधिवेशन हुआ। अब फ़ैज़पुर के करीब, देहाती हिस्से में एक पूरे राष्ट्र के प्रतिनिधि मिले तो ऐसी उम्मीद की जा सकती थी कि कांग्रेस के वातावरण में इंगलैंड की घटनाएँ छायी हुई होंगी। लेकिन हिन्दुस्तान ने बादशाहत के शब्दों में अपना भविष्य कभी नहीं सोचा था। हाँ, यह बात उसने ज़रूर तय की थी कि उसे राज्याभिषेक-उत्सव से असहयोग करना है। यह कहना शायद मुश्किल होगा कि बादशाहत के लिए आदमी बदल जाने से यह असहयोग कुछ कम दिलचस्प हो गया। हिन्दुस्तान की असली सत्ता उसकी जनता में निहित थी और सारे अधिकार और शक्ति का स्रोत जनता ही थी। इंगलैंड में बादशाहत छोड़े जाने से इन देहाती हिस्सों में, जहाँ लाखों गांव वाले जमा हुए थे, पूर्ण स्वाधीनता का विचार शायद कुछ ज्यादा मजबूत ही हो गया। बस और कुछ नहीं।

फ़ैज़पुर का अधिवेशन हर ढंग से सफल रहा। संभवतः उसमें आशा से अधिक सफलता मिली। सार्वजनिक सम्पर्क की बात जो एक विशेष भावना से सोची गई थी अब भविष्य के लिए कार्यक्रम ही नहीं बनी, वरन फ़ैज़पुर अधिवेशन में वह बात अपने आप हो गई। कांग्रेस के पीछे गांधीजी की शक्ति थी और गांधीजी चाहे आगे हों या पीछे, उनकी एक बड़ी भारी ताक़त थी। वहां जो सुन्दर प्रदर्शिनी हुई उससे वे विशेष रूप से सम्बन्धित थे। सारी व्यवस्था को उन्होंने बारीकी के साथ देखा था। लेकिन जल-स्रोत शुद्ध होने से क्या लाभ, जब उसका प्रवाह-मार्ग दूषित हो। विचारों का स्रोत तो बहुत उच्च हो; किन्तु यदि कार्य-कारिणी उन भावनाओं को अंगीकार न करे तो सिद्धान्त और नीति में विचारों और योजनाओं में तथा सिद्धान्त और व्यवहार में एक स्पष्ट अन्तर होगा। यहां फ़ैज़पुर में सौभाग्य से चालक-शक्ति शंकरराव देव थे, जो गांधीजी के अनन्य और समझदार अनुयायी थे और इसके साथ ही महाराष्ट्री होने के नाते उनमें असाधारण व्यवहार-बुद्धि थी। सभापति भी इस बीच में काफ़ी नर्म हो गये थे। पिछले आठ महीनों में उन्होंने जिस असलियत को पकड़ा उससे इनके और चारों तरफ़ के वातावरण के बीच जो खाई थी वह पट रही थी। जब सभापति-पद के लिए उनका नाम पेश किया गया तो उन्होंने देश को अपने एक बयान में चेताया कि उनका रुझान समाजवादी कार्यक्रम और सिद्धान्त की ओर था। उससे न डर कर सरदार पटेल ने एक बयान दिया, जिससे मनोनीत सभापति को वस्तुस्थिति समझने में सहायता मिली। इसलिए फ़ैज़पुर अधिवेशन यदि लखनऊ की अपेक्षा कम झकझोरों का रहा तो उसकी वजह दो बातों में दिखाई देगी : एक तो सभापति के लिए चुनाव के वातावरण में, दूसरे उस अनुभव से, जो क लखनऊ के सभापति को जीवन के विश्वविद्यालय में इस पिछले साल में हासिल हुआ था। हम यहाँ तत्सबन्धी पत्र-व्यवहार के कुछ उद्धरण देते हैं :

"एक प्रकार से पिछले साल मैंने विचित्र प्रकार की विचार-धाराओं के बीच जोड़ने वाली कड़ी का प्रतिनिधित्व किया और इस तरह मैंने बीच के फर्क को कम करने में कुछ मदद की और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ अपनी लड़ाई के बुनियादी ऐक्य पर ज़ोर दिया। अनिश्चितता के कारण मैं 'हां'या'ना' नहीं कह सका और ख़ामोश बना रहा। अब सभापति-पद के लिए नाम पेश कर दिये गये हैं और चुनाव का वक्त करीब आ रहा है। मैं ऐसा महसूस करता हूँ कि मैं अब ख़ामोशी नहीं रख सकता और मैं अपने देशवासियों को अपने विचार जता देना चाहता हूँ।

"अपने किसी भी साथी के चुनाव में मुझे बहुत ख़ुशी होगी और इस बड़े काम में मैं किसी दूसरे रूप में उसके साथ सहयोग करूँगा। अगर मेरे देशवासियों का चुनाव मेरे ही लिए होता है तो मैं उसके लिए 'न' करने की हिम्मत नहीं कर सकता और मैं उनकी इच्छा के आगे झुक जाऊँगा।

लेकिन अपना फ़ैसला करने से पहले उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि मेरी विचारधारा क्या है, क्या चीज़ मुझे प्रेरणा देती है और लिखने और बोलने में मेरे काम का स्रोत क्या है ? इसका मैं काफ़ी इज़हार दे चुका हूँ और उसी से मेरे बारे में फ़ैसला होना चाहिए।''

सरदार पटेल ने अपना नाम चुनाव से वापस लेते हुए जो बयान निकाला उसका एक उद्धरण यह है—

''मैंने अपना नाम जो वापिस लिया है उसके मायने यह नहीं कि मैं जवाहरलालजी की सारी विचार-धारा से सहमत हूं। कांग्रेसीजन इस बात को जानते हैं कि कुछ महत्वपूर्ण बातों में हम दोनों में मतभेद है। उदाहरण के लिए मैं ऐसा मानता हूँ कि पूँजीवाद में से उसके सारे दोष दूर किये जा सकते हैं। जहां कांग्रेस स्वतन्त्रता पाने के लिए सत्य और अहिंसा को अनिवार्य समझती है, वहां अपनी निष्ठा के प्रति तर्कसंगत और सच्चे कांग्रेसियों को इस बात की संभावना में विश्वास रखना चाहिये कि जो निर्दयता-पूर्वक जनता का शोषण कर रहे हैं, उनको प्रेम से अपनाया जा सकता है। मेरा ऐसा विश्वास है कि जब जनता को अपनी भयंकर दुर्दशा का बोध होता है तो उसके लिए ख़ुद अपना तरीका चुन लेती है। मैं तो इस सिद्धान्त को मानता हूं कि सारी भूमि और सारी सम्पत्ति सभी की है। किसान होने के नाते और उनके मसलों में दिलचस्पी लेते रहने की वजह से मैं यह जानता हूँ कि तकलीफ किस जगह है। लेकिन मैं जानता हूँ कि जन-शक्ति के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता।

''उद्देश्य के बारे में कोई मतभेद नहीं है। हम सब लोग नये विधान को तोड़ना चाहते हैं। सवाल तो यह है कि धारासभाओं के अन्दर से उन्हें कैसे तोड़ा जाय। जो लोग कांग्रेस की तरफ़ से धारा-सभाओं में पहुंचेंगे यह बात उन लोगों की सूझ और काबलियत पर निर्भर है। महासमिति और कार्यकारिणी कांग्रेसी नीति बना देगी, उस पर अमल करना प्रतिनिधियों के हाथ की बात है।

''इस समय पद-ग्रहण का सवाल सामने नहीं है। पर मुझे वह मौका दिखाई देता है जब अपने मकसद पर पहुँचने के लिए पद-ग्रहण मुनासिब होगा। तब जवाहरलालजी में और मुझमें या यों कहिये, कांग्रेसियों में मतभेद होगा। हम जानते हैं, जवाहरलालजी की कांग्रेस के लिए ऐसी निष्ठा है कि एक बार बहुमत से फ़ैसला हो जाने पर, और उसके अपने दृष्टिकोण के खिलाफ़ होने पर भी वे उसके खिलाफ़ नहीं जावेंगे। पद-ग्रहण और पार्लामेण्टरी कार्यक्रम से मेरा कोई मोह नहीं है। मैं तो सिर्फ़ यह कहता हूँ कि शायद परिस्थितियों में ऐसा करने की ज़रूरत ही आ पड़े; लेकिन जो कुछ भी हम करेंगे उसमें हम अपने आत्म-सम्मान और उद्देश्य की बलि नहीं चढ़ावेंगे। असल में इस कार्यक्रम का मेरी निगाह में गौण स्थान है। असली काम तो धारासभाओं के बाहर है। इसलिए हमें अपनी ताकत को रचनात्मक कार्यक्रम के लिए सुरक्षित रखना है। राष्ट्रपति के निरंकुश अधिकार नहीं होते। वह तो हमारे सुनिर्मित संगठन का प्रमुख होता है। वह काम को ठीक ढंग से चलाता है और कांग्रेस के फैसलों पर अमल कराता है। किसी आदमी को चुन देने से कांग्रेस अपने अधिकारों को नहीं खोती, फिर चाहे वह कोई भी आदमी क्यों न हो।

''इसीलिए मैं प्रतिनिधियों को यह बताता हूँ कि देश में जो विभिन्न शक्तियां काम कर रही हैं, उनका ठीक दिशा में नियंत्रण और निर्देश करने और साथ ही राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए जवाहरलालजी सर्वोत्तम व्यक्ति हैं।''

बाद में सीतापुर ज़िले के हरगांव से जवाहरलालजी का यह बयान निकला—

"इलाहाबाद से बरेली के सफर में मैंने राष्ट्रपति के चुनाव पर एक वक्तव्य तैयार किया। मैं उलझन में था और मैंने जनता को अपने साथ लेना चाहा। पिछले बयान पर प्रेस में कुछ आलोचनाएँ हुई हैं; लेकिन देहाती हिस्सों में बराबर दौरे पर रहने की वजह से मैं ज्यादातर आलोचनाओं को देख नहीं पाया हूँ। जिन्हें मैंने देखा है, उनसे मुझे आश्चर्य होता है; क्योंकि उनमें ऐसे सवाल उठाये गये मालूम होते हैं, जिनको उठाने का मेरा इरादा भी नहीं था।

"मैं एक विचित्र स्थिति में हूँ और विवाद में नहीं पड़ना चाहता। मैं फिर राष्ट्रपति चुना जाना नहीं चाहता था और मैंने यह कहा था कि जिस दूसरे आदमी का भी चुनाव होगा मैं उसको सहर्ष सहयोग दूंगा। बड़े योग्य और सम्मान्य साथियों के इस पद के लिए नाम पेश किये गये हैं और उनमें से किसी का भी चुनाव उपयुक्त होता। लेकिन जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, वर्तमान परिस्थितियों में मैं 'न' नहीं कह सकता था। अभी हाल ही मुझे अपने दो साथियों से इस आशय के तार मिले हैं :

"अखबारों ने तुम्हारे बयान के ये मायने लगाये हैं कि तुम्हारे लिए वोट का अर्थ है समाजवाद के लिए 'हां' और पदग्रहण के लिए विरोध। हमारा ऐसा खयाल है कि उस बयान में तुम्हारे समाजवाद की झलक तो है;लेकिन साथ ही यह भी कि तुम राजनैतिक आज़ादी को सबसे पहले जगह देते हो और संयुक्त मोर्चा चाहते हो। उससे तुम्हारे चुनाव के मायने समाजवाद के लिए'हां'और पद-ग्रहण के लिए 'न' नहीं हैं। गलतफहमी दूर होना ज़रूरी है।"

"अपने साथियों की इस माँग पर मैं खामोश नहीं रह सकता। मैं चाहता था, और मैंने सुना है कि सरदार पटेल ने इस विषय पर एक वक्तव्य निकाला है। पर उसे मैंने न अभी तक देखा है और न सुना है। मैं नहीं जानता कि उसमें क्या कहा गया है। ऊपरी तार में मेरे बयान के बारे में जो विचार प्रकट किया गया है, वह सही है। मेरे लिए यह एक गलत बात होगी कि मैं राष्ट्रपति के चुनाव को समाजवाद के पक्ष की और पद-ग्रहण विरोध का वोट बना दूं। समाजवाद पर अपने विचारों को मैं प्रकट कर चुका हूँ। मैं यह बता चुका हूं कि मेरा दृष्टिकोण उससे रँगा हुआ है। पद-ग्रहण के लिए मैं अपना विरोध भी बता चुका हूं और जब भी मौका आवेगा मैं अपना दृष्टिकोण फिर समझाऊँगा; लेकिन आखिरी फैसला पूरे सोच-विचार के साथ कांग्रेस ही करेगी। मेरा यही विश्वास है कि सबसे पहली चीज़ राजनैतिक आज़ादी है और उसके लिए हम सबको संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिये। मैं इस बात को सिर्फ़ ग़लतफ़हमी दूर करने के लिए कह रहा हूं। इसके मायने यह क़तई नहीं हैं कि मुझे चुन लिया जाय। इतने पर भी अगर मैं चुना जाता हूं तो मैं उसके मायने यह लगाऊँगा कि पिछले आठ महीनों में जिस ढंग को मैंने अपनाया है, वह अधिकांश कांग्रेसियों को स्वीकार है। जिन बातों को सोच कर मैंने इस ढंग से काम किया, वे बातें अब भी बनी हुई हैं और जहाँ तक मुझसे हो सकेगा, चाहे मैं चुना जाऊँ या न चुना जाऊँ, मैं उसी ढंग से काम करता रहूंगा।"

फ़ैज़पुर (१६३६) में अपने राष्ट्रपति-पद से दिये गए भाषण में उन्होंने ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ और श्री एम० एन० राय का (जो बड़ी लम्बी और सख़्त कैद से हाल ही में छूटे थे) स्वागत करते हुए यूरोप में फ़ासिस्टवाद के विजयपूर्ण प्रवाह की चर्चा की और उसका डर बताया। साथ ही इस बात की तरफ भी लोगों का ध्यान खींचा कि अगर रोक-थाम न की गई तो उसका लाज़िमी नतीजा संसारव्यापी महायुद्ध होगा। एबीसीनिया पर बलात्कार और स्पेन की दुर्दशा उसके प्रमाण थे।

ब्रिटेन की विदेश-नीति बिलकुल निर्दोष नहीं थी। लीग आव नेशन्स की शक्तियों के हस्त-

क्षेप न करने के व्यर्थ निश्चय से स्पेन की लोकतन्त्री सरकार कमज़ोर पड़ी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और फ़ासिस्ट शक्ति में एक रिश्ता था। प्रतिक्रियावादी शक्तियों की इस प्रतिक्रिया के बीच राष्ट्रपति ने कहा, "कांग्रेस आज भी हिन्दुस्तान में पूरी तरह लोकतंत्र लाना चाहती है और उसी के लिए लड़ती है। वह साम्राज्यवाद-विरोधी है और वह राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे में बड़े-बड़े परिवर्तनों की कोशिश में है। मेरी ऐसी आशा है कि घटनाओं के प्रवाह में समाजवाद आ जायगा; क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तान की आर्थिक बीमारी का सिर्फ वही एक इलाज है।" इसके बाद वे राष्ट्रीय समस्याओं की तरफ़ मुड़े। उन्होंने नये विधान, चुनाव के घोषणा-पत्र, विधान-परिषद, धारासभा के लिए निर्वाचित कांग्रेस सदस्यों के सम्मेलन, संघीय ढाँचे के विरोध की आवश्यकता और एक नये सिरे से विधान बनाने की बातों की चर्चा की। उसके बाद उन्होंने पद-ग्रहण के सवाल की विस्तार-पूर्वक विवेचना की और इस बात की याद दिलाई कि किस तरह लखनऊ में उन्होंने यह बात साफ़ की थी कि पद-ग्रहण से विधान को अस्वीकार करने की बात ही उड़ जावेगी। उन्होंने बताया कि बाद में घोषणा-पत्र ने इस बात को फिर साफ़ कर दिया था कि हम धारा-सभाओं में विधान से सहयोग के लिये नहीं, बल्कि उससे लड़ने के लिए जा रहे हैं। उन्हें इस बात में कोई शक नहीं था कि कांग्रेसी नीति के अनुसार कांग्रेसियों का पद और मंत्रिमंडल से कोई संबंध ही नहीं है। उससे संबंध के मायने भारतीयों के शोषण में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ साझेदारी के होंगे। चाहे विरोध साथ में हो, लेकिन उसके मायने एक्ट के आधारभूत सिद्धान्तों से समझौते के होंगे। इसके अलावा अपने उन्नत अंशों के दमन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ कुछ हद तक हमारा भी भाग होगा।

उन्होंने आगे कहा, "हमारे सामने असली उद्देश्य यह है कि देश की सारी साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया जाय। कांग्रेस ऐसा संयुक्त सार्वजनिक मोर्चा पहले भी थी और अब भी है और यह बात लाजिमी है कि जो कुछ काम हो, उसकी धुरी और बुनियाद काँग्रेस ही हो। संगठित मज़दूरों और किसानों के सक्रिय सहयोग से यह मोर्चा और भी मज़बूत होगा और हमें उसके लिये कोशिश करनी चाहिये। उनमें और कांग्रेस संगठन में सहयोग बढ़ता रहा है और यह बात पिछले साल ख़ास तौर से दिखाई दी है। इस प्रकृति को बढ़ावा देना चाहिये। हिन्दुस्तानकी आज सबसे पहली और सबसे बड़ी ज़रूरत साम्राज्यवाद-विरोधी सारी ताक़तों और सारे दलों का यही संयुक्त मोर्चा है। खुद कांग्रेस में इनमें से बहुत सी शक्तियों का प्रतिनिधित्व होता है और दृष्टि-भेद होते हुए भी वे लोग सबके भले के लिए मिल-जुल कर काम करते रहे हैं।"

अब हम फ़ैज़पुर के प्रस्तावों और विषयों पर एक सरसरी निगाह डाल सकते हैं। किसी देश के इतिहास को टुकड़ों में पढ़ना कुछ घाटे की चीज़ है। वजह यह है कि घटनाएँ कथित समय पर रुक नहीं जाती और उनके समय का फैलाव अलग-अलग होता है। लेकिन राष्ट्र के राजनैतिक जीवन के चारों तरफ़ एक ऐसा वातावरण छाया रहता है, जिसमें ख़ास तरह की लहरें दौड़ती हैं और उनसे समय-समय पर प्रतिक्रियाएँ निश्चित होती हैं। लखनऊ की तरह फ़ैज़पुर में भी विश्व-शांति-सम्मेलन का ध्यान आता था और लड़ाई का डर लगा हुआ था। नागरिक स्वतंत्रता से वंचित होने के कारण वैसा ही तीखापन था और उसी तरह आम चुनावों के लिए फ़िक्र थी। सितम्बर १९३६ में भारतीय प्रतिनिधि ने उस सम्मेलन में ब्रसेल्स में हिस्सा लिया। श्री रोम्याँ रोलाँ ने, जो युद्ध और फ़ासिस्टवाद विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी के अवैतनिक सभापति थे, भारतीय कांग्रेस को आमंत्रित किया था। काँग्रेस की निगाह में विश्व-शान्ति के लिए उस समय तक कोई संभावना

नहीं थी जब तक कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर राज्य कर रहा था और उसके शोषण में लगा हुआ था। असल में कांग्रेस इस दृष्टिकोण पर १९२७ से ही जोर दे रही थी; क्योंकि साम्राज्यवादी युद्ध का ख़तरा उसे दिखाई दे रहा था और साथ ही यह बात साफ़ थी कि झगड़ों में हिन्दुस्तान लाज़िमी तौर से एक मुहरा बनाया जायगा।

कांग्रेस ने फ़ैज़पुर में एक प्रस्ताव द्वारा देश को चेतावनी दी कि अगर लड़ाई छिड़े तो उसको युद्ध के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा होने वाले अपने धन और जन के शोषण को रोकना चाहिये और यह भी कहा कि उस लड़ाई में न कोई चन्दे दिये जावें, न कर्ज़, न लड़ाई की तैयारियों में ही मदद दी जावे। इसके अलावा देश की सीमाओं में शान्ति और पड़ोसियों से दोस्ती बनाये रखने की कोशिश की जानी चाहिये। कांग्रेस का ऐसा विश्वास है कि सीमाप्रान्त में जो सरकारी नीति है वह असफल रही है; क्योंकि उसे साम्राज्यवादी हितों के लिहाज़ से ढाला गया है। कांग्रेस का विश्वास है कि वहाँ के पठानों के ख़िलाफ़ जो खूंखार और आक्रामक होने का आरोप लगाया जाता है, वह निराधार है और उन लोगों के साथ दोस्ताना बर्ताव करके उनका बड़ा शक्तिदायक उपयोग किया जा सकता है। हिन्दुस्तान सरकार की हजारों हिन्दुस्तानियों को अनिश्चित काल के लिये नज़रबन्द रखने की अमानुषिक नीति की भी निन्दा की गई। उनकी छूट और तीन नज़रबन्दों की कथित आत्महत्या के सिलसिले में जाँच की माँग की गई और साथ ही अंडमान कारावास को बन्द करने के लिए भी कहा गया।

शायद फ़ैज़पुर के सबसे महत्वपूर्ण विषय चुनाव और विधान-परिषद से संबंधित थे। इसके अलावा धारासभा के लिए निर्वाचित कांग्रेसियों के सम्मेलन और राज्याभिषेक-उत्सव में साथ देने की बातें भी महत्वपूर्ण थीं। पहली अप्रैल १९३७ को एक आम हड़ताल के लिए कहा गया। यह हड़ताल इस बात को ज़ाहिर करने के लिए थी कि हिन्दुस्तानी जनता अवाञ्छित विधान के लादे जाने के ख़िलाफ़ है। कांग्रेस के लिहाज़ से वह विधान हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के साथ विश्वासघात था और उसका नतीजा यह होगा कि हिन्दुस्तानी जनता के शोषण के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पकड़ और भी ज्यादा मज़बूत हो जायगी। हिन्दुस्तान अपने लिए स्वयं ही विधान बनाने का अधिकार चाहता था। भारत में सच्चा लोकतन्त्र, जिसमें अन्तिम सत्ता सर्वसाधारण में निहित होती, केवल विधान-परिषद द्वारा ही स्थापित हो सकता था। यह विधान-परिषद सब वयस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था होती और उसको देश का विधान बनाने की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती। पद-ग्रहण की समस्या को फिर महासमिति के लिये छोड़ दिया गया, जिसका फैसला चुनावों के बाद करना था। लेकिन इस बीच धारासभा के कांग्रेसियों, महासमिति के सदस्यों और ऐसे व्यक्तियों के, जिन्हें कार्य-कारिणी नियुक्त करे, एक सम्मेलन करने के लिए कहा गया। इस सम्मेलन के द्वारा ही विधान-परिषद की माँग को रखना था। चुनाव के घोषणा-पत्र पर महासमिति विचार कर ही चुकी थी। उसका समर्थन किया गया। लखनऊ में जो खेतिहर कार्य-क्रम तैयार किया गया था, उसे कुछ संशोधनों के बाद स्वीकार कर लिया गया। चूंकि कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्य-क्रम बनाया था, इसलिए उस वक्त सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन का कोई सवाल ही नहीं था। अतः उसने सिर्फ इसी प्रस्ताव पर सन्तोष किया कि आगामी राज्याभिषेक-उत्सव में शामिल नहीं हुआ जायगा; लेकिन साथ ही बहिष्कार का कोई खास कार्य-क्रम भी नहीं था। इस पिछली बात का मतलब सिर्फ़ यही था कि 'बादशाह' के वैयक्तिक रूप से कांग्रेस की कोई लड़ाई नहीं थी। इस बात पर तीखी बहस हुई; लेकिन बाद में प्रस्ताव मंज़ूर हो गया।

: २ ब :

फ़ैज़पुर और उसके बाद : चुनाव

फ़ैज़पुर अधिवेशन का वातावरण देहाती था और स्वभावतः उसमें जन-सम्पर्क के विचारों की लहरें दौड़ रही थीं। चाहे ये सम्पर्क गांव में और कस्बे के मुहल्लों में प्रारम्भिक कमेटियां कायम करके होते या कांग्रेस के साथ ट्रेड यूनियन, मज़दूर दल और किसान सभाओं के ज़रिये होते, असलियत यह थी कि कांग्रेस को मज़बूत करने के लिये आम जनता से पोषण प्राप्त करना और राष्ट्रीय संस्था को हर ढंग से समृद्ध बनाना था। वस्तुतः यही उद्देश्य आम चुनाओं के लिये विस्तृत तैयारी और प्रचार से पूरा हो गया। साढ़े तीन करोड़ आदमियों को वोटें मिली थीं। पुरुष वोटरों की स्त्रियों को भी मताधिकार था और उनको भी जो सिर्फ हस्ताक्षर कर सकते थे। उससे एक ओर तो स्त्रियों में नागरिक चेतना आई और दूसरी ओर साक्षरता की ओर ध्यान गया। हजारों स्त्रियाँ रजिस्टर में अपना नाम दर्ज कराने आईं और वे हजारों आदमी भी, जिन्होंने हाल ही में हस्ताक्षर करना सीखा था। देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक राजनैतिक जाग्रति का जो तूफ़ान आया, वह सरकारी नजर से भी छिपा न रहा। सरकार ने महसूस किया कि हालांकि वोट देने का अधिकार आबादी के सिर्फ़ दसवें हिस्से को मिला; लेकिन फिर भी उस से देश में एक क्रांति शुरू हो गई थी। नतीजा यह हुआ कि यद्यपि उप-भारतमंत्री, वाइसराय और दूसरे बड़े लोगों ने निष्पक्षता के लिए आश्वासन दिया था, फिर भी स्थानीय सरकारों ने कांग्रेसी उम्मीदवारों को उनको जेल की सज़ा के या किसी और बहाने मताधिकार से वंचित कर दिया था। कुछ प्रान्तों में बराबर सक्रिय हस्तक्षेप किया गया; और शान्तिपूर्ण जलूसों, सभाओं और झंडारोहण पर पाबन्दियाँ लगा दी गईं। बड़े कांग्रेसी नेताओं के आने-जाने पर रोक लगा दी गई। खान अब्दुल गफ़्फ़ार खां के पंजाब और सीमाप्रांत में घुसने पर रोक का ज़िक्र किया जा चुका है। पूर्वी खानदेश के पुलिस के डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेण्डेण्ट द्वारा पेशावर से १४ दिसम्बर १९३६ को भेजा हुक्म खान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ को फ़ैज़पुर में मिला। वह सन् १९३२ के सीमाप्रान्तीय सुरक्षा ऐक्ट की पाँचवीं धारा के अनुसार इस प्रकार था—

"इस बात को ख्याल में रखते हुए कि उनको (चीफ़ सक्रेटरी को) इस बात पर विश्वास है और उनके पास इस बात के प्रमाण हैं कि तुम्हारा व्यवहार सार्वजनिक सुरक्षा के प्रतिकूल हुआ है और उससे सुरक्षा भंग होने का अन्देशा है, स-परिषद् गवर्नर तुमको यह निर्देश करता है कि तुम न सीमाप्रान्त में घुस सकते हो और न वहाँ रह सकते हो। यह हुक्म २९ दिसम्बर १९३७ तक के लिए है।"

चुनाव के मौके पर किसी शख्स को अपने ही प्रान्त में न घुसने देना, सरकार की बदला लेने और परेशान करने की भावना को जताता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि जहां इससे सरकारी रुख का पता लगता है वहाँ साथ ही इसका नतीजा यह भी हुआ कि लोगों ने कांग्रेसी उम्मीदवारों की

मदद में जी-जान से काम किया ताकि सारी मुश्किलों के होते हुए भी कांग्रेस की जीत हो। पर बात इतनी ही नहीं थी। वोट देने का जो ढंग था ख़ास तौर से देहात के बेपढ़े-लिखे लोगों का, उसमें न तो आज़ादी थी और न वोट का छिपाव ही होता था। इन बातों के लिए वोट देने वाले का हक़ था। इस पर यह मांग हुई कि प्रस्तावित ढंग बदल दिया जावे और उसकी जगह रंगीन बक्सों का ढंग अपनाया जावे। यही बात अखिल भारतीय और प्रान्तीय मताधिकार कमेटियों ने भी कही। यहाँ अगर हम घटनाओं की प्रत्याशा करें तो रंगीन बक्सों की व्यवस्था दक्षिण भारत में अपनाई गई और काँग्रेसियों ने जो पीला रंग छांटा वह इतना ही शुभ निकला जितना कि वह हमेशा घरेलू उत्सवों पर होता रहा है। काँग्रेस का कार्य-क्रम स्पष्ट था। चुनावों के लिए तैयारी और राष्ट्रीय जीवन के पार्लामेण्टरी पक्ष में स्थायी विजय प्राप्त करने की बात इस समय कांग्रेस के सामने सबसे बड़ी चीज़ थी। उसके बाद सम्मेलन करना था। वह विधान परिषद की जगह नहीं लेता, बल्कि उसके लिए तैयारी करता और साथ ही नये विधान के संघीय ढांचे के विरुद्ध अनुशासित होकर लड़ाई लड़ता। विधान परिषद् का उद्देश्य स्वतंत्र भारत के लिए विधान बनाना था। "वह तो राष्ट्र की एक बहुत बड़ी पंचायत होती, जिसमें लोग वयस्क मताधिकार के अनुसार चुनकर आते। वे उस वक्त मिलते जब असली ताकत जनता के हाथों में आ जाती ताकि वे जो कुछ फ़ैसले करते वे अपनी स्वेच्छा और स्वतन्त्रता से करते और उनपर कोई बाहरी दबाव या असर नहीं होता। इस तरह कांग्रेस की चाह हुई लोकतन्त्री, स्वतंत्र, राजसत्ता स्थापित होती।" सबसे बड़ी बात यह थी कि इस बड़ी लड़ाई में, जो राष्ट्रीय संघर्ष के एक नये पक्ष का प्रतिनिधित्व करती थी, अनुशासन, ऐक्य, नियंत्रण और राष्ट्र-निर्वाचित नेताओं के सहर्ष आज्ञा-पालन की जरूरत थी।

अनुशासन के नियम—कार्य-कारिणी के अनुशासन संबंधी पहले प्रस्तावों को रद करते हुए ये नियम बनाये गये—

१. कार्य-कारिणी इनके खिलाफ़ अनुशासन संबंधी कार्रवाई कर सकती है—

(अ) काँग्रेस कमेटी के ख़िलाफ़ जो जानबूझ कर ऐसा काम या ऐसा प्रचार करती हो, जो काँग्रेस के कार्य-क्रम और फ़ैसलों के ख़िलाफ़ हो और जो अपने से बड़ी सत्ता की आज्ञाओं का उल्लंघन करती हो।

(ब) कांग्रेस कार्य-कारिणी या किसी निर्वाचित कांग्रेस कमेटी के सदस्य के खिलाफ़ जो जान-बूझकर ऐसा काम या प्रचार करता हो जो कांग्रेस के कार्यक्रम और फ़ैसलों के ख़िलाफ़ हो और जो अपने से बड़े अधिकारियों और फ़ैसला करने वालों की आज्ञा का उल्लंघन करता हो।

(स) कांग्रेस के उस सदस्य के ख़िलाफ़ जो जान-बूझ कर कांग्रेस के फ़ैसलों के ख़िलाफ़ काम करता हो और जान-बूझ कर नियुक्त निर्णायकों और अधिकारियों की आज्ञा का उल्लंघन करता हो और जो कांग्रेस फंड में ग़बन, चोरी या हिसाब की गड़बड़ी का दोषी हो या जो कांग्रेस के सामने प्रतिज्ञा-भंग का दोषी हो या जिसने कांग्रेस के मेम्बर बनाने या कांग्रेस के चुनाव में बेईमानी की हो या जो जान-बूझकर इस ढंग से काम करता हो जिससे कार्यकारिणी की राय में कांग्रेस की प्रतिष्ठा और शक्ति को चोट पहुँचती हो, जिसकी वजह से उसकी सदस्यता अवाञ्छनीय होगई हो।

२. (अ) जहाँ तक कांग्रेस कमेटियों का सवाल है अनुशासन संबंधी कार्रवाई यह हो सकती है कि उस कमेटी को अधिकारों से वंचित कर दिया जाय और उसके व्यक्तिगत सदस्यों के ख़िलाफ़ आवश्यकतानुसार कार्रवाई हो सकती है।

(ब) जहाँ तक कार्य-कारिणी या किसी निर्वाचित कांग्रेस कमेटी के सदस्य का सवाल है,

उसके खिलाफ़ अनुशासन संबंधी कार्रवाई में उसको उस पद से या सदस्यता से हटाया जा सकता है और एक ऐसा समय निश्चित किया जा सकता है जब तक न वह किसी पद के लिए चुना जा सकता है और न किसी कमेटी का सदस्य ही हो सकता है।

(ख) जहाँ प्रारंभिक कांग्रेस संगठन के सदस्य का सवाल है उस पर निश्चित समय तक किसी चुनाव में खड़ा होने के लिए अयोग्य घोषित किया जा सकता है और इन चुनावों में धारा-सभा और चुंगी के चुनाव भी शामिल हैं। साथ ही उस अवधि में सदस्यता के दूसरे अधिकारों से वंचित किया जा सकता है और इसके अलावा उसके कांग्रेस सदस्य बनने पर भी रोक लगाई जा सकती है।

३. अनुशासन संबंधी कोई भी कार्रवाई करने से पहले अपराधी कमेटी, या व्यक्ति को, अपनी सफ़ाई पेश करने और अपने विरुद्ध आक्षेपों का उत्तर देने का अवसर दिया जायगा।

४. प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों की कार्य-समितियों को भी अनुशासन संबंधी कार्रवाई करने का अधिकार होगा जिसका उपयोग वे अपने अधीन सभी कमेटियों और सदस्यों पर कर सकती हैं। इन सब मामलों में कार्य-कारिणी द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार ही कार्रवाई की जावेगी। अभियुक्त कमेटी और व्यक्ति को कार्य-कारिणी से अपील करने का अधिकार होगा; लेकिन अपील तय होने तक उसे उस आज्ञा का पालन करना होगा जो कि पहले जारी हो चुकी है और जिसके खिलाफ़ कि अपील की गई है।

५. जब कार्यकारिणी काम न कर रही हो उस समय अनुशासन संबंधी मामलों में जहाँ तात्कालिक ध्यान देने की ज़रूरत हो राष्ट्रपति कार्रवाई कर सकता है और यह काम वह कार्य-कारिणी की ओर से और उसी के नाम पर करेगा। ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रपति को कार्यकारिणी की अगली बैठक पर अपने सारे निर्णय उसके सामने रखने होंगे और उसकी स्वीकृति लेनी होगी।

कांग्रेस के ५८ मुस्लिम उम्मीदवारों ने ४८२ में से २६ सीटें जीतीं, जिनमें अधिकांश सीमाप्रान्त में थीं। ४२४ गैर कांग्रेसी मुसलमान जीते। २ करोड़ ८० लाख लोगों ने वोट दिये। कुल निर्वाचकों की यह संख्या ५५ फ़ीसदी थी। प्रान्तीय धारा सभाओं में कुल १५८५ सीटें थीं। इनमें से ७११ कांग्रेस के हाथ में आईं और पाँच प्रान्तों—मद्रास, यू० पी०, सी०पी०, बिहार और उड़ीसा में उसका स्पष्ट बहुमत रहा।

	कांग्रेस सीट	कुल सीट
मद्रास	१५९	२१५ (जस्टिस पार्टी को सिर्फ़ २१ सीटें मिलीं)
युक्तप्रांत	१३४	२२८
मध्यप्रांत	७०	११२
बिहार	९५	१५२
उड़ीसा	३६	६०
बम्बई	लगभग ५० फीसदी	
आसाम	३५	१०८
सीमाप्रान्त	१९	५० (इनमें ३६ मुसलमान बँटे हुए थे)
बंगाल	६०	२५०
पंजाब	१८	१७५
सिंध	८	६०

पाँच प्रान्तों—मद्रास, युक्तप्रांत, मध्यप्रांत, बिहार और उड़ीसा, में कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत था। चार प्रान्तों यानी बंगाल, बम्बई, आसाम और सीमाप्रान्त में अकेले, कॉंग्रेस पार्टी सबसे बड़ी थी। सिंध और पंजाब की एसेम्बलियों में कांग्रेस अल्पसंख्यक थी।

नीचे दी हुई तालिका से विभिन्न प्रान्तीय एसेम्बलियों में कांग्रेस ने जो सीटें जीतीं और जिस प्रतिशत में वोट पाये उनका परिचय मिलता है :

प्रान्त	कुल सीट	कांग्रेस ने जो सीटें जीतीं	कुल सीटों में कांग्रेस का प्रतिशत	कुल वोटों में कांग्रेस की वोटोंका प्रतिशत
मद्रास	२१५	१५९	७४	६५
बिहार	१५२	९८	६५	७५
बंगाल	२५०	५४	२२	२५
मध्यप्रांत	११२	७०	६२.५	६१
बम्बई	१७५	८६	४९	५६
युक्तप्रांत	२२८	१३४	५९	६५
पंजाब	१७५	१८	१०.५	१३
सीमा प्रान्त	५०	१९	३८	—
सिंध	६०	७	११.५	१२
आसाम	१०८	३३	३१	—
उड़ीसा	६०	३६	६०	—

मुस्लिम सीट—११ प्रान्तों में कुल सीटें ४८२ थीं। इनमें से सिर्फ़ ५८ सीटों के लिये कांग्रेस ने चुनाव लड़ा और २६ सीटें जीतीं, यानी जिन सीटों के लिए चुनाव लड़ा उनमें से ४५ फीसदी सीटें जीतीं।

मज़दूर सीट—११ प्रान्तों में कुल ३८ मज़दूर सीटें थीं। इनमें से कांग्रेस ने २० के लिये चुनाव लड़ा और १८ को जीता, यानी जिन सीटों के लिए चुनाव लड़ा उनमें से ९० फीसदी सीटें जीतीं।

ज़मींदारों की सीट—११ प्रान्तों में इन सीटों की संख्या ३७ थी। कांग्रेस ने ८ के लिये चुनाव लड़ा और ४ को जीता।

व्यवसाय और उद्योग—११ प्रान्तों में व्यवसाय और उद्योग के लिए ५६ सीटें रिज़र्व की गई थीं। इनमें से कांग्रेस ने ८ के लिए कोशिश की और केवल ३ में सफलता पाई।

एक खास बात यह दिखाई देगी कि कांग्रेसी उम्मीदवारों ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को बड़े भारी बहुमत से हराया।

सन् १९३४ में केन्द्रीय धारासभा के चुनाव का नतीजा यह था—

कांग्रेस ४४	कुल ९८ निर्वाचित सीटों
कांग्रेस राष्ट्रवादी ११	में ५५ सीटें

मॉण्टफोर्ड योजना के अनुसार केन्द्रीय एसेम्बली का ढाँचा इस प्रकार था—

ग़ैर-मुस्लिम	५२
मुस्लिम	३०
यूरोपियन	९
नामज़द	४१

जमींदार	७	
उद्योग और व्यवसाय	६	
सिख	२	== कुल १०६

चुनावों में कांग्रेस की जीत हुई और उसके साथ ऐसी कठिन समस्याएँ आईं, जिनको हल करना पूरी तरह कांग्रेस के हाथ में नहीं था। कार्यकारिणी ने फ़रवरी के अन्त में पहले ही अवसर पर राष्ट्र को बधाइयाँ दीं। उसने कहा—

"हाल के चुनावों के समय कांग्रेस की पुकार का राष्ट्र ने जो आश्चर्यजनक उत्तर दिया है उसके लिए कार्यकारिणी राष्ट्र को बधाई देती है। उसने इस तरह कांग्रेस के प्रति सार्वजनिक निष्ठा का प्रदर्शन किया है और साथ ही यह बताया है कि वह विधान-परिषद के द्वारा एक स्वतन्त्र और लोकतन्त्रीय सरकार स्थापित करना चाहता है। कार्य-कारिणी उस ज़िम्मेदारी को, जो उसे दी गई है, महसूस करती है और वह कांग्रेस संगठन को, विशेषकर नये निर्वाचित कांग्रेसी सदस्यों को, इस ज़िम्मेदारी और धरोहर के प्रति सजग करती है कि वे कांग्रेस के आदर्श और सिद्धान्तों को बनाये रहें और जनता के विश्वास को ध्यान में रखें। उन्हें चाहिये कि वे स्वराज्य के सिपाहियों की तरह आज़ादी के लिए अथक परिश्रम करते रहें और देश के करोड़ों शोषित आदमियों को उनकी तकलीफ़ से छुटकारा दिलावें।"

राजभक्ति की शपथ एक बड़ी परेशानी थी। बहुत से लोगों की आत्मा इस बात को गवारा नहीं करती थी कि पुराने रवैये के मुताबिक अंग्रेज़ बादशाह के प्रति राजभक्ति की शपथ ली जाय। इस सिलसिले में शक उठ खड़ा हुआ था। इसी वजह से कार्यकारिणी ने इस बात को तुरन्त स्पष्ट कर दिया कि उस शपथ से स्वतन्त्रता की माँग पर कोई असर नहीं पड़ता था और कांग्रेसियों और सारे भारतीयों की निष्ठा और वफ़ादारी हिन्दुस्तानी जनता के लिए थी। इसीलिए बादशाह के लिए वफ़ादारी की शपथ लेने से पहले ही सम्मेलन ने नये निर्वाचित सदस्यों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और हिन्दुस्तान की जनता के प्रति वफ़ादारी की शपथ दिलाई, जो इस प्रकार थी:—

"मैं, जो कि अखिल भारतीय सम्मेलन का सदस्य हूँ, इस बात की शपथ लेता हूँ कि मैं हिन्दुस्तान की सेवा करूँगा, धारासभा के बाहर और भीतर, हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए काम करूंगा और हिन्दुस्तानी जनता की ग़रीबी और उसके शोषण को ख़त्म करने की कोशिश करूँगा। मैं इस बात की शपथ लेता हूँ कि मैं कांग्रेस के आदर्श और उद्देश्यों को हासिल करने के लिए कांग्रेस के अनुशासन में काम करूँगा ताकि हिन्दुस्तान आज़ाद हो और उसके करोड़ों निवासी जिस बोझ और तकलीफ़ से पिस रहे हैं उससे छुटकारा पा जावें।"

राष्ट्र के सामने तात्कालिक काम यह था कि धारासभा के कांग्रेसियों के पार्लामेण्टरी और ग़ैरपार्लामेण्टरी काम में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय ताकि वे लोग अपने निर्वाचन क्षेत्रों के सम्पर्क में रहे आवें जिससे उनको अपने दैनिक संघर्ष में हर मुमकिन मदद मिल सके। उन पर यह ज़िम्मेदारी डाली गई कि उनके हिस्सों में कांग्रेस संगठन का ठीक संचालन होता रहे और उसका उस आम जनता से सम्पर्क बना रहे जिसके वे प्रतिनिधि थे। इसके अलावा चुनाव के दौरान में आम जनता जगी थी और कांग्रेसी काम में उसकी दिलचस्पी बढ़ी थी। अब इस ढंग से उन लोगों को समझाना और अपनाना था कि वे राष्ट्रीय उत्थान में बराबर दिलचस्पी लेते रहें और काम में हाथ बँटाते रहें। धारासभाओं में कांग्रेस नीति को विस्तार-पूर्वक स्पष्ट करना था।

उसके लिए निर्देशक नीति यह थी —

(१) कांग्रेस धारासभाओं में नये विधान और सरकार से सहयोग के लिए नहीं बल्कि उनसे लड़ाई लड़ने के लिए घुसी है; क्योंकि उसकी निगाह में ये एक्ट और सरकारी नीति हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पकड़ को मज़बूत करना चाहते हैं और हिन्दुस्तानी जनता के शोषण को बनाये रखना चाहते हैं। कांग्रेस अपनी उस बुनियादी नीति पर जमी हुई है कि जब तक परिस्थितियों के कारण परिवर्तन आवश्यक न हो, ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की मशीनरी से असहयोग करना चाहिये।

(२) कांग्रेस का उद्देश्य है पूर्ण स्वराज्य। कांग्रेस के सारे काम उसी तरफ केन्द्रित हैं। कांग्रेस हिन्दुस्तान में सच्ची लोकतंत्रीय सरकार चाहती है, जिसमें राजनैतिक सत्ता भारतीय जनता के हाथों में हो और उस जनता का सरकारी ढाँचे पर कारगर नियंत्रण हो। स्वयं भारतीय जनता ही ऐसी राजसत्ता बना सकती है और इसलिए कांग्रेस इस बात पर ज़ोर देती है कि देश का विधान निश्चित करने के लिए वयस्क मताधिकार से निर्वाचित विधान परिषद बने। विधान परिषद उसी समय बन सकती है जब भारतीय जनता को इस बात का अधिकार हो कि बिला किसी बाहरी हस्तक्षेप के वह अपनी इच्छानुसार अपना भाग्य निर्माण कर सके।

(३) धारासभाओं में कांग्रेस का तात्कालिक उद्देश्य नये विधान का विरोध करना है, इस नये एक्ट के संघीय भाग को लागू होने देने से रोकना है और साथ ही विधान परिषद के लिए राष्ट्र की माँग पर ज़ोर देना है। फ़ैज़पुर अधिवेशन में धारासभा के कांग्रेसियों को हिदायत दे दी गई थी कि उन्हें वहाँ (एसेम्बली में) जल्दी-से-जल्दी मौका पाते ही विधान परिषद की माँग को पेश करना है और इस मांग का सार्वजनिक आन्दोलन द्वारा बाहर से समर्थन करना है।

(४) धारासभा के कांग्रेसियों को यह बात याद रखनी है कि वे किसी ऐसे काम या जलसे में शामिल न हों, जिससे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्ति या प्रतिष्ठा बढ़ती हो। इस ढंग के जलसों, सरकारी और सामाजिक उत्सवों से उन्हें दूर रहना है। संशयात्मक मामलों में व्यक्तिगत रूप से किसी सदस्य को कोई फैसला नहीं करना चाहिये, बल्कि उसे उस बात को उस धारासभा की कांग्रेस पार्टी के सामने रख कर उसी के फ़ैसले के मुताबिक अमल करना चाहिये।

(५) धारासभा का कोई कांग्रेसी ब्रिटिश सरकार द्वारा दिये हुए किसी ख़िताब को मंज़ूर नहीं कर सकता।

(६) हर सदस्य को प्रान्तीय धारासभा में कांग्रेस पार्टी के अनुशासन के साथ काम करना होगा। सरकार या किसी दूसरे समुदाय से बातचीत करने के लिए उस पार्टी के नेता प्रतिनिधित्व करेंगे। व्यक्तिगत सदस्यों का उस सम्पर्क के अतिरिक्त, जो कि सदस्यता के नाते अनिवार्य रूप से होता है, और कोई सरकारी सम्पर्क नहीं होगा। अपनी पार्टी से अधिकृत होने पर ऐसा सम्पर्क हो सकता है।

(७) यह आशा की जाती है कि धारासभा के अधिवेशन के समय जब पार्टी उसमें हिस्सा ले रही हो, सब सदस्य उपस्थित होंगे। अनुपस्थिति उचित कारण दिखाकर छुट्टी ले लेने पर ही हो सकती है।

(८) धारासभा के सारे कांग्रेसी सदस्य खादी की पोशाक में होंगे।

(९) प्रान्तीय धारासभाओं में कांग्रेस पार्टियों को किसी दूसरे समुदाय से कार्य-कारिणी की अनुमति बिना कोई समझौता नहीं करना चाहिए।

(१०) अगर प्रान्तीय धारासभा का कोई सदस्य, जो कांग्रेस की तरफ से नहीं चुना गया हो,

लेकिन जो कांग्रेस की शपथ लेकर उसके सिद्धान्तों और अनुशासन को मानने के लिए तैयार हों, अगर पार्टी उसका साथ वांछनीय समझती हो तो वह उसको पार्टी में दाखिल कर सकती है। लेकिन अगर कोई ऐसा आदमी हो जिसके खिलाफ़ कांग्रेस ने अनुशासन संबंधी कार्रवाई की हो तो उसको बिना कार्य-कारिणी की अनुमति के दाख़िल नहीं किया जा सकता।

(११) कांग्रेस सदस्यों को इस बात की कोशिश करनी चाहिये कि घोषणा-पत्र और खेतिहर प्रस्ताव में जो कार्यक्रम है उस पर अमल किया जाय। उनको ख़ास तौर से इन बातों के लिए कोशिश करनी चाहिये—

(क) लगान में काफ़ी कमी हो।

(ख) एक न्यूनतम सीमा से ऊपर कृषि-आय पर क्रमशः वर्द्धमान आय-कर हो।

(ग) काश्तकार का दखल निश्चित हो।

(घ) देहाती कर्ज़-भार और बकाया लगान में कमी हो।

(ङ) दमनकारी कानून ख़त्म हों।

(च) राजनैतिक बन्दियों और नज़रबन्दों की रिहाई हो।

(छ) सविनय आज्ञा भंग आन्दोलन के दौरान में सरकार ने जो ज़मीन, जायदाद और सम्पत्ति बेची या ज़ब्त की हो वह वापस की जावे।

(ज) मिल मज़दूरों के लिए सिर्फ़ आठ घंटे दैनिक काम हो और वेतन में कमी न हो। जीवन-निर्वाह के लिए काफ़ी वेतन मिले।

(झ) नशे की चीज़ों का निषेध हो।

(ञ) बेकारी में मदद की व्यवस्था हो।

(ट) सरकारी शासन का खर्च घटाया जाय और बड़ी-बड़ी तनख़्वाहों और बड़े-बड़े भत्तों में कमी की जाय।

(१२) वर्तमान एक्ट में संरक्षण और गवर्नर और वायसराय के विशेषाधिकारों के कारण गतिरोध होना अनिवार्य है। कांग्रेसी नीति के पालन में अगर ऐसी स्थिति पैदा हो तो उससे बचने की कोशिश नहीं होनी चाहिये।

(१३) प्रान्तीय धारासभा के कांग्रेसियों को अखिल भारतीय महत्व की बातों पर भी ज़ोर देना चाहिये, चाहे वहां उनके लिए कुछ भी इन्तज़ाम न हो सकता हो। दाहरण के लिए उन्हें फ़ौजी व्यय घटाने की मांग करनी चाहिये और साथ ही सिविल शासन का खर्च घटाने के लिए ज़ोर देना चाहिये। उन्हें व्यापार, तट-कर और मुद्रा पर पूर्ण राष्ट्रीय नियंत्रण के लिए मांग करनी चाहिये। बोलने और लिखने की आज़ादी के लिए ज़ोर देना चाहिये। इनके अलावा युद्ध की तैयारियों और युद्ध-ऋणों का विरोध करना चाहिये।

(१४) धारासभा के कांग्रेसियों को यह चाहिये कि वे अपने निर्वाचन-क्षेत्र में जन-मत अपने समर्थन में ढालें। इस तरह धारासभा के भीतर और बाहर के काम में सामञ्जस्य होना चाहिये। जो मांगें की जावें उनके पीछे सार्वजनिक समर्थन प्राप्त कर लेना चाहिये।"

धारासभाओं के भीतर और बाहर जुटकर काम करने और पार्लामेण्टरी मोर्चे पर राष्ट्रीय युद्ध के इस पक्ष को ले जाने का श्रीगणेश पहली अप्रैल को एक शांतिपूर्ण हड़ताल से होना था और उस दिन विधान-विरोधी दिवस मनाकर नये विधान के लादे जाने के विरोध में जन-मत का प्रदर्शन करना था। इस समय, जब कि राष्ट्रीय सम्मेलन होने ही वाला था और मंत्रिमंडल बनाने

के सवाल को तय करना था इस बात पर कुछ विवेचन करना उचित होगा कि पद-ग्रहण के लिए विरोध क्यों था ?

सम्मेलन होने ही वाला था और उसके लिए राष्ट्र के प्रतिनिधियों के एकत्र होने के लिए भारत के केन्द्र से अधिक उपयुक्त स्थान कौन-सा हो सकता था। वह एक ऐसी जगह थी जहां सात नष्ट साम्राज्यों की स्मृति थी और जहां उतने ही क्रान्तिकारी परिवर्तनों की फिर से आशा थी जितने कि विगत इतिहास में हो चुके थे। सरदार वल्लभभाई पटेल ने सम्मेलन के अवसर पर राष्ट्र को इन शब्दों में राह दिखाई—

"कांग्रेस ने मुझे चुनावों के लड़ने और उन में सफलता पाने के काम को सौंपा। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुझे आश्चर्यजनक सहयोग दिया और उनके प्रेरक नेतृत्व और श्री राजेन्द्र प्रसाद, पं० गोविन्द वल्लभ पन्त और श्री भूलाभाई देसाई के अथक परिश्रम और सहर्ष सहयोग से और साथ ही सारे देश के असाधारण उत्साह से हमें इस उद्देश्य में बहुत हद तक सफलता प्राप्त हुई है। दक्षिण में हमारी जीत आश्चर्यजनक है, यहां तक कि ईसाई भी कांग्रेसी टिकट पर चुनाव जीते। बहुत हद तक इसका श्रेय, दक्ष राजनीतिज्ञ श्री राजगोपालाचार्य के कांग्रेस में पुनः प्रवेश को है।

"हमारे काम की पहली मंजिल पार हो गई है और अब हम अगली मंज़िल की ड्योढ़ी पर हैं और उसमें हमारे सारे समय और शक्ति की—कम-से कम निकट भविष्य में तो यही बात है—आवश्यकता होगी। जो मज़बूती और एका हमने चुनावों के वक्त में दिखाया अगर वही पार्लामेण्टरी कार्यक्रम के वक़्त में बना रहे तो चाहे जो हो, मुझे इस बात में कोई शक नहीं है कि हम एक बार फिर अपने दुश्मनों को पछाड़ देंगे और स्वराज्य को फिर अपने नज़दीक ले आवेंगे। मुझे इस बात का विश्वास है कि जो कांग्रेसी दिल्ली में मौजूद हैं, उनके दृष्टिकोणों में उसी आदर्श के लिए चाहे जो अन्तर हो, एक संयुक्त सुदृढ़ मोर्चा बनाये रखने के लिए जी-जान से कोशिश करेंगे और वे लोग कांग्रेस कार्यकारिणी के आदेशों और फैसलों का चाहे वे कुछ भी हों, पूरी निष्ठा के साथ पालन करेंगे।

"नये एक्ट को खत्म करने का कांग्रेसी उद्देश्य इस वक़्त तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि धारासभा के कांग्रेसियों का हाथ बाहर से मज़बूत नहीं होता। भारत ने कांग्रेस में अपना विश्वास किन्हीं अनिश्चित शब्दों में प्रदर्शित नहीं किया है। चुनावों को जीत कर कांग्रेस ने अपनी लड़ाई शुरू कर दी है।

"अब चुनावों में कांग्रेस की जीत के बाद लन्दन के 'टाइम्स' तथा और दूसरे अखबारों और राजनीतिज्ञों ने बिना मांगे ही अपनी सलाह कांग्रेस को दी है कि निर्वाचकों का विश्वास बनाये रखने के लिए उसे किस ढंग से काम करना चाहिये। हिन्दुस्तान के इन 'दोस्तों' ने घोषणा-पत्र के कार्यक्रम के बिल्कुल दूसरे ही मायने लगाये हैं। हिन्दुस्तान जानता है कि कांग्रेस का उद्देश्य और कार्यक्रम क्या है। लोगों को कोई झूठी आशाएं नहीं दी गई। जो कार्यक्रम घोषणा-पत्र में था वह यह था कि हिन्दुस्तानियों को स्वराज्य-सरकार में क्या मिलना चाहिये और क्या मिलेगा।"

चारों तरफ़ खुशियां मनाई जा रही थीं। जहां आशाएं थीं वहां उनके साथ डर भी मिला हुआ था। ऐसी हालत में दिल्ली में सम्मेलन हुआ। उससे पहले १७ मार्च को महासमिति की बैठक हुई और १७ मार्च को ही शाम को श्री सुभाषचन्द्र बोस को बिना किसी शर्त के छोड़ दिया

गया। पांच बरस से ज़्यादा से वे निर्वासित या नज़रबन्द थे और जिस वक़्त छोड़े गये उनकी तन्दुरुस्ती बेहद ख़राब थी। उनकी छूट पर राष्ट्रपति ने महासमिति की तरफ़ से उनका स्वागत किया और उनके शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ की शुभकामनाएं कीं। पद-ग्रहण के सवाल पर महासमिति ने इस बात का अधिकार व अनुमति दी कि जिन प्रान्तों में कांग्रेस बहुमत था वहां यदि उस प्रान्तीय धारासभा की कांग्रेस पार्टी को इस बात का विश्वास हो और यदि वह इस बात को खुले आम घोषित कर सके कि गवर्नर हस्तक्षेप के अपने विशेषाधिकारों का उपयोग नहीं करेगा या वैधानिक कार्रवाई में मंत्रियों के निर्णय को नहीं टालेगा तो वहां पद-ग्रहण किया जा सकता है।

उसके बाद सम्मेलन हुआ और वह एक बड़ा प्रभावशाली दृश्य था जब वहां सारे सदस्यों ने एक स्वर से हिन्दुस्तानी में यह शपथ ग्रहण की—

"मैं, जो अखिल भारतीय सम्मेलन का एक सदस्य हूँ,इस बात की शपथ लेता हूं कि मैं हिन्दुस्तान की सेवा करूँगा और धारासभा के भीतर और बाहर हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए काम करूँगा ताकि वहां की जनता की ग़रीबी और उसका शोषण ख़त्म हो। मैं कांग्रेस के उद्देश्य और आदर्श को हासिल करने के लिए कांग्रेस के अनुशासन में काम करने की शपथ लेता हूं, ताकि हिन्दुस्तान आज़ाद हो सके और उसके करोड़ों निवासियों को अपनी तकलीफ़ और अपने बोझ से छुटकारा मिले।"

उसके बाद यह राष्ट्रीय मांग थी—

"यह सम्मेलन हिन्दुस्तान की जनता की इस राय को फिर दुहराता है कि सन् १६३५ का गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया एक्ट इस ढंग का है कि उससे हिन्दुस्तान की गुलामी और उसके शोषण की जड़ मज़बूत होती है और उससे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव मज़बूत होती है।

"यह सम्मेलन इस बात की घोषणा करता है कि भारतीय जनता किसी विदेशी शक्ति या सत्ता के इस अधिकार को नहीं मानती कि वह हिन्दुस्तान के राजनैतिक और आर्थिक ढांचे का निर्देश करे। भारतीय जनता उसी विधान को मंज़ूर करेगी जो खुद उसी के प्रतिनिधियों ने बनाया हो और जिसमें हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता का आधार हो और जिसमें उसे अपनी ज़रूरतों और इच्छाओं के अनुसार काम करने की आज़ादी हो।

"यह सम्मेलन हिन्दुस्तान के लिए सच्ची लोकतंत्रीय राज-सत्ता के पक्ष में है जिसमें राजनैतिक शक्ति देश की जनता के हाथ में हो। ऐसी राजसत्ता की स्थापना खुद हिन्दुस्तानी जनता ही कर सकती है और इसके लिए जो माध्यम है, वह है विधान परिषद, जो वयस्क मताधिकार से निर्वाचित होनी चाहिये और जिसको देश का विधान बनाने का पूर्ण और अन्तिम अधिकार होना चाहिये।

"निर्वाचकों ने बहुमत से कांग्रेस के आज़ादी के उद्देश्य और नये विधान के विरोध का समर्थन किया है। इसलिए नया विधान जनता द्वारा अस्वीकृत है और वह भी इसी लोकतंत्रीय ढंग से, जिसको खुद ब्रिटिश सरकार ने चलाया है। जनता ने फिर इस बात की घोषणा की है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आधार पर विधान परिषद् के माध्यम से वह अपना विधान स्वयं बनाना चाहती है।

"इसलिए यह सम्मेलन कांग्रेस पार्लामेण्टरी पार्टियों को आदेश देता है कि वे राष्ट्र के नाम पर अपनी-अपनी धारासभाओं में इस विधान के वापस लिए जाने की माँग करें ताकि हिन्दुस्तानी जनता अपना विधान बना सके।"

केन्द्रीय एसेम्बली में चुनावों के सिलसिले में सरकारी हस्तक्षेप की कड़ी शिकायत की गई। गृह-सदस्य सर हैनरी क्रेक ने बहस का उत्तर देते हुए कहा, "बहस का संबंध बहुत से ऐसे विषयों से था जिनका स-परिषद् गवर्नर जनरल के अधिकार से कोई दूर का भी रिश्ता नहीं है। और जिनके बारे में वक्ता को शायद जानकारी नहीं है। यह सच है कि तीन सप्ताहों तक गवर्नर जनरल का कुछ चीजों पर नियंत्रण, निर्देश और निरीक्षण का अधिकार है, जो १ अप्रैल को ख़त्म हो जायगा।"

चुनावों में हस्तक्षेप की शिकायत पर सर क्रेक ने कहा, "यह एक बड़े ताज्जुब की बात है कि सरकारी नौकरों के ख़िलाफ़ हस्तक्षेप की शिकायत की जारही है; क्योंकि करीब हर सूबे से यह रिपोर्ट आई है कि जहाँ कहीं भी सरकारी नौकरों को मताधिकार था उनमें से अधिकांश ने कांग्रेस को ही वोट दिये। अगर सरकारी नौकरों ने कांग्रेस को वोट दिये तो यह कैसे हो सकता है कि उन्होंने कांग्रेस के ख़िलाफ़ काम किया हो।" बात-बात में सर क्रेक ने यह भी कहा कि शिकायत सिर्फ़ एक तरफ़ से ही नहीं थी। कांग्रेस-पार्टी के ख़िलाफ़ भी शिकायत थी।

पहली अप्रैल १९३७ आई और चली गई। उस दिन एक तरफ़ तो शांतिपूर्ण हड़ताल हुई और दूसरी तरफ तीन महीने के लिए ज़बर्दस्त प्रचार-कार्य शुरू हुआ। ग्यारह में से जिन छः प्रान्तों में पार्टी का बहुमत था, वहाँ न तो वह पद-ग्रहण ही करती और न उस तरफ़ से अपना हाथ ही खींचती। अगर कांग्रेस पार्लामेण्टरी मैदान ख़ाली कर देती तो सरकार अपना काम जानती थी। दूसरी तरफ़ अगर कांग्रेस पद-ग्रहण करती तो सरकार फ़ौरन नये वातावरण से अपना मेल बिठा लेती। बात यह है कि नौकरशाही अपना रंग बदलने में होशियार थी और मौका पाने पर वह पार्टी के लोगों को उखाड़ फेंकती; लेकिन कांग्रेस सरकार को मनमानी खेलने का मौका देने को तैयार नहीं थी। हिन्दुस्तान के, शायद दुनिया के, इतिहास में यह एक पहली संस्था थी जिसने गवर्नर से यह आश्वासन माँगा कि वह अपने विशेषाधिकार से हस्तक्षेप नहीं करेगा और मंत्रियों के वैधानिक काम को नहीं टालेगा। यहाँ एक खास बात यह थी कि विशेषाधिकार खुद एक्ट से ही मिले हुए थे और उनको बड़े सोच-विचार के बाद 'विशेष' नाम दिया गया था। फिर गवर्नर इन संरक्षणों को कैसे छोड़ते जिनको कानून ने उन्हींमें निहित किया था, जिनकी शासक सत्ता के स्थापित स्वार्थों के लिए आवश्यकता थी और जिनके बलबूते पर ही असलियत में गुलाम देश की लोकतंत्री कार्रवाई को रोका जा सकता था? ऐसे आश्वासनों को माँगने की वैधानिकता पर एक जबर्दस्त लड़ाई हुई। राष्ट्र के सामने कानूनी या गैर कानूनी, वैधानिक या अवैधानिक का सवाल नहीं था। जो विधान सामने था उसके लिए हिन्दुस्तान ज़िम्मेदार नहीं था। उस विधान में न तो आत्म-निर्णय की झलक थी, न संयुक्त निर्णय ही था, बल्कि असल में कुछ और ही निर्णय था जो कि बाहर से लादा गया था। अगर ऐसे विधान को हिन्दुस्तानी अमल में लाते तो साफ़ है कि ऐसा वे अपनी ख़ास शर्तों पर ही करते। वरना नये एक्ट के अध्यायों और उसकी धाराओं के अनुसार कानून और विधान अपना रास्ता पकड़ते। अगर गति-रोध होते तो उसमें हिन्दुस्तान का क्या दोष? एक तरफ़ ब्रिटिश सरकार ने जान-बूझकर हिन्दुस्तानी जनता की घोषित इच्छा के विरुद्ध नीति अपनाई थी। दूसरी तरफ़ महासमिति ने नये विधान के विरोध का इरादा किया था। चुनाव के मौके पर निर्वाचन क्षेत्रों में ये दोनों बातें समझा दी गई थीं। गति-रोध होना अनिवार्य था, यह बात साफ़ कर दी गई थी और साथ ही यह बात भी कि इससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रीयता का जन्मजात विरोध और उभरेगा और तब नये विधान का अलोकतंत्रीय और निरंकुश स्वरूप

और भी ज्यादा स्पष्ट होगा। इस विधान के निजी गुण-दोष पर भी कांग्रेस उसे नहीं अपना सकती थी। समस्या के इस पक्ष पर भी आगे विचार किया जायगा। लेकिन जहाँ कानूनी और वैधानिक पक्ष का संबंध है वहाँ यह कहना आवश्यक है कि जिस समय गांधीजी ने कांग्रेसी रुख़ को सही बताया तो वह एक राजनैतिक दल के नेता की हैसियत से नहीं, बल्कि एक वैधानिक वकील की हैसियत से, जिसको साम्राज्य के सुदूर प्रदेशों का पर्याप्त अनुभव था। हिन्दुस्तान में और इंगलैंड में कानूनी लोगों ने विरोध किया। सबसे पहले कांग्रेस मत का विरोध सर तेज बहादुर सप्रू ने किया और इस माँग को अमान्य बताया। हिन्दुस्तान का यह दुर्भाग्य रहा है कि जब कभी प्रगतिशील शक्तियों ने किसी माँग को पेश किया तो सबसे पहले उसका विरोध किसी मृतप्राय संस्था के हिन्दुस्तानी नेता से ही हुआ। यहाँ यह ध्यान दिलाना आवश्यक होगा कि जब २३ दिसम्बर सन् १६२६ में लार्ड इर्विन से बातचीत के लिए गांधीजी और पं० नेहरू को बुलाया गया तो उनके विपक्षी डा० सप्रू और मि० जिन्ना थे। उन्होंने सार्वजनिक माँग की ब्रिटिश अवहेलना का विरोध नहीं किया; बल्कि ख़ुद उस मांग की ही मुख़ालफ़त की। यह सच है कि डा० सप्रू ने कई बार सरकार और जनता के बीच में समझौता कराने की कोशिश की है, जैसे सन् १६३१ में, लेकिन १६३७ की विकट परिस्थिति में उन्होंने निश्चित रूप से कांग्रेस का विरोधी पक्ष ग्रहण किया। कानून के ऐसे धुरंधर के विरोध में परिचय में दो कानूनी पंडित सामने आये—एक श्री तारापोरावाला और दूसरे डा० बहादुरजी (ये दोनों भूतपूर्व एडवोकेट जनरल थे)—और उन्होंने निश्चित रूप से अपना सुचिन्तित मत यह बताया कि आश्वासनों के लिए कांग्रेस की मांग किसी भी दृष्टि से कानून या विधान के लिए अमान्य नहीं थी। इस समय जब कि हिन्दुस्तानी मत दो दलों में बँटा हुआ था, इंगलैंड के कानूनी महारथी बेरीडेल कीथ ने कांग्रेस मत को सुदृढ़ किया और उसकी मांगों की वैधानिकता का समर्थन किया। कांग्रेसी रुख़ की वजह से जो यह बौद्धिक विवाद चल रहा था, उसके साथ ही पूरे तीन महीनों—अप्रैल, मई और जून—में विभिन्न प्रान्तों के प्रमुख कांग्रेसियों ने उस समय के अहम सवालों की बारीकियों का विस्तृत प्रचार किया।

यह बहस सिर्फ़ हिन्दुस्तान में ही नहीं चल रही थी। इंगलैंड के दैनिक पत्र भारतीय नेताओं के दृष्टिकोणों में दिलचस्पी ले रहे थे। लन्दन के 'न्यूज़ क्रोनीकिल' में पं० जवाहरलाल नेहरू के बयान के जवाब में लार्ड लोथियन ने लिखा—

"मि० जवाहरलाल नेहरू के केबिल से उस सचाई और क्रान्तिकारी जोश की झलक मिलती है, जिसकी एक बहुत बढ़िया आत्मकथा के लेखक से आशा की जाती थी; किन्तु उन्होंने जो तस्वीर खींची है कि अंगरेज़ी हुकूमत अपने पैरों से हिन्दुस्तानी आज़ादी को निर्दयता से कुचल रही है, यह चीज़ नहीं जँचती। नया भारतीय विधान इन अनन्त विवादों और विचार-विमर्शों का परिणाम है जो कि भारतीय नेताओं से हुए और जिनमें कि खुद मि० गांधी भी शामिल थे। यह विधान ब्रिटिश पार्लामेण्ट ने अपनी ज़िम्मेदारी पर बनाया है और इसमें भारतीय स्वशासन की दिशा में एक रास्ते का सुझाव है। मि० नेहरू और उनके दोस्त दूसरे रास्ते में यकीन करते हैं। असली फ़र्क़ यह है। विधान इस अनुभव के आधार पर बना है कि तात्कालिक स्वशासन के सब से बड़े रोड़े खुद हिंदुस्तान में ही हैं।"

इस बौद्धिक और सैद्धान्तिक विवाद के अलावा यह उचित होगा कि कांग्रेस की इस मांग के महत्व को अच्छी तरह से समझा जाय कि गवर्नर हस्तक्षेप के अपने विशेषाधिकों का उपयोग नहीं करेंगे और न वैधानिक प्रवृत्तियों के बारे मंत्रियों के मन की ठुकरावेंगे। गवर्नरों के विशेषा-

धिकार कुछ समुदायों, स्थापित स्वार्थों और क्षेत्रों से संबंधित थे। समुदाय थे—अल्पसंख्यक दल, स्थापित स्वार्थ थे—ब्रिटिश स्वार्थ, और क्षेत्र थे ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के कुछ छँटे हुए भाग। उस माँग का मतलब यह था कि गवर्नर आस्ट्रेलिया के गवर्नरों की तरह ही काम करें। उसे यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह अपनी इच्छा से मन्त्रियों को पद-च्युत कर दे और मन्त्रियों का वेतन सभा के नेता द्वारा निश्चित होना चाहिये। गवर्नर मन्त्रियों की कौंसिल में सभापति न बने। वह हस्तक्षेप न करे और शान्ति और सुरक्षा के नाम पर आर्डिनेन्स न बनावे और एडवोकेट जनरल नियुक्त करने में उसका कोई हाथ न हो, न वह पुलिस के नियम बनावे। उसका इन बातों से संबंध नहीं होना चाहिये—

धारा	५७	हिंसात्मक अपराध
,,	५९	मंत्रियों के कर्त्तव्य और काम संबंधी नियम
,,	६२	धारासभा को तोड़ना
,,	७४	बिल पेश करना
,,	७५	बिल की स्वीकृति
,,	७८	बजट में खर्च की अतिरिक्त रक़म जोड़ना
,,	८२	बिना मंत्रियों की सलाह के टैक्स लगाने, बढ़ाने या कर्ज़ लेने के लिए बिल या संशोधन
,,	८४	प्रमुख के साथ मिलकर धारासभा के नियमों का निर्माण
,,	८६	विशेषाधिकार के नाम पर किसी बिल में हस्तक्षेप
,,	९०	आर्डिनेन्स
,,	९२	बहिष्कृत क्षेत्र
,,	२५८	नौकरियों के विशेषाधिकार

जैसी कि आशा थी, चुनावों के बाद और वाइसराय के भाषण के दौरान में प्रान्तीय गवर्नरों ने अपनी-अपनी धारासभा के कांग्रेसी नेताओं को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमंत्रित किया। ब्रिटिश मंत्रियों का यह कहना था कि जब तक एक्ट में संशोधन न कर दिया जाय, कांग्रेस के मांगे हुए आश्वासन देना गवर्नर के हाथ की बात नहीं थी। दूसरी तरफ़ कार्यकारिणी को प्रमुख वैधानिकों ने यह परामर्श दिया था कि विधान के अन्तर्गत ऐसे आश्वासन दिये जा सकते थे। लार्ड ज़ेटलैंड और आर० ए० बटलर के वक्तव्य से कांग्रेस की नाराज़ी बढ़ गई। वजह यह थी कि उस वक्तव्य से ग़लतफहमी होती थी और उसमें कांग्रेसी दृष्टिकोण को तोड़-मरोड़कर उसके ग़लत मायने लगाये गये थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि जिस ढंग से और जिस स्थिति में यह बयान दिया गया था उसमें कांग्रेस के प्रति अशिष्टता थी। कार्यकारिणी ने अपनी स्थिति फिर साफ़ की और कहा, "आश्वासनों के मानी यह नहीं हैं कि गवर्नर और मन्त्रिमण्डल में जबर्दस्त मतभेद होने पर मन्त्रिमण्डल तोड़ने और धारासभा ख़त्म करने के अधिकार से गवर्नर को वंचित किया जाय, लेकिन कांग्रेस इस बात के ख़िलाफ़ है कि मंत्रिमंडल गवर्नर के हस्तक्षेप के सामने सिर झुकादे या चुपचाप स्तीफ़ा देकर निकल आये, बजाय इसके कि खुद गवर्नर उन्हें पदच्युत करने की जिम्मेदारी ले।" लेकिन इसी बीच कांग्रेसी बहुमत के प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनने लगे जो बिलकुल अवैधानिक थे, जिन में स्वतंत्रता की गंध भी नहीं थी और जिनमें उन प्रान्तों के सार्वजनिक बहुमत की अवहेलना की गई थी। सारे देश में आम सभाएं की गईं और तथाकथित मंत्रियों की

निन्दा की गई और उन्हें धारासभा का सामना करने और अपना व्यवहार सही ठहराने के लिए चुनौती दी गई। इन झगड़ों के बीच कांग्रेसियों का कर्त्तव्य स्पष्ट था। खास तौर से धारासभा के कांग्रेसियों को अपने-अपने क्षेत्रों में निर्वाचकों से सम्पर्क बनाये रखना था और उन तक कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का सन्देश पहुँचाना था, जिसमें खद्दर का इस्तेमाल था, मिल के कपड़े का बहिष्कार, गांवों में कताई और बुनाई कराकर वहीं खद्दर तैयार करने के काम को बढ़ावा देना, मद्य-पान निषेध के लिये जन-मत तैयार करना, साम्प्रदायिक ऐक्य बढ़ाना और हर प्रकार की छूतछात को दूर करना। जहां तक अन्तर्कालीन मंत्रियों का सवाल था, चाहे वे कांग्रेसी बहुमत वाले प्रान्त के हों या अल्पमत वाले प्रान्त के, कांग्रेसियों को यह हिदायत कर दी गई कि वे उनसे कांग्रेस पार्टी के नेता की अनुमति बिना न कोई नाता रखें और न मुलाकात ही करें।

परस्पर विरोधी राजनैतिक और कानूनी मतों को लेकर तारों और केबिलों द्वारा लड़ाई होती रही, लेकिन भारतमन्त्री या भारत सरकार पर इसका कोई असर दिखाई नहीं दिया। इस तरह तीन महीने बीते। तब जून के तीसरे हफ्ते में वायसराय ने एक बयान निकाला, जिस का शिमला से रेडियो पर एक सन्देश देकर उन्होंने २१ जून की रात ही को जनता के विचार के लिये आभास दे दिया। उनके तर्क का सार यह था कि जो वैधानिक परिवर्तन किये जा रहे हैं उनका एक विशेष महत्व है और उनके सिलसिले में कठिनाइयां तो होनी ही हैं। कठिनाइयों पर जरूरत से ज्यादा ज़ोर देना आसान है। वायसराय का बयान उन्हीं को दूर करने की गरज से दिया गया है। लेकिन उनके बीच में आने से मामले कोई ज़्यादा सुधर नहीं गये और न कोई छोटा रास्ता ही निकला। उसका उद्देश्य असहानुभूति का भी नहीं था। कानूनी और वैधानिक शब्दावलि के साथ ही भावनाओं का अपना असर होता है। एक तरफ़ एक ऐसी पार्टी थी जिसका कुछ प्रान्तों की धारासभाओं में बहुमत था; लेकिन वह पद-ग्रहण करने को तैयार न थी। दूसरी तरफ़ गवर्नर थे जो एक्ट की कुछ धाराओं के अनुसार कुछ कामों में निज-निर्णय पर कदम उठा सकते थे और उन पर गवर्नर-जनरल का नियंत्रण था, जो खुद भारतमन्त्री के नियंत्रण में थे। यद्यपि विवादास्पद मामले गवर्नर और पार्टी नेताओं से ही मुख्यतः संबंधित थे; लेकिन फिर भी गवर्नर जनरल ने इस मामले को हाथ में लिया और उस वैधानिक सवाल पर अधिकारियों की नीति स्पष्ट की। इस बात को स्वीकार किया गया कि विवाद में यह बात ज़ाहिर थी कि गवर्नर और मंत्रियों के संबंध के बारे में कुछ ग़लतफ़हमी रही थी खासकर इस बात में कि गवर्नर मन्त्रिमण्डल के दैनिक शासन-कार्यों में हस्तक्षेप करेंगे। अब इन गलतफ़हमियों को दूर करना सम्भव है और दोनों सरकारों (ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार) की ओर से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि प्रान्तीय गवर्नरों के काम और ढंग के बारे में उनकी क्या धारणा है और पार्लामेण्ट उन गवर्नरों से किस भावना की आशा करती है उन गवर्नरों का किस ढंग से काम करने का विचार है और किस हद तक वे मंत्रिमंडल के कामों में दखल नहीं देंगे। कांग्रेस ऐसा अनुभव करती थी कि जब तक गवर्नरों से कुछ आश्वासन न मिले, एक्ट के आधार पर पद-ग्रहण करना बुद्धिमानी नहीं होगी। वाइसराय पिछले तीन महीनों के अनुभव से यह सिद्ध कर रहा था कि जिन प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बने थे वहां सरकारी कर्मचारियों से काफी सहयोग मिल रहा था और साथ ही गवर्नर भी सहायता, सहानुभूति और सहयोग के साथ काम कर रहे थे। वायसराय ने अपने मन में कांग्रेस की आशंकाओं को मानते हुए यह बताया कि उनके लिए व्यवहार में इस बात का कोई आधार नहीं था कि गवर्नर मंत्रिमंडल की नीति में हस्तक्षेप करेंगे ही, मंत्रियों द्वारा प्रान्त के दैनिक शासन में बिना मांगे कोई सलाह जबर्दस्ती लादेंगे, काम में रुकावट

डालेंगे और अनावश्यक रूप से अपने विशेषाधिकारों का उपयोग करेंगे। एक्ट का उद्देश्य तो मंत्रियों को यह अनुभव कराना है कि वे प्रान्तीय हित के अपने काम में गवर्नर और सरकारी कर्मचारियों के सहयोग में विश्वास कर सकते हैं और अपना कार्यक्रम बना और चला सकते हैं। एक्ट और आदेश-पत्र इस बात को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट करते हैं कि प्रान्तीय स्वाधीनता में जो काम मंत्रियों के क्षेत्र में आते हैं (जिनमें कि अल्पसंख्यकों की स्थिति, सरकारी कर्मचारियों की स्थिति आदि सम्मिलित हैं), गवर्नर साधारणतया मंत्रियों के परामर्श से ही काम करेगा और उन मामलों में वह पार्लमेण्ट के प्रति नहीं, बल्कि धारासभा के प्रति उत्तरदायी होगा।

उन विशेषाधिकारों में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न प्रांत या उसके हिस्से में शान्ति और सुरक्षा के लिए ज़बर्दस्त ख़तरे को रोकना, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करना और सरकारी कर्मचारियों के अधिकारों और हितों की रक्षा करना है। ये विशेषाधिकार पार्लमेण्ट ने तत्संबंधी माँगों के जवाब में दिये हैं। हांलाकि उनका क्षेत्र ज्यादा-से-ज्यादा संकुचित किया गया है, लेकिन फिर भी गवर्नर हमेशा मंत्रियों का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश करेगा। बाकी मामलों में तो वह मंत्रियों से मतभेद होने पर भी उनके परामर्श के अनुसार ही काम करेगा।

लेकिन उस स्थिति में क्या होगा, जहाँ गवर्नर को निज-निर्णय का अधिकार हो और जहाँ गवर्नर और मंत्रिमंडल में ज़बर्दस्त मतभेद हो? मन्त्रियों को सारे क्षेत्र में, यहाँ तक कि विशेषाधिकार के क्षेत्र में भी, परामर्श देने का अधिकार है। ऐसे परामर्श के लिए मंत्रीगण धारासभा के प्रति उत्तरदायी हैं और यह परामर्श गवर्नर को मानना होगा जब तक कि उसे विशेष कारण से अपने निज-निर्णय का उपयोग करने की ही आवश्यकता न आ पड़े। गवर्नर मंत्रियों की बात माने या न माने उस विशेषाधिकार के सीमित क्षेत्र में अपने काम के लिए वह पार्लमेण्ट के प्रति उत्तरदायी है; लेकिन जब गवर्नर मंत्रियों के परामर्श को नहीं मानता तो उस निर्णय की ज़िम्मेदारी उसी की है। मंत्रीगण उस ज़िम्मेदारी से मुक्त हैं और उन्हें इस बात को खुले आम कहने का हक़ है कि उस मामले में जो फैसला हुआ है उसमें उनका कोई हाथ नहीं है और उन्होंने गवर्नर को एक दूसरी ही सलाह दी थी। जो हो, गवर्नर को चाहिए कि वह मंत्रिमंडल को या एक मंत्री को अपनी पूरी बात समझा दे और वह कारण बता दे जिसकी वजह से उसके निर्णय में एक ख़ास रास्ता लेना ही लाज़िमी था। क्या ऐसी स्थिति में मंत्रिमंडल इस्तीफ़ा दे देगा या अपना काम करता रहेगा और सार्वजनिक रूप से या व्यक्तिगत रूप से अपना निजी रुख़ ज़ाहिर करेगा या गवर्नर उसको पदच्युत करेगा? उसके विशेषाधिकारों में विभिन्न परिमाण के आन्तरिक महत्व की बातें सम्मिलित हैं। इसीलिए वायसराय ने गांधीजी के इस सहायक सुझाव का स्वागत किया और कहा, "गवर्नर और मंत्रिमंडल के संबंध टूटने का सवाल तो उस समय ही आना चाहिये जब उनमें बड़ा ज़बर्दस्त मतभेद हो। सिर्फ़ ऐसी ही हालत में मंत्रिमंडल को या तो इस्तीफ़ा देना चाहिये या उसको पदच्युत कर देना चाहिये। इस्तीफे में आत्म-सम्मान है और मंत्रिमंडल का स्वेच्छापूर्ण काम है। पदच्युत करना अस्वाभाविक है और उसमें हीनता का बोध होता है। दोनों बातें संभव हैं; लेकिन एक्ट की नीयत यह नहीं है कि गवर्नर के पदच्युत करने की माँग से मंत्रिमंडल विवश होकर त्याग-पत्र दे। आमतौर से गवर्नर और मन्त्रि-मण्डल में जो मतभेद होंगे वे दोनों ओर की सद्भावनाओं से आपसी समझौते द्वारा सुलझ जाने चाहिये। गवर्नर इस बात के लिए उत्सुक है कि झगड़े न हों और ऐसे झगड़े न होने देने के लिए वह कोई कसर नहीं उठा रखेगा। इस तरह व्यवहार में कार्य-संचालन गवर्नर के नाम से होगा; लेकिन मंत्रिमंडल के क्षेत्र में कुछ पाबन्दियों को छोड़कर गवर्नर

अपना शासन-संचालन मन्त्रियों के परामर्श से ही करेगा। कुछ सीमित और सुनिश्चित मामलों में और जगहों की तरह यहाँ भी पहली ज़िम्मेदारी तो मंत्रिमंडल की ही होगी; लेकिन गवर्नर अन्ततः पार्लमेण्ट के प्रति उत्तरदायी होगा। शेष क्षेत्र में केवल मन्त्रिमण्डल की ही ज़िम्मेदारी है और वे सिर्फ़ प्रान्तीय धारासभा के सामने ही जवाबदेह होंगे। विशेष उत्तरदायित्व के मामलों में गवर्नर मन्त्रिमण्डल के परामर्श से भिन्न मार्ग अपना सकता है और ऐसे मामलों में फ़ैसला उसी के हाथ में होगा और उसके लिए वह पार्लमेण्ट के प्रति उत्तरदायी है। इसके मायने यह नहीं हैं कि गवर्नर आज़ाद है, या उसको इस बात का हक़ है या उसको इस बात की ताकत है कि अपने विशेष उत्तरदायित्व के क्षेत्र के अलावा वह प्रान्त के दैनिक शासन में हस्तक्षेप कर सकता है। कठोर प्रथाओं से नहीं; बल्कि परस्पर मिलजुल कर काम करने की नीति से विगतकाल में वैधानिक प्रगति हुई है। विधान में असाधारण परिस्थितियों की व्यवस्था के मायने यह नहीं हैं कि ऐसी असाधारण परिस्थितियां सामने लाने की इच्छा है। वाइसराय ने इन शब्दों में अपना मत प्रकट किया—"उस पूर्णतर राजनैतिक जीवन के लिए, जिसे आपमें से बहुत से लोग जी-जान से चाहते हैं, सबसे छोटा मार्ग इस विधान को अपनाना और उसको उसी के गुण-दोष के अनुसार अमल में लाना है। इस विधान को पूरी तरह अमल में लाने और उसके अनुसार आगे बढ़ने में ही देहाती जनता और समाज के निचले वर्ग की तकलीफों को स्थायी रूप से घटाने और दूर करने की, जिनको दूर करने के लिए हम सब लोग अत्यन्त उत्सुक हैं, सर्वोत्तम आशा निहित है।"

: ३ :

पद-ग्रहण : जुलाई १९३७

२० जून १९३७के वाइसराय के भाषण के बाद तत्काल जुलाई में कांग्रेस की स्थिति को कांग्रेस की कार्य-कारिणी के उस समय के प्रस्तावों से संक्षिप्त उद्धरण लेकर व्यक्त किया जा सकता है। सम्मेलन से पहले जो महासमिति की १८ मार्च को दिल्ली में बैठक हुई थी, उसमें विधान के संबंध में कांग्रेस की मौलिक नीति निश्चित कर दी गई थी। उस समय धारासभा के कांग्रेसियों के लिए उन सभाओं के भीतर और बाहर का कार्य-क्रम भी निश्चित कर दिया गया था। पद-ग्रहण के सवाल पर यह कहा गया था कि उन प्रान्तों में जहाँ धारासभा में कांग्रेसी बहुमत हो और जहां कांग्रेस पार्टी के नेता को यह विश्वास हो और इसकी वह खुली घोषणा कर सके कि गवर्नर मन्त्रियों के वैधानिक कामों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, तो वहाँ मंत्रिमंडल बनाया जा सकता है। हम देख चुके हैं कि विभिन्न प्रान्तों के कांग्रेसी नेताओं ने किस प्रकार ये आश्वासन मांगे और उनके अभाव में मंत्रि-मंडल बनाने की अपनी असमर्थता बताई। भारत-मन्त्री, उपमन्त्री और वाइसराय ने इस बीच ब्रिटिश सरकार की ओर से उस समस्या पर कुछ बातों की घोषणाएं की थीं और कार्य-कारिणी को ऐसा लगा कि उनमें कांग्रेसी माँग की तरफ बढ़ने की कोशिश की गई थी; लेकिन उसकी राय में आश्वासनों में अब भी बहुत कसर थी। ब्रिटिश सरकार और भारतीय जनता में नाता शोषक और शोषित का था; इसलिए कार्य-कारिणी उन घोषणाओं के लिए झुककर समझौता करने की बात भी नहीं मान सकती थी। लेकिन साथ ही कार्य-कारिणी ने ऐसा महसूस किया कि परिस्थितियों का कुछ ऐसा जोड़ बन गया है कि गवर्नरों के लिए अपने विशेषाधिकारों को उपयोग में लाना सरल न होगा। इसीलिए वर्धा में जुलाई के पहले सप्ताह में कार्य-कारिणी ने अपनी मीटिंग में यह प्रस्ताव पास किया—

"इसलिए कमेटी इस नतीजे पर पहुँची है कि जहां कांग्रेसियों को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाय वहाँ उन्हें मन्त्रिमंडल बना लेना चाहिये। किन्तु वह इस बात को भी स्पष्ट करना चाहती है कि पद-ग्रहण करके चुनाव के घोषणा-पत्र के अनुसार काम करने और उसकी बातों को ही पूरा करने के लिए कोशिश होनी चाहिये, जिसके अनुसार एक तरफ़ तो नये विधान के संबंध में कांग्रेसी नीति होगी और दूसरी तरफ रचनात्मक कार्य-क्रम को चलाया जायगा।

"कार्य-कारिणी को इस बात का विश्वास है कि उसे इस निर्णय में महासमिति का समर्थन प्राप्त है और यह प्रस्ताव महासमिति द्वारा निश्चित नीति के अनुसार ही है। कार्य-कारिणी इस संबंध में स्वयं महासमिति से निर्देश लेना चाहती थी; किन्तु वह ऐसा अनुभव करती है कि इस समय निर्णय में देरी होने से देश के हितों को क्षति पहुँचेगी और एक ऐसे वक्त में, जब जल्दी से निर्णय कर के काम करने का सवाल है, जनता के दिमाग़ में परेशानी और उलझन होगी।"

मंत्रियों, प्रमुखों और एडवोकेट जनरलों के वेतन के प्रश्न पर कार्य-कारिणी ने १५ और २२ मार्च को अपनी मीटिंग में दिल्ली में यह प्रस्ताव पास किया :

"मंत्रियों, प्रमुखों और एडवोकेट-जनरलों का सरकार द्वारा रहने और सवारी के इन्तज़ाम के अलावा पाँचसौ रुपये प्रतिमास से अधिक वेतन न होगा। यह निर्णय मौलिक अधिकार और आर्थिक कार्य-क्रम के कराँची वाले प्रस्ताव (१९३१) के अनुसार है।"

इस वक्त कुछ बातें ऐसी हुईं जिन पर कुछ अधिक ध्यान देना होगा। पद-ग्रहण स्वीकार किया गया और यह निर्णय कार्यकारिणी ने किया। इस फ़ैसले को समझने के लिए हमें उसकी पृष्ठ-भूमि देखनी होगी। अप्रैल १९३६ में लखनऊ में तत्संबंधी प्रस्ताव नं० ९ में यह कहा गया था—"आगे की परिस्थिति अनिश्चित होने के कारण कांग्रेस इस समय कोई फ़ैसला करना मुनासिब नहीं समझती।"

उस समय एक घोषणा-पत्र का वायदा किया गया था, जिसके तीसरे अनुच्छेद में यह कहा गया है, "महासमिति की यह राय है कि इस संबन्ध में चुनावों के बाद ही कोई फैसला करना मुना-सिब होगा। फ़ैसला चाहे जो हो कांग्रेस नये विधान को अस्वीकार करने के पक्ष में है और उसके संचालन में असहयोग करना चाहती है।

तब उम्मीदवारों के छाँटने का सवाल आया। फैजपुर में सभापति पद से दिये गये भाषण में उस संबन्ध में एक मजेदार बयान यह था—

"इन चुनावों में समझौता करने की ओर एक प्रवृत्ति है कि किसी-न-किसी प्रकार बहुमत स्थापित कर दिया जाय। यह ग़लत चीज है और इसे रोका जाना चाहिये।"

इस पृष्ठभूमि पर आखिरी मौके तक मतभेद बना रहा। यद्यपि यह माना ही जा सकता था कि पद-ग्रहण के विरोधी अल्पसंख्यक रहे होंगे, फिर भी इस सवाल पर कोई वोट नहीं लिए गए। बाद में महासमिति की बैठक इस फैसले पर अपनी स्वीकृति देने के लिए हुई। लेकिन वह बहुत बाद में ३०–३१ अक्टूबर १९३७ को हुई। उस समय महासमिति ने एक संक्षिप्त प्रस्ताव पास किया, जिसके परिणाम-स्वरूप "उक्त निर्णय पर कार्य-कारिणी के काम को मंजूरी दी गई।"

× × × ×

जिस ढंग से मन्त्रिमंडल बने और शासन चलाया गया, उस पर कुछ ग़लतफ़हमी पैदा हुई, जिसे फौरन दूर कर देना ठीक होगा। कांग्रेसियों की स्पीचों में बड़े जोरदार शब्द इस्तैमाल किये गये थे, जैसे विधान को 'चकनाचूर' कर देना है; लेकिन कांग्रेस ने जब भी इस विषय पर कुछ कहा तो उसने अधिक-से-अधिक इन शब्दों का प्रयोग किया कि उसे विधान के ख़िलाफ़ लड़ना है। उसने कहा, "कांग्रेस नये विधान को अस्वीकार करने और उसके संचालन से असहयोग के पक्ष में है।" इसलिए मन्त्रिमंडल के विरोध में जो आलोचना की गई उसमें ज्यादातर आलोचकों की यह ग़लती थी कि इन्होंने कांग्रेस के प्रस्तावों के शब्दों पर ध्यान नहीं दिया और वे लोग स्पीचों के अनिश्चित शब्दों के साथ बह गये। आश्वासनों के बाद जो कुछ हुआ उसका प्रामाणिक कथन इस प्रकार है :

"वर्धा में कार्य-कारिणी द्वारा पद-ग्रहण का निश्चय करने पर कांग्रेसी बहुमत के प्रान्तों के अन्तर्कालीन मन्त्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिये। गवर्नरों ने अपने-अपने प्रान्त की कांग्रेस पार्टी के नेताओं को आमन्त्रित किया कि वे नये मन्त्रिमण्डल बनाने में उसकी (गवर्नर की) सहायता

करें। मुलाकातें सन्तोष-प्रद हुईं और नेताओं ने मन्त्रिमण्डल बनाना स्वीकार कर लिया और गवर्नरों को अपने साथियों के नाम दे दिये।"

परिणाम-स्वरूप कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल इस प्रकार बने :

प्रान्त	मन्त्री	पार्लामेण्टरी मन्त्री
बम्बई	७	६
मद्रास	१०	१०
युक्त प्रांत	६	१३
बिहार	४	८
मध्य प्रांत	७	—
उड़ीसा	३	४
सीमा-प्रान्त	४	—

जैसा कि कांग्रेस कार्य-कारिणी पहले कह चुकी थी, रहने और सवारी के लिए सरकारी इन्तज़ाम के अलावा, मंत्रियों, प्रमुखों और एडवोकेट-जनरलों का वेतन ५००) रु० प्रतिमास निश्चित किया गया। इतना कम वेतन निश्चित कर कांग्रेस करांची वाले प्रस्ताव का भी पालन कर रही थी।[1] वेतन के इस मापदंड का शेष जगत के मान से मिलान करना दिलचस्प होगा और कांग्रेसी वेतन-मान सबसे कम निकलेगा। छः में से चार प्रान्तों में पार्लामेण्टरी मंत्री नियुक्त करने से कुछ नई कठिनाइयाँ सामने आईं। उनकी वैधानिक स्थिति क्या थी? क्या धारासभा में मंत्री की उपस्थिति में वे मंत्री के नाम पर काम कर सकते थे? ज़िलों का दौरा करते वक़्त सरकारी पदाधिकारियों से उनका क्या संबंध होगा? उनका दफ़्तर, उनके सफ़र का भत्ता, दौरे में उनके साथ चलने वाले कर्मचारी, उनके अधिकार की सीमा—ये सब उलझनें थीं। तीसरे दर्जे का सफ़र, १) प्रति दिन का मामूली भत्ता, प्रमुख पार्लामेण्टरी मंत्री के अतिरिक्त अन्य पार्लामेंटरी मन्त्रियों के लिए टाइपिस्ट और क्लर्क का अभाव, ये नियम कि पार्लामेण्टरी मन्त्री धारासभा में मन्त्रियों की अनुपस्थिति में ही काम कर सकते थे—ये सब ऐसी उलझनें थीं जिनसे कालान्तर में अपने देश में अपनी प्रथा डालने पर ही हम छुटकारा पा सकते थे। संभवतः वे बढ़कर सहकारी मन्त्री बन जाते और मन्त्रियों के साथ उनका बराबरी का दर्जा होता, लेकिन कैबिनेट में मन्त्री ही होते। इंगलैंड में पार्लामेण्टरी मंत्री सौंपा हुआ काम करते हैं। हिन्दुस्तान में विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न ढंग अपनाये गये और इसमें सन्देह नहीं कि अगर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने रहते तो कुछ ही समय में इन उलझनों के साथ ही दूसरी उलझनों के सही हल निकल आते।

पद-ग्रहण से राष्ट्रीय जीवन में एक नई प्रक्रिया आरम्भ हुई। कांग्रेसियों को विभिन्न प्रकार के और विभिन्न परिणाम के महत्व के शासन का अनुभव था। किन्तु ब्रिटेन जैसे (क्षेत्र और जन-संख्या में) बड़े, इटली और टर्की से तिगुने, स्काटलैंड से छः गुने और स्वीज़रलैंड से पन्द्रह गुने बड़े प्रान्तों का शासन उनके लिए नई चीज़ थी। इंगलैंड में लोकतन्त्र और मैगना कार्टा के जन्म, रूनीमीड के मैदान में बेरनों के संघर्ष, मताधिकार वृद्धि, १६८८ की क्रान्ति, गृह-युद्ध, विभिन्न सुधार एक्ट, लोकतन्त्रीय परम्पराओं के विकास और प्रथाओं के उदय से, जिन पर कि अंग्रेज़ों को

---

१ पार्लामेण्टरी मन्त्रियों को मकान किराया और कार ख़र्च शामिल करते हुए ४००) रु० प्रतिमास वेतन देना निश्चित किया गया। मन्त्रियों को १००) रु० मकान किराये के मिलते और १५०) प्रतिमास कार ख़र्च के लिए। कार सरकार की तरफ़ से दी जाती।

अभिमान है, वे लोग परिचित थे। लेकिन यहां मन्त्रियों को एक लिखित विधान के अनुसार चलना था। इसके अलावा और बहुत से नियम-उपनियम थे, सरकारी हुक्म थे, आदेश-पत्र थे और स्थायी कर्मचारियों की गुत्थियाँ थीं। गवर्नर के आश्वासनों पर आदेश-पत्र के अक्षर कुछ बेमानी हो गये थे, पर भावना वही थी। उत्तरदायी शासन के नेता को और संयुक्त उत्तरदायित्व वाली कैबिनेट को धारासभा के विभिन्न हितों का ध्यान रखना था। कांग्रेस की इच्छा खुद भी एक पार्टी सरकार की तरह काम करने की नहीं थी। फिर भी मन्त्रियों के साथ परेशानी थी। उनमें से कुछ ही लोगों को धारासभा का और उससे भी कम लोगों को सरकारी अनुभव था, लेकिन शासन की जटिलताओं से उनका सम्पर्क न तो गहरा था और न व्यापक। इसके अलावा उनको परस्पर विरोधी हितों में मेल कराना था और विभिन्न माँगों के साथ न्याय करना था। मन्त्रीगण दफ़्तरों में इस तरह भी नहीं गये थे, मानों एक लम्बे निर्वासन के बाद उन्हें घर में रहने का मौका मिला हो। वे तो उस बहू की तरह थे जो अपने सुसर के घर कुछ दिनों तक सारी बातों को सीखती है और जहाँ उसे अपने पति से ही नहीं, बल्कि उसके मां, बाप, भाई, बहन आदि से भी सुलझना पड़ता है। मन्त्रियों को गवर्नरों से बातचीत करनी थी, लेकिन आश्वासन के लिए तीन महीनों के संघर्ष से यह बात आसान हो गई थी। मद्रास में जहां दस स्थायी सरकारी सेक्रेटरी थे यह बात नहीं थी। ये लोग आई० सी० एस० के सदस्य थे। इनके अलावा विभिन्न विभागों के चौदह अध्यक्ष और थे। वे सब भी आई० सी० एस० के सदस्य थे। इसका नतीजा यह हुआ कि हालांकि मन्त्रिमण्डल की नई रेल बनी, फिर भी असलियत में इंजन ही नये थे। डिब्बे सब पुराने और टूटे-फूटे थे। इसके अलावा ब्रेक ज़रूरत से ज्यादा तेज़ थे। कोयला पुराना। कोयला डालने वाले और पुर्जों में तेल देने वाले उदासीन। नतीजा यह कि नई गाड़ी खड़खड़ करने लगी। सिर्फ़ इतनी ही बात नहीं थी। इंजन खुद रफ्तार भी नहीं तेज कर सकते थे। डिब्बों के मुसाफिर यह उम्मेद करते थे कि एयर कण्डीशंड कोच जैसा सफ़र का आराम हो और तेज़ रफ्तार में झटके भी न लगें। पर उन्होंने इंजन की हालत वह देखी, जो एक्स० बी० इंजन की 'बिहटा' में हुई थी। पटरी इकसार नहीं थी और काम करने वाले नियमों की ऐसी पाबन्दियों से चिपटे हुए थे कि प्रगति ही नहीं हो सकती थी। सेक्रेटेरियेट के लोगों के सहयोग की तारीफ़ भी लोगों को नापसन्द थी। जब मद्रास में एक मन्त्री ने गवर्नर को अपना दोस्त, नीतिकार और निर्देशक बताया तो सार्वजनिक नाराज़ी बढ़कर घृणा की सीमा पर पहुंच गई।

एक ओर यह बात थी, दूसरी ओर जनता की आशाएँ बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं। चुनावों में ज़मींदार हारे थे और एक आन्दोलन जो पहले से ही चल रहा था अब और भी ज्यादा तेज़ हुआ अर्थात् ज़मीन पर दखल और लगान के कानूनों को दुहराया जाय और पुरानी परम्पराओं को ख़त्म किया जाय। किसानों को राहत मिले, कर्ज़ घटें, मद्य-पान निषेध हो, खेती में से बिचौलियों को निकाला जाय, अनुपस्थित रहने वाले जमींदारों की ज़मीन पर पाबन्दी लगे, ग़ैरकानूनी वसूलयाबी बन्द हों, जंगल संबंधी शिकायतें दूर हों, जंगलों की सम्पत्ति, घरेलू धंधों और बृहत् परिमाण के उद्योगों को बढ़ाया जाय, आर्थिक बोझ का ज्यादा सही बँटवारा हो, शिक्षा का पुनस्संगठन हो ताकि राष्ट्र के जीवन और उसकी आवश्यकताओं से उसका संबंध हो, राष्ट्रीय संस्कृति का पुनरुत्थान हो, ग्राम-पंचायतें फिर से क़ायम हों, न्याय सस्ता और सही हो, सच और अपनी बात पर डटे रहने की पहली-सी प्रवृत्ति आ जाय, अहिंसा के अनुसार नये नागरिक अधिकार और कर्त्तव्यों का स्वरूप सामने आवे, हरिजनों और पिछड़ी हुई जातियों की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा सुधारी जाय, श्रम

को देश की सच्ची सम्पत्ति समझा जावे, धन के आदर्श का स्थान सेवा का आदर्श ले, ग्राम्य पुनर्निमाण का बृहत् आन्दोलन हो—एक शब्द में प्रतिद्वन्द्विता का स्थान सहयोग ले। ये सुधार थे जो मन्त्रियों को करने थे। इनमें से हर काम के लिए साधनों की जांच करनी थी, योजना बनानी थी, राष्ट्रीय रूढ़ि और पक्षपातों को दूर करना था और सामाजिक और आर्थिक मूल्य के संबंध में सार्वजनिक धारणाओं को शुद्ध और उन्नत करना था। यह कोई मामूली काम नहीं था! सिर्फ़ यही नहीं, मन्त्रियों को स्थानीय पक्षपात का भी मुकाबला करना था। दक्षिण भारत में हिन्दी के अनिवार्य अध्ययन के विरोध में एक आन्दोलन चला। उसी प्रान्त में साम्यवादी प्रवृत्ति में समाजवादियों के निर्देश से किसान-विद्रोह खड़े किये गये जो आगे की बड़ी क्रान्ति के लिए तैयारी और सीख के रूप में थे। लगभग सभी प्रान्तों में राजनैतिक कैदी थे जिनमें कुछ हिंसा के दोषी थे। ये लोग कांग्रेस के हाथों छुटकारा पाने की बाट जोह रहे थे। लेकिन यह मामला बहुत उलझा हुआ था। अधिकांश बन्दी बंगाल और पंजाब में थे, जहाँ कांग्रेस शासन संचालन नहीं कर रही थी। कांग्रेस की नीयत और उसके ढंग पर, जिनके अनुसार वह एक्ट को अमल में ला रही थी, कांग्रेस के कट्टर विरोधियों ने तरह-तरह के शक ज़ाहिर किये।

गांधीजी का कहना था कि पद-ग्रहण के मायने यह नहीं हैं कि कांग्रेस एक्ट को अमल में लाना चाहती है। क्या उनकी यह बात उनके पहले बयानों से मेल खाती थी? जो हो, गांधीजी मूलतः मानव हैं और एक राजनीतिज्ञ हैं; लेकिन उस तरह के राजनीतिज्ञ नहीं जैसे कि प्रायः जीवन में देखने को मिलते हैं। वे हर चीज़ को आदर्श बनाना चाहते हैं और अपने विचारों, कार्यक्रमों और अपनी योजनाओं को बराबर उच्चतर करने की कोशिश करते हैं। पहले जो उन्होंने कहा था वह यह कि गति-रोध करने का इरादा नहीं है। लोगों के दिमाग़ में यह ख्याल था कि विधान को खत्म करने के मायने यह थे कि धारा-सभा में शब्दों द्वारा लड़ाइयाँ और कुश्तियाँ होंगी। इस ढङ्ग से तो गति-रोध की ही आशा थी। गांधीजी ने कहा कि इरादा यह नहीं है। अगर यह बात नहीं थी तो लोगों ने यह ख्याल किया कि उस विधान को अमल में लाया जायगा और यह उसी ढङ्ग से जैसे कि मॉडरेट लोग उसे अमल में लाते, बहुत कुछ उसी तरह से जैसे कि अन्तर्कालीन मन्त्री उसे अमल में ला रहे थे और इस तरह हिन्दुस्तान में इङ्गलैंड का उद्देश्य पूरा होता। गांधीजी ने कहा कि कांग्रेस इस तरह एक्ट पर काम नहीं करेगी। उसका विचार तो यह है कि इस अवसर पर पश्चिम से पूर्व की ओर, पदार्थ से निहित भावना की ओर, मशीन से दस्तकारी की ओर, धन से सेवा की ओर, सजावट और रौब से सादगी की ओर और मशीन के पहिये से चरखे के चक्र की ओर दृष्टि को मोड़ दिया जावे।

इसलिए एक्ट से लड़ने का एक उच्चतर स्तर पर गहरा और अधिक व्यापक अर्थ था। सारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व को इस तरह फिर से जगाना था कि हिन्दुस्तान में अंगरेज़ियत की जगह हिन्दुस्तानियत आवे। वह स्वयं पर्याप्त हो, सादा हो, उसका राष्ट्रीय दृष्टिकोण हो और उसकी राष्ट्रीयता में मानवता हो। गांधीजी ने और जो चीज़ें बताईं, जैसे सादा रहन-सहन, उच्च विचार, तीसरे दर्जे का सफर, आत्म-त्याग, गरीबों की सेवा, वे सब बातें ऐसी थीं जो नये आदर्श के साथ आतीं और उनसे सारे राष्ट्र का दृष्टि-बिन्दु ही बदल जाता। असलियत यह है कि अंगरेज़ों ने हिन्दुस्तान में स्मशान के साथ एक नाट्य मन्दिर भी खोला। एक तरफ तो पाँच आकड़ों में वेतन गिना जा सकता था, दूसरी तरफ इतनी कम आय थी कि उसमें जीवित रहना कठिन था। एक तरफ ऊँचे-ऊँचे महल थे, दूसरी तरफ गन्दी, अंधेरी और घोंसलों जैसी कोठरियाँ थीं; एक तरफ बड़े-बड़े रौनक वाले बाज़ार थे और

दूसरी तरफ उजड़े हुए घर और गाँव—ये थे वे स्मशान और नाट्य-मन्दिर। आप नाट्य-मन्दिर देखते हैं, उसमें रहते नहीं हैं। आप अभिनेत्रियों को देखते हैं पर अपनी पत्नियों और माताओं में से उन्हें बनाने की आशा नहीं करते। इसलिए मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक था कि वे पुराने मूल्यों को छोड़ें और नये मूल्य अपनावें। अगर ऐसा किया जाता तो स्कूल वह खर्चीले प्रयोग न हो सकते, जिन्हें शराब की आमदनी पर गुज़र करनी पड़ती। यह बात खुले तौर पर कह दी गई कि अगर कॉलेजों का खर्च नशीली चीजों से ही निकलना है तो हमें उन्हें (कॉलेजों को) बन्द करने में कोई इतराज़ नहीं है। अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए क्या अपने पड़ोसियों को नशेबाज़ बनाया जायगा? स्कूल स्वावलम्बी और जेल सच्चे सुधार-गृह बनकर खुद सरकार की मदद करते, न कि सरकार से मदद लेते। ज़रा कल्पना कीजिये कि स्कूल और कालेज के ६० लाख विद्यार्थी दो घंटे रोज सूत कातते हैं तो उससे सूत के पहाड़ खड़े हो जावेंगे और इतना कपड़ा तैयार होगा कि स्कूलों से जबर्दस्त आमदनी हो। क्या नशेबाज़ी बढ़ाकर हम उस खर्च को चलाते या इस दूसरे रास्ते से अपनी बचत करते?

अगर हमारे मंत्री, अबूबकर, उमर या हर्षवर्धन की-सी ज़िन्दगी बसर करते या दूर क्यों जाया जाए, अगर वे आज के वसिष्ठ और पराशर—गांधीजी की-सी ज़िन्दगी बिताते तो हिन्दुस्तान अपने खोये हुए आपे को फिर से पा लेता और जल्दी ही वह नौबत आती कि ब्रिटिश सरकार के एक्ट भारतीयों के इच्छित ढंग पर बनते और इस सब के लिए न एक बूंद खून बहता और न डंडे ही बरसते।

गांधीजी के इस कहने पर कि "एक्ट पर कानूनी ढंग से अमल किया जायगा" आप क्या कहते हैं? यह बात कुछ आलोचकों ने पूछी। इसका जवाब मिलना चाहिये।

गांधीजी ने कहा—

"यदि तीन करोड़ निर्वाचकों के प्रतिनिधियों में अपना विश्वास और अपनी बुद्धि है तो वे इस एक्ट के उद्देश्यों को दबा सकते हैं। यह काम बड़ी आसानी से हो सकता है। वे कानून के अन्दर ही इस एक्ट का अप्रत्याशित ढंग से उपयोग करें और उस ढंग से उसका उपयोग ही न करें, जिसकी कि इसके बनाने वालों ने आशा की है।"

इस तरह 'कानूनी' शब्द का अर्थ यह था कि एक्ट की धाराओं का इस्तैमाल करने में कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन उसके मायने एक्ट पर अमल करने की सलाह के नहीं थे।

एक परेशानी एक्ट की २५८ वीं धारा से हुई, जो सरकारी कर्मचारियों से संबंधित थी। इसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। यह चीज़ बंगाल के तत्कालीन गवर्नर सर जॉन एण्डरसन के भाषण से, जो उन्होंने एक पुलिस परेड में मंत्रिमण्डल बनने के अवसर पर (१३ जुलाई १९३७) दिया, साफ़ होती है—

"इंगलैंड की तरह हिन्दुस्तान में भी सम्राट और उनके कर्मचारियों में एक सच्चा किन्तु अदृश्य बंधन है। मैं जिस चीज़ को तुम्हें बताना चाहता हूँ वह यह है कि नई व्यवस्था में राजभक्ति के क्षेत्र में कोई संघर्ष नहीं है। कानून के अनुसार काम करने वाले वैधानिक सलाहकारों के पीछे सम्राट की सारी सत्ता ज्यों-की-त्यों है। तुम्हें मालूम है कि सार्वजनिक नौकरियों के संबंध में गवर्नर को विशेष उत्तरदायित्व दिया गया है; पर इस उत्तरदायित्व के मायने यह नहीं हैं कि कानून और व्यवस्था के मंत्री का उत्तरदायित्व नहीं है। अपनी समृद्धि और रक्षण के लिए सम्राट के कर्मचारियों को इस मंत्री के निर्देश की ओर ध्यान देना चाहिये। गवर्नर की व्यक्तिगत सहायता इसी मंत्री के

द्वारा ली जानी चाहिये। इसी नींव पर सम्राट, उनके सलाहकार और उनके कर्मचारियों में पारस्परिक विश्वास और सहयोग हो सकता है और उसी दशा में सरकार सुव्यवस्थित और प्रगतिशील रह सकती है।"

सबसे बड़ी कठिनाई विभिन्न प्रान्तों के कामों में सामञ्जस्य की आवश्यकता से उठी। केन्द्रीय उत्तरदायित्व का अभाव था। केन्द्रीय और प्रान्तीय राजस्व का वर्तमान विभाजन खुद एक बुरी चीज़ थी; लेकिन कानून बनाने के उनके क्षेत्र के बारे में भी बड़ी भारी अनिश्चितता थी।

जो चीज़ काश्तकारी कानून में मद्रास में ३० बरस पहले सन् १९०८ से कानूनी थी क्या उसे १९३९ में उड़ीसा में ले आना अनधिकार चेष्टा थी ? गवर्नर जनरल ने युक्तप्रांत के एक काश्तकारी कानून को मंत्रिमंडल के समय में और उसके लगभग एक बरस बाद तक स्वीकृति ही नहीं दी और उड़ीसा में तो उस कानून को रद्द ही कर दिया गया। संघीय न्यायालय के सामने मद्रास का एक एक्ट (जिसका उद्देश्य कर्ज़ भार से दबे किसानों को मदद करना था) लाया गया और मान लिया गया, लेकिन मद्यपान निषेध कानून का कुछ भाग अवैधानिक घोषित किया गया। बम्बई के हाईकोर्ट ने यह बताया कि विदेशी शराबों के सिलसिले में जो धाराएँ थीं वे प्रान्तीय धारासभा के अधिकार-क्षेत्र से बाहर थीं। इसी तरह उस समय भी कठिनाई हुई जब कर्ज पर ब्याज के सिलसिले में कानून सामने आया। प्रान्तीय और केन्द्रीय विषयों का बंटवारा हुआ था। कर्ज का बोझ हलका करने के लिए प्रान्तीय धारासभा किस सीमा तक आगे बढ़ सकती थी ? क्या बैंकों के कर्ज पर छूट दी जा सकती थी; क्योंकि बैंक केन्द्रीय विषय था ? जब तक हाईकोर्ट या संघीय न्यायालय का फैसला हो, कांग्रेस कार्यकारिणी को बीच में आना पड़ता और वह अपनी पार्लामेण्टरी कमेटी की सहायता से या खुद ही सामञ्जस्य लाने के लिए कदम उठाती। इसी उद्देश्य से पार्लामेण्टरी कमेटी के तीन सदस्यों में प्रान्त बाँट दिये गये थे और उनको अपने-अपने क्षेत्र में ज़रूरी मामलों में जल्दी होने पर व्यक्तिगत निर्णय का अधिकार दे दिया गया था। आन्तरिक शासन के कुछ मामलों में कार्यकारिणी के बार-बार हस्तक्षेप की आलोचना होने लगी। यह आलोचना विशेषकर आंग्ल-भारतीय अखबारों और अफ़सरों ने की और बाद में भारतमन्त्री और ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने भी की। इस हस्तक्षेप के हम कुछ उदाहरण लेते हैं। असल में तो वह हस्तक्षेप था ही नहीं। मध्यप्रांत के प्रधानमंत्री ने एक बार त्यागपत्र देकर अपने मंत्रिमंडल का पुनःसंगठन किया। युक्तप्रांत और बिहार में हिंसा के अपराधी राजबन्दियों को छोड़ने से इंकार किया और वहां के मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र देने की धमकी दी। उसी तरह उड़ीसा के मंत्रिमंडल ने इस्तीफ़े की धमकी दी। बात यह थी कि उन्हीं के अधीन काम करने वाले एक विभागाध्यक्ष को उसी प्रान्त का गवर्नर बनाया जा रहा था। इन सब मामलों में प्रान्तीय मंत्रियों के कहने पर कार्यकारिणी कदम उठाती और कड़ा रुख लेती। इस तरह कांग्रेसी प्रान्तों में ऐक्य और आत्म-सम्मान की भावना दिखाई दी। नतीजा यह हुआ कि इसके खिलाफ़ आलोचना का एक तूफ़ान उठा। जो काम कार्यकारिणी पार्लामेण्टरी कमेटी के साथ प्रान्तों के संबंध में करती, वैसा ही काम प्रान्तीय कमेटी एक छोटे पैमाने पर अपने प्रान्तों में करती। जब इन कमेटियों के पदाधिकारी धारासभा की कांग्रेसी पार्टियों के नेता और बाद में मन्त्री बने तो आम जनता और मन्त्रियों में एक सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया। चुनावों की तैयारी जिला और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों ने की थी। उन्होंने ही उम्मीदवारों को छांटा था और कांग्रेस के घोषणा-पत्र का प्रचार किया था। जनता की निगाहों में ये कमेटियां सार्वजनिक अधिकारों की रक्षक और मन्त्रियों की सत्ता को प्रतिनिधि

बन गईं। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों ने विशेषरूप से अपने आप को एक विचित्र स्थिति में पाया। जनता इन कमेटियों को सर्वशक्तिमान समझती थी और वह कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनने से स्वर्ण-युग की आशा करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अधीर जनता ने इन कमेटियों से बहुत-सी मांगें कीं, जिनका मन्त्रीगण निपटारा नहीं कर सकते थे। बात यह है कि किसी व्यवस्थित सरकार के लिए, जो कानून और परम्परा पर अवलम्बित हो, यह बात नामुनासिब थी कि वह अपने को बिलकुल एक पार्टी की सरकार बना दे; किन्तु नीचे से ऐसे ही हस्तक्षेप के चिह्न दिखाई दे रहे थे। दो शक्तियों के बीच प्रान्तीय कमेटियों को संतुलन रखना था और उसे हस्तक्षेप की सारी कोशिशों को रोकना था। साथ ही उसे मंत्रियों की गति को भी बराबर तेज़ करना था। उसे सरकारी ढर्रे में मानवता और सजीवता लानी थी। यह कोई आसान काम नहीं था। हस्तक्षेप की मिसालें भी सामने थीं। कुछ जगहों में कांग्रेस कमेटियों ने दखल देना शुरू किया और उस पर कार्यकारिणी ने सख्ती से काम लेकर उन्हें ठीक किया। इस पर झुंझलाहट हुई। लेकिन कार्यकारिणी को और उसके निर्देश में दूसरी कमेटियों को इस कठिन समय में अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही था। महासमिति और कांग्रेसी मंत्रिमंडल के सवाल पर कांग्रेस सभापति को एक बार बहुत लम्बा खर्रा[1] लिखना पड़ा।

मद्रास मंत्रिमंडल के निर्माण में एक छोटी-सी बात ऐसी उठी कि उस पर कुछ हलचल मची। वहाँ के दस मंत्रियों में से एक मंत्री को पहले ऊपरी सभा का सदस्य नियुक्त किया गया था और फिर उसे कैबिनेट का मेम्बर बनाया गया। क्या गवर्नर द्वारा नियुक्त किया जाना एक कांग्रेसी के लिए मान्य था? क्या उत्तरदायी सरकार के लिए मंत्रिमंडल में एक नामज़द सदस्य लेना ठीक था? इस सवाल पर ग़ौर करना मुनासिब होगा।

पहली बात तो यह है कि गवर्नर द्वारा नामज़द और मंत्रियों के परामर्श पर गवर्नर द्वारा नामज़दी में एक बहुत बड़ा अन्तर है। कलकत्ता और लन्दन के म्यूनिसिपल कॉर्पोरेशन में कौंसिलर्स (सदस्यों) का चुनाव होता है। ये चुने हुए लोग अपने काम में मदद के लिए कुछ और लोगों को अपनी सभा में मिला लेते हैं। ये नये लोग कार्पोरेशन के काम में अपने अनुभव, अपनी सूझ और योग्यता के कारण बहुत बड़े सहायक होते हैं। इन नये लोगों को लेने का काम बहु-संख्यकदल या उसका नेता करता है। इतने पर भी गवर्नर ने दो जगहें भरने के लिए बहुसंख्यक दल या उसके नेता को मौका दिया। अगर उस समय प्रधान मंत्री ने पार्टी के नेता की हैसियत से गवर्नर के सामने ऐसे लोगों के नाम पेश किये, जो किसी कारणवश चुनावों में नहीं थे, लेकिन जो साथ ही बहुत योग्य और मान्य थे, तो उसमें आलोचना की क्या बात थी? हाँ, यह बात हो सकती थी कि प्रधान मंत्री नामज़दी की बात ही नहीं मानता। पर जब एक बार मंत्रिमंडल बना लिया गया तो आप इस बात पर आपत्ति नहीं कर सकते कि एक ऐसा काम न किया जो विधान की सीमाओं में ही आता है। यह दलील तो कुछ ऐसी थी कि चींटी को निगलने में तकलीफ़ होती है; लेकिन ऊँट निगला जा सकता है। फिर यह आलोचना तो उन लोगों को थी, जिनको आलोचना करने में ही मज़ा आता है। तब?

संक्षेप में बात यह है कि परिस्थिति बिलकुल नई थी। कांग्रेस को धारासभा के भीतर और बाहर काम का ढर्रा बदलना था। कांग्रेस इस बात को चाहती थी कि कांग्रेसी मंत्रियों के मुश्किल

---

[1] कांग्रेस बुलेटिन नं० ७, दिसम्बर १९३७—पृष्ठ २७ और ३२ देखिये।

काम को आसान करे और वे धारासभा के बाहर से ही अपने भीतर के साथियों की मदद करें और जनता को उसके सलाहकार और निर्देशक बनकर विभिन्न योजनाओं को भविष्य के आदर्श की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि विगत और वर्तमान स्थिति की वास्तविकता को लेकर समझायें।

जब प्रान्त में कांग्रेसी सरकार हो तो कांग्रेस-संगठन और कांग्रेस-सरकार के कुछ कार्यक्रम का समन्वय स्वाभाविक था। साथ ही लोगों के दिमाग़ में एक सुरक्षा की-सी भावना भी आई कि सब कुछ ठीक है और सब कुछ ठीक ही होगा। कारण कि कांग्रेस-राज कायम हो गया है। एक बात यहाँ ध्यान में रखने की है। कांग्रेस उस पद पर है लेकिन उसके हाथ में पूरी ताकत नहीं थी और अगर उसके पास पूरी ताकत भी होती तो भी धारासभा के बाहर का कार्यक्रम इतना ही गहरा और व्यापक होता जितना कि खुद धारासभा के अन्दर होता। असल में कांग्रेसी मंत्रियों की मज़बूती और तेज़ी आम जनता के आन्दोलन की गति और औचित्य पर निर्भर थी।

हाँ, एक मामले पर शासन के संबंध में कांग्रेसी विचार कुछ अस्पष्ट थे। उस हालत में और दूसरी बात हो भी नहीं सकती थी। जब योजनाएँ सरकारी हुक्मों, नियम-उपनियमों के अनुसार सेक्रेटेरियट के अनुभवी कर्मचारियों द्वारा जाँची जाती हैं, तब उनकी व्यवहार्यता और उपयोगिता का पता लगता है। अक्सर ऐसा होता है कि बैंक, बीमा कम्पनी, खादी-केन्द्र या किसी कारबार में एक तेज़ आदमी एक नई नीति अपनाता है और तब सामने ऐसी चीजें उठ खड़ी होती हैं कि उसके प्रस्ताव बेमानी हो जाते हैं। जब छोटे कारबारों में ऐसी बातें होती हैं तब शासन के लम्बे-चौड़े कामों की कठिनाइयों का अनुमान किया जा सकता है और ख़ास-तौर से उस वक्त जब उन कामों में बहुत से सामाजिक, नैतिक और आर्थिक सवाल भी चिपके हुए हों। गवर्नर और उसके विशेषाधिकार एक तरफ थे और दूसरी तरफ़ हममें आत्म-विश्वास की कमी थी। फिर जनता एक स्वर्ण-युग के लिए भूखी थी और उसे फ़ौरन देखना चाहती थी। लेकिन सेक्रेटेरियट के पहरा देने वाले कुत्ते बराबर भोंकते और चिल्लाते थे। हमारे प्रस्तावों के ख़िलाफ़ वे विभिन्न नियम-उपनियमों के उद्धरण देते थे। ऐसी हालत में मंत्रियों का काम कितना मुश्किल था?

कांग्रेस ने अब तक इस दिशा में काम नहीं किया था। पुराने नरमदली लोगों को शासन संबंधी अनुभव और ज्ञान था। कांग्रेसी पिछले सत्रह साल से लड़ाई और आन्दोलन चला रहे थे। उनका कार्यक्रम सेवा और बलिदान का था। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि वे कांफ्रेन्स और कमीशनों की रिपोर्टों और सरकारी नियमावलियों से अनभिज्ञ थे। इस बात को मानने में कोई संकोच या शर्म नहीं है। दूसरी तरफ़ इस असलियत को देखने की ज़रूरत थी ताकि उस समय की समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए पूरी ताकत से कोशिश की जाती। यह काम वे मित्र-गण कर सकते थे जिनके पास अवकाश था और इस काम के लिए पर्याप्त सुविधाएँ और सामग्री थी। कांग्रेस-संगठन मज़बूत बनाना था। पिछले पचास बरसों में उसने जो संगठन किया था उसी की बदौलत उसे अपने कामों में सफलता मिली थी और इसी वजह से दूसरी पार्टियाँ असफल रहीं। असल में कांग्रेस का आधार इतना बड़ा था कि वह देश की राजनैतिक पार्टियों में से एक पार्टी नहीं थी, बल्कि सिर्फ़ वही 'एक' पार्टी थी जो सरकार के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ रही थी। ऐसा वक्त आया कि यह कहा जाने लगा के देश के हर गाँव में कांग्रेस की एक कमेटी होनी चाहिये और जिस गांव में कमेटी न हो उसे ऐसा समझना चाहिये जैसे वहाँ मन्दिर ही नहीं है।

धारासभा के बाहर के कांग्रेसियों को जनता के, जो ज्यादातर अपढ़ थी, दोस्त की तरह काम करना था। उन्हें उन लाखों मूक प्राणियों की आवाज़ ही नहीं बनना था, बल्कि उन्हें सच

और झूठ, ज़रूरी और बेज़रूरी को छाँट कर रखना था। इसी काम के लिए उन्हें पदाधिकारियों का बर्ताव देखना था, जिनको जनता का दुश्मन न समझकर अब जनता से इस तरह घुला-मिला देना था कि दोनों तरफ़ एक दूसरे का भरोसा और यक़ीन हो। यह सच था कि अपनी अकड़ की आदतों को छोड़ने में उन्हें वक्त लगता; लेकिन अगर कांग्रेसी विनम्रता और शिष्टता से उन्हें अपनाते तो उससे यह काम ज्यादा जल्दी पूरा हो जाता। मौजूदा शासन में बहुत बुरी बात यह थी कि अधिकारियों और जनता में एक बहुत बड़ी दूरी थी। दफ़्तरी नौकरियों में भी नौकरशाही घुस गई थी। जब तक खुद राष्ट्रीय चरित्र न उठता, ऊपर के नियंत्रण और दबाव से यह दोष दूर नहीं हो सकता था। असली इलाज ऊपर से कानूनी नियमों के बनाने में नहीं था, बल्कि वह नीचे से नैतिक उत्थान में था। उस समय सम्मान और अहंकार की भावना को फौरन ठीक करने की ज़रूरत महसूस की गई।

प्रान्तीय और राष्ट्रीय मामलों में जनता के प्रति उत्तरदायित्व के अभाव में एक दुखद चीज़ यह थी कि लोग छोटे-छोटे आपसी झगड़ों और दलबंदियों में पड़े हुए थे। मौके-मौके पर ये झगड़े खास तौर से उफन पड़ते। छोटी-छोटी बातें बहुत बढ़ जातीं और दीवानी और फौजदारी मुकदमों के ज़रिये लड़ाई लड़ी जाती, जिनके लिए शायद दूसरी परिस्थितियों में द्वन्द्व-युद्ध होता या कत्ल कर दिया जाता। मुकदमेबाज़ी चाहे अहिंसात्मक भी होती, लेकिन उससे सामुदायिक भावना और सहयोग खत्म हो जाता। एक बार फिर ग्रामीण जमात की भावना को स्थापित करना था और साथ ही पंचायत की मदद से झगड़ों के फैसले का इन्तज़ाम करना था। इस पंचायत में स्थानीय बड़े-बूढ़े होते, जिनको मौके और झगड़े की पूरी जानकारी होती।

इसके अलावा नवयुवकों के एक बहुत बड़े समुदाय को उन संस्थाओं में शिक्षा देनी थी, जिन पर सरकार का शक रहा था। इस तरह रचनात्मक कार्यक्रम के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवकों को तैयार करना था। उनकी बेबसी ने इतनी गहरी जड़ जमा ली थी कि अस्पतालों, विद्यालयों, टेकनी-कल संस्थाओं, अनाथालयों, और बहरे और गूँगों के स्कूलों के लिए ईसाई मिशनरियों से सहायता ली जाती थी। इन सारे कामों को राष्ट्र के नवयुवकों को अपने हाथ में लेना था। इसके अतिरिक्त विशेष अवसरों पर काम करने के लिए नवयुवक तैयार रहने चाहिये। इन विशेष अवसरों का मतलब आग, अकाल और भूचाल से था। देश के शिक्षणालयों को इस दृष्टिकोण को अपनाना था; लेकिन उसके लिए समाज के अगुआओं और गृहपतियों से माँग होनी थी। मन्त्री तो रजिस्ट्रेशन दफ़्तर के रजिस्ट्रार की तरह थे। वे तो जनता के लाये हुए दस्तावेज़ों को दर्ज करते। जिन सुधारों के लिए जनता माँग करती और दबाव डालती, उन्हें वे लागू करते। अगर जनता को अपने अधिकारों का रक्षण करना था तो उसकी शर्त यह थी कि वह सब चीज़ों के लिए चौकन्नी रहे।

दक्षिण प्रेसीडेन्सी में जेल सम्बन्धी जो सुधार हुए उनमें से एक बड़ा दिलचस्प और महत्वपूर्ण था। उसके परिणाम स्वरूप जेलों में मेहतरों का काम सिर्फ़ हरिजनों और परि-गणित जातियों का ही नहीं होना चाहिये था। ब्रिटिश सरकार की एक खास बात यह थी कि उसकी संस्थाओं ने वर्ण-व्यवस्था को उस समय भी मज़बूत बनाये रखा जब कि समाज में उसकी पकड़ काफ़ी ढीली हो चुकी थी। रेलवे हिन्दू होटलों को उन्होंने अनुमति ही नहीं दी, बल्कि इस बात के लिए बाध्य किया कि खाने की अलग व्यवस्था हो। इसी तरह जेल में मेहतर का काम हरिजन ही करते। पिछली चीज़ को कांग्रेस ने सन् १९३७ में दूर किया और पहली चीज़ को दक्षिण भारत में कुछ अंशों में केन्द्रीय सरकार ने १९४१ में ठीक किया।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों की उपलब्धियों और उनके चढ़ाव-उतार की विस्तृत रिपोर्ट अलग दी

हुई है। यहां यह कहना काफी है कि कुछ ही दिनों में आसाम ने कांग्रेस-प्रान्तों का-सा ढर्रा अपनाया और सिंध भी लगभग कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से कदम मिलाकर चलने लगा। इस तरह १९३९ में ग्यारह में से आठ प्रान्तों में या तो कांग्रेस-संचालन या कांग्रेस-अनुकरण था। जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण स्वीकार किया तो ऐसा दिखाई पड़ता था कि थोड़े समय में ही संयुक्त मंत्रिमंडल बन जावेंगे; किन्तु कुछ आलोचकों के कामों और पागलपन के उफानों ने इस चीज़ को ठंडा कर दिया। इन आलोचनाओं का बड़े ज़ोरों से सचाई के साथ जवाब दे दिया गया। ख़ैर, राजनीति का खेल बहुत हद तक शतरंज और ताश के खेल की तरह है; क्योंकि पहले से कोई भी यह नहीं बता सकता कि समय-समय पर क्या परिस्थितियां होंगी और उनसे क्या शक्ल तैयार होगी। इस तरह आसाम के मंत्रिमंडल में आठ मंत्री थे। उनमें से प्रधान मंत्री ही अकेला कांग्रेसी सदस्य था। बंगाल में शुरू में संयुक्त मंत्रि-मंडल बनाने की इजाज़त नहीं दी गई थी। आसाम की चीज से वहां तीखापन हुआ; लेकिन पहली घटनाओं को बाद की चीज़ों से नहीं जांचा जा सकता। कांग्रेस की ताकत और उसके असर में बढ़ती से बहुत-सी परेशानियां भी उठ खड़ी हुईं। आदर्श और घटनाओं की प्रगति में सार्वजनिक आशाएँ तेजी से बढ़ीं, विशेषकर श्रम के क्षेत्र में, और जहां-तहां हड़तालें हुईं। कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के अधीन ही जगह-जगह पुलिस और फ़ौज ने गोलियां चलाईं। सत्ताईस महीने के समय में दक्षिण भारत में तीन बार ऐसे मौकों पर गोलियां चलीं और इसको बहुत ज्यादा समझा गया। लेकिन इसके मुकाबिले में दक्षिण भारत तो फीका पड़ गया; क्योंकि उधर युक्त प्रांत में व्यवस्था लाने के लिए फ़ौज को ४७ बार गोली की सहायता लेनी पड़ी। वैसे यह बात ज़रूर थी कि फौज का हर बार इस्तैमाल नहीं किया गया और करीब-करीब उसे हमेशा ही रिज़र्व के तौर पर पास में ही खड़ा रहना पड़ा। एक बार दक्षिण भारत में मज़दूरों ने जूट मिल के अन्दर हड़ताल कर दी। वहां के कलक्टर पर उस मौक़े पर ग़लत फ़ैसला करने का दोष लगाया गया। यह दोष एक सरकारी कमीशन ने लगाया। इस कमीशन में इन्सपेक्टर जनरल पुलिस, रेवेन्यू बोर्ड के एक सदस्य और एक लेबर कमिश्नर थे। इस पर सज़ा यह दी गई कि उस अंगरेज़ का वाल्टेयर से उटकमंड की सुन्दर जगह के लिए तबादला कर दिया गया। वहां न भेजकर दूसरी जगह, जहां वह सजा के तौर पर भेजा जा सकता था, मलाबार था, जहां के लिए लोग जाने को ललचाया करते हैं। तीसरी जगह बेलारी प्रान्त का एक दूसरा बढ़िया जिला था। प्रान्तीय स्वाधीनता में नौकरियों के संबंध में गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट के सिलसिले में आशंका उत्पन्न करने वाला एक अनुभव हुआ। दक्षिण भारत में कांग्रेसी हुकूमत की शुरूआत में ताज़ीरात हिन्द की १२४ अ धारा के मातहत एक राजद्रोह का मुकदमा चला और जनता उस पर भौचक्की रह गई; लेकिन जब अभियुक्त की कोशिश से महासमिति की अक्टूबर १९३८ में कलकत्ते वाली बैठक के बाद वह स्पीच लोगों के सामने आई तो जनता की नाराज़ी उतनी तेज़ न रही और तब उस स्पीच में उग्रता के अभाव के विरुद्ध तेजी से भावना बदल गई। राजद्रोह और राजभक्ति में नहीं, बल्कि अहिंसा और हिंसा का फर्क साफ़ हो चुका था और यह बात तय थी कि कांग्रेसी सरकारें अपने प्रान्तों में हिंसा को मंडराने नहीं देंगी। ताज़ीरात हिन्द में उपयुक्त ढंग से संशोधन करना था और उसका हल सिर्फ़ मजिस्ट्रेटों से नहीं हो सकता था। इन लोगों ने तो ब्रिटिश राज्य की वफ़ादार नौकरी के दौरान में ख़ास परम्पराएँ पाई थीं। इस तरह जब किसानों के प्रदर्शन और उनके फलस्वरूप सार्वजनिक जाग्रति हुई, मिलों में हड़तालें हुईं, किसान सम्मेलन और बाद में सत्याग्रह हुए तो मद्रास मंत्रि-मंडल का काम काफ़ी मुश्किल हो गया। फिर भी तीनों जगहों में से कहीं भी गोली चलाने में औचित्य नहीं था।

बम्बई ही अकेला ऐसा प्रान्त था, जिसने श्रम कानून तैयार और लागू किये। एक लेबर कमेटी नियुक्त की गई और काफ़ी सोच-विचार के बाद एक लेबर बिल तैयार किया गया। उससे मज़दूरों के कुछ हिस्सों को सन्तोष नहीं हुआ। बाद में उग्र प्रदर्शन हुये और गोलियां चलीं; लेकिन असली परेशानी तो युक्त प्रांत में थी। वहां अक्सर दंगे होते—कभी साम्प्रदायिक और कभी दूसरे ढंग के और—बार-बार शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए फौज को बुलाना पड़ता। ऐसे उपद्रवों, अनुभवों और ऐसी परेशानियों के बीच कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को रचनात्मक सुधार का कार्यक्रम चलाना था। सबसे पहले तो कांग्रेस-प्रधान धारासभाओं ने विधान परिषद् के लिए प्रस्ताव पास किया; क्योंकि नये एक्ट में राष्ट्र का कहीं मत नहीं था और वह बिलकुल असन्तोषप्रद था। उसमें तो हिन्दुस्तान की जनता को गुलाम बनाये रखने की नीयत थी। बम्बई में सबसे बड़ी घटना यह हुई कि सविनय आज्ञा भंग आंदोलन के दौरान में जिन सत्याग्रहियों की जमीन और जायदाद ज़ब्त हो गई थी उन्हें सरकारी ख़र्चे पर वापस लौटा दिया गया। अख़बारों की ज़मानतें भी लौटा दी गईं। उपयुक्त सिनेमा और साहित्य पर से पाबन्दियां हटा ली गईं। मज़दूर नेताओं के कामों पर जो रोक थी वह रद कर दी गई और श्रम कानूनों का काम हाथ में ले लिया गया। देहाती कर्ज पर मद्रास में सबसे पहले ध्यान गया और उसने ऐसी कानूनी व्यवस्था कर दी कि उससे कर्ज़ की रकमें घट गईं। उसके बाद मद्य-पान निषेध पर ध्यान गया। इस मामले में हर प्रान्त का अपना अलग ढर्रा था। मद्रास ने परिधि से केन्द्र पर हमला किया। बम्बई ने उलटा ढर्रा अपनाया। दक्षिणी प्रान्त में बन्दियों को मठा देने के सुधार की बहुत बड़ी जरूरत थी। और जगहों की तरह यहां भी राजबन्दी छोड़े गये। मोपला उपद्रव एक्ट को रद्द करना एक बहुत बड़ी घटना थी। एक और बड़ी उपलब्धि थी १९३० के सविनय आज्ञा भंग आन्दोलन में इस्तीफ़ा देने वाले ग्राम्य कर्मचारियों की पुनर्नियुक्ति। जमींदारी हलकों में काश्तकारी दख़ल की हालतों के बारे में छानबीन के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई। यह भी कम महत्व की चीज़ नहीं थी। कमेटी ने एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की; पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के १९३९ में इस्तीफा देने की वजह से उसकी सिफ़ारिशों पर अमल न किया जा सका। खादी और कताई के लिए २ लाख रुपये की रकम निकाली गई। मन्त्रिमण्डल के लिए यह एक असाधारण साहस का काम था; क्योंकि इससे कांग्रेस संस्था के रचनात्मक कार्यक्रम में बड़ी भारी मदद मिलती। जुलाहे के संरक्षण के लिए सबसे पहला कदम तो यह उठाया गया कि हाथबुने कपड़े के अलावा और सब तरह के कपड़े बेचने वालों के लिए लाइसेन्स लेना लाज़िमी कर दिया गया। कुछ हड़तालों के सिलसिले में समझौता बोर्ड कायम किये गये। डाक्टरी व्यवसाय का फिर से संगठन शुरू किया गया और साथ ही सार्वजनिक स्वास्थ्य पर ध्यान दिया गया। अस्पतालों के लिए अवैतनिक डाक्टरों की नियुक्ति की गई। वोट के लिए रंगीन बक्स का ढंग चुंगी और जिला बोर्डों में चालू कर दिया गया।

युक्त प्रांत में ६ में से २ मंत्री और १३ में से ३ पार्लामेण्टरी सेक्रेटरी मुसलमान थे और २ पार्लामेण्टरी सेक्रेटरी दलित वर्ग के थे। किसानों को राहत देने के लिए उपाय काम में लाने की गरज़ से दो कमेटियां नियुक्त की गईं। किसानों को बेदख़ल करने के जो मामले चल रहे थे उन्हें फौरन रोक दिया गया ताकि किसानों को तात्कालिक सुविधा मिले। दूसरी कमेटी ने देहाती कर्ज़ के सवाल पर ध्यान दिया। कानपुर में मालिकों के झगड़ों को मन्त्रिमण्डल ने समय पर हस्तक्षेप करके दूर किया। मध्य प्रांत में इरादा तो बहुत से कामों को करने का था; लेकिन जो काम हो पाये उनका संबंध कुछ जंगल के अधिकारों, आदिवासियों के लिए स्कूलों और सरकारी काम के लिए

प्रान्त में तैयार हुई चीज़ों के क्रय से था। प्रान्त के आर्थिक और व्यावसायिक परीक्षण के बाद एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की गई। सारे प्रान्त में छोटे किसानों को स्थायी रूप से १२॥ फीसदी की छूट दी गई। कर्ज़ के सिलसिले में समझौता बोर्ड कायम किये गये। क्लबों पर लाइसेंस लगाने, विदेशी शराब की दुकानों और देशी शराब के इस्तैमाल को घटाने का प्रस्ताव रखा गया। रचना विभाग के कामों में सार्वजनिक इमारतों की लागत को काफ़ी घटा दिया गया। २४०० गांवों की, जहाँ पढ़ाई की सुविधाएँ नहीं थीं, ज़रूरतों को पूरा करने के लिये विद्यामंदिर-योजना जोरों से चलाई गई। इस सारी सूची के बाद एक और उपलब्धि थी, जिसको अलग स्थान देना उचित है। बंगाल कांग्रेस-संचालित प्रान्त नहीं था। वहाँ नज़रबन्द और राजबन्दी सब प्रान्तों से ज्यादा थे। वे सब गांधीजी के हाथों छुटकारे के इन्तज़ार में थे। गांधीजी बहुत बुरा स्वास्थ्य होने पर भी कलकत्ते में तीन सप्ताह (२५ अक्टूबर १९३७ से १६ नवम्बर तक) ठहरे। बंगाल के गवर्नर और मंत्रिमंडल से उन्होंने लम्बी बातचीतें कीं। बहुत से निकले हुए नज़रबन्दों और राजबन्दियों से गांधीजी मिले। कलकत्ते से लौटते वक्त उन्होंने हिजली कैम्प के १६ राजबन्दियों से दो घंटे तक बातचीत की। इस समय सरकार ने लगभग ११०० नज़रबन्दों की रिहाई का हुक्म देते हुए एक विज्ञप्ति निकाली—

"जहाँ तक बाकी नज़रबन्दों का सवाल है (जिनकी संख्या ४५० से ज्यादा नहीं है और जो कैम्प या जेलों में हैं) सरकार का इरादा उनके मामलों पर निकट भविष्य में ही ध्यान देने का है। मि० गांधी प्रत्येक नज़रबन्द से मिलना चाहते हैं और इस काम में उनके ख्याल से ४ महीने लगेंगे। सरकार इसके लिए उन्हें खुशी से हर तरह की सुविधा देगी। जिन नज़रबन्दों के बारे में मि० गांधी मिलकर सन्तोषप्रद आश्वासन देंगे उन्हें सरकार फ़ौरन छोड़ देगी। इस बीच में खुद सरकार हर मामले पर गौर करेगी और जहाँ भी उसे मुनासिब लगेगा वहाँ उसी मामले में छूट का हुक्म दे देगी।"

गांधीजी ने कहा कि प्रान्त में अहिंसात्मक वातावरण बनाये रखना बहुत ज़रूरी है। बंगाल सरकार ने उस संबंध में एक दूसरी ही शब्दावलि का प्रयोग किया, "उसकी (नज़रबन्दों के क्रमशः छुटकारे की नीति की) सफलता लाज़िमी तौर पर जनता और सार्वजनिक नेताओं के सहयोग पर निर्भर होगी—अर्थात् वे ऐसा वातावरण बनाये रखें जिसमें ग़ैर कानूनी आन्दोलनों को कोई प्रोत्साहन ही न मिले।" गांधीजी ने इस संबंध में यह आशा प्रकट की कि, "ग़ैर कानूनी आन्दोलन" का अर्थ यहाँ "उन कामों से था जो हिंसात्मक थे या जिनसे हिंसा को बढ़ावा मिलता था।"

कुल मिलाकर १९३७ का साल बहुत घटनापूर्ण रहा। कांग्रेस ने उस साल कोई अधिवेशन नहीं किया लेकिन उस समय में आधी सदी की प्रगति पूरी की। असल में जब मंत्रिमंडल बनाये गये तो उसने राष्ट्रीय संगठन की मेहराब की चुनाई की। असहयोग का रास्ता बदला लेकिन सहयोग का वक़्त अभी नहीं आया था। संघ बनाने से एक्ट के जिस हिस्से का संबंध था उसके विरोध में कांग्रेस के रुख में कोई फ़र्क नहीं हुआ। जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने थे तो उस सिलसिले में (संघ बनाने के बारे में) ब्रिटिश सरकार ने अपना अगला कदम बताया था। कांग्रेस की निगाह में ब्रिटिश सरकार की ऐसी कोशिश हिन्दुस्तान की जनता के लिये चुनौती थी और उसने प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमेटियों, प्रान्तीय सरकारों और मंत्रिमंडलों से संघीय ढाँचा लादे जाने के विरोध में अपील की। विशेषकर प्रान्तीय सरकारों को यह हिदायत दी गई कि वे अपनी धारासभा के विरोध को, प्रस्ताव द्वारा प्रकट करें।

संघीय विधान के बड़े सवाल के अलावा ब्रिटिश सरकार और हिन्दुस्तानी जनता में और

बम्बई ही अकेला ऐसा प्रान्त था, जिसने श्रम कानून तैयार और लागू किये। एक लेबर कमेटी नियुक्त की गई और काफ़ी सोच-विचार के बाद एक लेबर बिल तैयार किया गया। उससे मज़दूरों के कुछ हिस्सों को सन्तोष नहीं हुआ। बाद में उग्र प्रदर्शन हुये और गोलियां चलीं; लेकिन असली परेशानी तो युक्त प्रांत में थी। वहां अक्सर दंगे होते—कभी साम्प्रदायिक और कभी दूसरे ढंग के और—बार-बार शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए फौज को बुलाना पड़ता। ऐसे उपद्रवों, अनुभवों और ऐसी परेशानियों के बीच कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को रचनात्मक सुधार का कार्यक्रम चलाना था। सबसे पहले तो कांग्रेस-प्रधान धारासभाओं ने विधान परिषद के लिए प्रस्ताव पास किया; क्योंकि नये एक्ट में राष्ट्र का कहीं मत नहीं था और वह बिलकुल असन्तोषप्रद था। उसमें तो हिन्दुस्तान की जनता को ग़ुलाम बनाये रखने की नीयत थी। बम्बई में सबसे बड़ी घटना यह हुई कि सविनय आज्ञा भंग आंदोलन के दौरान में जिन सत्याग्रहियों की जमीन और जायदाद ज़ब्त हो गई थी उन्हें सरकारी ख़र्चे पर वापस लौटा दिया गया। अख़बारों की ज़मानतें भी लौटा दी गईं। उपयुक्त सिनेमा और साहित्य पर से पाबन्दियां हटा ली गईं। मज़दूर नेताओं के कामों पर जो रोक थी वह रद कर दी गई और श्रम कानूनों का काम हाथ में ले लिया गया। देहाती कर्ज पर मद्रास में सबसे पहले ध्यान गया और उसने ऐसी कानूनी व्यवस्था कर दी कि उससे कर्ज़ की रकमें घट गईं। उसके बाद मद्य-पान निषेध पर ध्यान गया। इस मामले में हर प्रान्त का अपना अलग ढर्रा था। मद्रास ने परिधि से केन्द्र पर हमला किया। बम्बई ने उलटा ढर्रा अपनाया। दक्षिणी प्रान्त में बन्दियों को मठा देने के सुधार की बहुत बड़ी जरूरत थी। और जगहों की तरह यहां भी राजबन्दी छोड़े गये। मोपला उपद्रव एक्ट को रद्द करना एक बहुत बड़ी घटना थी। एक और बड़ी उपलब्धि थी १९३० के सविनय आज्ञा भंग आन्दोलन में इस्तीफ़ा देने वाले ग्राम्य कर्मचारियों की पुनर्नियुक्ति। जमींदारी हलकों में काश्तकारी दख़ल की हालतों के बारे में छानबीन के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई। यह भी कम महत्व की चीज़ नहीं थी। कमेटी ने एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की; पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के १९३९ में इस्तीफा देने की वजह से उसकी सिफ़ारिशों पर अमल न किया जा सका। खादी और कताई के लिए २ लाख रुपये की रकम निकाली गई। मन्त्रिमण्डल के लिए यह एक असाधारण साहस का काम था; क्योंकि इससे कांग्रेस संस्था के रचनात्मक कार्यक्रम में बड़ी भारी मदद मिलती। जुलाहे के संरक्षण के लिए सबसे पहला कदम तो यह उठाया गया कि हाथबुने कपड़े के अलावा और सब तरह के कपड़े बेचने वालों के लिए लाइसेन्स लेना लाज़िमी कर दिया गया। कुछ हड़तालों के सिलसिले में समझौता बोर्ड कायम किये गये। डाक्टरी व्यवसाय का फिर से संगठन शुरू किया गया और साथ ही सार्वजनिक स्वास्थ्य पर ध्यान दिया गया। अस्पतालों के लिए अवैतनिक डाक्टरों की नियुक्ति की गई। वोट के लिए रंगीन बक्स का ढंग चुंगी और जिला बोर्डों में चालू कर दिया गया।

युक्त प्रांत में ६ में से २ मंत्री और १३ में से ३ पार्लामेण्टरी सेक्रेटरी मुसलमान थे और २ पार्लामेण्टरी सेक्रेटरी दलित वर्ग के थे। किसानों को राहत देने के लिए उपाय काम में लाने की गरज़ से दो कमेटियां नियुक्त की गईं। किसानों को बेदखल करने के जो मामले चल रहे थे उन्हें फौरन रोक दिया गया ताकि किसानों को तात्कालिक सुविधा मिले। दूसरी कमेटी ने देहाती कर्ज़ के सवाल पर ध्यान दिया। कानपुर में मालिकों के झगड़ों को मन्त्रिमण्डल ने समय पर हस्तक्षेप करके दूर किया। मध्य प्रांत में इरादा तो बहुत से कामों को करने का था; लेकिन जो काम हो पाये उनका संबंध कुछ जंगल के अधिकारों, आदिवासियों के लिए स्कूलों और सरकारी काम के लिए

प्रान्त में तैयार हुई चीज़ों के क्रय से था। प्रान्त के आर्थिक और व्यावसायिक परीक्षण के बाद एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की गई। सारे प्रान्त में छोटे किसानों को स्थायी रूप से १२॥ फीसदी की छूट दी गई। कर्ज़ के सिलसिले में समझौता बोर्ड कायम किये गये। क्लबों पर लाइसेंस लगाने, विदेशी शराब की दुकानों और देशी शराब के इस्तैमाल को घटाने का प्रस्ताव रखा गया। रचना विभाग के कामों में सार्वजनिक इमारतों की लागत को काफ़ी घटा दिया गया। २४०० गांवों की, जहाँ पढ़ाई की सुविधाएँ नहीं थीं, ज़रूरतों को पूरा करने के लिये विद्यामंदिर-योजना जोरों से चलाई गई। इस सारी सूची के बाद एक और उपलब्धि थी, जिसको अलग स्थान देना उचित है। बंगाल कांग्रेस-संचालित प्रान्त नहीं था। वहाँ नज़रबन्द और राजबन्दी सब प्रान्तों से ज्यादा थे। वे सब गांधीजी के हाथों छुटकारे के इन्तज़ार में थे। गांधीजी बहुत बुरा स्वास्थ्य होने पर भी कलकत्ते में तीन सप्ताह (२९ अक्टूबर १९३७ से १६ नवम्बर तक) ठहरे। बंगाल के गवर्नर और मंत्रिमंडल से उन्होंने लम्बी बातचीतें कीं। बहुत से निकले हुए नज़रबन्दों और राजबन्दियों से गांधीजी मिले। कलकत्ते से लौटते वक्त उन्होंने हिजली कैम्प के १६ राजबन्दियों से दो घंटे तक बातचीत की। इस समय सरकार ने लगभग ११०० नज़रबन्दों की रिहाई का हुक्म देते हुए एक विज्ञप्ति निकाली—

"जहाँ तक बाकी नज़रबन्दों का सवाल है (जिनकी संख्या ४५० से ज्यादा नहीं है और जो कैम्प या जेलों में हैं) सरकार का इरादा उनके मामलों पर निकट भविष्य में ही ध्यान देने का है। मि० गांधी प्रत्येक नज़रबन्द से मिलना चाहते हैं और इस काम में उनके ख़्याल से ४ महीने लगेंगे। सरकार इसके लिए उन्हें ख़ुशी से हर तरह की सुविधा देगी। जिन नज़रबन्दों के बारे में मि० गांधी मिलकर सन्तोषप्रद आश्वासन देंगे उन्हें सरकार फ़ौरन छोड़ देगी। इस बीच में खुद सरकार हर मामले पर गौर करेगी और जहाँ भी उसे मुनासिब लगेगा वहाँ उसी मामले में छूट का हुक्म दे देगी।"

गांधीजी ने कहा कि प्रान्त में अहिंसात्मक वातावरण बनाये रखना बहुत ज़रूरी है। बंगाल सरकार ने उस संबंध में एक दूसरी ही शब्दावलि का प्रयोग किया, "उसकी (नज़रबन्दों के क्रमशः छुटकारे की नीति की) सफलता लाज़िमी तौर पर जनता और सार्वजनिक नेताओं के सहयोग पर निर्भर होगी—अर्थात् वे ऐसा वातावरण बनाये रखें जिसमें ग़ैर कानूनी आन्दोलनों को कोई प्रोत्साहन ही न मिले।" गांधीजी ने इस संबंध में यह आशा प्रकट की कि, "ग़ैर कानूनी आन्दोलन" का अर्थ यहाँ "उन कामों से था जो हिंसात्मक थे या जिनसे हिंसा को बढ़ावा मिलता था।"

कुल मिलाकर १९३७ का साल बहुत घटनापूर्ण रहा। कांग्रेस ने उस साल कोई अधिवेशन नहीं किया लेकिन उस समय में आधी सदी की प्रगति पूरी की। असल में जब मंत्रिमंडल बनाये गये तो उसने राष्ट्रीय संगठन की मेहराब की चुनाई की। असहयोग का रास्ता बदला लेकिन सहयोग का वक़्त अभी नहीं आया था। संघ बनाने से एक्ट के जिस हिस्से का संबंध था उसके विरोध में कांग्रेस के रुख़ में कोई फ़र्क नहीं हुआ। जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने थे तो उस सिलसिले में (संघ बनाने के बारे में) ब्रिटिश सरकार ने अपना अगला कदम बताया था। कांग्रेस की निगाह में ब्रिटिश सरकार की ऐसी कोशिश हिन्दुस्तान की जनता के लिये चुनौती थी और उसने प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमेटियों, प्रान्तीय सरकारों और मंत्रिमंडलों से संघीय ढाँचा लादे जाने के विरोध में अपील की। विशेषकर प्रान्तीय सरकारों को यह हिदायत दी गई कि वे अपनी धारासभा के विरोध को, प्रस्ताव द्वारा प्रकट करें।

संघीय विधान के बड़े सवाल के अलावा ब्रिटिश सरकार और हिन्दुस्तानी जनता में और

बहुत-सी बातों के झगड़ों की वजह से न कोई सहयोग की भावना हुई और न कोई विशेष प्रगति हो सकी। मिसाल के लिए हज़ारों नज़रबन्द बिना किसी मुकद्मे के कैम्पों या जेलों में पड़े हुए थे और कुछ अण्डमान में थे। अण्डमान के बन्दियों ने गांधीजी को एक तार में यह सूचना भेजी कि हिंसा में अब उनका विश्वास नहीं रहा है। ऐसी हालत में उन्हें नज़रबन्द रखने का कोई मौका या बहाना नहीं है। ऐसे लोगों के लिए तो गांधीजी और कांग्रेस की कोशिशें चल ही रही थीं; लेकिन साथ ही कुछ और लोग भी थे। उन लोगों के मामले उलझे हुए थे। उनके ख़िलाफ़ हिंसा के जुर्म थे। फिर भी उन मामलों पर तुरन्त ध्यान देना था। उनके अलावा निर्वासित लोग भी थे, जिनके बारे में महासमिति ने यह प्रस्ताव पास किया—

"महासमिति भारत सरकार पर ज़ोर देती है कि वह सारे राजनैतिक बन्दियों पर से, जिनमें निम्नांकित व्यक्ति भी सम्मिलित हैं, हिन्दुस्तान में घुसने के सिलसिले में सारी रुकावटों और पाबन्दियों को हटा ले—

श्रीयुत वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, डा० अबानी मुकर्जी, श्रीयुत महेन्द्र प्रताप, श्रीयुत पाण्डुरंग सदाशिव खांखोजे, सरदार अजीतसिंह, मौलवी उबैदुल्ला, मौलवी अब्दुल्ला खाँ, डा० तारकनाथदास, काज़ी अब्दुलवली खाँ, श्रीयुत बसन्त कुमार रॉय, श्रीयुत पृथ्वीसिंह, लाला हरदयाल और श्रीयुत रासबिहारी-बोस।

कमेटी की यह राय है कि विदेशों में रहने वाले सब प्रवासी भारतीयों को एक आम आश्वासन दे दिया जाय कि हिन्दुस्तान में उनके आने पर उनके पिछले कामों की वजह से उनको परेशान नहीं किया जायगा और उनके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की जायगी।"

पहले सालों में कांग्रेस ने सारे भारत की श्रम-संबंधी समस्याओं पर उचित ध्यान नहीं दिया था। अहमदाबाद शहर में एक आदर्श मज़दूर संगठन ज़रूर कायम होगया था और उसका एक स्थायी शासन बोर्ड था; लेकिन और जगह के संगठनों में इस बोर्ड के सदस्यों की-सी प्रतिष्ठा और अनुशासन संभव नहीं था। न और जगह मालिकों का प्रत्युत्तर ही वैसा था। नतीजा यह हुआ कि मज़दूरों का संगठन या तो साम्यवादियों ने किया या कुछ स्वार्थी लोगों ने। लेकिन जब कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो इस महत्वपूर्ण विषय को छोड़ना संभव नहीं था। यह चीज़ राष्ट्रीय जीवन में एक विशेष महत्व की थी—विशेषकर बम्बई प्रान्त में। कांग्रेस ने जो मज़दूर कमेटी नियुक्त की थी उसने बड़े परिश्रम के बाद सुधार का एक विस्तृत कार्यक्रम पेश किया। इसको कांग्रेस महासमिति ने अक्टूबर १९३७ में इस प्रस्ताव द्वारा स्वीकार किया—

"विभिन्न प्रान्तों में एक से काम को ध्यान में रखते हुए यह सम्मेलन प्रान्तीय सरकारों से इस कार्यक्रम को अपनाने की सिफ़ारिश करता है और इस बात को तय करता है कि विभिन्न बातों पर आवश्यक छानबीन और पारस्परिक विचार-विमर्श होकर ३० जून १९३८ तक तत्संबंधी प्रस्ताव बन जाने चाहिएं—

(क) कानून द्वारा आँकड़े इकट्ठे करने की सुविधा हो;

(ख) अनियंत्रित कारबारों में भी फ़ैक्ट्री एक्ट लागू किया जाय;

(ग) मौसमी फ़ैक्ट्रियों में फ़ैक्ट्री एक्ट ज्यादा सख्ती से लागू किया जाय;

(घ) जहाँ मातृत्वकालीन सुविधा की व्यवस्था न हो वहाँ कम-से-कम आठ सप्ताह की छुट्टी का प्रबंध किया जावे;

(ङ) संगठित उद्योगों में वेतन की पर्याप्तता के सवाल की जाँच की जावे;

(च) श्रम-विनिमय संस्था बनें;
(छ) बीमारी में बिना वेतन कटे हुए छुट्टी मिले;
(ज) न्यूनतम वेतन निश्चित करने की उचित संस्था हो;
(झ) झगड़ों का फ़ैसला करने के लिये संस्था हो;
(ञ) सरकार और मालिक उन ट्रेड यूनियनों को मानें जो शांतिपूर्ण और उचित उपायों को काम में लाने की नीति पर आचरण करती हों;
(ट) श्रम के रहने का इन्तज़ाम हो;
(ठ) क़र्ज़ का बोझ घटाया जाय;
(ड) काम के घंटे निश्चित हों;
(ढ) छुट्टियों का भी वेतन मिले;
(ण) काम मिलने का बीमा हो;
(त) उद्योगों को श्रम के संबंध में सरकारी सहायता की शर्तें निश्चित हों।

सम्मेलन यह चाहता है कि प्रान्तीय सरकारें अगले साल में ज्यादा-से-ज्यादा उपर्युक्त मामलों में कानूनी या शासन संबंधी कारंवाई करें।"

संयुक्त सम्मेलन की राय है कि अगर कांग्रेसी श्रम मंत्री समय-समय पर सम्मेलनों में भाग लेते रहें तो वह उन्हें एकसी नीति और एकसा कार्यक्रम निश्चित करने में सहायता देगा। सम्मेलन की यह भी राय है कि कांग्रेस मज़दूर कमेटी, कांग्रेसी श्रम मंत्री और पार्लामेण्टरी मंत्री समय-समय पर मिलें और श्रम-कार्यक्रम को चलाने के बारे में स्थिति का सिंहावलोकन करें।

कांग्रेस मज़दूर कमेटी ने कुछ प्रस्ताव और पास किये और मंत्रिमंडलों से उन पर ध्यान देने की सिफ़ारिश की।

कांग्रेस के लिये उतना ही बल्कि कुछ ज्यादा अहम सवाल अल्पसंख्यकों का था। इस संबंध में लन्दन को दूसरी गोलमेज़ परिषद्, प्रधान मंत्री रैमज़े मैकडोनैल्ड के निर्णय और सितम्बर १९३२ में गांधीजी के आमरण अनशन का ध्यान आना स्वाभाविक है। छः दिन के अनशन के बाद हरिजनों को हिन्दुओं का ही एक हिस्सा माना गया। यहाँ कांग्रेस की बात पर ध्यान देना ज़रूरी है। उसका इरादा था कि अगर संयुक्त निर्वाचन हो तो हरिजनों को आम निर्वाचन क्षेत्र में ले लिया जायगा। कांग्रेस यह चाहती थी कि प्रधान मंत्री के फ़ैसले का यह नतीजा न हो कि हरिजन हमेशा से जिस जाति के सदस्य रहे हों, उससे वे अलग हो जावें। प्रधान मंत्री के फ़ैसले का हिन्दू दिमाग़ पर भी काफ़ी असर पड़ा था। जब कार्यकारिणी ने यह तय किया कि वह प्रधान मंत्री के फ़ैसले को न स्वीकार करे और न अस्वीकार तो सवाल के ये सारे पहलू उसके सामने थे। इसी वजह से इस विषय पर कांग्रेस की सुचिन्तित सम्मति की आवश्यकता थी। कलकत्ते में अक्टूबर १९३७ में महासमिति ने यह प्रस्ताव पास किया—

"कांग्रेस ने बार-बार निश्चित रूप से हिन्दुस्तान के अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बारे में नीति घोषित की है। कांग्रेस ने यह कहा है कि इन अधिकारों का रक्षण वह अपना कर्त्तव्य समझती है। वह इन अल्पसंख्यकों के विकास के लिये ज्यादा-से-ज्यादा क्षेत्र देना चाहती है। साथ ही यह कि वे राष्ट्र के राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में पूरा-पूरा हिस्सा लें। कांग्रेस का उद्देश्य एक स्वतंत्र और अखण्ड भारत है जहाँ कोई वर्ग, समुदाय—बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक—एक दूसरे का शोषण न कर सके और जहाँ राष्ट्र के सारे हिस्से एक साथ मिलकर

राष्ट्रीय उन्नति के लिये काम कर सकें। स्वतंत्रता में एके और सहयोग के मायने भारतीय जीवन की समृद्धशाली और अनेकांगी सांस्कृतिक विभिन्नता को दबाने के नहीं हैं। हर व्यक्ति और हर समुदाय की अपनी सामर्थ्य और प्रवृत्ति के अनुसार अबाध प्रगति के लिये तो उनको बनाये रखना ज़रूरी है।"

इस संबंध में कांग्रेस नीति को विकृत करके सामने रखने की कोशिश की गई है। इसी-लिये महासमिति अपनी नीति को फिर दुहराती है। कांग्रेस ने मौलिक अधिकारों के प्रस्ताव में इन बातों को शामिल किया है—

(१) हिन्दुस्तान के हर नागरिक को अपनी स्वतन्त्र सम्मति प्रकट करने का अधिकार है। वह स्वतंत्र रूप से किसी से संबंध रख सकता है और मिल सकता है। उसका सम्मिलन कानून और नैतिकता के विरोध में नहीं होगा और बिना शस्त्रों के होगा।

(२) हर व्यक्ति को आत्मिक स्वतंत्रता होगी और वह किसी भी मत, धर्म या सम्प्रदाय को मान सकता है और उसके अनुसार काम कर सकता है; लेकिन उससे सार्वजनिक शांति और नैतिकता भंग नहीं होनी चाहिये।

(३) अल्पसंख्यकों और विभिन्न भाषाओं के क्षेत्रों की संस्कृति, भाषा और लिपि का संरक्षण किया जायगा।

(४) कानून के सामने सभी व्यक्ति बराबर हैं, फिर चाहे उनका कोई धर्म हो या उनकी कोई जाति हो और वे चाहे स्त्री हों या पुरुष।

(५) किसी व्यक्ति पर उसके धर्म, लिंग और जाति के कारण सार्वजनिक नौकरियों में, शक्ति और मान के पदों में और किसी व्यवसाय या धंधे में कोई भेदभाव या पाबन्दी नहीं होगी।

(६) किसी सार्वजनिक कुएं, तालाब, सड़क, स्कूल और दूसरे स्थान के लिये हर नाग-रिक के समान अधिकार और कर्त्तव्य हैं।

(७) सब धर्मों के प्रति राजसत्ता तटस्थ रहेगी।

(८) प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त होगा।

(९) हरएक नागरिक भारत में कहीं आने-जाने, ठहरने और बसने के लिये आज़ाद है। वहाँ वह जायदाद ले सकता है और कोई भी कारबार चला सकता है। कानून के लिहाज़ से उसके साथ बर्ताव में कोई भेदभाव नहीं होगा। हिन्दुस्तान के हर हिस्से में उसे संरक्षण प्राप्त होगा।

मौलिक अधिकारों की इन धाराओं से यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत भावना, धर्म और संस्कृति में कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इस तरह अल्पसंख्यकों को अपने नियमों के पालन करने में बहुसंख्यकों की तरफ से कोई रुकावट नहीं है।

साम्प्रदायिक निर्णय पर कांग्रेस ने अपनी स्थिति अपने प्रस्तावों से बार-बार साफ़ कर दी है और चुनाव के घोषणा-पत्र में उसे फिर अन्तिम रूप से स्पष्ट कर दिया गया है। कांग्रेस इस साम्प्रदायिक निर्णय के खिलाफ़ है; क्योंकि वह राष्ट्रीयता-विरोधी है, अ-लोकतंत्री है और हिन्दु-स्तान की आज़ादी और एके के लिये एक बड़ी रुकावट है। फिर भी कांग्रेस ने इस बात को साफ़ कर दिया है कि उस निर्णय में विभिन्न दलों द्वारा आपसी समझौते से ही परिवर्तन होना चाहिए। आपसी समझौते से ऐसे परिवर्तन के लिये किसी भी अवसर का कांग्रेस ने स्वागत किया है और वह उससे लाभ उठाने को तैयार है।

इन सब मामलों में जिनका अल्पसंख्यकों पर असर पड़ सकता है कांग्रेस उनके सहयोग

और उनकी सद्भावना के साथ ही कोई फ़ैसला करेगी ताकि सब लोग मिलकर हिन्दुस्तान को आज़ाद कर सकें और वहाँ की जनता की दशा सुधार सकें।"

अल्पसंख्यकों के सवाल के साथ 'राष्ट्रीय गान' का सवाल भी था। कुछ धारासभाओं में कार्रवाई 'वन्दे मातरम्' गान से शुरू हुई। लगभग चालीस सालों से 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रीय गान की तरह बरता जा रहा था। बंकिमचन्द्र चटर्जी के इस गाने के साथ इकबाल के कुछ गाने भी प्रसिद्ध हुए; लेकिन मुसलमानों में कुछ विरोध हुआ और आगे चलकर मुस्लिम लीग ने कांग्रेस-शासन के खिलाफ़ यह बात भी रखी।

महासमिति ने कुछ दूसरे मामलों पर भी ध्यान दिया। काफ़ी अर्से से (करीब पच्चीस बरस से) आंध्र और कर्नाटक इस बुनियाद पर अलग प्रान्त बनाने पर ज़ोर दे रहे थे कि नये प्रान्त भाषा के आधार पर बनाये जावें। कलकत्ते में महासमिति ने पहली बार "कांग्रेस-नीति निश्चित की कि भाषा के आधार पर फिर से प्रान्त बनाये जावें। उसने बम्बई और मद्रास सरकार से आंध्र और कर्नाटक के अलग प्रान्त बनाने पर विचार करने के लिये कहा। इस सिफ़ारिश पर मद्रास की धारासभा ने विभिन्न भाषा क्षेत्रों के लिये विभिन्न प्रान्त बनाने के लिये एक प्रस्ताव पास किया। मद्रास सरकार और भारत मंत्री में लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ। परिणाम-स्वरूप भारत मंत्री ने उस प्रस्ताव को उस समय रोक दिया। बम्बई ने भी कर्नाटक के सवाल पर उसी समय विचार किया।

घरेलू समस्याओं के बीच हिन्दुस्तान अपने प्रवासी भाइयों के प्रति अपनी जिम्मेदारी को नहीं भूला और न दुनिया के सवाल ही उसकी आंखों से ओझल हुए। भारतीय रियासतों का मामला, भारत सरकार के विदेश-विभाग के हाथों में था और उस पर कांग्रेस का पूरा ध्यान था। १९३७ में जब मैसूर में जबर्दस्त दमन हुआ तो महासमिति ने इस सवाल को लिया और अपनी राय इन शब्दों में प्रकट की—

"मैसूर रियासत में राजनैतिक मुकदमों, पाबन्दियों और रुकावटों के साथ दमन की जो निर्दय नीति शुरू हुई है, महासमिति उसका घोर विरोध करती है। भाषण, सम्मिलन और सहयोग के प्रारम्भिक अधिकारों पर रोक लगाकर नागरिक अधिकारों के दबाये जाने का भी वह विरोध करती है।

"यह मीटिंग मैसूर की जनता को अपनी भ्रातृत्व-पूर्ण भावनाएँ भेजती है और उनके उचित अहिंसात्मक संघर्ष में पूर्ण सफलता की कामना करती है। वह ब्रिटिश भारत और रियासती जनता से अपील करती है कि वह मैसूर की जनता की रियासत के विरुद्ध आत्म-निर्णय के अधिकार के लिये लड़ाई में, हर प्रकार का अवलम्बन और प्रोत्साहन दे।"

कुछ हिन्दुस्तानी जंज़ीबार में भी थे। उस समय वे लोग नये कानून के ख़िलाफ़ वीरता-पूर्वक लड़ रहे थे। उन कानूनों से हिन्दुस्तानी हितों को चोट पहुंचती और उस देश में एक लम्बे अर्से से बसे हुए हिन्दुस्तानियों का आयात-निर्यात व्यापार बरबाद हो जाता। असल में जंजीबार की समृद्धि में सब से बड़ी सहायता हिन्दुस्तानियों ने ही की थी। उस समय उनके संघर्ष में सहायता और हिन्दुस्तानी हितों के रक्षण के लिये हिन्दुस्तान में लौंग के आयात पर रोक लगाना ज़रूरी समझा गया। इस पर भारतीय जनता से जंजीबार की लौंग न इस्तैमाल करने की अपील की गई। यह योजना जोश के साथ अपनाई गई और उससे जंजीबार के हिन्दुस्तानियों को इच्छित सुविधा दिलाने में सहायता मिली।

अपने पड़ोस में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आतंकपूर्ण शासन में बड़ा भारी अन्याय हो रहा

था। इसका हिन्दुस्तानियों से कोई सीधा संबन्ध तो नहीं था, फिर भी वहाँ की अन्धाधुन्धी पर ध्यान गया। फिलस्तीन को ब्रिटिश संरक्षण में शासन के लिये रखा गया था। वहां अरब और यहूदियों में जबर्दस्त झगड़ा था। इस सिलसिले में एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति हुई। पील कमीशन ने जुलाई के चौथे सप्ताह में अपनी रिपोर्ट दी। उसमें फिलस्तीन का अरबों और यहूदियों में बँटवारा करने का प्रस्ताव था। अगर हम घटनाओं की प्रत्याशा करें तो पाकिस्तान का विचार, जिसमें हिन्दुस्तान का हिंदुओं और मुसलमानों में बँटवारा था, हालाँकि १९३२ में पैदा हुआ और जो १९४०—४१ में एक जबर्दस्त उलझन बन गया, इस पील कमीशन की विचार-धारा के ढर्रे पर था। कांग्रेस ने आतंकपूर्ण शासन और फिलस्तीन के बँटवारे का ज़बर्दस्त विरोध किया। कांग्रेस ने अरब वालों को उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की लड़ाई में भारतीय जनता के समर्थन का आश्वासन दिया।

उसी तरह चीन पर जापान के हमले से कांग्रेस का ध्यान उधर खिंचा और उसने यह प्रस्ताव पास किया—

"कांग्रेस महासमिति चीन में जापानी साम्राज्यवाद के आक्रमण से चिन्तित है और वह नागरिक जनता पर बम बरसाने और निर्दय व्यवहार के आतंक से परिचित है।

"असाधारण परेशानियों और विषमताओं के होते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता और अपने एके के लिए चीनी जनता जो वीरतापूर्वक संघर्ष कर रही है, महासमिति उसकी प्रशंसा करती है। राष्ट्रीय संकट की उपस्थिति में आन्तरिक एकता पर महासमिति चीनी जनता को बधाई देती है।

"इस राष्ट्रीय विपत्ति के अवसर पर चीनी जनता के प्रति महासमिति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करती है और उनकी आज़ादी की लड़ाई में भारतीय जनता के पूर्ण समर्थन का आश्वासन देती है।

"महासमिति भारतवासियों से इस बात की मांग करती है कि वे चीनी जनता के प्रति सहानुभूति के प्रतीक स्वरूप जापानी चीज़ों का इस्तैमाल करना बन्द कर दें।"

१९३७ में राष्ट्रीय कार्य-क्रम में जितनी घटनाएँ थी उनका संक्षिप्त विवरण देना यहाँ संभव नहीं है। सारे देश में एक नया राष्ट्रीय दृष्टिकोण समाया हुआ था। कांग्रेस का सबसे ज्यादा ध्यान आन्तरिक अनुशासन और स्वतन्त्रता पर था। इस देश को दो चीज़ों से दबाकर रखा गया था। एक तरफ़ तो वफ़ादारी के लिए इनाम था और दूसरी तरफ़ देशभक्ति के लिए सज़ा थी। अंगरेजों ने हिन्दुस्तान पर नैतिक और बौद्धिक विजय पाने के लिये जो योजना निकाली उसमें सबसे पहला नम्बर ख़िताबों का था। जब उनकी फ़ेहरिस्त आती तो अख़बारों की कई कालमें भर जातीं। ये फेहरिस्तें दो बार निकलतीं। एक तो अंगरेजी नये साल के शुरू में और एक बादशाह के जन्म-दिवस पर। इन्होंने राष्ट्रीय अधःपतन में बड़ी भारी सहायता की। नौकरियों और दूसरे इनामों से इनका असर कहीं ज्यादा था। इस पर महासमिति ने अपना सुचिन्तित मत यह प्रकट किया कि इन प्रान्तों में जहाँ कांग्रेसी मंत्रिमंडल हों वहां धारा-सभा में ख़िताबों को बन्द करने और उनका दिखावा न करने का प्रस्ताव पास किया जावे। मंत्रिमंडलों को बादशाह को इस बात की सूचना दे देनी चाहिये कि वे आगे इस सिलसिले में सिफ़ारिशें नहीं करेंगे और यह कि वे अपने प्रान्तों में ख़िताब दिये जाने के विरोध में हैं।

भारत जैसे बड़े देश में प्रान्तों के सरकारी काम में सामञ्जस्य स्थापित करना और अनुशासन बनाये रखना कोई आसान काम नहीं था—विशेषकर उस समय जब राष्ट्र को शासन-सत्ता

का पहली बार स्वाद मिला हो। धारासभाओं की पार्टियों की नेतागीरी में उन बहुत-सी बातों का समावेश था जो ऊपरी तौर से दिखाई नहीं देती थीं। पहली बार कांग्रेस ने महसूस किया कि चार आने देकर कांग्रेस सदस्य बनने में एक वह अंकुर था जो आगे जाकर प्रधान मन्त्री के रूप में एक सुदृढ़ वृक्ष हो सकता था। इसलिए जब व्यक्तिगत अधिकारों के झगड़े होते कि कौन नेता हो (जो आगे प्रधानमंत्री होता) तो कांग्रेस कार्य-कारिणी ही एक ऐसी सत्ता थी, जो उन अधिकारों पर निर्णय कर सकती थी।[1]

"कार्य-कारिणी ने श्री एम० के० गांधी और श्री डी० एन० बहादुरजी की श्री के० एफ० नरीमैन से संबंधित रिपोर्ट पर विचार किया। कार्य-कारिणी ने श्री एम० के० गांधी के पत्र पर और जाँच-कमेटी की रिपोर्ट के संबंध में श्री के० एफ० नरीमैन के बयानों पर भी विचार किया। रिपोर्ट की जांच के मुताबिक और इनकी मंजूरी और फिर इन्कारी से कमेटी इस नतीजे पर पहुँची है कि इनका बर्ताव ऐसा रहा है कि उसके कारण कांग्रेस संस्था में कोई दायित्व-पूर्ण पद ग्रहण करने के लिए वे अयोग्य हैं।

"ऐसी स्थिति में कांग्रेस कार्य-कारिणी रिपोर्ट और उसके साथ के पत्रों को प्रकाशित करने का निर्देश देती है।"

हरीपुरा अधिवेशन और १९३८ की घटनाओं पर आने से पहले स्वाधीनता दिवस के संबंध में यहां कुछ उल्लेख करना उचित होगा। सन् १९३० से ही इस दिवस को मनाया जा रहा था। स्वाधीनता की प्रतिज्ञा में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अधीन हिन्दुस्तान को जो नैतिक और भौतिक क्षति पहुँची थी, उसका कुछ विस्तृत उल्लेख था। हर साल इसको दुहराना अनावश्यक समझा गया। उसमें कुछ परिवर्तन किया गया और २६ जनवरी १९३८ के स्वाधीनता दिवस पर यह नई प्रतिज्ञा ली गई—

"हमारा विश्वास है कि और लोगों की तरह भारतीयों का इस बात के लिये जन्मजात अधिकार है कि उन्हें स्वतन्त्रता हो, वे अपने परिश्रम का फल भोग सकें, उन्हें जीवन की आवश्यकताएँ सुलभ हों ताकि उन्हें उन्नति के लिये पूरी तरह अवसर मिल सके। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार लोगों को इन अधिकारों से वंचित कर देती है और उन्हें दबाती है तो लोगों को उस सरकार को बदलने या मिटा देने का भी अधिकार है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता को उनकी स्वतन्त्रता से ही वंचित नहीं किया; बल्कि उसका आधार आम जनता के शोषण पर है। उसने हिन्दुस्तान को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बरबाद कर दिया है। इसलिये हमारा यह विश्वास है कि हिन्दुस्तान को ब्रिटिश संबंध तोड़ कर पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहिये।

"हम इस बात को मानते हैं कि स्वतंत्रता को पाने का सबसे ज्यादा कारगर तरीका हिंसा में नहीं है। हिन्दुस्तान ने शान्तिपूर्ण और उचित उपायों को काम में लाते हुए स्वराज्य की तरफ प्रगति की है और उसमें सुदृढ़ता और आत्म-निर्भरता आई है और इन्हीं उपायों को काम में लाते हुए हमारा देश स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा।

"हम भारत की स्वतन्त्रता के लिये फिर से प्रतिज्ञा करते हैं और इस बात का निश्चय करते हैं कि जब तक पूर्ण स्वराज्य प्राप्त नहीं होता हम स्वतन्त्रता के लिये अहिंसात्मक लड़ाई लड़ते रहेंगे।"

---

१ यहां इशारा बम्बई प्रान्त के झगड़े की ओर है। पूरा विवरण कांग्रेस के बुलेटिनों से मिल सकता है।

: ४ :

हरिपुरा अधिवेशन : १६३८

अगर कहा जाय कि पिछले दो वर्षों में राष्ट्रीय विचार-धारा में होने वाली हलचलें व तब-दीलियां इधर देश में स्थान पाने वाली समाजवादी व वर्गवादी विचार-धाराओं के परिणाम-स्वरूप थीं तो यह भी माना जा सकता है कि १६३८ में जो झगड़े उठ खड़े हुए, उनकी जड़ें पिछले कुछ वर्षों से कांग्रेस के भीतर चलते रहने वाले आपसी विरोधों में मौजूद थीं। सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व अब भी गाँधीजी का ही था। गोकि वे कांग्रेस के सदस्य न थे, फिर भी शक्ति का सूत्र उन्हीं के हाथों में था। रचनात्मक राष्ट्रीयता की विचारधारा के उद्गम भी वही थे। उस महान बांध के वही निर्माता थे, जो अभी तक हिंसा के ज्वार को सफलता-पूर्वक रोके हुए था। युवावर्ग अहिंसा की विचारधारा से होने वाली धीमी प्रगति के कारण उतावले हो रहे थे और दुर्गम खाइयों को फांदने और सीधी ऊँचाइयों तक पहुँचने के लिए निकट का मार्ग निकालने के लिए प्रयत्नशील थे। प्रान्तों में वज़ारतों के कायम होने से उनका यह स्वप्न यथार्थ न हो सका और न लोकप्रिय सरकारों द्वारा किसानों को ही मुक्ति मिल सकी। लोग अचरज करते थे कि अभी जमींदार पहले के ही समान बने हुए हैं, पुलिस के जुल्म में भी कोई कमी नहीं हुई है, किसानों का दुख-दर्द भी दूर करना बाकी है और बंगाल, बिहार व पंजाब में हिंसात्मक अपराधों के बन्दी अभी तक यातनाएँ भुगत रहे हैं। अण्डमान के बन्दियों ने अनशन कर रखा था और वे दिन-प्रति-दिन मृत्यु के निकट पहुँच रहे थे। इस अस्तव्यस्तता व अन्धकार के बीच प्रकाश की एक क्षीण किरण राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के पथ पर चलने वाले कांग्रेसजनों को राह दिखा रही थी। अण्डमान से बन्दियों ने आवाज़ उठाई कि स्वाधीनता-संग्राम के अस्त्र के रूप में हिंसा और आतंकवाद में उनका विश्वास अब नहीं रह गया। उन्होंने अपने ये विचार किसी भय अथवा आशा के कारण प्रकट नहीं किये थे, बल्कि इति-हास के सावधानी-पूर्वक अध्ययन व राजनैतिक विज्ञान के अनुशीलन के बाद ही वे इस परिणाम पर पहुँचे थे और उन्होंने अपने विचारों की सूचना गांधीजी तथा संसार को दे भी दी थी। स्वच्छ-न्दता-पूर्वक विचार प्रकट करने के कारण जो लोग जेलों में इतने दिनों से सड़ रहे थे उनकी संख्या अब भी एक हज़ार के लगभग थी और इन बंगालियों में सात स्त्रियाँ भी थीं। अण्डमान से वापस बुलाये गये ऐसे बन्दियों की संख्या कम न थी, जिनके कारावास का काल अभी काफी बाकी था और जिनके छोड़े जाने की भी कोई आशा न थी। बिहार के हजारीबाग जेल में १३ कैदियों ने अपने पंजाबी भाईयों का साथ देकर अनशन कर रखा था। चटगांव में २५,००० युवकों को अपने साथ परिचय-पत्र रखना जरूरी था, क्योंकि इन लोगों द्वारा हिंसा में अविश्वास प्रकट करने से बंगाल तथा सम्पूर्ण भारत से आतंकवाद का नाम-निशान मिटता था। कांग्रेस ने अनशन करने वालों से अनशन त्यागने का अनुरोध किया और साथ ही उन्हें यह विश्वास दिलाया कि बन्दियों की रिहाई के लिए हर प्रकार का प्रयत्न किया जायगा। अण्डमान से कैदियों की वापसी

तथा १,१०० बंगाली नज़रबन्दों की रिहाई के बाद हलचल में कुछ कमी हुई, क्योंकि ब्रिटिश सरकार इससे आगे बढ़ने को तैयार न थी; परन्तु २० देशभक्तों ने पंजाब में अनशन करके और उसे ३० दिन तक जारी रख कर वातावरण में सरगर्मी ला दी और राष्ट्र के अन्तःकरण में फिर से हलचल पैदा कर दी।

जहां एक तरफ जीवन-भर रक्त की होली खेलने वाले अहिंसा की तरफ आकर्षित हो रहे थे या कम-से-कम हिंसा से मुँह मोड़ते जा रहे थे वहां दूसरी तरफ असंख्य किसान सैकड़ों मील चलकर गांवों से आते थे और अपने संगठन अलग कायम करते थे। ये नये संगठन कम या अधिक मात्रा में कांग्रेस के विरुद्ध होते थे। इसके लिए उन्हें एक उद्देश्य, एक झंडा और एक नेता मिल गया। किसानों की हिमायत कोई नई बात न थी; लेकिन अब तक ऐसा कांग्रेस ही करती आई थी। इस बार उन्होंने लाल रंग का सोवियट झंडा अपनाया, जिसमें हंसिया और हथौड़ा के चिन्ह अङ्कित थे। किसानों और कम्यूनिस्टों में यह झण्डा अधिकाधिक चल पड़ा और पण्डित जवाहर लाल नेहरू के लगातार कहने-सुनने पर भी स्थिति में सुधार नहीं हुआ। झंडे की ऊँचाई व प्रमुखता के प्रश्न को लेकर प्रायः सभी जगह कांग्रेसजन व किसानों में झगड़े हुए और तिरंगे झण्डे का स्थान किसानों के झण्डे को देने का जो प्रयत्न हो रहा था वह दर-असल समाजवाद का गांधीवाद से संघर्ष था। वस्तुतः इस विचारधारा में समाजवाद से कहीं अधिक कम्यूनिज्म या वर्गवाद था, यहां तक कि कुछ प्रान्तों में समाजवादियों ने कम्यूनिस्टों का साथ देना शुरू कर दिया था और कुछ में वे राष्ट्रीयतावादियों में मिल गये थे। किसानों के नेताओं ने देहातों में दूर-दूर तक दौरे किये। इससे संदिग्ध व निष्क्रिय समाजवादियों की कलई खुल गई और प्रकट होगया कि पक्का समाजवादी कौन है और कौन नहीं। इस प्रकार इस दल की शक्ति और संगठन में वृद्धि हुई और वह कांग्रेस के मुकाबले पर डट गया। एक दुखद बात यह देखने में आई कि कई प्रान्तों में प्रान्तीय चुनावों के बीच व्यक्तिगत झगड़ों व संघर्षों का दौरदौरा रहा। इनमें कर्नाटक, बिहार, संयुक्त प्रान्त और उड़ीसा मुख्य थे। आंध्र व कुछ अन्य स्थानों में तो स्थिति इतनी खराब थी कि स्वयंसेवकों व साधारण कांग्रेसियों के अहिंसा में विश्वास के ही कारण विरोधी दलों की तरफ से हिंसा नहीं हुई।

हिंसा और अहिंसा के संघर्ष, जेलों में भूख-हड़ताल की पृष्ठभूमि और कांग्रेस मंत्रिमंडलों के प्रति असंतोष के इस वातावरण में कांग्रेस का इक्यावनवां अधिवेशन विट्ठलनगर, हरिपुरा में १९, २० और २१ फरवरी, १९३८ को श्री सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में हुआ। निस्संदेह उस समय हालत नाजुक थी।

हरिपुरा अधिवेशन के अध्यक्ष का चुनाव साधारण परिस्थिति में हुआ। सुभाष बाबू ने अधिवेशन आरम्भ होने से पूर्व अपनी नीति का स्पष्टीकरण निम्न शब्दों में किया—

"कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में मेरे कार्यकाल में संघ-योजना व उसकी अराष्ट्रीय व अलोकतंत्रीय विशेषताओं का विरोध किया जायगा। यह विरोध शान्तिपूर्ण व जायज़ उपायों द्वारा, जिनमें आवश्यकता पड़ने पर अहिंसात्मक असहयोग भी शामिल किया जा सकता है, किया जायगा। साथ ही योजना का सामना करने के लिए देश के संकल्प को दृढ़तर बनाने का भी प्रयत्न किया जायगा।"

श्री बोस ने कहा कि इस वर्ष भारत की जनता में वे ऐसी अवरोध-शक्ति का विकास करने की चेष्टा करेंगे, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार को राष्ट्र पर अवांछनीय योजना थोपने का

विचार त्यागने के लिए विवश किया जा सके। अपने इन प्रयत्नों के दौरान में भारत की जनता अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर दृष्टि रखेगी और ऐसी नीति से काम लेगी, जिसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति से पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके।

बोस बाबू ने अंग्रेज राजनीतिज्ञों को चेतावनी देते हुए कहा कि उन्हें इस भ्रम में न रहना चाहिए कि कांग्रेस ने विरोध करते हुए भी जिस तरह प्रान्तों में वज़ारतें कायम करना मंजूर कर लिया उसी तरह वह भारतीय शासन कानून के संघ-योजना वाले अंश को भी स्वीकार कर लेगी। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इन दोनों की तुलना करके गलती करेंगे।

श्री बोस ने आगे कहा कि कांग्रेस साम्प्रदायिक प्रश्न के निबटारे का प्रयत्न करते हुए राष्ट्र में एकता कायम करने पर ज़ोर देगी। वह राष्ट्रीयता की रक्षा करते हुए मुसलमानों से समझौता करने के लिए कोई भी प्रयत्न बाकी न छोड़ेगी।

सुभाष बाबू ने कहा कि कांग्रेस मुसलमानों से समझौता करने के लिए उत्सुक है, किन्तु खेद है कि मुसलमानों की तरफ से अभी तक कोई निश्चित मांग देश के आगे नहीं रखी गई। उन्होंने मुसलमानों को आश्वासन दिया कि यदि अल्पसंख्यक समान नीति का अनुसरण करने को तैयार हों तो कांग्रेस उनकी सभी उचित मांगें मान लेगी।

कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में कोई-न-कोई ऐसी बात होती है, जिसका विशेष महत्व होता है। इसी तरह अधिवेशनों में पास हुए प्रत्येक प्रस्ताव का भी महत्व होता है। हरिपुरा अधिवेशन के दिनों में मंत्रिमंडलों को एक विशेष संकट से गुजरना पड़ा। अभी मंत्रिमंडलों को कायम हुए सात महीने भी न हुए थे और उनके पैर भी न जमे थे कि प्रान्तीय गवर्नरों से उनका मतभेद हो गया। हरिपुरा में डेलीगेटों के शिविरों में अफवाह फैली हुई थी कि हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा पाये हुए राजनैतिक बंदियों के छुटकारे के प्रश्न को लेकर बिहार और संयुक्तप्रान्त के मंत्रिमंडल इस्तीफा दे चुके हैं। हरिपुरा अधिवेशन का सुप्रबंध, डेलीगेटों के लिए दूध मुहैय्या करने के लिए ४०० गायों का इंतजाम, सफाई, आतिथ्य-सत्कार—इन सब बातों की चर्चा बिहार, संयुक्तप्रान्त व उड़ीसा की घटनाओं के आगे गौण हो गई। साथ ही रियासतों व किसानों की समस्याएं भी कम दिलचस्प न थीं। कांग्रेस महासमिति ने १९३७ में अपने अक्टूबर के अधिवेशन में मैसूर के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किया था वह कांग्रेस द्वारा सदा से ग्रहण की गई नीति से कहीं आगे बढ़ गया था। प्रस्ताव में अपील की गई थी कि मैसूर की प्रजा अपने आत्म-निर्णय के अधिकार के लिए रियासती सरकार के विरुद्ध जो संघर्ष कर रही है उसमें रियासतों व ब्रिटिश भारत की प्रजा को सहायता करनी चाहिए। यही नहीं, उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम सभी तरफ रियासतों में पिछले दो वर्ष में जाग्रति की लहर फैल गई थी और कांग्रेस के वर्तमान अधिवेशन से पूर्व रियासती प्रजा कार्यकर्ता सम्मेलन नवसारी में हो चुका था। अब महसूस किया जाने लगा था कि कार्यसमिति के प्रस्तावों के मसविदों में कुछ रद्दोबदल होनी चाहिए। इसके अलावा, किसान नये जोश में आकर ऐसे कार्य कर रहे थे, जो कांग्रेस के आधार-भूत सिद्धान्तों के खिलाफ़ थे और जिनकी जिम्मेदारी वह नहीं ले सकती थी। साथ ही कांग्रेस उन कांग्रेसजनों की कारगुजारियों को नजरंदाज नहीं कर सकती थी, जो किसान सभाओं के सदस्यों के रूप में कांग्रेस के सिद्धान्तों व नीति के विरुद्ध वातावरण तैयार कर रहे थे।

अल्पसंख्यकों की समस्या के सम्बन्ध में भी कुछ सनसनी फैली हुई थी। २८ दिसम्बर, १९३७ को मोहम्मदअली पार्क, कलकत्ता में मुस्लिम विद्यार्थी संघ के सम्मेलन में भाषण देते

हुए श्री जिन्ना ने कांग्रेस को चुनौती देते हुए कहा था कि "कांग्रेस हाईकमांड का दिमाग ठीक करना पड़ेगा।" इसके अलावा नज़रबन्दों व अनशनकारियों का मामला पड़ा हुआ था, जिसके निबटारे के लिए गांधीजी हरिपुरा अधिवेशन के बाद बंगाल जाने वाले थे। अधिवेशन की कार्रवाही की चर्चा उठाने से पहले दो बातों का जिक्र कर देना अनुचित न होगा। कांग्रेस का अधिवेशन गुजरात में हुआ था, इसलिए सभी सूचनाओं, साइनबोर्डों तथा पोस्टरों में प्रान्तीय भाषा को महत्व मिलना लाजिमी था। इसके अलावा राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी को भी, जिसकी देवनागरी व उर्दू दोनों ही लिपियों को स्वीकृति मिल चुकी थी, सूचनाओं, साइनबोर्डों व पोस्टरों में बराबरी का स्थान मिलना उचित ही था। हरिपुरा में यह हुआ कि गुजराती के साथ देवनागरी व अंग्रेजी तो देखने में आई, पर उर्दू लिपि का अभाव रहा और इस बात की शिकायत हुई। पाठक कहेंगे कि यह तो कोई उल्लेखनीय बात नहीं है, किन्तु वास्तव में यह बात महत्व की है। बात यह थी कि उर्दू पत्रों में इस अभाव की चर्चा हुई; पर यह शिकायत अनुचित थी, क्योंकि सभी मुख्य स्थानों पर उर्दू में पोस्टर मौजूद थे। एक शिकायत मांसाहारी भोजन के अभाव के सम्बन्ध में थी, किन्तु वास्तव में हरिपुरा में ऐसे होटल थे, जो मांसाहार देते थे।

दूसरी बात यह कि हरिपुरा का अधिवेशन ही पहला अधिवेशन था, जिसमें स्वागत समिति ने हाथ से बने कागज से काम चलाया था। कांग्रेस के इतिहास में सचमुच यह गौरव का दिन था कि अ० भा० ग्रामोद्योग-संघ को, जिसकी स्थापना १९३४ के बम्बई अधिवेशन में हुई थी, इतनी मान्यता मिली कि स्वागत-समिति ने अपने सभी कामों में हाथ से बने कागज का प्रयोग किया। हरिपुरा में रचनात्मक कार्यक्रम की एक और कमी दूर हुई और अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा संघ की स्थापना हुई।

हर साल देश के लिए अपने किसी-न-किसी महान पुरुष या स्त्री के लिए शोक मनाना एक बड़ी दुखद बात है, किन्तु यह अनिवार्य है। हरिपुरा में कांग्रेस को स्वर्गीय पण्डित मोतीलालजी की पत्नी श्रीमती स्वरूपरानी के देहावसान का शोक मनाना पड़ा। इस तरह नेहरू-परिवार के तीन सदस्य राष्ट्र की सेवा के लिए अपनी बलि चढ़ा चुके थे और श्रीमती स्वरूपरानी के इकलौते पुत्र जवाहरलालजी कांग्रेस की अध्यक्षता का तीसरा कार्यकाल हाल ही में समाप्त कर चुके थे। अपने पिछले कार्यकाल में उन्होंने भारत के प्रायः सभी प्रान्तों और बर्मा तथा मलाया का दौरा किया था। अध्यक्षता का भार छोड़ने से कुछ ही दिन पहले उन्होंने आसाम का दौरा किया था और निजी तौर पर, तथा कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन के भी द्वारा उस नागा वीरांगना गुइडालो की रिहाई की मांग उपस्थित की थी, जिसने १९३२ से सुदूर आसाम के जंगलों में स्वाधीनता का झण्डा उठा रखा था और जो उस समय से लगभग ६ वर्ष का कारावास भुगत चुकी थी। पंडितजी ने कठिन परिश्रम के बाद कार्यभार अपने से कम उम्र के व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि निश्चय ही कांग्रेस के सब से कम उम्र वाले अध्यक्ष के सुपुर्द किया था। सुभाष बाबू एक लम्बी बीमारी से उठे थे। वह एक ऐसे प्रान्त के युवक थे, जिसके नौजवानों तथा देशभक्तों ने देश के इतिहास में सबसे अधिक कष्ट सहा है, मुल्क की सांस्कृतिक उन्नति में सबसे अधिक हाथ बटाया है और भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए सबसे अधिक यातनाएँ सही हैं। मिदनापुर जिला सुभाष बाबू को सदा से विशेष प्रिय रहा है और प्रान्त में इसी को वहां के गैरकांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने दमन जारी रखने के लिए चुना था। हरिपुरा अधिवेशन ने जिले की ११० कांग्रेसी संस्थाओं पर लगे प्रतिबन्ध का विरोध किया और बंगाल सरकार के इस तर्क का कड़े शब्दों में प्रतिवाद किया कि

वहां की कांग्रेस समितियां आतंकवादी संगठन की अंग रही हैं।

कांग्रेस के प्रायः सभी अधिवेशनों में प्रवासी भारतीयों का प्रश्न उठाया जाता है। हरिपुरा में भी दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका (जिसमें केनिया, युगांडा, टांगानिका व जंजीबार भी सम्मिलित हैं) तथा मारीशस और फिजी के प्रवासी भारतीयों के पद, स्थिति और अधिकारों में अवनति पर भय प्रकट किया गया। जंजीबार में लौंग के व्यापारियों द्वारा एकाधिकारपूर्ण संस्था (क्लोव ग्रोअर्स असोसियेशन) की स्थापना, टांगानिका में आदिवासी उत्पादन (नेटिव प्रोड्यूस) बिल, पूर्वी अफ्रीका की यातायात-सम्बन्धी नई योजनाएँ, केनिया में उच्च भूमि का श्वेत जाति के लिए संरक्षण आदि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नई आर्थिक नीति के सूचक थे। केनिया में बहुत दिनों से उच्च भूमि में भारतीयों को आने से रोकने और वहां किसी भी देश के यूरोपियन को बसने देने की परम्परा चली आई थी। यह भारतीयों के अधिकार पर अपमानजनक कुठाराघात था। अब इस अन्यायपूर्ण परम्परा को श्वेत उच्च भूमि की सीमाएं निर्धारित करके कानूनी रूप दिया जा रहा था और यह कार्रवाई भारत सरकार की १९२३ वाली घोषणा के विरुद्ध थी।

दक्षिण व पूर्वी अफ्रीका के मूल निवासियों के प्रति अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कांग्रेस ने कहा कि भारतीय प्रवासियों की मांग अफ्रीका के मूल निवासियों के प्रति शत्रुता की भावना से प्रेरित होकर नहीं की गई है; बल्कि उसका उद्देश्य अफ्रीकावासियों और भारतीयों दोनों ही को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण से बचाना है। जंजीबार में भारतीयों ने लौंग के व्यापार का सफल और संतोषजनक बहिष्कार किया, जिसके परिणामस्वरूप प्रश्न के निबटारे में अधिक समय नहीं लगा। पूर्व में ऐसा ही पाशविक साम्राज्यवाद चीन में अपना सिर उठा रहा था और आतंक तथा भय की सृष्टि कर रहा था। इसके कारण संसार की शान्ति तथा एशिया की स्वाधीनता के लिए खतरा पैदा हो गया था। चीन के प्रति भारतीयों की सहानुभूति इस सीमा तक बढ़ी कि भारत में जापानी माल के बहिष्कार तक का निश्चय किया गया। पश्चिम में फिलस्तीन के बटवारे का षड्यन्त्र रचा जा रहा था। फिलस्तीन में आतंक का साम्राज्य था और कांग्रेस की इच्छा सिर्फ यही थी कि किसी तरह वहां के मतभेदों का निबटारा हो जाय। उधर दक्षिण में भारत को लंका में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। लंका सरकार भारतीयों के विरुद्ध एक ऐसा कानून बनाने जा रही थी, जिससे एक तरफ तो स्थानीय शासन में भारतीयों से वोट देने का अधिकार छीना जा रहा था और दूसरी तरफ भारतीयों को उनके नागरिक अधिकारों से वंचित किया जा रहा था। जहां तक जनता का ताल्लुक है, कांग्रेस की नजर में लंका और भारत में कोई भेद न था।

परन्तु हरिपुरा अधिवेशन के समय संसार में विनाशकारी युद्ध के जो बादल छाये हुए थे उनकी तुलना में इन सबका अधिक महत्व न था। युद्ध तथा विदेशी सम्बन्धों के बारे में भारतीय राष्ट्र की नीति स्पष्ट थी और हरिपुरा अधिवेशन में उसे और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया।

"कार्य समिति ऐसी कम्पनियों की संख्या में वृद्धि को बड़ी चिन्ता की नजर से देखती है, जिनके मालिक विदेशी हैं और वही उनका संचालन भी करते हैं, किन्तु इन कम्पनियों ने अपने नाम के साथ "इण्डिया लिमिटेड" या इसी तरह के दूसरे शब्द इस उद्देश्य या आशा से जोड़ रखे हैं कि उन्हें वास्तविक भारतीय संस्था ही माना जाय। ऐसी कम्पनियों के कायम होने से भारत को उस भेदभावपूर्ण संरक्षण नीति का लाभ नहीं रह जाता, जिसका अनुसरण भारत सरकार भारतीय उद्योगों की उन्नति के लिए करती रही है।

"कांग्रेस नये विधान का विरोध सिर्फ इसीलिए नहीं करती रही कि उसमें राजनैतिक

स्वतन्त्रता का अभाव है, बल्कि इसलिए भी कि विधान कानून में ऐसी धाराएं रखी गई हैं, जिन्हें भेदभाव के विरुद्ध संरक्षण कहा जाता है। कार्यसमिति का मत है कि ये धाराएं भारत के हित में नहीं हैं और उनका उद्देश्य विदेशी नागरिकों और खासकर ब्रिटिश पूंजीपतियों को इस देश के साधन तथा प्राकृतिक सम्पत्ति के शोषण के लिए बनाये रखना है। कार्य समिति का मत है कि भारत के हितों की रक्षा के लिए जहां और जब भी आवश्यकता हो, वहां और तभी भारत को अराष्ट्रीय हितों के विरुद्ध भेदभाव के व्यवहार का अधिकार है।

"जहां भारत में पूंजी या विशेषज्ञों की कमी का अनुभव किया जाय वहां विदेशी पूंजी या विदेशी विशेषज्ञ उपयोग करने पर कार्य समिति को कोई आपत्ति नहीं है, बशर्ते कि भारत को उनकी आवश्यकता हो और कि यह पूंजी और ये विशेषज्ञ भारतीयों के नियन्त्रण और प्रबन्ध में रहे और उनका उपयोग भी भारत के हित में किया जाय।

"कार्यसमिति का मत है और वह घोषणा करती है कि किसी भी ऐसी संस्था को स्वदेशी नहीं कहा जा सकता, जिसका नियन्त्रण, प्रबन्ध व संचालन भारतीयों के हाथ में न हो। यदि भारतीय उद्योगों के वर्तमान विस्तार के परिणामस्वरूप विदेशी औद्योगिक संस्थाओं की इस देश के प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए भरमार हो जाती हो तो कार्यसमिति औद्योगिक उन्नति मुलतवी करना ही उचित समझेगी। कार्यसमिति यह आवश्यक समझती है कि भारत के प्राकृतिक साधनों की उन्नति ऐसे व्यवसायों द्वारा ही हो सकती है, जो भारतीयों के नियन्त्रण, सचालन और प्रबन्ध में रहें और उसके मत से भारत की आर्थिक स्वाधीनता के विकास के लिए भी यह आवश्यक है।"

संसार की इस उथल-पुथल तथा हलचलों के बीच कांग्रेस को हरिपुरा में अपनी अन्दरूनी कठिनाइयों व हलचलों का सामना करना पड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि प्रांतीय स्वायत्त शासन योजना पर संघर्ष की भावना से अमल किया जा रहा था और इसी के मध्य कितने ही झगड़े ऊपर भी आगये और हरिपुरा में इनका निबटारा होना था। अभी केन्द्रीय सरकार अपने उसी निरंकुश और वैयक्तिक रूप में वर्तमान थी, जिसमें वह पिछले १०० साल से चली आ रही थी। वह न तो जिम्मेदार ही थी और न लोकमत का उस पर कुछ प्रभाव ही पड़ता था। शासन संघ की जो इमारत खड़ी की जा रही थी, उसके सिद्धांत पर कांग्रेस या जनता को कोई आपत्ति न थी, किन्तु भारतीय स्वाधीनता पर आधारित न होने के कारण उसे सदा के लिए अस्वीकार कर दिया गया था। कांग्रेस को विश्वास था कि देश की जनता विधान परिषद् के द्वारा अपना विधान विदेशी हस्तक्षेप के बिना ही बना सकती है। चूंकि कांग्रेस प्रांतीय स्वायत्त शासन योजना को अमल में ला रही थी, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता था कि वह संघ योजना को भी कार्यान्वित करेगी, क्योंकि संघ योजना के दायरे से शासन के कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों को छोड़ दिया गया था। साथ ही यह सिर्फ जिम्मेदारी का भी सवाल न था, क्योंकि किसी शासन संघ में प्रायः समान स्वतन्त्रता और समान मात्रा में प्रजातन्त्रीय शासन व नागरिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाले प्रदेश सम्मिलित होने चाहिएं। आवश्यकता इस बात की थी कि प्रतिनिधिक संस्थाओं तथा उत्तरदायी सरकारों की स्थापना, नागरिक स्वतंत्रता कायम करने तथा संघ-व्यवस्थापिका सभा में चुनाव के विषय में रियासतों को भी प्रान्तों की बराबरी के दर्जे पर लाया जाता। सिर्फ इसी तरीके से पृथक्करण की प्रवृत्तियों तथा रियासतों के बाहरी और भीतरी संघर्षों में पड़ने से बचा जा सकता था। ऐसी परिस्थिति में जनता की प्रकट की हुई इच्छा के विरुद्ध संघ-योजना जारी

जाने के प्रयत्नों का सामना करने के अलावा कांग्रेस के पास और कोई उपाय नहीं रह गया था।

संघ-योजना से अल्पसंख्यकों के अधिकारों तथा रियासतों के प्रश्नों का भी सम्बन्ध था। पिछले वर्ष में अल्पसंख्यक समुदायों के अधिकाधिक सदस्य कांग्रेस में सम्मिलित होकर स्वाधीनता के संग्राम तथा जनसाधारण के शोषण को समाप्त करने का समर्थन कर चुके थे। कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की स्थापना से कांग्रेस की सदस्यता में वृद्धि हुई थी और एक विशेषता यह भी देखने में आ रही थी कि इन नये सदस्यों में अल्पसंख्यक समुदायों का अनुपात बढ़ता जा रहा था। १९३७ में कांग्रेस, कार्यसमिति द्वारा कलकत्ता में अल्पसंख्यकों के अधिकारों के सम्बन्ध में अपनी नीति निर्धारित कर चुकी थी। भारतीय अल्पसंख्यकों के धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषा-सम्बन्धी व अन्य अधिकारों की रक्षा करना कांग्रेस अपना पवित्र कर्तव्य और आधारभूत नीति समझती थी, ताकि कांग्रेस जिस किसी भी शासन-योजना को स्वीकार करे उसके अमल में आने पर देश के राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन में अल्पसंख्यकों को उचित हिस्सा मिल सके और वे अपनी उन्नति समुचित रूप से कर सकें। परन्तु जहां तक व्यावहारिक परिणाम का सम्बन्ध है, राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता के समय हुई बातचीत व पत्र-व्यवहार से कोई ठोस लाभ नहीं हुआ था। हिन्दू-मुसलिम समझौते के प्रयत्नों पर विस्तार से प्रकाश डालने के लिए एक अलग अध्याय या पुस्तक लिखी जा सकती है।

अब रियासतों का प्रश्न आता है, जिनका हरिपुरा कांग्रेस में विशेष महत्व था। पाठकों को स्मरण होगा कि कांग्रेस के एक वर्ग का गांधीजी से तथा रियासतों की जाग्रति के प्रति कांग्रेस की नीति से मतभेद था। गांधीजी ने १९३४ में ही ४ अप्रैल को एक वक्तव्य में समाजवाद तथा रियासतों और कांग्रेस के विधान के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर दिये थे और खासकर उन बातों पर प्रकाश डाला था, जिनके बारे में उनका कांग्रेस के एक दल से मतभेद था। यह कठिनाई कुछ तो इस कारण हुई कि रियासतों की जनता आन्दोलन चलाने के लिए बाहरी सहायता चाहती थी। रियासती प्रजा ने समितियों का संगठन किया और १९३६ के जुलाई महीने में कराची में उन्होंने अपना एक अखिलभारतीय सम्मेलन किया। कांग्रेस ने अपने लिए जो रास्ता ग्रहण किया था उस पर रियासती प्रजा के आगे बढ़ने का यह पहला कदम था। कितनी ही रियासतों में संस्थाएं कायम हुई और उनका सम्बन्ध अखिलभारतीय संगठन से कायम कर दिया गया। परन्तु कुछ रियासतों के प्रजामंडलों ने कांग्रेस तो दूर, रियासती प्रजा के अखिलभारतीय संगठन तक से अपना सम्बन्ध कायम नहीं किया। वास्तव में रियासती प्रजा उस समय कठिनाई में थी। कांग्रेस के प्रति उसका विश्वास वास्तविक तथा पूर्ण था; परन्तु रियासती प्रजा को अपने यहां की सरकारों से सुलझना था, जो कांग्रेस के संगठन से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को बुरा समझती थीं। कुछ नरेशों को प्रजा-मंडल बनाने पर भी आपत्ति थी। गोकि १९२१ तक कांग्रेस के विधान में रियासतों में कांग्रेस समितियां संगठित करने की अनुमति न थी, किन्तु १९२८ के कलकत्ता अधिवेशन से एक नये अध्याय की शुरूआत हुई।

रियासती प्रजा अपनी कलकत्ते की सफलता से प्रोत्साहित होकर और आगे बढ़ने की कोशिश करने लगी। वह चाहती थी कि कांग्रेस उसका भी भार वहन करे या कम-से-कम उसके संगठन का ही दायित्व ग्रहण कर ले। उधर कांग्रेस के सामने कुछ और ही कठिनाइयां थीं। यदि किसी रियासत में बाहर की कांग्रेस समितियों का सदस्य बनने पर रोक थी तो यह उस व्यक्ति और उस रियासत का निजी मामला था, किन्तु यदि नियमित रूप से कांग्रेस-समितियां संगठित

की जातीं और उनका सम्बन्ध भारतीय राष्ट्रीय महासभा से स्थापित किया जाता और ये समितियां कांग्रेस का विधान मानतीं, उसके आदेशों पर चलतीं और प्रस्तावों पर अमल करतीं तो इन समितियों और रियासती सरकारों के झगड़े स्वयं कांग्रेस के झगड़े बन जाते। इस प्रकार कांग्रेस ५६२ रियासतों के झगड़ों में फंस जाती और यह कांग्रेस की व्यावहारिक राजनीति के बाहर की बात थी। हरिपुरा में प्रश्न यही उठा कि रियासतों में कांग्रेस समितियां स्थापित करने की अनुमति दी जाय या नहीं और भारत के सूबों में कांग्रेस के जिस विधान के अनुसार कार्य हो रहा था उसे रियासतों की प्रजा पर लागू होने दिया जाय या नहीं। हरिपुरा अधिवेशन से कुछ पहले नवसारी में रियासती प्रजा का सम्मेलन हुआ था, जिसमें इस कठिनाई का एक सरल मार्ग निकालने की चेष्टा की गई थी। मार्ग यह था कि कांग्रेस के विधान की पहली धारा में जहां 'हिन्दुस्तान' का शब्द आया है, वहां उसके स्थान पर 'हिन्दुस्तान की जनता' के शब्द कर दिये जायं, ताकि रियासतों की प्रजा भी शामिल की जा सके। रियासतों की प्रजा के प्रति अपनी सहानुभूति का सच्चा सबूत देने और उन्हें यह विश्वास दिलाने के लिए कि आगे भी कांग्रेस उसकी सहायता करेगी, अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी की एक उप-समिति नियुक्त करने का सुझाव पेश किया गया, जो रियासती प्रजा की दशा—विशेषकर रियासतों में नागरिक स्वाधीनता, वैधानिक उन्नति, कृषि-सम्बन्धी अवस्था, व्यापार में राज्य के एकाधिकार के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करेगी और कांग्रेस के अगले अधिवेशन में अपनी रिपोर्ट पेश करेगी। पाठकों को स्मरण होगा, अक्टूबर १९३७ में कलकत्ता के अधिवेशन में मैसूर के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ था उससे गांधीजी सहमत नहीं थे और उन्होंने उसकी कड़ी आलोचना भी की थी और पंडित जवाहरलाल भी उससे खुश न थे, गोकि अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने उसे पेश करने की अनुमति दे दी थी और उन्हीं की अध्यक्षता में वह प्रस्ताव पास हुआ था। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि जवाहरलालजी उससे सहमत थे। पण्डितजी ने हरिपुरा में कहा था—"कलकत्ता में अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने जो प्रस्ताव आया था उसे मैं निजी तौर पर पसन्द नहीं करता था। यह बात नहीं कि मैसूर के दमन की जो निन्दा की गई थी, उस पर मुझे कुछ आपत्ति हो, बल्कि मैं तो तहेदिल से उसकी ताईद ही करता था, किन्तु मेरा खयाल तो सिर्फ यही था कि ऐसे समय जबकि देश को बड़े-बड़े सवालों का सामना करना पड़ रहा हो और उसे किसी आने वाले संकट से सामना करने की तैयारी करनी पड़ रही हो—यह उचित था कि अपने प्रस्ताव की ध्वनि में हम कुछ नर्मी ला सकते और जहां तक कांग्रेस के नाम को काम में लाने का सवाल है, अपने कार्यों में भी कुछ कमी कर सकते, ताकि सिर्फ ब्रिटिश भारत में ही नहीं, बल्कि रियासतों में भी कार्य के लिए भूमि तैयार हो सके।" पण्डितजीने आगे कहा—"आज सारे हिन्दुस्तान में, जिसमें रियासतें भी शामिल हैं, एक उल्लेखनीय जाग्रति फैल रही है। हमें इस जाग्रति को आगे बढ़ने का अवसर देना चाहिए और अपने को संगठित करना चाहिए।" हरिपुरा में कांग्रेस-कार्यसमिति के प्रस्ताव के मसविदे का सबसे विवादास्पद भाग वह था, जिसमें रियासतों में कांग्रेस-समितियां संगठित करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। मैसूर में जो सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ा हुआ था उसे देखते हुए अनुभव किया जा रहा था कि ऐसे समय जबकि कांग्रेस देश के अन्य भागों में दूसरी ही नीति का अनुसरण कर रही थी वह मैसूर के सत्याग्रह में अपने को नहीं फँसा सकती; क्योंकि देश के अन्य भागों पर ऐसा करनेका प्रभाव पड़ता। यह भी कहा गया कि जहां तक सत्याग्रह का सम्बन्ध है, कांग्रेस सहायता करने में

असमर्थ है, किन्तु रचनात्मक कार्य के क्षेत्र में रियासती प्रजा उन अखिलभारतीय संगठनों से लाभ उठा सकती है, जो कांग्रेस से सम्बन्ध रखते हुए भी स्वतन्त्र रूप से अपना काम कर रहे हैं। इसलिए रियासत की समितियों द्वारा कांग्रेस के नाम के प्रयोग से उनके कार्य में निश्चय ही बाधा पड़ेगी, यकीनन समय आने पर कांग्रेस अपने निर्णय पर फिर विचार करेगी; किन्तु अभी तो रियासतों की जनता को अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करना चाहिए। रियासती प्रजा सम्मेलन की तरफ से इस विचारधारा का जोरदार शब्दों में विरोध किया गया। मैसूर ने ब्रिटिश भारत के दूसरे किसी भी प्रांत की तरह सत्याग्रह आन्दोलन जारी करने की अनुमति ही मांगी थी। गोकि सर्वसाधारण से सम्पर्क बढ़ाने की कांग्रेस की नीति सभी को ज्ञात थी, फिर भी कार्यसमिति के मसविदे पर सभी को आश्चर्य हुआ। प्रतिबन्ध सिर्फ रियासतों की समितियों पर ही नहीं लगाया गया, क्योंकि रियासतों और प्रान्तों में अच्छी-बुरी कितनी ही समितियां थीं। हिन्दुस्तान के काफले को एक साथ ही आगे बढ़ना चाहिए। देश की ५६२ रियासतों को अल्स्टरों के रूप में नहीं छोड़ा जा सकता था, कार्य-समिति ने रियासतों में पृथक् संगठन कायम करने की जो सलाह दी थी उसका क्या स्वार्थी लोग गलत मतलब न लगायेंगे और क्या शीघ्र ही रियासतों में दल विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाली समितियों व साम्प्रदायिक संस्थाओं की भरमार न हो जायगी? भारत को ठीक रास्ता सिर्फ भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के नेतृत्व में ही मिल सकता था। सभी राष्ट्रीय शक्तियों की उद्गम यही तो थी। जब तक कि रियासतों में कांग्रेस की चेतना नहीं भरी जाती तब तक साम्प्रदायिकता का बोलबाला रहेगा। अंत में एक बीच का रास्ता निकाला गया। इसके अनुसार जहां एक तरफ रियासतों में कांग्रेस समितियां स्थापित करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया वहां दूसरी तरफ प्रस्ताव के मसविदे के पांचवे अनुच्छेद के अन्तिम वाक्य के स्थान पर निम्न शब्दों को जोड़ दिया गया—

"इसलिए कांग्रेस आदेश देती है कि रियासतों की कांग्रेस समितियां कार्यसमिति के निर्देशन तथा नियन्त्रण में रहकर कार्य करें और अभी कांग्रेस के नाम पर या उसकी तरफ से किसी पार्लामेंटरी कार्य या प्रत्यक्ष कार्रवाई में भाग न लें। रियासतों की कोई भीतरी लड़ाई कांग्रेस के नाम पर न लड़ी जानी चाहिए। इसके अलावा, कांग्रेस-समितियों के संगठन का कार्य आरम्भ किया जा सकता है और जहां समितियां पहले ही से चल रही हों वहां उनके काम को जारी रखा जा सकता है।"

मामला यहीं खत्म नहीं हुआ। खुले अधिवेशन में रियासती प्रजा संगठन से बाहर के कुछ लोगों ने इस समझौते से आगे बढ़ने का प्रयत्न किया। परन्तु रियासती प्रजापरिषद् के प्रतिनिधियों ने कड़ाई से इस प्रयत्न को दबा दिया और उपर्युक्त समझौता स्वीकार कर लिया गया। कहा जा सकता है कि इस दिन से रियासती प्रजा के कार्यकर्त्ताओं व कांग्रेस के मध्य अधिक विचार-साम्य दिखाई देने लगा। दोनों के बीच निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया। दो ट्रेनें अलग-अलग जा रही थीं—उन्हें मिला कर एक ही ट्रेन का वर्तमान रूप दे दिया गया और संचालन का दायित्व गांधीजी के हाथ में सौंप दिया गया। रियासतों के मामले में गांधीजी ही प्रधान सलाहकार थे। ईस्टर्न एजेंसी की रियासतों में दमन का चक्र अभूतपूर्व तेजी से घुमाया गया और प्रतिक्रियापूर्ण तरीकों से काम लिया, जिसके परिणामस्वरूप जनता में हिंसा की ज्वाला उभर पड़ी और रियासतों के असिस्टेंट एजेंट मि० बजलेगाट की हत्या कर दी

गई। इसके बाद दूर-दूर तक आतंक फैल गया और २०००० रियासती प्रजा अपना घरबार छोड़ कर ब्रिटिश भारत में चली आई। मैसूर की प्रगतिशील रियासत में विदुर अश्वथा की दुर्घटना हुई, जिसमें १० व्यक्ति गोलीके शिकार बने और इससे दुगने व्यक्ति घायल हुए। इसके अलावा और भी कई गोलीकांड वहां हुए। राजकोट में सत्याग्रही सेना वहां के नरेश को अपने वायदों की याद दिलाने और यह बताने गई कि उनका पूरा किया जाना आवश्यक है। राजपूताना व मध्यभारत की रियासतों, जैसे जयपुर में प्रजामण्डल के कार्य पर रोक थी और अकाल पीड़ितों के सेवा-कार्य पर भी आपत्ति की जाती थी। उत्तरी भारत में पंजाब की रियासतों तथा काश्मीर में सत्याग्रहियों को सैकड़ों व हजारों की संख्या में जेलों में ठूंस दिया गया था। इन सभी मामलों में लोगों की आंखें गांधीजी की ही तरफ उठती थीं। इतना ही नहीं, पंडित जवाहरलाल नेहरू ने फरवरी १९३९ में अखिल भारतीय देशीराज्य प्रजा परिषद् के लुधियाने वाले जलसे की अध्यक्षता मन्जूर की और प्रांतों व रियासतों की राजनीति में अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित किया और इस प्रकार असन्तोष व मतभेद के एक बहुत बड़े कारण को दूर किया गया।

हरिपुरा अधिवेशन का विवरण देते हुए हमने रियासती प्रजा की समस्या की चर्चा कुछ अधिक विस्तार से इसलिए की है, क्योंकि हरिपुरा में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ था। ऐसी अवस्था में घटनाओं का सिंहावलोकन आवश्यक ही था।

प्रायः उतनी ही हलचल उत्पन्न करने वाला किसान आंदोलन था। आरम्भ के अध्यायों में हम इसकी एक झलक दे चुके हैं कि उस आंदोलन से क्या और कितनी पेचीदगियां उठ रही थीं। हरिपुरा में स्थिति के स्पष्टीकरण व कांग्रेस के रुख को बताने का अवसर आया। देश में विभिन्न पेशों व स्वार्थों के संगठन कायम होने पर कांग्रेस को कभी भी आपत्ति न थी और फिर किसान तो देश की जनता के तीन-चौथाई भाग थे, वास्तव में कांग्रेस के सदस्यों में किसानों की संख्या ही अधिक रही है। अब तक कांग्रेस किसानों की सभाओं के रूप में संगठित होने के अधिकार को मानती थी; परन्तु किसानों के लिए सिर्फ खेती-सम्बन्धी मामलों में सहायता पहुंचाना ही काफी न था। भारत की स्वाधीनता का व्यापक प्रश्न भी था, जो सर्वसाधारण की शोषण से मुक्ति पर आधारित होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सिर्फ यही आवश्यक न था कि किसान अपना संगठन करते, बल्कि यह भी कि वे बहुत भारी संख्या में कांग्रेस में सम्मिलित होते और उसके झंडे के नीचे एकत्र होकर, स्वाधीनता संग्राम के लिए संगठित होते। इसके विपरीत, किसानों ने कितनी ही जगह लाल झण्डा फहराने और कांग्रेस के प्रति विरोध का रुख धारण करने का निश्चय किया और वह भी इसलिए नहीं कि उनका कांग्रेस के लक्ष्य से कुछ मतभेद था, बल्कि इसलिए कि कांग्रेस में रह कर उनके निजी स्वार्थों की सिद्धि में बहुत देर लग रही थी। इस जल्दबाजी के कारण किसानों ने, जो कांग्रेस-जन भी थे, कुछ ऐसे कार्यों में सहयोग किया, जो स्पष्टतः कांग्रेस के आधारभूत सिद्धांतों के विरुद्ध थे और इस प्रकार कांग्रेस की नीति व सिद्धांतों के विरुद्ध वातावरण तैयार करने में सहायक हुए। हरिपुरा अधिवेशन ने प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों को इन तथ्यों को ध्यान में रखने और उपयुक्त कारवाई करने का जो आदेश दिया था, इसका यही मतलब था कि कांग्रेस कार्यसमिति के धैर्य और सहनशक्ति का खात्मा हो चुका था।

हम कह चुके हैं कि हरिपुरा में भारत को कितनी ही भीतरी व बाहरी समस्याओं का सामना करना पड़ा। विदेशी समस्याएं बहुसंख्यक व पेचीदा थीं और उनके स्वरूप पर अध्याय

के आरम्भ में ही प्रकाश डाला जा चुका है। देश के भीतर सब से विषम समस्या नये विधान को अमल में लाने के सम्बन्ध में एक झगड़े के कारण उठ खड़ी हुई थी। हरिपुरा अधिवेशन तक नई प्रांतीय सरकारें आठ महीने के लगभग कार्य कर चुकी थीं और बिहार व संयुक्तप्रांत में कुछ नये झगड़े उठ खड़े हुए थे, जिसका इशारा अध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है। इन झगड़ों के मूल कारणों को समझने के लिए कांग्रेस के पद-ग्रहण से पहले की कुछ बातों को ध्यान में रखना उचित होगा। इन बातों पर कांग्रेस के प्रस्ताव में अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है। नीचे किसान सभाओं तथा मन्त्रिमण्डलों के इस्तीफे सम्बन्धी दोनों प्रस्तावों को देना अप्रासंगिक न होगा। किसान सभाओं सम्बन्धी प्रस्ताव इस प्रकार है—

"इस ख़याल से कि हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में किसान-सभाओं और दूसरे संगठनों के बारे में कुछ कठिनाइयां पेश हो गई हैं, कांग्रेस उनके सम्बन्ध में अपना रुख़ और अपनी स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहती है। कांग्रेस किसानों के इस हक़ को पहले ही मंजूर कर चुकी है कि वे अपने आपको किसान सभाओं में संगठित कर सकते हैं। लेकिन इस बात को भी न भुला देना चाहिए कि खुद कांग्रेस भी मुख्यतः किसानों की ही जमात है और चूँकि जनता के साथ उसका सम्पर्क बहुत बढ़ गया है किसानों ने बहुत बड़ी तादाद में उसमें प्रवेश किया है और उसकी नीति को प्रभावित किया है। कांग्रेस जैसा कि चाहिए भी दरअसल किसानों की ही तरफ़दार रही है और उसने किसानों के ही पक्ष का समर्थन किया है। कांग्रेस ने जिस आज़ादी के लिये काम किया है उसका अर्थ ही हमारे सब देशवासियों को शोषण से मुक्त करना है। इस आज़ादी को हासिल करने के लिए और किसानों को ताक़त देने और उनकी मांगों को पूरा करने के लिए यह ज़रूरी है कि कांग्रेस को ही सबल बनाया जाय और किसानों को ज़्यादा से-ज़्यादा तादाद में उसके सदस्य बनने के लिए उत्साहित किया जाय और कांग्रेस के झंडे के नीचे ही उन्हें आन्दोलन के लिए संगठित किया जाय। इस प्रकार हरेक कांग्रेसवादी का कर्तव्य है कि वह हिन्दुस्तान के गांव-गांव में कांग्रेस के संगठन को फैलाए और इस संगठन को किसी तरह कमज़ोर न होने दे।

"कांग्रेस हालांकि किसानों के इस हक़ को मानती है कि वे किसान-सभाएं बना सकते हैं, लेकिन कांग्रेस ऐसी किसी कार्रवाई से सम्बन्ध नहीं रख सकती जो कांग्रेस के बुनियादी उसूलों के ख़िलाफ़ हो। कांग्रेस उन कांग्रेसवादियों के कामों को बर्दाश्त नहीं कर सकती, जो किसान-सभाओं के मेम्बरों की हैसियत से कांग्रेस के उसूलों और उसकी नीति के ख़िलाफ़ विरोधी वातावरण पैदा करने में सहायक होते हैं। इसलिए कांग्रेस सूबा कांग्रेस कमेटियों से इस बात को याद रखने की और इस सम्बन्ध में जहां कहीं ज़रूरी मालूम हो, उचित कार्रवाही की हिदायत देती है।"

मन्त्रियों के स्तीफ़ा-सम्बन्धी प्रस्ताव यह है—

"फ़ैज़पुर कांग्रेस के आदेश के अनुसार अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी ने मार्च १९३७ में प्रान्तों में पद ग्रहण के प्रश्न का फ़ैसला किया और इस शर्त के साथ कांग्रेस के सदस्यों को मंत्रिमंडल बनाने की अनुमति दी कि यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट द्वारा या उसकी ओर से कुछ आश्वासन दे दिये जायं तो वे ऐसा कर सकते हैं। चूंकि ये आश्वासन नहीं दिये गये इसलिए आरम्भ में प्रांतीय असेम्बलियों की कांग्रेस पार्टियों के नेताओं ने मन्त्रिमंडल बनाने से इन्कार कर दिया। इसके बाद इन आश्वासनों के बारे में कुछ महीनों तक काफ़ी बहस रही और भारतमंत्री वाइसराय और प्रांत के गवर्नरों ने कई वक्तव्य दिए। इन वक्तव्यों में और बातों के साथ-साथ निश्चित रूप से कहा

गया था कि प्रांत के मामलों में ज़िम्मेदार मंत्रियों द्वारा संचालित प्रतिदिन के शासन में कोई हस्तक्षेप न किया जायगा।

"कांग्रेसी मंत्रियों को प्रान्तों में पद लेने के बाद जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे ज़ाहिर हो गया है कि कम से-कम दो प्रांतों, अर्थात् संयुक्त प्रान्त और बिहार में, जैसा कि आगे बताया जायगा, प्रतिदिन के शासन में वास्तव में हस्तक्षेप किया गया है। जिस समय गवर्नरों ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को मन्त्रिमण्डल बनाने का निमंत्रण दिया था, उनको मालूम था कि कांग्रेस के घोषणापत्र में कांग्रेस की नीति के एक प्रधान अंग के रूप में राजनैतिक बन्दियों की रिहाई का उल्लेख किया गया है। इस नीति के अनुसार मंत्रियों ने राजनैतिक बंदियों को छोड़ना शुरू किया और उन्होंने शीघ्र ही अनुभव किया कि इस काम के लिए गवर्नरों की अनुमति प्राप्त करने में विलम्ब होता है, जिससे उनको कभी-कभी तरद्दुद होता है। जिस तरह से बार-बार रिहाई टाली गई है और इस कार्य में विलम्ब हुआ है, उससे मन्त्रियों के आदर्श धैर्य का पता चलता है।

"कांग्रेस की राय में क़ैदियों की रिहाई का मामला प्रतिदिन के शासनक्षेत्र की सीमा के भीतर ही आता है और यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें गवर्नर से किसी लम्बी-चौड़ी बहस की ज़रूरत हो। गवर्नर का काम मंत्रियों को सलाह देना और उनकी रहनुमाई करना है। उनका काम यह नहीं है कि वह प्रतिदिन के कर्तव्यपालन में मन्त्रियों का जो फैसला हो उसके कार्यान्वित होने में बाधा उपस्थित करें।

"कार्य-समिति के लिए जब कांग्रेस के प्रतिनिधियों तथा उनका समर्थन करने वाली जनता के सम्मुख वार्षिक विवरण उपस्थित करने का समय आया तो उसने मन्त्रियों को, जो स्वयं अपने निर्णय के सम्बन्ध में असंदिग्ध और निश्चित राय रखते थे, यह आदेश दिया कि वह अपने प्रान्त के राजनैतिक बन्दियों को मुक्त करने के हुक्म जारी करें और यदि उनके हुक्म रद्द कर दिये जायं तो वह पदत्याग कर दें। संयुक्त-प्रान्त और बिहार के मन्त्रियों ने जो कार्रवाई की है उसको कांग्रेस पसंद करती है और उसका समर्थन करती है और उसके लिए उनको बधाई देती है।

"कांग्रेस की राय में इन प्रांतों के प्रधानमंत्रियों के निर्णयों में गवर्नर-जनरल ने जो हस्तक्षेप किया वह केवल पूर्वोक्त दिये हुए आश्वासन के विरुद्ध ही नहीं है, अपितु गवर्नमेंट ऑव इण्डिया एक्ट की धारा १२६।५ का दुरुपयोग भी है। इसमें अमन-अमान को भारी ख़तरा पहुंचाने का कोई सवाल ही न था। इसके अतिरिक्त दोनों प्रांतों के प्रधान-मन्त्रियों ने बन्दियों के आश्वासन के आधार पर और दूसरे तरीक़ों से भी इस बात का इत्मीनान कर लिया था कि बन्दियों की मनोवृत्ति बदल गई है और उन्होंने कांग्रेस की अहिंसा की नीति को स्वीकार कर लिया है। वास्तव में यह गवर्नर-जनरल का हस्तक्षेप है, जिसने निस्संदेह एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जो आसानी से कांग्रेस के प्रयत्न के बावजूद भी एक भारी खतरा बन सकती है।

"इस अल्प-काल में जब से कांग्रेस के लोगों ने पद-ग्रहण किया है, कांग्रेस ने आत्मत्याग, शासन की योग्यता तथा आर्थिक और सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए उपयोगी क़ानून बनाने की कुशलता का पर्याप्त प्रमाण दिया है। कांग्रेस प्रसन्नता के साथ स्वीकार करती है कि गवर्नरों ने मन्त्रियों को कुछ अंश में अपना सहयोग प्रदान किया था। कांग्रेस ने इस बात की ईमानदारी के साथ कोशिश की है कि शासन-विधान से जनता की जो थोड़ी-बहुत भी भलाई

हो सके उसे प्राप्त करे और पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय को हासिल करने तथा भारतीय जनता के साम्राज्यशाही शोषण का अन्त करने के लिए जनता की शक्ति को इस विधान का उपयोग करके बढ़ावे।"

"कांग्रेस एक ऐसी विकट परिस्थिति को जल्द उपस्थित करना नहीं चाहती, जिसमें एक अहिंसात्मक असहयोग तथा सत्य और अहिंसा की कांग्रेस की नीति के अनुकूल सत्याग्रह का प्रयोग करने को बाध्य हो। कांग्रेस इसलिए अभी दूसरे प्रांतों के मन्त्रियों द्वारा गवर्नर-जनरल के इस कार्य के विरोध में अपना त्याग-पत्र भेजने का आदेश देने में संकोच करती है और गवर्नर-जनरल को अपने फैसले पर फिर से विचार करने के लिए आमन्त्रित करती है, जिसमें गवर्नर विधान के अनुसार काम करें और राजनैतिक बन्दियों की रिहाई के मामले में अपने मन्त्रियों की सलाह को स्वीकार करें।

"कांग्रेस के मत में ग़ैरजिम्मेदार मंत्रिमंडलों का बनाना तलवार के नग्न शासन पर परदा डालने की महज एक कोशिश है। ऐसे मंत्रिमंडलों के बनने से अनिवार्य रूप से सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त कटुता उत्पन्न होती है, आंतरिक कलह बढ़ती है और साथ-साथ ब्रिटिश गवर्नमेंट के विरुद्ध क्रोध का भाव फैलता है। जब कांग्रेस ने बड़े संकोच व पशोपेश के बाद पद-ग्रहण करने का निश्चय किया था तब उसको गवर्नमेंट आव इंडिया एक्ट के वास्तविक रूप की अपनी धारणा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम नहीं था। गवर्नर-जनरल की हाल की कार्रवाई इस धारणा को सही साबित करती है और वह न केवल इस बात को दिखाती है कि यह शासन-विधान जनता को वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान करने में सर्वथा अपर्याप्त है, अपितु यह भी सिद्ध करती है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट की मंशा एक्ट का ऐसा उपयोग और अर्थ करने की नहीं है जिसमें स्वतन्त्रता की वृद्धि हो, बल्कि इसके प्रतिकूल कानून स्वतन्त्रता के क्षेत्र को और भी संकुचित करना चाहता है। इसलिए वर्तमान परिस्थिति का चाहे जो भी अन्तिम परिणाम हो भारतवासियों को यह समझ लेना चाहिए कि देश को तब तक सच्ची स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती जब तक कि इस कानून का अंत नहीं होता और बालिग मताधिकार के अनुसार निर्वाचित विधान परिषद् द्वारा प्रस्तुत एक नवीन विधान की स्थापना नहीं होती। सब कांग्रेस सदस्यों का उद्देश्य, चाहे वे पद पर प्रतिष्ठित हों या नहीं, धारा-सभाओं के भीतर हों अथवा बाहर, एक ही हो सकता है—उस ध्येय की प्राप्ति। यद्यपि इसका परिणाम यह हो सकता है, जैसा कि होना चाहिए, कि हमको अनेक मौजूदा लाभों का परित्याग करना होगा, चाहे वे थोड़े समय के लिए कितने ही उपयोगी और उपयुक्त क्यों न हों।

"संयुक्तप्रांत के गवर्नर की ओर से यह कहा गया है कि काकोरी कैदियों का स्वागत करने के लिए किये गये प्रदर्शन और उनमें से कुछ के भाषणों ने राजनैतिक बंदियों के धीरे-धीरे छोड़ने की नीति में बाधा उपस्थित की है। कांग्रेस ने हमेशा भद्दे प्रदर्शनों तथा दूसरी अनुचित कार्रवाइयों को रोकने का प्रयत्न किया है। संयुक्तप्रांत के गवर्नर ने जिन प्रदर्शनों और भाषणों का हवाला दिया है, उनकी महात्मा गांधी ने तीव्र निन्दा की थी। कांग्रेस के सभापति पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी इस अनुशासन की कमी पर शीघ्र ही ध्यान दिया था। मंत्रियों ने भी इसकी उपेक्षा नहीं की थी। इसके फलस्वरूप सार्वजनिक मत में द्रुत वेग से परिवर्तन हुआ और उन लोगों ने भी अपनी भूल पहचानी और जब बाद को काकोरी कैदियों की रिहाई के दो महीने बाद छः और कैदी रिहा किए गए, जिनमें काकोरी के एक प्रमुख कैदी भी शामिल थे तब उनके

सम्मान में कोई प्रदर्शन नहीं हुआ था और न उनका स्वागत ही किया गया था। तब से लगभग चार महीने बीत गये हैं और बाकी १५ कैदियों की रिहाई में उन प्रदर्शनों या व्याख्यानों के कारण से कुछ भी देर करना, जो अगस्त में छोड़े गये कैदियों से सम्बन्ध रखते हैं, अब सर्वथा अनुचित है। अमन-अमान कायम रखने की जिम्मेदारी मंत्रियों की है और वह जैसा उचित समझें अपना काम करने के हकदार हैं। परिस्थिति को देखते हुए सब बातों पर विचार कर निर्णय देना उनका काम है, पर जब वे एक निर्णय कर लेते हैं तो उसे स्वीकार करना चाहिए और उस पर अमल होना चाहिए। प्रतिदिन के सामान्य प्रबन्ध के मामले में उनके अधिकारों में हस्तक्षेप करने से उनकी स्थिति अनिवार्यरूप से कमजोर होती है और उनका प्रभाव और प्रतिष्ठा घटती है। कांग्रेसी मंत्रियों ने एक से अधिक बार अपने इस दृढ़ विचार की घोषणा की है कि वे हिंसात्मक अपराधों के बारे में पर्याप्त कार्रवाई करना चाहते हैं। अतः इन बंदियों के छोड़ने से जो खतरा बताया जाता है वह, विशेषकर जब उन्होंने हिंसा के मार्ग का परित्याग कर दिया है, सर्वथा काल्पनिक है।

"कांग्रेस ने पिछले कुछ महीनों में अपनी इस इच्छा का प्रचुर प्रमाण दिया है कि वह अनुशासन-भंग के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करना चाहती है और अहिंसा के नियम का पालन करना चाहती है। कांग्रेस अपने सदस्यों का ध्यान इस ओर दिलाती है कि भाषण और कार्य में ऐसा असंयम, जिससे हिंसा को वृद्धि हो, देश को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने से रोकता है।

"राजनैतिक कैदियों की रिहाई के प्रोग्राम को कार्यान्वित करते हुए कांग्रेस ने निःसंकोच हो पद का परित्याग किया है और उन अवसरों का भी परित्याग किया है जो उसको जनता की अवस्था में सुधार करने के लिए आवश्यक कानून बनाने के लिए प्राप्त थे। किन्तु कांग्रेस इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है कि वह रिहाई के लिए भूख-हड़ताल को सख्त नापसन्द करती है। भूख-हड़तालों से राजनैतिक बन्दियों की रिहाई का काम कांग्रेस के लिए कुछ कठिन हो जाता है। इसलिए कांग्रेस उन लोगों से भूख-हड़ताल छोड़ देने का अनुरोध करती है जो अब भी पंजाब में ऐसा कर रहे हैं और उनको आश्वासन दिलाती है कि कांग्रेस उन प्रान्तों में जहां कांग्रेसी मंत्रि-मंडल हैं और दूसरे प्रान्तों में भी कांग्रेस के सदस्य सब उचित और शान्तिमय उपायों से नज़र-बन्दों और राजनैतिक बन्दियों की रिहाई के लिए अपना प्रयत्न जारी रखेंगे।

"देश में जो स्थिति उत्पन्न हो गई है उसको देखते हुए यह कांग्रेस कार्यसमिति को अधिकार देती है कि वह जो कार्रवाई उचित समझे, करे और जब कभी आवश्यकता हो इस विकट परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी से आदेश प्राप्त करे।"

हरिपुरा अधिवेशन की एक और भी सफलता उल्लेखनीय है। इसका सम्बन्ध कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय शिक्षा के ऐसे संगठन से है जिससे कि भारत में हाल में ही फैली राष्ट्रीयता की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। पाठकों को स्मरण होगा कि १९२० में जो बहिष्कार आंदोलन चलाया गया था उसमें सरकार द्वारा स्वीकृत अथवा यूनिवर्सिटियों से सम्बद्ध स्कूल-कालेजों के बहिष्कार के आंदोलन को बड़ी लोक-प्रियता प्राप्त हुई थी। इस दौरान में राज-नैतिक विवाद के मध्य जो राष्ट्रीय विद्यालय खुले, उन्हें न तो एक सुसम्बद्ध शृङ्खला में ही बांधा गया था और न किन्हीं मान्य सिद्धान्तों के आधार पर उनका संगठन किया गया था। इन विद्यालयों को अपने ही ढंग पर चलने दिया गया और बाद में बहिष्कार आन्दोलन समाप्त होने पर रचना-

त्मक आंदोलन के इस आवश्यक अंग पर जोर भी कम दिया जाने लगा। जहां एक तरफ परिवर्तन-वादी और अपरिवर्तन-वादियों के अलग होने के परिणामस्वरूप १९२४ (सितम्बर) में खद्दर के संगठन का काम ६ लाख को पूंजी से आरम्भ किया गया और अखिलभारतीय चरखा संघ की स्थापना की गई, जहां महात्मा गांधी के १९३२ वाले आमरण अनशन के परिणामस्वरूप अस्पृश्यता-निवारण की प्रगति हुई और अखिल भारतीय हरिजन संघ की स्थापना हुई और जहां १९३४ (अक्तूबर) में अखिलभारतीय ग्राम उद्योग-संघ के रूप में एक और सहायक संस्था स्थापित हुई वहां राष्ट्रीय शिक्षा के विषय की अभी तक उपेक्षा हो रही थी। परन्तु गांधीजी का ध्यान जब-जब इस ओर आकर्षित किया जाता था तो वे सदा यही कहते थे कि इस विषय को हाथ में लेने का समय अभी नहीं आया है। हरिपुरा में बम्बई प्रस्ताव के परिणाम-स्वरूप कई दस्तकारियों की तरफ ध्यान आकृष्ट हुआ और इस बात की आवश्यकता महसूस की जाने लगी कि राष्ट्रीय शिक्षा योजना में स्थान देने के लिए इन दस्तकारियों का अध्ययन किया जाय। कांग्रेस सर्वसाधारण की शिक्षा का महत्त्व प्रारम्भ से ही स्वीकार करती आ रही थी; क्योंकि राष्ट्र की उन्नति जनता को दी जाने वाली शिक्षा के स्वरूप पर निर्भर करती है। यह भी स्पष्ट हो चुका था कि मौजूदा प्रणाली के उद्देश्यों का जहां तक ताल्लुक है वह राष्ट्रीयता-विरोधी व समाज-सुधार विरोधी है और क्षेत्र सीमित होने के अतिरिक्त उसके तरीके भी पुराने हैं और इसीलिए वह असफल हुई है। अब वजारतें कायम होने के कारण कांग्रेस को इस क्षेत्र में सेवा करने तथा सरकारी शिक्षा को प्रभावित एवं नियंत्रित करने का अवसर प्राप्त हुआ था। इसलिए हरिपुरा में शिक्षा के मार्ग-प्रदर्शन के लिए आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित करना उचित ही था। इतना तो माना जा चुका था कि बुनियादी तालीम मुफ्त व अनिवार्य होनी चाहिए और वह सात वर्ष में समाप्त हो जानी चाहिए। यह भी स्पष्ट था कि बुनियादी तालीम मातृ-भाषा के द्वारा हो और वह किसी-न-किसी शारीरिक व उत्पादन कार्य में केन्द्रित होनी चाहिए। इस दस्तकारी का चुनाव यह देख कर होना चाहिए कि बालक कैसी परिस्थितियों में रहा है और उसकी रुचि किस तरफ है। शिक्षा-सम्बन्धी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक अखिलभारतीय शिक्षा बोर्ड की स्थापना की गई और उसे अपना विधान तैयार करने, धन इकट्ठा करने तथा अन्य आवश्यक कार्य करने के अधिकार दिये गये। हरिपुरा अधिवेशन में एक अन्य प्रस्ताव पास किया गया, जिसका महत्त्व युद्ध के वर्षों तथा युद्ध छिड़ने से पूर्व एक वर्ष तक युद्ध की अफवाहों के काल में प्रमाणित हुआ। यह प्रस्ताव 'विदेश नीति तथा युद्ध-संकट' के संबंध में था और उसके द्वारा हरिपुरा में कांग्रेस ने इस विषय में राष्ट्र की नीति का स्पष्टीकरण किया। प्रस्ताव में कहा गया कि भारतीय राष्ट्र अपने पड़ोसियों तथा अन्य सभी देशों के प्रति मैत्री और शांति के वातावरण में रहना चाहता है और इसीलिए उनके मध्य से संघर्ष के कारणों को हटाना चाहता है। भारत एक राष्ट्र के रूप में अपनी स्वाधीनता व स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करता हुआ दूसरों की स्वाधीनता का आदर करता है और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सद्भावना के आधार पर अपनी शक्ति का निर्माण करना चाहता है। ऐसे सहयोग का आधार संसार की सुव्यवस्था ही हो सकती है और स्वाधीन भारत इस सुव्यवस्था में भाग लेने के लिए प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो जायगा। भारत शस्त्रीकरण व सामूहिक सुरक्षा का हामी है; परन्तु जब तक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के प्रधान कारणों को निर्मूल नहीं किया जा सकता और एक राष्ट्र का दूसरे पर शासन कायम है और साम्राज्यवाद का दारदारा बना है तब तक विश्व सहयोग के आदर्श की प्राप्ति असम्भव है।

पिछले कुछ वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बिगड़े हैं, फासिस्टों के आक्रमणों में वृद्धि हुई है और अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को बिना किसी शर्म के भंग किया गया है। गोकि ब्रिटेन की विदेशी नीति में समस्याओं के निबटारे से बचने का प्रयत्न किया गया है और निश्चय करने की घड़ी को टाला गया है, फिर भी उसका मुख्य अंग जर्मनी, स्पेन तथा सुदूरपूर्व की फासिस्ट शक्तियों के समर्थन का रहा है और इसीलिए संसार की परिस्थिति बिगड़ने देने के लिए अधिकांश में ब्रिटेन की विदेशी नीति ही जिम्मेदार है। इसी नीति के अंतर्गत नाजी जर्मनी के साथ समझौते का प्रयत्न किया जा रहा है और विद्रोही स्पेन के साथ निकटतम सम्बन्ध बढ़ाये जा रहे हैं। इस प्रकार संसार को आगामी विश्वयुद्ध की तरफ ले जाने में सहायता पहुंचाई जा रही है।

भारत ऐसे साम्राज्यवादी युद्ध में हिस्सेदार नहीं बन सकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के स्वार्थसाधन के लिए अपनी जनशक्ति व साधनों के उपयोग की अनुमति कभी नहीं दे सकता। न भारत अपनी जनता की स्पष्ट स्वीकृति के बिना किसी युद्ध में भाग ही ले सकता है। इसलिये भारत में युद्ध की जो तैयारियां की जा रही हैं, विशाल परिमाण पर युद्ध-अभ्यास किये जा रहे हैं, हवाई हमलों से बचाव का प्रबंध किया जा रहा है और इस प्रकार भारत में युद्ध का वातावरण फैलाने की चेष्टा की जा रही है—इस सब को कांग्रेस नापसंद करती है। यदि भारत को युद्ध में फंसाने का प्रयत्न किया गया तो इसका विरोध किया जायगा।

योजना-निर्माण समिति का काम बहुत विशाल परिमाण पर हुआ और प्रान्तीय सरकारों ने उसके खर्च के लिए ४०,००० रु० दिये। समिति को अपना कार्य समाप्त करने के लिए छः महीने का समय दिया गया; परन्तु समिति के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल ने राष्ट्रपति से मार्च, १९४० के अंत तक कार्यकाल बढ़ाने का अनुरोध किया, क्योंकि उससे पहले कार्य समाप्त होना असम्भव था। इसलिए योजना-निर्माण समिति का कार्यकाल ३१ मार्च, १९४० तक बढ़ा दिया गया।

: ४ (अ) :

हरिपुरा और उसके बाद : १९३८

१९२७ से ही कांग्रेस युद्ध के संकट का अनुभव कर रही थी, १९२७ के मद्रास अधिवेशन और हरिपुरा अधिवेशन के मध्य के दशक में कितनी ही घटनाएं हो गईं। कांग्रेस यह नहीं समझती थी कि उसमें युद्ध को रोक सकने की सामर्थ्य है—यह असम्भव कार्य तो बड़े-से-बड़े लोग भी नहीं कर सकते थे। कांग्रेस तो सिर्फ ऐसे युद्ध के विरुद्ध लोकमत तैयार करना चाहती थी, जो सम्भवतः भारत का अपना युद्ध न हो या कांग्रेस के विचार से जो भारत के हितों के विरुद्ध हो। इसलिए कांग्रेस इस विषय में सतर्क रहना चाहती थी। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति बड़ी विकट थी और ऐसा संकट उपस्थित होना भी असम्भव न था, जिसमें भारत के हितों के लिए आशंका उत्पन्न होती। ऐसी परिस्थिति में एक विदेश विषय-समिति नियुक्त की गई, जिसका कार्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के सम्पर्क में रहना, कांग्रेस कार्यसमिति को परामर्श देना और हिन्दुस्तान से बाहर के लोगों को कांग्रेस के दृष्टिकोण तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के सम्बन्ध में हरिपुरा में पास प्रस्ताव से अवगत कराना था। भारत को एक दृष्टि से विदेशी युद्धों व विदेशी आक्रमणों का भय न था, क्योंकि अंग्रेजों तथा विदेशी व्यापारियों के हमले का शिकार तो वह पहले ही से बना हुआ था। प्रान्तों में स्वायत्त-शासन स्थापित होने तथा केन्द्र में संघ सरकार कायम होने की तैयारियों के कारण 'इंडिया लिमिटेड' जैसे नाम ग्रहण करने वाली ऐसी कम्पनियों की संख्या बढ़ गई, जिनके स्वामी तथा संचालक तो विदेशी थे; किन्तु जो जनता की दृष्टि में भारतीय संस्थाओं के रूप में प्रकट होने की चेष्टा कर रही थीं। इन कम्पनियों का उद्देश्य सिर्फ यही था कि भारत सरकार की संरक्षण की नीति से भारतीय उद्योगों को जो लाभ प्राप्त था वह उनसे छिन जाय। नये कानून के व्यापारिक संरक्षणों से उन लाभों में कमी होती थी, जिनका उपभोग भारतीय १९३५ तक कर रहे थे। व्यापारिक संरक्षणों का वास्तविक उद्देश्य देश की प्राकृतिक सम्पत्ति व साधनों के शोषण की सुविधा विदेशी, खासकर अंग्रेज पूंजीपतियों के लिए सुरक्षित बनाए रखना था। कांग्रेस को विदेशी पूंजी या विशेषज्ञों पर आपत्ति न थी। उसको आपत्ति तो भारतीयों के नियंत्रण से बाहर इनके उपयोग पर थी। प्रान्तीय स्वायत्त शासन जारी होने से नई परिस्थिति पैदा हो गई, जिसमें प्रान्तीय मंत्रिमंडल प्रान्तीय हितों का ध्यान रखते हुए शासन करने लगे। पहले ऐसा न था। पहले प्रान्तीय सरकारें व गवर्नर भारत-सरकार के प्रति उत्तरदायी होते थे और भारत-सरकार ही उच्च पदों पर नियुक्तियां करती थी। प्रान्तीय स्वायत्तशासन स्थापित होते ही प्रत्येक प्रान्त के लिए अपने यहां के योग्य व्यक्तियों को अन्य प्रान्तों के अधिक योग्य व्यक्तियों की तुलना में तरजीह देना स्वाभाविक ही था; परन्तु कुछ पेचीदगियां भी थीं। भारत में प्रान्तों की सीमाएं

सदा एक सी नहीं रही हैं । १६०५ से पूर्व बंगाल, बिहार और उड़ीसा का एक ही प्रान्त था। बंगाली लोग अधिक शिक्षित होने के कारण प्रान्त के तीनों भागों में महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त हुए, किन्तु बाद में ये तीनों भाग तीन पृथक प्रान्त बन गये । अब प्रश्न उठा कि बिहार में बहुत दिनों से बसे हुए बंगालियों के प्रति कैसा व्यवहार किया जाय । प्रान्तीय स्वायत्त-शासन स्थापित होते ही यह नई समस्या उठ खड़ी हुई ।

इस समस्या ने १६३७-३८ के वर्ष में विशेष महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर लिया। विवाद में बिहार हाईकोर्ट के एक अवकाशप्राप्त जज ने भी भाग लिया । इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार हुआ और कार्यसमिति ने यह भी निश्चय किया कि—(१) प्रान्त में बसने (२) नौकरी करने (३) शिक्षा, (४) व्यापार और (५) व्यवसाय के पहलुओं पर विचार करते हुए श्रीराजेन्द्रप्रसाद अपनी रिपोर्ट उपस्थित करें । राजेन्द्र बाबू द्वारा इस मामले का फैसला होने में कुछ देरी होना स्वाभाविक था और तब तक के लिए कार्यसमिति ने बिहार सरकार से प्रान्त में बसने आदि के प्रमाणपत्र तलब करने की कार्रवाई स्थगित रखने का निश्चय किया । राजेन्द्र बाबू की रिपोर्ट मिलने पर कार्यसमिति ने बारदोली में ११ जनवरी, १६३६ को निम्न निर्णय प्रकाशित कर दिया—

"बंगाली-बिहारी विवाद के सम्बन्ध में कार्यसमिति ने बाबू राजेन्द्रप्रसाद की रिपोर्ट तथा कितने ही आवेदनपत्रों पर, जिनमें एक श्री पी० आर० दास का भी था, विचार किया । बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने सावधानी से जो विस्तृत रिपोर्ट तैयार की है, समिति उसकी कद्र करती है और मत प्रकट करती है कि उसमें जो परिणाम निकाले गये हैं उन से वह सहमत है । चूंकि इन परिणामों को अन्य स्थानों पर भी आम तौर पर लागू किया जा सकता है, इसलिए समिति उन्हें नीचे बतलाती है—

(१) जहां कि एक तरफ समिति का मत है कि भारतीय संस्कृति की भिन्नता तथा देश के भागों में जीवन की विविधता को वांछनीय समझ कर उसकी रक्षा करनी चाहिए वहां दूसरी तरफ एक ही राष्ट्रीयता तथा हम सभी की समान संस्कृति तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विचार को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, ताकि उद्देश्य की समानता के आधार पर भारत का एक स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में निर्माण किया जा सके । इसलिए समिति पृथकता की प्रवृत्तियों तथा संकुचित प्रांतीयता को निरुत्साहित करना चाहती है । फिर भी समिति का मत है कि जहां तक नौकरियों वगैरह का ताल्लुक है, प्रांत के लोगों के कुछ ऐसे दावे हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

(२) नौकरियों के सम्बन्ध में समिति का मत है कि एक भाग में रहने वाले भारतीय पर किसी दूसरे भाग में नौकरी पाने पर कोई प्रतिबन्ध न रहना चाहिए । योग्यता तथा कार्यक्षमता का महत्व बड़ी नौकरियों तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति में विशेष रूप से रहता है, किन्तु साधारण तौर पर योग्यता तथा कार्यक्षमता के अतिरिक्त भी कुछ बातों का विचार रखना आवश्यक है । वे बातें ये हैं—

(क) प्रांतों के विभिन्न समुदायों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए,

(ख) पिछड़े हुए वर्गों को यथासम्भव प्रोत्साहन मिले, ताकि वे उन्नति कर सकें और राष्ट्रीय जीवन में पूरा पूरा भाग ले सकें ।

(ग) प्रांत की जनता को तरजीह दी जाय । यह तरजीह प्रांतीय सरकार द्वारा बताये गये

नियमों के अनुसार दी जानी चाहिए, ताकि विभिन्न अफसर विभिन्न स्तरों पर काम न करें। ऐसे ही नियम सभी प्रांतों में लागू होने चाहिए।

(३) जहां तक बिहार का सम्बन्ध है, बिहारी कहे जाने वाले लोगों तथा प्रांत में जन्मे या बसे हुए बंगलाभाषी लोगों में कोई भेदभाव न होना चाहिए। वास्तव में इन दोनों ही वर्गों को बिहारी कहा जाना चाहिए और नौकरियों तथा दूसरे मामलों में उनके प्रति एकसा व्यवहार होना चाहिए। प्रांत के इन निवासियों को दूसरे प्रांतों के निवासियों की तुलना में कुछ तरजीह दी जा सकती है।

(४) प्रांत में बाहर से आकर बसे निवासियों को प्रमाणपत्र देने की प्रथा तोड़ देनी चाहिए। उम्मीदवारों को अपनी अर्जियों में लिखना चाहिए कि वे प्रांत के निवासी हैं या यहां बसे हुए हैं, सरकार को नियुक्ति करने से पूर्व इन कथनों की जांच करने का पूर्ण अधिकार रहेगा।

(५) प्रांत में बसने का प्रमाण होना चाहिए, जिससे प्रमाणित किया जा सके कि आवेदनपत्र देने वाला प्रांत को अपना घर बना चुका है। इस सबंध में कोई निश्चय करते समय प्रांत में रहने के काल, मकान या किसी दूसरी जायदाद का मालिक होना तथा अन्य आवश्यक बातों पर विचार करना जरूरी होगा और सभी प्रमाणों पर विचार करके ही कोई निर्णय करना चाहिए, परन्तु प्रांत में जन्म होना या १० साल तक लगातार रहने को प्रांत के बाशिंदे होने का पर्याप्त सबूत मान लेना चाहिए।

(६) सरकार की अधीनता में काम करने वाले सभी लोगों के प्रति समानता का व्यवहार होना चाहिए और उनकी तरक्कियां करते समय पहले की नियुक्ति तथा कार्यक्षमता दोनों का विचार होना चाहिए।

(७) प्रांत में व्यापार करने या कारबार जमाने के लिए किसी पर प्रतिबन्ध न होना चाहिए। यह अवश्य वांछनीय है कि प्रांत में जो फर्में या कारखाने काम कर रहे हों उन्हे स्थानीय लोगों से सम्पर्क बढ़ाना चाहिए और प्रांत के निवासियों में से नियुक्तियां करनी चाहिएं; परन्तु प्रांतीय सरकारों को फर्म तथा कारखानों के आगे ऐसा कोई सुझाव न रखना चाहिए, जिससे उनमें भ्रम फैलने की सम्भावना हो।

(८) यदि शिक्षा-संस्थाओं में स्थान सीमित हो तो प्रांत के विभिन्न समुदायों के लिए स्थान सुरक्षित किये जा सकते हैं, किन्तु यह कार्य उचित अनुपात का ध्यान रखते हुए होना चाहिए। इन शिक्षा-संस्थाओं में प्रांत की जनता को तरजीह दी जा सकती है।

(९) बिहार के जिन क्षेत्रों में बंगला बोली जाती हो उनके प्रारम्भिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बंगला होना चाहिए, किन्तु जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दुस्तानी हो। उनकी संख्या पर्याप्त होने पर हिन्दुस्तानी पढ़ाने का प्रबन्ध भी प्रारम्भिक विद्यालयों में होना चाहिए। इसी प्रकार हिन्दुस्तानी भाषा क्षेत्रों में प्रारम्भिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी होनी चाहिए, किन्तु सरकार को उस भाषा के माध्यम से भी शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिए, जिसके बोलने वाले वहां बसते हों और जिसकी मांग जिले के निवासी करते हों।

(१०) कार्य-समिति को विश्वास है कि उपर्युक्त परिणामों को स्वीकार कर लिया जायगा और बिहार में सम्बन्धित दल उस पर अमल करेंगे और प्रांत का यह दु:खद विवाद समाप्त हो जायगा।

(११) जिन विषयों के सम्बन्ध में यहां मंतव्य दिया गया है उनके सम्बन्ध में दूसरे प्रान्तों की शासन-व्यवस्थाओं की साधारण नीतियों का भी इसके द्वारा मार्ग-प्रदर्शन होना चाहिए।

एक ऐसा ही विषय प्रान्तों में रियासती प्रजा पर लगे प्रतिबन्धों तथा अयोग्यताओं का है। अखिलभारतीय मारवाड़ी संघ ने इस सम्बन्ध में कांग्रेस से अनुरोध किया और तब कार्य-समिति ने अपना मत प्रकट किया कि प्रान्तों में रियासती प्रजा को सरकारी नौकरियों तथा मताधिकार के विषय में जिन प्रतिबन्धों व अयोग्यताओं का सामना करना पड़ता हो उन्हें तुरन्त हटा लिया जाय। कार्यसमिति ने कांग्रेसी सरकारों से अनुरोध किया कि उन्हें इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्रवाई भारतीय शासन कानून की २६२ धारा के अनुसार करनी चाहिए।

गोकि प्रान्तीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र के विस्तार और उसकी सीमाओं की समय-समय पर व्याख्या होती रही है, किन्तु वास्तविक शासन के समय ऐसी समस्याएँ उठने लगीं, जिनकी कल्पना कांग्रेस और सरकार में से किसी ने भी नहीं की थी। ऐसी ही एक बात बिहार और संयुक्तप्रान्त में राजनैतिक बंदियों के छुटकारे के सम्बन्ध में थी। इस समस्या पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। एक नई और अप्रत्याशित समस्या उस समय उठ खड़ी हुई जब उड़ीसा का स्थायी गवर्नर सर जान ह्यूबेक छुट्टी पर जाने वाला था। स्थानापन्न गवर्नरी सिविल सर्विस के एक सदस्य मि० डान को दी गई, जो मंत्रियों की अधीनता में काम कर चुका था और आबकारी के कमिश्नर के रूप में उड़ीसा में मादक वस्तु निषेध कार्यक्रम के मार्ग में कठिनाइयां उपस्थित कर चुका था। कमेटी में उसका आचरण इतना अशिष्ट था कि वह मंत्रिमंडल के अधान एक अफसर की हैसियत से सिर्फ आगे ही न बढ़ गया, बल्कि मादक वस्तु निषेध पर अपना निजी मत प्रकट करके उसने मंत्रियों को अपमानित तक कर डाला। ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति अवांछनीय तथा अन्य देशों में प्रचलित परम्परा के विरुद्ध थी। मन्त्रियों का ऐसे लोगों की अधीनता में काम करना कठिन था, जो उनके अधीन रह चुके थे और जिनसे वे नाराज हो सकते थे। इस परिस्थिति में उड़ीसा के मंत्रियों ने वही मार्ग ग्रहण किया जो उनके लिए खुला था और इस नियुक्ति का विरोध किया और कांग्रेस कार्यसमिति ने इस नियुक्ति में परिवर्तन करने का अनुरोध किया। कार्यसमिति ने प्रधान न्यायाधीश को स्थानापन्न गवर्नर नियुक्त करने का भी अनुरोध किया और साथ ही यह भी कहा कि यह परम्परा अन्यत्र चल भी चुकी है। अन्त में यह राजनैतिक संकट सर जान ह्यूबेक द्वारा अपनी छुट्टी रद्द करा लेने से टल गया। इस सम्बन्ध में यह विज्ञप्ति प्रकाशित हुई : "चूंकि उड़ीसा के गवर्नर अपने उत्तराधिकारी के लिए अनिश्चित राजनैतिक स्थिति को छोड़ जाते इसलिए अब वे अपने पूर्वनिश्चित कार्यक्रम को पूरा करना अनुचित समझते हैं और इसीलिए प्रान्त के हित को ध्यान में रखते हुए उनके सामने अपनी छुट्टी रद्द कराने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं रह गया है। भारत मन्त्री ने गवर्नर-जनरल की सहमति से उनके अनुरोध को स्वीकार कर लिया है।"

उत्तरदायी शासन का मतलब यही होता है कि व्यवस्थापिका सभा को मंत्रिमंडल में रद्दोबदल करने का अख्त्यार रहे। यह अवसर सबसे पहले भारत के नये प्रान्त सिन्ध में मार्च, १९३८ में आया; परन्तु सिन्ध में किसी भी दल को वैसा बहुमत नहीं प्राप्त था, जैसा कांग्रेस को छः प्रान्तों में। इसलिए वहां किसी वजारत को हटाना तो सहल था, किन्तु उसकी जगह नई वजारत बनाना उतना सरल न था। जिम्मेदारी के साथ ही कुछ असन्तोष भी बढ़ता है। यदि प्रधानमंत्री एक व्यक्ति को संदिग्ध मित्र बनाता है तो वह १० व्यक्तियों को निश्चित रूप से शत्रु बना लेता है। इसके विपरीत, यदि प्रधानमन्त्री को अचल बहुमत प्राप्त है तो

उसके निश्चयों व कार्यों से जो विरोध उठ खड़े होते हैं वे हवा के झोंकों की तरह निकल जाते हैं। इससे उसकी शक्ति घटने की बजाय बढ़ती ही है। परन्तु यदि प्रधानमंत्री को स्पष्ट बहुमत का समर्थन नहीं हुआ तो कितने ही मित्र शत्रु बन जाते हैं और मिलकर मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ कर देते हैं। इसीलिए जब सिंध मन्त्रिमण्डल की पराजय हुई और प्रधानमन्त्री को स्तीफा देना पड़ा तो नया मन्त्रिमण्डल बनना उसके प्रति कांग्रेस दल के समर्थन अथवा विरोध पर निर्भर हो गया। इस अवसर पर गवर्नर ने कांग्रेस दल के नेता को इस बात का पता लगाने के लिए बुलाया कि प्रान्त के राजनैतिक संकट के प्रति कांग्रेस का क्या रुख है। यह बड़ी अप्रत्याशित बात थी; क्योंकि धारासभा के ६० सदस्यों में से कांग्रेस की शक्ति केवल ८ थी। परन्तु धारासभा में ऐसा कोई भी दल न था, जिसे अकेले बहुमत प्राप्त हो सकता। कांग्रेस के ८ सदस्य किसी भी दल के साथ मिलकर वजारत नहीं कायम कर सकते थे और ऐसा करना वांछनीय भी न होता, क्योंकि ऐसी वजारत अधिक दिन कभी भी न चल सकती। इसलिए कांग्रेस ने वही रुख ग्रहण किया, जो उसे करना चाहिए था और वह यह था कि वह नये संयुक्त-मन्त्रिमण्डल का समर्थन करेगी। यहां एक बात उल्लेखनीय है कि नये सम्मिलित दल के नेता खानबहादुर अल्लाहबख्श ने कांग्रेस दल के नेता को पत्र लिखकर आश्वासन दिया था कि यदि मैंने वजारत कायम की तो मेरी नीति और कार्यक्रम कांग्रेस के सिद्धान्तों पर आधारित होगा। इस परिस्थिति में कांग्रेस दल ने उत्तर दिया कि नये मन्त्रिमण्डल के कानूनों तथा शासन-सम्बन्धी कार्यों का विरोध करने की अपनी स्वतंत्रता सुरक्षित रखते हुए कुछ अवधि तक वह ऐसा कोई कदम न उठावेगा और न किसी दूसरे दल के ऐसे किसी कार्य का ही समर्थन करेगा, जिससे नये मन्त्रिमण्डल के अपदस्थ होने की सम्भावना हो और इसके उपरान्त यह अन्तिम रूप से अपनी नीति स्थिर करेगा। इस प्रकार संयुक्त-मन्त्रिमण्डल का रास्ता साफ हो गया और फिर बाद में आसाम में भी बहुत कुछ इसी प्रकार की घटनाएं हुईं। परिणाम यह हुआ कि एक समय ११ प्रान्तों में से ८ में कांग्रेसी या मिलीजुली वजारतें काम कर रही थीं। प्रान्तों को इन घटनाओं से कांग्रेस कार्यसमिति और पार्लामेंटरी बोर्ड निकट सम्पर्क में रहते थे और अन्तिम निश्चय अधिकांश में पार्लामेंटरी बोर्ड करता था और इन निश्चयों की पुष्टि बाद में कार्यसमिति करती थी। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों द्वारा ६ प्रान्तों के शासन में कितनी ही घटनाओं के कारण और कभी-कभी मन्त्रियों की निजी कमजोरियों के कारण विषम समस्याएं उठ खड़ी होती थीं। ऐसी ही एक खेदजनक घटना मध्यप्रान्त के मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में उठ खड़ी हुई। वहां न्यायमन्त्री द्वारा दया के अधिकार का प्रयोग एक ऐसे उच्च स्थिति वाले राजनैतिक बंदी के लिए किया गया, जिसे बलात्कार के मामले में सज़ा की आज्ञा सुनाई जा चुकी थी। सम्बन्धित मन्त्री ने खेद प्रकट किया और इस्तीफा देने को कहा। मध्यप्रान्त का कांग्रेस पार्लामेंटरी दल तथा दूसरे मंत्री इस मंत्री के खेद प्रकट करने पर सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने यह कारण भी मान लिया कि मामले की गम्भीरता का अनुभव न करने के कारण ही उसने अपने दूसरे साथियों से सलाह नहीं ली थी; परन्तु कार्यसमिति अधिक ऊँचे दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार करना चाहती थी। उसके सामने वास्तविक प्रश्न यह था कि मन्त्री ने जो निर्णय करने में गलती की थी उससे कहीं न्याय का गला तो नहीं घुट गया। जहां तक इस्तीफे का प्रश्न है—वह तो शासन की पवित्रता, न्याय के तकाजे और नारी जाति के सम्मान की रक्षा के लिए उचित ही था। दूसरी तरफ समस्या का यह भी पहलू था कि अगर इंसाफ

का खून नहीं हुआ तो इस्तीफे या खेद प्रकट करने की कोई जरूरत नहीं थी। इस विषय पर किसी योग्य न्यायवेत्ता की जांच-पड़ताल की आवश्यकता थी, क्योंकि दया का एक और भी मामला पड़ा हुआ था, जिसमें अपराधी ने बीमा सम्बन्धी गबन किया था। कार्यसमिति ने जनता से अनुरोध किया कि एक प्रसिद्ध कानूनवेत्ता द्वारा मामले की जांच-पड़ताल किये जाने के बाद समिति के अन्तिम निर्णय की उसे प्रतीक्षा करनी चाहिए। नागरिक तथा राष्ट्रीय जिम्मेदारी की गहरी भावना रहते हुए भी राष्ट्र ने इस सम्बन्ध में अपूर्व संयम का परिचय दिया। मामला कलकत्ता हाईकोर्ट के अवकाशप्राप्त जज सर मन्मथनाथ मुकर्जी के सुपुर्द किया गया और उनकी रिपोर्ट जब सम्बन्धित मंत्री के आगे उपस्थित की गई तो उसने तुरंत इस्तीफा दे दिया। इस तरह एक ओर कांग्रेस की नेकनामी पर धब्बा न लगा और दूसरी तरफ वह व्यक्ति भी जनता की नजर में ऊँचा उठ गया। राष्ट्रीय शासन की प्रारम्भिक अवस्था की कठिन परिस्थितियों में जो घटनाएं होती हैं वे भावी पीढ़ियों के लिए आदर्श या चेतावनी का का काम देती हैं और फिर पता चल जाता है कि वे निर्णय उचित हुए या नहीं; और सार्वजनिक भावना से प्रेरित होकर हुए या निजी मिथ्याभिमान की भावना से प्रभावित होने के कारण।

कांग्रेस ११ प्रान्तों में से ८ में या तो शासन करती थी और या उनकी सरकारों पर उसका प्रभाव था। इन प्रान्तों में प्रान्तीय शासन-व्यवस्था के मध्य उसे कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनमें से कुछ कठिनाइयां नौकरशाही ने उपस्थित कीं और कुछ परेशानी में डालने-वाली परिस्थितियां कांग्रेस संगठन के उन उत्साही व्यक्तियों ने उत्पन्न कीं, जिनकी आदर्शवादिता ने वास्तविकता की भावना को बिल्कुल ही ढक लिया था।। ऐसे लोग जीवन की वास्तविकताओं से सम्पर्क बढ़ने पर नागरिक स्वतंत्रता के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए मजबूर हो गये। दक्षिण भारत में एक कांग्रेसजन पर राजद्रोह के लिए १२४-अ धारा के अनुसार मुकदमा चलाये जाने पर युवावर्ग और विशेषकर समाजवादी बड़े क्षुब्ध हुए और कार्यसमिति को १६३८ के आरम्भ में ही इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव का सामना करना पड़ा, जिसकी सूचना समाजवादियों ने अक्टूबर १६३७ में अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक में दी थी। इससे कार्यसमिति को विभिन्न प्रान्तों में पैदा होने वाली परिस्थिति और साथ की कठिनाइयों पर विचार करने का अवसर मिल गया। कार्यसमिति ने जहां एक तरफ कांग्रेस मंत्रिमंडलों के कार्यों की पुष्टि की वहां दूसरी तरफ उसने नागरिक स्वतंत्रता का क्षेत्र बढ़ाने तथा कांग्रेस के कार्यक्रम को अमल में लाने के प्रयत्नों का स्वागत किया; परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात कार्यसमिति के शब्दों में "कांग्रेस की अहिंसा की नीति के अनुसार आचरण करना और हिंसा की प्रेरक प्रवृत्तियों को निरुत्साहित करना" थी। इसी नीति के अनुसार कार्यसमिति ने कांग्रेस कमेटियां तथा कांग्रेसजनों से देश में शान्तिपूर्ण तथा अनुशासनयुक्त कार्य का वातावरण उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करने की अपील की और साथ ही गलत रास्ते पर चलने वाले उन कांग्रेसजनों को चेतावनी दी, जिनमें कांग्रेस की अहिंसात्मक नीति के विरुद्ध कार्य करने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही थी। कांग्रेस कमेटियों से कहा गया कि जहां भी कांग्रेसजन इस आधारभूत नीति के विरुद्ध कार्य करते पाये जायं वहां उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाई की जाय। साथ ही कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से अनुरोध किया गया कि उन्हें नागरिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त की रक्षा करनी चाहिए और बलप्रयोग के स्थान पर समझा-बुझाकर रास्ते पर लाने के प्रजातंत्रीय उपाय के द्वारा कार्य करना चाहिए। यदि बलप्रयोग अनिवार्य हो जाय तो ऐसा किया जा सकता है, किन्तु बलप्रयोग केवल उसी मामले में किया जाय,

"जिसमें हिंसा हुई हो या हिंसा अथवा विग्रह के लिए उकसाया गया हो।"

उपर्युक्त आशय का प्रस्ताव जनवरी, १९३८ में पास हुआ था, किन्तु इससे परिस्थिति में सुधार नहीं हुआ। कार्यसमिति को उसी वर्ष सितम्बर के महीने में इस समस्या को फिर हाथ में लेना पड़ा। इसी दर्मियान कांग्रेस कमेटियों तथा कांग्रेसजनों द्वारा ग्राम शासन में हस्तक्षेप के चिन्ह दिखाई देने लगे। सरकारी अफसरों तथा अन्य कर्मचारियों को प्रभावित करने की चेष्टा होने लगी। निश्चय ही कांग्रेस कमेटियों व कांग्रेसजनों का कर्तव्य सरकारी कर्मचारियों के साथ सहयोग करना और उनका सहयोग प्राप्त करना था, किन्तु उनका ग्राम शासन में हस्तक्षेप करना बिल्कुल भी उचित न था। जहां तक नागरिक स्वतंत्रता का सम्बन्ध है, पिछले ८ महीने में परिस्थिति सुधरने के स्थान पर बिगड़ती ही गई। तब अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपना मत इस प्रस्ताव के रूप में प्रकट किया—

"चूंकि कितने ही लोग, जिनमें कांग्रेसजन भी सम्मिलित हैं, नागरिक स्वतंत्रता के नाम पर हत्या, आग लगाने, लूटपाट तथा हिंसात्मक उपायों द्वारा वर्गसंघर्ष का प्रचार करते देखे गये हैं और कितने ही अखबार मिथ्या बातों तथा हिंसा के ऐसे प्रचार करते देखे गये हैं, जिनसे लोगों में हिंसा भड़क सकती है या साम्प्रदायिक संघर्ष हो सकते हैं—इसलिए कांग्रेस जनता को आगाह करती है कि हिंसा का कार्य, हिंसा का प्रोत्साहन या मिथ्या बातों का प्रचार नागरिक स्वतंत्रता नहीं कही जा सकती। इसलिए नागरिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति में कोई परिवर्तन न होने के बावजूद कांग्रेस अपने मंत्रिमंडल द्वारा जन और सम्पत्ति की रक्षा के लिए किये गये उपायों का समर्थन करेगी।"

प्रांतीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में विभिन्न प्रांतों में विभिन्न घटनाएं हुईं। ऐसे समय जब कि राष्ट्र उन्नति के पथ पर था उसे कुछ गड्ढों और खाइयों को पार न करना पड़ता तो यह सचमुच आश्चर्य की बात होती। आश्चर्य की बात यही थी कि ये बाधाएं इतनी कम क्यों पड़ीं? प्रधानमन्त्रियों का एक सम्मेलन मई १९३८ में हुआ। सातों प्रधानमन्त्रियों तथा उनके कुछ साथियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। यह स्वाभाविक ही था कि इस सम्मेलन में सब से अधिक ध्यान कांग्रेसी प्रांतों के परस्पर सहयोग तथा उनकी नीतियों के एकीकरण के प्रश्न पर दिया जाता। अंत में तो हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि सम्पूर्ण भारत एक और अविभाज्य है। विषयों का केन्द्रीय और प्रांतीय विभाजन भी सुविधा के ही अनुसार हुआ। कांग्रेसी तथा गैरकांग्रेसी प्रांतों का विभाजन भी दुखद परिस्थितियों का ही परिणाम है, जो अधिक समय, अधिक सद्भावना तथा अधिक जाग्रति से ही मिट सकता है। प्रधानमन्त्री सम्मेलन में साधारण कृषि-नीति, श्रमिक तथा औद्योगिक पुनर्निर्माण, शक्ति के साधनों का विकास, ग्रामसुधार, व शिक्षा, राजस्व सम्बन्धी साधन, कर-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार हुआ। संयुक्तप्रांत ने रचनात्मक कार्य के लिये राजस्व के नये साधनों के सम्बन्ध में और बम्बई ने जेल सुधार के सम्बन्ध में सम्मेलन बुलाने की जिम्मेदारी ग्रहण की। प्रत्येक प्रांत ने किसी-न-किसी विषय की विशेष छानबीन करने का भार लिया। इस तरह मद्रास ने मादक वस्तु निषेध, मन्दिर-प्रवेश तथा ऋण-सम्बन्धी सहायता के सम्बन्ध में, बम्बई ने मजदूरों की समस्या के विषय में, संयुक्तप्रांत व बिहार ने भूमि-कर तथा कृषि-समस्याओं के बारे में आसाम(जो शीघ्र ही कांग्रेस के प्रभाव में आने वाला था) खनिज साधनों के विषय में, उड़ीसा ने कलापूर्ण दस्तकारियों के विषय में और मध्यप्रांत ने औद्योगिक तथा खनिज साधनों के अध्ययन का दायित्व ग्रहण किया।

ये तो सिर्फ सुझाव थे। मद्रास ने जमींदारी समस्या, बम्बई ने मादक वस्तु निषेध और संयुक्त-प्रांत ने जेल सुधार के विषय हाथ में लिये। सच तो यह है कि सभी प्रांतों को अंत में अपने यहां सभी सुधार करने पड़ेंगे। मद्रास ने बिक्री कर के सम्बन्ध में जो विशेष अध्ययन किया उससे एक गैरकांग्रेसी प्रांत पंजाब का लाभ हुआ। प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन से औद्योगिक योजना-निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिसका कुछ समय बाद श्रीगणेश भी हुआ।

पहले कांग्रेसी वजारतें छः प्रांतों में कायम हुईं। १९३८ के आरम्भ में सिन्ध भी कांग्रेस के प्रभावक्षेत्र में आगया। वर्ष के अंत में आसाम में भी उसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई। १२ सितम्बर को प्रांतीय असेम्बली में अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया जाने वाला था, किन्तु प्रधानमन्त्री ने कहा कि मेरे कई साथियों ने सरकारी पक्ष छोड़ कर विरोधी पक्ष में मिलने का निश्चय किया है। इसलिए मैंने गवर्नर के पास अपना इस्तीफा भेज दिया है। प्रधानमन्त्री द्वारा प्रांतीय असेम्बली में यह घोषणा किये जाने के उपरांत गवर्नर ने कांग्रेस दल के नेता को बुलाया और उन से मन्त्रिमण्डल बनाने को कहा। कांग्रेसदल के नेता ने कांग्रेस अधिकारियों की अनुमति से संयुक्त मंत्रिमण्डल बनाया। यह इस ढंग का दूसरा मन्त्रिमण्डल था। लेकिन यह ऐसा मन्त्रिमण्डल था, जिसमें कांग्रेसी मन्त्री सिर्फ प्रधानमन्त्री ही थे।

प्रांतीय शासन की समस्याएं जिस प्रकार जनता की आदतों और रीति-रिवाजों की भिन्नता के कारण उठती हैं उसी प्रकार जनता की भिन्नता के कारण भी उत्पन्न होती हैं। जबकि संयुक्तप्रांत जैसे प्रांतों में एक-सी और एक भाषा-भाषी जनता है, मद्रास, बम्बई व मध्यप्रांत में कई भाषाएं बोलने वाली जनता है। जिस प्रकार दक्षिण के लोग उत्तरी भारत के धार्मिक मतभेदों से उठने वाली कठिनाइयों से अपरिचित हैं उसी प्रकार उत्तर भारत के लोग दक्षिण के भाषा सम्बन्धी भेदों से उठने वाली कठिनाइयों तथा विवादों से अपरिचित हैं। मद्रास प्रांत की कठिनाई यह थी कि प्रांतीय धारासभा में ऐसे १०० आंध्र सदस्य थे, जो तमिल, मलयालम और कन्नड़ भाषाओं को नहीं समझते थे। दूसरी तरफ लगभग उतने तमिल सदस्य तथा मलयाली और कन्नड़ सदस्य अन्य दोनों भाषाओं को नहीं समझते थे। लगभग आधे यानी सौ एक सदस्य अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस कठिनाई को दूर करने का एक-मात्र उपाय यही था कि आंध्र प्रदेश को अलग करके पृथक प्रांत बना दिया जाय और मद्रास व बम्बई के उपयुक्त प्रदेशों को मिला कर एक कर्नाटक प्रांत बना दिया जाय। इसी प्रकार एक मलयाली प्रांत भी बन सकता है। जुलाई १९३८ में आंध्र तथा केरल प्रांतों के निर्माण और कर्नाटक प्रांत के संगठन के सम्बन्ध में प्रतिनिधि-मण्डल कार्यसमिति से मिले। कार्यसमिति ने उनकी बातें विस्तार से सुनने के बाद निम्न प्रस्ताव पास किया--

आंध्र-प्रांतीय कांग्रेस कमेटी, आंध्र महासभा, कर्नाटक संयोजक कमेटी, कर्नाटक प्रांतीय कांग्रेस कमेटी और केरल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के प्रतिनिधि-मण्डलों के भाषा सम्बन्धी आधार पर प्रांतों के पुनर्विभाजन करने के सम्बन्ध में विचार सुनने के बाद, यह समिति घोषणा करती है कि भाषा सम्बन्धी आधार पर प्रांतों के बटवारे के सम्बन्ध में मद्रास धारासभा का प्रस्ताव तथा कर्नाटक के पृथक्करण के सम्बन्ध में बम्बई धारासभा का प्रस्ताव पार्लामेंटरी सब-कमेटी की अनुमति तथा कार्यसमिति की पूर्ण स्वीकृति के बाद ही पास हुए थे। यह समिति सम्बन्धित प्रदेशों की जनता को आश्वासन देती है कि कांग्रेस के हाथ में भारत के शासन की भावी योजना बनाने की शक्ति जब आवेगी, उस समय इस समस्या का निबटारा किया जायगा। समिति इन प्रदेशों की जनता

से अनुरोध करती है कि वे इस सम्बन्ध में कोई आंदोलन न करें, क्योंकि इससे देश के सम्मुख उपस्थित मुख्य समस्या से ध्यान हट सकता है।

प्रांतीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में वर्ष की सबसे महत्वपूर्ण—या कहा जाय कि कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के प्रथम काल की सबसे महत्वपूर्ण—घटना अभी शेष है। राजनैतिक आकाश में पहले कुछ गड़गड़ाहट सुनाई दी, फिर बादल झुक आये, बिजली चमकी और अंत में तूफान आगया। एक मंत्री का दूसरे मन्त्री से मतभेद हो गया। प्रधानमन्त्री ने अन्य साथियों से सलाह लिये बिना ही अपना इस्तीफा गवर्नर के सम्मुख उपस्थित कर दिया, जिससे राजनैतिक संकट उत्पन्न हो गया। प्रधानमंत्री को मंत्रिमण्डल का निर्माण करने के लिए फिर से बुलाया गया। यह सब कार्यसमिति के ज्ञान के बिना ही या उसके स्पष्ट रूप से प्रकट किये गये मत के विरुद्ध हुआ। यह विषय इतना महत्वपूर्ण और नाजुक है कि जिन लोगों को उसमें दिलचस्पी हो उन्हें पार्लमिंटरी बोर्ड के अध्यक्ष का वह वक्तव्य पढ़ना चाहिए।[1]

जबकि प्रांतीय सरकारें अपने नये क्षेत्र में अप्रत्याशित व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न होने वाले विरोध का सामना कर रही थीं, कांग्रेस के पुराने महारथी केन्द्रीय सरकार से संघर्ष कर रहे थे। केन्द्रीय सरकार से उनका यह संघर्ष भले ही कम प्रभावपूर्ण था, किन्तु इसमें प्रयत्न अधिक आवश्यक था। केन्द्रीय सरकार में अभी तक चंद व्यक्तियों का शासन था और वह पहले के ही समान निरंकुश थी और इसीलिए उस पर जनता के मत और उसकी अपील का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। केन्द्रीय असेम्बली का बजट-अधिवेशन भारतीय सेना की ब्रिटिश शाखा के यंत्रीकरण के विरुद्ध कांग्रेसदल के एक निन्दात्मक प्रस्ताव से आरम्भ हुआ। पांच ब्रिटिश रेजिमेंटों का २,१५,००,००० रु० की लागत से यंत्रीकरण होने को था और इस रकम में से ब्रिटिश सरकार सिर्फ ८०,००,००० रु० दे रही थी और शेष रकम यानी १,३५,००,००० रु०, भारत के मत्थे मढ़े जा रहे थे। यह नीति अनुचित थी; क्योंकि भारतीय धन से भारतीय सेना के अंग्रेज दस्तों का यंत्रीकरण किया जा रहा था और यंत्रीकरण के इस कार्यक्रम से भारतीय रेजिमेंटों को अलग रखा गया था।

भारतीय सेना से सम्बन्ध रखने वाली समिति में केन्द्रीय धारासभा के निर्वाचित सदस्यों को रखने के बारे में श्री गेडगिल का प्रस्ताव पास हो गया, किन्तु साथ ही श्री आसफअली द्वारा प्रस्तावित यह शर्त भी उसमें जोड़ दी गई कि ऐसा उसी अवस्था में किया जाय, जबकि कमेटी के कार्य में सपरिषद गवर्नर-जनरल को इन विषयों पर परामर्श देने का अधिकार रहे—(१) भारत से बाहर भारतीय सैनिकों को भेजने, (२) अतिरिक्त खर्च से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव और (३) सेना का भारतीयकरण।

२८ फरवरी को अर्थ-सदस्य सर जेम्स ग्रिग ने केन्द्रीय बजट उपस्थित किया। इसके उपरांत बजट पर आम बहस आरम्भ हुई। बहस के बीच सरकार की एक चाल पर प्रकाश पड़ा और ऐसा होते ही केन्द्रीय असेम्बली तथा राजपरिषद दोनों ही में नाटकीय दृश्य देखने में आये। केन्द्रीय असेम्बली में बजट के सम्बन्ध में आम बहस आरम्भ होने के समय विरोधी दल के नेता श्री भूलाभाई देसाई ने एक वक्तव्य दिया कि कांग्रेस दल, स्वतन्त्र कांग्रेस राष्ट्रीयतावादी दल और डेमोक्रेट दल ने बजट की आम बहस में भाग न लेने का निश्चय किया है। जब भी बजट-सम्बन्धी मांगें उपस्थित की जाती थीं तभी विरोधी दल की तरफ से उन्हें अस्वीकार करने का

१ देखिए बुलेटिन ४--१६ अगस्त १९३८

प्रस्ताव बिना भाषण के ही उपस्थित कर दिया जाता था। सन् १९२४ से यह परम्परा चली आई थी कि सभा को 'रक्षा' तथा 'विदेश-विषय' के सम्बन्ध में सरकार की नीति पर अपना मत प्रकट करने का अवसर दिया जाता था, किन्तु इस वर्ष उस परम्परा को भंग करने का षड्यंत्र किया गया था और असेम्बली ने इसके विरोध में ही अपना उपर्युक्त निश्चय किया था। सर जेम्स द्वारा कस्टम्स सम्बन्धी मांग पेश करते ही विरोधी दल की तरफ से कटौती का प्रस्ताव पेश करने के स्थान पर मत लेने की मांग उपस्थित कर दी गई। मांग ४९ के विरुद्ध ६४ मतों से नामंजूर करदी गई। अर्थसदस्य द्वारा पेश की गई अन्य मांगों का भी यही हाल हुआ। जिन ७० मदों पर विचार करने में १५ दिन लग जाते थे उन्हें डेढ़ दिन के ही भीतर नामंजूर कर दिया गया। बाद में इन नामंजूर मांगों को गवर्नर-जनरल ने अपने विशेषाधिकार द्वारा मंजूर कर दिया। असेम्बली ने इसका जवाब सम्पूर्ण अर्थ-बिल को नामंजूर करके दिया। सभा ने सिफारिशी अर्थ बिल को भी ४८ के विरुद्ध ६८ मतों द्वारा अस्वीकार कर दिया। राजपरिषद् ने धारासभाओं के एक मूल्यवान अधिकार पर कुठाराघात का विरोध कुछ अधिक नाटकीय ढंग से किया। बजट पर आम बहस आरम्भ होते ही परिषद् से कांग्रेस तथा प्रोग्रेसिव दल के सदस्य उठ कर बाहर चले आये।

एक कटौती का प्रस्ताव इस सम्बन्ध में भी उपस्थित किया गया कि जिन सरकारी पदाधिकारियों का सम्बन्ध अपने कार्यकाल में कुछ विशेष फर्मों से रहता है, उन फर्मों में वे अवकाश ग्रहण करने के बाद नौकरी कर लेते हैं। श्री भूलाभाई देसाई ने कहा कि ऐसे सरकारी नौकरों की पेंशनें जब्त हो जानी चाहिएं।

केन्द्रीय धारासभा में कुछ विषय ऐसे थे, जिनके सम्बन्ध में कम-से-कम आगे के लिए तैयारी के रूप में कुछ-न-कुछ करना आवश्यक था। गोकि अभी केन्द्र में जिम्मेदारी नहीं मिली थी फिर भी जल्दी या देर से वह कभी-न-कभी मिलनी ही थी और कांग्रेस को इसके लिए पहले से तैयार होना था। मजदूरों की व्यवस्था शासन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यद्यपि प्रान्तीय सरकारों को मजदूरों की समुचित व्यवस्था करने के लिए काफी अधिकार प्राप्त थे, फिर भी सभी प्रान्तों में एक-जैसी नीति का अनुसरण करने के लिए केन्द्रीय सरकार विभिन्न प्रान्तों की नीतियों का एकीकरण कर सकती थी। बम्बई सरकार ने अपने यहां मजदूरों-सम्बन्धी कानून का मसविदा बनाया था। मई १९३८ में कांग्रेस की मजदूर कमेटी की बैठक हुई, जिसमें कुछ प्रान्तों के प्रधानमन्त्रियों ने तथा अन्य प्रान्तों के प्रधानमंत्रियों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। बम्बई और संयुक्तप्रान्त ने कपड़ा-उद्योग के मजदूरों की मजदूरी तथा काम की अवस्था की जांच के लिए कमेटियां नियुक्त की थीं। बैठक में अनुरोध किया गया कि मजदूरों की अवस्था तथा मजदूर-सभाओं के झगड़ों की जाँच-पड़ताल के लिए जो कमेटियां नियुक्त की जायं उनमें सार्वजनिक जीवन और राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को ही रखा जाय। यह बड़ी खुशी की बात थी कि बम्बई कपड़ा-उद्योग-जांचकमेटी की सिफारिशें बम्बई की सरकार ने स्वीकार कर लीं और बम्बई प्रान्त के मिल मालिकों ने उन्हें अमल में लाना मंजूर कर लिया। बिहार भी संयुक्तप्रान्त व बम्बई का अनुसरण करता रहा; परन्तु अभी चीनी, खान, कपास ओटने वगैरह संगठित उद्योगों की अवस्था की जांच होना शेष थी। जांच के क्षेत्र का विस्तार बढ़ाना भी आवश्यक था ताकि दूकानों में काम करने वालों की अवस्था तथा उनके वेतन का प्रश्न भी उसमें आजाय। बम्बई में कानून बनने का कार्य जारी था, जिसमें इस बात का भी

प्रबन्ध था कि बीमारी के दिनों में वेतन के साथ छुट्टी दी जाय। बड़ौदा सरकार ने १ अगस्त १९३८ से रियासत में ६ घंटे का दिन घोषित करके दूसरी रियासतों का पथ-प्रदर्शन किया। बम्बई सरकार ने अपने कारखाना-कानून को उन कारखानों पर लागू करने का निश्चय किया, जिनमें १० या इससे अधिक व्यक्ति काम करते थे। उधर बम्बई व संयुक्त-प्रान्त दोनों ही में मजदूरिनों के शिशुओं के लिए झूले अनिवार्य रूप से उपलब्ध करने का नियम बना दिया गया। बम्बई-सरकार ने अहमदाबाद में मादक वस्तु निषेध करने का जो विचार किया, उसका जितना नैतिकता से सम्बन्ध था उससे कम उसका मजदूरों से सम्बन्ध न था।

अगस्त १९३७ में ही जबकि कांग्रेस को प्रांतों में मंत्रिमंडल स्थापित किये महीना-भर भी नहीं हुआ था, कार्यसमिति अखिल-भारतीय औद्योगिक योजना के निर्माण के लिए विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त करने का विचार कर चुकी थी। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जुलाई १९३८ में कांग्रेस के अध्यक्ष को उद्योग-मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाने तथा विभिन्न प्रांतों के मौजूदा उद्योगों तथा नये उद्योगों की आवश्यकता व सम्भावना के संबंध में रिपोर्ट प्राप्त करने का अधिकार दिया गया। यह सम्मेलन दिल्ली में २ और ३ अक्टूबर १९३८ को हुआ। इसका उद्देश्य कुछ ऐसी समस्याओं पर विचार करना था, जिनका हल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा सामाजिक आयोजन की किसी स्कीम के लिए आवश्यक था। इन समस्याओं के हल के लिए यह जरूरी था कि हम अपना लक्ष्य निर्धारित करें और विस्तृत जांच-पड़तालों के बाद आवश्यक सामग्री का संकलन करें। इसके अतिरिक्त कितनी ही समस्याओं का हल प्रांतीय आधार पर होना सम्भव न था, क्योंकि साथ के प्रांतों के स्वार्थ भी सम्बद्ध थे। विनाशकारी बाढ़ों से बचाव, सिंचाई के लिए पानी के उपयोग, मिट्टी के कटाव की समस्याओं पर विचार, मलेरिया की रोकथाम और जल-विद्युत तथा अन्य योजनाओं के संबंध में एक समान नीति निर्धारित करने के लिए नदियों की व्यापक जांच की आवश्यता थी। इसका मतलब यह हुआ कि नदियों की सम्पूर्ण घाटियों की जांच-पड़ताल की जाय और कई प्रांत मिलकर योजनाएं तैयार करके उनपर अमल करें। राष्ट्रपति सुभाषचन्द्र बोस ने मई १९३८ में प्रधानमंत्रियों का जो सम्मेलन बुलाया था, उसमें औद्योगिक पुनर्निर्माण, शक्ति के साधनों और प्रांतों में परस्पर-सहयोग की समस्याओं पर विचार हुआ। उद्योग मंत्रियों के सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए सुभाष बाबू ने स्वाधीन भारत में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की समस्याओं पर प्रकाश डाला और बतलाया कि कृषि की उन्नति वैज्ञानिक ढंग पर कितनी ही क्यों न की जाय (कृषि की उन्नति से खाद्य में वृद्धि होगी, वह सस्ता होगा और शायद बेकारी भी घटेगी), किन्तु निर्धनता और बेकारी को दूर करने तथा उत्तम वस्त्र, उत्तम मकान, उत्तम शिक्षा और अधिक फुरसत पाने का एकमात्र उपाय औद्योगीकरण ही हो सकता है। औद्योगीकरण एक बुराई भले ही हो, पर यह एक आवश्यक बुराई है और इस बुराई को घटाना हमारा काम है। यह हमारे यहां ब्रिटेन की तरह क्रमिक न होकर रूस की तरह तुरंत और बलपूर्वक होनी चाहिए। सुभाष बाबू ने कहा कि घरेलू उद्योग और बड़े उद्योगों में कोई विरोध नहीं है, केवल राष्ट्र को एक तरफ यह फैसला कर लेना चाहिए कि औद्योगिक क्रान्ति आवश्यक है और दूसरी तरफ यह कि किस उद्योग का विकास घरेलू आधार पर किया जाय और किसका बड़े आधार पर। सुभाष बाबू ने राष्ट्रीय योजना निर्माण के निम्न सिद्धान्त निर्धारित किये —

(१) मुख्य आवश्यकताओं के संबंध में राष्ट्र आत्म-निर्भर बन सके।

(२) बिजली, धातु-उत्पादन, मशीन तथा औजारों के निर्माण, मुख्य रासायनिक पदार्थ तथा यातायात उद्योगों की उन्नति।
(३) टैक्नीकल शिक्षण तथा टैक्नीकल अनुसंधान का प्रबंध।
(४) एक स्थायी राष्ट्रीय अनुसंधान-परिषद् की स्थापना।
(५) वर्तमान औद्योगिक स्थिति की आर्थिक जांच।

इन सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप निम्न समस्याएं उठेंगी —

(१) प्रत्येक प्रान्त की आर्थिक जांच,
(२) घरेलू उद्योगों तथा बड़े उद्योगों का एकीकरण,
(३) उद्योगों का प्रादेशिक बटवारा,
(४) भारत तथा विदेश में विद्यार्थियों का टैक्नीकल शिक्षण,
(५) टैक्नीकल अनुसंधान का प्रबंध,
(६) औद्योगीकरण की समस्याओं के सम्बंध में सलाह देने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति की स्थापना।

योजना-समिति में जिन लोगों को रखा गया उनके नामों की घोषणा की गई। समिति के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू नियुक्त किये गये, जो इंगलैंड में थे। समिति की २७ उप-समितियां थीं। उसने १९३८–३९ से सत्याग्रह आन्दोलन के आरम्भ यानी नवम्बर १९४० तक काम किया। समिति में देश के कुछ सर्वश्रेष्ठ विद्वानों, शासकों और विशेषज्ञों ने काम किया समिति की कार्रवाई पठनीय है। यहां यह बता देना असंगत न होगा कि श्री जे० सी० कुमारप्प ने मतभेद होने के कारण घरेलू उद्योग उप-समिति से स्तीफा दे दिया।

अखिल भारतीय क्षेत्र में कांग्रेस की दिलचस्पी जिन समस्याओं में थी उनमें रियासतों क समस्या ने सबसे अधिक महत्व ग्रहण कर लिया। प्रान्तों में स्वायत्त शासन की प्रगति होने से रियासतों में केवल जाग्रति ही नहीं हुई, बल्कि ऐसा परिस्थितियां भी उत्पन्न हो गईं, जिन पर गांधीजी और कार्यसमिति को विचार करना पड़ा। हम देख चुके हैं कि दक्षिण में ट्रावनकोर और मैसूर का तत्कालीन इतिहास में मुख्य स्थान रहा। कुछ ही दिनों में हैदराबाद को भी वैसी ही प्रमुखता प्राप्त हुई। ट्रावनकोर की दमन-नीति की भारत भर में आलोचना हुई और सितम्बर १९३८ में जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई तो उसमें भी इस सवाल को लेकर बड़ी सरगर्मी रही। ट्रावनकोर कांग्रेस के उद्देश्य के प्रश्न के बारे में रियासती सरकार और राज्य की कांग्रेस के बीच उग्र विवाद चल रहा था। रियासती सरकार की देख-रेख में उत्तरदायी शासन की जो मांग की गई थी, उस पर तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती थी और इस सम्बन्ध में एक समिति की नियुक्ति की जा सकती थी। रियासती सरकार का कहना था कि दूसरी तरफ से उत्तेजना दिलाई गई, जिसके कारण राज्य को दमनकारी उपायों से काम लेना पड़ा और गोली चलानी पड़ी। अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी की तरफ से मांग उपस्थित की गई कि इन घटनाओं की रियासत के बाहर के किसी न्यायवेत्ता द्वारा जांच कराई जाय। साथ ही कमेटी ने अपनी दिल्ली की बैठक में राजनैतिक बंदियों की रिहाई की भी मांग की। जबकि ट्रावनकोर के बारे में यह प्रगति हो रही थी, हैदराबाद राज्य ने जरूरत से कहीं ज्यादा विशेषाधिकार कानून जारी किये। पूर्वी एजेंसी की तालचर और धनकनाल रियासतों तथा उत्तर में काश्मीर और लहावाल में इन दिनों जोरों का दमन चल रहा था।

लेकिन जिस रियासत ने जनता का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट किया था और जो उसकी नज़र में सबसे अधिक गिरी वह थी मैसूर। इस रियासत ने ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों जैसा शासन रखने के कारण खूब नाम कमाया था, क्योंकि यह मध्य के काल में ४० वर्ष तक सीधे ब्रिटिश शासन में रह चुकी थी। रियासत की नेकनामी अपने पिछले कार्यों की वजह से थी और राजनैतिक बाजार में उसका भाव लगातार गिरता ही जा रहा था। 'स्वाधीनता दिवस' के सम्बन्ध में मौखिक चेतावनियों और विनाशात्मक कार्यों के लिए व्यक्तियों से जमानतें मांगी जा रही थीं और उन पर प्रतिबंध लगाये जा रहे थे। इस दमनकारी नीति में सहनशीलता या सत्य व अहिंसा पर आधारित देशभक्ति तथा जाग्रति की भावना के लिए स्थान न था। १६३८ में विदुरस्वाथम् के गोलीकांड से यह नीति अपनी चरम सीमा को पहुंच गई। इसी बीच एक जांच-समिति की नियुक्ति हुई। गोकि इस समिति ने अधिकारियों के आचरण की निंदा की, किन्तु साथ ही विदुरस्वाथम् में गोली चलाने को उचित ही बताया गया। समिति ने निर्णय दिया कि गोली भीड़ की हिंसा से बचने के लिए आत्मरक्षा के उद्देश्य से चलाई गई थी। इसी समय गांधीजी ने कार्यसमिति के दो सदस्यों सरदार वल्लभभाई पटेल व आचार्य कृपलानी को भेजा। विषय के महत्त्व को देखते हुए उसके कुछ अधिक बारीकी से अध्ययन की जरूरत है। यहां हम कांग्रेस के एक अधिकृत विवरण से कुछ अंश देते हैं—

"जिला मजिस्ट्रेट ने धारा १४४ के अनुसार एक आदेश निकालकर राष्ट्रीय झंडा लगाने, सभा करने और भाषण देने पर प्रतिबंध लगा दिया। इस आदेश की कोलर जिले के विदुरस्वाथम् गांव (बंगलौर से ५० मील दूर) के निवासियों ने अवज्ञा की और १०,००० के लगभग जनता एक सार्वजनिक सभा करने के लिए एकत्र हुई। जिला मजिस्ट्रेट ने उसे गैरकानूनी जनसमूह घोषित कर दिया और तुरंत तितर-बितर होने का आदेश दिया। सभा भंग न होने पर पुलिस ने गोली चलाई, जिसमें ३२ व्यक्ति मरे और ४८ बुरी तरह घायल हुए। सरकारी विवरण में कहा गया कि सिर्फ दस-बारह व्यक्ति मरे और कुछ घायल हुए। इस गोलीकांड से देश भर में सनसनी फैल गई। मैसूर राज कांग्रेस की कार्यसमिति ने इस प्रकार अंधाधुंध गोली चलाने की निन्दा की और कांग्रेसजनों को यह आदेश भंग करके अपना सम्मान तथा मौलिक अधिकार कायम रखने की स्वतंत्रता दे दी। मैसूर सरकार ने एक विज्ञप्ति में दुर्घटना का सरकारी विवरण दिया। उसमें भीड़ की हिंसा से बचने के लिए आत्मरक्षा के उद्देश्य से गोली चलाना उचित बताया गया; परन्तु साथ ही सरकार ने तीन जजों की एक जांच-समिति भी नियुक्त कर दी। मैसूर राज्य कांग्रेस ने भी एक जांच समिति नियुक्त की। महात्मा गांधी ने एक वक्तव्य निकालकर मैसूर सरकार से अनुरोध किया कि उसे समय की गति को देखते हुए निरंकुशता से हाथ खींच लेना चाहिए।

"परिस्थिति का निकट से अध्ययन करने और सम्भव हो तो मैसूर कांग्रेस व मैसूर सरकार के मध्य समझौता कराने के खयाल से श्री वल्लभभाई पटेल व श्री जे० बी० कृपलानी बंगलौर गये। ये लोग मैसूर कांग्रेस के नेताओं तथा दीवान सर मिरजा इस्माइल से मिले। इस वार्ता के परिणामस्वरूप एक समझौते का गुर निकाला गया, जो नीचे दिया जाता है। समझौते में वे सभी मांगें स्वीकार कर ली गईं, जो राज्य-कांग्रेस ने अपने शिवपुर वाले अधिवेशन में उपस्थित की थीं—

"(१) मैसूर कांग्रेस की स्वीकृति, (२) मैसूर सरकार घोषणा करे कि शासन-सुधार समिति यदि चाहे तो मैसूर राज्य के लिए उत्तरदायी शासन की सिफारिश कर सकती है,

(३) जो ४ कांग्रेसजन शासन-सुधार समिति से इस्तीफा दे चुके हैं उन्हें फिर से नामज़द किया जाय, (४) ३ अतिरिक्त कांग्रेसजनों को, जिनका चुनाव राज्य कांग्रेस करेगी, समिति में और रखा जाय, (५) राजनैतिक बंदियों की आम रिहाई तथा दमनकारी आदेशों की वापसी, (६) झंड-सम्बन्धी झगड़े का निबटारा महात्मा गांधी द्वारा उपस्थित सुझाव के अनुसार किया जाय यानी विशेष अवसरों पर राज के झंडे के साथ ही कांग्रेस के झंडे को लगाने की सुविधा दी जाय; परन्तु कांग्रेस दल के अपने जलसों में सिर्फ राष्ट्रीय झंडा ही लगाया जाय।

'१७ मई को मैसूर सरकार ने मैसूर राज्य कांग्रेस को स्वीकार करने तथा ऐसे ही दूसरे मामलों के बारे में हुक्म निकाल दिया। आदेश के द्वारा राज्य में कांग्रेस दल को स्वीकार कर लिया गया, कांग्रेसदल द्वारा मनोनीत ३ अतिरिक्त सदस्यों को शासन-सुधार समिति में नियुक्त कर दिया गया, झंडे के बारे में गांधीजी के गुर को मान लिया गया और सरकार की तरफ से राजनैतिक बंदियों की रिहाई व रोक के हुक्म को वापस लेने का आदेश निकाल दिया गया। सरकार ने यह भी आशा प्रकट की कि इन कार्यों के परिणाम-स्वरूप राज्य में प्रगति के नये युग का आरम्भ हो सकेगा।'

यह समझौता जेल के कैदियों व राज्य के अधिकारियों में हुई वार्ता के कारण हुआ था। सरदार पटेल और आचार्य कृपलानी ने राज्य और मैसूर कांग्रेस के मध्य जो यह समझौता कराया था उसे कार्यसमिति ने भी स्वीकार कर लिया। मैसूर सरकार ने इस सम्बन्ध में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की और जून १९३८ में कार्यसमिति ने महाराज और उन सलाहकारों को समझौते की शर्तें उत्साह से पूरी करने के लिए बधाई भी दी। मैसूर में झगड़े की एक वजह राष्ट्रीय झंडे को समस्या भी थी और ऐसी हालत में दोनों ही पक्षों को सलाह दी गई कि किसी को भी ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए, जिससे दूसरे पक्ष के झंडे का अपमान होता हो। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि राष्ट्रीय झंडे की मर्यादा जोर-जबर्दस्ती से नहीं बढ़ सकती, बल्कि यह तो कांग्रेसजनों के सदाचरण तथा देश में कांग्रेस द्वारा की गई सेवा के लेखे से ही बढ़ सकती है। राष्ट्रीय झंडा अहिंसा और ऐसी राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है, जो सच्चे और अहिंसात्मक उपायों द्वारा ही कायम की जायगी। जहां तक रियासतों की व्यापक समस्या का सवाल है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे कांग्रेसजनों की संख्या बढ़ रही है, जो रियासतों को मध्ययुग के चिन्ह मानकर उन्हें मिटा देना चाहते हैं, फिर भी अभी तक कांग्रेस की नीति रियासतों के प्रति मैत्री का व्यवहार इस आशा से करने की रही है कि रियासतें समय की गति को देखते हुए अपने यहां उत्तरदायी शासन की स्थापना करेंगी और अपनी प्रजा की स्वतंत्रता का विस्तार करेंगी।

गोकि भारत एक पराधीन देश रहा है, फिर भी कांग्रेस उसकी विशेष अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को निरंतर स्वीकार करती रही है। भले ही भारत की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति वैसी न रही हो, जैसी होनी चाहिए, फिर भी मानवता का तकाजा है कि देश व कांग्रेस उसमें उन्नति करे। पिछले चार वर्ष से चीन भीतरी अशान्ति तथा बाहरी आक्रमण की आशंका से गुजर रहा था। एक ही पूर्वी महाद्वीप की नागरिकता के अलावा उसके प्रति एक पड़ोसी के नाते भी सहानुभूति थी। इसलिए चीन की राष्ट्रीय सरकार के लिए एक मोटर एम्बुलेंस (घायलों की सेवा-शुश्रूषा) दल आवश्यक डाक्टर व नर्स आदि के सहित भेजने का निश्चय किया गया। यही उचित भी था, क्योंकि १९३७ में जापानियों के हमले के समय से ही कांग्रेस चीन के स्वतंत्रता-संग्राम के प्रति सहानुभूति प्रकट करती रही थी और देश भर में इस सम्बन्ध में प्रदर्शन भी हुए थे। आठ हजार रुपये भी

एकत्र कर लिये गये थे; परन्तु यह विचार करके कि भारत की सहानुभूति का प्रदर्शन एम्बुलेंस दल भेजने से अधिक होगा, भारतीय डाक्टरों का एक दल डा० अटल की देखरेख में तैयार किया गया। दो वर्ष तक परिश्रम और लगन से काम करने के बाद डा० अटल अपने साथियों के हाथ में काम छोड़ कर भारत वापस चले आये और उनके कार्य की सभी जगह प्रशंसा हुई। दल के एक सदस्य डा० कोटनिस का वहीं स्वर्गवास भी हुआ।

उधर जंजीबार में परिस्थिति में सुधार हुआ। भारत में जंजीबार की लौंग का जो बहिष्कार जून १९३८ के मध्य तक किया था उसका प्रभाव पड़ा और जंजीबार सरकार तथा प्रवासी भारतवासियों में समझौता हो गया। इस समझौते को एक तरफ ब्रिटिश औपनिवेशिक विभाग ने और दूसरी तरफ कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। लौंग-बहिष्कार समिति के अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल ने निम्न वक्तव्य प्रकाशित किया—

"जंजीबार सरकार तथा प्रवासी भारतीयों के बीच हुए समझौते की औपनिवेशिक विभाग द्वारा स्वीकृति के परिणाम-स्वरूप अब यह समझौता पूरी तरह मान्य हो चुका है। कांग्रेस की कार्यसमिति ने भी समझौते को स्वीकार कर लिया है और इस तरह लौंग के बहिष्कार को वापस लेने की परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। इसलिए मैं लौंग-बहिष्कार समिति की तरफ़ से बाकायदा घोषणा करता हूं कि बहिष्कार उठा लिया गया है और लौंग के व्यापारी जंजीबार व मेडागास्कर दोनों ही की लौंग का व्यापार फिर से जारी कर सकते हैं।

"इस समय मैं जनता का ध्यान उस महत्वपूर्ण अपील की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ, जो कार्यसमिति ने जंजीबार समझौते सम्बन्धी अपने प्रस्ताव में की है। समिति को विश्वास है कि जनता व खुदरा व्यापारी उन फर्मों को तरजीह देंगे, जिन्होंने बहिष्कार में सच्चाई के साथ भाग लिया था। मुझे विश्वास है कि भारतीय जनता इस अपील पर पूरा ध्यान देगी।

"मैं लौंग-बहिष्कार समिति की तरफ से जंजीबार के प्रवासी भारतीयों, इस देश की भारतीय जनता तथा बम्बई व अन्य स्थानों के लौंग के व्यापारियों को सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से किये त्यागों तथा उनके परिणाम-स्वरूप प्राप्त सफलता के लिए बधाई देता हूं। साथ ही मुझे बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस समिति के स्वयंसेवकों को भी बधाई देनी चाहिए कि बम्बई शहर में छः सप्ताह तक प्रभावपूर्ण धरना देकर बहिष्कार को सफलतापूर्वक जारी रखा। बहिष्कार वापस लेते ही धरना भी उठाया जा रहा है। इसका यह मतलब नहीं कि दोषियों के विरुद्ध कोई कार्रवाई न की जायगी। कुछ अपराधियों के विरुद्ध कार्रवाई की जा चुकी है, अन्य को अपनी पिछली गलतियों का प्रायश्चित करने को कहा जायगा। जो लौंगसमिति के बताये तरीके पर प्रायश्चित्त नहीं करेंगे, उनके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की जायगी।

"जंजीबार के इस लम्बे झगड़े के सफलतापूर्वक समाप्त होने पर मैं भारतीय राष्ट्र को बधाई देता हूं। अब प्रवासी भारतीय भी अनुभव कर सकते हैं कि इस देश में संगठित कार्रवाई द्वारा कांग्रेस उनके हितों की रक्षा कर सकती है।"

१९३८ के पतझड़ में युद्ध के बादल घिरने लगे। पहले वे मनुष्य के हाथ से अधिक बड़े न थे; किन्तु शीघ्र ही आसमान में अंधेरा हो गया और काली मेघमालाएं झुक कर पृथ्वी को छूने लगीं। कुछ लोग ब्रिटिश प्रधानमंत्री को दोष देने लगे कि उन्होंने इन बादलों को बरसने क्यों न दिया, अन्य उसकी तारीफ करने लगे कि सिर्फ छाते के बूते पर उन्होंने संकट को टाल दिया जिन घटनाओं के परिणामस्वरूप अंत में म्यूनिक का समझौता हुआ, उनके कारण कार्य-समिति

महत्वपूर्ण निर्णयों तथा युद्ध छिड़ने की प्रतीक्षा करती हुई व्यस्त रही। ब्रिटेन और जर्मनी में उन दिनों जो कुछ हो रहा था उसकी तथा तत्कालीन राजनैतिक व सैन्य परिस्थिति की सूचना कार्यसमिति को प्रति सप्ताह पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिल रही थी, जो २ जून को भारत से यूरोप के लिए रवाना हुए थे और मसावा में भारतीय व्यापारियों तथा सिकंदरिया में नहासपाशा व दूसरे वफ़्द नेताओं से मिलने के बाद (पंडितजी ने इन्हें कांग्रेस के अगले अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण भी दिया था), सीधे बार्सीलोना (स्पेन) चले गये थे—और स्पेन की परिस्थिति का निकट से अध्ययन किया था। उन दिनों आकाश से जो निर्दयतापूर्ण बमवर्षा हो रही थी, उसे उन्होंने अपनी आंखों से देखा था। इसके उपरान्त वह पेरिस गये थे और वहां रेडियो पर भाषण करते हुए भारतीय स्वाधीनता के आंदोलन के आदर्शों पर प्रकाश डाला था और फ्रांसीसियों से सहानुभूति की मांग की थी। इंगलैंड में भी उनका कार्यक्रम विविध प्रकार का था। वहां से वे एक दृष्टि डालकर चीन, भारत तथा संसार के अन्य भागों में छिड़े हुए संघर्षों को देख सकते थे। स्पेन के युद्ध की दूसरी साल-गिरह के दिन पंडितजी ने ट्राफलगर स्क्वेयर में नेलसन की मूर्ति के नीचे खद्दर की पोशाक में भाषण देते हुए कहा—

"आपके लिये फासिज़्म नया है, किन्तु हम तो उसका अनुभव पिछले १५० वर्ष से कर रहे हैं और इसीलिये हम जानते हैं कि स्पेन और चीन को किन परिस्थितियों में से होकर गुजरना पड़ रहा है। हम इन देशों का समर्थन करते हैं और उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद से किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं हैं, जो हमारे ऊपर विशुद्ध प्रभुत्व का हामी है और भारत में फासिज़्म का अंत करने के लिये नहीं है।"

पेरिस में जुलाई १६३८ को खुले नगरों में बम-बारी के विरुद्ध हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक प्रभावशाली भाषण दिया। सितम्बर १६३८ में कार्यसमिति की बैठक दिल्ली में हुई और उसमें युद्धसम्बन्धी परिस्थिति पर विचार हुआ। गांधीजी ने इस बैठक में कार्यसमिति से कहा कि यदि भारत की राजनैतिक प्रगति के लिए वह परिस्थिति से लाभ उठाना चाहती है तो मैं उसकी सहायता न कर सकूंगा और उसे आन्दोलन के नेतृत्व के लिए कोई दूसरा नेता चुनना पड़ेगा। यह बात काफी महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि बाद में एक वर्ष के पश्चात् जब युद्ध छिड़ा तो यह प्रश्न फिर से सामने आया।

यहां बर्मा की चर्चा उठाना असंगत न होगा; क्योंकि अब बर्मा भारत का भाग नहीं रह गया था। अब बर्मा-स्थित भारतीयों को अन्य उपनिवेशों में बसे भारतीयों की कोटि में ही रखा जा सकता था। १६३८ में बर्मा में रक्तपातपूर्ण दंगे हुए, जिनमें जान और माल की भारी हानि हुई। खून-खराबी के साथ ही आग लगाने की घटनाएं भी हुईं। इतनी दूर से कांग्रेस दंगों के कारणों तथा जान-माल की हानि के सम्बन्ध में निष्पक्ष तथा पूर्ण जांच की ही मांग कर सकती थी। कांग्रेस की न्यूनतम मांग यही हो सकती थी कि जिन मंदिरों या मसजिदों को नष्ट किया गया हो उन्हें फिर से बनवा दिया जाय। भारतीय बर्मा में अजनबी न थे। उन्हें वहां बसे हुए काफी अर्सा हो चुका था और वे बर्मा की आर्थिक प्रगति में काफी हिस्सा बटा चुके थे। कांग्रेस ने बर्मा तथा भारत की जनता से अपील की कि दोनों को अपनी परम्परागत मैत्री को बनाये रखना चाहिए और एक दूसरे के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। पिछले कुछ समय से साम्प्रदायिक मनमुटाव बढ़ रहा था, जिसकी चर्चा भी कभी-कभी सुनने में आती थी। १६३८ का इतिहास जवाहरलालजी और जिन्ना के पत्र-व्यवहार की चर्चा उठाये बिना अपूर्ण कहा जायगा, किन्तु इस विषय को

उठाने का उचित तरीका उसके बारे में एक अलग अध्याय देना और उसमें ऐतिहासिक तथा मानसिक दृष्टि से उसके विकास पर प्रकाश डालना ही हो सकता है। यह पत्र-व्यवहार बहुत ही उग्र रहा और उसका परिणाम भी कुछ न निकला। एक असाधारण तथा दुःखद घटना यह हुई कि राष्ट्रपति की हैसियत से जब सुभाष बाबू चटगांव डिवीजन (पूर्वी बंगाल) गये तो मुसलिम लीगियों की एक भीड़ ने शिष्टाचार और इंसानियत को ताक पर रख कर उनके जुलूस पर पत्थर फेंके। सौभाग्यवश राष्ट्रपति तथा जलूस के १४ आदमियों को साधारण सी चोटें लगीं। राष्ट्रपति ने तुरन्त वक्तव्य निकाल कर कहा, "गुण्डाशाही और घृणा का मुकाबला हमें प्रेम, धैर्य तथा संयम से करना चाहिए। "तभी हम सत्य और अहिंसा के अपने सिद्धांतों की रक्षा कर सकते हैं।"

श्री जिन्ना ने जो स्थिति ग्रहण की थी उस से एक इंच भी हटना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। कांग्रेस की कार्यसमिति ने अपनी दिसम्बर वाली बैठक में श्री जिन्ना के ६ अक्टूबर १६३८ वाले पत्र के सम्बन्ध में निश्चय किया कि उससे साम्प्रदायिक समस्या के निबटारे में कुछ भी मदद नहीं मिल सकती । इसलिए राष्ट्रपति ने १६ दिसम्बर १६३८ के दिन श्री जिन्ना को सूचित कर दिया कि कार्यसमिति मुसलिमलीग कौंसिल से वार्ता के आधार के सम्बन्ध में सहमत नहीं हो सकती और इसीलिए इस दिशा में और कुछ नहीं किया जा सका ।

: ५ :

त्रिपुरी : १६३६

कहा जाता है कि समय अपने साथ अपना पुरस्कार और प्रतिशोध लाता है, यह सम्भव है कि भाग्य की जिस उत्तमता के कारण लाभ हुआ हो उसके पीछे आगे आने वाली बुराई छिपी हो। जीवन खुद अच्छाई और बुराई का मेल है। १६३८ में हमारी युद्ध से रक्षा हुई, किन्तु क्या १६३६ में भी ऐसा हो सकेगा? १६३८ का साल काम का वर्ष था। इस वर्ष मंत्रियों को प्रांतों में कार्य करना पड़ा, संघ योजना के बलपूर्वक लादे जाने के विरोध में शक्ति संगठित करनी पड़ी और ऐसे सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक प्रयोग करने पड़े, जिनके परिणामस्वरूप निर्धन तथा पिछड़ी हुई जनता की अवस्था में सुधार होने की सम्भावना थी। यह वर्ष विदेश में उठने वाली आशाओं तथा आशंकाओं से भी परिपूर्ण था। गोकि युद्ध नहीं हुआ, किन्तु यह खुशी भी इस आशंका में बदलती गई कि युद्ध का जो संकट अब दब गया है वह कहीं फिर तो न उभर उठेगा। यह कुदरत का ही खेल है कि जोरदार गर्मी में ही उस बारिश का कारण छिपा रहता है, जो आसमान से गिर कर जमीन को तरोताजा बना देती है। कांग्रेस वर्ष समाप्त करने के बाद उसी उत्साह का अनुभव करती है, जिस प्रकार एक किसान बारिश का मौसम आने पर उत्साह का अनुभव करता है। उस समय वर्षा से पहले जो ठंडी हवा चलती है वह दूने उत्साह से काम करने की भावना का संचार करती है। बादल झुक जाते हैं, हवाएं चलती हैं, आसमान में अंधेरा छा जाता है, रिमझिम-रिमझिम बूंदें पड़ती हैं और एक साल दुनिया में बाढ़ों का तांता लग जाता है तो दूसरी साल सूखा पड़ती है। साधारण वृष्टि के साल इनेगिने ही होते हैं। यही बात कांग्रेस के बारे में कही जा सकती है। वर्ष के अन्त में कांग्रेस में भी वही भावोद्रेग दिखाई देता है, जो उस व्यक्ति के मन में होता है, जो जमीन को जोतता-बोता है, उसमें पानी देता है और अंत में फसल काटता है। वर्ष समाप्त होने पर कांग्रेसजनों में चुनाव की सरगर्मी फैल जाती है। आखिर इस वर्ष राष्ट्रपति कौन चुना जायगा? क्या नामों को भेजा जा चुका है? क्या बाकायदा चुनाव होगा या नेताओं ने पहले ही कोई नाम तय कर लिया है? जब जवाहरलालजी एक या दो नहीं बल्कि तीन-तीन अधिवेशनों के सदर बन चुके हैं तो सुभाष को दूसरा मौका क्यों नहीं मिल सकता?

यही नहीं, भीतरी हलचलें कम चिन्तनीय नहीं थीं। देश के भीतर और बाहर के वातावरण में उत्तेजना छाई हुई थी। ब्रिटेन की जिस नीति के परिणामस्वरूप म्यूनिक का समझौता हुआ वह कांग्रेस को पसंद न थी। म्यूनिक समझौते पर कांग्रेस को ब्रिटिश-इटालियन समझौता तथा विद्रोही स्पेन की स्वीकृति को ध्यान में रखते हुए विचार करना था। ये सब घटनाएं लोकतंत्रवाद के प्रति विश्वासघात की सूचक थीं। इनके द्वारा पिछले वचनों को

भंग कर दिया गया था और सामूहिक सुरक्षा की प्रणाली का गला घोंट दिया गया था और उन सरकारों के प्रति सहयोग का हाथ बढ़ाया गया था, जो स्वाधीनता व लोकतंत्रवाद की मानी हुई दुश्मन थीं। इसका परिणाम यही हो रहा था कि दुनिया अंतर्राष्ट्रीय अव्यवस्था के निकट पहुंच रही थी और शांति के नाम पर एक ऐसे युद्ध की तैयारियां की जा रही थीं, जो पिछले महायुद्ध से कहीं अधिक बड़ा और भयानक होने जा रहा था। नैतिकता के अंतर्राष्ट्रीय स्तर का पता यहूदियों के संगठित दमन, नगरों पर होने वाली बमबारी और शरणार्थियों की भगदड़ से लग रहा था। फिलस्तीन में अमन-अमान के नाम पर ब्रिटिश सेना आतंकवाद की सृष्टि कर रही थी। उधर चीन में निर्मम तथा अमानुषिक पूर्वी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जंग जारी था। तथाकथित ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में प्रवासी भारतीयों को अपने राजनैतिक, नागरिक तथा आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ना पड़ रहा था। प्रवासी भारतीयों के संघर्ष में मुख्य बातें यह थीं कि बर्मा में उनकी सम्पत्ति और प्राणों पर बन आई थी, केनिया में ऊंची जमीन को यूरोपियनों के लिए सुरक्षित करके भारतीयों को अलग करने के लिये षड़यंत्र रचा जा रहा था, लंका में भारतीयों के खिलाफ विरोधी रुख अख्तियार किया गया था और दक्षिण अफ्रीका में उनके विरुद्ध अन्यायपूर्ण कानून बनाये जा रहे थे।

तो क्या भारत में स्थिति कुछ आशाजनक थी? देशी राज्यों में से कुछेक में शान्तिपूर्ण संगठनों पर प्रतिबंध लगाकर उचित राजनैतिक कार्रवाई को रोका जा रहा था, जिससे उन राज्यों में संघर्ष गहरा होता जा रहा था। दूसरी रियासतों में पाशविक तथा क्रूरतापूर्ण अत्याचारों का बाजार गर्म था। कुछ रियासतें अपनी प्रजा के दमन के लिए ब्रिटिश सरकार की सहायता पाने के लिए लालायित थीं। आखिर परिस्थिति इस हद तक पहुंची कि त्रिपुरी अधिवेशन से कुछ पहले गांधीजी को राजकोट के प्रश्न पर मार्च १६३६ में अनशन करना पड़ा। अनशन का कारण यह था कि राजकोट के ठाकुर साहब व उनके सलाहकारों और दूसरी तरफ सरदार वल्लभभाई पटेल के मध्य हुए समझौते को रियासत ने भंग किया था। त्रिपुरी से पूर्व कांग्रेस में—या यों कहिये कि सम्पूर्ण भारत में या उसके बाहर भी—दो विशेष घटनाओं के कारण वातावरण क्षुब्ध हो गया था। इनमें पहली घटना राष्ट्रपति का चुनाव और दूसरी राजकोट के सवाल पर गांधीजी का अनशन थी। साधारणतौर पर राष्ट्रपति के चुनाव में कोई हलचल नहीं होती थी। अक्टूबर १६३४ में बम्बई वाले अधिवेशन में नया विधान स्वीकार किये जाने से पूर्व प्रान्तीय कांग्रेसकमेटियाँ नये वर्ष के लिए राष्ट्रपति के नामों के प्रस्ताव करती थीं और फिर वहीं इनमें से एक का चुनाव कर लेती थीं। सिर्फ एक बार यानी १६०७ में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के अवसर पर राष्ट्रपति के पद के लिए लाला लाजपतराय और बाबू रासबिहारी घोष को लेकर झगड़ा चल चुका था। बाईस साल बाद गांधीजी ने लाहौर अधिवेशन का सभापतित्व १६२६ में अस्वीकार करके एक नई परिस्थिति पैदा कर दी थी और तब अ० भा० कांग्रेस कमेटी को लखनऊ में नया चुनाव करना पड़ा था। तब से राष्ट्रपति के पद के लिए सच्चे अर्थ में कोई प्रतियोगिता हुई ही न थी। परन्तु त्रिपुरी अधिवेशन के लिए सभापतित्व के सवाल को लेकर वास्तविक विवाद उठ खड़ा हुआ; सुभाष बाबू कांग्रेस के चुप रहने वाले अध्यक्षों में से थे। अपनी अध्यक्षता के पहले कार्यकाल में जिन अवसरों पर कार्यसमिति की बैठक में उन्होंने मुंह खोला था उन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। उन की तंदुरुस्ती लगातार खराब रही थी और शरीर थक चुका था। फिर भी उनके मस्तिष्क में थकान न थी और शक्ति भी अक्षुण्ण बनी हुई थी। वे लगातार दौरे करते रहते थे। बहुतों को याद होगा

कि सितम्बर १९३८ में वायुयान द्वारा अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में भाग लेने के लिए दिल्ली जाते समय एकाएक उनकी तबीयत ज्यादा बिगड़ गई और उन्हें कानपुर में रुक जाना पड़ा था और फिर वे कार्यवाही के मध्य में पहुंचे थे। दिल्ली में उन्होंने जिस धैर्य से काम किया उसे देखकर लोग चकित रह गये। मध्यप्रान्त के डा० खरे को लेकर उन्होंने जो विवरणपत्र तैयार किया वह जिस प्रकार अपनी भाषा की ओजस्विता के कारण उल्लेखनीय था उसी प्रकार तथ्यों के संकलन तथा तर्कों की विशदता के कारण भी। यह सम्भव था कि कितने ही विषयों पर सुभाष बाबू का निजी मत होगा, लेकिन उस मत का उन्होंने न तो कभी प्रचार किया और न बहस के बीच ही कभी वे उसे लाये। यही नहीं, बातचीत के समय वे तटस्थ-से रहने की चेष्टा करते दिखाई देते थे। यह नहीं कि उनमें तथा अन्य नेताओं में मतभेदों का अभाव था; किन्तु इन मतभेदों के कारण विवाद के समय नई परिस्थितियां उत्पन्न नहीं होती थीं। कार्यसमिति की कार्यवाही बिना किसी कठिनाई के चलती थी। सितम्बर १९३८ के अखीर में जाहिर हुआ कि सुभाष बाबू त्रिपुरी में भी अध्यक्ष रहना चाहते हैं। वे महत्वपूर्ण बातों की शुरुआत कर चुके थे, जिनमें एक राष्ट्रीय योजना-निर्माण समिति की स्थापना भी थी और अपने ही आप इस समिति की अध्यक्षता के लिए उन्होंने जवाहरलालजी को चुना था। कांग्रेस के दो अधिवेशनोंका अध्यक्ष बने रहने की इच्छा के पीछे हमें सुभाष बाबू का कोई खास इरादा खोजने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। यदि पंडित जवाहरलाल तीन बार कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए तो इसका कारण यह था, १९२९ में मोतीलालजी की यह इच्छा थी, १९३६ में देश इसके लिए लालायित था और ८ महीने बाद फैजपुर में गांधीजी इसके लिए उत्सुक थे। शायद ही कोई व्यक्ति जवाहरलालजी पर आरोप कर सके कि वे खुद इसके पद के लिए उत्सुक थे। इसलिए सवाल खासतौर पर गांधीजी की स्वीकृति का था। सभी जानते हैं कि गांधीजी के कहने पर ही सुभाष बाबू को हरिपुरा अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया था। इस स्थल पर और कुछ कहना नाजुक हो जाता है। फिर भी राष्ट्र की मांग और अभी तक ब्रिटेन द्वारा उसकी पूर्ति न होने के कारण आवश्यक यह था कि राष्ट्रपति का पद किसी मुसलमान को दिया जाय। देश को मौलाना अबुल कलाम आजाद के रूप में ऐसा मुसलमान मिल भी सकता था। वे एक बार १९२३ में कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे, किन्तु वह विशेष अधिवेशन था। गांधीजी का विचार था कि त्रिपुरी में कांग्रेस के अध्यक्ष मौ० अबुल कलाम आजाद के होने से साम्प्रदायिक समस्या के हल करने में मदद मिलेगी। यही कारण था कि उन्होंने सुभाष बाबू को राष्ट्रपति के पद के लिए फिर से खड़े होने को प्रोत्साहन नहीं दिया था। इसके बावजूद मित्रों ने सुभाष बाबू के नाम का प्रस्ताव कर दिया और सुभाष बाबू ने खड़ा होना भी स्वीकार कर लिया। मौलाना की उम्मीदवारी की भी नियमित रूप से घोषणा की गई और जनवरी १९३८ में कार्यसमिति की बारदोली वाली बैठक में यह प्राय: निश्चित ही था कि मौलाना को चुन लिया जायगा।

इन पंक्तियों के लेखक को बार्दोली से रवाना होते समय गांधीजी से सूचना मिली कि यदि मौलाना ने स्वीकार न किया तो वे (गांधीजी) यह कांटों का ताज उस (लेखक) के सिर पर रखना चाहते हैं। सौभाग्यवश एक दिन पहले ही मौलाना अपनी रजामंदी दे चुके थे और बम्बई के लिए रवाना हो चुके थे। अगले दिन बम्बई में मौलाना ने अपनी राय बदल दी और अपनी उम्मेदवारी वापस लेने का फैसला किया। बाद में मौलाना के कहने पर इन पंक्तियों के लेखक का नाम फिर सामने आया और इस तरह लेखक और सुभाष बाबू दो ही प्रतियोगिता के लिए रह गये। यह प्रतियोगिता कम-से-कम उम्मेदवारों में से एक के दृष्टिकोण से अप्रत्याशित थी; परन्तु मौलाना ने

अपनी उम्मेदवारी क्यों वापस ली ? यह मौलाना ही जानें, या गांधीजी। जो हो, तथ्य यह है कि मौलाना कलकत्ते के स्थायी निवासी हैं और उन्हें बंगाल प्रान्त का ही माना जा सकता है। एक बंगाली की दूसरी बंगाली से प्रतियोगिता एकाधिक कारण से भद्दी जान पड़ती। इसके अतिरिक्त, मौलाना ने सम्भवतः यह भी अनुभव किया हो कि राष्ट्रपति के अलावा दूसरी स्थिति में रह कर ही वे अधिक सेवा कर सकते हैं। इस प्रकार मौलाना के हट जाने पर सुभाष बाबू को अपने प्रतियोगी के विरुद्ध लगभग ९५ मतों से सफलता प्राप्त हुई। परिणाम यह हुआ कि एक तरफ खुशियां मनाई गई और दूसरी तरफ आश्चर्य हुआ। सुभाष बाबू ने चुनाव के सम्बन्ध में अपना जो घोषणापत्र प्रकाशित किया उससे यह व्यक्तित्व की अपेक्षा सिद्धान्त का प्रश्न बन गया।

इसके विपरीत सुभाष बाबू के विरोधी का कार्य समिति के लगभग आधे सदस्यों ने समर्थन किया और खुद उसने भी अपना घोषणापत्र प्रकाशित किया।

चुनाव की प्रतियोगिता ने अब व्यक्तियों के संघर्ष के स्थान पर सिद्धान्तों व नीतियों के संघर्ष का रूप धारण कर लिया और चुनाव का परिणाम प्रकट होते ही गांधीजी ने घोषणा कर दी कि सुभाष के 'प्रतिस्पर्धी' की पराजय को वे अपनी पराजय मानते हैं। इससे देश में हलचल मच गई। जिन लोगों ने सुभाष बाबू के पक्ष में मत दिया था वे गांधीजी और उनके नेतृत्व में विश्वास प्रकट करने लगे। इससे एक परेशान करने वाली परिस्थिति उत्पन्न हो गई। राष्ट्रपति के पद के लिए पहले २९ जनवरी १९३९ को मत लिया गया था। एक सप्ताह के भीतर ही स्थिति में परिवर्तन हो गया। यह ठीक है कि कांग्रेस के डेलीगेटों ने अपने उम्मीदवार के लिए वोट दिये थे; किन्तु बाद में उनमें से कितने ही दूसरे पक्ष में चले गये और बाद में भी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में उन्होंने गांधीजी का समर्थन कर दिया। इससे नये अध्यक्ष के लिए बड़ी विकट समस्या उत्पन्न हो गई। गो कि अध्यक्ष का चुनाव डेलीगेटों के बहुमत से हुआ था, किन्तु अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में उसका अल्पमत था। अब प्रश्न यह था कि वह अपनी कार्यसमिति कैसे बनावे ? क्या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी उस कार्यसमिति को स्वीकार करेगी ? क्या उसके अपने सुझाव कांग्रेस को मान्य होंगे। क्या जलपाईगिरि[1] में हुए निश्चयों की त्रिपुरी के खुले अधिवेशन में पुष्टि हो सकेगी ? कांग्रेस के अधिवेशन से पूर्व कार्यसमिति की जो बैठक होती है उसमें मनोनीत अध्यक्ष क्या करेगा, क्योंकि कार्यसमिति ब्रिटिश साम्राज्य को छः महीने का नोटिस देने तथा सामूहिक सत्याग्रह के विरुद्ध थी। सुभाष बाबू का स्वास्थ्य पहले से ही खराब था और इन चिन्ताओं का असर भी उस पर पड़ा होगा। ९ फरवरी १९३९ को खुले अधिवेशन के प्रस्तावों का मसविदा बनाने के लिए कार्यसमिति की जो बैठक वर्धा में हुई थी उसमें मनोनीत अध्यक्ष तेज बुखार के कारण आ नहीं सके। कार्यसमिति के १२ सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया, जिससे सिर्फ अध्यक्ष और श्री शरत्-चन्द्र बोस ही कार्यसमिति में रह गये।

सुभाष बाबू के स्वास्थ्य में सुधार नहीं हुआ और उनकी बीमारी खुले अधिवेशन में भी चलती रही। अधिवेशन के पांच या छः दिन उन्हें तापमान रहा और अधिवेशन के दूसरे दिन तो वह १०४° व १०५° डिग्री तक चढ़ गया। बीमारी के कारण तत्कालीन राजनीति में और भी पेचीदगी आ गई।

---

१ जलपाईगिरी में एकत्र होकर बंगाल के डेलीगेटों ने प्रस्ताव पास किया था कि ब्रिटेन को छः महीने का नोटिस देना चाहिए और फिर सामूहिक सत्याग्रह आरम्भ कर देना चाहिए।

जब कि भय और आशंका के वातावरण के बीच कांग्रेस की तैयारियां चल रही थीं तब भारत के भविष्य के लिए उतनी ही महत्त्व की घटनाएं कुछ अन्य स्थानों में भी हो रही थीं। पाठकों को स्मरण होगा कि सितम्बर १९३८ वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जो बैठक दिल्ली में हुई थी उसमें से संयुक्तप्रान्त के श्री नरेन्द्रदेव के नेतृत्व में कुछ लोग किसानों के प्रश्न पर सभा से उठकर चले गये थे। ये आचार्य नरेन्द्रदेव अप्रेल १९३६ से मार्च १९३८ तक कार्यसमिति के सदस्य भी रह चुके थे। देशी राज्यों की समस्या के सम्बन्ध में भी चिन्ता थी। सच तो यह है कि किसानों तथा देशी राज्यों की समस्याएं एक साथ चल रही थीं। लेकिन हरिपुरा में मतभेद दूर हो गया था। देशी राज्यों की प्रजा का कांग्रेस पर विश्वास बढ़ गया था और कांग्रेस भी रियासती प्रजा के मांगने पर उसे सलाह देने में हिचकिचाती न थी। हाल में सरदार वल्लभभाई पटेल तथा आचार्य कृपलानी को मैसूर में जो सफलता मिल चुकी थी उससे रियासती प्रजा को ढाढ़स हो गया था और स्वयं कांग्रेसजन में भावना यहां तक बढ़ गई थी कि कांग्रेस कार्यक्रम में रियासतों को स्थान देने के लिए एक सुझाव भी गम्भीरतापूर्वक उपस्थित किया जा रहा था। कार्यसमिति ने अनुभव किया कि अब रियासतों में अखिल भारतीय समस्याएं हल करने के लिए कांग्रेस द्वारा सहायता देने का समय आ गया है। अनुभव से प्रकट हो चुका था कि सरदार पटेल ने जो सहायता दी थी उसे रियासतों ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर लिया था। रियासतों को शेष भारत के समान जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था उनके निबटारे के लिए कार्यसमिति एक उप-समिति नियुक्त करना चाहती थी। यह उप-समिति राजाओं और रियासती प्रजाओं दोनों ही को एक विशेष सीमा के भीतर सलाह देती। यह भी आशा की गई थी कि नरेश तथा उनके सलाहकार इस सहायता की कद्र करके उससे लाभ उठावेंगे। परन्तु किसी-न-किसी कारणवश वह उप-समिति नियुक्त नहीं की गई। कांग्रेस के अधिकारियों का रुख बदल गया और राजकोट का मामला प्रजा की जाग्रति के परिणामस्वरूप निकले हुए पौधे को खाद देकर बढ़ाने के प्रयत्न से अधिक और कुछ भी न था।

राजकोट कोई बड़ी रियासत नहीं है। वह काठियावाड़ की २६० रियासतों में भी सबसे बड़ी नहीं है। भावनगर, पोरबंदर, लिम्बड़ी, झबुआ, गोंडल और नवानगर उससे काफी बड़ी रियासतें हैं; परन्तु राजकोट एक प्रकार से पश्चिमी भारत की रियासतों की राजधानी है; क्योंकि एजेंट-जनरल वहीं रहता है। राजकोट का सम्बन्ध गांधीजी के प्रारम्भिक जीवन से भी रहा है, क्योंकि गांधीजी के पिता इसी राजकोट रियासत के दीवान रह चुके थे। राजकोट के तत्कालीन ठाकुर साहब की सगाई होने के अवसर पर श्रीमती कस्तूरबा गांधी ने ही उनके माथे पर कुंकुम का अभिषेक किया था। इस पृष्ठभूमि को देखते हुए यह विधाता का क्रूर उपहास जान पड़ता है कि राजकोट के नरेश को तूफान का केन्द्र बनकर संसार के सबसे महान पुरुष से टक्कर लेनी पड़ी। राजकोट से यह आशा तो की ही जा सकती थी कि वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में सबसे पहले वही किसी निश्चय पर पहुंचता। १९३८ में रियासती प्रजा का संगठन कुछ प्रमुख रियासतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहा था। दूसरी रियासतों की तरह राजकोट में भी इस प्रयत्न के दमन की चेष्टा की गई। सत्याग्रह का जोरदार आन्दोलन छिड़ा और इसका उतने ही जोर से दीवान वीरवाला द्वारा दमन किया गया। १९३८ के अंत में कांग्रेसजनों को सत्याग्रह में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, क्योंकि हरिपुरा (फरवरी १९३८) तथा दिल्ली (सितम्बर १९३८) में पास किये गये प्रस्तावों से उन्हें पहले की अपेक्षा इसके लिए अधिक

स्वतंत्रता मिल गई थी। गोकि अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी ने दिल्ली में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने पर जोर दिया था, फिर भी उसने इस बात की अनुमति दे दी थी कि कांग्रेस अपने समस्त साधनों से रियासती प्रजा की सहायता कर सकती है। वास्तव में निरपेक्ष नीति की घोषणा कांग्रेस की सामर्थ्य की सीमाओं की द्योतक थी। कांग्रेस समितियां रियासती प्रजा के आन्दोलनों के संगठन की कोई जिम्मेदारी नहीं ले सकती थीं। परन्तु व्यक्तिविशेष यथासम्भव सहायता पहुंचा सकते थे। इस कारण राजकोट के हठ का सामना करने के लिए सत्याग्रहियों की धूम मच गई।

परन्तु शीघ्र ही परिस्थिति बिगड़ी और राजकोट के संघर्ष ने एक ऐतिहासिक रूप धारण कर लिया।

इस संघर्ष ने ब्रिटिश भारत तथा रियासतों में जनता का ध्यान आकर्षित किया। अन्य स्थानों की तरह यह भी एक तरफ ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा संरक्षित निरंकुशता तथा दूसरी तरफ प्रगति एवं सार्वजनिक जाग्रति की शक्तियों के बीच संघर्ष था। इसके परिणाम का सिर्फ राजकोट पर ही नहीं बल्कि सभी रियासतों की भावी घटनाओं पर प्रभाव पड़ सकता था। संघर्ष का आर्थिक पहलू भी था। रियासती सरकारों को दैनिक जीवन के लिए कितनी ही उपयोगी वस्तुओं जैसे दियासलाई, नाज आदि का एकाधिकार प्राप्त था और इससे निर्धन जनता को बड़ा कष्ट मिलता था।

सार्वजनिक आन्दोलनों का दमन मुख्यतः लाठी-चार्ज, गिरफ्तारियों तथा जलूसों व सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबंध लगाकर किया जाता था। आधे दर्जन ब्रिटिश भारतीय व गुजराती पत्रों के रियासत में आने पर पाबंदी लगी हुई थी। बम्बई से भेजे गये स्वयंसेवकों को रियासत में घुसते ही गिरफ्तार कर लिया जाता था। गिरफ्तार व्यक्तियों में अ० भा० देशी राज्य प्रजा परिषद् के प्रधानमंत्री श्री बलवंतराय मेहता भी थे। सरदार वल्लभभाई पटेल की पुत्री कुमारी मणिबेन पटेल भी, जिन्होंने आन्दोलन में अपनी राजकोट की बहनों की सहायता के लिए भाग लिया था, पकड़ी गई थीं। श्रीमती मृदुला साराभाई ने, जिनकी माता राजकोट की थीं, कुमारी मणिबेन पटेल का स्थान ग्रहण किया। उन्हें भी जेल में ठूंस दिया गया।

रियासत के अधिकारियों ने राजकोट प्रजापरिषद् को गैरकानूनी घोषित कर दिया, जिस का मतलब दूसरे शब्दों में उसकी शक्ति को स्वीकार करना था। इस आदेश के निकाले जाने पर संघर्ष का अधिक गम्भीर अध्याय शुरू हो गया; पर गांधीजी रियासत के बाहर की जनता को सत्याग्रह आन्दोलन में घसीटने के पक्ष में न थे। कार्य समिति का ध्यान भी इस आन्दोलन की तरफ आकृष्ट हुआ। समिति ने जहां एक तरफ उत्तरदायी शासन की प्राप्ति के लिए किये जानेवाले इस आन्दोलन का स्वागत किया वहां दूसरी तरफ उसने रियासत के बाहर के लोगों को आन्दोलन में भाग न लेने का परामर्श दिया, क्योंकि रियासत के बाहर के लोगों के भाग लेने से आन्दोलन की शक्ति बढ़ने की बजाय इससे रियासती प्रजा की परेशानी बढ़ सकती थी और आंदोलन के जिस सामूहिक रूप धारण करने पर सफलता निर्भर थी उसमें बाधा उत्पन्न हो सकती थी।

उपर्युक्त विज्ञप्ति प्रकाशित होते ही राजकोट के ठाकुर साहब ने सरदार वल्लभभाई पटेल को बम्बई से मुलाकात के लिए बुलाया। २६ दिसम्बर को सरदार पटेल और ठाकुर साहब के मध्य समझौते की घोषणा हुई, जिससे राजकोट की प्रजा का संघर्ष समाप्त हो गया। यह सिर्फ राजकोट की जनता की ही नहीं, बल्कि साधारण रूप से रियासती प्रजा की विजय थी। राजनैतिक बुराइयों को दूर करने के लिए अहिंसात्मक तरीके के प्रयोग की यह एक और सफलता थी। ठाकुर साहब व

सरदार पटेल में ८ घंटे के विवाद के बाद जो समझौता हुआ वह नीचे दिया जाता है—

"सार्वजनिक भावना के विकास तथा पिछले कुछ महीनों में जनता द्वारा अपनी कथित शिकायतों के लिए उठाये गये कष्टों को देखकर तथा परिस्थिति के सम्बन्ध में परिषद् तथा वल्लभ भाई पटेल से विचार-विनिमय करने के उपरान्त हमें विश्वास हो गया है कि वर्तमान संघर्ष तथा कष्टों का तुरन्त अंत होना चाहिए।

"हमने दस ऐसे व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त करने का निश्चय किया है, जो या तो रियासत के प्रजा हों और या उसके कर्मचारी। समिति में तीन रियासत के अफसर और सात प्रजा-जन होंगे, जिनके नाम की घोषणा बाद में की जायगी।

"समिति के अध्यक्ष का चुनाव हिज हाइनेस खुद करेंगे।

"जनवरी, १९३९ के अंत तक समिति उचित जांच-पड़ताल के बाद शासन सुधार की एक ऐसी योजना तैयार करेगी, जिसमें प्रजा को अधिक-से-अधिक व्यापक अधिकार दिये जायेंगे, किन्तु इन अधिकारों का सर्वोच्च सत्ता के प्रति हमारे उत्तरदायित्व पर या नरेश के रूप में हमारे विशेष अधिकार पर कोई प्रभाव न पड़ेगा।

"हमारी यह भी इच्छा है कि अब से हमारे निजी खर्च की रक़म नरेन्द्र-मंडल की गश्ती विज्ञप्ति के अनुसार निर्धारित की जाया करे।

"हम अपनी प्रजा को यह भी आश्वासन देना चाहते हैं कि उपर्युक्त समिति जो भी योजना उपस्थित करेगी, उसे विचार करके कार्यान्वित करने का हमने इरादा कर लिया है।

"यह मान लिया गया है कि शान्ति तथा सद्भावना स्थापित करने के उद्देश्य से प्रत्येक प्रकार का अवैध आन्दोलन बंद कर दिया जायगा और हम आम माफी करके सब राजनैतिक कैदियों को रिहा कर देंगे, सब जुरमाने वापस कर देंगे और दमनकारी कानूनों को वापस ले लेंगे।"

समाचार-पत्रों में उन्हीं दिनों यह खबर भी छपी कि जिस दीवान श्री पी० सेडेल के कारण रियासत में इतना दमन हुआ था उससे ठाकुर साहब ने अपना पद त्याग करने को कहा था। परन्तु दीवान ने मार्च १९३९ तक रहना चाहा था, जब तक के लिए कि इकरारनामा था। कहा जाता है कि दीवान ने इस सम्बन्ध में वाइसराय को भी लिखा था। समाचार-पत्रों में इस दीवान के बारे आखिरी खबर यह छपी कि वह ४ जनवरी १९३९ को रवाना हो रहा है।

इस प्रकार राजकोट में बड़ा जोरदार संघर्ष हुआ। समझौता २६ दिसम्बर १९३८ को हुआ था और जब उसकी शर्तों के अनुसार सरदार ने सात नाम भेजे तो रेजिडेंट और सपरिषद् ठाकुर साहब में सलाह-मशविरा हुआ, जिसमें रेजिडेंट ने सरदार व कांग्रेस के विरुद्ध कुछ बातें कहीं। सरदार की सूची पर इस मामूली बात को लेकर आपत्ति उठाई गई कि ठाकुर साहब को सूची मिलने से पहले ही नाम प्रकट कर दिये गये। इसके अतिरिक्त यह आपत्ति भी उठाई गई कि ठाकुर साहब अपनी प्रजा के महत्त्वपूर्ण वर्गों, जैसे भय्यत, मुसलिम परिषद् तथा दलित जातियों की उपेक्षा नहीं कर सकते। ठाकुर साहब ने सात नामों में से केवल चार ही मंजूर किये और शेष तीन नामों को नामंजूर कर दिया। सरदार ने जिन नामों की सिफारिश की थी वे ठाकुर साहब को मान्य न थे। इस प्रकार समझौता भंग हो गया। इस विश्वासघात का सामना करने के लिए ही महात्माजी ने अनशन किया। अनशन अनिश्चित काल के लिए था और वाइसराय के हस्तक्षेप पर सर मारिस ग्वायर को निर्णय के लिए नियुक्त किया गया। निर्णय गांधीजी के पक्ष में था, किन्तु गांधीजी ने अपने अनशन में कुछ दबाव का अनुभव किया और फिर उन्होंने निर्णय का

लाभ न उठाने का निश्चय किया । यह अनशन त्रिपुरी अधिवेशन के दिनों में हुआ और इसी दरमियान समाप्त हुआ।

खुला अधिवेशन :

त्रिपुरी अधिवेशन की कार्यवाही अध्यक्ष के चुनाव व गांधीजी के अनशन की परिस्थितियों के कारण फीकी पड़ गई थी। वातावरण इन दो मुख्य घटनाओं की प्रतिक्रियाओं से व्याप्त था। तीसरी घटना स्वयं मनोनीत अध्यक्ष की बीमारी थी, जिसके कारण वे शानदार जलूस में भाग न ले सके। जलूस में अध्यक्ष को ५२ हाथियों के रथ में बैठाकर निकालने का निश्चय किया गया था और इस जलूस को रेलवे स्टेशन से प्रकृति की गोद में बसे त्रिपुरी के विष्णुदत्त नगर तक निकालने की व्यवस्था की गई थी। नगर नदी के किनारे बनाया गया था और वह गांवों तथा जंगलों की पृष्ठ-भूमि में बड़ा ही मनोहर लगता था। इस मनोहर दृश्यावली के बीच जलूस अध्यक्ष के चित्र के साथ निकाला गया। वातावरण में तरह-तरह की अफवाहें फैली हुई थीं। कोई कहता था कि गांधीजी या उनके कई साथी संघ-योजना को स्वीकार करने की इच्छा प्रकट कर चुके हैं और कुछ का कहना था कि वे अंग्रेज़ों के साथ उसे कार्यान्वित करने का समझौता कर चुके हैं। कांग्रेसजनों का एक वर्ग स्वाधीनता संग्राम छेड़ देने के लिए उतावला हो रहा था। त्रिपुरी में संघर्ष आरम्भ होने से पूर्व डेलीगेटों ने राष्ट्र के उन दिवंगत सेवकों की स्मृति में श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, जिन्होंने कांग्रेस की ज्योति को राजनैतिक आकाश में जाज्वल्यमान रखा था और जिन युवा तथा उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने राष्ट्रीय ध्येय की बलिवेदी पर अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया था। जिन महानुभावों ने रणक्षेत्र में अपने जीवन की भेंट चढ़ाई थी उसमें मौ० शौकतअली, सर मुहम्मद इकबाल, बेगम अंसारी, मद्रास के मंत्री श्री के० रामुनी मेनन, जी० एस० कापड़िया, बी० राजा राउ, डा० राजबली पटेल और श्री के० नागेश्वर राव पंतलू प्रमुख थे। त्रिपुरी कांग्रेस में अधिवेशन आरम्भ होने से पहले समस्याओं का स्पष्टीकरण होना था। अधिवेशन शुरू होने से पहले अखिल भारतीय कांग्रेसकमेटी विषय-समिति का रूप धारण करने से पूर्व अपनी बैठक कर लेती है। अ० भा० कांग्रेस कमेटी की जिस प्रारम्भिक बैठक में प्रबन्ध तथा नियम सम्बन्धी कार्य होते हैं उसी में इस बार ताकत की आजमाइश हुई। पिछले महीने कार्यसमिति की जो बैठक वर्धा में हुई उसमें प्रधानमन्त्री की वार्षिक रिपोर्ट को मनोनीत अध्यक्ष की अनुपस्थिति के कारण स्वीकार नहीं किया गया था। इसीलिये अ० भा० कांग्रेस कमेटी में जब प्रधानमंत्री की रिपोर्ट उपस्थित की गई तो यह आपत्ति उठाई गई कि कार्यसमिति की स्वीकृति के बिना अ० भा० कांग्रेस कमेटी उस पर विचार नहीं कर सकती। अध्यक्ष ने फैसला किया कि विधान में यह कहीं नहीं कहा गया कि अखिलभारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने उपस्थित होने से पूर्व प्रधानमन्त्री की रिपोर्ट पर कार्यसमिति की मंजूरी लाज़िमी है। तब प्रश्न उठाया गया कि रिपोर्ट को सिर्फ दर्ज कर लिया जाय या मंजूर किया जाय। प्रधानमन्त्री ने कहा कि रिपोर्ट को या तो स्वीकार किया जाय और या अस्वीकार कर दिया जाय। कमेटी ने सर्वसम्मति से रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया। यह पहली कशमकश थी। इससे यह भी प्रकट हो गया कि हवा का रुख किस तरफ है। दूसरी कशमकश श्री गोविन्दवल्लभ पंत द्वारा अ० भा० कांग्रेस कमेटी के १६० सदस्यों की तरफ से निम्न प्रस्ताव की अध्यक्ष को सूचना देने के सम्बन्ध में हुई :

"कांग्रेस तथा देश में अध्यक्ष के चुनाव के सम्बन्ध में तथा उसके बाद उठने वाली गलत-

फहमियों के कारण अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को अपनी स्थिति तथा नीति स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है।

"कमेटी कांग्रेस की उन आधारभूत नीतियों के प्रति अपना अटल विश्वास प्रकट करती है, जिन पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में पिछले वर्षों में कांग्रेस का कार्यक्रम आधारित रहा है और कमेटी का यह निश्चित मत है कि इन नीतियों में कोई अंतर न पड़ना चाहिए और भविष्य में भी कांग्रेस का कार्यक्रम इन्हीं पर आधारित रहे। कमेटी उस कार्यसमिति के कार्य पर अपना विश्वास प्रकट करती है, जिसने पिछले वर्ष कार्य किया था और इस बात पर खेद प्रकट करती है कि उसके कुछ सदस्यों पर आक्षेप किये गये हैं।

"चूंकि आगामी वर्ष में विकट परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है और चूंकि ऐसे संकट के समय केवल महात्मा गांधी ही कांग्रेस तथा देश को विजय पथ पर ले जा सकते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि कार्यसमिति को उनका पूर्ण विश्वास प्राप्त हो और इसीलिए कमेटी अध्यक्ष से अनुरोध करती है कि वे कार्यसमिति का चुनाव गांधीजी की इच्छा के अनुसार करें।"

प्रश्न यह था कि इस प्रस्ताव को स्वीकार किया जाय या नहीं। एक वर्ग ने कहा कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी इस प्रकार के प्रस्ताव पर विचार ही नहीं कर सकती और अध्यक्ष ने भी यही निर्णय दिया। परन्तु उन्होंने विषय-समिति में इस प्रश्न को उठाने की अनुमति देना स्वीकार कर लिया।

त्रिपुरी में जैसी महत्त्वपूर्ण समस्याएं उठीं और खुले अधिवेशन में उठने की आशा की जा सकती थी, उन्हें देखते हुए विभिन्न प्रांतों से निर्वाचित ३३१९ डेलीगेटों में से सिर्फ २२८९ डेलीगेटों की उपस्थिति वास्तव में आश्चर्य की बात थी। त्रिपुरी कांग्रेस के समय एक तिहाई के लगभग डेलीगेटों की अनुपस्थिति से जनता जो चाहे नतीजा निकाले, किन्तु डेलगेटों के उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से यह बदनामी की बात जरूर कही जायगी। अध्यक्ष का भाषण कांग्रेस के इतिहास में सब से छोटा था, किन्तु उसमें सुभाष बाबू ने राष्ट्र के आगे अपना दिल खोल कर रख दिया था। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति, म्यूनिक का समझौता, मिस्री प्रतिनिधिमंडल, गांधीजी का अनशन, कार्यसमिति के सदस्यों का इस्तीफा और रियासतों की हलचल—सभी समस्याओं का जिक्र किया। घरेलू राजनीति के सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि निराशावाद के लिए स्थान न था, बल्कि इससे विपरीत परिस्थिति राष्ट्र के लाभ में ही थी जिससे लोग सफलता की आशाएं कर सकते थे। सुभाष बाबू का कहना था कि हमें ब्रिटिश सरकार के सामने अपनी मांगें एक अल्टीमेटम के रूप में रखनी चाहिएं और उनका उत्तर पाने के लिए समय की अवधि निर्धारित कर देनी चाहिये और यदि इस निर्धारित अवधि के भीतर संतोषजनक उत्तर न मिले तो हमें अपनी राष्ट्रीय मांग स्वीकार कराने के लिये सामूहिक सत्याग्रह जैसी कोई कार्रवाई करनी चाहिए; क्योंकि सुभाष बाबू का विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार अखिल भारतीय सत्याग्रह जैसे आंदोलन का अधिक समय तक सामना नहीं कर सकेगी। यही कारण था कि सुभाष बाबू अनुभव कर रहे थे कि निष्क्रिय दृष्टिकोण रख कर संघ योजना लादे जाने की प्रतीक्षा का समय नहीं रहा, बल्कि वे संघ योजना लादे जाने से पूर्व कार्रवाई आरम्भ कर देने के पक्ष में थे।

त्रिपुरी अधिवेशन की एक उल्लेखनीय बात मिस्र के वाफ्द प्रतिनिधिमंडल का स्वागत किया जाना थी। इसे मिस्र और भारत के स्वाधीनता आंदोलनों की एकता का प्रतीक माना जा

रहा था। यह अवसर असाधारण होते हुए इसलिये दुःखद भी था कि मिस्र और भारत के मध्य जिस एकता की बात कही जा रही थी वह स्वयं कांग्रेस के ही दोनों दलों में वर्तमान नहीं थी। प्रतिनिधिमण्डल में पांच सदस्य थे। पिछले साल जून में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यूरोप जाते हुए नहासपाशा को जो निमंत्रण दिया था यह प्रतिनिधिमंडल उसी का परिणाम था। चीन हमारा निकटवर्ती पड़ौसी है। उसकी जनता एक निर्मम तथा पाशविक साम्राज्यवाद के विरुद्ध युद्ध में जिन कष्टों और यातनाओं का सामना कर रही थी उनके लिए अपनी सहानुभूति प्रकट किये बिना हम कैसे रह सकते थे। उसका वीरतापूर्ण संग्राम हमारी बधाई के सर्वथा योग्य था। चीन को डाक्टरी दल भेजने का निश्चय पहले ही हो चुका था और आशा की जा रही थी कि भारत उसकी लगातार सहायता करता रहेगा और इस प्रकार वह चीन और भारत की एकता का लक्षण बना रहेगा। जिस प्रकार चीन हमारे पूर्व में है उसी प्रकार फिलस्तीन हमारे पश्चिम में है और अरबों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के संग्राम में अपने साहस संकल्प और त्याग द्वारा भारत की प्रशंसा प्राप्त की थी। त्रिपुरी में कांग्रेस ने अरबों को उनके उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शुभ कामनाएं भेजीं। कांग्रेस का यह स्पष्ट मत था कि यहूदियों के लिए फिलस्तीन में स्वतन्त्र लोकतंत्रात्मक राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से रुहयंग का सीधा रास्ता निकालना ब्रिटिश सेना की सहायता से अपने विशेष हितों को अग्रसर करने की अपेक्षा कहीं उत्तम होता। विदेशी नीति के व्यापक प्रश्न पर कांग्रेस ने ब्रिटेन की विदेशी नीति से अपना मतभेद ज़ाहिर किया, क्योंकि ब्रिटेन की विदेशी नीति निरंतर लोकतंत्रवादी शक्तियों के विनाश में फासिस्ट शक्तियों की सहायता करती रही थी। कांग्रेस के लिए फासिज़्म और साम्राज्यवाद समान रूप से अभिशाप थे और वह इन दोनों का ही अंत चाहती थी। इसलिए कांग्रेस का मत था कि स्वाधीन राष्ट्र के रूप में उसे अपनी विदेशी नीति का अनुसरण करने का अवसर दिया जाय, जिससे कि वह साम्राज्यवाद व फासिज़्म से बचती हुई अपने शांति और स्वाधीनता के मार्ग पर अग्रसर हो सके। विदेशी नीति के अलावा प्रवासी भारतीयों की समस्या भी चिन्तनीय थी। त्रिपुरी में कांग्रेस को इसकी खास फिक्र थी कि बर्मा, लंका और केनिया में भारतीयों के हितों के लिए संकट उपस्थित हो गया है, परन्तु राष्ट्र अपना यह निश्चित मत प्रकट करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता था कि केवल स्वाधीन और स्वतंत्र भारत ही विदेशों में स्थित भारतीयों के हितों की प्रभावपूर्ण रक्षा कर सकता है। जब तक स्वाधीनता नहीं मिलती तब तक राष्ट्र सिर्फ भारतीयों से अपने प्रवासी भाइयों की सहायता का अनुरोध ही कर सकता है।

देशी राज्यों के भारतीय भी प्रवासी भारतीयों के ही समान हैं। सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए रियासतों को विदेश ही माना जाता है और भारत सरकार के विभागों में ही उन के सम्बन्धों का प्रबन्ध वैदेशिक विभाग में किया जाता है, जो सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में वाइसराय की अधीनता में रहता है। हरिपुरा के समय से इस सम्बन्ध में जितनी प्रगति मात्रा की दृष्टि से हुई उतनी ही कोटि की दृष्टि से भी हो चुकी थी। राजकोट का अनुभव भी कम न था। परन्तु जाग्रति सभी तरफ से दिखाई दे रही थी। त्रिपुरी का अधिवेशन आरम्भ होते ही समाचार मिला कि राजकोट में हुए समझौते के परिणामस्वरूप गांधीजी का अनशन, जो अधिवेशन आरम्भ होने से एक सप्ताह पूर्व ३ मार्च को शुरू हो चुका था, समाप्त हो गया। सिर्फ राजकोट ही नहीं, बल्कि कितनी ही रियासतें प्रजा को दिये गये वचनों से मुकर रही थीं। जो हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन के रियासतों सम्बन्धी प्रस्ताव से

जो आशाएं की गई थीं वे बाद की घटनाओं से पूरी हो रही थीं और यह सिद्ध हो रहा था कि रियासतों की प्रजा को संगठित होकर स्वाधीनता के लिए आंदोलन करने के लिए जो प्रोत्साहन दिया गया था, वह उचित ही था। इस हालत में अगर हरिपुरा की नीति को आगे नहीं बढ़ाया गया तो उसका कारण परिस्थितियों की विवशता ही थी। यह भी स्पष्ट था कि यह नीति अनिवार्य भी निर्धारित नहीं की गई थी। रियासतों की प्रजा का मार्ग-प्रदर्शन तथा अपना प्रभाव उसके लिए उपलब्ध करना कांग्रेस का अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी था। जैसे-जैसे रियासतों की प्रजा में जाग्रति होती थी वैसे-वैसे कांग्रेस द्वारा अपने पर लगाये प्रतिबंध में ढिलाई होती थी या उसे बिल्कुल हटाया जाता था ताकि कांग्रेस रियासतों की प्रजा की अधिक-से-अधिक हामी हो सके। इस विषय में विश्वास की भावना इस कदर बढ़ी कि कार्यसमिति को समय समय पर इस सम्बन्ध में आदेश निकालने का अधिकार दिया गया, क्योंकि कांग्रेस का लक्ष्य सम्पूर्ण भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता था, जिसमें रियासतें भी सम्मिलित थीं और इसीलिए इन रियासतों के लिए भी कांग्रेस के मत से शेष भारत के समान राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्वाधीनता प्राप्त करना आवश्यक था

राष्ट्रीय मांग के व्यापक प्रश्न पर त्रिपुरी में हरिपुरा से अधिक और कुछ न कहा गया। स्वाधीनता के ध्येय की ओर भारत की एक और मंजिल समाप्त हो गई। शासन विधान का सामना करने की भावना में प्रांतीय स्वायत्त शासन योजना को कार्यान्वित करनेसे एक तो राष्ट्रीय आन्दोलन को बल प्राप्त हुआ था और दूसरे साधारण जनता को लाभ हुआ था। परन्तु समय की आवश्यकता वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित ऐसी विधान परिषद थी, जिसमें विदेशी शक्ति का कुछ भी हस्तक्षेप न हो। यदि कहा जाय कि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को लागू करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन की संगठित शक्ति तथा जनता में, जिसमें रियासतों की जनता भी सम्मिलित है, बहुमुखी जाग्रति आवश्यक है तो कहा जा सकता है कि ये आवश्यक मात्रा में मौजूद हैं और फिर भारत को विधान परिषद द्वारा स्वाधीन लोकतंत्रात्मक राज्य स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। पूर्ण स्वाधीनता की मांग किसी राष्ट्र का सिर्फ निहित अधिकार या मर्यादा का तकाजा ही नहीं है; बल्कि इस के आर्थिक छुटकारे का भी एक तरीका है। एक तरफ राष्ट्रीय संघर्ष के आसार दिखाई दे रहे थे तो दूसरी तरफ अंतर्राष्ट्रीय युद्ध के बादल घिरते आ रहे थे। भारत को इन दोनों ही परिस्थितियों का सामना करना था और इसीलिए त्रिपुरी में एकता की वृद्धि, फूट की शक्तियों के निराकरण, प्रांतीय कार्यों के एकीकरण तथा राष्ट्रीय संस्था की शक्ति बढ़ाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। सब कुछ ठीक था। मार्ग स्पष्ट था और मंजिल दिखाई देने लगी थी। उस तक पहुंचने की बाधाएं भीतरी और बाहरी दोनों ही प्रकार की थीं। यदि हमें बाहरी बाधाओं पर विजय पाना था तो भीतरी बाधाओं को तो मार्ग से बिल्कुल हटा देना ही जरूरी था। भीतरी फूट बाहरी खतरे की तुलना में कहीं अधिक भयानक होती है। जो अव्यवस्था दिखाई दे रही थी उसमें से कांग्रेस व्यवस्था को कैसे खोज निकाले? इस राष्ट्र की डगमगाती नैया का केवट कौन बनेगा? प्राचीनकाल में यहूदी जाति को मूसा और आरों ही अनेक पर्वतों तथा घाटियों को लांघ कर और जंगलों को पार कर कानन देश को ले गये थे, जहां दूध और शहद की नदियां बहती थीं। क्या भारत को ऐसा नेता, ऐसा मार्ग-प्रदर्शक नहीं मिलेगा? गांधीजी राजकोट में थे और हाल ही में अनिश्चित काल के लिए आरम्भ किये गये एक अनशन को समाप्त कर चुके थे। उनका शरीर त्रिपुरी में नहीं था, किन्तु आत्मा वहीं मौजूद थी। सवाल

सिर्फ यही था कि राष्ट्र उन्हें अपना कर्णधार बनाता है या नहीं ? त्रिपुरी में डेलीगेटों को इसी प्रश्न का फैसला करना था । यदि गांधीजी के नेतृत्व की पुष्टि करनी है तो एक ऐसे व्यक्ति की अध्यक्षता पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, जिसका सिर्फ चुनाव ही गांधीजी की मर्जी के खिलाफ नहीं हुआ, बल्कि जो उनके सिद्धान्तों और नीतियों के भी विरुद्ध था और जिसे महात्मा गांधी अपनी पराजय कह चुके थे। पिछले दो दशक से कांग्रेस के अध्यक्ष तथा उसकी कार्यसमिति के सदस्यों का चुनाव गांधीजी द्वारा या उनकी सलाह से हो रहा था । क्या इस वर्ष (१६३६) भी यह सम्भव हो सकेगा ?

अधिवेशन भर सुभाष बाबू बीमार रहे और इधर काफी समय से इस बीमारी में कोई सुधार होता हुआ नहीं दिखाई दे रहा था, यहां तक कि वे खुले अधिवेशन तक में नहीं आ पाये थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तथा विषय-समित की बैठक में वे स्ट्रेचर पर लाये गये थे और मंच पर जब उनके सम्बन्धी तथा मित्र उनकी शुश्रूषा कर रहे थे या पंखा झल रहे थे तो वे अपनी छाया मात्र ही दिखाई देते थे । उनके स्ट्रेचर पर आने या जाने से दया का संचार होता था, लेकिन जहां तक सिद्धान्तों और नीतियों का सवाल था, दोनों ही पक्ष अडिग थे । डेलीगेटों के एक भाग में जैसा गुल-गपाड़ा मच रहा था वैसा सूरत अधिवेशन (१६०७) के समय से या सूरत के अधिवेशन के समय में भी देखने में नहीं आया था । इसके कारण लगभग एक घण्टे तक कार्यवाही न हो सकी और एक के बाद एक भाषणकर्ता अपनी आवाज ऊपर उठाने के प्रयत्न में असफल रहा । जब शरत बाबू मंच पर आये और उन्होंने अनुरोध किया तब शोरगुल कम हुआ । यह उपद्रव पं० गोविन्दवल्लभ पंत के इस सुझाव पर हुआ कि खुले अधिवेशन में इस अप्रिय प्रसंग से बचने के लिए प्रस्ताव को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सिपुर्द कर दिया जाय । परन्तु इस सुझाव का जोरदार विरोध किया गया । सुझाव वापस ले लिया गया और अधिवेशन स्थगित कर दिया गया । अगले दिन दर्शकों को बाहर ही रखा गया और विषय समिति के पंडाल में, जिसमें लगभग २००० व्यक्तियों के बैठने के लिए स्थान था, डेलीगेट एकत्र हुए। डेलीगेटों के अलावा पंडाल में पत्रकार तथा स्वयंसेवक भी थे । इस बार प्रबन्ध उत्तम हुआ और खुला अधिवेशन सुव्यवस्थित रूप से हुआ । बाद में जब कि विषय समिति के पंडाल में खुला अधिवेशन आरम्भ होने जा रहा था, बंगाल के कुछ मित्रों ने कल वाले सुझाव को मानना स्वीकार किया; किन्तु फिर शोरगुल होने से वह आगे न बढ़ सका । खैर, खुले अधिवेशन की कार्रवाई आरम्भ हुई और प्रस्ताव, जिस का संक्षेप पहले ही दिया जा चुका है, बिना किसी उल्लेखनीय घटना के पास हो गया ।

त्रिपुरी और उसके बाद

कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो गया । किसी अधिवेशन के अध्यक्ष की बिदाई बड़ी प्रभावोत्पादक होती है, किन्तु शायद उतनी शानदार नहीं, जितना उसका आगमन होता है । फिर भी बिदाई भावना की दृष्टि से कम प्रभावोत्पादक नहीं होती । परन्तु त्रिपुरी में अध्यक्ष की बिदाई एक गम्भीर घटना थी । इस अवसर पर परिवार के कुछ लोग, एक या दो डाक्टर या कार्यसमिति के दो सदस्य उपस्थित थे । बड़ी कठिनाई से सुभाष बाबू को अम्बुलेंस गाड़ी की गद्दी पर रखा गया, जिसमें उन्हें लम्बी यात्रा करनी थी । वे सीधे झरिया के निकट किसी स्थान को गये और वहां स्वास्थ्य सुधार होने में लगभग एक महीना लग गया । प्रायः नित्य ही देश में कार्यसमिति के सदस्यों के चुनाव और इस सम्बन्ध में घोषणा की प्रतीक्षा की जाती थी। परन्तु उन्होंने यह

घोषणा की नहीं। अन्त में परिस्थिति का सामना करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक बुलाई गई। कांग्रेस के कार्य में गतिरोध उत्पन्न हो गया था। कार्य समिति के बिना कांग्रेस की वही अवस्था थी, जो हाथ-पैर के बिना शरीर की होती है। कार्यसमिति के बिना संगठन प्रायः अस्तित्वहीन हो जाता है। सुभाष बाबू के रुख से पैदा हुई स्थिति का मुकाबला अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ही कर सकती थी, जिसकी बैठक कलकत्ता मे अप्रैल-मई १९३९ में हुई।[1]

जिन परिस्थितियों में सुभाष बाबू ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक से पूर्व कलकत्ता में इस्तीफा दिया, वे अभूतपूर्व न थीं। पाठकों को स्मरण होगा कि देशबन्धु चित्तरंजनदास ने १९२२ में गया अधिवेशन के कुछ ही बाद अपना त्यागपत्र दे दिया था; परन्तु दोनों व्यक्तियों की तुलना हर अवस्था में नहीं हो सकती। गया में चित्तरंजन बाबू का चुनाव सर्वसम्मति से हुआ था। दोनों ही के इस्तीफे सिर्फ खीज के कारण नहीं दिये गये, बल्कि इस्तीफे किये गये निश्चयों के विरुद्ध होने वाले संगठित आन्दोलनों की भूमिका मात्र थे। सुभाष बाबू ने तुरन्त अपना विरोध आरम्भ कर दिया और बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जून वाली बैठक में जो-जो निश्चय हुए उन्हें लेकर कटु विवाद छिड़ गया। बैठक के बाद भी इन निश्चयों का विरोध जारी रहा। इस अवसर पर वर्ष के लिए निर्वाचित नये राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने कार्यसमिति की तरफ से एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिस पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।[2]

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के एक भाग में प्रान्तों में सत्याग्रह के प्रश्न तथा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के सम्बन्धों के विषय में बड़ी उग्र भावना थी। पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि जलपाईगिरि (बंगाल) के जिला सम्मेलन में ब्रिटिश सरकार को छः महीने का अल्टीमेटम देने और फिर से सत्याग्रह शुरू करने का गुर निकाला गया था। बंगाल या कम-से-कम उसका एक भाग बड़ा उत्साह दिखा रहा था। ये लोग ब्रिटिश सरकार से संघर्ष शीघ्र ही छेड़ने के पक्ष में थे। उन्हें यह भी आशंका थी कि कहीं सरकार से दूसरा पक्ष समझौता न कर बैठे। वे सरकार से सीधे युद्ध छेड़ने के हिमायती थे। परन्तु यदि बङ्गाल को आगे बढ़ना ही था तो उसके लिए अपनी प्रान्तीय कमेटी का नेतृत्व प्राप्त कर लेना आवश्यक था। किसानों को रियायतें देने के बारे में भी सत्याग्रह की धमकी दी जा रही थी। यह बड़े मज़ाक की बात होगी कि आठ प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें राज कर रही होतीं और एक या उससे अधिक प्रान्तों में मन्त्रियों को सत्याग्रह का सामना करना पड़ता। इसलिए परिस्थिति का तकाजा था कि किसी भी उद्देश्य के लिए छेड़ा गया सत्याग्रह सम्बन्धित प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के निर्देशन तथा नियंत्रण में ही चलता। कार्यसमिति के अधिकार को किसी प्रान्त पर नहीं लादा जा रहा था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा बम्बई में पास किया गया यह साधारण-सा प्रस्ताव कितने ही मित्रों की दृष्टि में एक अभिशाप बन गया और सुभाष बाबू ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। इन्हीं दिनों कांग्रेस के दो दलों में मनमुटाव बढ़ने का एक और भी कारण उत्पन्न हो गया। यह अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा अपनी उसी बैठक में कांग्रेस पार्टियों तथा प्रान्तीय कमेटियों को दी हुई सलाह थी। प्रान्तों में कांग्रसी मन्त्रिमंडलों के बने रहने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें सहयोग प्राप्त होता, क्योंकि इस सहयोग के बिना भ्रम फैलने की सम्भावना थी, जिस

१(देखिये बुलेटिन नं० २, १९ मई, १९३९ पृष्ठ १ से पृष्ठ १३ तक)

२(देखिये बुलेटिन नं० ६, ६ जुलाई, ३९ पृष्ठ १ से ७ तक)

के परिणामस्वरूप कांग्रेस के प्रभाव में कमी होती। इसलिए यह आदेश दिया गया कि शासन-सम्बन्धी मामलों में प्रान्तीय कमेटियों को मंत्रियों के कार्य में हस्तक्षेप न करना चाहिए, किन्तु प्रान्तीय कमेटियों की कार्यसमितियां जब भी चाहें किसी बुराई या अन्य कठिनाई के सम्बन्ध में निजीतौर पर मंत्रिमंडल को लिख सकती हैं। प्रस्ताव में कहा गया था—"यदि नीति के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल या प्रान्तीय कमेटी में कोई मतभेद उठे तो उसे पार्लामेंटरी बोर्ड के सुपुर्द करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप से कोई बहस न होनी चाहिए।" इस नियम के विरोधियों ने जनता के अधिकारों पर कुठाराघात समझा और कहा कि इससे तो प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां मंत्रियों तथा धारासभाओं की पार्टियों के अधीन हो गईं। विभिन्न स्थानों की मातहत कमेटियों ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के निश्चयों के औचित्य पर संदेह प्रकट करते हुए प्रस्ताव पास किये और उनकी निन्दा के लिए सभाएं बुलाईं, गोकि ये निश्चय अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी में बहुमत से हुए थे। उचित तो यह था कि उच्च कमेटी के पास सुझाव भेजा जाता या कोई अनुरोध किया जाता, किन्तु किया यह गया कि सुभाष बाबू और उनके अनुयायियों ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के उपर्युक्त निर्णयों के बारे में ९ जुलाई को भारत में विरोध-दिवस मनाने का निश्चय किया। कांग्रेस ने इसे अनुशासन की अवज्ञा मानी। भविष्य की राजनीति में जो फूट पड़ी उसका मुख्य केन्द्र यही घटना थी।

इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली सभी घटनाओं का विवरण देकर ही इस कहानी को समाप्त करना सुविधाजनक होगा। वामपक्षी दल तथा श्री सुभाषचन्द्र बोस ने ९ जुलाई, १९३९ को विरोध-दिवस मनाया। राष्ट्रपति को कलकत्ता, कानपुर और नागपुर से सभाओं के समाचार मिले थे। बङ्गाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की कार्यसमिति ने समस्या पर विस्तार से विचार किया और कलकत्ता की सार्वजनिक सभा में स्थानीय समितियों के कितने ही प्रमुख व्यक्तियों ने भाग लिया था। इन दिनों गांधीजी बहुत दिन के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए सीमाप्रान्त गये हुए थे और जवाहरलालजी कार्यसमिति के आदेश पर लंका वालों तथा वहां के प्रवासी भारतीयों में समझौता कराने तथा इन दोनों प्राचीन देशों के बीच सद्भावना बढ़ाने के लिए लंका जा रहे थे। परन्तु कार्यसमिति की बैठक तुरन्त बुलाना आवश्यक समझा गया और अगस्त १९३९ में वर्धा में बैठक हुई। सुभाष बाबू से स्पष्टीकरण करने को कहा गया, क्योंकि उन्होंने इस प्रदर्शन का आयोजन किया था। सुभाष बाबू के प्रति न्याय करने के लिए राजेन्द्र बाबू के नाम ७ अगस्त, १९३९ को लिखे गये पत्र को यहां देना उचित होगा —

"आप के रांची से, १८ जुलाई को लिखे गये पत्र का उत्तर देने में मुझे जो देरी हुई है उसके लिए मुझे खेद है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा बम्बई में पास किये गये कुछ प्रस्तावों के विरोध मे मेरे कार्य के सम्बन्ध में आपने मुझ से सफाई देने को कहा है।

"पहली बात तो यह है कि किसी प्रस्ताव का विरोध करने और उसकी अवज्ञा या उसके विरुद्ध कार्रवाई में हमें भेद करना चाहिये। अभी तक हुआ केवल यही है कि मैंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के दो प्रस्तावों के विरुद्ध सिर्फ विरोध ही प्रकट किया है।

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा पास किये गये किसी प्रस्ताव पर मत प्रकट करना मेरा वैध अधिकार है। आप कदाचित स्वीकार करेंगे कि कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होने पर कांग्रेस-जनों में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में पास हुए प्रस्तावों के सम्बन्ध में मत प्रकट करने का रिवाज सा चला आया है। यदि आप अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में पास हुए प्रस्तावों के

सम्बन्ध में विचार प्रकट करने का अधिकार कांग्रेसजनों को देते हैं तो आप यह नहीं कह सकते कि केवल अनुकूल मतों को ही प्रकट करने दिया जायगा और प्रतिकूल मतों को रोक दिया जायगा। यदि हमें विचार प्रकट करने का वैध अधिकार प्राप्त है तो विचारों के अनुकूल या प्रतिकूल होने का प्रश्न नहीं उठता। आपके पत्र से यह ध्वनि निकलती है कि सिर्फ प्रतिकूल मतों पर ही रोक लगाई गई है।

"हम इतने दिनों से ब्रिटिश सरकार से अन्य बातों के अलावा नागरिक स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं! मैं यह भी माने लेता हूं कि नागरिक स्वतंत्रता में भाषण की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। आपका दृष्टिकोण तो यह है कि यदि हमारा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी या कांग्रेस के बहुमत से विरोध है तो हमें भाषण की स्वतंत्रता का दावा न करना चाहिए। यदि हम ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भाषण की स्वतंत्रता का दावा करें और कांग्रेस या उसके अधीन किसी संस्था के विरुद्ध ऐसा न करें तो यह परिस्थिति बड़े अचरज की होगी। यदि हमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के ऐसे प्रस्तावों की आलोचना का अधिकार नहीं दिया जाता, जो हमारे विचार में देश के लिए हानिकर हैं, तो हमें दरअसल एक लोकतंत्रीय अधिकार से वंचित किया जाता है। क्या मैं आपसे गम्भीरतापूर्वक पूछ सकता हूं कि लोकतंत्रीय अधिकारों का उपयोग सिर्फ कांग्रेस के बाहर ही हो सकता है, उसके भीतर नहीं?

"मुझे आशा है आप यह भी स्वीकार करेंगे कि जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कोई प्रस्ताव पास करती है तो हमें बाद की किसी भी बैठक में उस प्रस्ताव की समीक्षा, परिवर्तन, संशोधन या रद्द करने का अधिकार होता है। मुझे आशा है कि आप यह भी मानेंगे कि हमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के निश्चय के विरुद्ध खुले अधिवेशन में अपील करने का भी हक है। आप यह भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि किसी अल्पसंख्यक समुदाय को प्रचार द्वारा बहुसंख्यक समुदाय को अपने मत का बनाने का हक है। ऐसा हम सार्वजनिक सभाओं में अपीलों तथा समाचारपत्रों में लेखों के अलावा और कैसे कर सकते हैं? अब कांग्रेस मुट्ठी भर लोगों की संस्था नहीं रह गई है। इसके सदस्यों की संख्या ४५ लाख के निकट पहुँच गई है। यदि हमें सभाएं करने दिया जाता है और लेख लिखने दिया जाता है तभी हम साधारण कांग्रेस जन से अपील करके उन्हें अपने मत का बना सकते हैं। यदि आप मानते हैं कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा पास किया गया कोई प्रस्ताव पवित्र है और उसमें कभी परिवर्तन न होना चाहिए तो उसके विरुद्ध आलोचना पर पाबंदी लगाने का कुछ कारण हो सकता है। लेकिन अगर किसी प्रस्ताव की समीक्षा, उसके संशोधन, परिवर्तन या उसे रद्द करने का अधिकार स्वयं अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा या खुले अधिवेशन में आप हमें देते हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि आप उसकी आलोचना पर पाबंदी कैसे लगा सकते हैं, जैसी लगाने का प्रयत्न आप करते आये हैं?

"आप 'अनुशासन' शब्द का जो अर्थ लगा रहे हैं उसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता। मैं अपने को कड़ा अनुशासक मानता हूं, किन्तु आप तो अनुशासन के नाम पर उचित आलोचना को रोक रहे हैं। अनुशासन का मतलब यह तो नहीं है कि किसी व्यक्ति से वैध तथा लोकतंत्रीय अधिकार छीन लिया जाय।

"इस बात के अलावा कि जिन प्रस्तावों को हम देश के लिए हानिकर समझें उनके विरोध का हमें वैध तथा लोकतंत्रीय अधिकार है। दोनों प्रस्तावों को निजी अच्छाई या बुराई पर विचार करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यदि उन्हें अमल में लाया गया तो विधानवाद को प्रवृत्ति बढ़ेगी, कांग्रेसी संगठन के मुकाबले में प्रान्तीय मंत्रिमंडलों के प्रभाव, शक्ति और अधिकार

में वृद्धि होगी, कांग्रेस साधारण जनता के सम्पर्क से अलग हो जायगी और उधर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का साधारण कांग्रेसजन से सम्पर्क घट जायगा। यही नहीं, इन प्रस्तावों से कांग्रेस की विद्रोह भावना का ह्रास होगा। इसलिए देश का सर्वोत्तम हित तो इसी में है कि इन दोनों प्रस्तावों को अमल में लाने से रोक दिया जाय और अंत में उसमें आवश्यक संशोधन कर दिया जाय और या उन्हें वापस ले लिया जाय।

"इस सम्बन्ध में मैं आपका ध्यान १९२२ की गया कांग्रेस तथा उसके बाद की कतिपय घटनाओं की तरफ आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता। कृपया यह न भूलिये कि उन दिनों स्वराज पार्टी ने क्या किया था। कृपया यह भी न भूलिये कि जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने गया कांग्रेस के प्रस्ताव में संशोधन कर दिया तो गुजरात प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने उसकी अवज्ञा करने का निश्चय किया था।

"अंतिम बात यह है कि महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' में लिखा था कि अल्पसंख्यक समुदाय को विद्रोह करने का अधिकार है। हमने तो केवल यही किया है कि जो कतिपय प्रस्ताव हमारे विरोध के बावजूद बहुमत द्वारा पास किये गये थे, उनकी आलोचना करने की अपनी स्वतंत्रता का उपयोग ही किया है।

"मुझे आश्चर्य हुआ है कि जिसे हम अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं उसे आपने इतना बढ़ा कर कहा है। मुझे आशा है कि आपको मेरी सफाई सन्तोषजनक जान पड़ेगी। परन्तु यदि आपको ऐसा न जान पड़े और आप कोई अनुशासन की कार्रवाई करना चाहें तो एक न्यायानुकूल बात के लिए मैं उसका सामना करने के लिए भी तैयार हूं। अंत में मेरा यह भी अनुरोध है कि यदि इस सम्बन्ध में ९ जुलाई की घटनाओं के बारे में किसी को दंड दिया जाय तो आप मेरे विरुद्ध भी कार्रवाई करेंगे। यदि ९ जुलाई का अखिल भारतीय दिवस मनाना अपराध था तो मैं मानता हूं कि मुझसे बड़ा अपराधी और कोई न था।

सप्रेम,

आपका शुभचिन्तक,

सुभाषचन्द्र बोस"

इस लम्बी सफाई पर कार्यसमिति ने उत्सुकतापूर्वक विचार किया और अखीर में खेद और अनिच्छा के साथ इस परिणाम पर पहुंची कि राष्ट्रपति ने जो मुख्य बात कही थी, उसे सुभाष बाबू ने अच्छी तरह नहीं समझा। कार्य समिति का विचार यह था कि "भूतपूर्व अध्यक्ष की हैसियत से सुभाष बाबू को अनुभव करना चाहिए था कि अध्यक्ष द्वारा उन्हें जो आवश्यक आदेश दिये गये थे, राष्ट्र के सेवक के रूप में उन्हें पालन करना चाहिए था, चाहे अध्यक्ष के निर्णय से उनका निजी मतभेद ही क्यों न रहा हो। यदि सुभाष बाबू को अध्यक्ष के निर्णय पर आपत्ति थी तो वे यह आपत्ति कार्यसमिति या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने उपस्थित कर सकते थे, किन्तु जब तक अध्यक्ष के आदेश बने हुए थे तब तक सुभाष बाबू को उन्हें मानना चाहिए था। कांग्रेस को संसार की सब से शक्तिशाली साम्राज्यवादी ताकत से टक्कर लेनी है और ऐसे समय में कार्य समिति सुभाष बाबू का यह तर्क मानने में असमर्थ है कि प्रत्येक सदस्य को कांग्रेस के विधान का मनमाना अर्थ लगाने की स्वतंत्रता है, क्योंकि यदि इस प्रकार की स्वतंत्रता दी गई तो कांग्रेस में अराजकता फैल जायगी और थोड़े समय में उसका खात्मा हो जायगा। इसीलिए सुभाष बाबू को बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद के लिए तथा अगस्त, १९३९ से तीन वर्ष के लिए

किसी भी निर्वाचित कांग्रेस कमेटी में चुने जाने के अयोग्य ठहरा दिया गया। आशा प्रकट की गई कि श्री सुभाषचन्द्र बोस अपनी गलती महसूस करके अनुशासन की कार्रवाई स्वीकार करेंगे। परन्तु सुभाष बाबू ने इसके बाद दक्षिण भारत का दौरा किया। इस दौरे में जनता की भारी भीड़ के स्वागत से वे इस भ्रम में पड़ गये कि ये सब लोग उन्हींके अनुयायी हैं और ये सब-के-सब उनके द्वारा स्थापित अग्रगामी दल (फारवर्ड ब्लाक) में सम्मिलित हो जायंगे, जिसकी स्थापना उन्होंने इस्तीफा देने के बाद की थी। बम्बई तथा अन्य प्रान्तों की सरकारों ने जो मादक वस्तु निषेध का कार्यक्रम चलाया था, श्री सुभाषचन्द्र बोस उससे भी संतुष्ट नहीं हुए।

१९३९ में कांग्रेस कार्य का एक उल्लेखनीय पहलू अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों द्वारा उपस्थित विषयों में विभिन्न दृष्टिकोणों से दिलचस्पी लेना था। इस वर्ष उसकी तीन बैठकें हुईं और यह संख्या कोई अधिक भी न थी। परन्तु कार्यसमिति के अलावा दूसरे प्रस्तावों की सूची बहुत अधिक थी। इन प्रस्तावों की सूची देखने से दो बातें उल्लेखनीय जान पड़ती हैं—एक तो यह कि प्रस्ताव विविध विषयों के सम्बन्ध में थे और दूसरे यह कि उन विषयों को सदस्यों ने अपने अलग तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा था। कलकत्ता में अप्रैल १९३९ में ११६ निजी प्रस्तावों की सूचना दी गई थी। बम्बई में जून १९३९ में १७७ की और वर्धा में अक्तूबर १९३९ में ३३ की। जून की बैठक में सिर्फ एक निजी प्रस्ताव को अवसर दिया गया, जो आंध्र प्रान्त के सम्बन्ध में था, जिसके बारे में कमेटी ने मत प्रकट किया कि "उसके निर्माण के लिए तुरन्त कार्रवाई होनी चाहिए।" दूसरा प्रस्ताव डिग्बोइ की हड़ताल के सम्बन्ध में था और बेजट का विचार किये बिना ही सर्वसम्मति से प्रस्ताव को विचार के लिए उपस्थित होने दिया गया, किन्तु अध्यक्ष ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भावी अध्यक्ष इस निर्णय से बाध्य नहीं माने जायंगे। डिग्बोइ की हड़ताल, उसके स्वरूप तथा उसके हितों की व्यापकता और उनके संघर्ष को देखते हुए एक असाधारण महत्व की घटना थी।[1]

पिछले पृष्ठों में एक स्थल पर हम जवाहरलालजी की लंका यात्रा का उल्लेख कर चुके हैं। वहां के कुछ कानूनों के कारण प्रवासी भारतीयों के लिए चिन्तनीय परिस्थिति पैदा हो गई थी। दो मैत्रीपूर्ण पड़ोसियों के बीच अनावश्यक झगड़े को रोकने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को लंका जाने और सम्भव हो तो शान्तिपूर्ण समझौता कराने के लिए नियुक्त किया।

पंडित जवाहरलाल नेहरू १६ जुलाई को वायुयान द्वारा कोलम्बो पहुँचे। जनता ने, जिसमें सिंहल तथा भारतीय दोनों ही थे, उनका शानदार स्वागत किया। लंका की राज-परिषद् के नेता सर बेरन जयतिलक के कहने पर एक विशेष स्वागत समिति बनाई गई, जिसका आतिथ्य पंडितजी ने स्वीकार किया।

जवाहरलालजी का लंका में बड़ा व्यस्त कार्यक्रम रहा। वे मंत्रियों तथा दोनों भारतीय संगठनों सीलोन इंडियन कांग्रेस व सीलोन सेंट्रल इंडियन असोसियेशन के नुमाइंदों तथा अन्य व्यक्तियों से मिले। उन्होंने कई सार्वजनिक सभाओं में भाषण भी दिये। इन सभाओं में उन्होंने दोनों देशों के मध्य के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध को दृढ़तर बनाने और एक ही शत्रु के साथ उनके संग्राम तथा उनके आर्थिक व राजनैतिक कष्टों की साम्राज्यवादी पृष्ठभूमि पर जोर दिया।

---

[1] पूरे विवरण के लिए देखिये बुलेटिन नं० ३, ६-७-३९ पृष्ठ ३३ से ३९

मंत्रियों के साथ अपनी वार्ता में उन्होंने सिंहलों तथा लंका में बसे भारतीयों को व्यापक दृष्टिकोण से हल करने की आवश्यकता पर जोर दिया। आपने कहा कि हमें जिन महान समस्याओं का सामना करना है उनकी तुलना में वर्तमान समस्याएं छोटी व गौण हैं, इसलिए इस छोटी समस्या को हमें व्यापक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। भारतीयों तथा उनके प्रतिनिधियों से उन्होंने अन्द-रूनी मतभेदों को मिटाकर आत्माभिमानी नागरिकों के समुदाय बनने का अनुरोध किया, जो भारत के सम्मान की रक्षा के लिए वचनबद्ध हों। साथ ही उन्होंने भारतीयों को सलाह दी कि लंका को अपना घर समझें और सचाई व लगन से उसकी सेवा करें और उसके निवासियों से भ्रातृत्व-पूर्ण सम्बन्धों का विकास करें।

समस्या के प्रति इस उच्च दृष्टिकोण के कारण सब तरफ शान्त और अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो गया; परन्तु मंत्रिगण भारतीयों को वापस भेजने की योजना में कोई बड़ा परिवर्तन करने के लिए राज़ी नहीं हो सके। हाँ, योजना में थोड़ा हेर-फेर करना उन्होंने स्वीकार कर लिया और वायदा किया कि भारतीयों के लौटाने की वह ऐसी व्यवस्था करेंगे कि उन्हें लौटने में विशेष असुविधा न हो। गोकि जवाहरलालजी की यात्रा के कारण दोनों देशों की परम्परागत मैत्री की यादगारें ताज़ी होगईं और कटुता में भी कमी हो गई, लेकिन उसके कारण उद्देश्य की सिद्धि न हो सकी। उनका उद्देश्य लंका सरकार के भारतीय कर्मचारियों की सभी समस्याओं के सम्बन्ध में सम्मान तथा न्यायपूर्ण समझौता करने के उपाय करना था। उनकी यह यात्रा इस सीमा तक सफल मानी जानी चाहिए कि उसके कारण भारत व लंका की जनता में दृढ़तर सम्बन्ध स्थापित हो सके और वे एक दूसरे के अधिक निकट आ सके। परन्तु यह दुःख की बात है कि इसके अलावा लंका की सरकार का रुख उपस्थित समस्याओं के सम्बन्ध में इतना हठी रहा कि कार्यसमिति को अपने प्रस्ताव में कहना पड़ा कि यह रुख अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की वृद्धि करने वाला या न्यायपूर्ण नहीं है। कांग्रेस ने विचार प्रकट किया कि भारत जैसा व्यवहार अपने प्रति चाहता है वैसा ही दूसरों के प्रति करे तो वह साम्राज्यवादी दृष्टिकोण कभी ग्रहण नहीं कर सकता—वह लंका जैसे छोटे देश के प्रति सहानुभूति तथा सहयोग का रुख धारण करेगा और कार्य के रूप में इस रुख का सबूत पेश करेगा। कांग्रेस नहीं चाहती कि भारतीय ऐसे देशों में जाकर बसें, जहां उनका स्वागत न होता हो। कार्य-समिति ने माना कि लंका की सरकार अपनी जनता को नौकरियों तथा अन्य स्थानों में तरजीह देकर कुछ अनुचित कार्य नहीं करती। परन्तु लंका में जो भारतीय बस गये हैं वे कोई यात्री नहीं हैं, बल्कि लंका को अपना घर बना चुके हैं। इसलिए उनके नागरिक अधि-कारों को समाप्त नहीं किया जा सकता। समिति ने विचारपूर्वक अपना मत प्रकट किया कि लंका के लिए भारत से मजदूरों का जाना एकदम रोक दिया जाय और समिति ने भारत सरकार के तत्संबंधी निश्चय का भी समर्थन किया। यहां यह भी बता देना अप्रासंगिक न होगा कि १९४० में लंका सरकार का एक प्रतिनिधि मंडल भारत सरकार से वार्ता करने के लिए आया और इसका भी कोई भिन्न परिणाम न निकला। लंका सरकार १९४१ में एक और प्रयत्न करने जा रही थी। भारतीयों ने लंका की भूमि को सम्पन्न बनाने में भाग लेकर, वहां बस कर और लंका को अपना घर बना कर द्वीप के दूसरे निवासियों के समान माने जाने और नागरिकता का अधिकार प्राप्त करने के योग्य अपने आपको प्रमाणित कर दिया था। इसके अलावा, जो भारतीय कुछ समय के लिए मजदूरी करने के लिए लंका गये थे उन्होंने भी लंका में काम किया था। इसलिए उनके प्रति भी उदारता का व्यवहार होना आवश्यक था। इस सेवा के अलावा दोनों देशों का भाग्य-

सूत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक व आर्थिक कारणों से एक दूसरे से बंध चुका है और इसी कारण कांग्रेस इस बंधन को और भी मजबूत बनाना चाहती है, जिससे दोनों देशों का लाभ हो सके।

कांग्रेस का अनुशासन दिन-प्रति-दिन कड़ा होता गया। ये शिकायतें आने पर कि निर्वाचित स्थानों पर चुने गये या उनके उम्मीदवार व्यक्ति आदतन खद्दरधारी नहीं हैं इस सम्बन्ध में एक अधिकारपूर्ण घोषणा आवश्यक हो गई। हरिपुरा अधिवेशन समाप्त होते ही कार्यसमिति की बैठक हुई और उस में कहा गया कि सिर्फ हाथ का कता और हाथ का बुना कपड़ा ही खद्दर नहीं कहा जायगा, बल्कि उस कपड़े को भी खद्दर कहा जा सकता है, जिसे बनाने में कारीगरों को चर्खासंघ द्वारा निर्धारित मजदूरी दीगई हो। इस प्रकार का कपड़ा सिर्फ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी या उसके द्वारा प्रमाणित दूकानों से खरीदा जा सकता है। इस समस्या पर पहले भी विचार हो चुका था और हरिपुरा से पहले ही निश्चय किया जा चुका था कि भूतपूर्व अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल ने इस सम्बन्ध में जो निर्णय दिया था (और कार्यसमिति जिसकी पुष्टि दिसम्बर १६३४ वाली अपनी बैठक में कर चुकी थी) उसे और कार्य समिति द्वारा अप्रैल, १६३५ की जबलपुर वाली बैठक में पास हुए प्रस्ताव को मान लिया जाय। जब कार्यसमिति से प्रश्न किया गया कि "हाथ से कती और हाथ से बुनी खादी का आदतन पहनने वाला" किसे कहा जायगा तो कार्यसमिति ने फैसला किया कि सरदार वल्लभभाई पटेल ने जो निम्न निर्णय किया है उसे ही ठीक माना जाय--

(१) जब कोई व्यक्ति अपनी आदत के कारण खादी से बने कपड़े पहनता है तो उसे आदतन पहनने वाला माना जायगा। ऐसा व्यक्ति यदि किसी उचित कारण से कुछ अवसरों पर खादी नहीं काम में ला सकता तो उसे फिर भी आदतन खादी पहनने वाला ही माना जायगा।

(२) परन्तु यदि कोई व्यक्ति कांग्रेस के उत्सवों के अवसर पर खादी के अलावा अन्य कपड़े पहन कर आता है तो यही माना जायगा कि वह आदतन पहनने वाला नहीं है।

(३) खादी से बने वस्त्रों को आदतन पहनने वाले की व्याख्या में सिर्फ उन्हीं व्यक्तियों को स्वीकार किया जायगा, जो सिर से पैर तक हाथ से कते और हाथ से बुने कपड़े पहनेंगे।

(४) जब कांग्रेसी सभा के किसी अध्यक्ष को कहा जाता है या वह खुद जानता है कि कोई वोटर या उम्मीदवार उस सभा में खादी के कपड़े नहीं पहने हुए है तो अध्यक्ष को उस व्यक्ति के प्रतिवाद के बावजूद भी फैसला करना पड़ेगा कि वह व्यक्ति आदतन खादी पहनने वाला नहीं है।

कार्यसमिति से जो पूछताछ की गई है उसके सम्बन्ध में वह प्रान्तीय कमेटियों को निर्देश देती है कि आदतन खादी पहनने वाला वही व्यक्ति माना जायगा, जो किसी कांग्रेस कमेटी मे या किसी पद के लिए निर्वाचित होने के छः महीने पूर्व से खादी पहनता रहा हो।

यह भी निश्चय किया गया कि खादी वाली धारा जिस प्रकार धारासभाओं की सदस्यता के लिए आवेदनपत्र भेजने वालों पर लागू होती है उसी प्रकार वह म्यूनिसिपल तथा स्थानीय बोर्डों के सदस्यों पर भी लागू होगी।

१६३६ का इतिहास समाप्त करने से पूर्व दो अन्य बातों का हवाला देना असंगत न होगा। इनमें से एक २६ जुलाई, १६३६ को बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक की नियमितता का सवाल था। अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू ने जांच करने के उपरान्त उस बैठक को अनियमित घोषित कर दिया। दूसरी बात कांग्रेस के नियमों तथा अनुशासन सम्बन्धी प्रतिबंधों को अधिक कड़ा बनाने के

सम्बन्ध में थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के सेक्रेटरियों का एक सम्मेलन हुआ। चूंकि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कांग्रेस विधान में व्यापक परिवर्तन कर चुकी थी, इसलिए प्रान्तीय कमेटियों के लिए भी कार्यसमिति की स्वीकृति से अपने विधानों में परिवर्तन करना आवश्यक था। प्रान्तीय कमेटियों तथा केन्द्रीय कार्यालय में सम्बन्ध रखना भी ज़रूरी था। साथ ही नये विधान के अनुसार जिन ट्रिब्यूनलों की नियुक्ति का निश्चय किया गया था उन्हें भी कार्य आरम्भ कर देना था। दफ्तर की व्यवस्था में भी सुधार जरूरी था। कांग्रेस का विधान तथा हिसाब-किताब की जानकारी रखने के लिए निम्न आदेश जारी किये गये—

(१) हिसाब-किताब की दृष्टि से एक निर्धारित आर्थिक वर्ष माना जाय।

(२) प्रान्तीय कमेटियों को अपने अधीन नगर, जिला तथा अन्य कमेटियों के हिसाब की देख-रेख तथा जांच का प्रबंध करना चाहिए और प्रत्येक तिमाही में शेष रकम की रसीद प्राप्त करनी चाहिए। प्रान्तीय कमेटियों को अपने वार्षिक विवरण प्रकाशित करने चाहिएं, जिससे कि केन्द्रीय संगठन अपना संयुक्त विवरण प्रकाशित कर सके।

(३) खर्च कमेटियों द्वारा पहले से पास बजट में से होना चाहिए।

(४) सभी रसीदें सेक्रेटरियों के पास पहुंचनी चाहिएं और सेक्रेटरियों को उन पर अपनी सही करनी चाहिए।

(५) सब धन बैंक में जमा किया जाय, और

(६) रसीदें, विभिन्न मियादों में जमा खर्च का हिसाब, वेतनों का रजिस्टर, डाकखाने में जमा रकम का हिसाब, फर्नीचर का लेखा वगैरह बाकायदा रखना चाहिए।

अब हम १९३९ के मध्य में पहुँच चुके हैं। इन दिनों युद्ध के बादलों का गर्जन दूर पर सुनाई देने लगा था। इससे कुछ ही समय पूर्व बम्बई ने नशाबंदी का कार्यक्रम आरम्भ किया।

बम्बई के लिए १ अगस्त का दिन स्मरणीय था। इस दिन बम्बई नगरी तथा पास की बस्तियों में नशाबंदी का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। पहले दिन एक विशाल जलूस निकाला गया, जो एक ऐसी भारी सभा में समाप्त हुआ, जैसी बम्बई के इतिहास में कभी नहीं हुई थी। विश्वास किया जाता है कि सभा में २ से ३ लाख तक जनसमूह ने भाग लिया था। इस सभा में भाषण करते हुए सरदार वल्लभ भाई पटेल ने कहा—'सम्पूर्ण भारत और बम्बई हमें देख रहा है। सारा संसार जिस दिन की इन्तजारी कर रहा था वह दिन आ गया है। इस देश के लिए यह दिन नशेखोरी की राक्षसी से हमारे छुटकारे का दिन है। आज बम्बई ने अपने पिछले इतिहास का खात्मा करके एक नये अध्याय का आरम्भ किया है।''

पारसियों की इस बात के लिए जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है कि इस सुधार का विरोध करने पर भी उन्होंने विरोधी प्रदर्शन करके रंग में भंग नहीं किया। कुछ पारसियों ने तो जलूस तथा सभा तक में भाग लिया।

प्रधानमन्त्री बी० जी० खेर और मन्त्री एम० डी० डी० गिल्डर को देश के सभी भागों से बधाई के संदेश मिले। असाधारण कठिन परिस्थितियों के मध्य साहस, विश्वास व दृढ़ता के साथ एक कठिन प्रयोग का श्रीगणेश किया जा रहा था।

महात्मा गांधीजी ने, जो इस प्रयोग के प्रेरक थे, निम्न सन्देश भेजा—

"मुझे आशा है कि अन्त में बम्बई की सहज सद्भावना की, जिसके लिए वह प्रसिद्ध है, विजय होगी और सब मिलकर बम्बई मंत्रिमंडल द्वारा आरम्भ किये गये इस साहसपूर्ण सुधार को

सफल बनाएंगे, जैसा कि इसे होना ही चाहिए। मुझे विश्वास है कि नशाखोरी के अभिशाप से छुटकारा देश के लिए एक वरदान सिद्ध होगा।"

अभी एक उल्लेखनीय घटना और शेष है। वह है श्री जमनालाल बजाज की रिहाई। पाठकों को स्मरण होगा कि कार्यसमिति के एक सदस्य व जयपुर प्रजामंडल के अध्यक्ष श्री जमनालाल बजाज को जयपुर राज्य में प्रवेश की निषेध आज्ञा भंग करने के अपराध में पिछली फरवरी में गिरफ्तार कर लिया गया था। वे जयपुर अकाल-पीड़ितों की सहायता का कार्य करने जा रहे थे। आज्ञा उल्लंघन करने पर उन पर बाकायदा मुकदमा नहीं चलाया गया, बल्कि उन्हें अनिश्चित काल के लिए जेल में रखा गया। जेल के कष्टमय जीवन का उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा और उन्हें कई शिकायतें हुईं। जब मामला स्थानीय डाक्टरों की शक्ति के बाहर हो गया तो सेठ जी को इस शर्त पर छोड़ना स्वीकार किया गया कि वे इलाज के लिए विदेश चले जायं। जमनालालजी ने इन शर्तों पर छोड़ा जाना पसन्द नहीं किया। ६ अगस्त १६३६ को छः महीने के अनावश्यक तथा कष्टमय जेल-जीवन के बाद उन्हें बिना किसी शर्त के छोड़ दिया गया।

अपनी रिहाई के अवसर पर सेठजी ने समाचारपत्रों के लिए दिये गये अपने वक्तव्य में कहा—"हमारा संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। अभी तो जयपुर सिर्फ उसके शुरू के हिस्से से ही गुजरा है। सत्याग्रह से जनता को अपनी शक्ति का पता चल गया है और वह यह भी जान गई है कि आवश्यकता पड़ने पर इस हथियार से कैसे काम लेना चाहिए। यह बलिदान कभी बेकार न जायगा। आज हम अपने लक्ष्य के अधिक निकट पहुँच गये हैं, किन्तु हमें अपना आन्दोलन उस समय तक जारी रखना होगा जब तक कि वर्तमान मांगों, जो संयत ही कही जायंगी, पूरी न करदी जायं।"

इस प्रकार एक ऐसा वर्ष समाप्त होता है, जिसमें राष्ट्रीय शक्तियों को संगठित तथा एक होना था, किन्तु हुआ यह कि परस्पर कहा-सुनी हुई और एक दूसरे के दिल टटोले गये। कांग्रेस समाजवादी दल १६३६ से ही काम कर रहा था। गोकि भारत सरकार ने कम्यूनिस्ट दल पर रोक लगा रखी थी फिर भी वह खुलकर मैदान में आ रहा था। इसके अलावा किसान दल भी था, जिसकी एक शाखा कम्यूनिस्टों की तरफ और दूसरी शाखा समाजवादियों की तरफ झुक रही थी। यह भेद संयुक्त प्रान्त व बिहार में अधिक और बंगाल में एक हद तक साफ होता जा रहा था। फिर श्री एम० एन० राय थे, जिनके रोग के निदान व उपचार के सम्बन्ध में अपने निराले विचार थे। अग्रगामी दल में सुभाष बाबू के झंडे के नीचे वामपक्षी एकत्र हो रहे थे। यह जरूरी न था कि अग्रगामी दल में समाजवादी, कम्यूनिस्ट, किसानों के समर्थक या रायवादी हों और न यही आवश्यक था कि एक दल में रहते हुए भी उनकी सहानुभूति दूसरे दल के साथ हो। प्रत्येक दल का अस्तित्व सिर्फ अपने लिये था। जहां तक कांग्रेस की कार्यसमिति का ताल्लुक था उन्होंने उस पर हमला करने के लिए संयुक्त मोर्चा कायम कर रखा था, किन्तु इसके अलावा इन विभिन्न दलों में कोई साम्य या अन्दरूनी एकता न थी। इस प्रकार जब १ सितम्बर, १६३६ को युद्ध छिड़ा और ३ सितम्बर को ब्रिटेन और भारत उसमें पड़ गये तो देश के प्रत्येक दल ने राजनैतिक परिस्थिति का सामना करने के लिए अपनी योजना तैयार की; किन्तु युद्धविरोधी कार्यक्रम चलाने के सम्बन्ध में सभी एक थे। कांग्रेस ने इस समय जो सतर्कतापूर्ण नीति अख्तियार की उसके परिणामस्वरूप इस राष्ट्रीय संगठन को यह कह कर बदनाम किया गया कि कांग्रेस ब्रिटेन का विरोध करना नहीं चाहती। वह तो उससे समझौता करना चाहती है। इतना ही नहीं, बल्कि सभी कुछ तय हो

चुका है, सिर्फ बाकायदा समझौता होना बाकी है। इधर बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में गड़बड़ हो रही थी। कमेटी ने ३० अगस्त, १९३९ को अपनी अधीन समितियों से सुभाष बाबू के सम्बन्ध में कार्यसमिति की कार्रवाई के बारे में मत प्रकट करने का अनुरोध किया। सुभाषबाबू २६ जुलाई, १९३९ के दिन बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे और उसी दिन कमेटी ने चुनाव संबंधी ट्रिब्यूनल नियुक्त किया था। कार्यसमिति ने बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव तथा उसकी ध्वनि पर आपत्ति की और कहा कि यह सब एक प्रान्तीय कमेटी को शोभा नहीं देता। वातावरण में उस शान्ति तथा सद्भावना का अभाव था, जो स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले राष्ट्र के लिए आवश्यक होता है—उसी राष्ट्र के लिए जिसकी लड़ाई में युद्ध के कारण बाधा पड़ गई थी। कार्यसमिति की बैठक सितम्बर १९३९ के दूसरे सप्ताह में परिस्थिति पर विचार करने के लिए हुई। पंडित जवाहरलाल अभी समिति में सम्मिलित नहीं हुए थे, फिर भी उन्हें आमन्त्रित किया गया था। वे हिन्दुस्तान से बाहर च्यांगकाई शेक से मिलने चीन गये हुए थे। परन्तु समय रहते ही वे वर्धा पहुंच गये और १० सितम्बर को बैठक की कार्रवाही में सम्मिलित हुए। इस अवसर पर मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्री मोहम्मद अली जिन्ना को बातचीत में भाग लेने के लिए बुलाया गया, किन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि पूर्व निश्चित कार्यक्रम के कारण वे वर्धा न आ सकेंगे। परन्तु मि० जिन्ना ने यह भी कहा कि वे मुस्लिम लीग की कार्य समिति में भाग लेने के लिए १३ तारीख को दिल्ली पहुंच जायंगे और राजेन्द्र बाबू उस समय उन से परिस्थिति के संबंध में विचार-विनिमय कर सकते हैं। युद्ध के समय भारत के कर्तव्य के बारे में पांच दिन तक विचार होता रहा। गांधीजी इससे पहले वाइसराय से पांच बार मिल चुके थे।

: ६ :

युद्ध का श्रीगणेश : १९३९

पिछले बारह साल से कांग्रेस दूसरे यूरोपीय महायुद्ध के छिड़ने की आशंका कर रही थी और देश को चेतावनी दे रही थी कि ऐसी हालत में हिन्दुस्तान को ब्रिटेन की धन, जन या युद्ध-साधनों से मदद न करनी चाहिए। आखिरकार जिस युद्ध की इतने दिनों से आशंका थी, वह १ सितम्बर, १९३९ को छिड़ गया और ३ सितम्बर से भारत भी उसमें पड़ गया। युद्ध की शुरुआत से ही यह ज़ाहिर हो गया कि इस बार वह १९१४-१८ के युद्ध से भिन्न होगा। सब से पहली बात तो यह थी कि दूसरा महायुद्ध मनुष्यों का नहीं; बल्कि मशीनों का युद्ध था। इससे जन-हानि कम होने की आशंका थी, लेकिन सम्पत्ति की हानि अधिक होने की संभावना थी। जब सहस्रों वायुयानों से कई-कई टन के बम बरसेंगे तो उनसे होने वाला विनाश केवल प्रकृति के रोष से ही कम कहा जायगा। युद्ध भूमि पर होगा, किन्तु खंदकों में नहीं; समुद्र में भी होगा, किन्तु पनडुब्बियों में नहीं और आकाश में भी होगा, किन्तु वायुयान-विध्वंसिनी तोपों से नहीं। खंदकें, पनडुब्बियां और वायुयान-विध्वंसिनी तोपें थीं तो अवश्य, पर इनका प्रयोग बीते हुए समय की बात हो चुकी थी। युद्ध के एक नये हथियार ने दूसरे सभी अस्त्रों को पीछे कर दिया था। पहले एक जगह खंदकों में जम कर लड़ा जाता था, लेकिन अब आगे बढ़कर लड़ने का समय था। पनडुब्बियों का स्थान आकाश से होने वाली बमवर्षा ने ले लिया था। वायुयान-विध्वंसिनी तोपों का उद्देश्य सिर्फ जनता में ढाढ़स पैदा करना था, क्योंकि बमवर्षकों का मुकाबला सिर्फ लड़ाकू वायुयान ही कर सकते थे। एक नई विधि से रेडियो द्वारा आक्रमणकारी की सूचना प्राप्त करना था, जिससे हर आधे घंटे बाद खबर मिल सकती थी। जनता में विश्वास भावना बढ़ाने, ऊँचे आदर्शों का प्रचार करने, अत्याचारों का वर्णन करने और झूठी योजनाओं का प्रचार करने के लिए रेडियो का खूब प्रयोग किया गया। भारत में पहले सम्राट का भाषण सुना गया और फिर वाइसराय का और इन्हें बार-बार दोहराया भी गया। इन भाषणों में जनता ने व्यर्थ ही यह खोजने की चेष्टा की कि जिस भारत को लड़ाकू राष्ट्र घोषित किया गया है, क्या वह खुद भी युद्ध-उद्देश्यों के अनुसार स्वाधीन हो सकेगा। परन्तु यह कहां संभव था? एक लकड़हारा या भिश्ती कहीं दीवाने खास या दीवाने आम में स्थान पा सकता था? एक-से-एक बड़े महानुभाव ने मुँह खोला—सम्राट, वाइसराय, गवर्नर, भारतमंत्री, ब्रिटिश प्रधानमंत्री, ब्रिटिश विदेशमंत्री, जो भारत का वाइसराय भी कभी रह चुका था,—सभी बोले। ब्रिटेन, भारत, अमरीका, दक्षिण अफ्रीका और यहां तक कि राजनीतिज्ञ व दार्शनिक जनरल स्मट्स तक बोले; परन्तु किसी ने भारत के सम्बन्ध में एक शब्द तक नहीं कहा। इनमें से किसी ने तीन अक्षरों का शब्द 'इंडिया' एक बार भी मुँह से नहीं निकाला। ऐसी हालत में एक ऐसे उद्देश्य के लिए जो उसका अपना नहीं था, एक ऐसे झंडे के नीचे जिसने उसका अपना झंडा गिरा दिया था और ऐसे नेताओं की अधीनता

में जो उसके अपने नेताओं से सलाह नहीं लेना चाहते थे—भारत को क्या नैतिक उत्साह होता, वह क्या सहायता प्रदान करती ? युद्ध छिड़ने के समय भारत के ११ प्रान्तों में स्वायत्त शासन था। भारत को युद्ध में घसीटने से पूर्व उनमें से एक भी प्रान्त से सलाह नहीं ली गई। भारत की केन्द्रीय धारासभा में निर्वाचित सदस्य थे, किन्तु उन्हें ऐसा गम्भीर निर्णय करते समय सूचना तक नहीं दी गई। १६३८ के बजट अधिवेशन में केन्द्रीय-असेम्बली में वचन दिया गया था कि असेम्बली को सूचित किये बिना देश से बाहर सेना के किसी भाग को नहीं भेजा जायगा, किन्तु युद्ध छिड़ने से काफी पहले ही मिस्र और सिंगापुर को सेना भेज दी गई थी और तर्क उपस्थित किया गया था कि भारत की सीमा उत्तर में पहाड़ों तक तथा पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में समुद्र तक नहीं है, बल्कि एक तरफ वह भूमध्यसागर तक और दूसरी तरफ सिंगापुर तक है। लेकिन एक तिनके के हवा से शिकायत करने से लाभ ही क्या है, जब बड़ी लोहे की शलाखें उसके जोर से उड़ जाती हैं। यह भारत वही है, जो खाद्य साधनों का अनन्त स्रोत है, कच्चे माल का जिसमें भंडार है, जो ऐसे योद्धाओं और गुलामों का घर है जो दूसरों की लड़ाई लड़ते हैं और जो अपने स्वामियों की स्वाधीनता की रक्षा में अपने प्राणों को होम देते हैं। यह वही भारत है, जिसे दीनता तथा विवशता का भंडार कह सकते हैं, जिसमें 'जी-हुजूरों' व 'फर्माबर्दारों' की कमी नहीं है। यह वही देश है, जो अपनी इज्जत एक ऐसे स्वामी के हाथ बेच देता है जो उसकी स्वाधीनता का अपहरण करके खुद उसी को लूटता है! ऐसा भारत बादशाह के तख़्त या ताज तक पहुँचने की सीढ़ी के अलावा और क्या हो सकता है ? इसीलिए दूसरे स्वाधीन उपनिवेशों की तरह भारत से राय नहीं ली गई; परन्तु वाइसराय ने गांधीजी को मुलाकात के लिए बुलाया। दक्षिण अफ्रीका ने एक वोट से युद्ध में सम्मिलित होने का निश्चय किया था। आयर्लैंड ने तटस्थ रहने का फैसला किया था। गांधीजी वाइसराय से मिलने इस उद्देश्य से नहीं गये थे कि राष्ट्र की तरफ से युद्ध में शरीक होने या न होने का फैसला करें, क्योंकि ऐसा करने को न तो उनसे कहा ही गया था और न ऐसा करने के लिए उन्हें कोई अधिकार ही प्राप्त था। वाइसराय के पास जाकर उन्होंने युद्ध में निजी सहानुभूति तथा सहयोग प्रदान करने का वचन दिया। गांधीजी ने कहा कि कांग्रेस अपना मत अलग से देगी। बातचीत के मध्य गांधीजी ने कहा कि वेस्टमिंस्टर ऐबे, पार्लामेंट भवन और संटपाल के गिर्जेघर जैसी ऐतिहासिक इमारतों पर बमवर्षा होने और उसके विनाश की कल्पना मात्र से मैं दुखी हो जाता हूँ और यही कारण है कि मैं अपना नैतिक सहयोग देने को तैयार हूं। कुछ समय बाद कार्य-समिति की बैठक वर्धा में हुई और युद्ध के प्रश्न पर उसने अपना ऐतिहासिक निर्णय किया। समिति ने गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार करने के बाद ही यह निर्णय किया था।

कांग्रेस १६२७ से ही युद्ध-परिस्थिति के सम्बन्ध में अपने खुले अधिवेशन में तथा अपनी समितियों द्वारा विभिन्न अवसरों पर मत प्रकट करती रही है। कार्यसमिति ने इस अवसर पर अनुभव किया कि इन १२ वर्षों में संसार की अवस्था में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। अगस्त, १६३८ में उत्पन्न होने वाली अवस्था के करीब-करीब नज़दीक आ गये थे। १६३६ में आवश्यकता यह थी कि इस वर्ष ३ सितम्बर को उत्पन्न होने वाली परिस्थिति पर नये सिरे से विचार किया जाय। युद्ध आरम्भ होने से पहले ही यूरोप व भारत के आकाश में आने वाले तूफान के चिह्न दिखाई देने लगे थे। १६३६ के अगस्त महीने के दूसरे सप्ताह में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने चिन्तनीय रूप धारण कर लिया और युद्ध का संकट उपस्थित हो गया। एक तरफ वे राष्ट्र थे, जो लोकतंत्रवाद

और स्वाधीनता के हामी थे और दूसरी तरफ वे राष्ट्र, जिनके दृष्टिकोण फासिस्ट थे और जिनके आचरण से हमला करने के इरादे के चिह्न दिखाई दे रहे थे। राष्ट्रों के इन दो दलों के मध्य कांग्रेस की सहानुभूति स्पष्टतया पहले की तरफ थी। यदि युद्ध छिड़े तो कांग्रेस निश्चय कर चुकी थी कि वह युद्ध में भारत के धकेलने के प्रयत्न का विरोध करेगी। कार्यसमिति ने अगस्त के दूसरे सप्ताह में यानी युद्ध छिड़ने से तीन सप्ताह पूर्व ही निश्चय कर लिया कि समिति कांग्रेस की नीति को इस तरह अमल में लाने के लिए विवश है, जिससे भारत के साधनों का साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दुरुपयोग न किया जा सके।[1]

गोकि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी १ मई १९३९ को कलकत्ते में होने वाली अपनी बैठक में विदेशों को भारतीय सेना की रवानगी के बारे में अपने विरोध को दुहरा चुकी थी, फिर भी सरकार ने मिस्र व सिंगापुर को भारतीय सेना भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध भेजी थी या भेज रही थी, इससे परिस्थिति की गम्भीरता पर रोशनी पड़ती थी। युद्ध परिस्थिति के अलावा केन्द्रीय असेम्बली भी कह चुकी थी कि उसकी अनुमति के बिना सेना विदेश न भेजी जाय। इस तरह जाहिर था कि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस व असेम्बली की घोषणाओं का अनादर करके ऐसे कार्य कर रही थी, जिनके परिणामस्वरूप भारत के युद्ध में फंस जाने की सम्भावना थी। लोकमत की इस अवज्ञा के कारण जवाब में कार्यसमिति ने केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों से असेम्बली के अगले अधिवेशन में भाग न लेने का अनुरोध किया। साथ ही प्रान्तीय सरकारों को चेतावनी दी गई कि कांग्रेसी वजारतों को चाहे इस्तीफा ही देना पड़े, किन्तु उन्हें युद्ध की तैयारियों में हरगिज सहायता न देनी चाहिए।

इसके बाद घटनाचक्र बहुत तेजी से घूमा। इधर २४ अगस्त, १९३९ को मास्को में रूसी-जर्मन अनाक्रमण संधि हुई और उधर ब्रिटिश विदेश-विभाग ने २५ अगस्त को ब्रिटेन और पोलैंड के बीच परस्पर सहायता की घोषणा कर दी। पोलैंड के प्रति ब्रिटेन ने जो जिम्मेदारी ग्रहण की थी उस के कारण ब्रिटिश सरकार को जर्मन सरकार से कहना पड़ा कि यदि वह पौलैंड के प्रति हमले की कार्रवाई रोक कर संतोषजनक आश्वासन न देगी और पौलैंड की भूमि से अपनी सेना न हटा लेगी तो तीन सितम्बर के ११ बजे से दोनों देशों के मध्य युद्ध की अवस्था आरम्भ हो जायगी। फिर तीन सितम्बर को श्री चेम्बरलेन ने रेडियो पर घोषणा करते हुए कहा कि चूंकि ऐसा कोई आश्वासन प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए ब्रिटेन का जर्मनी से युद्ध चालू समझना चाहिए। श्री चेम्बरलेन ने कहा—"हम सभी के लिए यह दुख का दिन है; परन्तु मेरे समान दुख का दिन और किसी के लिए नहीं है। मैंने आज तक जो कुछ किया है, जिसके लिए प्रयत्न किया है, आशा की है और अपने सार्वजनिक जीवन में विश्वास किया है—वह सब गिर कर खंडहर बन चुका है। अब मेरे लिए सिर्फ यही शेष है कि मैं शक्ति भर विजय के लिए प्रयत्न करूं। मैं नहीं कह सकता कि मैं इसमें कितना भाग ले सकूंगा, किन्तु मुझे विश्वास है कि मैं वह दिन देखने के लिए जीवित बना रहूंगा, जब हिटलरवाद का सर्वनाश हो जायगा और समस्त यूरोप को पुनः मुक्ति मिल जायगी।" कामन्स सभा में दिये गये इस भाषण का प्रत्येक शब्द अर्थपूर्ण और उल्लेखनीय है। पहली बात तो यह है कि खुद उन्हींको इसमें संदेह था कि युद्ध में उन्हें कितना भाग लेने दिया जायगा और दरअसल साल भर के भीतर ही चर्चिल ने उनका स्थान ले लिया। श्री

१ देखिये बुलेटिन नं० ४, ता० ७–९–१९३९ पृष्ठ ८, प्रस्ताव ८।

चेम्बरलेन हिटलरवाद का अंत होने से पहले ही चल बसे। जो हो, श्री चेम्बरलेन यूरोप की मुक्ति चाहते थे और भारत की समस्या का ध्यान रखते हुए इसी का महत्व है।

तीन सितम्बर की रात को सम्राट ने अपने साम्राज्य के नाम एक संदेश दिया। इसमें उन्होंने एक ऐसे राज्य की स्वार्थपरता की निन्दा की, जिसने अपनी संधियों और वचनों को भंग करके दूसरे राज्यों की स्वाधीनता पर आक्रमण करने के लिए पशुबल का सहारा लिया। सम्राट की एकमात्र चिन्ता यही थी कि "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिद्धान्त यदि एक बार संसार में मान लिया गया तो इससे ब्रिटेन तथा समस्त ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की स्वाधीनता संकट में पड़ जायगी। सम्राट ने आगे कहा—"इससे भी अधिक यह बात है कि संसार के राष्ट्र आशंका में रहेंगे और राष्ट्रों के बीच शान्ति, सुरक्षा, न्याय और स्वाधीनता की आशाओं का अंत हो जायगा।" इस के उपरान्त वाइसराय ने अपनी घोषणा में उपस्थित समस्या पर प्रकाश डाला और विश्वास प्रकट किया कि भारत पशुबल के विरुद्ध मानवीय स्वाधीनता के लिए लड़ेगा। वाइसराय ने कहा—"हमारे सामने जो समस्या उपस्थित है वह स्पष्ट है। हमें उन सिद्धान्तों की रक्षा करनी है, जिन पर मानवता का भविष्य निर्भर है—अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता के सिद्धान्त की और इस तथ्य की कि सभ्य मनुष्यों को राष्ट्रों के झगड़ों को तय करने के लिए पशुबल के स्थान पर तर्क का सहारा लेना चाहिए। हमें यह भी समझना चाहिए कि मनुष्यों के व्यवहार में जंगल के कानून यानी अधिकार और न्याय का विचार किये बिना ताकतवर की धौंस नहीं चल सकती।" वाइसराय के संदेश का सबसे उपहासास्पद या कहिये कि सबसे अधिक चोट करने वाला—भाग वह था, जिस में उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया था कि भारत पशुबल के विरुद्ध मनुष्य की स्वाधीनता का पक्ष ग्रहण करेगा और संसार की ऐतिहासिक सभ्यता की हैसियत से दुनिया के महान राष्ट्रों के बीच अपने स्थान के अनुरूप अपने हिस्से का कार्य पूरा करेगा। सचमुच एक गुलामदेश के लिए यह रास्ता बहुत ही अच्छा है कि दूसरे राष्ट्रों को गुलाम बनाये या गुलामी से छुड़ाये और खुद दुनिया के मुल्कों का गुलाम ही बना रहे।

वाइसराय ने पहला काम यह किया कि गांधीजी को शिमला बुलाया। इस मुलाकात में जो कुछ हुआ वह गांधीजी के शब्दों में ही सुनिये :

"मैं जानता था कि मुझे कार्यसमिति से इस सम्बन्ध में कुछ भी आदेश नहीं मिले हैं। मुझे तार से जो निमंत्रण मिला था, मैं तो उसी के जवाब में पहली ट्रेन से रवाना हो गया। इसके अलावा मैं यह भी जानता था कि विशुद्ध और पूर्ण अहिंसा का हामी होने की वजह से मैं राष्ट्रीय विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और यदि मैं ऐसा करने का प्रयत्न करता तो वह मेरी हिमाक़त होती और यही मैंने वाइसराय को बता भी दिया। इसलिए मेरे बातचीत या समझौता करने का तो कोई सवाल ही नहीं उठता था। और न वाइसराय ने मुझे समझौते की बातचीत के लिए बुलाया ही था। इसलिए मैं वाइसराय भवन से खाली हाथ लौटा हूं और मुझ से कोई जाहिर या गुप्त समझौता नहीं हुआ है। यदि कोई भी समझौता होता है तो यह कांग्रेस और सरकार के मध्य होना चाहिए।

"इस प्रकार कांग्रेस के बारे में अपनी स्थिति साफ करने के बाद मैंने वाइसराय को सूचित किया कि इंसानियत की दृष्टि से मेरी सहानुभूति इंगलैंड और फ्रांस के प्रति है। उस लंदन के विनाश की, जिसे अब तक अभेद्य माना जाता रहा है, कल्पना करते ही मेरा रोम-रोम कांप उठता है। और, जैसे कि मैं उनसे बातचीत करते समय अपनी आंखों के आगे पार्लामेंट-भवन और

वेस्टमिंस्टर एबे के विनाश का दृश्य देखने लगा, मेरा धीरज जाता रहा। मैं बेचैन हूं। मैं अपने दिल में ईश्वर से लगातार लड़ता रहा हूं कि वह ऐसी बात क्यों होने देता है। मेरी अहिंसा एक प्रकार से प्रभावहीन-सी जान पड़ती है। लेकिन ईश्वर से इस रोज की लड़ाई के बाद जवाब मिलता है कि ईश्वर या अहिंसा में से एक भी शक्तिहीन नहीं है। शक्ति का अभाव तो मनुष्य में है। श्रद्धापूर्वक मुझे कोशिश करते रहना चाहिए, भले ही ऐसा करते-करते मैं खत्म ही क्यों न हो जाऊं।

"और शायद इसीलिए, जैसे आगे आनेवाले कष्ट का मुझे पता चल गया हो, मैंने २३ जुलाई को एबटाबाद से निम्न पत्र हर हिटलर को लिखा था—

"मित्र मुझसे कहते रहे हैं कि मानवजाति के कल्याण के लिए मैं आपको पत्र लिखूं। लेकिन उनके अनुरोध को मैं इसलिए नहीं मान रहा था कि शायद ऐसा करना मेरी ढिठाई होगी। पर मुझे कोई प्रेरित करता है कि अब मुझे अधिक सोच-विचार न करके आपसे अपील करनी ही चाहिए, भले ही इस अपील का प्रभाव कुछ भी क्यों न हो।

"यह बिलकुल साफ है कि दुनिया में सिर्फ आप ही एक ऐसे इंसान हैं, जो युद्ध को रोक सकते हैं— एक ऐसे युद्ध को जिससे मनुष्य-जाति बर्बरता की सीमा तक उतर सकती है। अपने ध्येय के लिए, वह चाहे जितना उच्च क्यों न दिखाई दे, क्या इतनी क़ीमत आपको चुकानी चाहिए? क्या आप एक ऐसे व्यक्ति की अपील पर ध्यान देंगे, जिसने जान बूझकर युद्ध के तरीके को छोड़ रखा है और इसमें उसे सफलता भी मिली है। खैर, यदि आपको लिखकर मैंने गलती की हो तो आशा है, आप मुझे जरूर माफ कर देंगे।"

"यदि अब भी वे वाजिब बात मानते और प्रायः समस्त मनुष्य जाति की, जिस में जर्मन-जनता भी शामिल है, अपील पर ध्यान देते तो कैसा अच्छा होता! मैं किसी तरह यह विश्वास नहीं कर सकता कि जर्मन चाहेंगे कि लंदन जैसे बड़े शहर मनुष्य के अमानुषिक करतब से होनेवाले विनाश के भय से खाली कर दिये जायं। जर्मन खुद अपने और अपनी इमारतों के विनाश की कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए अभी मैं भारत की स्वाधीनता की बात नहीं सोच रहा हूं। वह स्वाधीनता आयेगी; परन्तु यदि इंगलैंड और फ्रांस का विनाश हो गया तो उस स्वाधीनता का क्या मूल्य होगा और उस हालत में भी उसकी क्या कीमत होगी यदि उन्होंने बर्बाद व अपमानित जर्मनी के ऊपर विजय पाई।

"पर जान पड़ता है कि हर हिटलर पशुबल के अलावा ईश्वर को नहीं जानते और, जैसा कि श्री चेम्बरलेन कहते हैं, वे किसी को सुनेंगे भी नहीं इस बेमिसाल मुसीबत के वक्त कांग्रेसजन व बाकी सब जिम्मेदार हिन्दुस्तानियों को निजी व सामूहिक तौर पर फैसला करना है कि इस भयानक मुसीबत की घड़ी में हिन्दुस्तान को क्या करना है।"

इस समय ब्रिटेन एक तरह से अकेला और असहाय रह गया था। यहां तक कि स्वाधीन उपनिवेशों ने विरोधी भावनाओं का परिचय दिया था। यदि एक तरफ आयर्लैंड ने तटस्थ रहने का निश्चय किया और दक्षिण अफ्रीका ने सिर्फ एकमत से स्मट्स के पक्ष में फैसला किया तो आस्ट्रेलिया ने स्वार्थपूर्ण भावना प्रकट की थी और कनाडा ने सुदूर मैत्री का परिचय दिया था। यदि ऐसे समय गांधीजी से नैतिक सहयोग का वचन प्राप्त करके वाइसराय जोरदार और विश्वास-पूर्ण स्वर में उत्सुक संसार के आगे घोषणा कर देते कि गांधीजी के इस वचन में वे भारत की ३५ करोड़ जनता के समर्थन की आशा देख रहे हैं तो संसार के समस्त राष्ट्र और विशेषकर अमु-

राष्ट्र ब्रिटेन के लिए प्राप्त इस सहायता को देखकर चकित रह जाते। अब लार्ड लिनलिथगो और ब्रिटेन के सामने समस्या थी कि गांधीजी के इस पूर्ण और हार्दिक समर्थन से संतुष्ट हो जायं और भारत के साधनों और असंख्य जनों की भी सहायता प्राप्त करें—उन्हीं जनों की सहायता, जिनके साहस और त्याग, जिनके रणकौशल और शक्ति, जिनके पराक्रम तथा सहिष्णुता की तूती सारी दुनिया में बोल रही थी—उसी भारत की सहायता, जो निर्धन, औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ और अभावयुक्त था और जो युद्ध के प्रति इतना उदासीन था कि उसकी जनता इसे किसी भी तरह अपना युद्ध नहीं मान सकती थी। दूसरे शब्दों में प्रश्न यह था कि गांधीजी ने ब्रिटेन के लिए राष्ट्र की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए जो आवाज उठाई थी उसे प्राप्त किया जाय या भारत की सम्पत्ति तथा उसकी करोड़ों जनता की सेना में भरती की सुविधा उपलब्ध की जाय।

जब पाण्डव अपने अरण्यवास के १२ वर्ष समाप्त कर चुके और विराट के दरबार में अपना एक वर्ष का अज्ञातवास भी कर चुके तो राजा द्रुपद ने अपने पुरोहित को दुर्योधन की राजसभा में समझा-बुझाकर सुलह कराने के लिए भेजा; परन्तु इसी बीच दुर्योधन अपने दल के साथ श्रीकृष्ण की सहायता प्राप्त करने के लिए रवाना हो चुका था। दुर्योधन जब कृष्ण के महल में पहुंचा तो वे सो रहे थे। दुर्योधन भीतर जाकर उनके सिरहाने एक ऊंची जगह पर बैठ गये। उसी समय शयनागार में अर्जुन ने प्रवेश किया और नम्रतापूर्वक श्रीकृष्ण के चरणों के निकट खड़ा हो गया। जब श्रीकृष्ण की आंख खुली तो उन्होंने अर्जुन को अपने पैरों के पास खड़ा देखा और कुछ समय बाद सिर घुमाने पर सिरहाने के निकट दुर्योधन बैठा दिखाई दिया। श्रीकृष्ण ने दोनों ही से प्रश्न किया कि वे क्यों आये हैं। दुर्योधन ने कहा—"हम लोगों में युद्ध अनिवार्य हो गया है और इसके लिए हम आपकी सहायता मांगने आये हैं। हम दोनों ही आपके निकट सम्बन्धी हैं। मैं यहां पहले आया हूं। सुजन पहले उनकी सहायता करते हैं, जो पहले उनके पास आते हैं और जब भी उनकी नजर उन पर पड़ती है। आप महान तथा उदार स्वभाव के हैं। इसलिए आपको दुनिया की रीति मानते हुए मेरा सहायक होना चाहिए।" तब श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—"आप यहां पहले पधारे हैं—यह सत्य है। परन्तु मेरी दृष्टि पहले अर्जुन पर पड़ी है। इसलिए मुझे आप दोनों ही की दोनों के अनुरूप सहायता करनी चाहिए। इसकी मैंने एक युक्ति सोची है। मेरे पास १०,००० गोपाल युद्धकला में निपुण हैं। वे तीर तथा अन्य हथियार चलाने में चतुर हैं। एक ओर से ये लोग नारायण के नाम पर युद्ध करेंगे। दूसरी तरफ, मैं निरस्त्र, निष्क्रिय किन्तु हितेच्छु होकर रहूंगा। इनमें से आप एक को चुन लीजिये। आप दोनों में से जो छोटा है उसे पहले चुनाव करना चाहिए।" और श्रीकृष्ण ने अर्जुन की ओर देखते हुए कहा—"तुम अपनी इच्छा पहले प्रकट करो।" अर्जुन ने श्रीकृष्ण को चुना। दुर्योधन इससे बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने श्रीकृष्ण की सेना को चुना और फिर बलराम के महल को चला गया। अर्जुन को श्रीकृष्ण के रूप में नैतिक बल प्राप्त हुआ था और इसलिए उसकी विजय हुई। श्रीकृष्ण अर्जुन के केवल सारथी ही नहीं, मित्र तथा मार्ग-दर्शक भी बने और इसी कारण सत्य की असत्य पर और अहिंसा की हिंसा पर विजय हुई।

१४ सितम्बर, १९३९ को परिस्थिति पर विचार करने के लिए कार्यसमिति की बैठक हुई। समिति ने पोलैंड के प्रति, जो पशुबल का शिकार हुआ था, गहरी सहानुभूति प्रकट की और इंगलैंड व फ्रांस जिस उद्देश्य से युद्ध में शामिल हुए थे उसकी सराहना की—एक ऐसे युद्ध में जो साम्राज्यवादी तथा फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध तथा लोकतंत्रवाद की रक्षा के लिए लड़ा जा

रहा था। साथ ही समिति ने यह विचार प्रकट किया कि खुद हिन्दुस्तान डेढ़ शताब्दी तक लोकतन्त्रवाद से वंचित रहा है, जिसे पोलैंड के लिए सुरक्षित रखने के लिए इंगलैंड आज कल लड़ रहा रहा है। समिति ने इस बात के लिए खेद और अचरज प्रकट किया कि जब साम्राज्य के स्वाधीन उपनिवेश अपनी-अपनी पार्लामेंटों से युद्ध में भाग लेने या न लेने का फैसला कर रहे थे, इंगलैंड ने भारत के युद्ध में भाग लेने की बात वैसे ही मान ली। दूसरे शब्दों में भारत का युद्ध से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने पर भी उसे युद्ध में भाग लेने के लिए विवश कर दिया गया है। समिति को वायसराय की इस घोषणा से प्रसन्नता हुई है कि सरकार ने संघ योजना को अमल में लाने की तैयारियां को रोक दिया है क्योंकि उसने संघ शासन के सिद्धान्त को अक्षुण्ण बनाये रखा है। समिति का मत है कि केन्द्र में जिम्मेदारी-पूर्ण शासन के अभाव तथा संघ योजना स्थगित होने के कारण केन्द्र में एक ऐसी अनुत्तरदायी सरकार रह गई है, जो युद्ध की तैयारियों के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों पर नियंत्रण रखती है और इस तरह एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसे चुपचाप नहीं छोड़ा जा सकता।

यदि प्रान्तीय सरकारों को सिर्फ प्रान्तीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में ही नहीं; बल्कि युद्ध सम्बन्धी उन नये कार्यों के बारे में भी कार्रवाई करनी है, जिन की अन्तिम जिम्मेदारी प्रांतीय सरकारों पर आनी चाहिए, तो केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में उनकी स्थिति साफ होनी चाहिए।

पिछले, खासकर गत महायुद्ध के अनुभव ने हमें सिखा दिया है कि ब्रिटिश सरकार या भारत सरकार के युद्धकालीन वचनों या वक्तव्यों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए समिति सरकार से अनुरोध करती है कि भारत के भविष्य के सम्बन्ध में सिर्फ स्थिति का स्पष्टीकरण ही नहीं होना चाहिये, बल्कि इन सिद्धांतों पर अमल भी शुरू हो जाना चाहिये।

समिति ने घोषणा की कि जब तक स्थिति का स्पष्टीकरण इस भांति नहीं किया जाता तब तक वह देश की सरकार से पूर्ण सहयोग करने की सलाह नहीं दे सकती।

इसके अलावा सत्याग्रह का सवाल था। सत्याग्रह एक ऐसा आन्दोलन है, जिसके समय, स्थान और परिस्थिति का पहले से निश्चय होना चाहिये। सत्याग्रह का मतलब यही होता है कि हमें मार्शल ला के कारण या अराजकता की परिस्थिति में लड़ने के लिए विवश होना पड़ रहा है। लड़ाई छेड़नेवालों को यही कल्पना करनी पड़ती है। उन्हें मान लेना पड़ता है कि नेताओं को जेलों में डाल दिया जायगा और देश को संग्राम जारी रखना पड़ेगा; परन्तु क्या रामदुर्ग और तालचर के दृश्य फिर नहीं दिखाई देंगे। ऐसी स्थिति के लिए हम जिम्मेदारी नहीं ले सकते। अधिक सम्भावना मार्शल-ला घोषित किये जाने की थी। यह भी हो सकता था कि शायद अमीर लोग और लोकमत प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, खुल कर या गुप्त रूप से, हमारा पक्ष ग्रहण न करें। इस हालत में परिणाम सर्वनाश होगा। दूसरे पक्ष में तर्क यह दिया जा सकता है कि यदि मंत्रि-मण्डलों को काम करते रहने दिया गया और मन्त्री कांग्रेसजनों की गिरफ्तारी का आदेश देने को मजबूर हुए तो युद्ध समाप्त होने तक राजनतिक संगठन के रूप में कांग्रेस का खात्मा ही हो जायगा। इस तरह कांग्रेस को दो बुराइयों में से एक का चुनाव करना था।

गांधीजी की राय थी कि हमें अपना नैतिक समर्थन प्रदान करना चाहिए और मन्त्रियों को काम करते रहने देना चाहिए। जवाहरलालजी समझौता के जरिये जिस पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीन उपनिवेश पद प्राप्त करने की आशा करते थे, गान्धीजी का खयाल था कि इस प्रकार की घोषणा वे मन्त्रियों के जरिये प्राप्त कर सकते थे। दोनों ही अवस्थाओं में इस बात का खतरा था कि हो

सकता है कि वादा पूरा न किया जाय, किन्तु गांधीजी के दृष्टिकोण से होने वाली घोषणा के पूरी होने की सम्भावना अधिक थी। गांधीजी का कहना था कि उस हालत में सिर्फ बातचीत के दर्मियान हुए वादे को पूरा करने का ही सवाल न था, बल्कि तब तो एक नैतिक जिम्मेदारी अदा करने की बात उठती थी। गांधीजी कोई राजभक्ति की भावना के कारण ऐसा नहीं सोचते थे, बल्कि वे हमारी कमजोरी का अनुभव कर रहे थे। यह भी सम्भव था कि गांधीजी की कार्यप्रणाली के अन्तर्गत भी मन्त्रिमण्डलों के खात्मा करने की अवस्था आ जाती। साथ ही यह भी विचारणीय प्रश्न था कि क्या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी इसे स्वीकार करेगी। यदि वह नहीं मानती है तो हमें अपने स्थानों से हट जाना चाहिये और आगे आने वाली अव्यवस्था और अराजकता की जिम्मेदारी हमारे विरोधियों को उठानी चाहिये। अब प्रश्न उठता है—"एक ऐसे आन्दोलन को किस हद तक सफलता मिलेगी और उसकी नैतिक शक्ति क्या होगी जिसमें हमारे साथ गांधीजी ही नहीं होंगे, बल्कि वे हमारे विरुद्ध ही खड़े होंगे?" परन्तु हम मान लेते हैं कि गांधीजी शायद हमारा विरोध न करें, किन्तु इसमें तो कोई शक नहीं कि वे अपना मुंह बंद कर लेंगे और सेवग्राम जाकर वहां के काम में लग जायंगे। उनकी यह चुप्पी बड़ी भयंकर और विनाशकारी होगी।

कार्यसमिति के सामने कई और विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उठीं, किन्तु वे सभी की सभी स्पष्ट थीं। कार्यसमिति ने ब्रिटेन से युद्ध के उद्देश्य की घोषणा की मांग करने का जो अन्तिम निर्णय किया था उस पर वह बहुत सोच-विचार के बाद पहुंची थी और इस सोच-विचार में समस्या के सभी पहलुओं पर गौर कर लिया गया था। कल्पना की जा सकती है कि कार्यसमिति के आगे प्रस्ताव के जो विभिन्न मसविदे आये होंगे उनसे गांधीजी सहमत न हुए होंगे। वास्तव में गांधीजी किसी प्रस्ताव के आधार पर बातचीत चलाने को तैयार न थे और न वे कोई मांग उपस्थित करने के ही पक्ष में थे, यहां तक कि वे अवधि निर्धारित करने की बात भी किसी हालत में मानने को तैयार न थे। यदि ब्रिटेन से कुछ मिले तब भी गांधीजी उसे लेने को तैयार न थे। वे सविनय अवज्ञा के भी विरुद्ध थे। सभी जानते हैं कि मसविदे के मुख्य भाग से जवाहरलालजी का सम्बन्ध था। गांधीजी ने अनुभव किया कि यदि यह प्रस्ताव पास हो तो जवाहरलाल जी को अध्यक्ष बनना चाहिए और उन्हीं को अपनी कार्यसमिति का चुनाव करना चाहिए। सच तो यह कि कार्रवाई के बीच एक बार तो राजेन्द्र बाबू ने अपना इस्तीफा भी दे दिया और तब पंडित जवाहरलाल नेहरू को, जो हाल ही में कार्यसमिति में शरीक हुए थे, राजेन्द्र बाबू का उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय किया गया। परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि विधान में इस परिवर्तन के लिए स्थान न था। कार्यसमिति को दर्मियानी मियाद के लिए अध्यक्ष चुनने का हक न था। पाठकों को स्मरण होगा कि कलकत्ते में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तक के दर्मियानी मियाद के लिए अध्यक्ष चुनने के अधिकार के बारे में संदेह किया गया था। गांधीजी जवाहरलालजी को अपने साथ रखना चाहते थे, किन्तु ऐसा वे नहीं कर सके और तब वे जानबूझ कर खुद जवाहरलालजी के साथ रहने को मजबूर हो गये। कार्यसमिति के बाकी सदस्यों के लिए यह स्थिति कोई सुविधाजनक न थी। ऐसी अवस्थामें जवाहरलालजी के विचारों का विरोध करना ऐसी कठिनाइयोंको लाना था, जिनसे बचना उचित था और विरोध न करने का मतलब कांग्रेस से अहिंसा के प्रभाव को घटने देना था, जो खुद गांधीजी नहीं चाहते थे। इस प्रकार इस समस्या पर तीन ओर से कशमकश हुई। गांधीजी का विचार यह था कि यदि ईश्वर की कृपा से हम जीवित बचे तो हमें ब्रिटेन

से जरूर भिड़ना चाहिए, किन्तु अभी सविनय अवज्ञा के लिए हमारे पास साधनों का अभाव है। ये साधन ब्रिटेन के बमों से भिन्न थे। उन दिनों हम चाहे जितने जोरदार शब्दों में बोल, लिख और धमकियां दे रहे हों, किन्तु सत्य तो यह था कि उस समय कांग्रेस में अनुशासन का अभाव था। उस वक्त सत्याग्रह जैसी कार्रवाई के अनुकूल वातावरण न था। इस अवसर पर कांग्रेस के प्रस्ताव का प्रत्येक शब्द सोच-विचार कर रखा जाना चाहिए था, क्योंकि उसका भारत से बाहर प्रभाव पड़ना था। जवाहरलालजी का प्रस्ताव इस शर्त पर पास होना चाहिए कि वे जिम्मेदारी उठावें और केवल एक बाहरी व्यक्ति की तरह सलाह देकर ही संतुष्ट न हो जायं। गांधीजी की सेवाएँ भी सदा प्रस्तुत रहेंगी, किन्तु वे वाइसराय तथा जवाहरलालजी के मध्यस्थ की हैसियत से ही बात-चीत करेंगे। गांधीजी अपने अहिंसा के सिद्धान्त पर किसी तरह से आंच न आने देना चाहते थे। वे सिर्फ मध्यस्थ ही बन सकते थे, किन्तु मुख्य कार्य किसी दूसरे को ही करना चाहिए। यही उनकी स्थिति थी। यह उनकी शस्त्रास्त्र कानून के प्रति ग्रहण की गई स्थिति के समान थी और इसे समझा भी जा सकता था। एक समय वे सेना में भरती का काम भी कर चुके थे। गांधीजी की अहिंसा के सम्बन्ध में जो विचार-धारा थी उसका महत्व कांग्रेस के अधिकांश सदस्य समझने में असमर्थ थे। गांधीजी की अहिंसा संसार के लिए आदर्श थी—एक ऐसी अहिंसा जो हिन्दुस्तान को उसकी मुक्ति का अनूठा रास्ता बताती थी। अहिंसा भी विभिन्न प्रकार और दर्जे की होती है। एक तो मन वचन और कर्म की व्यक्तिगत अहिंसा है, जो बालकों तथा बड़ों के घर और समाज में रहने के लिए एक नई परम्परा तथा एक नये वातावरण को जन्म देती है और इस प्रकार अहिंसा की बुनियाद पर एक नये राज्य के निर्माण का आधार बनता है। दूसरी अहिंसा वह है जिसका प्रयोग भारत की पराधीनता और स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेकर ब्रिटेन के प्रति होता है। अहिंसा का तीसरा प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के व्यापक क्षेत्र में होता है, जिसके द्वारा सभी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निबटारा हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में संसार को अपना सिद्धान्त प्रदान करने का पहला अवसर मिलते ही कांग्रेस अपने ही मुँह से भारत के योद्धाओं को एक ऐसे युद्ध में शरीक होने के लिए कैसे कह सकती है, जो न तो हमारा अपना युद्ध है और न जिसके लिए कोई नैतिक आधार या औचित्य ही है? यदि ब्रिटेन को सफलता मिले तो कुछ लोग भारतीय जनता के युद्ध में शरीक होने के लाभ की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि कांग्रेस की मर्यादा की अवज्ञा की गई है और ऐसी हालत को कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है। कांग्रेस एक संगठन के रूप में वैसा निरपेक्ष दृष्टिकोण नहीं ग्रहण कर सकती, जैसा कि उसने साम्प्रदायिक निर्णय के संबंध में ग्रहण किया था। क्या मन्त्रियों के इस्तीफे के बाद हम तटस्थ रह सकेंगे? देश को एक तो व्यावहारिक और दूसरे नैतिक नेतृत्व की आवश्यकता थी। कुछ लोग इस बात के लिए उत्सुक थे कि समस्या के राजनैतिक पहलू की उपेक्षा न की जाय। उदाहरण के लिए, जब कार्यसमिति के एक सदस्य के पास एक रेजीमेण्ट के लोगों ने जाकर प्रश्न किया—"हमें सिंगापुर भेजा जा रहा है, हम वहां जायं, या नहीं?" प्रश्न था कि इस पूछ-ताछ का उत्तर दिया जाता है या नहीं? यदि जोरदार प्रचार नहीं तो मत प्रकट करना तो हमारा कर्तव्य होना ही चाहिए; परन्तु इस स्थिति का विरोध यह कह कर किया जायगा कि इसे सिर्फ सुविधा-जनक मान कर ही ग्रहण किया जा रहा है। इस प्रकार की आलोचनाओं का उत्तर यह कह कर दिया जा सकता है कि नशाबन्दी स्वीकार करने पर भी हम सदा धरना नहीं देते। अन्य लोग समस्या पर हिंसा या अहिंसा के दृष्टिकोण से विचार नहीं करेंगे, बल्कि उसके असली रूप

पर विचार करेंगे। चाहे चुप रह कर अपने विचार प्रकट करते हैं या जोरदार शब्दों में, किन्तु यह तो हमें मजबूती से जाहिर कर ही देना चाहिए कि हम किसी तरह फंदे में नहीं फंस सकते।

सवाल था कि हम सहयोग करें या समझौते की बातचीत करें? हम पहले समझौते की बातचीत की समस्या को ही लेते हैं। गांधीजी का विचार था कि समझौते की बातचीत के अनुकूल वातावरण का अभाव है और उन्होंने यह भी जाहिर कर दिया कि कम-से-कम उन्हें तो इसमें विश्वास नहीं है। युवावर्ग की शिकायत थी कि उन्हें गांधीजी के प्रभाव का लाभ नहीं दिया जा रहा है। उनका कहना था—"बस गांधीजी मुंह से कह भर दें, बाकी हम देख लेंगे।" गांधीजी ने अंत में कहा कि वे बातचीत का भार उठाने को तैयार नहीं हैं। इसकी जिम्मेदारी जवाहरलालजी को खुद लेनी चाहिये। गांधीजी के पुराने अनुयायियों में यह भावना जाग्रत हुई कि वे सदा उनका या जवाहरलालजी का अनुसरण करते नहीं रह सकते। इसलिए यदि जवाहरलालजी जिम्मेदारी अपने कंधों पर लेते हैं तो उन्हें भी जवाहरलालजी पर भार बन कर रहना पड़ता है। इसलिये या तो गांधीजी और जवाहरलालजी सहमत होकर नेतृत्व ग्रहण करें और या जवाहरलालजी को पूरे अधिकार मिलें और कार्यसमिति खुद उन्हीं के द्वारा नामजद की जाय। यह एक व्यावहारिक दृष्टिकोण था परन्तु दूसरा तर्कसंगत दृष्टिकोण यह भी था कि यदि ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष चलना है तो यह अहिंसा के आधार पर होना चाहिए। ऐसे संघर्ष के लिए नेता भी आवश्यक था। समाजवादी भी गांधीजी को ही नेता बनाना चाहते थे। यह उस हालत में सम्भव था, जबकि गांधीजी और जवाहरलालजी दोनों का नेतृत्व रहता। हमारा जर्मनों से कोई झगड़ा न था। यदि हमारा राष्ट्र स्वाधीन होता तो हम कभी भी उनके विरुद्ध लड़ते नहीं। परन्तु हम एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में न तो विचार ही कर सकते थे और न कुछ कर ही सकते थे। जोश में या किसी भावना से प्रभावित होकर यह कहना आसान था कि यदि हमें संतोष हो जाय तो हम प्रत्येक प्रकार की सहायता देने को तैयार हैं; परन्तु वाइसराय सहायता प्राप्त करने के लिए भविष्य में अपने अस्तित्व का ही अंत कर लें या वाइसराय रहें तो केन्द्र में उनका आंशिक नियंत्रण रह जाय और प्रांतीय सरकारें स्वतन्त्र हो जाएं—ये बातें सिर्फ बातचीत के ही जरिये तय हो सकती थीं। कुछ लोग थे जो तुरंत संघर्ष छेड़ देने के पक्ष में थे, अन्य विशेष अवस्था में ही संघर्ष छेड़ना चाहते थे। हर हालत में दो सवाल उठते थे—

(१) यदि जो कुछ चाहते हैं वह मिल जाय तो हम क्या सहायता देंगे?

(२) यदि जो कुछ चाहते हैं वह हमें न मिला तो हम क्या (कैसा संघर्ष) करेंगे?

कहना न होगा कि किसी भी अवस्था में कांग्रेसी नेताओं को सार्जेण्ट जनरल बनाने की कल्पना नहीं की गई थी। यह भी सम्भव था कि हम सैनिक विषयों को हाथ में न लेकर सिर्फ खाद्य प्रबन्ध जैसे विषयों से ही ताल्लुक रखते। कुछ लोगों का कहना था कि उस समय कार्यसमिति के आगे जो मसविदा था उसके अनुसार बातचीत बिलकुल असम्भव ही थी और वह भी सिर्फ इस अर्थ में नहीं कि युद्ध के आरम्भ में हमारी मांग तुरन्त नहीं मानी जा सकती थी, बल्कि भारत और ब्रिटेन के मध्य समझौता कराने के व्यावहारिक अर्थ में भी। अभी हमारे मन्त्रिमण्डल काम कर रहे थे। इस सवाल का फैसला तो जल्दी होना ही था कि मन्त्रियों को सहयोग करना चाहिये या असहयोग। भारत रक्षा कानून पास होने ही वाला था। अंग्रेज कानून और विधान का कठपुतला है। सर स्टेफर्ड क्रिप्स उन दिनों वर्धा में ही थे। उनका कहना था कि एक अंग्रेज की

हैसियत से मैं भारत को उसके अलावा और कुछ देने को तैयार नहीं हूँ, जो पार्लामेंट देगी। स्वाधीनता तो सिर्फ भारतीय खुद ही ले सकते हैं। सुभाष बाबू का तत्काल संघर्ष छेड़ने और जवाहरलालजी का विशेष अवस्था में संघर्ष छेड़ने—इन दोनों ही कार्यक्रमों का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को विवश करना था। सुभाष बाबू ने विशेष निमंत्रण पर कुछ समय तक समिति की कार्रवाई में भाग लिया था। उनसे बार-बार यही कहा गया कि यदि भारत और कांग्रेस एक ही आवाज से मांग पेश करें और एक ही तरह की कार्रवाई की जाय तो अच्छा होगा, लेकिन ये प्रयत्न बेकार गये। गांधीजी ने अपना यही मत दुहराया कि जवाहरलालजी को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाय और बागडोर उन्हीं के हाथों में सौंप दी जाय। परन्तु एकाएक ऐसा परिवर्तन करने से कांग्रेस में फूट पड़ने का संदेह फैल जाता (जबकि फूट हुई न थी), खासकर ऐसी हालत में जबकि कार्यसमिति की कार्रवाई गुप्त रूप से सात दिन तक होती रही थी और उसके बारे में बाहर कुछ भी जाहिर नहीं किया गया था। गांधीजी ने कहा कि मसविदा का यही रूप रहने से वे काँग्रेस के कार्य में कुछ भी भाग नहीं ले सकते और साथ ही वे उसमें कुछ परिवर्तन भी नहीं होने देना चाहते थे। उनकी स्थिति यह थी—"आप लोगों का अहिंसा में विश्वास नहीं है। यह पिछले महीने भी साफ था, जब मेरा प्रस्ताव गिर गया था।"

प्रायः यही बात सितम्बर, १९३९ में हुई थी। गांधीजी ने अनुभव किया कि कार्यसमिति उनके साथ चलने को तैयार नहीं है। यदि गांधीजी चाहते तो कार्यसमिति में बहुमत उनके पक्ष मे हो सकता था, किन्तु गांधीजी सदा से हृदय के परिवर्तन में विश्वास करते आये हैं। इसीलिए गांधीजी ने मत ग्रहण किया कि खुद सहमत न होते हुए भी जवाहरलालजी का मसविदा मंजूर होना चाहिये। उन्हीं को बातचीत करना चाहिए और अध्यक्ष भी उन्हीं को चुना जाना चाहिए। यह सुझाव कुछ विचित्र-सा जान पड़ता था; परन्तु वास्तव में इससे तीन दिन पहले ही राजेन्द्र बाबू सेवाग्राम गये थे और उन्होंने अपना इस्तीफा देने को कहा था। इसके कई कारण हो सकते थे। शायद वे अनुभव करते हों कि राजनैतिक वार्ता का कार्य उनके अनुकूल नहीं है। या उन पर पिछले सप्ताह की घटनाओं—सुभाष बाबू को निमन्त्रण तथा गांधीजी की वाइसराय से मुलाकात—का प्रभाव पड़ा। वैधानिक कठिनाई के कारण जवाहरलालजी को अध्यक्ष बनाने का सुझाव आगे न बढ़ सका। तब युद्ध-समिति नियुक्त करने का एक और प्रस्ताव सामने आया और उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया गया। जवाहरलालजी इस समिति के अध्यक्ष थे और उन्होंने समिति के अन्य सदस्यों का चुनाव किया। ये सदस्य थे वल्लभभाई पटेल तथा अबुलकलाम आजाद। प्रस्ताव का मसविदा समिति में दूसरी बार पढ़ा गया और कुछ मौखिक संशोधनों के साथ उसे स्वीकार कर लिया गया।

सवाल उठता है कि गांधीजी ने यह दृष्टिकोण ग्रहण करने के बाद खुद नेतृत्व ग्रहण क्यों नहीं किया? वे जवाहरलालजी का मत जानते थे कि गांधीजी बातचीत चलाने के लिए बड़े खतरनाक व्यक्ति हैं और वे यह भी जानते थे कि जवाहरलालजी को बातचीत करने के सम्बन्ध में अपने ऊपर विश्वास था। इसीलिए कार्यसमिति की कार्रवाई समाप्त होने पर समिति के निश्चय की पुष्टि किया जाना ही सिर्फ शेष रह गया। यह पुष्टि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा वर्धा में होने को थी और फिर कांग्रेसी प्रान्तों से असेम्बलियों द्वारा इसे मांग के रूप में उपस्थित किया जाना था। ९ सितम्बर से १५ सितम्बर तक कार्यसमिति की बैठक हुई थी और इसी दर्मियान ११ सितम्बर को सम्राट का संदेश आया था, जिसमें भारतवासियों के प्रत्येक वर्ग से सहायता और समर्थन की आशा प्रकट की गई

थी। उन्होंने कहा—"ब्रिटेन अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नहीं लड़ रहा है, बल्कि एक ऐसे सिद्धान्त की रक्षा के लिए, जो मानव जाति के भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण है।" सम्राट का संदेश वाइसराय ने केन्द्रीय धारासभाओं के संयुक्त अधिवेशन में पढ़कर सुनाया और फिर अपने भाषण के अंत में घोषणा की कि संघ-शासन के सिद्धान्त को कायम रखते हुए १९३५ की संघ योजना के अमल में लाने की तैयारियां स्थगित करदी गई हैं। कांग्रेस कार्यसमिति के घोषणा-पत्र पर गांधीजी द्वारा विचार कर लेने के बाद उसे प्रकाशित कर दिया गया। गांधीजी का वक्तव्य नीचे दिया जाता है—

"कार्यसमिति ने विश्व-युद्ध संकट के सम्बन्ध में जो वक्तव्य जारी किया है उसे तैयार करने में पूरे चार दिन लग गये। समिति के कहने पर वक्तव्य का मसविदा पंडित जवाहरलाल-नेहरू ने तैयार किया था। इस वक्तव्य पर प्रत्येक सदस्य ने दिल खोलकर मत प्रकट किया। मेरा विचार था कि ब्रिटेन को जो भी कुछ समर्थन दिया जाय वह बिना किसी शर्त के दिया जाय, किन्तु यह देखकर खेद हुआ कि यह विचार सिर्फ मेरा अपना ही था। यह सिर्फ अहिंसात्मक आधार पर ही होना सम्भव था। लेकिन समिति को तो भारी जिम्मेदारी पूरी करनी थी। वह सिर्फ अहिंसा-त्मक दृष्टिकोण कैसे ग्रहण कर सकती थी! समिति ने अनुभव किया कि विरोधी की कठिनाई से लाभ न उठाने की शक्ति के लिए जिस अहिंसात्मक भावना की जरूरत होती है उसका राष्ट्र में अभाव है। फिर भी, समिति जिस नतीजे पर पहुंची उसके कारणों पर रोशनी डालते हुए उसने अंग्रेजों के प्रति महान उदारता का परिचय दिया। वक्तव्य का रचयिता खुद एक कलाकार है। गोकि साम्राज्यवाद के, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो, विरोध की दृष्टि से कोई उसका मुकाबला नहीं कर सकता, फिर भी वह अंग्रेजों का दोस्त है। सच तो यह है कि वह अपने स्वभाव और विचारधारा की दृष्टि से भारतीय की बनिस्बत अंग्रेज ही अधिक है। वह अक्सर अपने देशवासियों की बनिस्बत अंग्रेजों में अधिक घुलमिल जाता है। वह इस अर्थ में मानवता का सच्चा पुजारी भी है कि बुराई चाहे जहां भी हो, दूर होनी चाहिए। इसलिए एक सच्चा राष्ट्रवादी होते हुए भी उसकी राष्ट्रीयता का खजाना अंतर्राष्ट्रीयता से भरा रहता है। इसीलिए इस वक्तव्य को इस देश के निवासियों के नाम, ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता के नाम—नहीं बल्कि संसार के सभी राष्ट्रों के नाम (इनमें वे राष्ट्र भी शरीक हैं, जो भारत की तरह पीड़ित हैं), एक घोषणापत्र कहा जा सकता है। उसने कार्यसमिति के द्वारा सम्पूर्ण भारत को इस बात के लिए मजबूर किया है कि वह सिर्फ अपनी स्वाधीनता का ही खयाल न करे, बल्कि दुनिया के सभी शोषित राष्ट्रों की स्वाधीनता का ध्यान रक्खे।

"समिति ने यह वक्तव्य पास करने के साथ ही जवाहरलालजी की मर्जी का एक बोर्ड नियुक्त किया और उन्हींको इस बोर्ड का अध्यक्ष बनाया। इस बोर्ड का काम समय-समय पर बदलने वाली परिस्थिति का सामना करना था। मुझे आशा है कि इस वक्तव्य का कांग्रेस के सभी वर्ग समर्थन करेंगे। उनमें से सबसे बलवान भी इसमें बल का अभाव न पायेगा। राष्ट्र के इतिहास की इस सबसे महत्त्वपूर्ण घड़ी में कांग्रेस को विश्वास करना चाहिए कि यदि कुछ करने की जरू-रत हुई तो कार्रवाई के समय कमजोरी न दिखाई जायगी। यह बड़े दुख की बात होगी यदि इस समय कांग्रेसजन दलगत भीतरी और छोटे-मोटे झगड़ों में पड़े रहें। यदि समिति की कार्रवाई से कोई बड़ा या महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलता है तो हरेक कांग्रेसजन की हार्दिक और पूरी वफादारी मिलना बहुत ही जरूरी है। मुझे आशा है कि दूसरे सभी राजनैतिक दल भी ब्रिटिश सरकार से

अपनी नीति का स्पष्टीकरण करने और लड़ाई के दिनों में उस नीति के अनुसार जितनी कार्रवाई सम्भव हो करने की मांग में समिति का साथ देंगे। अंग्रेजों ने लोकतंत्रवाद के बारे में जो कुछ कहा है उससे स्वाभाविक परिणाम तो यही निकलता है कि हिन्दुस्तान व ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे प्रदेशों को स्वाधीन व स्वतंत्र राज्य घोषित कर देना चाहिए। यदि युद्ध का उद्देश्य इसके अलावा कुछ और है तो पराधीन राष्ट्र ईमानदारी से या अपनी मर्जी से कैसे सहयोग कर सकते हैं ! हां, अहिंसा के आधार पर किये गये सहयोग की बात अलग है। जरूरत सिर्फ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की विचारधारा में मानसिक क्रान्ति की है। युद्ध से पूर्व लोकतंत्रवाद में विश्वास की जो घोषणाएं की गई थीं और जिन्हें अभी तक दोहराया जा रहा है उन्हें अमल में लाने के लिए ईमानदारी से कार्य करने की जरूरत है। सवाल यह है कि ब्रिटेन आधुनिक भारत को युद्ध में घसीटना चाहेगा या सच्चे लोकतंत्रवाद की रक्षा में उसका सहयोग एक इच्छुक साथी के रूप में प्राप्त करेगा ? कांग्रेस का समर्थन इंगलैंड और फ्रांस के लिए सबसे महान नैतिक निधि होगी; क्योंकि कांग्रेस के पास देने को सिपाही नहीं हैं। कांग्रेस हिंसात्मक साधनों से नहीं लड़ती। वह तो अहिंसात्मक साधनों से ही काम लेती है, फिर चाहे ये साधन कितने ही अपूर्ण या बेढंगे क्यों न हों।"

इसके बाद ही युद्ध उप-समिति की गश्ती चिट्ठी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के नाम निकाली गई, जिसमें उन्हें सलाह दी गई कि "हमें व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से जल्दी में कोई ऐसी बात नहीं कहनी या करनी चाहिए, जिससे समय से पहले कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जाय।"

इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि युद्ध उप-समिति थोड़े ही समय रही और इस थोड़े समय में उसने कार्य भी अधिक नहीं किया। रामगढ़ में यह उप-समिति फिर नियुक्त नहीं की गई। १६ सितम्बर १६३६ से १६ मार्च, १६४० तक उसने प्रायः कुछ भी महत्व का कार्य नहीं किया। २६ सितम्बर १६३६ से लेकर अप्रेल १६४० तक लार्ड ज़ेटलैंड ने कई वक्तव्य दिये, जिसके बाद श्री एल० एस० एमरी भारत मंत्री हुए। ये सभी वक्तव्य प्रायः एक ही सांचे में ढले हुए थे। इन वक्तव्यों के उत्तर तो दिये गये, किन्तु उनके परिणाम-स्वरूप भारत की प्रगति कुछ नहीं हुई। इनकी ध्वनि इतनी प्रतिक्रियापूर्ण और क्षोभ पैदा करने वाली थी कि कांग्रेस शासन व युद्ध से हाथ खींच लेने पर मजबूर हो गई। इन सभी में इस बात की तारीफ की गई थी कि भारत के सभी वर्गों ने सरकार को सहायता प्रदान की है। यह जिक्र खास-तौर पर किया गया कि देशी नरेशों ने धन, सेवाएं व सैनिक देने को कहा है और देश के सभी भागों से लोगों ने सहानुभूति व समर्थन के संदेश भेजे हैं। पंजाब और बंगाल के प्रधान मंत्रियों ने बिना किसी शर्त के सहायता प्रदान करने का जो वचन दिया था उसके लिए कृतज्ञता प्रकट की गई। सम्राट की सरकार ने इस बात की भी कद्र की कि सभी प्रान्तों में मंत्रियों ने गवर्नरों को सहायता पहुँचाने को कहा है। इसके बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधियों द्वारा दिये गये वक्तव्य का उल्लेख किया गया और कहा कि ये लोग दोनों देशों के सम्बन्धों के बारे में पेश की गई शर्तें पूरी होने की अवस्था में ही सहयोग करने को तैयार हैं। लार्ड जेटलैंड ने लार्ड सभा की बहस के बीच लार्ड स्नेल के इन शब्दों को उद्धृत किया कि "कांग्रेस के नेताओं ने स्वशासन के अधिक पूर्ण स्वरूप के सम्बन्ध में अपने दावों को जो फिर से उपस्थित किया है वह स्वाभाविक तो अवश्य है, किन्तु साथ ही असामायिक भी है।" लार्ड महोदय ने बड़ी शान से यह तो मंजूर किया कि कांग्रेसी नेताओं के लिए यह स्वाभाविक है और उनकी उत्कट देशभक्ति की भी उन्होंने दाद दी; लेकिन साथ ही यह भी कहा कि वस्तु-स्थिति को देखते हुए कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं। फिर उन्होंने इस अवसर पर अपने

दावों पर जोर डालने के लिए कांग्रेसजनों की भर्त्सना भी की और कहा कि किस अवसर पर कैसा बर्ताव हुआ, इस बात का अंग्रेज विशेष खयाल रखते हैं। लार्ड जेटलैंड ने कहा कि ऐसे समय जब कि अंग्रेज जीवन-मरण के संग्राम में लगे हुए हैं, किसी आन्दोलन के छेड़ने से उनकी परेशानी बढ़ जायगी। इसके बजाय उपयुक्त समय आने पर यदि दावों को पेश किया गया तो अंग्रेज अधिक धैर्य से कांग्रेसजन की यह मांग सुन सकेंगे। आपने स्वीकार किया कि शासन के वास्तविक कार्य में अनुभव प्राप्त राष्ट्रवादियों का होना भारत के लिए सौभाग्य की बात है। यदि ये लोग प्रान्तीय शासन से हाथ खींच लेंगे तो यह सचमुच बड़ी मुसीबत की बात होगी। दूसरे शब्दों में लार्ड जेटलैंड का भाषण कांग्रेसजनों के लिए इस बात की भर्त्सना ही थी कि उन्होंने अपने उद्देश्यों पर जोर डालने के लिए यह अवसर चुना।

गांधीजी ने २६ सितम्बर को वाइसराय से दूसरी मुलाकात की। २८ सितम्बर को उन्होंने लार्ड ज़ेटलैंड को नीचे लिखा उत्तर दिया—

"भारतीय समस्या के सम्बन्ध में लार्ड सभा में हुई बहस का 'रायटर' द्वारा किया संक्षेप मुझे दिखाया गया है। शायद इस अवसर पर मेरे चुप रहने से भारत और इंगलैंड दोनों ही का अकल्याण हो। बहस में कांग्रेस की निंदात्मक तुलनाएं करने में जो पुराना जोश दिखाया गया है, शायद उसके लिए मैं तैयार न था। मैं तो यही मानता हूं कि कांग्रेस में सभी आ गये हैं। किसी दूसरी संस्था की निंदा किये बिना यह कहा जा सकता है कि एकमात्र कांग्रेस ही ऐसी संस्था है, जो जाति और धर्म का भेद भुलाकर आधी शताब्दी तक सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करती रही है। उसका कोई भी स्वार्थ ऐसा नहीं है, जिसका मुसलमानों या रियासती प्रजा के स्वार्थों से विरोध हो। हाल में यह भी प्रकट हो गया है कि कांग्रेस निस्सन्देह रियासती प्रजा के हितों का भी प्रतिनिधित्व करती है। इसी संस्था ने अंग्रेजों से अपने इरादे स्पष्ट करने की मांग की है। यदि अंग्रेज सभी की स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं तो उनके प्रतिनिधियों को साफ शब्दों में कह देना चाहिए कि भारत की स्वाधीनता भी उनके युद्ध-उद्देश्यों में सम्मिलित है। इस स्वाधीनता के स्वरूप का फैसला खुद भारतीय ही कर सकते हैं। लार्ड ज़ेटलैंड के लिए यह शिकायत करना उचित नहीं है, जैसा कि उन्होंने किया है, कि जब कि ब्रिटेन जीवन-मरण के संग्राम में व्यस्त हो, कांग्रेस को अंग्रेजों के इरादों के स्पष्टीकरण की मांग न करनी चाहिए। मेरा कहना है कि कांग्रेस ने इस प्रकार की घोषणा की मांग करके कोई विचित्र या असम्मानजनक कार्य नहीं किया है। महत्व केवल स्वाधीन भारत द्वारा दी हुई सहायता का हो सकता है। कांग्रेस को यह जानने का अधिकार है कि वह जनता से यह कह सकती है या नहीं कि युद्ध के बाद भारत का पद स्वाधीन देश के रूप में होगा या नहीं। इसीलिए अंग्रेजों के मित्र की हैसियत से मैं अंग्रेज राजनीतिज्ञों से अपील करता हूं कि साम्राज्यवादियों की पुरानी भाषा भूल कर उन्हें उन सभी लोगों के लिए एक नये युग का आरम्भ करना चाहिए, जो अभी तक साम्राज्यवाद के शिकार रहे हैं।"

कांग्रेस युद्ध उप-समिति के अध्यक्ष एक कदम और बढ़ गये। उन्होंने कहा कि कार्यसमिति का वक्तव्य सिर्फ भारत की ही तरफ से नहीं, बल्कि संसार के पीड़ित लोगों की तरफ से दिया गया है ताकि निराश मानव-समाज को कुछ आशा बंध सके। जवाहरलालजी ने ठीक ही कहा कि "लार्ड ज़ेटलैंड उस कल की भाषा में बोल रहे हैं, जो मर चुका है, गुजर चुका है। ऐसा भाषण बीस बरस पहले दिया जा सकता था।" उन्होंने यह भी अभिमानपूर्वक कहा कि हमने सौदा करने की भावना से अपनी मांगें नहीं रक्खी हैं। पंडितजी ने जब यह कहा कि "हमें संसार को

स्वाधीनता मिलने और संसार की उस स्वाधीनता में भारत के स्थान का विश्वास होना चाहिए"—तो उन्हें अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में कुछ भी भ्रम न था। तभी हमारे और हम से भी अधिक हमारे मस्तिष्क और हृदय के लिए युद्ध का कुछ अर्थ हो सकता है, क्योंकि तब हम ऐसे ध्येय की प्राप्ति के लिए लड़ सकेंगे, जो सिर्फ हमारे ही लिए नहीं, बल्कि संसार की जनता के लिए भी उपयुक्त होगा। चूंकि हम महसूस करते हैं कि बहुत से अंग्रेजों के वही आदर्श हैं, जो हमारे भारत में हैं, इसलिए हमने उन आदर्शों की प्राप्ति के लिए अपना सहयोग प्रदान किया है। लेकिन अगर ये आदर्श हैं ही नहीं तो हम लड़ते किस लिए हैं? जिन आदर्शों की खुले शब्दों में घोषणा की जा रही है और जिन पर अमल भी किया जा रहा है उन के लिए स्वाधीन और रजामंद हिन्दुस्तान ही लड़ सकता है।" इसके बाद वाइसराय से कम से-कम ५२ व्यक्ति मिले जिनमें गांधी जी, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल, सुभाष बाबू, श्री जिन्ना तथा मुसलिम लीग के अन्य सदस्य, नरेन्द्रमंडल के अध्यक्ष और भारत के राजनैतिक जीवन के कुछ अन्य प्रमुख व्यक्ति थे।

कुछ समय बाद ९ और १० अक्टूबर को वर्धा में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिस में कार्यसमिति के वक्तव्य तथा युद्ध उप-समिति की नियुक्ति की पुष्टि की गई। उसने अनुरोध किया कि लोकतंत्रवाद का विस्तार उपनिवेशों तक किया जाय और आत्म-निर्णय का सिद्धान्त उन पर भी अमल में लाया जाय, जिससे साम्राज्यवादी प्रभुता का अंत किया जा सके। उसने यह भी कहा कि भारत को स्वाधीन राष्ट्र घोषित कर दिया जाय और इस घोषणा को तुरंत अधिक-से-अधिक सम्भव मात्रा में अमल में लाया जाय।

भारत एक और अखंड देश है और रियासतों के कटने से वह लूला और लंगड़ा ही हो जायगा। यह सौभाग्य की बात है कि ऐसे समय ११ प्रान्तों वाला ब्रिटिश भारत तथा ५६२ रियासतें एक ही संयुक्त नेतृत्व में आ गई हैं। अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद् का पिछला अधिवेशन फरवरी १९३९ में लुधियाना में हुआ था और पंडित जवाहरलाल नेहरू उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। इस प्रकार १९३९ के अक्टूबर में वे कांग्रेस की युद्ध उप-समिति तथा देशी राज्य प्रजा परिषद् दोनों के अध्यक्ष थे। ११ अक्टूबर को परिषद् की स्थायी समिति ने एक वक्तव्य निकाल कर कार्यसमिति के विचारों तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के युद्ध विषयक प्रस्ताव का समर्थन किया। वक्तव्य में स्थायी समिति ने कहा—"हम भारत की अखंडता तथा समस्त जनता की स्वाधीनता में विश्वास करते हैं। इस दृष्टि से समिति को संतोष है कि कांग्रेस ने इस संकट की घड़ी में भारतीय राष्ट्र की लोकतंत्रीय स्वाधीनता की मांग को अपनी जोरदार आवाज में उपस्थित किया है। इस मिलने वाली स्वाधीनता में रियासती प्रजा बराबरी की हिस्सेदार होनी चाहिए और उसे बराबरी की जिम्मेदारी भी उठाने को तैयार रहना चाहिए।" इसीलिए कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से ब्रिटेन के युद्ध और शान्ति के उद्देश्यों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करने की जो मांग की है उसके प्रति समिति अपनी सहमति प्रकट करती है। वक्तव्य में साथ ही कहा गया कि रियासतों के शासकों ने जहां यूरोप में लोकतंत्रवाद की रक्षा के लिए खूब सहायता देने को कहा है वहां उनकी अपनी रियासतों में नग्न निरंकुशता का बोलबाला है। इसलिए समिति ने नरेशों से अनुरोध किया कि वे अपने यहां पूर्ण उत्तरदायी शासन का लक्ष्य स्वीकार करने की घोषणा कर दें और निकट भविष्य में इस नीति को अधिक-से-अधिक अमल में लाने की घोषणा करें। अन्त में स्थायी समिति ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जब तक ये आधारभूत परिवर्तन नहीं किये जाते और

रियासतों का शासन जनता की मर्जी और उसके प्रतिनिधियों की राय से नहीं किया जाता तब तक नरेश प्रजा से सहयोग की आशा नहीं कर सकते।

युद्ध छिड़े डेढ़ महीने के लगभग हो चुका था और वाइसराय की एक के बाद दूसरे व्यक्ति से मुलाकातों से राष्ट्र ऊबने लगा था। मुलाकातों का यह ताता इस कदर बढ़ा कि अनेक व्यक्ति वाइसराय से निमंत्रण की आशा करने लगे। सभी जानते हैं कि इन मुलाकातों के समय वाइसराय सिर झुका कर नोट भी लिया करते थे। इन ५२ व्यक्तियों से उन्होंने जो "पूर्ण और स्पष्ट वार्ता" की थी और विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रतिनिधियों से जो बातें की थीं उसमें उन्हें, जैसी कि उम्मीद की जानी चाहिए थी, "दृष्टिकोणों का स्पष्ट भेद दिखाई दिया। उनकी मांगें भी अलग-अलग थीं और उपस्थित समस्याओं का हल भी उन्होंने अपने ढंग से अलग ही बताया था। और, जैसी कि आशा की जानी चाहिये थी, जहां एक तरफ विशेष संरक्षण की मांग की जाती थी वहां दूसरी तरफ वैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता पर भी जोर दिया जाता था।" इन शब्दों में वाइसराय ने १८ अक्टूबर, १६३६ को अपने वक्तव्य में "भारत में ब्रिटेन की नीति" विषय की चर्चा उठाई थी। इसमें सन्देह नहीं कि यदि वाइसराय अपनी मुलाकातें जारी रखते तो मतभेद उन्हें और भी अधिक मिलते। इन विरोधी शक्तियों का उचित परिणाम निकालने के स्थान पर लार्ड लिनलिथगो मतभेदों से प्रभावित हो गये और उन्हीं के आधार पर उन्होंने अपना फैसला भी दे दिया। वाइसराय के मत मे जिन विषयों का स्पष्टीकरण आवश्यक था वे इस प्रकार थे —

(१) युद्ध में सम्राट की सरकार के उद्देश्य क्या हैं और यह उद्देश्य क्या इस प्रकार के हैं कि अपने दीर्घकालीन इतिहास और महान आदर्शों को ध्यान में रखते हुए हिन्दुस्तान अपने अन्तःकरण पर मैल आये बिना उन उद्देश्यों से सहानुभूति रख सके ?

(२) वैधानिक क्षेत्र में भारतीय महाद्वीप के लिए कैसे भविष्य की कल्पना की जा सकती है और जहां तक ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सम्बन्ध है उसका पद क्या होगा ?

(३) हिन्दुस्तान और उसकी जनता युद्ध चलाने में जो अधिक भाग लेना चाहती है उसकी इस इच्छा की पूर्ति किस प्रकार हो ? इन सवालों का जवाब भी तुरन्त दे दिया गया। "युद्ध के सम्बन्ध में सम्राट की सरकार ने स्वयं ही अपने उद्देश्यों की कोई अन्तिम व्याख्या नहीं की है। यह स्पष्ट है कि यह व्याख्या केवल युद्ध का बाद की अवस्था में ही हो सकती है और जब भी वह की जायगी, सिर्फ किसी एक मित्रराष्ट्र द्वारा नहीं की जा सकती। युद्ध समाप्त होने से पहले संसार की स्थिति तथा युद्ध परिस्थिति में अनेक परिवर्तन हो सकते हैं और युद्ध जिस अवस्था में समाप्त होता है उस पर तथा बीच की बातों पर भी बहुत कुछ निर्भर रहेगा।" प्रधानमन्त्री ने जो युद्ध-उद्देश्य बताये थे उनमें से वाइसराय ने केवल यही उद्धृत किया कि अब से उत्तम एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली को स्थापना की जायगी, जिससे कि बाद की पीढ़ियों को युद्ध में न फंसना पड़े।

अब भारत के भविष्य तथा उसकी वैधानिक उन्नति का सवाल हमारे सामने आता है। इसके उत्तर में वाइसराय ने मॉटफोर्ड-शासन-सुधार, १६१६ के कानून की प्रस्तावना और लार्ड अरविन द्वारा उस प्रस्तावना की व्याख्या से लेकर इस विषय के इतिहास पर प्रकाश डाला। लार्ड अरविन ने साफ शब्दों में कहा था कि भारत की उन्नति का लक्ष्य औपनिवेशिक पद है। साथ ही आदेशपत्र का भी हवाला दिया गया, जिसमें कहा गया था कि "भारत और ब्रिटेन के बीच इस साझेदारी को इस सीमा तक बढ़ाया जाय, जिससे भारत स्वाधीन उपनिवेशों के मध्य अपना

उचित स्थान प्राप्त कर सके।" अन्त में वाइसराय ने यह भी कहा कि १६३५ का कानून उस समय प्राप्त होने वाले अधिक-से-अधिक मतैक्य पर आधारित था, किन्तु अब भविष्य में "जब कभी भी पार्लामेंट द्वारा दिये गये आश्वासनों को पूरा करने के लिए कोई योजना बनाई जायगी तो विचार किया जायगा कि १६३५ के कानून में विभिन्न विस्तार की बातें तत्कालीन परिस्थिति के लिए कहां तक उपयुक्त हैं।" वाइसराय ने साथ ही यह वादा भी किया कि १६३५ के कानून में संशोधन करने से पूर्व विभिन्न सम्प्रदायों, दलों और स्वार्थों के प्रतिनिधियों तथा देशी नरेशों की सहायता प्राप्त करने के लिए उनसे सलाह-मशविरा कर लिया जायगा। संक्षेप में, युद्ध की समाप्ति पर सम्राट की सरकार १६३५ के कानून में भारतीयों की सलाह से संशोधन करने को तैयार होगी। वाइसराय ने अल्पसंख्यकों की चर्चा करते हुए कहा कि इस प्रकार का जो भी संशोधन किया जाय उसमें उनके विचारों को पूरा महत्त्व दिया जाय। वाइसराय ने कहा कि कुछ क्षेत्रों में 'अधिक व्यापक योजना" तथा सम्राट की सरकार की इच्छा "अधिक व्यापक रूप से प्रकट करने" की आशा की जाती है। परन्तु दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है : (१) परिस्थिति पर विचार करते समय हमें संसार की राजनीति तथा इस देश की राजनैतिक यथार्थताओं का ध्यान रखना चाहिये, और (२) चूंकि इस समस्या के निबटारे पर करोड़ों व्यक्तियों का भविष्य, महान सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्ध, देशी नरेशों के हित और भारत में काम करने वाले भारतीय और यूरोपीय दोनों ही व्यापारिक तथा औद्योगिक संगठनों की प्रगति निर्भर है, इसलिए इस विषय में अधिक-से-अधिक व्यावहारिक समझौते के अनुसार काम होना चाहिए। इसके उपरान्त वाइसराय ने बताया कि युद्ध के संचालन से भारतीय लोकमत का सम्बन्ध रखने के लिए सलाहकार संगठन स्थापित किये जायंगे। यहां यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि यह संगठन २० महीने बाद २२ जुलाई १६४१ को स्थापित किया गया। अन्त में वाइसराय ने कहा—"इस समय चंद शब्दों के मोह के कारण भारत की एकता को खतरे में न डालना चाहिये और अधिक या कम मात्रा में मतभेदों के रहते हुए भी हमें देश की एकता की रक्षा करनी चाहिये।" लार्ड लिनलिथगो को लंबे वाक्यों से बड़ा प्रेम है। उनके वाक्य उसी प्रकार अधिक लम्बे होते हैं, जिस प्रकार उनका स्वराज्य के लिए बताया रास्ता। एक लम्बे वाक्य का नमूना लीजिये —

"मुझे खुद विश्वास है, यदि मैं ऐसा जोर देकर यह कह सकूं, कि वैधानिक क्षेत्र में और भारत द्वारा पूर्ण पद प्राप्त करने की व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध में मतैक्य को ध्यान में रखते हुए उन शब्दों से कोई लाभ नहीं हो सकता, जिन्हें साधारण तौर पर और व्यापक रूप से कहा जाता है और जिनसे एक ऐसी परिस्थित प्रकट होती है, जो न तो वर्तमान राजनैतिक उन्नति की व्यावहारिक कसौटी पर ही पूरी उतर सकती है और न जिसका परिणाम विभिन्न राजनैतिक दलों व सम्प्रदायों की उस एकता के रूप में ही हो सकता है, जिसके एकमात्र आधार पर ही भारत आगे बढ़कर वह स्थान प्राप्त कर सकता है, जिसका अपने इतिहास और भाग्य के कारण वह अधिकारी है।" लार्ड लिनलिथगो का वक्तव्य जितना शब्दजाल से भरा और लम्बा था, गांधीजी का उत्तर उतना ही सरल और संक्षिप्त था :

"फूट डाल कर शासन करने की नीति ही चलेगी! कांग्रेस ने मांगी थी रोटी, लेकिन मिला उसे पत्थर। कांग्रेस को अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए शक्ति संचय करने और आत्म-शुद्धि की आवश्यकता पड़ेगी और इसके लिए उसे दूसरा ही रास्ता अख्तियार करना पड़ेगा। कांग्रेस के अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू ने कहा है कि वाइसराय का वक्तव्य निराशाजनक है, किन्तु आश्चर्यजनक

नहीं। युद्ध समिति के अध्यक्ष का कहना है कि इसके द्वारा उस सभी पर पानी फेर दिया गया है, जिस के लिए भारत राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से लालायित था।" ब्रिटिश सरकार अक्सर ऐसा करती है कि जहां वाइसराय भारत में कोई घोषणा करते हैं तो वैसी ही घोषणा भारतमंत्री पार्लामेंट में करते हैं। यह सत्य है कि जब ब्रिटिश शासकों को लाभ दिखाई देता है तब भारत सरकार को ब्रिटिश सरकार के अधीन बताया जाता है। परन्तु इसके विपरीत कितने ही अवसरों पर यह भी कहा गया है कि कोई विशेष कार्य भारतीय जनता के आन्दोलन या भारतमंत्री के आदेशों के परिणाम-स्वरूप नहीं, बल्कि भारत सरकार की अपनी सूझबूझ और अपने निश्चय के अनुसार किया गया है। अखीर में स्थिति मध्य में स्थिर हो जाती है और भारत व इंगलैंड दोनों ही देशों में महत्वपूर्ण घोषणाएं एक साथ की जाती हैं। कभी-कभी यह भी देखने में आया है कि कुछ महत्वपूर्ण अवसरों पर भारतमंत्री वाइसराय की घोषणा के छः दिन बाद बोले हैं। १८ अक्टूबर को लार्ड सभा में लार्ड ज़ेटलैंड ने पोलैंड के हमले से पूर्व तथा बाद में हुई घटनाओं की समीक्षा करने के बाद सूचित किया कि भारत की सबसे बड़ी और सबसे शक्तिशाली संस्था कांग्रेस ब्रिटेन में युद्ध छिड़ने की अवस्था में एक विशेष दृष्टिकोण ग्रहण करने का निश्चय पहले ही कर चुकी थी। इस सम्बन्ध में लार्ड ज़ेटलैंड ने कार्यसमिति द्वारा केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों को अगले अधिवेशन में भाग न लेने के आदेश का उल्लेख किया और कहा कि यह आदेश भारत से मिस्र अदन व सिंगापुर सेना भेजने पर आपत्ति के सम्बन्ध में था। भारत मंत्री ने कहा—"अपनी सेना की नियुक्ति से पूर्व केन्द्रीय असेम्बली में बहस के द्वारा उस की सूचना पहले ही दुनिया को दे देना शायद सब से बड़ी मूर्खता होती। फिर भी वाइसराय और मैं इस बात के लिए उत्सुक थे कि असेम्बली के राजनैतिक दलों के नेताओं को इसकी सूचना पहले से दे दी जाय।" परन्तु क्या भारत मंत्री का मतलब था कि नेताओं से सलाह लेना उनसे अनुमति प्राप्त कर लेने के बराबर है? और फिर क्या भारतमंत्री को यह शिकायत थी कि नेताओं ने समाचार-पत्रों व सभाओं में इस विषय को लेकर होहल्ला क्यों नहीं मचाया? नेताओं को भारतीय सेना की गतिविधि के सम्बन्ध में सूचना देने से यह शिकायत मिट नहीं जाती कि सेना बाहर भेजने से पूर्व उस की अनुमति नहीं ली गई। यह तो लार्ड ज़ेटलैंड भी मानने से इनकार नहीं कर सकते थे कि राजनैतिक नेताओं को जो सूचना दी गई थी वह बिल्कुल गुप्त रूप से दी गई थी। खैर, लार्ड ज़ेटलैंड ने युद्ध छिड़ने के बारे में आगे कहा—"वाइसराय मेरी अनुमति से भारत के राजनैतिक मंच के सब से चतुर खिलाड़ी महात्मा गांधी के भी निकट सम्पर्क में रहे थे। यहां मैं गांधीजी की प्रशंसा करना चाहता हूं, जो कांग्रेस का दृष्टिकोण तथा उसकी आकांक्षाओं की सूचना हमें तत्परता से देते रहे हैं और इसी कारण भारतीय जनता के प्रेमपात्र बन गये हैं और साथ ही वे हमारे दृष्टिकोण और कठिनाइयों को भी समझने की चेष्टा करते रहे हैं और उन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी सहायता देते रहे हैं।" इसके उपरांत भारतमंत्री ने गांधीजी की वाइसराय से मुलाकात के नतीजे की चर्चा उठाई—"गांधीजी सार्वजनिक रूप से कह चुके हैं कि वे निजी रूप से कह सकते हैं—क्योंकि कांग्रेस की तरफ से बोलने का उन्हें अधिकार नहीं है—कि ब्रिटेन जिस युद्ध में पड़ गया है उसमें भारत को बिना किसी शर्त के उसकी सहायता करनी चाहिये।" लार्ड ज़ेटलैंड ने सूचित किया कि

१ वाइसराय ने युद्धकाल में सुधार के सम्बन्ध में जो प्रसिद्ध वक्तव्य ८ अगस्त को दिया था उस के बाद १४ अगस्त को इसकी घोषणा भारतमंत्री द्वारा की गई।

कार्यसमिति का १५ सितम्बर वाला वक्तव्य तथा मुसलिम लीग का १८ सितम्बर वाला वक्तव्य वाइसराय के वक्तव्य के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित कर दिये गये हैं। आपने यह भी कहा कि कार्यसमिति ने जहां एक तरफ जर्मन सरकार के हमले की पूर्ण निन्दा की है वहां उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि दल के रूप में कांग्रेस तब तक सहायता नहीं दे सकती जब तक युद्ध-उद्देश्यों का स्पष्टीकरण नहीं किया जाता और उन्हें यह नहीं बताया जाता कि ये उद्देश्य भारत पर किस प्रकार लागू होंगे। मुसलिम लीग के प्रस्ताव से प्रकट हुआ है कि जहां मुसलमान नाजी सरकार के आक्रमण की कांग्रेस के ही समान निन्दा करते हैं वहां देश की भीतरी राजनीति के सम्बन्ध में उन के कांग्रेस से मतभेद हैं। लार्ड ज़ेटलैंड ने इसके उपरान्त कई तथ्यों तथा घटनाओं पर प्रकाश डाला और वैधानिक समस्या की चर्चा उठाते हुए कहा : "लिखित विधानों में भी सिर्फ ढांचा मौजूद रहता है, उस में वास्तविक जीवन तो विधान को अमल में लाने वालों द्वारा डाला जाता है। तब व्यावहारिक नियम और परम्पराओं की नींव पड़ जाती है। फिर विधान एक विकासशील, जीवित वस्तु बन जाता है और उसे अपने वातावरण से उन्नति के लिए खूराक मिलती रहती है ......हमें सिर्फ उन साम्प्रदायिक विरोधों को मिटाने के लिए ही कार्य करना है, जो भारत की राजनैतिक एकता में बाधा उपस्थित करते हैं.. ...निस्संदेह भारत में वैधानिक क्षेत्र में पीछे हटने का कोई प्रश्न नहीं उठता।" प्रस्तावित सलाहकार समिति के सम्बन्ध में लार्ड ज़ेटलैंड ने बताया कि यह समिति नामजद व्यक्तियों की नहीं होगी। समिति के सदस्यों को विभिन्न राजनैतिक दल निर्वाचित करके भेजेंगे।

कार्यसमिति ने वाइसराय के वक्तव्य को "असंतोषप्रद तथा नाराजी पैदा करने वाला बताया। इसमें वस्तुतः पुरानी साम्राज्यवादी नीति को ही दोहरा दिया गया है। विभिन्न राजनैतिक दलों के मतभेदों को ब्रिटेन के इरादों पर पर्दा डालने का बहाना बना लिया गया है। कांग्रेस हमेशा से अल्पसंख्यकों को उनके अधिकारों के संरक्षण का आश्वासन देती आई है...वाइसराय का वक्तव्य हर तरीके से अनुचित है। ऐसी परिस्थिति में समिति ब्रिटेन का किसी भी तरह समर्थन करने को तैयार नहीं है, क्योंकि ऐसा करने का मतलब दूसरे शब्दों में यही लगाया जायगा कि कांग्रेस उस साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करने जा रही है, जिसका अंत करने के लिए वह सदा से प्रयत्नशील रही है।" गम्भीर निर्णय किये गये। कांग्रेसी मंत्रियों को इस्तीफा देना था। सब आंतरिक मतभेदों को समाप्त कर देना था। कांग्रेस कमेटियों से कहा गया कि जहां एक तरफ उन्हें सभी परिस्थितियों के लिए तैयार रहना चाहिए वहां दूसरी तरफ उन्हें संयम से काम लेना चाहिए, ताकि कोई ऐसी बात न हो जाय, जो भारत के सम्मान या कांग्रेस के सिद्धान्तों के खिलाफ हो। समिति ने कांग्रेस को सविनय अवज्ञा, हड़ताल या ऐसी ही कोई कार्रवाई जल्दी करने के विरुद्ध चेतावनी दी और कहा कि समय आने पर वह उचित कार्रवाई करने में हिचकिचावेगी नहीं।

पार्लामेंटरी उप-समिति ने कार्यसमिति की अनुमति से मंत्रियों तथा प्रान्तों के कांग्रेसी दलों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए निम्न आदेश जारी किये—

"कार्य समिति के प्रस्ताव द्वारा प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारों से इस्तीफा देने के लिए कहा जाता है। ये इस्तीफे असेम्बलियों की उन बैठकों के बाद दिये जाने चाहिए, जो महत्वपूर्ण कार्य के लिए बुलाई गई हैं, किन्तु ३१ अक्टूबर, १६३६ तक सभी इस्तीफे दे दिये जाने चाहिए।

"मध्यभारत तथा उड़ीसा की प्रान्तीय असेम्बलियां नवम्बर के आरम्भ में बुलाई गई हैं और इन प्रान्तों की सरकारें उनकी बैठक होने के बाद तक अपने पदों पर रह सकती हैं।

"असेम्बलियों के स्पीकर, डिप्टी स्पीकर, कौंसिलों के अध्यक्ष व सदस्य अपने पदों व स्थानों पर बने रहेंगे। इस अवसर पर सिर्फ मंत्रियों व पार्लामेंटरी सेक्रेटरियों ही से इस्तीफा देने की आशा की जाती है।

"असेम्बलियों में युद्ध-उद्देश्यों के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पेश किया जायगा उसमें नई परिस्थिति के कारण उपयुक्त संशोधन भी उपस्थित होने चाहिएं।"

मद्रास, मध्यप्रान्त, बिहार, संयुक्तप्रान्त, बम्बई, उड़ीसा और सीमाप्रान्त की प्रान्तीय असेम्बलियों में प्रधानमंत्रियों ने निम्न प्रस्ताव उपस्थित किया—

'यह असेम्बली इस बात पर अफसोस ज़ाहिर करती है कि ब्रिटेन और जर्मनी के बीच होने वाली लड़ाई में ब्रिटिश सरकार ने भारत को उसकी जनता की इच्छा जाने बिना हिस्सेदार बना दिया है और उसने ऐसी कार्रवाई की है और ऐसे कानून पास किये हैं, जिनके कारण प्रान्तीय सरकारों के अधिकारों व कार्यों में कमी होती है।

"यह असेम्बली सरकार से सिफारिश करती है कि वह भारत सरकार और उसके ज़रिये ब्रिटिश सरकार को सूचित करे कि वर्तमान युद्ध के कथित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से मुसलमान व दूसरे अल्पसंख्यकों के लिए प्रभावपूर्ण संरक्षणों के साथ लोकतंत्रवाद के सिद्धान्तों को भारत पर लागू किया जाय और भारत की नीति उसकी जनता ही निर्धारित करे और भारत को ऐसा स्वाधीन राष्ट्र माना जाय, जिसे अपना विधान खुद तैयार करने का अधिकार हो और इसके अलावा जहां तक तात्कालिक भविष्य में सम्भव हो इस सिद्धान्त को भारत के वर्तमान शासन में ही अमल में लाया जाय।

"असेम्बली को अफ़सोस है कि सम्राट की सरकार ने भारत के बारे में जो वक्तव्य प्रकाशित करने की इजाजत दी है ऐसा करते समय उसने भारत की परिस्थिति को ठीक तरह नहीं समझा है और चूँकि ब्रिटिश सरकार इस तरह भारत की मांग को पूरा करने में असफल हुई है, यह असेम्बली मत प्रकट करती है कि सरकार ब्रिटिश सरकार की नीति से सहमत नहीं हो सकती।"

प्रधानमंत्रियों ने यूरोप में युद्ध छिड़ने और उसके परिणामस्वरूप भारत में उत्पन्न हुए संकट के समय से कार्यसमिति द्वारा समय-समय पर पास हुए प्रस्तावों को मद्देनजर रखते हुए प्रस्तुत प्रस्ताव के महत्व पर प्रकाश डाला। असेम्बलियों में मुसलिम लीग दल ने प्रस्ताव के सम्बन्ध में एक संशोधन उपस्थित किया, जिसे अस्वीकार कर दिया गया।

मुसलिम लीग का संशोधन इस प्रकार था—

"यह असेम्बली सरकार से सिफारिश करती है कि वह भारत सरकार और उसके जरिये ब्रिटिश सरकार को सूचित करे कि युद्ध के दौरान में या उसके बाद भारत के विधान की समस्या पर विचार करते समय उसे ध्यान रखना चाहिए कि मौजूदा विधान में लोकतंत्रीय पार्लामेंटरी प्रणाली भारत की परिस्थिति और उसकी जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध होने के कारण असफल सिद्ध हुई है। इसलिए १९३५ के भारतीय शासन-कानून के अतिरिक्त भारत के भावी विधान की सम्पूर्ण समस्या पर ही नये सिरे से विचार होना चाहिए और नये सिरे से उसमें परिवर्तन होने चाहिए और ब्रिटिश सरकार को सिद्धान्त के रूप में या और किसी दृष्टि से अखिल भारतीय मुसलिम लीग की, जो भारत के मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि है और उनकी तरफ से कुछ कह सकती है, अनुमति या स्वीकृति के बिना और साथ ही दूसरे महत्वपूर्ण

अल्पसंख्यकों एवं हितों की रजामंदी के बगैर अन्तिम रूप से कोई फैसला नहीं करना चाहिए।"

सात प्रान्तों में प्रस्ताव अपने मूल रूप में भारी बहुमत से पास हो गया। संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्त में प्रस्ताव थोड़े संशोधनों के साथ, जिन्हें कांग्रेस दल ने स्वीकार कर लिया, पास हो गया।

इन आदेशों के अनुसार प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों ने एक के बाद एक इस्तीफा दे दिया। पन्द्रह दिनों के भीतर सभी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये। सब से पहले इस्तीफा मद्रास के मन्त्रिमण्डल ने दिया था। सभी कांग्रेसी धारासभाओं ने आवश्यक प्रस्ताव पास किये।

जिस दिन मद्रास के मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दिया था, पार्लामेंट में भारत के सम्बन्ध में एक बहस चल रही थी, जिसे भूतपूर्व भारतमंत्री श्री वेजवुड वेन ने उठाया था और एक दूसरे भूतपूर्व भारत मंत्री सर सेमुअल होर ने जिसमें प्रमुख भाग लिया था। आरम्भ में सर सेमुअल होर ने स्पष्ट कर दिया कि "जब राजनैतिक विरोधी मिलें तो उनके सरकार में आने पर कोई आपत्ति न होनी चाहिए।" आपने अपने विद्यालय हैरो में पढ़े पंडित नेहरू की चर्चा उठाई और इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की कि भारत में ११ लोकतंत्रवादी सरकारें स्थापित होकर संसार की लोकतंत्रीय शक्तियों का बल बढ़ा रही हैं। आपने कहा कि एक ऐसी दुनिया में, जिसमें कितने ही वैधानिक संघर्ष हो चुके हैं भारत में प्रान्तीय स्वायत्त शासन के प्रयोग को एक महान सफलता कहा जा सकता है। आपने कहा कि कांग्रेस ने, जो निश्चय ही भारत का सब से महान दल है, सलाहकार समिति का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और इस बात का भी हवाला दिया कि भारतीय शासन के नये कानून के दौरान में सब से अधिक बातचीत स्वाधीन औपनिवेशिक पद तथा भारत सम्बन्धी नीति के लक्ष्य के सम्बन्ध हुई थी। सर सेमुअल होर ने कहा—"स्वाधीन औपनिवेशिक पद दो तरह का नहीं है जैसा कि कुछ लोगों का खयाल है...स्वाधीन औपनिवेशिक पद कोई ऐसा पुरस्कार नहीं है, जो किसी योग्य समुदाय को बख्शा जाय, बल्कि यह तो एक वास्तविक स्थिति को स्वीकृति प्रदान करता ही है...यदि कुछ कठिनाइयां रास्ते में हैं तो वे हमारी पैदा की हुई नहीं है...जिस तरह हमारा उद्देश्य भारतीयों की सहायता करना होना चाहिए, उसी प्रकार भारतीयों का उद्देश्य आपस के मतभेदों को दूर करना होना चाहिए...साम्प्रदायिक निर्णय के समय हमने प्रकट कर दिया कि हम जो कुछ भी करना चाहते हैं, ईमानदारी से करना चाहते हैं... किन्तु इस निर्णय के बावजूद मतभेद अभी तक मौजूद हैं और जब तक ये मतभेद दूर नहीं होते तब तक अल्पसंख्यकों के प्रति अपनी जिम्मेदारी से हम मुंह नहीं मोड़ सकते...देशी नरेश ब्रिटिश भारत के प्रभुत्व से भयभीत हैं और मुसलमान केन्द्र में हिन्दुओं के बहुमत का विरोध करते हैं। दलित जाति वाले व दूसरे अल्पसंख्यकों का विश्वास है कि उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना होने पर हिन्दुओं की सरकार कायम होगी, जो अल्पसंख्यकों के हितों पर कुठाराघात करेगी। यह भावना अभी तक मौजूद है और जब तक वह मौजूद रहेगी तब तक सरकार एक निश्चित तारीख तक केन्द्र में उत्तरदायी शासन कायम करने की मांग मंजूर नहीं कर सकती।

"मेरे विचार से कांग्रेस ने बिना विचारे ही यह धारणा बना ली है कि वाइसराय की सलाहकार समिति व्यर्थ है और उसका उद्देश्य सिर्फ वैधानिक उन्नति को टालना है...मैं महसूस करता हूँ कि सलाहकार समिति का प्रस्ताव नामंजूर करके कांग्रेस ने बहुत जल्दबाजी की है।" सर सेमुअल होर ने कहा कि चेम्सफोर्ड और मॉटेग्यू के वक्त में जैसी बातचीत चली थी वैसी बातचीत अभी चालू होना सम्भव नहीं है, क्योंकि चेम्सफोर्ड और मॉटेग्यू के समय में बातचीत

युद्ध से तीन वर्ष बाद आरम्भ हुई थी और इसीलिए वर्तमान परिस्थितियों में कोई दूसरा रास्ता भी दिखाई नहीं देता।" असहयोग की सम्भावना का जिक्र करते हुए सर सेमुअल होर ने कहा कि इसके कारण हम उन्नति की दृष्टि से कई साल पिछड़ सकते हैं···इसका परिणाम सविनय अवज्ञा, कानून भंग, दंगों और दमन हो सकता है, जिससे युद्ध के समय बचने की हमें आशा थी। अन्त में सर सेमुअल होर ने कहा—"साम्राज्यवादी आकांक्षाओं का हम बहुत पहले ही त्याग कर चुके हैं। हमारा विश्वास है कि हमारा उद्देश्य दूसरों पर शासन करना न होकर उन्हें अपने शासन में सहायता पहुँचाना है।"

इन वाक्यों में सुलह के लिए बुलावा तो है ही, साथ ही इनमें धमकी भी है। इनके उत्तर में गांधीजी ने सवाल किया—"क्या भारत के स्वाधीन औपनिवेशिक पद का तब तक कोई मतलब हो सकता है, जब तक वह पूर्ण स्वतन्त्रता के ही समान न हो? सर सेमुअल होर जिस भारत की कल्पना करते हैं, क्या उसे ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अलग होने की स्वाधीनता होगी? अगर अंग्रेज साम्राज्यवादी आकांक्षा का परित्याग कर चुके हैं तो बाकायदा खुदमुख्तार होने से पहले ही हिन्दुस्तान को उसका सबूत मिल जाना चाहिए।" राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने उतनी ही दृढ़ता और औचित्यपूर्वक कहा—"ब्रिटिश सरकार को चाहिए कि वह भारतीयों पर सर्वसम्मत विधान तैयार करने की जिम्मेदारी डाल दे और इस बात का भी प्रबन्ध करदे कि ऐसा विधान तैयार करते समय बाहर का हस्तक्षेप न हो। इसके बाद अंग्रेजों को उसे अमल में लाना चाहिए।" ब्रिटेन की तरफ से इसे सच्चा और ईमानदारी का प्रस्ताव कहा जा सकता है। ऐसा किये बिना अल्पसंख्यकों की रक्षा की बात मौजूदा स्थिति को बनाये रखने का बहाना ही जान पड़ती है।

: ७ :

इस्तीफे के बाद का युग

स्वाधीनता की हमारी प्रगति में कांग्रेस ने एक और महत्वपूर्ण मंजिल तय कर ली। आठों प्रान्तों में प्रान्तीय मंत्रिमंडलों ने एक साथ इस्तीफे दे दिये। इन मंत्रिमंडलों के पीछे कितने वर्षों का कठोर प्रयास, मुसीबतें, समझौते की बातचीत और मेल-मिलाप की कोशिशें थीं। अपनी भाषा में हम कह सकते हैं कि पचास वर्ष की योजनाओं और तैयारियों के बाद जो कला-कृति तैयार हुई थी, वह एक ही धड़ाके में तहस-नहस हो गई। क्या इसे कांग्रेस फिर से बना सकती थी और कब? क्या फिर कभी कांग्रेस शक्ति-सम्पन्न हो सकेगी और कैसे? ये सवाल उस समय शत्रु-मित्र सभी की जबान पर थे। कुछ मंत्रियों ने तो स्वयं मजाक में कहा कि हम तीन महीने की छुट्टी पर जा रहे हैं? लेकिन हरेक मजाक में निश्चय ही सचाई अन्तर्निहित रहती है। फिर भी कांग्रेस को ऐसी कोई आशंकाएँ न थीं। उसे आगे आने वाले कष्टों और कठिनाइयों का पूरा-पूरा ज्ञान था। ब्रिटिश-सरकार गांधीजी के लिए कोई समस्या न थी। हां, अलबत्ता हमारे दो आन्तरिक शत्रु या समस्याएँ थीं। कांग्रेस अपने प्रति मुस्लिम लीग, जो किसी तरह से भी उसकी मित्र नहीं है, के रुख का मुकाबला कैसे करेगी और कांग्रेस किस हद तक लोगों को अहिंसा पर अमल करा सकेगी, जिसका पालन स्वयं कांग्रेसजनों की ओर से अनिश्चित-सा प्रतीत होता था। मंत्रिमंडलों के इस्तीफे के द्वारा, जो एक अप्रत्याशित क़दम था और बहुतों की निगाह में अनावश्यक भी था, लोगों को उत्तेजित करना और उनमें आशाएँ भर देना आसान था। एक दफा क़दम उठा लेने पर संपूर्ण भविष्य ही उस पर आश्रित था और यह महत्वपूर्ण क़दम उठाने के कारण जो स्थिति उत्पन्न हुई उससे गांधीजी को भी अपने सामने एक ऐसी विस्तृत खाई दिखाई दी जिसमें उन्होंने झांक कर देखा और जिसके किनारे पर खड़े होकर अपने विचार प्रकट किये। ये विचार गांधीजी ने पार्लामेंट की बहस और सर सेम्युअल होर के धमकीपूर्ण भाषण के कुछ समय बाद ही व्यक्त किये थे।

इसके बाद ही पहली नवम्बर को राजेन्द्र बाबू के साथ गांधीजी को तीसरी बार वाइसराय से मुलाकात करने के लिए आमंत्रित किया गया। श्री जिन्ना भी वाइसराय-भवन में उपस्थित थे। गांधीजी और श्री जिन्ना अलग-अलग भी एक दूसरे से मिले। यह बातचीत न सिर्फ नाकामयाब ही रही, बल्कि दोनों पार्टियों के साथ बातचीत करने से वाइसराय को इस समस्या के सम्बन्ध में ऐसे नये विषय उठाने में मदद मिली, जो पहली बार ही उठाए गए थे और उनसे नई पेचीदगियां और परेशानियां पैदा हो गईं। वाइसराय ने अपने मिलने आने वालों के सामने ठोस और लिखित

रूप में अपने प्रस्ताव रखे । उन्होंने कहा, "केन्द्र में मेलजोल के साथ काम करने के महत्त्व को स्वीकार करते हुए मैंने आपके और अन्य उपस्थित सज्जनों के सम्मुख जो प्रस्ताव रखा है उस पर आप लोग कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के रूप में विचार करें । आपको इस बारे में भी विचार-विनिमय करना चाहिये कि आप लोगों में प्रान्तीय-क्षेत्र में काम करने के बारे में कोई समझौता हो सकता है या नहीं और इसके बाद आप मेरे सामने वे प्रस्ताव रखें जिनके परिणामस्वरूप तत्काल दोनों संगठनों के प्रतिनिधि केन्द्रीय सरकार में शासन-परिषद् के सदस्यों के रूप में भाग ले सकें ।" उपर्युक्त वाक्य में वाइसराय ने सारी समस्या ही बदल दी । इसका मतलब यह नहीं कि इससे पहले के विचार-विमर्श में अल्पसंख्यकों, विभिन्न संप्रदायों और अन्य स्वार्थों तथा रियासतों की समस्या ही उपस्थित नहीं थी, बल्कि स्थिति तो यह थी कि इससे पूर्व जो बात सिर्फ केन्द्रीय सरकार तक ही सीमित थी वह अब सहज भाव से प्रान्तीय क्षेत्र में समझौतों के बारे में भी कही जाने लगी । वास्तव में इसका तो यह अर्थ हुआ कि आठों कांग्रेसी प्रान्तों में संयुक्त मंत्रिमंडल होने चाहिएं । इतना ही नहीं, वाइसराय ने केन्द्र की व्यवस्था के सम्बन्ध में संक्षेप में अपने विचार भी रखे, जिनसे सारी व्यवस्था का स्वरूप युद्धकाल के लिए स्थायी बना दिया गया । इसमें अन्य दलों के एक या उससे अधिक प्रतिनिधि लिए जाने थे । नये सदस्यों को भी पुराने सदस्यों जितने ही अधिकार प्राप्त थे और यह सारी व्यवस्था मौजूदा कानून के अन्तर्गत ही थी । जहां तक और बातों का सवाल है आपने सदा की भांति समय आने पर युद्ध के बाद नई बातचीत और सलाह-मशविरे की बात फिर से कही । इसके जवाब में कांग्रेस के अध्यक्ष ने वही कुछ दोहराया जो बातचीत के दौरान में पहले से ही स्पष्ट किया जा चुका था और इसके अलावा उन्होंने सिर्फ एक बात और कही थी कि श्री जिन्ना से पूरी तरह बातचीत करने के बाद भी कांग्रेस अपने उत्तर में कोई रद्दोबदल नहीं कर सकती, क्योंकि युद्ध-उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के बारे में कांग्रेस ने जो मुख्य और नैतिक प्रश्न उठाया था, उसका इनमें कोई जिक्र तक भी नहीं था । यह स्पष्ट कर दिया गया था कि वर्तमान संकट सर्वथा राजनैतिक है और इसका भारत की सांप्रदायिक समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है । १४ सितम्बर को कांग्रेस द्वारा उठाए गये प्रश्न इस प्रकार थे—

(क) युद्ध-उद्देश्यों की घोषणा की जाय ।

(ख) वे भारत पर किस तरह लागू होंगे ?

(ग) किसी बाहरी प्रभाव से मुक्त विधानपरिषद् का आयोजन किया जाय ।

(घ) भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया जाय और वर्तमान स्थिति को उसी पद के अनुकूल कार्य रूप में परिणत किया जाय ।

(ङ) भारतीय स्वाधीनता का आधार जनतंत्र, एकता और सभी अल्पसंख्यकों के अधिकारों की स्वीकृति तथा संरक्षण हो ।

परन्तु वाइसराय महोदय इसमें सांप्रदायिक प्रश्न घसीट लाए, हालांकि कांग्रेस की वास्तविक इच्छा सांप्रदायिक वाद-विवाद के सभी प्रश्न समझौते द्वारा निपटाने की थी । यूरोप के युद्ध की सबसे हाल की घटनाओं को देखते हुए भारत की स्वतंत्रता की घोषणा और भी अधिक आवश्यक हो गई थी ।

स्वाभाविक तौर पर श्री जिन्ना को इससे खुशी हुई और उन्होंने ४ नवम्बर, १९३९ को वाइसराय को लिखा कि मैं कांग्रेस के नेताओं से मिला और मुझे सिर्फ यही बताया गया कि वे

उन मामलों के बारे में कोई बातचीत नहीं करना चाहते, जिनका जिक्र वाइसराय के २ नवम्बर वाले पत्र में किया गया है। जनता का क्षोभ और विरोध एक उच्च सीमा तक पहुंच गया और उस अत्यधिक खेद से भी वह शांत न हो सका, जिसका उल्लेख वाइसराय ने ५ नवम्बर के अपने ब्राडकास्ट भाषण के प्रारम्भ में ही समझौते की बातचीत के असफल रहने के बारे में यह घोषणा करते हुए किया था कि "प्रान्तों में इस प्रकार का समझौता हो जाय, जिससे उनके खयाल से वे लोग केन्द्र में युद्धकाल के लिए रचनात्मक प्रगति की दिशा में ऐसे प्रस्ताव रख सकें, जिनके फलस्वरूप गवर्नर जनरल की शासन-परिषद् में विस्तार हो सके और कुछ राजनैतिक नेता उसमें शामिल हो जाएँ।"

अपने इस 'अत्यधिक खेद' में वाइसराय ने अपनी इस कार्रवाई के लिए कि "उन्हें इस उद्देश्य के लिए भारतीय विधान में निहित एमरजेंसी प्राविज़न्स (संकटकालीन धाराओं) को काम में लाते हुए जो अत्यधिक निराशा हुई है"—उसे भी जोड़ दिया। उन्होंने यह भी कहा कि "उक्त धाराएँ सिर्फ एक साधन हैं, आदेश नहीं।" और इसी प्रकरण में उन्होंने फतेहपुर सीकरी के महान् प्रवेश द्वार पर अंकित अरबी के मूल शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा—

"जीवन एक सेतु है—ऐसा सेतु जिसे तुम्हें पार करना है। तुम्हें इस पर अपना घर नहीं बनाना चाहिए।" मूल अरबी में इस प्रकार है—

"कुन फि दुन्या क अन्नक गरीबुन आबिस्सबील।"

इसका कुछ भिन्न रूप इस प्रकार है:—

ईसा ने कहा—"उनकी आत्मा को ईश्वर शान्ति प्रदान करे—यह संसार एक सेतु है, इस पर से गुजरो, परन्तु इस पर कोई घर न बनाना।"

दोनों पक्षों ने अब तक जो स्थिति ग्रहण की है, हम उसका सिंहावलोकन कर लें।

कांग्रेस ने युद्ध-उद्देश्यों के स्पष्टीकरण, भारत में उन्हें कार्यान्वित करने और वास्तव में उनका प्रमाण केन्द्रीय सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में देने की मांग की थी।

लेकिन ब्रिटेन ने इसका जवाब यह दिया कि स्वयं ब्रिटेन के लिए भी उनके युद्ध-उद्देश्य स्पष्ट नहीं हैं। इसलिए भारत के लिए उनका स्पष्टीकरण कैसे संभव हो सकता है और जब ब्रिटेन अथवा भारत के लिए युद्ध उद्देश्यों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता तो फिर क्या चीज है, जो कार्यान्वित की जाय। उस हालत में केन्द्र में उत्तरदायित्व का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। हां, आप एक सलाहकार समिति से संतोष कर सकते थे, जो वास्तव में एक छोटा-सा गोलमेज-परिषद् थी। यह परिषद् एक साथ ही नहीं बुलाई जा सकती थी। जैसा कि वाइसराय ने आयोजन किया था, उन्होंने ५२ मुलाकातियों को आमंत्रित किया, परन्तु उनकी बैठकें समय-समय पर ही हो सकती थीं। कांग्रेस ने कहा, "नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, हमें पद-त्याग करना पड़ेगा।" और उसने ऐसा ही किया भी।

ब्रिटेन ने कहा, "खेद है, आप लोग जल्दबाजी कर रहे हैं।" हमारा वास्तविक उद्देश्य आपको केन्द्रीय शासनपरिषद् में शामिल करना है। आपने वाइसराय की सलाहकार समिति को ठीक से नहीं समझा। असल में इसीसे केन्द्रीय उत्तरदायित्व की उत्पत्ति और विकास हो सकता है; लेकिन हर हालत में इस विकास के लिए आपको उचित वातावरण और परिस्थितियां उत्पन्न करनी होंगी। पहले आप प्रान्तों में अपने साम्प्रदायिक मतभेदों को सुलझा लीजिए। क्या आप ऐसा करेंगे?"

एक बार फिर नेताओं को आमंत्रित किया गया। उन्हें निजी तौर पर वे बातें बताई गईं, जो जनता को पहले से ही मालूम हो चुकी थीं। कांग्रेस ने इसके जवाब में कहा, "सांप्रदायिक मेलजोल की बात हम आपस में तय कर लेंगे। आप युद्ध-उद्देश्यों की घोषणा क्यों नहीं करते? जनाब, आप कुछ कहिए तो, भले ही चाहें तो लाउडस्पीकर पर बोलिए, अथवा अगर यह सही मालूम होता है कि पार्लमेंट में बोलें तो वहां बोलिए; कहीं से भी बोलिए, पर बोलिए अवश्य।" वाइसराय ने लन्दन तार दिया और उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। परन्तु फतेहपुर सीकरी के सिंहद्वार पर आधारित वाइसराय के उद्धरण को ध्यान में रखते हुए इस बीच प्रान्तों के सलाहकार मंडल "उस पुल पर मकान बनाने में व्यस्त थे, जिस पर से सिर्फ गुजरने को कहा गया था और जहां मकान बनाने का निषेध किया गया था।" ब्रिटेन में 'हां' कहने की हिम्मत कहां थी, परन्तु वह "पुल पर निर्माण" के इस विचार के लिए 'नहीं' अलबत्ता कह सकता था। वह अनुभव करता था कि कांग्रेस की मांग ठीक है; लेकिन क्या पोलैण्ड पर पुनः अधिकार करने के लिए उसे भारत को भुला देना चाहिए? सच तो यह है कि ब्रिटेन का सिर उस समय ओखली में था और जब मूसल की हलकी चोट पड़ती थी तो उसे थोड़ा चैन मिलता था।

पहले के पृष्ठों में जिन घटनाओं का जिक्र किया गया है वे वाइसराय के ५ नवम्बर वाले अधिकृत वक्तव्य से संक्षेप में ली गई हैं। पूरा वक्तव्य और उस पर गांधीजी का उत्तर नीचे दिया जाता है। वाइसराय ने कहा—

"३ सितम्बर को युद्ध की घोषणा हुई थी। उसी रात के अपने एक ब्राडकास्ट में मैंने सभी दलों और सभी वर्गों से इसके संचालन में सहयोग प्रदान करने की अपील की थी। अगले दिन मैंने शिमला में गांधीजी से भेंट की और उनसे सारी स्थिति पर खुले दिल से विचार-विनिमय किया। इसी प्रकार मैंने मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि श्री जिन्ना से भी तत्काल मुलाकात की। नरेन्द्रमंडल के चांसलर से भी मिला।

"उसके बाद समस्या विचार-विनिमय करने के लिए कांग्रेस और मुस्लिम लीग की वर्किंग कमेटियों के सामने रखी गई। कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक १५ सितम्बर को हुई। उसने खुले शब्दों में नाजी आक्रमण की निन्दा की। परन्तु उसने अपना अन्तिम फैसला इस खयाल से मुल्तवी कर दिया कि जिससे उसे इससे सम्बद्ध प्रश्नों, वास्तविक युद्ध-उद्देश्यों और भारत की वर्तमान तथा भावी स्थिति के बारे में पूरा-पूरा स्पष्टीकरण हो जाय और उसने ब्रिटिश सरकार से असंदिग्ध शब्दों में अपने युद्ध-उद्देश्य घोषित करने और उन्हें भारत पर लागू करने और इसी समय उन्हें कार्यान्वित करने की मांग की है। गांधीजी ने वर्किंग कमेटी के वक्तव्य से अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए बताया कि उन्हें यह जानकर खेद हुआ कि ब्रिटेन को बिना शर्त सहायता देने के पक्ष में केवल वे अकेले ही हैं।

"इसी प्रकार मुस्लिम लीग की वर्किंग कमेटी ने भी १८ सितम्बर को ऐसा ही आश्वासन मांगते हुए कहा, "यदि मुसलमानों की ओर से पूर्ण, प्रभावशाली और सम्मानपूर्ण सहयोग अपेक्षित है तो उनमें 'सुरक्षा और संतोष' की भावना पैदा करनी होगी। इसके अलावा उसने कांग्रेस-प्रान्तों में मुसलमानों की परिस्थिति का विशेष रूप से उल्लेख किया। साथ ही उसने वर्तमान विधान में किसी भी परिवर्तन और उसकी स्वीकृति तथा समर्थन के लिए मुसलमानों से पूरा-पूरा सलाह-मशविरा लेने की आवश्यकता पर जोर दिया।

"इस पर मैंने पुनः गांधीजी, श्री जिन्ना और नरेन्द्रमंडल के चांसलर से संपर्क स्थापित

किया। मैंने यह मानकर कि भारत के दो प्रमुख राजनैतिक दलों के दृष्टिकोणों में स्पष्टरूप से मतभेद है, फैसला किया कि मुझे यहाँ के लोगों की विचारधारा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर मैंने सभी दलों, संप्रदायों और हितों के ५० से ऊपर प्रतिनिधियों से मुलाकात की। अभी यह बात चल ही रही थी कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने १० अक्टूबर को एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें वर्किंग कमेटी की मांग को दोहराते हुए सम्राट् की सरकार से युद्ध और शान्ति के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए एक वक्तव्य देने का अनुरोध किया। कमेटी ने भारत को स्वाधीन घोषित कर देने की भी मांग की और यह भी कहा कि वर्तमान में ही उसे यथासंभव अधिक-से-अधिक सीमा तक यह पद दे दिया जाय।

"मैंने अपनी बातचीत की विस्तृत रिपोर्ट सम्राट् की सरकार को पेश कर दी, जिसमें अत्यन्त दबाव और कार्यभार के होते हुए भी भारतीय समस्याओं की ओर अधिक-से-अधिक ध्यान दिया गया है। खूब गहरे सोच-विचार और लम्बी चर्चा के बाद ही मैंने १८ अक्टूबर को सम्राट् की सरकार की ओर से एक घोषणा की। इसमें सबसे पहले इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि भारत का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना है। दूसरे, सम्राट् की सरकार लड़ाई के बाद भारतीय नेताओं के परामर्श से वर्तमान विधान की योजना पर पुनर्विचार करने के लिए तैयार है। तीसरे, सम्राट् की सरकार युद्ध-संचालन में भारतीय जनता के सहयोग को बहुत महत्त्व देती है, और इसी उद्देश्य से उसका विचार एक सलाहकार समिति स्थापित करने का है, जिसकी विस्तृत बातों का फैसला विभिन्न दलों के नेताओं से सलाह-मशविरा कर लेने के बाद होगा।

"मेरे वक्तव्य की घोषणाएँ बड़े महत्त्व की हैं। यद्यपि उनका महत्त्व कम दिखाने की कोशिश की गई है, फिर भी उनमें वास्तविक महत्त्व के तथ्य हैं। मेरे वक्तव्य के प्रकाशन के बाद पार्लामेंट में जो बहसें हुई हैं, उनसे एक और अहम बात पर प्रकाश पड़ता है, और वह यह कि सम्राट् की सरकार कुछ शर्तों के पूरा हो जाने पर गवर्नर-जनरल की शासन-परिषद् में अस्थायी रूप से विस्तार करके युद्ध के संचालन में भारतीय जनबल का अधिक सक्रिय और उत्तरदायित्वपूर्ण तरीके से सहयोग प्राप्त करना चाहती है। परन्तु जहां तक कांग्रेस का संबन्ध है, ब्रिटिश भारत में की गई मेरी घोषणा और बाद में पार्लामेंट की बहस दोनों का उसने विरोध ही किया है। इसी सिलसिले में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने २२ अक्टूबर का एक प्रस्ताव पास करके मेरे वक्तव्य को पूर्णतः असंतोष-जनक बताते हुए प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों से पद-त्याग करने को कहा है। उसी दिन मुस्लिम लीग ने भी कुछ आशंकाओं का निवारण करने और वक्तव्यों के सम्बन्ध में पूर्ण स्पष्टीकरण करने की मांग की और अपने प्रधान को अधिकार दिया कि यदि ये शर्तें पूरी हो जाएं और उन्हें पूर्ण-रूप से संतोष हो जाय तो वे युद्ध संचालन के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों की ओर से सहयोग और सहायता देने का आश्वासन दे सकते हैं।"

"इसके बाद मैंने गांधीजी, डा० राजेन्द्रप्रसाद और श्री जिन्ना को १ नवम्बर को भेंट करने के लिए आमंत्रित किया और हमने सारी स्थिति पर खुले दिल से विचार-विनिमय किया। अपनी पिछली मुलाकात में मैंने अपने प्रायः अन्य सभी मुलाकातियों से जो बातचीत की थी वही उनसे भी की। मैंने विभिन्न पहलुओं से गवर्नर-जनरल की शासन-परिषद् में विस्तार करने की संभावना पर उनसे चर्चा की। मैंने उन्हें बता दिया कि केन्द्र में सहयोग के मामले में यदि हम सलाह-कार समिति की योजना से आगे नहीं बढ़ सके हैं तो इसका कारण यह था कि दोनों प्रमुख संप्रदायों में पहले से कोई ऐसा समझौता मौजूद न था, जिससे वे केन्द्र में मेलजोल के साथ काम

कर सकते। मैंने यह भी कहा कि २२ अक्टूबर को कांग्रेस वर्किंग कमेटी और मुस्लिम लीग की ओर से जो घोषणाएं की गई हैं, उनसे साफतौर पर यह पता चलता है कि इन दोनों बड़े दलों के बीच गहरा मतभेद है।

"इन परिस्थितियों में मैंने अपने मुलाकातियों से अनुरोध किया कि वे आपस में बैठकर एक अस्थायी आधार पर विचार-विनिमय कर लें जिससे कि बाद में एक दूसरे की सहमति से वे ऐसे प्रस्ताव रख सकें, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्र में गवर्नर-जनरल की परिषद् में कुछ विस्तार हो सके। मैंने उन्हें बता दिया कि मैं इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझता कि प्रान्तों के मामलों में उनमें जो मतभेद हैं, उनकी हरेक बात सुलझाई जाए। आवश्यकता तो इस बात की थी कि उन मतभेदों को काफी हद तक सुलझा लिया जाता, जिससे कि केन्द्र में मिल-जुलकर काम करने की कोई व्यावहारिक योजना तैयार हो सकती। मैंने उनसे पूरी ईमानदारी और सचाई के साथ आग्रह किया कि वे किसी समझौते पर पहुंचने के लिए कोई कसर बाकी न उठा रखें और मैंने इस बात पर भी जोर दिया कि मुख्यत. यह प्रश्न स्वयं भारतीयों पर ही निर्भर करता है और मैं इस दिशा में भारतीयों में कोई पारस्परिक समझौता देखने को बड़ा उत्सुक हूँ। मैंने न केवल अपनी व्यग्रता प्रकट की, बल्कि सम्राट् की सरकार की भी व्यग्रता ज़ाहिर की कि वह चाहती है कि किसी समझौते पर पहुँचने के लिए कुछ उठा न रक्खा जाय।

"मैंने जिन बातों पर विचार करने का सुझाव रखा था उनपर विचार-विनिमय हो चुका है। परन्तु इसका परिणाम मेरे लिए अधिक निराशापूर्ण रहा है। दोनों प्रमुख दलों के प्रतिनिधियों में बुनियादी मामलों के बारे में अब भी पूर्ण मतभेद विद्यमान है। मैं तो इस समय सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि मैं इस असफलता से हारकर बैठ जाने वाला नहीं हूँ। मैं उचित समय पर फिर दुबारा इन बड़े दलों के नेताओं और नरेशों से परामर्श करके यह कोशिश कर देखना चाहता हूँ कि क्या अब भी इनमें एकता कायम हो सकने की संभावना है। जब से मैं भारत में आया हूँ, मुझे सबसे अधिक चिंता एकता स्थापित कराने की रही है। एकता का भारत के लिए जितना अधिक महत्त्व है, उतना अनुभव नहीं किया जाता। एकता का अर्थ यह भी है कि भारतीयों को, चाहे वे किसी भी संप्रदाय के हों अथवा किसी भी दल से सम्बद्ध हों, और चाहे वे ब्रिटिश भारत में रहते हों अथवा रियासतों में, चाहिए कि मिल-जुलकर एक समान योजना पर अमल करें। इसे प्राप्त करने की कोशिश करना सर्वथा उचित ही है। अब तक मैं भले ही असफल रहा, लेकिन मैं फिर कोशिश करूँगा। जब मैं पुन. प्रयत्न करूँगा तो मैं भारतीयों से कहूँगा कि वे मेरी कठिनाइयों को देखें और वे इस बात का श्रेय मुझे दें कि मैंने सद्भावना और सचाई के साथ उनकी मदद की। हमें एक ऐसी समस्या का मुकाबला करना पड़ रहा है, जिसे सुलझाने में इस देश के बड़े-से-बड़े संगठनों का संयुक्त प्रयास भी बेकार गया। बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनमें आपस में गहरा मतभेद है। उनका हमें ध्यान रखना है और उन्हें दूर करना है। इसके अलावा कुछ ऐसे मजबूत और गहरे स्वार्थ भी हैं, जिन पर हमें अच्छी तरह विचार करना है। उन्हें आसानी से नजरंदाज़ नहीं किया जा सकता। देश में ऐसे अल्पसंख्यक बहुत बड़ी संख्या में हैं, जिनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्व है। इन मसलों पर हमें पूरा-पूरा ध्यान देना है। लेकिन ये समस्याएं पेचीदा होते हुए भी ऐसी नहीं हैं कि सुलझ ही न सकें और मेरा विश्वास है कि अन्य मानवीय समस्याओं की तरह ये भी सद्भावना के वातावरण में धैर्यपूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। अपने इस विश्वास में मुझे विभिन्न दलों के नेताओं के सौहार्द भाव से बड़ा प्रोत्साहन मिला

है, जो हमारी बातचीत के समय विद्यमान रहा था। मैं समस्त देशवासियों से, बड़े राजनैतिक दलों के नेताओं और उनके अनुयायियों से, जिनकी मुझे मालूम है, उन नेताओं में पूरी आस्था है और जिनका ये नेता बड़ी योग्यता से पदप्रदर्शन कर रहे हैं, अनुरोध करूँगा कि यदि हमें अपनी कठिनाइयों को पार करना है और अपने अभीष्ट परिणाम पर पहुँचना है तो आप मेरी मदद कीजिए। आपकी मदद की मुझे इस समय बड़ी आवश्यकता है।"

वाइसराय के इस वक्तव्य पर महात्मा गांधी ने लिखा—

"मैंने वाइसराय महोदय के ब्राडकास्ट और उनके और श्री राजेन्द्रप्रसाद तथा जिन्ना साहब के पत्र-व्यवहार पर उनके प्रारंभिक शब्दों को, जिन्हें स्वयं वाइसराय महोदय ने प्रकाशित किया है, बड़े ध्यान-पूर्वक पढ़ा है। मैं इसका स्वागत करता हूँ कि वाइसराय महोदय पराजय से हार नहीं माने हैं। मैं उनके इस दृढ़निश्चय का भी स्वागत करता हूँ कि वे एक ऐसी समस्या को सुलझाने के लिए कटिबद्ध हैं, जिसे सुलझाना असंभव-सा हो गया है। समस्या का हल ढूंढ़ निकालने के सम्बन्ध में वाइसराय महोदय की व्यग्रता में पूरी तरह से भागीदार हूँ। इसलिए सामान्य उद्देश्य में सहयोग प्रदान करने की प्रतीक्षा किये बिना ही मैं यह सुझाव रखना चाहता हूँ कि जब तक भारत के बारे में युद्ध-उद्देश्यों की कोई ऐसी घोषणा नहीं की जाती, जो स्वीकार की जा सके तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में अब तक भारत या ब्रिटेन में जो भी घोषणाएं हुई हैं वे सब उसी पुराने ढर्रे की हैं और स्वाधीनता-प्रिय भारत उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखता है और उनकी निंदा करता है। यदि साम्राज्यवाद मर चुका है तो प्रत्यक्ष रूप में भूत से अपना नाता तोड़ देना चाहिए। हमें नये युग के अनुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। यदि इस बुनियादी सत्य को स्वीकार करने का समय अभी नहीं आया तो मैं आग्रह करूँगा कि समस्या का हल ढूंढ़ने का और प्रयत्न हमें फिलहाल मुल्तवी कर देना चाहिए। इस सम्बन्ध में मैं ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि इस समय आवश्यकता इस बात की है कि भारत की इच्छाओं का ख्याल किये बगैर ब्रिटेन अपनी भारतीय नीति के बारे में अपने इरादों की घोषणा कर दे। एक दास रखनेवाला, जिसने दासता को खत्म करने का निश्चय कर लिया हो, अपने दासों से इस बात में सलाह नहीं करता कि वे आजाद होना चाहते हैं या नहीं।

"एक बार दासता के बंधनों से क्रमशः यानी सीढ़ी-दर-सीढ़ी नहीं, बल्कि एकदम भारत के मुक्त और स्वतंत्र हो जाने की घोषणा कर देने के बाद अस्थायी हल भी आसानी से निकल आवेगा। उस हालत में अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण का प्रश्न भी आसान हो जाएगा। आंखमिचौनी का खेल तब समाप्त हो जाएगा। अल्पसंख्यकों को संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार है, क्रमशः नहीं, बल्कि पूर्णरूप से और एकबारगी ही। स्वतंत्रता के किसी भी अधिकार पत्र का कोई महत्व नहीं होगा यदि उससे अल्पसंख्यकों को भी उतनी ही स्वाधीनता नहीं मिलती जितनी कि बहुमत को। विधान-निर्माण में अल्पसंख्यक भी पूर्णरूप से भागीदार होंगे। यह बात उन प्रतिनिधियों के विवेक और सूझ-बूझ पर निर्भर करेगी, जिन्हें विधान तैयार करने का पवित्र कार्य सौंपा जाएगा। ब्रिटेन ने अब तक अपनी ताकत को अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के विरुद्ध खड़ा करके बनाये रखा है। किसी भी साम्राज्यवादी पद्धति में ऐसा होना अनिवार्य है और इस प्रकार उनमें कोई समझौता हो जाना असंभव बना दिया गया है। अल्पसंख्यकों के संरक्षण का कोई हल निकालने की जिम्मेदारी स्वयं विभिन्न दलों पर होनी चाहिए। जब तक ब्रिटेन यह

समझता है कि इसकी जिम्मेदारी उसके कन्धों पर है तब तक वह भारत को परतंत्र बनाए रखने की आवश्यकता भी अनुभव करता रहेगा। और मुक्ति के लिए उत्सुक देशभक्त, यदि मैं उनका पद-प्रदर्शन करता हूँ तो अहिंसात्मक तरीकों से लड़ते रहेंगे और यदि कहीं मैं अपने इस प्रयत्न में असफल रहा और अपनी आहुति दे बैठा तो वे हिंसात्मक उपायों से भी लड़ेंगे। मैंने आशा प्रकट की है और अब भी आशा करता हूँ कि भगवान का युद्ध का अभिशाप आशीर्वाद के रूप में बदल जायगा, यदि ब्रिटेन यह अनुभव करले कि अपने कार्य के औचित्य को सिद्ध करने और इस युद्ध को जल्दी समाप्त करने के लिए भारत जैसे प्राचीन और महान देश को अपने शासन के बोझ से मुक्त कर देना आवश्यक है।

"वाइसराय की ईमानदारी में विश्वास करते हुए, जैसा कि मैं करता हूँ, मैं अपने सहयोगियों से धैर्य रखने का आग्रह करूंगा। एक तो जब तक (१) वाइसराय समझौता कराने का प्रयत्न कर रहे हैं, (२) मुस्लिम लीग की ओर से मार्ग में रुकावट पैदा की जाती है और (३) कांग्रेस-जनों में एकता और अनुशासन की कमी बनी है तब तक सविनय-कानून-भंग-आंदोलन नहीं शुरू किया जा सकता।

"मेरी दूसरी शर्त से मुसलमान दोस्तों को नाराज नहीं होना चाहिए। जब तक मुस्लिम लीग से कोई कामचलाऊ समझौता नहीं हो जाता तब तक कानून-भंग लीग के प्रतिरोध के रूप में परिणत हो सकता है। कोई भी कांग्रेसजन इसका समर्थन नहीं कर सकता। मुझे पता चला है कि 'हरिजन' में मेरे लेख से जिन्ना साहब को चोट लगी है। मुझे इसका खेद है। परन्तु इस समय मैं अपने बचाव में कुछ नहीं कहूँगा। पंडित जवाहरलाल नेहरू और उनके बीच इस समय समझौते की जो बातचीत चल रही है मैं उसमें किसी तरह से कोई रुकावट नहीं पैदा करना चाहता। मुझे आशा है कि यह बातचीत जल्दी ही फिर से शुरू हो जाएगी और मैं प्रार्थना करता हूँ कि इसके परिणामस्वरूप देश में सांप्रदायिक शान्ति स्थापित हो जावे।

उपर्युक्त वक्तव्य देने के बाद से मैंने लार्ड-सभा में कल भारतमंत्री द्वारा दिये गए वक्तव्य की रिपोर्ट भी पढ़ी है। इससे मुख्य स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता।"

गांधीजी के मैत्रीपूर्ण और आकर्षक वक्तव्य के साथ-साथ कांग्रेस और युद्ध-समितियों के अध्यक्षों ने भी अपने-अपने उत्तर दिये। राजेन्द्र बाबू ने इस प्रश्न को और भी स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में व्यक्त करते हुए ब्रिटिश सरकार पर यह दोषारोपण किया कि वह "किसी भी ऐसे विधान को, जिसे सभी भारतीय, जिनमें अल्पसंख्यक भी शामिल हैं, तैयार करेंगे और जिसमें अल्प-संख्यकों के लिए संरक्षण भी रहेंगे, स्वीकार करने और उसे वैधानिक रूप में कार्यान्वित करने के लिए तैयार नहीं है।" इस बारे में पंडित जवाहरलाल नेहरू का वक्तव्य भी कम ठोस और निर्णयात्मक नहीं है। उन्होंने वाइसराय के वक्तव्य पर आश्चर्य प्रकट किया, क्योंकि कुछ सम्बद्ध प्रमुख दलों के संपर्क से दिल्ली की बातचीत के बारे में उन्हें जो कुछ पता चला था, उससे वाइ-सराय का वक्तव्य बिलकुल भिन्न था। आगे चलकर उन्होंने कहा, "वास्तव में वाइसराय ने तो इसे एक सांप्रदायिक प्रश्न ही बना दिया और उन्होंने बुनियादी बातों पर प्रमुख राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों में पूर्ण मतभेद का ही जिक्र किया।"

पंडित जवाहरलाल ने बताया कि "श्री जिन्ना और मेरे दरमियान यह समझौता हुआ था कि हम जल्दी ही किसी सुविधाजनक समय पर सांप्रदायिक प्रश्न पर पूरी तरह से सोच-विचार करेंगे। जब तक राजनैतिक कठिनाई दूर नहीं हो जाती तब तक इसका वाइसराय के

प्रस्तावों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए इस सम्बन्ध में इस पर कोई विचार नहीं किया गया।" वास्तव में यह एक ऐसा प्रश्न था, जिसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी और इससे वाइसराय के नाम श्री जिन्ना के ४-१२-३९ वाले पत्र के कथन का खण्डन हो जाता था। इस प्रकार हालत फिर दुबारा नाजुक हो गई और इसके बारे में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी से सलाह-मशविरा करना, और उस संस्था तथा उसके जरिये देश को पिछली परिस्थितियों और भावी योजनाओं के सम्बन्ध में अवगत करना आवश्यक हो गया। जहां तक भावी योजनाओं का सम्बन्ध था, गांधीजी को इस बारे में कोई आशंकाएँ न थीं। गांधीजी के विचार से इस गतिरोध का "एकमात्र उपाय" विधानपरिषद् था, जिसकी प्रारम्भ में तो उन्होंने सिर्फ स्वीकृति ही दी, लेकिन अब वे दिन-प्रतिदिन उसके जोरदार समर्थक बनते जा रहे थे। गांधीजी ने इस प्रकार के विचार १९ नवम्बर, १९३९ को प्रकट किये। इस विधान-परिषद् के निर्माण में उन्होंने मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व और यदि आवश्यकता हुई तो प्रत्येक वास्तविक अल्पसंख्यक दल को उसकी संख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व सुरक्षित करने का प्रस्ताव किया। गांधीजी ने कहा, "निःसंदेह मुस्लिम लीग मुसलमानों की सबसे बड़ी प्रतिनिधिक संस्था है, परन्तु कुछ मुस्लिम संस्थाएँ, जो किसी तरह भी नगण्य नहीं हैं उसके इस दावे से इन्कार करती हैं, कि वह उनका प्रतिनिधित्व करती है। विधानपरिषद् उन सबका प्रतिनिधित्व करेगी और केवल वही एक ऐसा विधान बना सकती है जो देशी हो और जो कि ठीक-ठीक और पूरी तरह से जनमत का प्रतिनिधित्व कर सके।" परन्तु उन्होंने इस प्रयोग व परीक्षण के खतरों को भी स्वीकार किया। प्रमुख बाधा ब्रिटिश सरकार थी। देशी नरेशों का सवाल केवल रास्ते की एक उलझन था। गांधीजी ने बताया कि यूरोपियनों के हित तब तक बिल्कुल सुरक्षित रहेंगे जब तक कि "भारतीय हितों से" उनका विरोध नहीं होता। अन्त में उन्होंने लिखा कि "सीधी कार्रवाई करने से पूर्व हमें विधानपरिषद् बनाने के लिए सभी साधनों से काम लेना चाहिए। हो सकता है कि एक अवस्था ऐसी आ जाय कि सीधी कार्रवाई विधानपरिषद् की भूमिका के रूप में आवश्यक समझी जाय। लेकिन वह अवस्था अभी नहीं आई।" कांग्रेस वर्किंग कमेटी और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के रूप में राष्ट्र के प्रतिनिधि एक बार एकत्र हुए। इस बार यह बैठक १९ नवम्बर को इलाहाबाद में हुई। प्रतिनिधियों ने देश के सामने अपनी सुनिश्चित राय रखी। सांप्रदायिक समस्या के दलदल से निकल कर स्वाधीनता के इस प्रश्न ने कुछ समय के लिए वातावरण में खलबली पैदा कर दी। एक राय यह थी कि हमें पहले से ही यह बात सोच लेनी चाहिए थी कि सांप्रदायिक प्रश्न हमारे सामने उठाया जायगा, नहीं तो जब पहली बार वर्किंग कमेटी ने यह प्रश्न उठाया था तो फिर श्री जिन्ना को वर्धा बुलाने की क्या ज़रूरत थी? समझौते की आवश्यकता से तो कोई भी इन्कार नहीं करता। वास्तव में इस दिशा में कांग्रेस ने अपना प्रयत्न कभी ढीला नहीं किया। वाइसराय के साथ जो लिखा-पढ़ी हुई, उससे तो निश्चय ही यह प्रयत्न और जोरदार हो सकता था और हो भी जाना चाहिए था। लेकिन सरकार ने इस मामले को न सुलझाने की जिम्मेदारी कांग्रेस के सिर मढ़ने की कोशिश की और कांग्रेस ने इसका खुलकर विरोध किया। निःसंदेह इस प्रयत्न में हमारे असफल हो जाने की संभावना थी और उसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार को यह भरोसा कराना कि वह गलती पर है, मुश्किल या असंभव ही हो जाता। परन्तु इस स्थिति का जवाब यह है कि कांग्रेस भले ही प्रायः असफल हो जाती रही हो, सरकार को इससे क्या! यह विचार चाहे पूर्णतया तर्कपूर्ण हो, फिर भी बाहर के देशों पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा? इसके

लिए प्रचार और शिक्षा की ज़रूरत थी, भारत के बाहर नहीं, बल्कि भारत में ही; क्योंकि भारत में प्रचार करने का मतलब वास्तव में भारत के बाहर प्रचार करना था। इसके अलावा कि बाहर के देश हमारे बारे में क्या कुछ सोचेंगे, हर हालत में कांग्रेस के लिए एक ही कसौटी थी, "क्या यह कदम ठीक है?" यह ठीक है कि तराजू से बराबर-बराबर तोलने की जिम्मेदारी अंग्रेजों की थी और वे तराजू का पलड़ा एक ओर झुका भी रहे थे, और कि किसी राजनैतिक अथवा सांप्रदायिक समझौते के लिए समय भी उपयुक्त नहीं था—लेकिन सवाल यह था कि क्या अंग्रेज कभी ऐसा करेंगे? यह सच है कि कांग्रेस ने समय का ख्याल नहीं किया। इस कारण इस प्रश्न का महत्व या आवश्यकता नहीं घट जाएगी कि उसे ब्रिटेन की ओर से पेश किया गया था। प्रश्न तो सदा से ही मौजूद था। फिर भी इस बात पर जोर देने से तो असामयिक नई पेचीदगियां पैदा हो जातीं और मौजूदा परेशानियां और भी बढ़ जातीं। कांग्रेस की स्थिति स्पष्ट थी। उसके सामने जो समस्या थी, उसकी उत्पत्ति तो उस युद्ध के कारण हुई, जिसमें ब्रिटेन भारत के साधनों से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहता था। लेकिन जब तक भारत को यह विश्वास न दिला दिया जाता कि यह लड़ाई एक न्याय-संगत और उचित उद्देश्य के लिए लड़ी जा रही है, तब तक वह इस मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकता था। ब्रिटेन की नीति और इस सम्बन्ध में उसका जवाब अत्यधिक आपत्तिजनक था। प्रधानमंत्री चेम्बरलेन और ब्रिटेन के अन्य बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों का आचरण और उनके उत्तर इस प्रकार के थे कि उनसे वे हमारी सहानुभूति और मदद हासिल नहीं कर सकते थे। कुछ समय तक ऐसा ख्याल किया जाता रहा कि अगर चेम्बरलेन की सरकार में कोई परिवर्तन कर दिया जाय तो शायद उससे कांग्रेस के रुख में भी परिवर्तन हो जाय। लेकिन जब तक कांग्रेस को यह संतोष न हो जाता कि लड़ाई किसी अनैतिक उद्देश्य से नहीं लड़ी जा रही, तब तक क्या सरकार को वह मदद नहीं दे सकती थी? और इसकी कसौटी भारत था। कांग्रेस भारत को किसी गलत या अनैतिक लड़ाई में फँसाने के लिए कभी भी सहमत नहीं हो सकती थी। उस हालत में सिर्फ एक ही सवाल था : तो क्या फिर उन्हें हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना चाहिए, अथवा इसका विरोध करना चाहिए?

इलाहाबाद के निर्णय में यह कहा गया था कि युद्ध की गतिविधि, ब्रिटिश और फ्रेंच सरकार की नीति और खासतौर से वह घोषणा, जो ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत के सम्बन्ध में की गई है, यह जाहिर करती है कि वर्तमान युद्ध सन् १९१४-१८ के महायुद्ध की भांति साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए लड़ा जा रहा है और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य इसी तरह कायम रहेगा। इसलिए ऐसी लड़ाई और नीति से कांग्रेस सहयोग नहीं कर सकती और न वह यह बात ही देख सकती है कि एक ऐसे उद्देश्य के लिए उसके साधनों का शोषण किया जाय। मुख्य प्रश्न के बारे में ब्रिटिश सरकार की ओर से उठाया गया सांप्रदायिक प्रश्न और देशी राज्यों की समस्या बिलकुल बेकार थे। स्पष्टतः एक नैतिक प्रश्न के बारे में ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने इरादों की घोषणा न करने और बेमतलब के प्रश्नों की आड़ लेने की उसकी नीति से यही ज़ाहिर होता था कि वह भारत में साम्राज्यशाही प्रभुत्व देश के प्रतिक्रियावादी तत्वों की सहायता से बनाए रखना चाहती है। इस सम्बन्ध में कांग्रेस के प्रधान ने ४ नवम्बर १९३९ को वाइसराय को जो जवाब दिया था, उसे स्वीकार किया गया और उसका समर्थन किया गया और ब्रिटेन की नीति से साम्राज्यवाद का रंग हटा देने के लिए और कांग्रेस के लिए भविष्य में सहयोग प्रदान करने के सवाल तथा सांप्रदायिक एवं अन्य कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से विधानपरिषद् का विचार और उसकी

योजना को आवश्यक बताया गया; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि वर्किंग कमेटी सांप्रदायिक समस्या का हल निकालने में अपनी कोशिशों में ढील डालती। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों द्वारा इस्तीफे दिलाने के रूप में उसने असहयोग की जिस नीति का सूत्रपात किया था वह तो जारी रहने वाली थी। बल्कि कांग्रेसवादियों को याद दिलाया गया कि विरोधी के साथ सम्मानपूर्ण समझौता करने का कोई प्रयत्न उठा नहीं रखना चाहिए। अगर अहिंसात्मक लड़ाई कभी शुरू हो तो सत्याग्रही उसके लिये हमेशा तैयार रहता है; पर वह शांति के लिये अपने प्रयत्नों में कभी शैथिल्य नहीं आने देता और उसे हासिल करने के लिए हमेशा तत्पर रहता है। इसके बाद सविनय अवज्ञा के लिए तैयारियां करने की आवश्यकता पर पर्याप्त जोर दिया गया, जिसकी सच्ची कसौटी यह थी कि कांग्रेसजन स्वयं चरखा चलाएं मिल के कपड़ों की जगह खादी को प्रोत्साहन दें और विभिन्न संस्थाओं में मेल-मिलाप स्थापित करना अपना कर्तव्य समझें। इस प्रकार जाहिर है कि चाहे ब्रिटेन का बर्ताव कितना उत्तेजक क्यों न रहा हो, उसकी घोषणाएं कितनी ही निराशाजनक क्यों न रही हों और उनकी कूटनीति कितनी ही परेशान करनेवाली और क्रोध पैदा करने वाली क्यों न रही हो फिर भी कांग्रेस अत्यधिक धैर्य और सहिष्णुता से काम ले रही थी, और संभवतः इसे कांग्रेस की कायरता नहीं तो कमजोरी समझने की गलती अवश्य की गई। इसलिए लार्ड जैटलैण्ड जैसे राजनीतिज्ञ को इलाहाबाद के फैसले के वाक्यों का उद्धरण देते देखकर हँसी आती है, हालांकि उससे कोई लाभ नहीं हुआ। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कांग्रेस की महासमिति ने इलाहाबाद का प्रस्ताव आठ कांग्रेसी प्रान्तों में भारत विधान की धारा ९३ के लागू हो जाने के बाद और २३ नवम्बर को मुस्लिम लीग द्वारा इस बात पर कि आखिर कांग्रेस सरकार खत्म हो गई, मुक्ति एवं कृतज्ञता-प्रकाश दिवस मनाए जाने पर पास किया था। परन्तु इसी बीच लार्ड जैटलैण्ड ने लार्ड सभा में (१४ दिसम्बर १९३९) कहा कि "आसाम में एक भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ने मन्त्रिमण्डल बना लिया है।" लार्ड जैटलैण्ड ने बड़ी शेखी और जोरशोर से देशी नरेशों और किसानों के बड़े-बड़े उपहारों का उल्लेख किया और कुछ नरेशों की ओर से व्यक्तिगत सेनाएं भी अर्पित करने का जिक्र करते हुए कहा, "परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इससे लाभ उठाना संभव नहीं है।" उन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में कठिनाइयां बनी रहने पर अफसोस जाहिर किया, हालांकि जब प्रांतीय स्वायत्त शासन की प्रगति मिण्टो-मार्ले विधान के मुकाबले में तीस साल पिछड़ गई थी और यह सारा परिवर्तन चुपचाप बिना किसी हलचल के हो गया था। फिर भी जब लार्ड जैटलैण्ड ने कहा, "किसी भी महत्वपूर्ण क्षेत्र में नीति में परिवर्तन नहीं किया गया और मोटेतौर पर, यह कहा जा सकता है कि इस्तीफे देने से पहले मन्त्रिमण्डलों ने जो कानून बनाए थे और जिनकी धारासभाओं ने स्वीकृति दे दी थी, उन्हें गवर्नरों द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा है," कांग्रेस ने एक-एक शब्द को कसौटी पर परखा। यदि समस्याओं का पूर्वाभास हो सकता है तो यह कहा जा सकता है कि कई मामलों में पिछड़ी हुई और दकियानूसी नीति पर अमल किया गया।[1] लार्ड जैटलैण्ड ने वर्किंग कमेटी के इलाहाबाद वाले प्रस्ताव के इस वाक्य का कि "सभी प्रकार के सत्याग्रह में विरोधी के साथ सम्मानपूर्ण समझौता करने का कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा जाता" खूब स्वागत किया। "उस हालत में समझौते के रास्ते में कौन-सी रुकावट थी?—मुस्लिमलीग और कांग्रेस का मतभेद?" उन्होंने इस प्रस्ताव के एक और वाक्य का उद्धरण पेश किया, जिसमें कहा गया है

---

१ देखिये प्रांतों में प्रतिक्रियावादी नीति वाला अध्याय।

"समिति पूरा जोर देकर यह घोषणा करना चाहती है कि सांप्रदायिकता का कोई भी सवाल ऐसा नहीं है जो कांग्रेस की मांग के पूरा करने में बाधक होता हो।" और इस पर आगे चलकर आप कहते हैं कि "मैं कांग्रेस के इस विचार से सहमत होने में असमर्थ हूँ।" इसके बाद आप अल्पसंख्यकों और देशी राज्यों को उन्हीं पुरानी आपत्तियों की दुहाई देते हुए कहते हैं कि स्वयं गांधीजी ने २५ नवम्बर के 'हरिजन' में 'अल्पसंख्यकों का सन्तोष' हो जाने पर ही विधान परिषद् बुलाने की बात कही है। यह ठीक है। कांग्रेस ने अल्पसंख्यकों के अस्तित्व से कभी इंकार नहीं किया, यद्यपि वास्तविक अल्पसंख्यकों का ज़िक्र उसने कभी-कभी ही किया है। कांग्रेस बड़ी और मुख्य समस्या के हल निकालने के मार्ग में रियासतों और अल्पसंख्यकों को कोई रुकावट नहीं मानती। परन्तु लार्ड जेटलैण्ड ने अपने को भी मात देदी, जब उन्होंने कांग्रेस के नेताओं से भारत के एक सबसे बड़े और अत्यधिक प्रभावशाली संगठन के प्रतिनिधियों के रूप में उन कठिनाइयों को समझने और अनुभव करने की अपील की, जिनके कारण मुस्लिमलीग का ऐसा रुख बन गया है और आगे आपने कहा कि यह खयाल करते हुए तो यह बात और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है कि अभी कुछ दिन पहले लीग के प्रधान ने कांग्रेसी सरकारों के समाप्त हो जाने पर २२ नवम्बर को 'मुक्ति और कृतज्ञता-प्रकाश दिवस' मनाने का आदेश दिया था। ख़ैर उन्होंने धारासभा के हरेक सदस्य से अपने को पहले भारतीय और बाद में हिन्दू या मुस्लिम समझने का अनुरोध किया। उनके उत्तराधिकारी श्री एमरी के 'भारत पहले' विषयक भाषण का यह पूर्वाभास अथवा भूमिका थी। अन्त में आपने—'भारत रक्षा, नरेशों के प्रति उत्तरदायित्व और पीढ़ियों पुराने हमारे अपने प्रयास तथा अल्पसंख्यकों का राग" अलापा।

इसके जवाब में जवाहरलाल नेहरू ने विधान-परिषद् की योजना पेश की, जो सारी कठिनाइयों का निदान और मतभेदों को एक स्वतन्त्र पंच द्वारा निपटाने का एकमात्र तरीका था। इस तरीके से न तो बहुमत अल्पसंख्यकों पर अपनी बात लाद सकेगा और न ही अल्पसंख्यक बहुमत के सिर पर अपनी बात लाद सकेंगे। परन्तु विडम्बना यह थी कि लार्ड जैटलैण्ड अब भी पुराने युग की बातें सोच रहे थे और जीवन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण अर्ध-सामन्तशाही था। भारत की समस्या तो मुख्यतः आर्थिक थी, लेकिन सज्जन और सदाशय लार्ड उन्हें जातीय और अल्पसंख्यकों की समस्याओं के रूप में दिखाना चाहते थे। शायद वे राजाओं को पुश्तैनी शासकों और राजपूतों तथा अन्य वर्गों को सैनिक वर्ग के रूप में समझ रहे थे। विधान-परिषद् के प्रति ब्रिटेन का विरोध आसानी से समझ में आ सकता था, क्योंकि इससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ही अन्त हो जायगा और इसका एक परिणाम भारत में इधर-उधर रूसी ढंग की शासन-पद्धति की स्थापना होगी।

१६३६ के अन्त में वर्किंग कमेटी ने देश की राजनैतिक परिस्थिति का सिंहावलोकन किया और यह आसानी से समझ में आ सकता है कि उस समय वातावरण कितना क्षुब्ध था। अल्पसंख्यकों का प्रश्न सबसे आगे था और उनमें संतोष की भावना पैदा करना साफ़तौर से कांग्रेस का कर्तव्य था। उनकी तबीयत में संदेह था और यह संदेह कांग्रेसी सरकारों के शासन के प्रति उनके आरोपों में से पैदा हुआ था, क्या कांग्रेस यह घोषणा कर सकती थी कि वह कांग्रेसी सरकारों के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के हितों का आश्वासन दिये बिना फिर मंत्रिमण्डल नहीं बनायेगी? वास्तव में मुसलमानों के विशिष्ट स्वार्थों—धार्मिक सामाजिक और आर्थिक—के संरक्षण के लिए जो आश्वासन जरूरी था, कांग्रेस देने को तैयार थी, लेकिन क्या इस प्रकार की घोषणा से

अवसरवादी अल्पसंख्यकों के हाथ मजबूत नहीं हो जायेंगे अथवा और नये अल्पसंख्यक नहीं पैदा हो जायेंगे और उनमें आन्दोलन करने की और भी दृढ़ भावना नहीं भर देंगे, कारण कि अपने आन्दोलन में उन्हें कुछ हद तक सफलता मिल चुकी थी? यदि आप किसी को कुछ रियायतें देंगे तो उनकी पिपासा और भी बढ़ जाएगी जैसे कि खाने के साथ-साथ भूख भी बढ़ जाती है। यदि ऐसा नहीं होना चाहिए तो फिर इसका दूसरा उपाय क्या था? कुछ भी हो, कांग्रेस १९३५ के विधान की धज्जियां उड़ा देने के लिए कटिबद्ध थी। क्या वह उनके लिए यह घोषणा कर देती कि वह पुराने विधान के अन्तर्गत पुनः मंत्रिमंडल नहीं बनाएगी और यह विधान रद्द समझना चाहिए? बंगाल, पंजाब, सिन्ध और आसाम इस बारे में क्या कहेंगे? क्या यह आपत्ति नहीं उठाई जाएगी कि कांग्रेस मुस्लिम लीग को उन लाभों से वंचित करना चाहती है जो उसे प्रत्यक्षतः प्राप्त हुए हैं? इसके विपरीत अगर कांग्रेस ऐसा कोई आश्वासन या घोषणा करने को तैयार थी अथवा कर रही थी, जिसकी पहले कल्पना की गई थी, तो क्या इसका मतलब यह नहीं था कि वह संयुक्त-मंत्रिमण्डलों के सिद्धान्त को स्वीकार करने को तैयार है? उस हालत में इसे एक कारोबारी योजना के रूप में स्वीकार करके इस समस्या को यहीं समाप्त कर देना बेहतर होगा। लेकिन कांग्रेस वर्किंग कमेटी यह विचार स्वीकार करने के लिए तैयार न थी।

एक और उपाय यह हो सकता था कि सांप्रदायिक प्रश्नों का जिक्र ही न किया जाय—भले ही वह फिलहाल के लिए ही क्यों न हो। समय बड़ी तेजी से बदल रहा था और उसके साथ परिस्थितियाँ भी। जो हो, कांग्रेस के प्रस्तावों में अल्पसंख्यकों के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों का उल्लेख किया गया था। राजनैतिक शब्द इसमें शामिल नहीं किया गया, क्योंकि विधान-परिषद में भी हमें उन्हें सिर्फ ये ही संरक्षण देने थे—राजनैतिक नहीं। इस प्रकार का कोई समझौता करना हिन्दू-महासभा जैसी संस्था के उपयुक्त हो सकता था, लेकिन यदि कांग्रेस मंत्रिमण्डलों अथवा नौकरियों में ऐसी राजनैतिक रियायतें देने लगी तो वह स्वराज्य की प्रगति में देश को गलत राह पर ले जाएगी। धारासभाओं में बहुमत विभिन्न दलों का संयुक्त बहुमत होना चाहिये, जिनका निर्वाचन संयुक्त-निर्वाचन-पद्धति के आधार पर हुआ हो और जिनमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख और जैन सभी राष्ट्रवादियों के रूप में हों. वरना कांग्रेस एक भारी गलती करेगी और तब उसके लिए पीछे कदम हटाना असंभव हो जाएगा। यदि कांग्रेस का ऐसा विश्वास नहीं है तो बेहतर होगा कि वह बियाबान में चली जाय। इसके विपरीत समझदार मित्र कह सकते हैं कि ऐसा रुख, जो न केवल मुसलमानों और ईसाइयों पर ही लागू होता हो, बल्कि अनेक उपजातियों सहित हिन्दुओं पर भी लागू होता हो, चाहे कितना भी उचित और ठीक क्यों न हो फिर भी आप एकदम ऐसा कठोर और कड़ा रुख नहीं ग्रहण कर सकते थे। कांग्रेस तो केवल प्रजातंत्र और स्वतंत्रता के शाश्वत सिद्धान्तों के बारे में निश्चित हो सकती थी; लेकिन वह यह नहीं जानती थी कि एक पखवारे के बाद ही उसे निरन्तर परिवर्तन होने वाली परिस्थितियों की विस्तृत बातों के सम्बन्ध में कौनसा रुख अख्तियार करना चाहिये। ज़ाहिर था कि कांग्रेस यह देखते हुए कि किस तरह से श्री जिन्ना और ब्रिटिश सरकार दोनों ही ने राजनैतिक समस्या का केन्द्रबिन्दु बदलकर सांप्रदायिक समस्या में परिवर्तित कर दिया था, इस समस्या के राजनैतिक पहलू पर ही जोर देती, अथवा कांग्रेस यह विचार करती कि क्या उसके लिए अपने अनुयायियों से यह कहने का समय नहीं आगया था कि उन्होंने काफी लम्बे अरसे तक इस बात

की प्रतीक्षा कर ली थी कि अंग्रेज इस समस्या पर उचित रूप से विचार करें और कोई उपयुक्त उत्तर दें और चूँकि उन्होंने इस बारे में कुछ भी नहीं किया, इसलिए कांग्रेस को अपना ध्यान संघर्ष की ओर लगाना चाहिये और इसके लिए अपनी तैयारी करनी चाहिये। परन्तु इस बारे में कांग्रेस को और बातों को भी ध्यान में रखना था। गांधीजी यह कहने को तैयार न थे कि वे तैयार हैं। वे औरों से कहते थे कि वे तभी अपने को लड़ाई के लिए तैयार समझें, जब वे स्वयं (गांधीजी) इसके लिए तैयार हों, क्योंकि वे जानते थे कि जब उनकी तैयारी हो जाएगी तो दूसरे भी तैयार हो जाएँगे। इस प्रकार कांग्रेस की स्थिति फिर पहले जैसी हो गई, अर्थात् उसे राजनैतिक और सांप्रदायिक समस्या के बीच निर्णय करना था। यह सवाल उचित रूप से उठाया गया था कि क्या कांग्रेस के लिए सांप्रदायिक एकता का ज़िक्र ही न करना न्यायसंगत होगा; क्योंकि इस प्रकार वह अपने रचनात्मक कार्यक्रम के तीन प्रमुख विषयों में से एक को अपने सामने से हटा देगी। कांग्रेस श्री जिन्ना या किसी दूसरे आलोचक को इसका क्या जवाब दे सकती थी? तफसील की बातों के बारे में स्थिति भिन्न हो सकती है। विधानपरिषद् में न सुलझाई जा सकने वाली कठिनाइयों के फलस्वरूप गतिरोध पैदा हो जाने पर कांग्रेस ने उसे सुलझाने के लिए एक स्वतंत्र पंच की बात कही थी। क्या अब इसे इस पंच की बात छोड़ देनी चाहिये, क्योंकि कांग्रेसी सरकारों के कार्यों के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करने के लिए श्री जिन्ना ने एक शाही कमीशन नियुक्त करने का प्रस्ताव किया था। वास्तव में उन्होंने कांग्रेस के प्रस्ताव पर सोच-विचार करने से इन्कार कर दिया था और इस प्रकार की जांच-पड़ताल की मांग करके वे अप्रत्यक्ष रूप से अपने लक्ष्य से दूर जा पड़े थे। कांग्रेस के सम्मुख प्रश्न यह था कि क्या वह एक ओर श्री जिन्ना और लार्ड जैटलैंड द्वारा और दूसरी ओर वाइसराय द्वारा फैलाए गए भ्रमजाल को दूर करने में अपना मार्ग ही खो बैठे? क्या वास्तव में इस तरह कांग्रेस श्री जिन्ना के राजनैतिक-सांप्रदायिक जाल में नहीं फँस रही थी? मुस्लिमलीग और कांग्रेस जो किसी समय दोस्त रहे थे, अब दोस्त न थे। शाही कमीशन को हमें एक ओर पटक देना चाहिए ज़रूर। लेकिन यह कहना कि सांप्रदायिक प्रश्न सुलझ ही नहीं सकता, अपने आपको सदा के लिए पराजित कर लेना था। रचनात्मक कार्यक्रम अपने तौर पर बिलकुल ठीक था; परन्तु यहीं रुक जाना अपने को बड़ी क़बाहत में डाल देना था। इस तरह देश को लड़ाई के लिए तैयार न करके इस आशा से बैठ रहना था कि कोई बात ऐसी हो जाएगी जिससे कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार में समझौता हो जाएगा। यह ठीक है कि कांग्रेस अपने कार्य में बाधक लोगों की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। इसका मतलब यह नहीं था कि हमारे इन दोस्तों—श्री अम्बेदकर और श्री जिन्ना—के बहुत अधिक अनुयायी थे। वे सिर्फ जनता पर ऐसा प्रभाव डालने की कोशिश कर रहे थे। इसके बावजूद कि उनका प्रभाव सीमित था, कांग्रेस उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। यद्यपि गांधीजी जैसा व्यक्ति यह कह सकता है कि हम व्यक्तिगत रूप से भिन्न हो सकते हैं तथापि दूसरे शायद यह बात असंभव समझें; क्योंकि जैसा वातावरण पैदा कर दिया गया था उससे हरेक के दिल पर बुरा प्रभाव पड़ा था। लेकिन यह इन्हीं दोनों सज्जनों द्वारा फैलाया गया भ्रमजाल या धोखा है। कांग्रेस के लिए किसी भी दल या व्यक्ति को नगण्य समझकर उसकी उपेक्षा करना कठिन था और न उसे ऐसा करना ही चाहिए था। इसलिए दुबारा कहने का खतरा उठाकर भी कांग्रेस को अल्पसंख्यकों के बारे में अपनी स्थिति को फिर से स्पष्ट करना था, क्योंकि एक ओर तो उसे जनता को और दूसरी ओर वाइसराय, भारतमंत्री तथा श्री जिन्ना और अम्बेदकर को जवाब देना था।

इस समस्या पर आंतरिक दृष्टि से विचार करने पर कांग्रेस ने अनुभव किया कि जिस सेनापति को उसका नेतृत्व करना है उसके सामने अभी कोई स्पष्ट योजना नहीं है। उसे इस बात का पूरा विश्वास था कि वह यह बताना चाहता था कि अंग्रेज़ गलती पर हैं और उसकी यह कोशिश थी कि वह अंग्रेजों की इस 'गलती' को मुसलमानों और सारे संसार के सामने खोलकर रख दे। मुस्लिम-साहित्य गांधीजी के पास मौजूद था और उन्होंने अच्छा-बुरा और बीच का—सभी प्रकार का साहित्य पढ़ा। उनका तरीका 'आज़ादी, आज़ादी' चिल्लाने का नहीं था। यह याद रखने लायक बात है कि गांधीजी ने लार्ड इरविन के नाम पहली जनवरी, १६३० को जो ११ शर्तों वाला पत्र लिखा था, उसके लिए मोतीलालजी जैसे समर्थ पुरुष ने उनकी कड़ी आलोचना की थी। गांधीजी की कार्य-पद्धति या कारीगरी यह थी कि जो भी व्यक्ति उनके किये-कराये काम की या जो उन्होंने नहीं किया था उसकी जांच पड़ताल करता तो उसमें उसे 'आज़ादी' का आभास होता था। हाँ, 'आज़ादी' शब्द की रट उसमें नहीं लगाई गई थी। इस प्रकार कांग्रेस कमेटी जो प्रस्ताव पास करे उसमे सविनय-भंग आन्दोलन की भूमि तैयार हो जानी चाहिये और यह प्रस्ताव ऐसा होना चाहिये, जिसमें लार्ड ज़ैटलैण्ड की उपेक्षा भी न की गई हो; क्योंकि देश में प्रचलित शासन-प्रणाली इन दोनों में ही मूर्तिमान थी। जब गांधीजीने सर स्टैफर्ड क्रिप्स से लम्बी बातचीत की तब यह सब उनके दिमाग में था।

इस प्रकरण में सर स्टैफर्ड क्रिप्स की वर्धा-यात्रा का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा; क्योंकि बाद में जो परिस्थितियां पैदा हुई उनके प्रकाश में यह यात्रा बड़ी महत्वपूर्ण थी, यद्यपि उस समय इसका महत्व उतना अनुभव नहीं किया गया था। भारत से लौटने के बाद ही बहुत-कुछ रूस की मर्जी से रूस में राजदूत के पद पर उनकी नियुक्ति हो गई।

ब्रिटिश प्रजातंत्र में उसके कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक पदों को प्रमुख वकीलों ने ही सुशोभित किया है। लार्ड रीडिंग, लार्ड बर्कन हेड, सर जॉन साइमन, श्री एस्क्विथ, श्री लायड जार्ज (सालीसिटर), लार्ड मेंकी—ये सभी अपने समय के प्रमुख वकील थे। सर स्टैफर्ड-क्रिप्स भी उसी वर्ग के प्रख्यात वकीलों में से थे, और १६३६ के पतझड़ तक जब आप वर्धा आए, उनकी गणना ब्रिटेन के प्रमुख वकीलों में होती थी। लन्दन से प्रस्थान करने से एक सप्ताह पहले उन्होंने वकालत छोड़ दी थी। और उसी समय से आप अपना सारा समय और प्रतिभा सार्वजनिक जीवन में लगा रहे थे। सर स्टैफर्ड अपने ढंग पर मौलिक विचारों के व्यक्ति थे और इसीलिए उनका अपने दल से जोरदार संघर्ष भी हुआ। १६३८ में उनके ऊपर दल के आदेशों का उल्लङ्घन करने पर अनुशासन-भंग की कार्रवाई की गई और उन्हें मजदूर दल से निकाल दिया गया। फिर भी वे न केवल स्वतंत्र मजदूर दल के व्यक्ति थे, बल्कि पुराने मजदूर दल भी उन्हें अपना मानते थे।

इस अवसर पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स की भारत-यात्रा सार्वजनिक जीवन में उनके नये युग की भूमिका मात्र थी। परन्तु बहुत से व्यक्ति इस बात को कुछ राजनैतिक महत्त्व दे रहे थे; क्योंकि जैसा कि कांग्रेस के प्रारम्भिक दिनों में ड्यूक ऑफ आरगिल सरीखे बड़े-बड़े पार्लामेंटेरियन, जो अनुदार दली थे, कांग्रेस जनों के आशाकेन्द्र होते थे। इतना ही नहीं, बाद में भी, बीसवीं सदी के प्रारम्भ में, भारत के नरमदली राजनीतिज्ञ ब्रिटेन के उदारदलीय नेताओं से बड़ी-बड़ी आशाएँ बांधे रहते थे और यहाँ तक कि ऐसे समय में जबकि ब्रिटेन की राजनीति से उदारदल के लोगों का प्रभाव और उनका दल तक समाप्त हो रहा था—भारत के इस नरमदली नेताओं

ने अपने दल का नाम रखने के लिए भी उन्हींकी नकल की। इसी प्रकार कांग्रेस समाजवादी और बाद के अधिक प्रगतिशील कांग्रेसी दल इंगलैण्ड के मजदूर दल पर अपनी योजनाएँ आधारित कर रहे थे। वास्तव में यह परिवर्तन लोकमान्य तिलक के समय से ही शुरु हो गया था, जबकि उन्होंने १६१८–१९ में इंगलैण्ड में सर वैलेनटाइन शिरोल के खिलाफ अपने मुकदमे के समय वहां के मजदूर दल को ३,००० पौण्ड का दान दिया था। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में होने वाली निराशाओं के बावजूद ब्रिटेन और बाहर के देशों में भारत के सम्बन्ध में प्रचार करने की नीति में लोगों का विश्वास बना हुआ था। निःसंदेह सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारतीय राजनीति से दिलचस्पी रखते थे और ऐसा खयाल किया जाता था कि जवाहरलालजी के साथ अपनी निजी मित्रता के कारण ही यह महान् वकील मुख्यतः भारत आया।

परन्तु सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने अपनी पहली मुलाकात में जो कुछ कहा वह आंखें खोल देने वाली और अप्रत्याशित बात थी। वे किसी प्रकार की गलत बयानी करके भारतीय मित्रता और प्रेम को प्राप्त करने वाले व्यक्ति न थे। यद्यपि हमें यह बात माननी पड़ेगी कि यह आवश्यक नहीं है कि ब्रिटिश राजनीति में जो अपरिवर्तनशीलता और स्पष्टता है वह भारतीय राजनीति के बारे में भी लागू हो। सर स्टैफर्ड ने बताया कि हाल में ब्रिटेन के लोगों की सहसा ऐसी धारणा हो गई है कि भारत से समझौता कर लिया जाय और भारतीयों की आकांक्षाओं को पूरा कर दिया जाय। ऐसे संकट के समय में ब्रिटेन भारत को अपना विरोधी नहीं बनाना चाहता। एक और दिलचस्प बात यह थी कि भारत की स्थिति का अध्ययन करने के लिए शीघ्र ही यहां एक सर्वदलीय प्रतिनिधि-मंडल आ रहा था। क्या हम यह खयाल कर सकते थे कि यह प्रतिनिधि-मण्डल एक जांच-पड़ताल करने वाले कमीशन के रूप में भेजा जा रहा था? वास्तव में कांग्रेस को ऐसे सर्वदलीय प्रतिनिधि-मंडलों के सम्बन्ध में काफी सन्देह और अविश्वास था। उसने स्टैफर्ड क्रिप्स का एक ऐसे व्यक्ति के रूप में स्वागत किया जिसमें सच को सच और झूठ को झूठ कहने की हिम्मत थी। सर्वदलीय प्रतिनिधिमंडल तो सिर्फ लीपापोती का काम करेगा। साइमन कमीशन भी तो सभीदलों का एक ऐसा ही प्रतिनिधिमंडल था। और भारत के लिए एक ऐसे ही परस्पर विरोधी तत्वों का शिष्टमंडल भेजने की तजवीज की गई थी। उसका क्या प्रयोजन था, इसका सभी अनुमान लगा सकते थे। इसके अलावा यह समय टालने की एक चाल थी। भारत की मांग थी कि तुरन्त ही युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा कर दी जाय और उन्हें ईमानदारी के साथ भारत पर लागू किया जाय। इसके विपरीत सर्वदलीय प्रतिनिधि-मंडल भेजने की योजना एक ऐसी चाल थी, जिसके जरिये ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को पार्लमेंट में सर सेम्युअल होर द्वारा अपनाई गई इस स्थिति को—जिसमें न तो साफ तौर पर 'ना ही' की गई थी और न प्रकट रूप से 'हां' ही की गई थी—एक व्यावहारिक रूप देना था। इंगलैण्ड दोनों में से एक भी बात नहीं कहना चाहता था; क्योंकि वह कोई बड़ी कीमत देकर भारत की न तो सद्भावना हासिल करना चाहता था और न उसे खोना चाहता था।

स्टैफर्ड क्रिप्स ने गांधीजी, जवाहरलाल और सरदार पटेल के साथ काफी लम्बी बातचीत की और इंगलैण्ड वापस जाते हुए वे अपने साथ गांधीजी द्वारा तैयार किया गया एक विस्तृत और लम्बा मसविदा भी अपने साथ लेते गये। इसके साथ ही सर स्टैफर्ड की छोटी-सी यह हवाई यात्रा भी खत्म हो गई। उस समय गांधीजी के क्या विचार थे और उनकी क्या भावनाएँ थीं, हम फिर उन पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

गांधीजी का ऐसा खयाल था कि यद्यपि हम समझौते से काम चला सकते हैं; परन्तु यह समझौता अंग्रेजों और हिन्दुओं के दरमियान नहीं हो सकता था। यह तो हिंसा होगी। यही वजह थी कि वे अपने ही तरीके की विधान-परिषद् की कल्पना कर रहे थे—और जवाहरलालजी के तरीके की नहीं, जो उन्होंने कांग्रेस के सामने रखी थी। जहां तक सविनय-अवज्ञा आन्दोलन का प्रश्न था उनका खयाल था कि कांग्रेस जनों को देश की जनता को उनकी इच्छा से अपने साथ लेना होगा, मशीन के कल-पुर्जे की तरह नहीं। लेकिन अफ़सोस यह था कि देश इसे अनुभव नहीं कर रहा था। गांधीजी का तो यह भी खयाल था कि कांग्रेसी सदस्यों को असेम्बली में जाना और उसके द्वारा काम करना चाहिए और कांग्रेस की सदस्यता के सम्बन्ध में सबकी एक राय होनी चाहिए। इसी कारण से वे निर्वाचन करने के पक्ष में थे, यद्यपि एक प्रस्ताव यह भी था कि युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण इसे बन्द रखा जाय। यह ठीक है कि कांग्रेस मंत्रिमण्डल छोड़कर बाहर मैदान में आई थी; लेकिन इसकी वजह यह थी कि हमारी ताक़त घटती जा रही थी, कारण कि ब्रिटिश सरकार अपने उद्देश्यों के लिए हमें इस्तेमाल कर रही थी। केन्द्रीय असेम्बली से हम उसी हालत में बाहर आये जब हमने महसूस किया कि हम अपनी शक्ति बढ़ाने की बजाय उसे घटा रहे हैं। इसका मतलब यह नहीं था कि हम सभी चीजें निषिद्ध करार दे रहे थे। गांधीजी सब प्रकार की दोस्ती बनाए रखना चाहते थे। अगर दूसरा पक्ष शत्रु और विपाक्त बनता जा रहा था तो इसका मतलब यह था कि वह सविनय-भंग को निमंत्रण दे रहा था। उसके चाहते ही हम उसके लिए उद्यत थे। ऐसे समय में सत्याग्रह को सिपाही इधर-उधर की बाट थोड़े ही जोह सकता था। अगर श्री जिन्ना ने उनका यह प्रस्ताव ठुकरा दिया तो वे संसार और भारत के मुसलमानों के सामने अपने को गलती पर साबित करेंगे। अगर अंग्रेज तेज़ रफ्तार से काम ले रहे थे तो हमें भी तेजी से काम लेना था। गांधीजी मंत्रिमंडलों को पदग्रहण कराने के लिए आतुर नहीं थे। उनका खयाल था कि कांग्रेस को ऐसी स्थिति में पहुँच जाना चाहिए, जब ब्रिटिश सरकार भारत को स्वतंत्रता देना हितकारक समझे। विधान-परिषद् एक ऐसी चीज़ थी, जिसके हाथ में अगर ताक़त दे दी जाय तो किसी को शिकायत न हो। जो लोग १९३९ के अन्त में राष्ट्र की नौका को खे रहे थे, उसका संचालन कर रहे थे, उनके मस्तिष्क में ऐसे ही विचार उठ रहे थे। १८ दिसम्बर को वर्किंग कमेटी की बैठक हुई और उसने भारतमंत्री की उन घोषणाओं पर खेद प्रकट किया, जिनमें उन्होंने सांप्रदायिक प्रश्न को उठाकर प्रधान समस्या पर परदा डालने की कोशिश की थी और जनता का ध्यान उस वास्तविक तथ्य से हटाने का प्रयत्न किया था कि ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध उद्देश्यों की घोषणा करने में असफल रही है, खासकर भारत की स्वतंत्रता के बारे में। जब तक विभिन्न दल तीसरे दल पर आश्रित थे तब तक सांप्रदायिक प्रश्न कभी भी सन्तोषजनक रूप से नहीं हल हो सकता था, क्योंकि इस तीसरे दल की सहायता से वे राष्ट्र के हितों को भी ताक पर रखकर विशेष अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते थे। एक विदेशी शक्ति के शासन का अर्थ देश के विभिन्न दलों में भेदभाव पैदा कर देना था। कांग्रेस इन दलों में एकता की समर्थक थी और विदेशी हुकूमत के पूर्ण रूप से हट जाने पर ही उनमें स्थायी एकता स्थापित हो सकती थी। ब्रिटिश सरकार चूंकि यहां से हटना नहीं चाहती थी अथवा शक्ति नहीं छोड़ना चाहती थी, इसलिए स्वाभाविक था कि वह विभिन्न दलों में परस्पर फूट डालने के उद्देश्य से सांप्रदायिक प्रश्न का सहारा ले और सिर्फ विधान-परिषद् ही एकमात्र ऐसा मार्ग रह गया था, जिसके जरिये कोई अन्तिम समझौता हो सकता था। कांग्रेस तो यह

बात बहुत स्पष्ट रूप से कह चुकी थी कि संबद्ध अल्पसंख्यकों के अधिकारों की इस तरह से रक्षा होनी चाहिए कि उन्हें सन्तोष हो जाय और यदि इतने पर भी कोई मतभेद रह जाएँ तो उनका निपटारा एक निष्पक्ष पंच द्वारा करा लिया जाय।

कठोर प्रयास के बिना आजादी हासिल नहीं की जा सकती थी। यह बात आजादी—जो कि साध्य थी और अहिंसा जो साधन थी—दोनों ही पर लागू होती थी और दोनों के पीछे सविनय अवज्ञा की शक्ति थी, जो सत्याग्रह का ही एक अंग था और सत्याग्रह का अर्थ था सभी के प्रति सद्भावना रखना, विशेषकर विरोधियों के प्रति। इसलिए प्रत्येक कांग्रेसजन का अलग-अलग यह परम कर्तव्य है कि वह सद्भावना के लिए कोशिश करे और उसे प्रोत्साहन दे। सद्भावना का अर्थ गरीबों के प्रति सहानुभूति रखना और दूसरे लोगों के लिए आदर और विनम्र भाव रखना है। खद्दर इस सहानुभूति का और सांप्रदायिक एकता के विनम्र भाव का प्रतीक है। अहिंसा का यही सिद्धान्त या दर्शन-शास्त्र है, जिससे आह्वान मिलने पर लोगों को लाभ पहुँचेगा।

राष्ट्र के नाम कांग्रेस कार्यसमिति ने अन्तिम संदेश वर्ष के अन्त में संक्षिप्त और जोरदार शब्दों में दिया था। यह संदेश वास्तव में राष्ट्र को कमर कस लेने और आगामी लड़ाई के लिए कटिबद्ध हो जाने का था। यह लड़ाई की तैयारी का आह्वान था। यही आह्वान स्वतंत्रता-दिवस मनाने के अनुरोध और उस दिवस की प्रतिज्ञा में शामिल कर लिया गया था, जो २६ जनवरी के दिन नये सिरे से पढ़ी जानी थी।

मौजूदा राजनैतिक संकट और देश को उस संघर्ष के लिए तैयार करने की नितान्त आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, जो हमारी मांगों के प्रति ब्रिटिश सरकार के रुख के कारण निकट भविष्य में ही हमें बाध्य होकर छेड़ देना पड़े—यह अनुभव किया गया कि १९४० की स्वाधीनता-प्रतिज्ञा इस तरह से निर्धारित की जाय कि जिससे इस तैयारी में, जो पहले से ही की जा रही थी, मदद मिल सके। इसलिए नीचे लिखा प्रस्ताव पास किया गया—

"कांग्रेस कार्यसमिति सब कांग्रेस कमेटियों, कांग्रेसजनों और मुल्क का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करती है कि २६ जनवरी १९४० को व्यवस्थित रूप से संजीदगी के साथ आजादी का दिन मनाने की आवश्यकता है। १९३० से ही यह दिन देशभर में बराबर मनाया जा रहा है और हमारी स्वाधीनता के संग्राम में इसका खास स्थान बन गया है। चूँकि इस समय भारत और संसार एक संकटपूर्ण घड़ी में से गुजर रहे हैं और हमारी आजादी की लड़ाई और भी तीव्र रूप में जारी रहने की सम्भावना है; इसलिए इस बार इस दिन के मनाने का एक खास महत्त्व है। इसके कारण उसे इस तरह मनाना चाहिए कि न सिर्फ राष्ट्र का आजादी लेने का संकल्प ही उससे ज़ाहिर हो, बल्कि लड़ाई की तैयारी और अनुशासन में रहकर काम करने की प्रतिज्ञा की भी घोषणा हो जाय।

इसलिए कार्यसमिति ने सब कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसजनों को हिदायत दी कि वे इसी काम के लिए आम सभाएं बुलावें और उनमें नीचे लिखी प्रतिज्ञा लें। जहां बीमारी या और किसी शारीरिक लाचारी के कारण लोग सभा में न जा सकें वहां वे अपने घर पर ही अलग-अलग या मिल-जुलकर यह प्रतिज्ञा लें। कार्यसमिति की सलाह थी कि संस्थाएँ और व्यक्ति जो सभाएँ करें और वैयक्तिक या सामूहिक रूप में जो लोग प्रतिज्ञाएँ लें, उनकी सूचना अपनी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को भेज दी जाय। समिति का विश्वास था कि इस प्रतिज्ञा में जो

बातें थीं, उन पर किसी की आस्था न हो तो वे महज़ दिखावे के लिए प्रतिज्ञा न लें। जिन कांग्रेसियों को तय किये हुए प्रतिज्ञापत्र पर विश्वास न हो, उन्हें अपने नाम पते के साथ कारणों सहित अपना विरोध प्रान्तीय-कांग्रेस-समिति को लिख भेजना चाहिए। यह सूचना उन लोगों के खिलाफ़ कोई ज़ाब्ते की कारवाई करने के लिए नहीं मांगी जा रही थी, बल्कि उसकी आवश्यकता यह जानने की खातिर थी कि प्रतिज्ञा की किसी बात पर विरोध कितना जोरदार था। कार्यसमिति किसी भी अनिच्छुक कांग्रेसी पर इस प्रतिज्ञा को लादना नहीं चाहती थी। अहिंसात्मक संस्था में जबरदस्ती की गुञ्जायश हो नहीं सकती, मगर सविनय-भंग जारी करने के लिए कुछ जरूरी शर्तों का अनुशासनात्मक ढंग से पूरा होना बेशक आवश्यक था।"

स्वतंत्रता दिवस की प्रतिज्ञा इस प्रकार थी—

"हमारा-विश्वास है कि संसार के दूसरे लोगों की भाँति भारतीय जनता का भी यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे आजादी मिले। वह अपनी मेहनत का फल भोगे और जीवन के लिए आवश्यक चीजें उसे इतनी मिलें, जिससे उसे अपने विकास की पूरी सुविधा हो जाय। हमारा विश्वास है कि कोई सरकार प्रजा के इन अधिकारों को छीने और उसे सताए तो प्रजा का भी यह हक हो जाता है कि वह उस सरकार को बदल दे या मिटा दे। हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सरकार ने भारतीय प्रजा से उसकी आजादी ही नहीं छीनी है, बल्कि जनता के शोषण पर अपनी बुनियाद रक्खी है और हिन्दुस्तान को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से तबाह कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि भारत को अंग्रेजों से नाता तोड़कर पूर्ण स्वराज्य हासिल करना ही चाहिए।

"हम जानते हैं कि आजादी हासिल करने का सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय हिंसा नहीं है। शान्तिपूर्ण और वैध साधनों के बल पर ही भारत ने बल और स्वावलंबन प्राप्त किया है और स्वराज्य का बहुत-सा रास्ता तय कर लिया है। इन्हीं तरीकों पर दृढ़ रहने से हमारा देश स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगा। सार्वजनिक सभाओं के लिए यह प्रतिज्ञा थी—

"हम भारत की स्वाधीनता का फिर नये सिरे से अहद करते हैं और पूरी गम्भीरता से शपथ लेकर निश्चय करते हैं कि जब तक पूर्ण स्वराज्य न प्राप्त हो जाएगा तब तक हम अहिंसात्मक तरीके पर अपनी आजादी की लड़ाई जारी रखेंगे।

"हमारा यकीन है कि आम तौर पर किसी भी अहिंसात्मक कारवाई के लिए और खासकर अहिंसात्मक सविनय-भंग जैसी सीधी लड़ाई के लिए खादी, कौमी एकता और अस्पृश्यता निवारण के रचनात्मक कार्यक्रम का सफलतापूर्वक संचालन आवश्यक है। हम जात-पांत या धर्म का भेदभाव छोड़कर अपने देशवासियों में सद्भाव फैलाने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने देंगे। जिन लोगों की आज तक किसी ने परवाह नहीं की, उनको अज्ञान और दरिद्रता से बाहर निकालने और जो लोग पिछड़े हुए और दबाए हुए समझे जाते हैं उनके हितों की सब प्रकार से रक्षा करने की भरसक चेष्टा करेंगे। हम जानते हैं कि यद्यपि हम साम्राज्यवादी प्रणाली का अन्त कर देने पर तुले हुए हैं तो भी हमारा अंग्रेजों से कोई झगड़ा नहीं है, चाहे वे सरकारी कर्मचारी हों अथवा ग़ैर-सरकारी व्यक्ति हों। हम जानते हैं कि सवर्ण हिन्दुओं और हरिजनों के बीच के भेदभाव को अवश्य मिटा देना चाहिए और हिन्दुओं को अपने प्रतिदिन के आचरण से इस भेदभाव को भूल जाना चाहिए। ऐसे भेदभाव अहिंसात्मक आचरण के मार्ग में बड़ी रुकावट हैं। हमारे धार्मिक विश्वास भले ही अलग-अलग हों तो भी आपसी व्यवहार में हम भारतमाता

की सन्तान की भाँति काम करेंगे, क्योंकि हम सबका एक ही राष्ट्र है और सबके राजनैतिक तथा आर्थिक हित समान हैं।

"भारत के सात लाख गांवों में फिर से नया जीवन डालने और आम जनता की कमरतोड़ गरीबी को मिटाने के लिए चर्खा और खादी हमारे रचनात्मक कार्यक्रम के अटूट अङ्ग हैं, इसलिए हम नियमपूर्वक चर्खा कातां करेंगे और अपनी निजी आवश्यकताओं के लिए केवल खादी का ही इस्तेमाल करेंगे और जहां तक हो सकेगा, गांव की हाथ की बनी हुई वस्तुएँ ही अपने काम में लाएँगे और दूसरों से भी ऐसा ही कराने का यत्न करेंगे।

"हम प्रतिज्ञा करते हैं कि कांग्रेस के सिद्धान्तों और नीतियों का कड़ाई के साथ पालन करेंगे और भारत की स्वतंत्रता के संग्राम के लिए जब कभी भी कांग्रेस हमें बुलावेगी, हम सदा उसकी आज्ञा का मानने के लिए तैयार रहेंगे।"

केन्द्रीय असेम्बली में शामिल होने के सवाल पर समिति ने फैसला किया कि जहां अपनी सीटों को कायम रखने के लिए उपस्थित होना ज़रूरी हो, वहां उपस्थित रहा जाय, अनुपस्थिति जारी रक्खी जाय।

हर बार जब कभी कांग्रेस की कार्यसमिति ने कोई घोषणा की और अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण किया तो उसके बाद या तो वाइसराय ने अथवा भारतमंत्री ने या दोनों ही ने कोई-न-कोई घोषणा की। परन्तु किसी भी हालत में सरकारी घोषणा कांग्रेस द्वारा समय-समय पर पास किये गये प्रस्तावों या वक्तव्यों में उठाए गए प्रश्नों का उत्तर नहीं होता था। ब्रिटिश सरकार के इन प्रतिनिधियों की यह आदत-सी बन गई थी कि वे एक ही राग अलापते रहते थे। यह राग कभी तो कर्णकटु और तीक्ष्ण होता और कभी उसमें से मधुर झंकार सुनाई देती। यह मानना पड़ेगा कि १० जनवरी १६४० को वाइसराय ने बम्बई के 'ओरियेण्ट क्लब' में जो भाषण दिया उसका स्वर अबतक के भाषणों की अपेक्षा कम कड़ा, कम तीक्ष्ण था। पिछले महीने की घटनाओं और उनके फलस्वरूप होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख करने के बाद वाइसराय ने यह विश्वास प्रकट किया कि प्रान्तीय स्वायत-शासन के संचालन में जो रुकावट या गतिरोध पैदा होगया है, वह अस्थायी होगा और जल्दी ही विधान का संचालन संभव हो सकेगा। केन्द्र में मंत्रियों का सहयोग प्राप्त न कर सकने, सामान्य सरकार के रूप में रियासतों का सहयोग न पाने, सुनिश्चित आधार पर सभी अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व हासिल न कर पाने और भारत की एकता को बनाए रखने में असमर्थता पर खेद प्रकट करने के बाद वाइसराय ने कहा कि "भारत में उनका उद्देश्य वेस्टमिंस्टर के कानून के तरीके का औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना है।" इस बीच इस बात के लिए तैयार हैं कि अगर बड़े-बड़े सम्प्रदायों के नेता मेलजोल के साथ काम करने की दृष्टि से ज़रूरी समझौता कर लें तो वह अपनी सदिच्छाओं को कार्यरूप में परिणत करने के लिए तत्काल गवर्नर-जनरल की शासन-परिषद् में कुछ राजनैतिक नेता शामिल करके उसे बढ़ाने को तैयार हैं। वाइसराय ने बताया कि किस प्रकार बहुत-से लोग हमारे सामने उपस्थित समस्याओं के बारे में बड़े महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी सुझावों के लिए जोर दे रहे हैं और आगे चलकर उन्होंने कहा कि किस तरह से इन सीधे-सादे सुझावों की गहरी छानबीन करने पर अप्रत्याशित कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है और कठिनाइयां भी ऐसी, जिनका महत्व पहले कभी आंका भी न गया हो। अनुभव से पता चलता है कि जल्दबाज़ी करने से अक्सर बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। वाइसराय महोदय ने एक बार फिर मुस्लिम और अछूत अल्पसंख्यकों,

का रोना रोया। उन्होंने कहा कि विभिन्न दलों के प्रति न्याय होना चाहिये और सम्राट् की सरकार ऐसा करने पर कटिबद्ध है। लेकिन उन्होंने विभिन्न दलों के मित्रों से अनुरोध किया कि वे यह विचार कर देखें कि क्या वे इकट्ठे नहीं हो सकते और आपस में कोई समझौता नहीं कर सकते। जहांतक उद्देश्य का सम्बन्ध है, उन्होंने आश्वासन दिया कि सम्राट् की और उनकी सरकारें वर्तमान परिस्थिति और औपनिवेशिक स्वराज्य मिलने की अवधि को कम-से-कम करने में कोई कसर नहीं उठा रखेंगी। वाइसराय के भाषण का अन्तिम पैरा न केवल आग्रहपूर्ण बल्कि करुणाजनक भी था। उन्होंने कहा, "प्रस्ताव आपके सामने हैं। राजनैतिक दलों और उनके नेताओं पर बहुत भारी जिम्मेदारी आ पड़ी है। उन्होंने भूतकाल में मेरी मदद की है और आज मैं उनसे फिर अपनी और भारत की सहायता करने की प्रार्थना करता हूं। यथा संभव जल्दी ही वर्तमान स्थिति को समाप्त करने के लिए उनके सहयोग और सहायता की अपेक्षा करता हूं। इस समय की स्थिति तो ऐसी है, जिसकी वैधानिक प्रगति में आस्था रखने वाले सभी व्यक्ति निन्दा करेंगे और जिससे प्रत्येक भारत-प्रेमी और भारत-हितैषी को बड़ी निराशा अनुभव होती है।

यह ज़ाहिर है कि मधुर और आकर्षक भाषा का प्रयोग करने पर भी वाइसराय के भाषण का भाव पहले जैसा ही कठोरतम था। उनके भाषण की मुख्य बातें थीं अल्पसंख्यक, मुस्लिम और परिगणित जातियां, सरकारी आश्वासन, विभिन्न दलों के बीच न्याय और आपसी समझौता, यहां तक कि इस राग की तर्ज भी वही पुरानी थी। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि ओरियण्ट-क्लब के भाषण के तुरन्त बाद ही वाइसराय ने एक भाषण बड़ौदा में दिया, जिसमें उन्होंने लोगों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया था कि जल्द-से-जल्द औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने का तरीका भारत-विधान की संघ-योजना थी, जो उस समय खटाई में पड़ी थी। उनका खयाल था कि यदि सभी सम्बद्ध वर्ग उसे स्वीकार कर लें तो उससे बहुत-सी समस्याएं आसानी से सुलझ जाएंगी। चुनांचे कांग्रेस के प्रधान ने १४ जनवरी के अपने उत्तर में यह बात स्पष्ट कह दी कि हमारा ध्येय वेस्टमिंस्टर के किस्म का औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं, विशुद्ध स्वाधीनता है और विभिन्न दलों के नेता देश की सारी आबादी के विश्वस्त प्रतिनिधि नहीं हैं और इन्हीं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कांग्रेस ने खूब सोच-विचार के बाद विधान परिषद् को इस समस्या का एकमात्र मार्ग बताया है। निश्चय ही यह कोई 'निकटतर मार्ग' नहीं है; क्योंकि इसके अन्तर्गत जिस कार्यप्रणाली पर अमल होगा और उसके बारे में जैसी कार्रवाई की जायगी, उससे तो यह मार्ग विशेष रूप से लम्बा हो जाएगा। इसके बाद वाइसराय ने ५ फरवरी को गांधीजी को मुलाकात के लिए दिल्ली बुलाया। वाइसराय तथा गांधीजी की यह चौथी मुलाकात थी। उनमें ढाई घण्टे तक खुलकर बातचीत हुई और इसका परिणाम गांधीजी तथा वाइसराय की सहमति निम्नलिखित विज्ञप्ति में सम्मिलित कर लिया गया —

"वाइसराय महोदय के निमंत्रण के जवाब में आज गांधीजी उनसे मिलने आए। बहुत देर तक दोनों में मित्रतापूर्ण बातचीत होती रही। इस बातचीत के दौरान में दोनों ने सारी स्थिति की विस्तार से समीक्षा की। गांधीजी ने बातचीत के शुरू में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि उन्हें कांग्रेस कार्यसमिति की ओर से कोई हिदायत नहीं मिली है और किसी तरह का कोई बन्धन अपने ऊपर लेने का उन्हें हक़ नहीं है। अपनी वैयक्तिक हैसियत से ही वे कुछ कह सकते हैं।

वाइसराय महोदय ने सम्राट् की सरकार के इरादों और प्रस्तावों पर कुछ विस्तार से

प्रकाश डाला। उन्होंने सबसे पहले इस बात पर जोर दिया कि उनकी यह दिली ख्वाहिश है कि भारत यथाशीघ्र औपनिवेशिक स्वराज का दर्जा हासिल कर ले और वे चाहते हैं कि इसकी प्राप्ति में वे यथाशक्ति भारत की मदद करें। उन्होंने इस बारे में कुछ ऐसे विषयों की पेचीदगियों और मुश्किलों की तरफ गांधीजी का ध्यान दिलाया, जिनपर विचार-विनिमय करना जरूरी था—खासकर औपनिवेशिक स्वराज्य में रक्षा का प्रश्न। उन्होंने यह बात साफ तौर से बताई कि सम्राट् की सरकार समय आने पर सभी दलों और हितों के सलाह-मशविरे से इस सारे ही विषय की जांच-पड़ताल करने के लिए उत्सुक है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सम्राट् की सरकार इस संक्रमण काल को यथासंभव कम-से-कम करना चाहती है।

वाइसराय महोदय ने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया कि जैसा कि हाल ही में उन्होंने बड़ोदा में कहा था कि संघ-योजना यद्यपि फिलहाल खटाई में पड़ी है, फिर भी वह जल्द-से-जल्द औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने का तरीका है और यदि सभी सम्बद्ध वर्ग इसे स्वीकार कर लें तो इससे बहुत-सी समस्याएँ आसानी से सुलझ जाएँगी, जिनका हमें मुकाबला करना पड़ रहा है।

वाइसराय ने बताया कि पिछले नवम्बर में उन्होंने जिस आधार पर और जिस तरीके पर गवर्नर-जनरल की शासन-परिषद् में विस्तार करने का प्रस्ताव रखा था—वह अब तक ज्यों-का-त्यों बना है और सम्राट् की सरकार उस पर तत्काल अमल करने को तैयार है।

यदि सम्बद्ध दलों की सलाह हो तो सम्राट् की सरकार संघ-योजना पर भी फिर से विचार करने को तैयार है, जिससे कि भारत को शीघ्र ही औपनिवेशिक स्वराज्य मिल सके और लड़ाई के बाद युद्धकाल की समस्याओं पर आसानी से समझौता हो सके।

गांधीजी ने इन प्रस्तावों को पेश करने की भावना को पसन्द किया; परन्तु उन्होंने कहा कि मेरी राय में इस समय इनसे कांग्रेस दल की पूर्ण मांग पूरी नहीं होती। उन्होंने प्रस्ताव पेश किया कि अच्छा यह होगा कि फिलहाल हम इस सम्बन्ध में और बातचीत स्थगित कर दें, जिससे कि उन कठिनाइयों को सुलझाने में मदद मिल सके, जो इस समय पैदा हो गई हैं। वाइसराय महोदय ने इसे स्वीकार कर लिया।"

ज्यों-ज्यों बातचीत आगे बढ़ी, इस समस्या पर बहुत गहराई से खोजबीन होने लगी। मानों सरकार और जनता साथ मिलकर एक कुआं खोद रहे थे और ज्यों-ज्यों उसकी तहें खुलती जाती थीं, उनमें से आशाओं के झरने प्रवाहित हो रहे थे, इन झरनों से मानों लोगों को जीवन प्राप्त होने और उनकी स्वतंत्रता की पिपासा तृप्त हो जाने वाली थी, लेकिन बात वास्तव में ऐसी थी नहीं। इस सहयोग के प्रयास में एक ऐसी अवस्था आ गई, जब गांधीजी ने उस गुप्त स्रोत और झरने की असलियत खोलकर वाइसराय के सामने रख दी। ६ फरवरी, १९४० के अपने एक वक्तव्य में गांधीजी ने बताया कि वाइसराय के प्रस्ताव का उद्देश्य भारत के भाग्य का अन्तिम निर्णय ब्रिटिश सरकार के हाथों में देना था, जबकि कांग्रेस का ध्येय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर अमल करने का था। स्वतंत्रता की वास्तविक कसौटी यही थी, दोनों विचारधाराओं में यही मुख्य भेद था। गांधीजी के विचार से इसे दूर किये बिना कोई शान्तिपूर्ण तथा सम्मानपूर्ण समझौता संभव नहीं था। एक बार ऐसा हो जाने पर राष्ट्र की रक्षा, अल्पसंख्यकों, नरेशों और यूरोपियनों के स्वार्थों के प्रश्न अपने आप सुलझ जाएंगे। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने कुछ बातें साफ तौर पर कहीं। संरक्षण का प्रश्न तो दोनों पक्षों पर निर्भर करता था, न्यायोचित अल्पसंख्यकों के पूर्ण

सन्तोष के बिना कोई स्थायी विधान नहीं तैयार हो सकता था। यदि उनमें कोई मतभेद हो तो उनका फैसला निष्पक्ष पंच से कराया जा सकता था। अल्पसंख्यकों को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करने की दृष्टि से जो भी वह फैसला करे उसे अन्तिम माना जाय। रक्षा के सम्बन्ध में यह कि शायद भारत बड़े पैमाने पर तैयारियां करना चाहेगा और यदि मिल सके तो वह ब्रिटेन की मदद चाहेगा। लेकिन व्यक्तिगत रूप से गांधीजी का इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं था; क्योंकि यदि वे भारत को अपने आदर्शों पर चला सके तो उन्हें डाकुओं आदि से रक्षा के लिए सिवाय थोड़ी-सी पुलिस के और कुछ नहीं चाहिए। निःशस्त्र और शान्तिप्रिय भारत तो सारे संसार की सद्भावना पर निर्भर करेगा। गांधीजी ने स्वीकार किया कि फिलहाल ऐसा होना महज़ कल्पित चीज़ है। जहां तक यूरोपियन हितों का सम्बन्ध है, वे उन्हें बड़े-बड़े जमींदार या पूंजीपति ही समझेंगे और उनके साथ भी इन दोनों जैसा ही सलूक किया जाएगा। मौजूदा ऐसे हितों के लिए जो न्यायोचित हैं और जिनसे राष्ट्र को नुकसान नहीं पहुंचता—उचित मुआवजे की व्यवस्था रहेगी और रहनी भी चाहिये। देशी नरेशों को राष्ट्रीय पंचायत में शामिल होने की आजादी रहेगी, जो भारत के भाग्य का निर्णय करेगी। देशी नरेश इसमें व्यक्तिगत हैसियत से नहीं, बल्कि अपनी प्रजा के उचित रूपसे निर्वाचित प्रतिनिधियों के रूप में शामिल होंगे। वे तो सिर्फ सम्राट् के सामन्त हैं और उन्हें स्वयं सम्राट् से अधिक हक नहीं मिल सकते और न ही उनकी स्थिति उससे अलग हो सकती है। अगर सम्राट् अपना हक और अधिकार छोड़ देता है तो स्वाभाविक तौर पर राजाओं को ताज के उत्तराधिकारी पर निर्भर रहना होगा, जो कि इस मामले में भारत की जनता है। गांधीजी उनकी तरफ से ब्रिटेन के साथ सम्मानपूर्वक समझौता करना चाहते थे। गांधीजी और वाइसराय ने इन सभी बातों पर मित्रों के रूप में विचार-विमर्श किया। लेकिन दोनों के दृष्टिकोणों में भारी अन्तर था। इतने पर भी उन दोनों ने बतौर दोस्तों के ही एक दूसरे से विदा ली। कांग्रेस का अगला अधिवेशन बिहार में रामगढ़ में होने वाला था। उसका समय बहुत निकट आ रहा था। एक पुरानी प्रथा के अनुसार—आगामी अधिवेशन से काफी समय पहले कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक बुलाई जाती रही है। चुनांचे इसके अनुसार इस बार भी २८ फरवरी १९४० को पटना में कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक हुई। कुछ लोगों के ख़याल के मुताबिक रामगढ़ कांग्रेस उस समय की युद्धकालीन चर्चाओं के दरमियान प्रायः एक महत्वपूर्ण घटना बन गई थी। लेकिन यह बात ऐसी नहीं थी। कांग्रेस ने बहुत-से विभाग खोल रखे थे, जैसे प्रचार, अल्पसंख्यक, हरिजन और चर्खा जिनके जरिये वह अपना पुनः संगठन कर रही थी। इन विभागों का उद्देश्य सत्याग्रह के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए देश को तैयार करना था, क्योंकि सभी का ख़याल था कि इस गतिरोध को खत्म करने का एकमात्र मार्ग सत्याग्रह ही था। गांधीजी अपने अहिंसात्मक सिद्धान्तों, और किस तरीके से उन्हें समूहिक और बड़े पैमाने पर कार्यान्वित करके देश को मुक्ति दिलाई जा सकती है, के बारे में बहुत कुछ लिख चुके थे।

लड़ाई छिड़ने के बाद से कांग्रेस कार्यसमिति की बहुत-सी बैठकें हो चुकी थीं, लेकिन रामगढ़ अधिवेशन से पहले पटना में जो बैठक हुई, शायद वह इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। सच तो यह था कि कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार दोनों ही अपनी-अपनी चालें चल रही थीं। यह जाहिर था कि लार्ड ज़ैटलैण्ड कांग्रेस पर महज़ एक आदर्शवादी संस्था होने का इलज़ाम लगा रहे थे। परन्तु वे 'स्वाधीनता' शब्द पर आपत्ति करते थे और भारत को ब्रिटिश साम्राज्य की बेड़ियों से जकड़े रखना चाहते थे। गांधीजी और भारत ने उनके वक्तव्य का यही अर्थ लगाया।

अंग्रेज़ खेल के मैदान में ईमानदार खिलाड़ियों की तरह नहीं बल्कि आँख-मिचौली का खेल खेल रहे थे। वे ईमानदारी से भारत का सवाल नहीं हल करना चाहते थे। वे समय टाल रहे थे। इससे उनका क्या उद्देश्य था, इसका कोई भी केवल अन्दाज़ा लगा सकता था और वह भी आसानी से। क्या उनका ख़याल था कि यूरोप की लड़ाई अचानक खत्म हो जाएगी? अगर ऐसा ही था तो स्वाभाविक तौर पर उनका खयाल यह होगा—"शान्ति के समय शायद कुछ उपनिवेश हमें छोड़ने पड़ें। तो फिर उनके साथ भारत को भी हाथ से क्यों गँवा बैठें? अगर लड़ाई के परिणामस्वरूप भारत इंगलैण्ड के हाथ से निकल गया तो यह ब्रिटेन के लिए विजय का लाभ ही क्या होगा! जो हो, भारत को समय व्यर्थ जाने पर खेद करने की ज़रूरत नहीं थी। कारण कि इस बीच नौजवानों की संघर्ष के लिए भूख में वृद्धि ही हुई। भारत गम्भीरतापूर्वक अपने भाग्य के बारे में सोचने लगा। इससे गांधीजी को सत्याग्रह के महत्व और कार्यक्षेत्र और किन परिस्थितियों में उसे सफलतापूर्वक चलाया जा सकेगा—इत्यादि बातों पर सोच-विचार करने का अवसर मिला। सब बातों को देखते हुए, उस समय कांग्रेस को गांधीजी की दिल्ली की निष्फल यात्राओं अथवा लड़ाई प्रारम्भ होने के बाद छः महीने गुजर जाने पर भी भारतीय राजनीति पर उसकी कोई जोरदार प्रतिक्रिया न होने से खेद प्रकट करने का कोई कारण नहीं था। दिन-प्रतिदिन भारतीय जनता यह अनुभव करने लगी थी कि भारत और ब्रिटेन के दरमियान संघर्ष होना लाज़िमी बात है। प्रति सप्ताह समस्याएँ स्पष्ट होती जा रही थीं। प्रान्तों में सलाहकार मंडलों ने कांग्रेस मंत्रिमंडलों की नीति को जारी रखने में पहले-पहल जो उदारता और अपने पूर्वाधिकारियों के आदर्शों के प्रति जो स्पष्ट सहानुभूति दिखाई, उससे लोगों ने समझा कि कांग्रेस जल्दी ही फिर पद संभाल लेगी। परन्तु बाद में उन्होंने अपनी नीति में जो परिवर्तन किया उसका आरम्भ में अपनाई गई नीति से कोई मेल नहीं था। पार्लामेण्ट द्वारा आर्डिनेन्स-राज की स्वीकृति, अतिरिक्त लाभ करके सम्बन्ध में जबर्दस्ती पास किये गए कानून, मदरास में कांग्रेस के उम्मीदवारों की परचियों के बक्सों के लिए पीले रंग की मनाही और दक्षिण भारत में कांग्रेस की शराब-बन्दी की नीति में परिवर्तन के बारे में निरन्तर जो अफ़वाहें फैल रही थीं, इन सबसे यही प्रकट होता था कि प्रगति का कदम आगे की बजाय पीछे बढ़ाया जाएगा। जनता इसको अपने हित में विरोध नहीं कर सकती थी। कहावत है न, कि बिल्ली की अनुपस्थिति में चूहे हुड़दंग मचाते ही हैं। परन्तु इस सारी उछल-कूद से भावी घटनाओं की दिशा का आभास अवश्य मिलता था। उनसे यह पता चलता था कि किस प्रकार दोनों पक्ष लड़ाई के अखाड़े में उतरने की अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे हैं। यह प्रत्यक्ष ही था, क्योंकि एक ओर ज्यों-ज्यों भारत में आत्मसम्मान की भावना दिन-प्रतिदिन ज़ोर पकड़ रही थी, ब्रिटेन न्याय और औचित्य को तिलांजलि देता जा रहा था। इसके अलावा भारत के धैर्य, उसकी सहिष्णुता, और परिस्थिति के गुण-दोष पर सोच-विचार से उसके विरोधी के अन्दर यह भावना प्रोत्साहित होती जा रही थी कि भारत कमज़ोर है और असमंजस में पड़ा हुआ है। परन्तु इंगलैण्ड को स्वयं पता चल जाएगा कि उसकी यह धारणा गलत थी क्योंकि अहिंसात्मक लड़ाई की चालें अहिंसात्मक लड़ाई की चालों से बिलकुल भिन्न होती हैं। अहिंसात्मक लड़ाई में धमकियों, व्यंगोक्ति, अन्तिम चुनौती और लड़ाई छिड़ जाने तक की नौबत आ जाती है। इसके विपरीत अहिंसात्मक लड़ाई में यद्यपि प्रगति धीमी रहती है, तथापि उचित और न्याय-संगत उद्देश्य के लिए लड़ी गई इस लड़ाई में विजय निश्चित रहती है।

गांधीजी के सामने मार्ग स्पष्ट था। अहिंसा के आधार पर रचनात्मक कार्यक्रम था

सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा में निहित बलिदान के लिए तैयारी करना। यही एक वजह थी कि कांग्रेस कार्यसमिति का आन्तरिक संघर्ष इस बात का द्योतक था कि एक ओर गांधीजी और दूसरी ओर उन लोगों में, जो सविनय अवज्ञा को जल्दी ही छेड़ देने के पक्षपाती थे, जोरदार संघर्ष चल रहा था। पटना में गांधीजी ने अनुभव किया कि अभी तक वातावरण आन्दोलन के प्रतिकूल बना हुआ है। उन्होंने देखा कि कांग्रेसजनों में इतना मतभेद और अनुशासन-हीनता है कि सविनय-अवज्ञा का परिणाम ठीक नहीं होगा। इसके विपरीत लोगों का कहना था कि अगर सिविल-नाफरमानी शुरू कर दी जाय तो ये सब मतभेद दूर हो जाएँगे। लेकिन गांधीजी कब मानने वाले थे इसके विपरीत उनका खयाल था कि ये विरोधी ताकतें, यद्यपि कांग्रेस के नेतृत्व में संग्राम में शामिल होने का वचन दे रही थीं, फिर भी वे भद्र अवज्ञा के मार्ग से विचलित हो जाएँगी। और यह एक वास्तविकता थी जो बाद के अनुभव से बिल्कुल ठीक निकली। क्योंकि साम्यवादी दल आन्दोलन के प्रारंभ, बल्कि उससे पहले ही से अपनी तरफ से अन्दर-ही-अन्दर प्रचार कर रहा था। वास्तव में देश में ऐसी शक्तियां उस समय मौजूद नहीं थीं, जिन्हें तुरन्त लड़ाई छेड़ देने पर भद्र अवज्ञा आन्दोलन के विस्तृत क्षेत्र में खपा लिया जाता। गांधीजी इन शक्तियों के तत्काल नियंत्रण में रखने में विश्वास रखते थे। आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ उन पर नियंत्रण रखने की बात में उनका विश्वास नहीं था। वे तो तत्काल जनता को एकत्र करके लड़ाई छेड़ देना चाहते थे; परन्तु उन्होंने अनुभव किया कि इस प्रकार का कदम उठाने के लिए जैसा अनुशासन आवश्यक है, वे पैदा नहीं कर सकते। यदि वर्तमान ही अनिश्चित है तो फिर संदिग्ध भविष्य पर कैसे भरोसा किया जा सकता है ? गांधीजी की विचारधारा ऐसी नहीं थी और इस तरह सोचना ही उनके मस्तिष्क के परे था। वे यह बात मानने को तैयार नहीं थे कि कोई नया वातावरण पैदा हो गया है अथवा कोई नया अनुभव प्राप्त हुआ है। उनका यह खयाल नहीं था कि कांग्रेस में जो विभिन्न विचारों के दल पैदा हो गये हैं और कांग्रेसजनों में जो मतभेद दिखाई देते हैं कांग्रेस की किसी असाधारण उन्नति का परिणाम नहीं है, बल्कि उसकी निष्क्रियता के कारण है। कांग्रेस में एक दल उन लोगों का था जिनका यह खयाल था कि 'सविनय-भंग-आन्दोलन छेड़ देने पर सब कुछ ठीक हो जाएगा' और एक दूसरा दल उन लोगों का था, जिन्हें सन्देह था कि 'अभी सब कुछ ठीक नहीं है और हमें कोई कदम नहीं उठाना चाहिए।' इन दोनों दलों के दरमियान एक दल और था, जिसका विचार था कि कांग्रेस को इस समय अपनी स्थिति स्पष्ट रूप से जनता के सामने रख देनी चाहिए और साफ-साफ कह देना चाहिए कि वह क्या करेगी। भद्र-अवज्ञा-आन्दोलन की बात को तो छोड़िए। क्या जनता अब तक इस दुविधा में नहीं थी कि हमें क्या करना चाहिए ? वह हमारे उद्देश्यों को अन्तिम रूप से जानना चाहेगी और इसलिए उस पर यह असर नहीं पड़ना चाहिए कि हम बार-बार अपना विचार बदलते जा रहे हैं। यह एक खतरनाक और कमजोर स्थिति होगी। जनता को साफ-साफ पता होना चाहिए कि अगर आसमान भी टूट पड़े तो हमारी स्थिति यह होगी; वरना जनता में असुरक्षा की भावना पैदा हो जाएगी जो स्वयं इस आन्दोलन के लिए घातक होगी। इस तरह की विचारधारा का मुख्य कारण यह था कि लोगों को सन्देह होने लगा था कि क्या आज से तीन महीने पहले देश की अधिक तैयारी नहीं थी और क्या वे उस स्थिति से पीछे नहीं हटते जा रहे हैं। "हो सकता है कि हम सविनय अवज्ञा आज प्रारम्भ न करें; हो सकता है कि इसे हम कल भी न करें; लेकिन हमें सन्देह की इस भावना को रोक-थाम करके कोई अन्तिम निर्णय अवश्य करना चाहिए। कोई भी

व्यक्ति यह नहीं जानता कि हम क्या चाहते हैं, चाहे वह स्वाधीनता हो अथवा विधान-परिषद्। उनका ख्याल था कि हम बढ़-चढ़कर बातें बना रहे हैं और किसी-न-किसी तरह उनसे मेल-मिलाप कर लेंगे। प्रश्न लार्ड लिनलिथगो की ईमानदारी और सच्चाई का नहीं था; क्योंकि हमें इसके बारे में तो कोई शक ही नहीं था कि वे निष्कपटता से काम ले रहे हैं, इसलिए नहीं कि वे उदार हैं, बल्कि इसलिए कि ऐसा करने में उनका अपना स्वार्थ है। प्रश्न तो वास्तव में हमारे अपने ही फैसले का था। इस तरह के तर्क के पीछे यह धारणा काम कर रही थी कि जब मन्त्रिमण्डल ने स्तीफे दिये तो वातावरण गर्म और जोशीला था। उस समय देश भर में बिजली की एक लहर-सी दौड़ गई थी और साधारणतः यह आशा की जाती थी कि हमारे देश में क्रान्ति फैलने वाली है, जैसा कि दूसरे देशों में भी हुआ है। यह क्रान्ति निःसन्देह हमारे अपने ही ढंग की होती। लेकिन चूँकि हुआ कुछ भी नहीं, इसलिए लोगों का जोश दब गया। स्थिति उत्तरोत्तर खराब होती गई और जनता में आमतौर पर थकान और उदासीनता की भावना पाई जाने लगी। यह समस्या केवल दो दृढ़ निश्चय वाले व्यक्तियों की मुलाकात से हल होने वाली नहीं थी। देश को धोखे में डाल देने वाली प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं, इसलिए कांग्रेस का कर्तव्य था कि वह इसके कारणों की छान-बीन करके या तो इस बुराई को कम कर दे या फिर उसे बिल्कुल ही खत्म कर दे। कांग्रेस को यह सोचना लाजमी था कि अगले दो-तीन या छः महीनों में उसे क्या करना है। लड़ाई के कारण यह संकटपूर्ण स्थिति पैदा हुई थी और अंग्रेज़ों का उद्देश्य यथासंभव अपने साम्राज्य का विस्तार करना था। हर हालत में उसे सुदृढ़ तो करना था ही। कांग्रेस नहीं चाहती थी कि इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें भारत की मदद मिले। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि वे भारत के साधनों से लाभ उठाने के लिए निरन्तर उस पर आक्रमण कर रहे थे और उसकी रोक-थाम होनी जरूरी थी। लेकिन सचाई दरअसल यह थी कि मंत्रिमंडलों के इस्तीफे देने के थोड़ी देर बाद ही हमारी वास्तविक शक्ति कम नहीं हुई, बल्कि वास्तव में उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो रही थी। हमारे रास्ते में सिर्फ एक बड़ी रुकावट साम्प्रदायिक प्रश्न की खड़ी कर दी गई थी, जिसका उद्देश्य कांग्रेस के रास्ते में रोड़े अटकाना था। लेकिन कांग्रेस ने धीरज से काम लिया और धीरे-धीरे यह कठिनाई भी दूर होने लगी। हिंसा की भावना और उसके समर्थक दल वास्तव में न तो स्वयं ही कुछ करना चाहते थे और न ही वे यह चाहते थे कि कांग्रेस स्वयं अपनी रूपरेखा के अनुसार कोई कार्रवाई करे।

रामगढ़ अधिवेशन के लिए कार्यक्रम तैयार करने के उद्देश्य से जब कांग्रेस कार्य-समिति की पटना में बैठक हुई तो उसकी पृष्ठ-भूमि में वास्तविक स्थिति कही थी। पिछले बीस बरस में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन का कार्यक्रम थोड़े से महत्वपूर्ण प्रस्तावों तक ही सीमित हो गया था, जिनकी संख्या बाद में दस या बारह तक ही रह गई थी। यह संख्या प्रारंभिक अधिवेशनों के मुकाबले में उचित ही थी; क्योंकि उन दिनों प्रस्तावों की संख्या दुगनी या तिगुनी हुआ करती थी। रामगढ़ अधिवेशन के लिए कांग्रेस कार्य-समिति ने पटना की बैठक में सिर्फ एक ही प्रस्ताव तैयार किया, जिसका सम्बन्ध भारत और युद्ध से था। वास्तव में इसमें कोई नई बात नहीं थी। यह बात नहीं थी कि ऊपर जिन कठिनाइयों और आशंकाओं का उल्लेख किया गया है वे कोई एकदम नई या ताजा थीं, बल्कि लड़ाई छिड़ने के बाद से कांग्रेस का यह पहला ही सालाना अधिवेशन हो रहा था और शायद पहला ही जो कि युद्धकाल में हो सकता था—यह सर्वथा एक उचित अवसर ही था। जब हम एक बार भी स्पष्ट रूप से भूत की समीक्षा करते, वर्तमान का पर्यवेक्षण और भविष्य का पूर्वाभास करते और वास्तव में रामगढ़ ने ऐसा ही किया भी।

: ८ :

रामगढ़ : १९४०

तेरह साल से कांग्रेस खतरे की घण्टी बजाती आ रही थी और अन्त में एक दिन वह खतरा मुंह-बाए सामने आ ही खड़ा हुआ। इस खतरे के कारण नागरिक जीवन का सर्वनाश आंखों के सामने नाचने लगा था। यह खतरा था विश्व-व्यापी युद्ध का। जब से सत्याग्रह के सिद्धान्त के अनुसार हमने अपने देश के भाग्य का निर्णय करने का बीड़ा उठाया था, उसके बाद से रामगढ़ में पहली बार कांग्रेस का अधिवेशन युद्ध की छाया में हो रहा था। कांग्रेस ने सभी प्रकार के युद्ध-प्रयत्न में भाग लेने के खिलाफ़ देश को चेतावनी देते हुए बहुत से प्रस्ताव पास किये थे और जब राष्ट्र का जनसमूह रामगढ़ में एकत्र हुआ तो इस भयंकर सर्वनाश और संहार के छः से भी अधिक महीने हमारी आँखों के सामने से गुजर चुके थे और हम यह सोचने में व्यस्त थे कि अपने अहिंसा के सिद्धान्त के अनुकूल ऐसा कौन-सा तरीका निकालें, जिसका सहारा लेकर भारत इस संकटकाल में अपने भाग्य का फैसला कर सके। भाग्य की विडम्बना देखिये कि उसके बाद से रामगढ़ का यह कांग्रेस-नगर इटली के युद्धबन्दियों के एक कैम्प के रूप में परिवर्तित हो गया! उसके बाद से बहुत समय बीत चुका था और रामगढ़ अधिवेशन का वातावरण उन पिछले अधिवेशनों की तुलना में, जो आए-साल होते थे, बिल्कुल ही भिन्न था। लड़ाई के नगाड़े प्रायः उस जंगल में भी सुनाई दे रहे थे, जहां रामगढ़ उसकी पहाड़ियां, घाटियां, तराइयां और उसके झरने बह रहे थे। रामगढ़ के अधिवेशन का प्रधान सदा की भांति नियमित रूप से चुना गया था। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि त्रिपुरी अधिवेशन के लिए वह 'सरकारी' उम्मीदवार होता, लेकिन त्रिपुरी से सम्बन्ध रखने वाले अध्याय में बताया जा चुका है कि किन परिस्थितियों में उन्होंने स्वयं अपनी मर्जी से अपना नाम वापस ले लिया। और यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि जब भी आगे कोई सबसे पहला मौका आता तो उनका नाम कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए सोचा जाता। इस प्रकार इन परिस्थितियों में रामगढ़ के अधिवेशन के प्रधान मौलाना अबुलकलाम आज़ाद हुए। रामगढ़ में मार्च १९४० में होने वाले कांग्रेस के ५३वें अधिवेशन के प्रधान के लिए सिर्फ मामूली-सा चुनाव हुआ। १५ फरवरी, १९४० को सभी प्रान्तों में प्रतिनिधियों ने प्रधान के निर्वाचन के लिए अपने-अपने वोट डाले और मौलाना आजाद, श्री एम० एन० राय के मुकाबले में १८६४ वोटों से कांग्रेस के प्रधान चुने गए। श्री राय को १८३ वोट मिले।

रामगढ़ का नाम मजहर नगर रखा गया था और सदा की भांति यहाँ भी सब उत्सव खूब धूम-धाम से मनाए जाने का आयोजन किया गया। खुले अधिवेशन को छोड़कर विषय-

निर्वाचन समिति, प्रदर्शनी, सार्वजनिक सभाएँ इत्यादि का सारा कार्यक्रम निर्विघ्न संपन्न हुआ। लेकिन खुले अधिवेशन का आयोजन इस पठार की एक सुरम्य तराई में किया गया। प्रकृति क्रुद्ध हो गई और उसने रौद्र रूप धारण कर लिया और सारे मैदान में घुटनों तक पानी चढ़ आया। इसका कारण यह था कि ठीक उसी समय, जब कि कांग्रेस का अधिवेशन होना था, जोर का तूफान आया और वर्षा होने लगी। कांग्रेस के महारथियों ने इसका बहादुरी से मुकाबला किया। यह सारा मैदान चूंकि चारों ओर से खुला हुआ था इसलिए किसी को सिर छिपाने के लिए भी स्थान न था। एक ही क्षण में अच्छी-से-अच्छी पोशाक पहिने हुए स्त्री-पुरुषों और गोद के बच्चों का समुदाय मानों झोंपड़ियों के एक गांव में परिवर्तित हो गया, क्योंकि उस समय अपने बचाव के लिए लोगों ने अपने नीचे से चटाइयां निकालकर अपने सिरों पर तान ली थीं—जो इन झोंपड़ियों की छतों का काम दे रही थीं। परन्तु तूफान इतने जोर का था कि प्रतिनिधि, दर्शक, चटाइयां और छाते, हजारों की संख्या में एक जलप्रवाह के रूप में बहने लगे। बच्चों का अंग-अंग भीग गया, वे अपने मां-बाप के सीने से चिपटे हुए थे। इसी प्रलय की घड़ी में स्वागत-समिति के प्रधान और अधिवेशन के प्रधान ने क्रमशः अपनी-अपनी कार्रवाइयां कीं। बेशक उनके अभिभाषण बिना पढ़े ही पढ़े हुए मान लिए गए। उस दिन का मुख्य प्रस्ताव पंडित जवाहरलाल ने पेश किया और उसे अगले दिन के लिए मुल्तवी कर दिया गया। अगले दिन कांग्रेस अधिक सौभाग्य-शालिनी रही और उसे अधिवेशन के लिए काफी समय मिल गया। अधिवेशन आसानी और धूमधाम से हो गया। अधिवेशन का आयोजन झण्डे वाले मैदान में किया गया था, जहां जमीन ऊँची और सूखी थी। कांग्रेस का यह ऐतिहासिक निर्णय, जिसका समर्थन गांधीजी ने अपने महत्त्वपूर्ण भाषण में किया था, लोगों ने झण्डे के नीचे बैठकर पूरी गंभीरता और संजीदगी से किया था। मजहर-नगर के सिंहद्वार के सामने ३० फुट ऊँचे एक स्तंभ पर यह झण्डा फहरा रहा था। इस स्तंभ का रंग भूरा और पीला था और इसके बनाने में अशोक-स्तंभ की नकल की गई थी।

रामगढ़ का अधिवेशन रामगढ़ के राजा के एक जंगल की देहाती बस्तियों में किया गया था। रामगढ़ के राजा बड़े देशभक्त और सरल प्रकृति के युवक हैं। उन्हें डींग मारने अथवा प्रदर्शन करने की आदत नहीं है। वह अत्यधिक उदार प्रकृति के व्यक्ति हैं और उत्साहशील इतने हैं कि अखिल-भारतीय कांग्रेस महासभा के सदस्यों की खूब आवोभगत की। यह सर्वथा उपयुक्त ही था कि श्रीयुत राजेन बाबू को दूर-दूर से इनके पहले कांग्रेस के प्रतिनिधियों के स्वागत के लिए चुना गया था और उनका अभिभाषण एक ऐसी गजब की चीज है, जिसे बार-बार सिर्फ इसलिए पढ़ा जा सकता है कि उसमें युक्तियों और विभिन्न घटनाओं का वर्णन बड़े ही बढ़िया तथा मोहक ढंग से किया गया है। रोमांस और धर्म तथा बुद्ध भगवान की जन्म-भूमि और उनकी राज्यभूमि के रूप में बिहार का प्रदेश राजेन बाबू की प्रतिभा और विद्वत्ता की कहानियों से भर उठा था और जिस किसी भी व्यक्ति को उधर से होकर गुजरने का मौका मिला, उसे सभी जगह राजेन बाबू की विलक्षण प्रतिभा का आभास मिला। अगर पाषाणों में धर्मोपदेश और बहते हुए झरनों में पुस्तकों की झलक केवल कवि की कोरी कल्पना नहीं है, बल्कि एक राजर्षि सन्त के तपस्वी जीवन की सच्ची बातें हैं तो यह सिर्फ बिहार ही है, जहां हमें ये बातें मिल सकेंगी और राजेन्द्र बाबू ने ऐसे ही एक धर्मोपदेश का वर्णन किया है, जिसे हम नीचे दे रहे हैं।

"कभी-कभी हम भूतकाल से शिक्षा लेकर बड़े प्रेरित और प्रभावित हो उठते हैं। यह

प्रकरण समाप्त करने से पहले मैं ऐसी ही एक घटना आपके सामने रखूंगा। किसी ज़माने में राजा अजातशत्रु दक्षिण बिहार में राज्य करते थे और उत्तर बिहार में वज्जियों का सुसमृद्ध प्रजातंत्र था। अजातशत्रु वज्जियों को जीतकर उनका प्रदेश अपने राज्य में सम्मिलित कर लेने के लिए बड़े उत्सुक थे। एक बार गौतम बुद्ध अजातशत्रु की राजधानी राजगिर (राजगृह) में आये और वे गिद्धकूट (गृद्धकूट) पर्वत पर ठहरे। अजातशत्रु ने अपने मंत्री बस्सकार को बुद्ध के पास यह जानने के लिए भेजा कि वज्जियों के विरुद्ध उसकी जो योजना और चाल है, उसके सम्बन्ध में उनकी क्या राय है। जब बुद्ध को अजातशत्रु के इरादों का पता चला तो उन्होंने अपने शिष्य आनन्द से सात प्रश्न किये और उनका उत्तर मिलने पर उन्होंने अजातशत्रु के प्रश्न का जवाब दे दिया। उन्होंने पूछा, "आनन्द ! क्या तुमने सुना है कि वज्जी लोग अपनी सभाएँ अक्सर बुलाते हैं और लोग उनमें काफी संख्या में शामिल होते हैं ?" आनन्द ने उत्तर दिया, "प्रभु ! तथागत ! मैंने सुना है कि वज्जियों की सभाएँ बहुधा होती हैं और उनमें लोग काफ़ी संख्या में भाग लेते हैं।" बुद्ध ने कहा, "तो हे आनन्द ! जब तक वज्जियों की सभाएँ बहुधा होती रहेंगी और उनमें लोग काफी संख्या में भाग लेते रहेंगे तब तक तुम यह आशा कर सकते हो कि केवल इनकी अभिवृद्धि ही होगी, विनाश नहीं।" उन्होंने इसी प्रकार के छः और प्रश्न किए और उनका संतोषजनक उत्तर मिलने पर कहा, "जब तक वज्जी एक जगह मिलकर बैठते रहेंगे, एक साथ मिलकर काम करते रहेंगे और अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन एक साथ मिलकर करते रहेंगे, जब तक वे कानून बनाए बिना कोई मनमाने आदेश नहीं जारी करेंगे और न अपने कानूनों का अतिक्रमण करेंगे, जब तक वे अपने बनाए नियमों के अनुसार सामूहिक रूप से कार्य करते रहेंगे, जब तक वे अपने बड़ों का आदर-सम्मान करेंगे, और उनकी मान्य राय को मानते रहेंगे, जब तक अपनी स्त्रियों के प्रति कठोर अथवा उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव नहीं करेंगे, जब तक वे अपने चैत्यों (धार्मिक और राष्ट्रीय मंदिरों) का आदर-सम्मान करते रहेंगे और धर्मार्थ प्रयोजन से दी गई उनकी संपत्ति उनसे नहीं छीनेंगे, जब तक वे अपने अर्हतों (आत्मत्यागी विद्वानों) की रक्षा करते रहेंगे और बाहर के अर्हतों को अपने देश में प्रवेश करने की आज्ञा देते रहेंगे, अपने राज्य के अर्हतों को आराम से जीवन व्यतीत करने देंगे, तब तक उनकी समृद्धि होती रहेगी, वे संपन्न होते रहेंगे और तुम्हें उनकी किसी प्रकार की भी क्षति की आशा नहीं करनी चाहिए।" जब अजातशत्रु ने यह सुना तो उसे विश्वास हो गया कि उसके लिए अपनी सेनाओं के बल पर वज्जियों को जीतना असंभव है। आज भी ये सातों नियम, जिनके ऊपर राष्ट्रों का उत्थान-पतन निर्भर रहता है और जो आज से २,५०० वर्ष पूर्व लागू किये गये थे—कितने सच्चे और शाश्वत हैं। राजगिर की पहाड़ियों में गिद्धकूट का यह पर्वत आज भी हमें उनका स्मरण दिला रहा है। किसी भी जीवित समाज में मतभेद का होना सर्वथा स्वाभाविक ही होता है। क्या आज हम कांग्रेस के बारे में यह कह सकते हैं कि हम एक साथ मिलकर बैठते हैं, एक साथ मिलकर बात करते हैं और एक साथ मिलकर अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य का पालन करते हैं ? क्या हम यह कह सकते हैं कि हम अपने ही बनाए हुए नियमों का उल्लंघन नहीं करते ? क्या हम अपने ही बनाए हुए नियमों के अनुसार सामूहिक रूप से कार्य करते हैं ? क्या हम विश्वास और निश्चय के साथ यह कह सकते हैं कि हम अपने बड़ों का आदर-सत्कार करते हैं, उनकी मान्य सलाह पर ध्यान देते हैं और उसे स्वीकार करते हैं ? वज्जियों की ताकत इन्हीं बुनियादी बातों पर निर्भर थी। यदि हम भी इन प्रश्नों का उत्तर 'हां' में दे सकें तो हमारी शक्ति भी बढ़ेगी। एक बार बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को

वज्जियों की सभाओं को दिखाते हुए कहा था, "तुम इस सभा को देखो। इससे तुम यह अनुमान लगा सकते हो कि देवताओं की सभा किस प्रकार की होगी।" क्या हमारे लिए इस प्रकार का संगठन करना और अपने इस राष्ट्रीय संगठन को इस प्रकार चलाना संभव नहीं है कि जिससे गांधीजी हम में अनुशासन की कमी और हिंसा की शिकायत करने की बजाय अपने आश्रम की कन्याओं को संबोधित करते हुए ऐसे ही उपदेश दें, जैसे कि भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को दिये थे?

राष्ट्रपति का भाषण उच्चकोटि का था। मौलाना साहब एक लब्धप्रतिष्ठ और प्रकाण्ड विद्वान् हैं, जिनकी शिक्षा-दीक्षा मिश्र के प्रख्यात अलअजहर विश्वविद्यालय में हुई है। वे अपने धर्मशास्त्र के ज्ञान और सांस्कृतिक ख्याति, भाषा पर अपने असाधारण अधिकार और शैली की स्पष्टता, अपनी गहन मेधावी शक्ति और उच्चकोटि की विवाद-पटुता, अपनी सूझ-बूझ और प्रत्युत्पन्नमति के गुणों के लिए भारत में अपना सानी नहीं रखते और धार्मिक नेता के रूप में इस्लामी दुनिया में उनका अद्वितीय स्थान है। जिस तरह उनकी ख्याति ने उन्हें अपने साथियों के बीच ऊपर उठा रखा है, उसी तरह उनकी सुन्दर आकृति, चमकते हुए चेहरे और शाश्वत मुस्कान ने उन्हें अपने साथियों का प्रियभाजन बना दिया है। एक समय वे हिंसावादी थे। १९१४–१८ के युद्ध में उन्हें अली-बन्धुओं के साथ १९१५ से लेकर दिसम्बर १९१९ तक चार बरस से कुछ अधिक समय के लिए नजरबन्द कर दिया गया था। असहयोग-आन्दोलन शुरू हो जाने पर वे पूरी तरह से राष्ट्रीय संग्राम में कूद पड़े और १९२१ में देशबन्धुदास के साथ जेल में रहे। १९२२ में गया अधिवेशन के बाद उन्होंने स्थितिपालकों और सुधार के समर्थकों में समझौता कराने की भरसक चेष्टा की और सितम्बर १९२३ में उन्हें अपनी संतुलित निर्णयशक्ति, अथक परिश्रम और उच्चकोटि की तथा विशुद्ध देशभक्ति के कारण दिल्ली के विशेष अधिवेशन का प्रधान चुना गया। सत्रह वर्ष के बाद देश का सौभाग्य था कि उसने भारतीय राजनीति के संकटकाल में उन्हें कांग्रेस की नौका खेने का फिर उत्तरदायित्व सौंपा गया और सारी दुनिया जानती है कि उन्होंने कितनी कुशलता से उसका संचालन करके उसे सुरक्षित जगह पर पहुँचा दिया। वे सदा से ही संघर्ष के पक्ष में रहे थे और जब उन्होंने देखा कि संघर्ष छेड़ देने का मौका उनके हाथ आया है तो उन्होंने रामगढ़-अधिवेशन का प्रधान पद स्वीकार करना अपना कर्तव्य समझा।

"आज हमारा काफिला एक बड़ी नाजुक घड़ी में से गुज़र रहा है। इस तरह की नाजुक घड़ी में कठिनाई यह रहती है कि उसमें परस्पर विरोधी संभावनाओं की आशंका बनी रहती है। बहुत संभव है कि यदि हम कोई ठीक कदम उठाएँ तो अपने उद्देश्य के बहुत निकट तक पहुँच जाएँ और दूसरी ओर यदि हम कोई गलत कदम उठा बैठें तो उससे हम नई कठिनाइयों और उलझनों में फँस सकते हैं।" ये शब्द मौलाना अबुलकलाम आजाद ने रामगढ़ में भारतीय कांग्रेस के ५३वें अधिवेशन के अध्यक्षपद से भाषण देते हुए कहे थे।

उनके भाषण के दो बुनियादी सवाल ये थे : ३ सितम्बर, १९३९ को युद्ध की घोषणा हो जाने के बाद से हमने जो कदम उठाया है वह हमें किधर ले जा रहा है? और अब हमारी स्थिति क्या है?

इस बात की पुनः घोषणा करते हुए कि भारत के लोग हृदय से उन लोगों के साथ हैं, जो प्रजातंत्र और स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं और इस प्रतिक्रिया की लहर का डटकर मुकाबला

कर रहे हैं—मौलाना आजाद ने कहा —

"भारत नाजीवाद और फासिस्टवाद को कभी सहन नहीं कर सकता, लेकिन वह ब्रिटिश साम्राज्य से भी बहुत ऊब चुका है। अगर भारत स्वतंत्रता के अपने नैसर्गिक अधिकार से वंचित रहा तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी परंपरागत विशेषताओं के साथ और इन परिस्थितियों में भी फलता-फूलता रहा। भारत किसी तरह से भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पनपने में हाथ नहीं बंटा सकता। यद्यपि इस मामले में साम्राज्य के देशों को फैसला करने की आजादी दी गई है, फिर भी भारत की ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में क्या स्थिति है ? आज भारत से कहा जा रहा है कि निकट परन्तु अज्ञात भविष्य में ब्रिटेन बड़ी उदारतापूर्वक उसे औपनिवेशिक स्वराज्य का बहुमूल्य उपहार भेंट करेगा। अब लड़ाई शुरू हुई—एक ऐसी लड़ाई जो शायद दुनिया की सबसे बड़ी लड़ाई थी—भारत को अचानक उसमें धकेल दिया गया और यहां तक कि उसे यह भी महसूस न हुआ कि वह इसमें शामिल हो रहा है। सिर्फ एक इसी बात से हम अन्दाजा लगा सकते हैं कि हवा का रुख किधर है ?"

मौलाना आजाद ने विस्तार से कांग्रेस की मांग, उस पर ब्रिटिश सरकार के जवाब और अब तक कांग्रेस द्वारा उठाए गए कदमों का ज़िक्र करते हुए कहा—

"वास्तविकता की कसौटी के पहले ही प्रहार से कल्पना का यह भवन चकनाचूर होकर नीचे गिर पड़ा। पिछले चार साल से संसार प्रजातंत्र और स्वाधीनता की आवाजों से गूँजता रहा, इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड और फ्रांस के जिम्मेदार प्रवक्ताओं की घोषणाएँ और वक्तव्य अभी तक हमारे दिमाग में इतने ताजा हैं कि उन्हें फिर से याद करने की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। लेकिन ज्योंही भारत ने यह सवाल उठाया, इन घोषणाओं और वक्तव्यों की वास्तविकता का रहस्य प्रकट हो गया और अब हमसे कहा जा रहा है कि निःसंदेह इस लड़ाई का मकसद राष्ट्रों की आजादी को महफ़ूज़ रखना है; लेकिन यह बात सिर्फ यूरोप की भौगोलिक सीमाओं तक लागू होती है। एशिया और अफ्रीका के बाशिन्दों को इस तरह की कोई उम्मीद रखने की हिम्मत नहीं होनी चाहिए।

इस बात पर जोर देते हुए कि यह सवाल सिर्फ ख्वाहिश या ब्रिटिश सरकार की ख्वाहिश के परिमाण का नहीं है, बल्कि यह तो एक सीधा और आसान-सा सवाल हिन्दुस्तान के हक का है मौलाना आजाद ने कहा, 'हमारी स्थिति बिल्कुल साफ है। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद को विजयी और मजबूत होता हुआ नहीं देखना चाहते और इस तरह अपनी गुलामी की अवधि को भी नहीं बढ़ाना चाहते। हम ऐसा करने से कतई इन्कार करते हैं और जाहिर करते हैं कि हमारा रास्ता बिल्कुल दूसरी ही दिशा में है।"

"१९३७ में हमने जो अस्थायी और आंशिक सहयोग का हाथ बढ़ाया था, उसे हमने युद्ध की घोषणा के बाद खींच लिया। स्पष्ट है कि हमारा इरादा असहयोग की दिशा में आगे क़दम बढ़ाना है। जिस स्थिति में हम आज हैं, हमें यह फैसला करना है कि हमें इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए या पीछे कदम लौटाना चाहिए ? लेकिन एक दफा क़दम उठा लेने पर उसे पीछे नहीं हटाया जा सकता। कदम रोकने का मतलब पीछे हटना है और हम पीछे हटने से इन्कार करते हैं। इसलिए हम सिर्फ आगे ही कदम बढ़ा सकते हैं। मुझे यक़ीन है कि जब मैं यह कहता हूं कि हमें आगे क़दम बढ़ाना चाहिए और हम आगे ही आगे चलेंगे तो आप सब मेरे साथ इसमें पूरी तरह से शरीक हैं।

"इन परिस्थितियों में क्या यह असंभव था कि इतिहास अपनी परंपरा के प्रतिकूल कोई नया पग उठाता ? क्या यह असंभव था कि संसार की दो बड़ी कौमें, जो घटनाचक्र के कारण एक दूसरे से शासक और शासित की हैसियत से बंधी हुई थीं, आपस में तर्क, न्याय और शान्ति पर आधारित कोई नया रिश्ता कायम करतीं ? अगर ऐसा मुमकिन होता तो विश्व-व्यापी युद्ध के कारण जो खेदजनक परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं, उनकी जगह नई उम्मीदें पैदा हो जातीं और तर्क तथा न्याय की नई व्यवस्था के फलस्वरूप एक नये प्रभात का उदय होता। अगर आज अंग्रेज दुनिया से अभिमान के साथ यह कह सकते कि उन्होंने इतिहास में एक ऐसी नई मिसाल कायम की है तो मानवता के लिए यह कितनी बड़ी और अद्वितीय विजय होती। निःसंदेह यह असंभव नहीं था, लेकिन यह एक बड़ी कठिन बात थी।

"मौजूदा स्थिति के इस अंधकार में, मानव प्रकृति के उज्ज्वल पहलू में दृढ़ विश्वास ही एक ऐसी चीज थी, जिस पर गांधीजी की महान् आत्मा आश्रित थी। आपसी समझौते के लिए यह खयाल किये बगैर कि उनकी अभेद्य स्थिति इससे कमजोर पड़ रही है, गांधीजी हरेक मौके से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं।"

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इस अधिवेशन का मुख्य प्रस्ताव पहले से ही पटना में तैयार कर लिया गया था, रामगढ़ की गतिविधि इतनी शान्त न थी जितनी कि आशा की जाती थी। लेकिन इस थोड़े से दरमियानी अरसे में भी विचारधारा बड़ी तेजी से प्रवाहित हो रही थी। श्री जिन्ना का दो राष्ट्रों का सिद्धांत उनके दिमाग में पनपने लगा था, जो अपने आपको पाकिस्तान की सूरत में प्रकट कर रहा था। साम्प्रदायिक झगड़े, जिनके पैदा हो जाने की आशंका सविनय भंग के कारण की जा रही थी, पहले ही शुरू हो चुके थे और सक्खर का दंगा अपने पूरे वेग से प्रारंभ हो चुका था, जिसमें ४०० आदमी मारे गए और हजारों घायल हुए थे। यह दंगा उस समय देश के इतिहास में पाशविकता, क्रूरता और रक्तपात में अपनी सानी नहीं रखता था। काश कि हमने ढाका की उन घटनाओं की पहले से ही कल्पना की होती, जो एक साल बाद अर्थात् मार्च १९४१ के मध्य में शुरू हुई थीं और जुलाई तक जारी रहीं। इसके अलावा उन घटनाओं की भी कल्पना की होती जो अहमदाबाद और बम्बई में जुलाई १९४१ तक समय-समय पर घटती रहीं और जो कानपुर, लखनऊ और बनारस में छोटे पैमाने पर देखने में आई। इन सभी घटनाओं का चित्र सक्खर के हत्याकांड की तुलना में कहीं अधिक भयानक और डरावना था। जहां तक लड़ाई के जमाने में सविनय भंग आन्दोलन प्रारंभ करने का प्रश्न था, रामगढ़ अधिवेशन के समय प्रादेशिक और जातिगत सिद्धांत के आधार पर देश के विभाजन की मांग और सांप्रदायिक कलह की समस्या ऐसी नहीं थी जिस पर शान्त चित्त से विचार किया जा सकता। जब कि समस्याएं ऐसी थीं तो घटनाओं के सिंहावलोकन से भी कोई आश्वासन नहीं मिल सकता था। गांधीजी को तो सभी ओर अनुशासन-हीनता ही दिखाई दे रही थी। कांग्रेस के चुनावों में, स्थानीय संस्थाओं—म्युनिसिपैलिटियों—आदि के मामलों में, और आम तौर पर सार्वजनिक जीवन में और इतना ही नहीं, राजकोट के मामले में भी उन्हें छल-कपट और धोखा दिखाई दे रहा था, जिससे मजबूर होकर उन्होंने आंदोलन को बन्द कर दिया। उन्होंने बताया कि किस तरह से लोग एक ओर से सत्याग्रही होने का बहाना बना रहे थे और दूसरी ओर चुपके-चुपके, छिप-छिपा कर ठाकुर साहब से मिलते-जुलते और उनकी खुशामद करते थे। उन्होंने निःसंदेह यह बात मानी कि अगर २० साल तक सत्य और अहिंसा के सिद्धांत पर आचरण करने के रिणाहीदकनाय मि भहै ब्रीब पत

इसमें निश्चय ही आम लोगों की अपेक्षा नेताओं की कमजोरी अधिक है। लेकिन जितनी ही गांधीजी ने इस बेईमानी को दूर करने की कोशिश की उतनी ही उनकी यह चेष्टा महज़ शाब्दिक होकर रह गई। उन्होंने यह बात छिपाई नहीं कि देहाती लोग आन्दोलन में सैकड़ों की संख्या में भाग ले रहे हैं, लेकिन यदि उनमें भी बेईमानी या सच्चाई की कमी दिखाई दी तो उस हालत में एक ही तरीका था अर्थात् थोड़े से आदमियों को चुनकर लड़ाई लड़ी जाय। इस तरीके से गांधीजी समस्या को हल करने की बात सोच रहे थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपनी मांग कड़ी कर दी थी और वे उसमें कोई त्रुटि नहीं आने देना चाहते थे। कभी-कभी गांधीजी सोचते कि उन्हें मैदान में से हट कर स्वयं एक ओर बैठ जाना चाहिए और दूसरे को आगे बढ़ने देना चाहिए। जब तक वे जीवित और क्रियाशील थे, क्या जनता इन परिस्थितियों में काम कर सकती थी? लोग निराश होकर तथा विश्वास की कमी के कारण यह कह सकते थे कि उन्हें एक नये नेतृत्व की जरूरत थी। लेकिन गांधीजी के सहयोगी उन्हें अकेला नहीं छोड़ सकते थे, हालांकि उस समय एक पक्ष की यह राय भी थी कि सविनय भंग ही हमारा एकमात्र उपाय नहीं होना चाहिए और अगर कांग्रेस यह महसूस करती है कि उसकी ताकत उतनी नहीं है तो उसे अपनी तात्कालिक मांग भी अपनी शक्ति के अनुकूल ही रखनी चाहिए। परन्तु यह एक ऐसा दृष्टिकोण था जिसका समर्थन करने वाला दूसरा कोई नहीं था और गांधीजी पर इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि वे यह कहने लगे कि अगर आम राय यह हो कि सारे हिन्दुस्तान के लोग थक गए हैं तो वे अपना परीक्षण अकेले गुजरात में ही करना चाहेंगे, क्योंकि वहां उन्हें पूर्ण सहयोग मिलने की आशा थी। उनकी मुख्य कठिनाई थी संगठन। "मैं इस तरह के संगठन के बल पर कैसे लड़ सकूंगा?" यही एक विचार था जिस पर वे अपने आत्मनिरीक्षण के समय सोचते थे और विचार-विनिमय में बराबर इसी पर चर्चा करते थे। संगठन की ऐसी हालत देखते हुए उन्होंने अनुभव किया कि वे कांग्रेस-जनों से कह दें कि उन्हें बड़ा खतरा नजर आ रहा है और इस तरह के संगठन के बल पर किसी भी प्रकार की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। तो क्या फिर उन्हें कांग्रेस के नाम के बिना ही अकेले जूझ पड़ना चाहिए, जैसा कि उन्होंने चम्पारन और अहमदाबाद में किया था? उनके सहयोगी जैसे राजेन्द्र बाबू तथा ब्रजकिशोर बाबू की स्थिति तो नगण्य थी। गांधीजी ने गंभीरता-पूर्वक अध्ययन किया कि वे इस नेतृत्व से अलहदा हो जाने का प्रस्ताव करें। यह निश्चय ही एक नई बात थी; क्योंकि पटना में उनकी विचारधारा इस प्रकार की नहीं थी। क्या यह उन पत्रों का परिणाम था, जो उनके पास पहुँच रहे थे और जिनमें यह कहा गया था कि वे सुभाष बाबू के डर से कोई कार्रवाई करने को मजबूर हो रहे हैं? यह सच है कि जब एक ओर से किसी बात का खंडन कर दिया जाता है तो मनुष्य की प्रकृति यह होती है कि वह चिढ़कर दूसरी ओर बातें उठा लेता है। क्या गांधीजी भी इसी सिद्धांत पर चल रहे थे? यह पहला मौका नहीं था जब उन पर डर जाने का इलज़ाम लगाया गया था। एक समय था जब उन पर लाला लाजपतराय ने डर का दोषारोपण किया था। वास्तव में वजह एक और ही थी, जिसके कारण गांधीजी ने ऐसा रुख इख्तियार किया था। लोग अधीर होते जा रहे थे और उनका ख्याल था कि वे उन्हें (गांधीजी) कोई कार्रवाई करने पर विवश नहीं कर सकते थे। यही कारण था कि उन्होंने प्रस्ताव रखा कि उनके सहयोगी रामगढ़ के लिए प्रस्ताव का एक ऐसा मसविदा तैयार करें जो बिलकुल नया हो। यह ठीक है कि यदि ऐसा हुआ तो उनकी स्थिति पटना से बिलकुल भिन्न होगी, क्योंकि वहाँ उन्होंने जनता से जल्दी ही तैयार रहने को कहा था। क्या अब वे देश को इस रास्ते से विचलित

नहीं कर रहे थे ? स्थिति को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं। लोग गांधीजी से पूछ रहे थे, "आप आन्दोलन कब करेंगे ?" और गांधीजी इसके जवाब में उनसे कह रहे थे, "जब तुम तैयार हो जाओगे।" गांधीजी अपनी पटना वाली स्थिति से पीछे नहीं हटे थे। अगर कोई व्यक्ति यह कहता कि चूंकि देश की शक्ति काफी नहीं है, इसलिए हमें अपनी मांग कम कर देनी चाहिए तो गांधीजी की ओर से उसका तात्कालिक और जोरदार जवाब होता—"नहीं"। इस तरह के जवाब से कुछ समय के लिए लोग भले ही यह सोचने लगते कि वे न तो आगे बढ़ेंगे और न पीछे हटेंगे। लेकिन गांधीजी को इसमें कोई कठिनाई नहीं दिखाई देती थी, क्योंकि संग्राम की आवश्यकता अथवा मांग करने के बारे में उनकी दो रायें नहीं थीं। यदि मांग में कोई परिवर्तन न भी किया जाता तो भी संग्राम अनिवार्य था। लेकिन उन्हें तो देश को तैयार करना था और साथ ही सरकार को भी। सरकार का प्रस्ताव न केवल स्वाधीनता के लक्ष्य से बहुत दूर था, बल्कि उसमें औपनिवेशिक स्वराज्य भी नहीं था। वास्तविकता यह थी कि कांग्रेस की स्थिति बचाव की थी। सवाल आक्रमण की तैयारी करने का नहीं था। आक्रमण के लिए आवश्यकता थी तैयारी की, जिसका अर्थ ट्रेनिंग और अनुशासन तथा गांधीजी का नेतृत्व था। एक बार अपने आपको सत्याग्रह की कला का विशारद घोषित कर देने पर वे मैदान छोड़ कर भागने वाले नहीं थे। इसके अलावा, रामगढ़ से सिर्फ चार महीने पहले एक प्रस्ताव पेश किया गया था, जो प्रायः स्वीकार कर लिया गया था। इसमें सब कुछ गांधीजी पर छोड़ देने को कहा गया था। लेकिन वे तो वास्तव में नेता थे, कानून की हैसियत से नहीं। गांधीजी सिर्फ यह चाहते थे कि लोगों के अन्दर से यह धारणा दूर हो जाय कि वे शीघ्र ही आन्दोलन शुरू करने वाले हैं, क्योंकि वातावरण इसके अनुकूल न था, न उनके पास पर्याप्त सामग्री ही थी। यहां तक कि इस काम के लिए उनके पास आदमी भी नहीं थे। अन्त में रामगढ़ में पटना वाला प्रस्ताव ही पास हुआ। जब गांधीजी यह कह कर अपना पीछा छुड़ा रहे थे कि उन्हें अकेले छोड़ दिया जाय तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि मौलाना साहब उनसे यह सवाल करते कि क्या गांधीजी के लिए ऐसा करना उचित एवं न्यायसंगत है कि उन्हें (मौलाना) प्रधानपद पर प्रतिष्ठित करके स्वयं कांग्रेस से हट जायं ?

कांग्रेस इसे भारत का अपमान समझती थी कि लड़ाई के बारे में देश की जनता की राय लिए बगैर उसे युद्धरत देश घोषित कर दिया गया और वह भी एक ऐसी लड़ाई में जो बुनियादी तौर पर साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए लड़ी जा रही थी ! कांग्रेस किसी भी हालत में इस प्रकार की लड़ाई में शरीक नहीं हो सकती थी और इसीलिए उसने ब्रिटेन के लिए भारतीय सैनिकों को लड़ने पर मजबूर करने का विरोध किया। उसने इस बात का भी विरोध किया कि इस उद्देश्य के लिए भारत की जनता और उसके साधनों का शोषण किया जाय। इस विचार का समर्थन 'स्टेट्समैन' के भूतपूर्व संपादक श्री एस० के० रैचक्री जैसे अनुभवी राजनीतिज्ञ ने भी किया। उन्होंने 'कैथोलिक वर्ल्ड' नामक पत्र में निम्नलिखित लेख लिखा—

"भारतीय समस्या की सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि यदि लार्ड लिनलिथगो भारतीय धारासभाओं की सलाह लिये बिना ही भारत को एक युद्धरत देश घोषित करने की प्रारंभिक गलती न करते तो १६४० की बहुतसी दुखद घटनाओं की, जिनमें कांग्रेस दल के बहुत से प्रमुख सदस्यों की गिरफ्तारी भी शामिल है, बिना किसी कठिनाई के रोकथाम हो सकती थी।

"इस कदम को पीछे हटाना आसान नहीं था; लेकिन यह सवाल किये बिना नहीं रहा जाता कि यदि स्वायत्त शासन वाले प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों को इस्तीफे देने से रोक दिया

जाता तो क्या १९४० की कठिन परिस्थितियों में दोनों पक्षों के लिए फिर से स्थिति पर काबू पाना आसान न हो जाता ? ऐसी परिस्थितियों में जिम्मेवारी को छोड़ देने से तो समझौते और सहयोग का मार्ग प्रायः असंभव ही हो जाता है। गांधीजी के हस्तक्षेप से भी कठिनाई बढ़ गई; क्योंकि उन्होंने व्यक्तिगत सविनयभंग को फिर से शुरू करने की सलाह अथवा उसकी स्वीकृति दी और यह स्थिति परस्पर-विरोधी प्रतीत होती है।"

एक बार पुन. कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के अपने लक्ष्य की मान-मर्यादा कायम रखी और यह घोषणा की कि साम्राज्यवादी ढांचे के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य अथवा इसी किस्म का कोई और स्वराज्य भारत के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है; क्योंकि उससे भारत कई तरह से ब्रिटेन की नीतियों और उसकी आर्थिक व्यवस्था से बंध जाएगा। अब तो विधान-परिषद् के जरिये आत्मनिर्णय का सिद्धान्त ही एकमात्र उपाय है। केवल उसी के द्वारा सांप्रदायिक एकता प्राप्त हो सकेगी और उसी से भारत के सहयोग का आधार स्वतंत्रता, प्रजातंत्र और कौमी एकता हो सकेगी। इस योजना में देशीराज्यों की प्रजा भी रहेगी, क्योंकि भारत में सत्ता जनता में निहित है—चाहे वह जनता देशीराज्यों की हो अथवा प्रान्तों की। राजाओं विदेशी निहित स्वार्थों को भारतीय स्वाधीनता के मार्ग में रुकावट नहीं डालने दी जाएगी। प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों से इस्तीफे दिलाकर भारत को युद्ध से पृथक् रखने का जो प्रयास किया गया वह तो इस दिशा में सिर्फ एक प्रारंभिक कदम था और उसके बाद उचित समय पर सविनयभंग आन्दोलन अवश्य शुरू किया जायगा। जब गांधीजी को संतोष हो जाएगा कि लोग अनुशासन का पालन करने लगे हैं और रचनात्मक कार्यक्रम उचित रूप से चल रहा है तो वे सत्याग्रह प्रारंभ करने की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर ले लेंगे।

विषय-निर्वाचन समिति में और खुले अधिवेशन में दिये गए गांधीजी के भाषण और उसके एक सप्ताह बाद उनकी ओर से देश को दी गई चेतावनी एक ऐसा स्थायी साहित्य है, जो हमारे युग के इतिहास की प्रगति का एक आवश्यक अंग बन गया है।

"जब से मैं बम्बई में कांग्रेस से बाहर हुआ तभी से मुझ में और कार्यसमिति में यह समझौता रहा है कि मुझे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति अथवा विषय-निर्वाचिनी समिति में बोलने को बाध्य नहीं किया जाएगा और मुझमें जो थोड़ीसी शक्ति है उसी से मुझे अपने तौर पर देश की सेवा करने का मौका दिया जायगा। मैं आम तौर पर कार्यसमिति की बैठकों में हाजिर रहता हूँ। इस अवसर पर मैंने खुद सुझाया कि मैं विषय-निर्वाचिनी समिति से और प्रतिनिधियों से भी कुछ कहूँ। कार्यसमिति ने यह मंजूर कर लिया। मैं तो चाहता था कि प्रस्ताव पास होने से पहले ही आप लोगों के सामने बोलता। मगर समिति ने राय दी कि प्रस्ताव के निपटने के बाद ही बोलूँ।

"मैं आप लोगों से मुलाकात करने और आपसे अपना परिचय ताजा करने आया हूँ और आपको इस बात का मौका भी देना चाहता हूँ कि आप देखें कि आया बम्बई में कांग्रेस से हट जाने के बाद से मुझ में कोई परिवर्तन हुआ है क्या! पूरे पचास साल से मैं सार्वजनिक जीवन में भाग लेता रहा हूँ। मैंने कई संस्थाएँ खड़ी कीं और हजारों-लाखों मनुष्यों से मैं मिला। इसके अलावा मेरा आप लोगों से पत्र-व्यवहार द्वारा भी संपर्क रहा है। इस कारण आपसे जान-पहचान रखना मेरे लिए मुश्किल नहीं होना चाहिए।

"लेकिन आपसे मिलने की इच्छा तो इसलिए थी कि मैं आपसे सीधा सम्पर्क कायम करना

चाहता था और यह जानना चाहता था कि मेरी और आपकी एक दूसरे के संबंध में क्या स्थिति है। मैं देखता हूँ कि आप लोगों ने वाद-विवाद की कला में खासी प्रगति की है। मैं इसके लिए आपको बधाई देता हूँ, क्योंकि लोकतंत्री संस्था को समझाने-बुझाने की शक्ति रखने और ऊँचे दर्जे की चर्चा करने वाले लोगों की जरूरत होती ही है। मैं यह भी देखता हूँ कि जो संशोधन आप लोग पेश करते हैं, उनकी संख्या भी बढ़ गई है। यह भी अच्छी बात है, क्योंकि हम नये-नये विचार चाहते हैं। यह अच्छी ही बात है कि विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण जनता के सामने रक्खे जाँय, जिससे कि यदि कोई बात आज नहीं मानी जा सकी तो उसे कल मान लिया जाय।

"आपने प्रस्ताव प्रायः सर्वसम्मति से पास किया है; क्योंकि विरोध में सिर्फ सात या आठ आदमी ही थे। उन्हें ऐसा करने का पूरा-पूरा हक था। इससे मेरी जिम्मेदारी बढ़ गई है; क्योंकि वाद-विवाद के समय मैं स्वयं मौजूद रहा। मैं चाहता तो राय लिये जाने से पहले आपको चेतावनी दे देता, लेकिन मैंने कार्य-समिति की यह बात मान ली कि प्रस्ताव पास होने से पहले न बोलूँ।

"बहस के दौरान में आपस में से कुछ लोगों ने जो बातें कहीं हैं उनका मैं उत्तर देना नहीं चाहता। लेकिन मैं यह ज़रूर कहना चाहता हूँ कि भले ही मेरे जीवन में ऐसा समय आया है जब मैंने अपनी कुछ शर्तें पूरी न होने पर भी आन्दोलन छेड़ दिये हैं, पर अब मैं बड़ी सख़्ती से काम लूँगा। इसलिए नहीं कि सख्ती मुझे पसन्द है, बल्कि इसलिए कि एक सेनापति को जिसे अपनी फ़ौज की रहनुमाई करनी है पहले से ही सेना को अपनी शर्तें बता देनी चाहिएं।

"इस बार मैं देखता हूं कि पहले की अपेक्षा आज हम लोग चारों ओर से कठिनाइयों से कहीं ज्यादा घिरे हुए हैं। कठिनाइयाँ भीतरी और बाहरी दोनों तरह की हैं। हमने आम तौर पर घोषणा कर दी है कि हम क्या चाहते हैं। हमने इसे इतना साफ कह दिया है कि अब और स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। ब्रिटिश सरकार ने भी अपने इरादों का यथासंभव साफ़ ऐलान कर दिया और फिर यह बात भी तो है कि ब्रिटिश सरकार विश्वव्यापी युद्ध में फंसी हुई है और अगर हम भी उससे लड़ाई ठान लें तो स्वाभाविक है कि हम काफी कष्ट मोल ले लेंगे। यह हमारी पहली कठिनाई है; लेकिन मुझे जो चीज भयभीत कर रही है—वह है हमारी भीतरी कठिनाई। मैंने अक्सर कहा है कि अगर आन्दोलन ठीक आधार पर चले तो बाहरी मुश्किलों से सत्याग्रही को कभी डरने की जरूरत नहीं है।

"हमारी भीतरी कठिनाई यह है कि हमारी कांग्रेस के रजिस्टर ऐसे सदस्यों से भरे पड़े हैं जो यह जानकर बड़ी संख्या में भरती हो गए हैं कि कांग्रेस में घुसने का अर्थ सत्ता हासिल करना है। इस कारण जो पहले कांग्रेस में शामिल होने का कभी विचार भी नहीं करते थे वे भी अब उसमें आगए हैं और उसे नुकसान पहुंचा रहे हैं, इसलिए कि शायद वे स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर इसमें आए हैं। जो लोग स्वार्थ की भावना से भी आते हैं तो लोकवादी संस्था में उन्हें आने से कैसे रोका जा सकता है? और जब तक हमारा संगठन इतना मजबूत नहीं हो जाता कि सकल लोकमत के दबाव से ही ऐसे लोग बाहर रहने पर मजबूर हो जायं, तब तक हम उन्हें कांग्रेस में आने से नहीं रोक सकते।

"और जब तक प्रारंभिक सदस्यों के साथ हमारा संपर्क सिर्फ वोट की खातिर ही रहेगा तब तक बुद्धि और बल भी नहीं आ सकता। कांग्रेस में कोई अनुशासन नहीं है। लोग दलों में बँटे हुए हैं और उनमें लड़ाई झगड़े हैं। स्वयं अपने भीतरी संगठन के बारे में हमें अहिंसा रखने

की आवश्यकता नहीं मालूम होती। मैं जहां कहीं भी जाता हूँ मुझे यही शिकायत सुनाई देती है। प्रजातंत्र तो मेरी कल्पना में ऐसे दलों का निर्माण नहीं है, जो आपस में इस हद तक लड़ते-झगड़ते रहें कि उससे संगठन ही नष्ट हो जाय। और फिर हमारी संस्था तो लोकवादी और लड़ाकू दोनों ही है। हमारी लड़ाई अभी खत्म नहीं हुई है। जब हम एक सेना के रूप में आगे बढ़ते हैं तो हम लोकवादी नहीं रहते। बतौर सिपाही के तब हमें सेनापति से आदेश लेना पड़ता है और उसे बिना किसी हिचकिचाहट के मानना पड़ता है। सेना में तो जो कुछ सेनापति कहे, वही क़ानून होता है। मैं आपका सेनापति हूँ। इसका यह मतलब नहीं कि मैं आपको अपनी भावनाओं के बारे में अन्धकार में रखूं। लेकिन मुझे अपने जैसे कमजोर सेनापति की मिसाल इतिहास में नहीं मिलती। मेरे पास कोई अधिकार नहीं है। मेरा एकमात्र बल आपका प्रेम है। एक प्रकार से यह बड़ी भारी चीज़ है; लेकिन दूसरी प्रकार से वह निरर्थक भी है। मैं कह सकता हूँ कि मेरे दिल में सब के लिए प्रेम है। शायद आप भी ऐसा ही करते हों, लेकिन आपका प्रेम क्रियात्मक होना चाहिए। आपको आजादी की प्रतिज्ञा में बताई गई शर्तों को पूरा करना चाहिए। मैं आपको यह बता देना चाहता हूं कि अगर आप उन शर्तों को पूरा नहीं कर सकते तो मेरे लिए आन्दोलन शुरू करना संभव न होगा। आपको कोई और सेनापति तलाश करना होगा। आप मुझे मेरी मर्जी के खिलाफ अपना नेतृत्व करने के लिए मजबूर नहीं कर सकते। जब आपने मुझे अपना सेनापति बनाया है तो आपको मेरे आदेश का पालन करना ही होगा। इसमें कोई तर्क नहीं चल सकता। चूंकि मेरी एकमात्र ताकत प्रेम है इसलिए आपसे आग्रह करता हूं कि आप धैर्य रक्खें। प्रेम के साथ धैर्य का होना अनिवार्य है। मैंने अपने मित्रों को चर्खे के सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करते सुना है। मुझे मालूम है कि आप सब जेल जाने को तैयार हैं; लेकिन इसके लिए पहले आपको अपना हक़ और योग्यता हासिल करनी होगी और जेल जाने की कीमत चुकानी होगी। आपको मुजरिम के तौर पर तो जेल नहीं जाना है।

"चरखे और खादी की शर्तें तो मैंने १६२० से ही लगा रखी हैं। हमारा कार्यक्रम और नीति इन वर्षों में बराबर वही रही है। हो सकता है कि आप तब से अब तक ज्यादा समझदार हो गए हों, लेकिन मैं तुम्हें बताता हूँ कि मैं तो अहिंसा के बारे में जितना अधिक सोचता हूँ, मुझे उसमें उतने ही अधिक गुण दिखाई देते हैं।

"मैं १६१८ से ही बागी हूँ। लेकिन उससे पहले मैं साम्राज्य का इतना राजभक्त था कि मैंने लार्ड चेम्सफोर्ड को लिखा कि मैं साम्राज्य का उतना ही राजभक्त बनना चाहता हूँ, जितना कोई अंग्रेज हो सकता है। मैंने यह इसलिए लिखा, क्योंकि सत्य पर मेरा यक़ीन है। सत्य ही मेरा ईश्वर है और यदि मैं अपने प्रति सच्चा होना चाहता था तो मैं इससे भिन्न लिख ही कैसे सकता था। आपका मार्ग सत्य और अहिंसा से अलग हो सकता है, पर मेरा तो वही पुराना रास्ता है। आप लोगों की तरह से ही मनुष्य होने के नाते मुझ से भी गलतियां हो जाती हैं। मैंने कभी स्वप्न में भी ख्याल नहीं किया कि मैं महात्मा हूँ। ईश्वर की नजरों में हम सब समान हैं। मेरे लिए हिन्दू, मुसलमान, पारसी और हरिजन सभी एक-से हैं। कायदे आजम जिन्ना के बारे में जब मैं चर्चा करता हूँ तो कोई हल्की बात कह नहीं सकता। वह भी तो मेरे भाई हैं। वास्तव में मुझे खुशी होगी अगर वे मुझे अपनी जेब में रख सकें। एक समय था, जब मैं यह कह सकता था कि एक भी मुसलमान ऐसा नहीं है, जिसका मुझ पर विश्वास न हो। लेकिन यह मेरा दुर्भाग्य है कि आज ऐसी बात नहीं है। उर्दू के पत्रों में जो कुछ छपता है मैं वह सब नहीं पढ़ता, लेकिन

शायद उनमें मेरे लिए ज्यादातर गालियां ही रहती हैं। इसका मुझे दुःख नहीं है। मेरा अब भी यही विश्वास है कि हिन्दू-मुसलमानों के समझौता के बिना स्वराज्य नहीं मिल सकता। शायद आप पूछेंगे, "तो ऐसी हालत में आप लड़ाई की बात क्यों करते हैं ?" मैं ऐसा इसलिए कहता हूँ कि यह लड़ाई विधान-परिषद् के लिए है। यदि मुसलमानों के वोट से विधान-परिषद् में आने वाले मुसलमान यह घोषणा करते हैं कि हिन्दू-मुसलमानों में कोई बात सामान्य नहीं है तो मैं उस हालत में सब आशाएं छोड़ दूंगा। लेकिन फिर भी मैं उनसे आग्रह करूंगा; क्योंकि वे कुरान-शरीफ़ पढ़ते हैं और मैंने भी उसका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। मैं उनसे कहूंगा कि ईश्वर हिन्दू-मुसलमानों में कोई भेद नहीं करता। जब मैंने सुना कि लार्ड ज़ेटलैण्ड घायल हुए हैं तो मुझे अत्यधिक वेदना हुई। मुझे लगा, मानो मैं ही घायल हुआ हूँ। अगर आप मुझे चाहते हैं तो आपको इसे खूब अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। मेरा यह निरन्तर प्रयत्न रहा है कि विरोधी के हृदय में सद्भावना पैदा की जाय। यह बात दूसरी है कि मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ता हूँ; लेकिन मुझे उन लोगों से कोई बैर नहीं जो साम्राज्यवाद को इस मशीनरी को चलाते हैं, मैं उनका विनाश नहीं चाहता, मैं तो सिर्फ उनका हृदय-परिवर्तन करना चाहता हूँ।

"आपको यह बात अच्छी तरह से जान लेनी चाहिए कि समझौता मेरे स्वभाव का एक अंग है। अगर जरूरत हो तो वायसराय के पास मैं पचास बार चला जाऊँगा। जब मैं जनरल स्मट्स से लड़ रहा था तो मैंने अन्तिम समय में उन्हें फोन किया था कि वे कोशिश करके देखें, अगर लड़ाई रुक सके। उन्होंने गुस्से में फोन बंद कर दिया। मुझे इसका खेद न था, क्योंकि इस तरह से उन्होंने मेरा कोई अपमान नहीं किया और आप जानते ही हैं कि आज हम दोनों में गहरी दोस्ती है। अगर आपको यह आशंका है कि मैं समझौता कर लूंगा तो आपको यह यकीन भी रखना चाहिए कि यह समझौता देश को नुकसान पहुंचाकर नहीं किया जायगा। मैं भारत को नहीं बेचूँगा। मैं जो कुछ भी करता हूँ, अपने मुल्क की ताकत बढ़ाने की गरज से ही करता हूँ। मेरी लड़ाई का आधार विरोधी के लिए प्रेम हो। अगर मेरे दिल में डचों और अंग्रेजों के लिए प्रेम न होता तो मैं दक्षिण अफ्रीका में उनसे कभी नहीं लड़ सकता था।

"किसी ने कहा है कि सविनय भंग से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव में 'सामूहिक' शब्द का जिक्र नहीं किया गया। यदि यह सामूहिक सविनय भंग नहीं होनी है तो फिर मुझे आपके सामने आने की क्या पड़ी थी ? यदि यह सविनय भंग सामूहिक न होगा तो क्या मुट्ठीभर लोगों का होगा ? तब आप मुझे इस प्रकार आपसे तर्क करते नहीं पावेंगे। आप शायद इन बातों पर गंभीरता से विचार न करते हों, पर इस सविनय भंग के खयाल में ही मेरा मन आठों पहर जाग्रत रहता है। मेरा मन तो आपकी मदद और सहयोग से इस महान् परीक्षा को ही कार्यान्वित करने की बात सोचा करता है; क्योंकि इससे न सिर्फ भारत का ही लाभ होगा, बल्कि सारी दुनिया का कल्याण होगा।

"इसलिए प्रत्येक कांग्रेस समिति इस सत्याग्रह की एक इकाई बन जानी चाहिए। उस हद तक वह लोकवादी न रहेगी और हमारे जैसे लोकवादी संगठन को स्पष्टतः मेरी हिदायतें माननी होंगी। अगर ऐसा न हुआ तो हमारे लाखों ही बेजुबान देशवासियों की कुरबानी हो जाएगी। और ऐसा मैं कभी नहीं होने दूँगा। भारत के हाथ में जो ताक़त आगई है उसे महफ़ूज़ रखने के लिए मैं स्वयं अपना जीवन बलिदान कर दूंगा। आप शायद उस ताक़त का विश्लेषण न कर सकें; पर वह यहां मौजूद अवश्य है। वह शक्ति अहिंसा की है।

"अगर कोई व्यक्ति लड़ाई छेड़ना चाहता है तो मैं उसके मार्ग में नहीं आना चाहता। लेकिन वह यह बात कांग्रेस के बाहर रहकर ही कर सकता है। अगर वह कांग्रेस में रहना चाहता है तो उसे कांग्रेस के कार्यक्रम और नीति पर अमल करना होगा। हां, अलबत्ता कोई आदमी कांग्रेस में रहकर भी उसके खिलाफ जा सकता है, लेकिन यह सत्याग्रह का तरीका नहीं होगा; क्योंकि वह उस आदमी को कोई नुकसान नहीं पहुँचाता जो उस हथियार का इस्तेमाल करता है। यह प्रस्ताव आपके हाथ-पैर नहीं बांधता। आप अब भी उसे उलट सकते हैं। आपके पास कोई और तरीका हो सकता है, पर मेरे पास तो वही एक पुराना कार्यक्रम है। मैं यह जानता हूँ कि जिन लोगों ने उस तरीके पर अमल किया है, उन्हें उससे कोई नुकसान नहीं पहुंचा और अगर अब भी मुझे आप लोगों का हार्दिक सहयोग और मदद मिल सके तो मैं आपको दिखा सकता हूँ कि एक महीने में क्या-कुछ हो सकता है।

"मुझे संशोधन पेश करने वालों के भाषण सुनने का मौका मिला, इससे खुशी हुई। उनकी ज़बान पर सत्याग्रह का नाम था। इससे मुझे बाइबिल का यह वाक्य स्मरण हो आया—"जो लोग 'प्रभु-प्रभु' करते हैं, प्रभु उन्हें नहीं मिलेगा, बल्कि उन्हें मिलेगा, जो प्रभु की इच्छा पर अमल करते हैं।" (तालियां) मुझे आपकी करतल-ध्वनि की आवश्यकता नहीं, मुझे तो आपके दिल और दिमाग को जीतने की इच्छा है और इसमें तालियां और नारों से बाधा पड़ती है। इसलिए मैं आपको सचेत किए देता हूं कि जो लोग 'सत्याग्रह सत्याग्रह' चिल्लाते हैं, वे सत्याग्रह नहीं करेंगे, सत्याग्रह तो वे करेंगे जो उसके लिए काम करते हैं। सत्याग्रह का रहस्य तो यह है कि जिसे आपने अपना सेनापति चुना है, उसकी बात पर अक्षरशः अमल करें और जिन चीजों से वह बचने के लिए आपसे कहता है, उनसे बचें। कारण, सत्याग्रह पर ठीक भावना के साथ अमल किये बिना न जीत है, न स्वराज्य।

"आप में से कुछ लोगों ने यह कहा है कि गुलामी की जंजीरें तोड़ फेंकना हमारा धर्म है। मैं भी ऐसा ही मानता हूं; लेकिन ऐसा किया किस तरह जाय? फ़र्ज़ कीजिए, थोड़े-से डाकू आकर हमारे घर पर कब्जा कर लें और हमें बाहर निकाल दें तो अवश्य ही डाकुओं से लड़कर अपना घर वापस लेना हमारा धर्म है; लेकिन हम यह करें कैसे? हमें योजना बनानी और तैयारी करनी पड़ेगी। इसलिए जब मैंने आपको उस वक्ता की बात पर तालियां बजाते देखा, जिसने यह कहा था कि हम तैयार हैं तो मुझे धक्का सा लगा। कारण, मैं जानता हूं कि हम तैयार नहीं हैं और यह जानते हुए मैं आपको लड़ने के लिए कैसे कह सकता हूं? आप-जैसों को साथ लेकर तो मैं हार ही खा सकता हूं। और हारना मैं चाहता नहीं, क्योंकि हारना मैंने सीखा ही नहीं। आप इसके विपरीत कुछ भी कहें, मैं राजकोट में भी हारा नहीं। मेरे कोष में 'हार' शब्द नहीं मिलता और जो कोई मेरी सेना में भरती होने के लिए चुन लिया गया हो उसे यकीन रखना चाहिए कि सत्याग्रही की कभी हार नहीं होती।

"एक वक्ता ने कहा कि चर्खे से मेरा झगड़ा नहीं, मैं तो चर्खे को सत्याग्रह से अलग करना चाहता हूं। अच्छा, तो मैं आपको जो बात इन बीस बरसों से कहता आ रहा हूँ, वही अब कहता हूँ कि सत्याग्रह और चर्खे में शरीर और प्राण का सम्बन्ध है और मेरे विश्वास का जितना विरोध होता है उतना ही वह और पक्का होता है। ऐसा न होता तो मैं मूर्ख नहीं हूँ जो डाक्टरों की सलाह की परवाह न करके भी रोज-रोज, घर पर हूं या गाड़ी में, चर्खा चलाता ही रहता। मैं चाहता हूं, आप भी इतनी ही श्रद्धा से चर्खा चलाएँ। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे और

आदतन खादी नहीं पहनेंगे तो आप मुझे भी धोखा देंगे और दुनिया को भी।

"अवश्य ही मैं तो मरूँगा तब भी मेरी जबान पर अहिंसा ही होगी; लेकिन जिन मायनों में मैं बंधा हुआ हूं, आप नहीं बंधे और इसलिए आपको अधिकार है कि दूसरा कार्यक्रम बनाकर देश को आजाद करा लें, लेकिन आप यह भी न करें और चर्खा भी न चलाएँ और यह चाहें कि मैं लड़ूँ तो यह असंभव है।

"मैं जानता हूँ कि आप मुझे साथ लिए बिना नहीं लड़ेंगे, लेकिन आपको जान लेना चाहिए कि मैं यहां करोड़ों मूक लोगों का प्रतिनिधि बनकर आया हूं और उसी हैसियत से लड़ूँगा; क्योंकि मैं उन्हीं के लिए जीता हूं और उन्हीं के लिए मरना चाहता हूं। उनके प्रति मेरी वफादारी और सभी वफादारियों से बड़ी है और अगर आप मुझे मार डालें या छोड़ दें तो भी मैं चर्खा नहीं छोड़ूँगा। इसका कारण भी वही हैं। मैं जानता हूं कि मैंने चर्खा-सम्बन्धी शर्तें ढीली कर दीं तो जिन करोड़ों बे-जुबानों के लिए मुझे ईश्वर को जवाब देना है उनपर तबाही आ जाएगी। इसलिए अगर आपका चर्खे में उसी अर्थ में विश्वास न हो, जिसमें मुझे है तो दया करके आप मुझे छोड़ दीजिए। चर्खा सत्य और अहिंसा की बाहरी निशानी है। इन्हें यदि आप हृदयंगम नहीं करेंगे तो आप चर्खे को स्वीकार नहीं करेंगे। इसलिए याद रखिए आपको भीतरी और बाहरी दोनों तरह की शर्तें पूरी करनी हैं। आपने भीतरी शर्त पूरी कर ली तो आप विरोधी से वैर-भाव रखना छोड़ देंगे, आप उसके नाश का प्रयत्न नहीं करेंगे, बल्कि उस पर दया करने की ईश्वर से प्रार्थना करेंगे। इस कारण सरकार के कुकर्मों का भण्डाफोड़ करने पर सारी शक्ति न लगाइये, क्योंकि जो लोग सरकार चला रहे हैं उनका हृदय-परिवर्तन करके हमें उन्हें मित्र बनाना है। आखिर प्रकृति से तो कोई भी दुष्ट नहीं होता। अगर दूसरे दुष्ट हैं तो क्या हम कम हैं? यह वृत्ति सत्याग्रह में निहित है। आप इससे सहमत न हों तो भी मैं कहूंगा कि आप मुझे छोड़ दीजिए; क्योंकि मेरे कार्यक्रम और ध्येय में विश्वास हुए बिना और मेरी शर्तें स्वीकार किये बिना आप मेरा अनर्थ करेंगे, अपना अनर्थ करेंगे और हम सबको जो कार्य प्रिय है उसका भी अनर्थ करेंगे।"

"रामगढ़ में जब मैंने विषय-समिति में यह कहा था कि हरेक कांग्रेस कमेटी को सत्याग्रह कमेटी बन जाना चाहिए तो मैं यही चाहता था कि मैंने जो कुछ कहा उसका अक्षरशः पालन हो। मैंने और भी जो कुछ कहा उसके बारे में भी मेरी ऐसी ही इच्छा थी। मैं चाहता हूँ कि जो भी कांग्रेसी सत्याग्रह-सेना में भरती होना चाहते हैं उन्हें रामगढ़ के मेरे दोनों भाषण पढ़ लेने चाहिए और हरिजन में लड़ाई के बारे में मैं और भी जो कुछ लिखूं, उसे भी पढ़ते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनके लिए जो हिदायतें दी जायं उन पर भी अमल करना चाहिए।

"आने वाली लड़ाई में—अगर लड़ाई आनी है तो—अधकचरी वफादारी से काम नहीं चलेगा। जरा खयाल तो कीजिए कि शंकाशील बे-तैयार सिपाहियों को लेकर कोई सेनापति रणक्षेत्र की तरफ बढ़ेगा तो वह क्या खाक जीतेगा? उसकी तो हार निश्चित ही है। मैं जान-बूझकर ऐसा घातक प्रयोग नहीं करने वाला हूं। इसका अर्थ यह नहीं है कि कांग्रेसी लोग डर जाएँ। वे चाहेंगे तो मेरी हिदायतों पर अमल कर सकना उन्हें मुश्किल मालूम नहीं देगा। कुछ भाई मुझे लिखते हैं कि हमारा आप पर या चर्खे पर विश्वास तो नहीं है, लेकिन अनुशासन की खातिर कातते हैं। यह भाषा मेरी समझ में नहीं आती। किसी सेनापति को पता हो कि उनके सिपाहियों में उनके प्रति श्रद्धा नहीं है तो क्या उनके बल पर वह लड़ सकता है? इस भाषा का तो

सीधा-सादा अर्थ यह है कि इन लिखनेवालों को सामूहिक कार्रवाई पर विश्वास है, लेकिन उस कार्रवाई के अहिंसात्मक होने के लिए उसका और चर्खे का जो सम्बन्ध मैं समझता हूं उस पर उन्हें विश्वास नहीं है। वे मानते हैं कि जनता मेरे हाथ में है, मगर वे उन चीजों को नहीं मानते, जिनके कारण मैं समझता हूं, जनता मेरे हाथ में हुई है। वे सिर्फ मेरा उपयोग करके अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं और उनके खयाल से मेरे अज्ञान या दुराग्रह की जो कीमत है, उसे वे बेमन चुकाने को तैयार हैं। मैं इसे अनुशासन नहीं कहता। सच्चा अनुशासन तो इसमें है कि बुद्धि को सन्तोष न हो तो भी आज्ञा का पालन उत्साह से किया जाय। स्वयंसेवक सेनापति का चुनाव करते समय तो बुद्धि से काम लेता है, मगर चुनाव कर लेने के बाद वह अपना समय और शक्ति इस बात में बर्बाद नहीं करता कि अमल करने से पहले हर हिदायत की छानबीन करके उसे बुद्धि की कसौटी पर कसा जाय। दलील करना उसका काम नहीं।

"अब हिदायतों की बात सुन लीजिए। हर कांग्रेस कमेटी को सत्याग्रह कमेटी बन जाना चाहिए और जिन लोगों का सबके प्रति सद्भाव पैदा करने में विश्वास हो, जिनमें किसी भी रूपमें छुआछूत की भावना न हो, जो नियमित रूप से कातते हों और जो सब तरह का कपड़ा छोड़कर आदतन खादी पहनते हों, उन सबके नाम लिख लेने चाहिएँ। मैं आशा रखता हूं कि जो लोग अपनी कमेटियों में इस तरह नाम लिखाएँगे वे अपना सारा फालतू समय रचनात्मक कार्यक्रम में लगाएँगे। अगर यह आशा सचाई के साथ पूरी की जाएगी तो ये सत्याग्रह कमेटियाँ कताई के घर बन जाएँगी और वहां काम-ही-काम दिखाई देगा। ये चर्खा-संघ की शाखाओं के साथ मिलकर और उनकी सलाह के अनुसार इतने व्यावसायिक ढंग से काम करें कि कमेटियों के इलाके में एक भी कांग्रेसी ऐसा न बच रहे, जो खद्दर के सिवाय और कोई कपड़ा पहनता हो। मैं आशा रखूँगा कि प्रान्तीय दफ्तर अखिल भारतीय महासमिति के सत्याग्रह कमेटियों के काम की प्रगति के बारे में व्यवस्थित समाचार भेजते रहेंगे। यह खयाल रखते हुए कि लोग अपने नाम स्वेच्छा से ही लिखाएँ, इन रिपोर्टों के नाम लिखाने वाले और न लिखाने वाले दोनों की तादाद देनी चाहिये।

"नाम लिखाने वाले सत्याग्रही रोजनामचा रखें और नित्य जो काम करें, उसमें लिखते जायं। अपनी कताई के अलावा उनका काम यह होगा कि चवन्नी—मेम्बरों के पास जायें और उन्हें खादी इस्तेमाल करने, कातने और अपने नाम लिखाने को समझाएँ। मेम्बर ऐसा करें या न करें, उनके साथ संपर्क ज़रूर बना रहना चाहिए।

"हरिजनों के घर भी जाते रहना चाहिए और जहां तक हो सके उनकी दिक्कतें मिटानी चाहिएँ।

"यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं कि नाम उन्हीं के लिखने चाहिएं, जो जेल के कष्ट उठाने को रजामन्द और समर्थ हों।

"सत्याग्रही कैदियों को अपने या अपने आश्रितों के लिए किसी तरह की आर्थिक सहायता की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए।

"यह तो हुई बात सत्याग्रह में भाग लेने वालों की। लेकिन उनसे भी कहीं बड़ा वर्ग ऐसे स्त्री-पुरुषों का है, जो भले ही कातें नहीं या जेल न जायं, मगर उनका सत्याग्रह के दोनों मुख्य सिद्धान्तों पर विश्वास है और वे लड़ाई का स्वागत करते हैं और उसकी सफलता चाहते हैं। इन्हें मैं निष्क्रिय सत्याग्रही कहूंगा। अगर ये लोग खुद जेल न जाकर या मजदूरों या विद्यार्थियों

की हड़तालों में मदद न देकर या जल्दबाजी न करके लड़ाई के प्रवाह में दखल न दें तो उनकी मदद सक्रिय सत्याग्रहियों के बराबर ही गिनी जायगी। जो बहुत उत्साह या और किसी कारणवश इन हिदायतों के खिलाफ चलेंगे, वे लड़ाई को हानि पहुँचाएँगे और संभव है, उसे बीच में ही रोक देने को मुझे मजबूर कर दें। ऐसे समय में जबकि संसारभर में हिंसक शक्तियां खुलकर अपना खेल खेल रही हैं और अधिक-से-अधिक सभ्य कहलाने वाले राष्ट्र अपने झगड़े निपटाने के लिए शस्त्र के सिवाय और किसी बल का खयाल भी नहीं कर सकते, मुझे आशा है कि हिन्दुस्तान यह कह सकेगा कि उसने विशुद्ध अहिंसक उपायों से अपनी आजादी की लड़ाई लड़ी और जीत ली।

"मेरे दिमाग में यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि राजनैतिक विचार रखने वाले हिन्दुस्तानियों का सहयोग मिल जाय तो भारत को शुद्ध अहिंसा के जरिये आजादी हासिल होना पूरी तरह संभव है। हम जो अहिंसा का दंभ करते हैं उस पर दुनिया का विश्वास नहीं है। दुनिया की बात जाने दीजिए, मैं तो सेनापति बन बैठा हूँ। मैंने ही बार-बार स्वीकार किया है कि हमारे दिलों में हिंसा है और अक्सर आपस के व्यवहार में एक दूसरे के साथ हम हिंसक हो जाते हैं। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि जब तक हम में हिंसा है तब तक मैं नहीं लड़ सकूंगा। लेकिन जिस सूची के बनाने की मैंने तजवीज़ की है, वह सच्ची हुई और साहस करके बाहर रहने वाले लोगों ने लड़ाई के सीधे प्रवाह में बाधा न डाली तो मैं जरूर लड़ूंगा।

"अहिंसक कार्रवाई का यह परिणाम तो होगा ही कि संसार का लोकमत हमारे पक्ष में काम करे। मुझे मालूम है कि संसार के विचारशील स्त्री-पुरुषों की, जो युद्ध की भावना से तंग आगए हैं, संख्या बढ़ रही है। वे शान्ति के मार्ग के लिए उत्सुक हैं और वह मार्ग बताने के लिए हिन्दुस्तान के मुंह की ओर ताक रहे हैं। अगर हम सचमुच अहिंसक न हुए तो यह लोकमत हमारे पक्ष में नहीं हो सकता। मैंने जो बात इन स्तंभों में लिखी है उसे फिर कहे देता हूँ कि सच्चे सत्याग्रहियों की बहुत छोटी-सी सेना के सहारे भी मैं लड़ सकूंगा। लेकिन सेना बड़ी भारी हुई और उस पर मुझे भरोसा न हुआ या उसके रवैये के बारे में मैं सदा निश्चिंत न रह सका तो मैं अपने को लाचार और विषम परिस्थिति में समझूंगा।

"महासमिति से मैं यह आशा रखता हूँ कि वह सत्याग्रह कमेटियों का संगठन कर लेगी और उनकी जो प्रगति होगी, उसकी समय-समय पर मेरे पास रिपोर्ट भेजती रहेगी। अगर देश की तरफ से उत्साहवर्धक उत्तर मिला तो एक महीने के भीतर ही यह अन्दाजा लगाया जा सकेगा कि सत्याग्रह कमेटियों को काम करने लायक बनाने में ठीक कितना समय चाहिए।"

१६३६ की यह कहानी देशभर में धूमधाम से मनाई जाने वाली गांधीजी की ७१ वीं वर्षगांठ का उल्लेख किये बिना पूरी नहीं हो सकती। २ अक्टूबर, १६३६ को गांधीजी ने अपने जीवन के ७० वर्ष पूरे करके ७१ में प्रवेश किया। यद्यपि उनकी ताकत कुछ कम अवश्य होगई थी, तथापि उसका उन पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा था। हां, इतना अवश्य हुआ कि वे दौरे पर कम जाने लगे और एक ही जगह बैठकर काम करने लगे। यूरोप के विनाशकारी युद्धकाल में भी उनका अहिंसा का संदेश संसार को सान्त्वना देता रहा।

सदा की भांति इस बार भी गांधी-जयन्ती देशभर में खूब धूमधाम और उत्साह से मनाई गई। इस अवसर पर गांधीजी के सर्वप्रिय कार्यक्रम को प्रोत्साहन दिया गया, जिसमें खादी का प्रचार और उसकी बिक्री मुख्य थी। सभी जगह कार्यकर्ता खादी बेचने में प्रयत्नशील रहे। गांधी-

जयन्ती के शुभ अवसर पर समस्त देश में सार्वजनिक सभाएँ हुईं, जिनमें गांधीजी के जीवन के महत्व, उनके संदेश और सिद्धान्तों को जनता तक पहुँचाया गया। इन सभाओं में बधाई के प्रस्ताव भी पास किये गए। बहुत से समाचार-पत्रों ने गांधी-विशेषांक निकाले। अन्य बहुत से पत्रों ने उनके जीवन और कार्य के सम्बन्ध में विशेष लेख प्रकाशित किये। इस अवसर पर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने गांधीजी को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया, जिसमें संसार के सभी देशों के प्रमुख व्यक्तियों के गांधीजी के बारे में लेख और संस्मरण थे। दुनिया के सभी देशों से लोगों ने और संस्थाओं ने गांधीजी को बधाई के संदेश भेजे, जिनमें उनके स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन तथा अहिंसा, शान्ति और सद्भाव के उनके संदेश की सफलता की कामना की गई थी।

कांग्रेस का प्रत्येक अधिवेशन बड़ा महत्वपूर्ण होता है। उसमें पिछली गतिविधियों की समीक्षा एवं सिंहावलोकन और भविष्य के कार्यक्रम की रूपरेखा निर्धारित की जाती है। १६४० के स्वतंत्रता-दिवस के लिए निर्धारित आज़ादी की प्रतिज्ञा और उसमें खादी के सम्बन्ध में किये गए परिवर्तनों का पहले अध्यायों में जिक्र किया गया है। कुछ समय बाद ही इन परिवर्तनों के सम्बन्ध में आपत्ति उठाई गई। वास्तव में देखा जाय तो ये नये परिवर्तन कोई बहुत बड़े परिवर्तन न थे। इनमें तो सिर्फ विशेष बातों पर ज़ोर ही दिया गया था, क्योंकि तब तक तो यह एक बहुत पुरानी बात हो चली थी। मुख्यतः कांग्रेस के आर्थिक कार्यक्रम की प्रधान मद कातने के विरोध से बचने के लिए यह एक उपाय था और गांधीजी ने जनवरी १६४० में ही समाजवादियों, रायवादियों और अन्य लोगों को, जिन्होंने कातने के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे, बधाई दी। देश के सामने एक बड़ी गंभीर स्थिति थी। एक बार सविनय भंग आन्दोलन छेड़ देने पर गांधीजी सिर्फ कोई उचित समझौता हो जाने पर ही उसे छोड़ देने को तैयार थे। इसलिए उनके विचार से एक अहिंसात्मक लड़ाई केवल विशुद्ध अहिंसात्मक पैमाने पर ही लड़ी जा सकती थी। उन्होंने कहा, "मैं ऐसी सेना का सेनापति बनने को तैयार नहीं हूँ, जो मेरी उन शर्तों का पालन करने को उद्यत नहीं है, जिन्हें मैं सफलता के लिए अत्यावश्यक समझता हूँ।" वे अधकचरे सहयोग पर आश्रित नहीं रह सकते थे। इससे तो तबाही ही होगी। वे राष्ट्र पर अपना नेतृत्व भी थोपना नहीं चाहते थे। निश्चय ही उन्हें एक तानाशाह कहना उन पर बड़ा ही 'निर्मम प्रहार' करना था। राष्ट्र के सर्वोच्च व्यक्ति के लिए ऐसा कहना उसके साथ भारी अन्याय करना था। यदि वे सर्वोच्च सेनापति भी थे, तो उन्हें यह ओहदा किसी कानून द्वारा नहीं मिला था। उनका यह पद तो इस कारण था कि उनमें और उनके अनुयायियों के बीच वफादारी और विश्वास की एक अटूट कड़ी विद्यमान थी। जो आदमी लड़ाई के लिए उतावले हो रहे थे वे सिर्फ अपनी जिम्मेदारी पर ही ऐसा कर सकते थे। गांधीजी की योजना निश्चित रूप से कुछ सिद्धान्तों पर आधारित थी। एक सिद्धान्त कातना था। दूसरा अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर करना नहीं था, बल्कि उनका हृदय परिवर्तन करके उन्हें भारत का सेवक बनाना था। इसके मायने ये नहीं कि वे साम्राज्यवाद के पक्ष में थे। उन्होंने स्वयं कहा, "यदि मेरा प्रेम गुलाब की पंखुड़ियों की तरह मुलायम है तो वह कांच के टुकड़े या पत्थर से ज्यादा कठोर भी हो सकता है।" उनकी पत्नी और सबसे बड़े बेटे को कठोर प्रेम का आस्वादन करना पड़ा था। गांधीजी ने कहा, "मेरा खयाल है कि मैंने सुभाषबाबू को हमेशा के लिए पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया है; लेकिन मुझे यह शिष्टता छोड़नी पड़ी। उनके ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाया गया है उसके लिये मुझे दुख और खेद के

से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उनका खयाल था कि यही कारण है कि ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की बातों पर पूरी तरह से ध्यान देना छोड़ दिया है। वास्तव में ज़रूरत दृढ़निश्चय और जोरदार कार्रवाईकी थी। उनका विचार था कि जो लोग साम्राज्यवाद से किसी तरह का भी समझौता नहीं करना चाहते, उनका एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया जाए। उनका ख़याल था कि साम्राज्यवाद से समझौता करने का मतलब यह है कि साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन एक घरेलू संघर्ष का रूप ले लेगा और क्या ऐसा करना किसी भी लिहाज से वांछनीय होगा ? सुभाष बाबू ने कहा, "अगर इस देश में साम्राज्यवाद के साथ समझौता होगा तो उसका परिणाम यह होगा कि भविष्य में भारतीय वामपक्षियों को न केवल साम्राज्यवाद से ही जूझना पड़ेगा, बल्कि उसके भारतीय सहयोगियों से भी टक्कर लेनी होगी। इसका परिणाम तो यही होगा कि साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ी जाने वाली राष्ट्रीय लड़ाई स्वयं भारतीयों की घरेलू लड़ाई में ही परिवर्तित हो जावेगी।"

यह सम्मेलन कांग्रेस के अधिवेशन से पहले ही हुआ और इसमें बड़ी संख्या में लोग शामिल हुए और उन्होंने घोषणा की कि वे लड़ाई के लिए तैयार हैं।

सम्मेलन का उद्देश्य देश की उन सभी साम्राज्यवादी ताकतों का संगठन करना था, जो साम्राज्यवाद से सुलह न करने पर आमादा थीं। सुभाष बाबू ने एक ओर तो कांग्रेस के प्रस्तावों और कार्यसमिति के सदस्यों के वक्तव्यों और दूसरी ओर गांधीजी तथा वामपक्षी नेताओं के वक्तव्यों की परस्पर विरोधी बातों पर प्रकाश डाला। उनका खयाल था कि पिछले छ: महीनों में वामपक्षियों ने कांग्रेस पर जो दबाव डाला था उसी के फलस्वरूप कांग्रेस को रामगढ़ के लिए पटना वाला प्रस्ताव तैयार करना पड़ा। आपने विधान-परिषद् की मांग को अनुचित बताते हुए इस बात पर प्रकाश डाला कि किस तरह से नरमदल वाले लोग पृथक् निर्वाचन और धारासभाओं के मौजूदा मताधिकार को ही विधान-परिषद् का आधार मानने को तैयार हैं। सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास करके इसके प्रधान और स्वागत-समिति से सीधी कार्रवाई शुरू करने के लिए एक अखिल भारतीय युद्ध-समिति बनाने को कहा और यह आन्दोलन अप्रैल में ही छेड़ देने को कहा। प्रस्ताव में कहा गया कि एक बार इस आन्दोलन के शुरू हो जाने पर हमें चैन से नहीं बैठ जाना चाहिए और न हमें १९३२ में शुरू किये गए हरिजन-आन्दोलन जैसी कार्रवाइयों से ही पथभ्रष्ट होना चाहिए। जब से १९३३ में सविनय भंग स्थगित किया गया है, देश में महान् जन-जाग्रति के साथ-साथ विधानवाद की प्रवृत्ति भी जोर पकड़ने लगी है। युद्ध के कारण भारत में नागरिक स्वतंत्रता को और भी अधिक कुचल दिया गया है। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के इस्तीफे के बाद देश को आगे लेजाने की बजाय आम जनता में भ्रम फैलाने की कोशिश की गई है, चर्खा कातने और रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर देने की निन्दा की गई और भारतीय जनता को चेतावनी दी गई कि "उसे विधान-परिषद् की उपहासास्पद मांग के भ्रमजाल में पड़कर गुमराह नहीं होना चाहिए। नागरिक अधिकारों की स्वतन्त्रता पर किये गए आक्रमणों के विरुद्ध एक जोरदार आन्दोलन आरम्भ किया जायगा और स्वतंत्रता-प्रेमियों को देश की उस गरीब और जागरूक जनता—किसानों और मजदूरों—के साथ घनिष्ठ-संपर्क स्थापित करना चाहिए, जो आर्थिक स्वतंत्रता के लिए हमारी इस लड़ाई में शामिल हो रही है। इस काम में जितनी ही देर होगी, जनता में उतनी ही निराशा फैलेगी, उनका नैतिक बल उतना ही कम होता जाएगा और वे उतना ही अधिक असमंजस में पड़ जाएँगे। स्थानीय संग्रामों को और जोरदार बना दिया जाना चाहिए और जहां-कहीं जरूरी समझा जाय और संभव

हो, नये आन्दोलन छेड़ देने चाहिएँ।" अन्त में सुभाष बाबू ने लोगों से आन्दोलन के लिए तैयार रहने की अपील की।

२० फरवरी १९४० को ढाका में मलिकन्दा में गांधी सेवा-संघ का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। गांधीजी ने ग्राम-उद्योग-प्रदर्शिनी का उद्घाटन किया। उनके भाषण से पहले विरोधी नारे लगाए गए और बहुत से गांधी-विरोधी परचे बांटे गए। इस घटना का जिक्र करते हुए गांधीजी ने कहा, "मेरा यकीन है कि मेरी आवाज आपके कानों तक पहुँच रही है। खामोशी और धैर्यपूर्वक सुनिये। अभी-अभी मैंने कुछ लोगों को 'गांधी-वाद का विनाश हो' के नारे लगाते हुए सुना है। जो लोग गांधीवाद को ध्वंस करना चाहते हैं, उन्हें ऐसा करने का पूरा-पूरा हक है। आपको विरोधी नारों अथवा उसके विरुद्ध लगाए गए नारों से उत्तेजित नहीं होना चाहिए। आप उन्हें शान्ति से सहन करें। जो लोग गांधीवाद के खिलाफ कुछ कहना चाहते हैं, उन्हें ऐसा करने की पूरी आजादी दीजिए। मैं नहीं जानता गांधीवाद से उनका मतलब क्या है। मैंने कोई नई बात नहीं कही। लेकिन मैंने तो सिर्फ जो कुछ पहले से मौजूद है, उसे नई शक्ल में पेश करने की कोशिश की है।" गांधीजी ने सेवासंघ के सदस्यों को सलाह दी कि वे 'राजनीति' को बिल्कुल भूल जाएँ और संघ के सदस्य के नाते उसमें भाग लेना बन्द कर दें। संघ का कोई भी सदस्य कांग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता। सिर्फ डा० राजेन्द्रप्रसाद और सरदार वल्लभभाई पटेल को इस बारे में छूट दे दी गई। गांधीजी और उनके सहयोगी कलकत्ता होकर वापस लौटे और दूसरे ही स्टेशन पर किसी अज्ञात व्यक्ति ने उनके डिब्बे में एक जूता फेंका।

: ९ :

रामगढ़ और उसके बाद

रामगढ़ के बाद के जमाने में या यों कहिये कि कांग्रेस के नये साल के मौके पर भी पिछले सालों की तरह ही ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने वे ही बातें दोहराईं, जो वे पिछले कई महीनों से कहते चले आ रहे थे। श्री एमरी के भारतमंत्री बनने से पहले लार्ड जेटलैण्ड ने अपने पद से अवकाश लेने से पूर्व वही पुराना राग फिर अलापा कि हमारा उद्देश्य भारत पर जबरदस्ती कोई बात लादना नहीं है; बल्कि हम तो समझौते से ही आगे बढ़ना चाहते हैं। भारतीयों को अपने लिए उपयुक्त विधान स्वयं ही तैयार करना चाहिए, लेकिन पिछले दो सौ साल से ब्रिटेन का भारत के साथ जो सम्बन्ध चला आ रहा है, उसे देखते हुए वह एकदम उससे अपना नाता नहीं तोड़ सकता। देशी राजाओं, रक्षा के प्रश्न, अल्पसंख्यकों, ब्रिटिश हितों और आठ करोड़ मुसलमानों की दुहाई देने के बाद उन्होंने रामगढ़ में उठाये गए प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि अगर सत्याग्रह शुरू किया गया तो सरकार को विवश होकर उसका पूरा तरह से मुकाबला करना पड़ेगा। अन्त में उन्होंने सवाल किया कि "क्या कांग्रेस देश की उस एकता के प्रश्न पर विचार करना बन्द कर देगी, जिसके लिए वे स्वयं इतने उत्सुक हैं? इस सवाल के जवाब पर ही भारत का भाग्य आश्रित है।" लार्ड जेटलैण्ड ने यह वक्तव्य भारतीय विधान की धारा ९३ के अन्तर्गत स्थापित की गई सरकारों को जारी रखने के लिए पार्लामेण्ट की स्वीकृति के समय दिया। इसी अवसर पर हमें रामगढ़ अधिवेशन में कांग्रेस द्वारा पास किये गए उस प्रस्ताव का भी स्मरण हो आता है, जिसमें कार्यसमिति ने काक्स्टनहाल-दुर्घटना में सर माईकेल ओ'डायर के कत्ल और लार्ड जेटलैण्ड के घायल होने पर अपना खेद प्रकट किया था। कार्यसमिति ने इस दुर्घटना को कोई राजनैतिक महत्व नहीं दिया और फिर से अपना यह दृढ़ विश्वास प्रकट किया कि इस तरह की कार्रवाइयां राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से हानिकारक हैं।

सत्याग्रह अब अनिवार्य होता जा रहा था। कांग्रेस ने रामगढ़ के बाद से देश की स्थिति पर खूब सोच-विचार किया और इसके अलावा उसने देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करने की आवश्यकता पर भी विचार किया। गांधीजी की हिदायतों के मुताबिक प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों ने सत्याग्रह कमेटियों के रूप में अपना काम जोरों से शुरू कर दिया था और वे सक्रिय तथा निष्क्रिय सत्याग्रहियों की भरती में जुट गई थीं। उन्हें यह हिदायत भी की गई थी कि वे अपने आन्तरिक मामलों और रचनात्मक कार्यक्रम की प्रगति का भी विवरण तैयार करती रहें। यह हिदायत भी स्पष्ट रूप से कर दी गई थी कि कांग्रेस कमेटियों के जो सदस्य निर्धारित प्रतिज्ञा लेने में असमर्थ हों और कांग्रेस के अनुशासन में रहते हुए आन्दोलन की जिम्मेदारी अपने कन्धों

पर न उठा सकते हों, उन्हें कांग्रेस में अपने पदों से हट जाना चाहिये। सविनय भंग शुरू होने से पहले इन शर्तों की पूर्ति अत्यावश्यक बताई गई थी।

अप्रैल, १६४० में जो स्थिति पैदा हो गई थी, निःसंदेह वह बड़ी विकट थी। देश की नैय्या अज्ञात दिशा में बही चली जारही थी; क्योंकि उसके कर्णधार को अपने लक्ष्य का ज्ञान न था। राजनैतिक दल रक्षात्मक खेल खेल रहे थे। दोनों ही दल आक्रमण करने में आनाकानी कर रहे थे—इसका कारण डर, कायरता या कमजोरी नहीं थी; बल्कि चूँकि दोनों ही दल वास्तव में लड़ना नहीं चाहते थे। वे इसके परिणामस्वरूप पैदा होने वाली कटुता, प्रतिशोध की भावना और स्थायी शत्रुता से बचना चाहते थे। जहां तक कांग्रेस का सवाल है उसने साफ़-साफ़ कह दिया था कि अगर अंग्रेज भारत के ऊपर से अपना साम्राज्यवादी पंजा उठा लें तो वह उनके प्रति मित्रता का हाथ बढ़ाने को तैयार है। हां, वे भारत में रहकर निष्कंटक रूप से अपना कारबार कर सकते हैं। उन्हें भी अपनी ओर से दोस्ती का हाथ बढ़ाना होगा और भारत का यह अधिकार स्वीकार करना होगा कि उसे अपनी आजादी हासिल करने का पूरा हक है—अर्थात्, ब्रिटेन भारत में अपनी सत्ता त्याग करके, अपने व्यावसायिक और राजनैतिक संरक्षणों को छोड़ दे। यह कोई कम बलिदान न था; लेकिन अगर हम यह चाहते हैं कि देश में शान्ति और सद्भावना बनी रहे तो कांग्रेस और ब्रिटिश-सरकार को एक जगह मिल-बैठकर सारी समस्या पर सोच-विचार करना होगा। जैसी कि स्थिति थी, दोनों ही पक्ष उसमें दखल नहीं देना चाहते थे और वे एक-दूसरे का रुख देखकर अपना रुख निश्चित कर रहे थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि दोनों ही पक्ष हवा का रुख देख रहे थे। इस बीच एक तरह से अग्रगामी दल ने अपना अल्टीमेटम देकर सरकार को कुछ करने के लिए मजबूर कर दिया। सरकार इसके परिणामस्वरूप होनेवाली जोरदार प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा कर सकती थी, लेकिन इसके विपरीत वह इस दल को कोई भी कार्रवाई नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने इसके सदस्यों की स्वतंत्रता को नज़रबन्दी, निर्वासन अथवा अन्य तरीक़ों से सीमित करना चाहा और यह सब उसे सिर्फ आत्मसम्मान की भावना से करना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सप्ताह में देश के एक दल को अनिवार्य परिस्थितियों में संग्राम छेड़ देना पड़ा। देश के उन अधिकांश कांग्रेसजनों के सामने, जिन्हें कांग्रेस कार्यसमिति के आदेश-पालन में दृढ़विश्वास था, यह समस्या थी कि ऐसे नाजुक मौक़े पर उन्हें क्या करना चाहिये। उनका नेता, उनका संगठन और उनके लिए आदेश मौजूद थे और इनके फलस्वरूप देश को गांधीजी की शर्तों के अन्तर्गत आगामी संग्राम के लिए स्त्री-पुरुषों को तैयार करना था। इस नाजुक घड़ी में जल्दबाजी करना तबाही को बुलावा देना था। सत्याग्रह में प्रतियोगिता के लिए कोई स्थान नहीं है और इसके विपरीत इसकी सफलता का रहस्य इसके सैनिकों का सहयोग है। प्रतीक्षा और जल्दबाजी दोनों से ही स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सकता था।

मान लीजिए कि हम सभी मुसाफिर हैं और एक किश्ती में जा रहे हैं, जिसका भार दोनों ओर इसलिए बराबर-बराबर है कि उस पर एक ओर तो मल्लाह बैठे पतवार चला रहे हैं और दूसरी ओर बैठा चालक उसका नियोजन कर रहा है। इसी तरह गांधीजी एक चालक हैं, कांग्रेस-कार्यसमिति के सदस्य मल्लाह और बाकी कांग्रेसजन इसके मुसाफिर। ऐसी हालत में यदि मुसाफिर और मल्लाह किश्ती की धीमी चाल से बेचैन या अधीर हो उठें तो उससे लाभ क्या होगा? इस तरह की बेचैनी या थोड़ी-भी खलबली का यह परिणाम होगा कि किश्ती का

भार एक ओर को झुक जाएगा और तब मुसाफिरों को डूबने से कोई नहीं बचा सकेगा, न मल्लाह और न नाविक। हमने कितनी ही बार ऐसी कहानियां सुनी होंगी कि एक किश्ती में बीस-तीस मुसाफिर थे और वह किनारे पर पहुँच कर इसलिए उलट गई कि उनमें से हरेक यह चाहता था कि वह किनारे पर पहले उतरे। कितनी ही बार हमने सुना होगा कि किश्ती में सांप, छिपकली या मेंढक के आजाने से मुसाफिरों में खलबली या भगदड़ मच जाने पर दुर्घटना हो गई। इसी प्रकार राजनैतिक उथल-पुथल भी प्राकृतिक संकट के समान ही विकट और उग्र होती है। सफलता, अनुशासन, व्यवस्था, आत्मसंयम, सेवा-भाव और राष्ट्रीय उद्धार के लिए त्याग करने वालों पर आश्रित होती है। बड़ी-बड़ी क्रान्तियां भूतकाल में इसलिए असफल हो गईं कि या तो उन्हें बहुत जल्दी शुरू कर दिया गया और या फिर उन्हें बहुत देर से। बुद्धिमान् सिपाही तो आदेश का पालन करता हुआ तब तक लड़ाई लड़ता रहता है, जब तक कि उसे इसमें सफलता नहीं मिल जाती और इस बीच वह अपने को दंभ या निष्क्रियता का शिकार नहीं होने देता।

इस जमाने में ब्रिटिश साम्राज्य की शासन-व्यवस्था में बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुईं। ब्रिटेन के मंत्रिमण्डल में परिवर्तन हुआ। १० मई १९४० को लार्ड जेटलैण्ड की जगह श्री एमरी नियुक्त किये गये। तीन-चार साल से श्री एमरी का सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध कटा-सा रहा था। उससे पहले वे ब्रिटेन के मंत्रिमंडल में कई पदों पर रह चुके थे। १९३९ के पतझड़ में श्री एडवर्ड टाम्सन वर्धा आये थे। उनकी राय थी कि भविष्य में ब्रिटेन के छः राजनीतिज्ञ भारत की समस्या पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे। इनमें से एक श्री एमरी थे, जिनका उल्लेख पीछे किया गया है। श्री टाम्सन का कहना था कि श्री एमरी भारतीय समस्या का सही हल ढूँढ निकालेंगे, परन्तु भारत श्री एमरी के उग्र अनुदारवादी विचारों से पहले ही काफी परिचित था। उसी जमाने में उन्होंने भारत के बारे में एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उनका रूप कुछ अधिक अच्छा दिखाया गया था। पुस्तक से प्रतीत होता था कि पहले की अपेक्षा श्री एमरी अब भारत के बारे में अधिक सहानुभूति रखते हैं। लेकिन इससे अगर कोई व्यक्ति यह समझ बैठे कि उनमें कोई बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था, तो यह उसकी गलती या भ्रम ही होगा, जैसा कि भारतमंत्री के पद पर विराजमान रहते हुए उनके कार्यों और वक्तव्यों से प्रकट है। श्री टाम्सन ने ऊपर जिन छः व्यक्तियों का जिक्र किया है, उनमें से एक श्री विंस्टन चर्चिल भी थे। १९३९ के नवम्बर में श्री चर्चिल ने कहा था कि अगले छः सप्ताह में स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो जाएगा।

विंस्टन चर्चिल बोअर युद्ध के समय दक्षिण अफ्रीका में एक युद्ध-संवाददाता के रूप में गए थे। वहां वह सेना में भरती हो गए और शत्रु द्वारा बन्दी बना लिए गए। इसके बाद शत्रु की कैद से भाग निकले और तीन सौ मील पैदल चलकर सुरक्षित स्थान पर पहुँच गए। इस प्रकार लार्ड रैंडोल्फ चर्चिल के पुत्र होने के अतिरिक्त अपने इस कार्य से वह प्रकाश में आ गये। सभी लोगों का ख्याल था कि विंस्टन चर्चिल लड़ाई की प्रगति तेज कर देंगे और उसमें विजय भी प्राप्त करेंगे। श्री चर्चिल दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति हैं और उनकी एक विशेषता यह है कि किसी बात का फैसला जल्दी ही कर लेते हैं। उसमें देर नहीं करते। इसलिए ब्रिटेन जानता था कि उन जैसे व्यक्ति के नेतृत्व में उसे गैलिपोली और मारन नदियों जैसी निर्णायक लड़ाइयों के लिए तैयार रहना चाहिए। १९३९ की सर्दियों में भारत के कई एक अंग्रेज़ मित्र स्वेच्छा से वर्धा आए। उनकी राय थी कि श्री चर्चिल भारतीय स्थिति पर काबू पा लेंगे। उनके बारे में ऐसा कहा जाता है कि वे अपने "शत्रु पर खूब जोरदार प्रहार भी करते हैं और बाद में उसके साथ उदारतापूर्ण

समझौता भी।" ब्रिटेन ने ऐसा ही व्यवहार दक्षिण अफ्रीका के साथ किया था और भारत के बारे में भी उनकी योजना यही है। या तो वे भारतीयों को अपना विश्वासपात्र बना लेंगे और या फिर समझौते के सारे दरवाजे बन्द करके कहेंगे, "मार्शल-ला—और कोई बात नहीं सुनाई जाएगी।" इसलिए यह कहा जारहा था कि भारत की स्थिति अब त्रिशंकु की भांति बीच में ही लटकी नहीं रहेगी। उसके बारे में अच्छा या बुरा कोई भी निर्णय कर लिया जायगा। सात महीने से अंग्रेज आँखमिचौनी कर रहे थे; पर अब स्थिति बदल गई थी और सीधी-सादी बात करने वाला व्यक्ति रंगमंच पर विद्यमान था। इसलिए गतिरोध का भी अन्त होने वाला था।

परन्तु भारत के भाग्य में तो सिवाय निराशा के और कुछ नहीं था। ब्रिटेन की सरकार में परिवर्तन होने के कुछ समय बाद ही दो उल्लेखनीय घोषणाएँ हुई। एक घोषणा सम्राट् द्वारा की गई और दूसरी श्री एमरी द्वारा। महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के बाद से २४ मई प्रतिवर्ष साम्राज्य-दिवस के रूप में मनाई जाती है। इसकी नींव अर्लमीथ ने डाली थी। पिछले चालीस बरस से यह दिन मनाया जारहा है और १६४० का यह दिवस बहुत महत्वपूर्ण था। उस दिन ब्रिटेन के सम्राट् ने नीचे लिखा संदेश ब्राडकास्ट किया—

"आज मैं इस साम्राज्य के सम्बन्ध में एक बिल्कुल नई कल्पना पर प्रकाश डालने जा रहा हूँ, जो मेरे सामने है। अब इसका महत्व अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध नजर आता है। चूंकि इस समय इसका संघर्ष एक दूषित और निन्दनीय व्यवस्था से हो रहा है, जिसके साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। हमारे शत्रु हमारे खिलाफ एक शब्द—साम्राज्यवाद—का प्रयोग करते हैं। इससे उनका मतलब अधिकार और दूसरे के प्रदेश पर कब्जा है। परन्तु हम जो इस साम्राज्य के स्वतन्त्र वासी हैं, इस शब्द का प्रयोग उन्हीं को मुँहतोड़ जवाब देने के लिए करते हैं। उनकी ही भावनाएँ दूषित हैं। हमारा उद्देश्य तो हमेशा से शान्ति रहा है।"

यह बात बहुत स्पष्ट कर दी गई थी कि युद्ध के फलस्वरूप हासिल होने वाली आज़ादी में भारत का कोई हिस्सा नहीं होगा। बल्कि उसे तो लड़ाई के पूरे वेग का सामना करना होगा। उसे युद्ध के प्रहार ही सहने होंगे। न तो श्री एमरी के भाषण से और न सम्राट् के ब्राडकास्ट से ही भारत के सम्मुख उपस्थित समस्या पर कोई प्रकाश पड़ता था। सिर्फ सर स्टैफर्ड क्रिप्स ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत से लौटने पर उसके बारे में कुछ सहानुभूतिपूर्ण शब्द कहे। इस अवसर पर उनका वक्तव्य काफी महत्व रखता था। उसमें सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने भारत की समस्याओं का हल ढूंढ निकालने के लिए विधानपरिषद् के प्रस्ताव का समर्थन किया था।

कामनसभा में श्री एमरी के सर्वप्रथम भाषण की तर्ज और उसकी भाषा उनके पूर्वजों या उनके पूर्वाधिकारियों जैसी ही थी। इसके अलावा उससे आपके भावी भाषणों की तर्ज का भी पूर्वाभास हो जाता था। अगले वर्ष के दौरान में आपने जो विभिन्न भाषण दिये, उनका तुलनात्मक विश्लेषण आगे चलकर दिया जायगा। इस बीच युद्धकाल में भारत के स्वतंत्रता-संग्राम की कहानी की शृंखला जारी रखने के उद्देश्य से हम उनके समय-समय पर दिये गए भाषणों की मुख्य बातों का संक्षेप में जिक्र करना वांछनीय समझते हैं। कामन सभा में अपने सर्वप्रथम भाषण में—जो वस्तुतः इस पुराने और अनुभवी राजनीतिज्ञ का प्रथम भाषण था—श्री एमरी ने घोषणा की : "पिछली सरकार की भांति हमारी नीति का उद्देश्य भी ब्रिटिश कामनवेल्थ (राष्ट्रमंडल) के अन्तर्गत भारत को स्वतन्त्र और बराबरी का दर्जा देना

है।" आपने यह बात भी स्वीकार की कि भारतीय परिस्थितियों और भारतीय दृष्टिकोण के उपयुक्त कोई विधान तैयार करने की जिम्मेवारी स्वयं भारतीयों पर ही है। सामन्त सभा में, अप्रैल, १९४० में लार्ड ज़ेटलैंड के शब्दों को दोहराते हुए श्री एमरी ने कहा कि ब्रिटिश सरकार का इरादा वर्ष के अन्त में वर्तमान योजना की अन्तर्निहित नीति और अन्य बातों के बारे में फिर से जांच-पड़ताल करने का है और हमारी नीति भारत के सिर पर कोई बात लादने की बजाय उसमें समझौता करने की है। जहां तक अन्य परिभाषाओं जैसे कि "सर्वसम्मत समझौता," "सभी जातियों और हितों के न्यायोचित दावे," "समझौते के लिए हमारा सहयोग," "गहरा मतभेद" जिसे वे यह मानने से इन्कार करते हैं कि उसे दूर ही नहीं किया जा सकता, 'अस्थायी सुलह-सफाई", "मंत्रियों द्वारा फिर से पद संभालने", "केन्द्रीय शासन परिषद् में प्रतिनिधिक सार्वजनिक नेता,"—का सम्बन्ध है—ये सब वे ही पुराने और दकियानूसी नारे हैं, जिनका सहारा ब्रिटेन के अनुदारवादी अक्सर लिया करते हैं।

महामाननीय श्री लियोपोल्ड चार्ल्स मौरिस स्टेनेट एमरी ने, जिन्हें चर्चिल मंत्रिमण्डल में भारत-मंत्री के रूप में लिया गया था—भारतीय समस्या के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'मार्च लास्ट' में निम्न विचार प्रकट किये :

"भारत अब ऐसी स्थिति में पहुंच गया है जबकि वह स्वाधीनता पाने के योग्य है। अब इसे (यूरोपीय) महाद्वीप का एक सदस्य समझा जा सकता है। जहां तक मानसिक या बौद्धिक प्रगति का सवाल है, आम एशियाई देशों में भारत का स्थान सबसे ऊँचा है।

"पार्लमेण्ट के सभी वर्गों के सदस्यों का विचार है कि हमें भारत की शिकायतें यथासंभव शीघ्र-से-शीघ्र दूर कर देनी चाहियें। इंगलैण्ड के प्रायः सभी जानकारों ने भारतीय समस्या की पूरी-पूरी छानबीन की है और उनमें से हरेक का खयाल है कि अब भारत एक ऐसी स्थिति में पहुँच गया है, जहां वह अपने मामलों की स्वयं देख-रेख करने के लिये एक योजना बना सकता है। बशर्ते कि सभी संप्रदायों में कोई आपसी समझौता हो जाय। हमने उन्हें अपना मकान बनाने में मदद की है और अगर अब वे अपना मकान फिर से बनाना चाहते हैं तो इस पर हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। लेकिन वह मकान पूरी तरह से और बड़े ध्यान से फिर से बनाया जाना चाहिये जिससे कि भविष्य में उसके गिरने का खतरा न रहे।"

यह पूछे जाने पर कि क्या ऐसी विधानपरिषद् जिसकी कांग्रेस ने मांग की है वांछनीय है या नहीं? श्री एमरी ने कहा, "मेरी राय में भारत के लिए सर्वोत्तम विधानपरिषद् विभिन्न प्रान्तों के १० या १२ प्रतिनिधियों द्वारा तैयार की जानी चाहिये, जिसमें यूरोपियनों सहित सभी वर्गों के लोग हों।"

यह प्रश्न किया जाने पर कि क्या कैनेडा और दक्षिण अफ्रीका जैसी विधानपरिषद् भारत के लिये उपयुक्त न होगी? श्री एमरी ने संदेह प्रकट करते हुए कहा कि विभिन्न देशों को विभिन्न योजनाओं की आवश्यकता रहती है और हो सकता है कि जो चीज़ कैनेडा और दक्षिण अफ्रीका के लिए ठीक है—भारत के लिए उपयुक्त न बैठे। आपकी राय में भारत की आन्तरिक, बाहरी और सामरिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण स्थिति इस बात की इजाजत नहीं देती कि उसके लिए भी अन्य स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों जैसी विधानपरिषद् बनाई जाए।

यह प्रश्न किये जाने पर कि इस नाज़ुक घड़ी में भारतीयों के लिए क्या सलाह दे सकते

हैं, श्री एमरी ने कहा, "अगर कांग्रेस वाइसराय से सहयोग करके काम कर सकें तो मुझे इससे बड़ी खुशी होगी।"

आपसे यह पूछा गया कि अगर कांग्रेस वाइसराय से सहयोग करने की बजाय सत्याग्रह शुरू करदे तो ? इसपर आपने जवाब दिया, "मैं ठीक नहीं कह सकता कि सरकार का इरादा क्या है, लेकिन अगर कांग्रेस ने वर्तमान परिस्थिति के प्रतिकूल कोई काम किया तो यह निसंदेह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा।"

यह स्पष्ट हो गया था कि लड़ाई के फलस्वरूप मिलने वाली आजादी में से भारत को कुछ नहीं मिलेगा, बल्कि उसे तो उसका पूरा वेग सहन करना पड़ेगा। उसे युद्ध के प्रहार ही सहन करने होंगे। सिर्फ सर स्टैफर्ड क्रिप्स ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत से लौटने पर भारत के बारे में कुछ सहानुभूतिपूर्ण शब्द कहे। २६ अक्टूबर, १६३६ को कामन सभा में दिये गए आपके इस वक्तव्य का काफी महत्त्व था, क्योंकि उसमें आपने भारत और उसकी समस्याओं के निराकरण का एक उपाय विधानपरिषद् बताया था। पूरा वक्तव्य इस प्रकार है :

विशेष रूप से "यूनाइटेड प्रेस" के लिए अपनी एक बातचीत में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा, "मुझे यकीन है कि भारत की मुक्ति विधानपरिषद् में है।"

आगे चलकर सर स्टैफर्ड ने कहा, "सभी स्थानों पर कांग्रेस ने इस आन्दोलन में सबसे अधिक क्रियात्मक भाग लिया है और मजदूर वर्ग की विवेकशील जमात के साथ मिलकर काम किया है। अब कांग्रेस ने इस समस्या पर इस तरह से विचार करना शुरू किया है कि जनता की नैतिक शक्ति को किस तरीके से संगठित किया जाय कि अपने दृष्टिकोण की ओर पार्लमेंट का ध्यान आकृष्ट करने में उसका पूरा-पूरा लाभ मिल सके। सभी श्रेणियों के भारतीयों में यह भावना जोर पकड़ रही है कि पार्लमेण्ट भारतीय समस्याओं पर बहुत कम ध्यान देती है। कांग्रेस की मांग वस्तुतः राष्ट्रीय मांग है। इसमें सभी विचारों के लोग शामिल हैं और वह भारतीय जनता की घोषणा है लेकिन इतने पर भी आशंका की जाती है कि शायद ब्रिटिश सरकार भी इसकी उपेक्षा करदे। इसका परिणाम सविनय भंग आन्दोलन होगा, क्योंकि कांग्रेस का यकीन है कि इस प्रकार सारी जनता की नैतिक शक्ति इस मांग के पीछे होगी। कांग्रेस का अन्तिम हथियार सारे देश में एक व्यापक हड़ताल की घोषणा होगा। किसानों और मजदूरों का ऐसा विचार है कि कांग्रेस उन्हें जमींदारों और पूंजीपतियों के पंजे से नजात दिलाएगी और ठीक यही एक कारण है कि कांग्रेस का उनके ऊपर बड़ा असर है। आज अधिकांश भारतीय बड़ी आतुरता से कांग्रेस की ओर देख रहे हैं और इस प्रतीक्षा में हैं कि वह उन्हें क्या आदेश देती है। उनकी सब आशाएं कांग्रेस पर केन्द्रित हैं और वे भारत के विभाजन के लिए श्री जिन्ना की योजना का विरोध करते हैं। उनका नारा यह है कि 'आजादी हासिल करने के लिए सभी कोशिशें केन्द्रित की जायँ।' गांधी जी को शान्तिपूर्ण नीति पर पूरा यकीन है और उनका विचार है कि हिंसात्मक उपायों से नैतिक ताकत कमजोर पड़ती है और उससे सत्य की अजेय शक्ति में अविश्वास की भावना प्रकट होती है। यह वास्तव में एक सचाई है कि अधिकांश भारतीय हिंसात्मक कार्रवाई को अपने आन्दोलन के लिए हानिकारक समझते हैं। भारत में अपने अल्पकाल के दौरे में मैं सभी श्रेणियों के भारतीयों से मिला हूं और उनमें से अधिकांश ने मुझे यही बताया कि हिंसात्मक शब्दों से दुश्मन को नुक्सान नहीं पहुँचता, बल्कि उलटे इससे हमारे आन्दोलन के दोस्तों को नुक्सान पहुंचता है।"

आगे सर स्टैफर्ड ने कहा "आज भारत का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़, स्वतंत्रता, कानून, न्याय और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का हामी है ।

"मुझे सभी विचारों के लोगों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन अनुभवों का भारत की गम्भीर स्थिति के बारे में मेरे ऊपर बड़ा असर हुआ है । इस बात का भी मेरे ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा है कि ब्रिटेन में हम लोगों को भारत के बारे में बहुत ही कम जानकारी है । कोई भी व्यक्ति इस बात से तो इनकार कर ही नहीं सकता कि सारे देश पर कांग्रेस का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है और अगर वह चाहे तो जल्दी ही ब्रिटेन के जुए से निकल भाग सकती है, लेकिन क्योंकि वह मुस्लिम लीग के सहयोग से ही आगे बढ़ना चाहती है। इसलिए भारत की आज़ादी रुकी हुई है।"

यह पूछे जाने पर कि सांप्रदायिक प्रश्न को तत्काल हल करने के बारे में आपका रचनात्मक सुझाव क्या है, सर स्टैफर्ड ने कहा, "मेरा यकीन है कि भारतीय समस्या का हल विधान-परिषद् में है ।"

यह प्रश्न करने पर कि ब्रिटिश सरकार को आप क्या राय देंगे—सर स्टैफर्ड ने कहा, "मैं सरकार पर जोर दूँगा कि वह असंदिग्ध रूप में यह घोषणा कर दे कि लड़ाई समाप्त हो जाने के बाद एक साल के अन्दर उसे स्वराज्य दे दिया जायगा और 'मेरा विश्वास है कि अगर इस किस्म की कोई घोषणा की जाय तो उससे सांप्रदायिक समस्या भी सुलझ जाएगी और संभव है कि जब तक लड़ाई खत्म न हो जाय कांग्रेस भी शान्त होकर बैठ रहे ।"

१९३९ की सर्दियों में भारत से लौटने के थोड़ी देर बाद ही कामनसभा में सर स्टैफर्ड ने जो भाषण दिया था—इस सम्बन्ध में उसका उद्धरण देना भी सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उससे क्रिप्स बनाम क्रिप्स—अर्थात् क्रिप्स जबकि वे मंत्रिमण्डल में शामिल नहीं हुए थे और क्रिप्स जैसे कि उसके बाद प्रकट हुए—पर प्रकाश पड़ता है ।

"बहुत से माननीय सदस्यों ने भारतीय जनता और भारत के विभिन्न दलों से अपीलें की हैं कि वे आजकल की कठिन परिस्थितियों में जरा तर्क से काम लें। मेरा खयाल है कि ऐसी अपीलें यदि भारतीय जनता से करने की बजाय ब्रिटिश सरकार और ब्रिटेन की जनता से की जाएं तो अधिक लाभ हो सकेगा। मेरे विचार से कांग्रेस ने जो वक्तव्य दिये हैं वे उचित और संगत हैं । इनमें उसने उस दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला है जिस पर उसे ईमानदारी से यकीन है । उसने कठिन समस्या को सुलझाने के लिए सरकार से भी सहयोग की मांग की है ।

सभा के नेता का भाषण अन्तिम रूप से स्वीकार हो गया है—इसका मुझे खेद है । मेरा खयाल है कि उसमें नई परिस्थितियों पर ध्यान नहीं दिया गया···विश्व-व्यापी स्थिति में नये परिवर्तन और ब्रिटेन के घोषित युद्ध उद्देश्यों के कारण संसार की नजरों में और इस देश के बहुत से लोगों तथा स्वयं भारतीय जनता की दृष्टि से भारत का मामला एक कसौटी बन गया है । वास्तव में इसके फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में हमारे भावी इरादों का सवाल उठ खड़ा हुआ है ।··· ······

लार्ड प्रिवीसील द्वारा यह कहा गया है कि सांप्रदायिक प्रश्न की कठिनाई के कारण भारत के लिए केन्द्रीय सरकार की स्थापना का कोई सन्तोषजनक तरीका ढूँढ निकालना जटिल होगया है। यही बात पोलैण्ड के बारे में भी कही जा सकती थी, जहां रूसी, यहूदी, जर्मन और पोल रहते हैं। यही बात चेकोस्लोवाकिया के लिए भी कही जा सकती थी, जहां सूडेटन, चेक, और स्लोवाक रहते हैं; और अगर यह दलील प्रजातंत्र की बिना पर पेश की जाय तो मैं इसे समझने में असमर्थ हूं,

क्योंकि इस तरह से एक अल्पसंख्यक जाति को संरक्षण देने के लिए बहुसंख्यक जाति को उसके उचित अधिकारों से वंचित किया जाता है। यह आवश्यक हो सकता है कि बहुमत के कुछ अधिकारों में संशोधन किया जाय और उसे इस पर सहमत कर लिया जाय, जैसा कि कांग्रेस ने स्वेच्छा से किया है, लेकिन आपके लिए बहुमत से उसके अधिकार इसलिए छीनना न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता कि आप अल्पसंख्यकों के संरक्षण का दावा करते हैं। अगर आप ऐसा करते हैं तो वास्तव में बहुमत को अल्पमत में परिवर्तित करते हैं।

अगर आप प्रजातंत्रात्मक सरकार के समर्थक हैं तो अल्पमत के लिए जरूरी हो जाता है कि वह बहुमत का शासन स्वीकार करे और यही बात हम आये दिन इस देश में देख रहे हैं। अगर आप प्रजातंत्र को मानते हैं, अगर आप प्रजातंत्र-पद्धति को अपनाना चाहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि आप यह जान सकें कि कौन-सा वर्ग, अथवा जाति या दल बहुमत में है, तो आपको इस पद्धति का परिणाम भी स्वीकार करना होगा। और इस वक्त, आप चाहें या न चाहें, कांग्रेस दल का ब्रिटिश भारत में बहुमत है।

यह बताने से पूर्व कि हम इस स्थिति को सुलझाने के लिए हमें कौन-से व्यावहारिक तरीकों को अपनाना चाहिये, मैं एक और विषय का जिक्र करना चाहता हूँ। अगर हम इस वक्त भारत को स्वराज्य देने से इन्कार करते हैं तो उसका यूरोप की परिस्थिति और यूरोप में हमारी कठिनाइयों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? मेरा खयाल है कि यह प्रभाव तीन तरीकों से पड़ सकता है। पहले तो यह कि स्वयं हमारे ही लोगों पर यह प्रभाव पड़ेगा कि हम आजादी और जमहूरियत के बारे में जो कुछ कहते हैं, उस पर यकीन नहीं किया जा सकता और इससे हमारे युद्ध प्रयत्न की एकता और उसकी प्रगति कम हो जाएगी। दूसरे, मेरा खयाल है कि तटस्थ देशों में, खासकर अमरीका में, जहां बहुत से लोग भारत की समस्याओं में गहरी दिलचस्पी रखते हैं तटस्थता की नीति और ब्रिटिश-विरोधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। तीसरे—एक विरोधी और असहयोगी भारत। हमें यह न भूलना चाहिए कि भारत के इस रुख के परिणामस्वरूप संघर्ष के खतरे हैं। और इससे हमें अपनी कठिनाइयां सुलझाने में मदद मिलने की बजाय संभवतः रुकावटों का ही सामना करना पड़ेगा। इस बात का हमें उचित रूप से तथा ईमानदारी के साथ मुकाबला करना होगा।

···मेरा सुझाव यह था कि अगर हम यह दावा करते हैं कि हम लड़ाई प्रजातंत्र और आजादी के लिए लड़ रहे हैं और वही चीज हम ब्रिटिश साम्राज्य के एक हिस्से पर लागू नहीं करते और ऐसे हिस्से पर जिसे स्वयं हम और गवर्नर-जनरल स्वीकार कर चुके हैं कि स्वराज्य के लिए पूरी तरह से योग्य हो गया है—तो भारतीय जनता कहेगी कि "यह एक और उदाहरण है जब ब्रिटेन ने कहा कुछ है और किया कुछ और ही।" इसलिए मेरे खयाल से हमें यह फैसला करना है कि क्या हम वास्तव में भारत की जनता को स्वराज्य देना चाहते हैं—और मुझे यकीन है कि अगर हमने ऐसा ही किया तो वह देश हमारा एक शक्तिशाली सहयोगी राष्ट्र बन जाएगा और भविष्य में सदा के लिए दोस्ती का हाथ बटाएगा—अथवा हमें प्रतिक्रियावादी देशी नरेशों से गठबंधन करना होगा—जैसा कि हम अब तक करते आए हैं।

कांग्रेस ने हमसे अपने युद्ध-उद्देश्यों और भारत के बारे में अपने इरादों पर प्रकाश डालने को कहा है—ऐसी हालत में हमारा क्या जवाब होना चाहिए? मेरा सुझाव है कि हमें यह फैसला

अवश्य करना चाहिए और अभी करना चाहिए। और यह फैसला बहुत कुछ इस तरह का होना चाहिये।

.........भारतीय जनता को यकीन होना चाहिये कि हमारा तात्कालिक उद्देश्य उसके लिए स्वराज्य हासिल करना है।

......दूसरे, हम ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय असेम्बली का नया चुनाव करने को तैयार हैं और मुझे इसमें कोई कठिनाई नहीं दिखाई देती। मेरे माननीय मित्र ने कहा है कि भारत में चुनाव नहीं हो सकता। जब क्यूबेक में निर्वाचन हो सकता है तो फिर भारत में क्यों नहीं? अगर लोग व्यस्त हैं तो औरों को यह काम क्यों नहीं सौंप दिया जाता? निश्चय ही हम यह नहीं कहना चाहते कि इस देश का भविष्य भारत की समस्या के कारण खतरे में डाल दिया जाय, क्योंकि भारत में लोग इस समय इतने व्यस्त हैं कि वहां चुनाव ही नहीं हो सकते। ऐसी परिस्थिति में जो भारी खतरे मौजूद हैं उन्हें देखते हुए मुझे यह एक बड़ी काल्पनिक-सी बात नजर आती है—इसमें कोई वास्तविकता ही नहीं—कि हम यह कह दें कि चुनाव नहीं हो सकता। मुझे यकीन है कि उन लोगों की तरफ से जो इस समय भारत में चुनाव नहीं चाहते यह एक बहाना है......

तीसरे, केन्द्रीय असेम्बली के मुख्य दलों को मिलकर एक सरकार बनानी चाहिये जिसे वाइसराय अपनी शासन परिषद् में शामिल कर लें।

यह सच है कि विधान के और टेकनिकल दृष्टिकोण से शासनपरिषद् मंत्रिमंडल नहीं होगी। लेकिन कोई वजह नहीं कि हमारी सरकार यह आश्वासन न दे कि वाइसराय असेम्बली के सदस्यों में से निर्मित ऐसी शासनपरिषद् को सभी बड़े-बड़े मामलों में मंत्रिमण्डल के रूप में ही स्वीकार करेंगे, इसका मतलब यह है कि वे उसी प्रकार से उनकी राय मानेंगे जैसे कि सम्राट् यहां के मंत्रिमण्डल की राय मानते हैं। मेरा विश्वास है कि यदि हम तत्काल ही यह काम करें और लड़ाई के बाद भारत को पूर्ण स्वराज्य देने का वादा करें तो निश्चय ही हम संसार में प्रजातंत्र और आजादी स्थापित करने में भारत का हार्दिक सहयोग प्राप्त कर सकेंगे। हमें चाहिए था कि हम यथासंभव जल्दी-से-जल्दी भारत को आजादी हासिल करने में मदद देने की अपनी ओर से घोषणा कर देते। मुझे यकीन है कि ऐसी घोषणा का समर्थन न केवल सारा ब्रिटिश भारत ही करेगा, बल्कि सारे संसार में उसे प्रजातंत्र के सच्चे पुजारी और महान् राष्ट्र की जनता का एक बड़ा भारी कार्य समझा जाएगा।"

इसके बाद ५ जून को यह घोषणा की गई कि ब्रिटिश राजदूत ने मो० मोलोतोव को सूचित कर दिया है कि ब्रिटिश सरकार का इरादा सर विलियम सीड्स् की जगह सर स्टैफर्ड क्रिप्स को मास्को में ब्रिटिश राजदूत नियुक्त करने का है और उनका पद साधारण राजदूत का होगा, जिसे कोई असाधारण कार्य न करना होगा। रूसी सरकार को इस पर कोई आपत्ति नहीं थी। सर स्टैफर्ड क्रिप्स की नियुक्ति ब्रिटिश राजनीति का एक महान् आश्चर्य था। '३९ की सर्दियों में वे कलकत्ता देखने गए और वहां से चुंगकिंग गए और हवाई जहाज से चीन का दौरा करके मास्को से होकर इंगलैण्ड वापस पहुंचे। चीन में वे सीक्यांग तक गए। भारत के बारे में उनके विचारों का जिक्र पहले ही किया जा चुका है। इसके अलावा यह उल्लेख भी किया जा चुका है कि किस प्रकार उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर भारत से समझौता करने के लिए जोर दिया था। सर स्टैफर्ड मजदूर दल के लार्ड पारमूर के सुपुत्र हैं। आपके पिता का निधन १३ जुलाई

१९४१ को हुआ। १९३० के मजदूर मंत्रिमण्डल के समय क्रिप्स सोलीसिटर-जनरल (सरकारी वकील) और २५ जनवरी, १९३९ को मजदूर दल की नेशनल एक्जीक्यूटिव ने उन्हें अपने दल से निकाल दिया था। उनके विरुद्ध यह कार्रवाई उनकी 'सार्वजनिक कार्रवाई के मोर्चे' सम्बन्धी कार्रवाइयों के लिये की गई थी। इसके बारे में मजदूर दल की संगठन समिति ने एक रिपोर्ट भी पेश की थी। दूसरा कारण यह था कि उन्होंने अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करने और दल की नीति पर अमल करने से इन्कार कर दिया था। बाद को मई-जून में साउथ पोर्ट के ३८वें अधिवेशन के समय इस रिपोर्ट पर फिर विचार करने का खयाल उठाया गया था—परन्तु उसका कोई फल न हुआ। सर स्टैफर्ड ने ३० मई को पार्टी में फिर से शामिल होने के लिए प्रार्थना की और वायदा किया कि वे 'सार्वजनिक मोर्चे' के सम्बन्ध में सम्मेलन के फैसले को स्वीकार कर लेंगे, परन्तु उनका प्रार्थनापत्र दल की नयी एक्जीक्यूटिव के पास भेज दिया गया। बाद में १९४२ में जाकर आखिर आपको फिर से दल में ले लिया गया। मई के अन्तिम सप्ताह और जून १९४० के पहले सप्ताह में भारत में जो बेचैनी और आन्दोलन देखने में आया उसका वास्तविक कारण उस समय फ्रांस में होने वाली घटनाओं और युद्ध की प्रगति की प्रतिक्रिया था। फ्रांस उस समय युद्ध का प्रधान केन्द्र बन चुका था। वहां कालचक्र बड़ी तेजी से चल रहा था। डैंजिग का पतन, चेकोस्लोवाकिया की पराजय, पोलैण्ड का विनाश, हालैण्ड, बेल्जियम और नार्वे का आक्रमण—ये सभी युद्ध की उस प्रगति की शृंखलाएँ थीं, जिसकी इतिश्री १४ जून को जाकर फ्रांस के पतन के रूप में हुई। १४ जून को कांग्रेस की कार्यसमिति का जलसा हो रहा था और फ्रांस के पतन की खबर १५ और १६ जून को रेडियो के जरिये जनता तक पहुंची और १७ जून को सारा संसार निस्तब्ध भाव से भावी स्थिति को देख रहा था। डनकर्क का महान् संकट इस दुर्घटना से पहले आ चुका था। आखिर फ्रांस जमीन पर चारों खाने चित गिर पड़ा। और अब आगे क्या होगा ? हिटलर को रोका नहीं जा सकता था ? इंगलैंड पर आक्रमण उसके दिमाग में उस समय चक्कर लगा रहा था और फ्रांस के पतन से उसकी डींग और बन्दर-भभकियों को और भी प्रोत्साहन मिला। अगर इंगलैण्ड पर आक्रमण होता है तो भारत की स्थिति क्या होगी ? पिछले १५० बरस से भारत इंगलैण्ड के साथ बंधा हुआ था। कांग्रेस के लिये अपनी स्थिति के बारे में इतना अधिक सोचने की आवश्यकता नहीं थी, जितना कि इस बात पर जोर देने की थी कि भारत का ध्येय पूर्ण स्वाधीनता है। एक सप्ताह तक के गहरे सोच-विचार के बाद कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें बहुत से महत्वपूर्ण विषय उठाए गए थे। अगर हम यह याद रखें कि जून में वर्धा में होने वाली कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक से पहले गांधीजी ने 'हर एक अंग्रेज के प्रति' अपना प्रसिद्ध पत्र प्रकाशित किया था—तो उस समय की स्थिति हमारी समझ में आसानी से आ सकेगी। इससे वर्धा में कांग्रेस ने जो स्थिति ग्रहण की, उसपर काफी प्रकाश पड़ता है। गांधीजी ने अभी यह पत्र वाइसराय के पास ब्रिटेन भेज देने के लिये नहीं भेजा था। गांधीजी की विचारधारा स्वाभाविकतौर पर तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही स्थिर की गई थी। अचानक उन्हें नया प्रकाश मिला। जिस प्रकार सूरज निकलने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है मानो उसी प्रकार कांग्रेस का पिछला सारा इतिहास उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। अब यह संघर्ष अधिक प्रत्यक्ष रूप में सामने आने लगा। प्रश्न यह था कि किस प्रकार गांधीजी कांग्रेस का नेतृत्व कर सकेंगे, जबकि उनके विचार कांग्रेस के परंपरागत विचारों से और आज की विचारधारा से कोई मेल ही नहीं खाते ? इससे तीन महीने पहले रामगढ़

में भी उन्होंने कांग्रेस छोड़ देने की बात कही थी। लेकिन आग्रहवश उन्हें अपना विचार त्याग देना पड़ा और वे कांग्रेस में टिके रहे। जून में भी वर्धा में स्थिति वही थी। उनके लेख से पता चलता है कि उन्हें फ्रांस के पतन से बड़ा दुःख पहुंचा। उनकी नजरों में यह विजय व्यर्थ और बेकार थी। कांग्रेस को गर्व अनुभव होना चाहिये कि उसने हिंसा के मुकाबले में एक बिल्कुल नया हथियार दुनिया के सामने पेश किया था। क्या यह हथियार कमजोर का हथियार ही होना चाहिये ? बलवान् का हथियार भी यही होना चाहिए ? आन्तरिक गड़बड़ और बाहरी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए भी हमें अहिंसा के इसी हथियार का आश्रय लेना चाहिये। हिंसा की जगह यह एक प्रभावशाली साधन समझना चाहिये। इस समय कांग्रेस कार्यसमिति के कन्धों पर एक बड़ी भारी जिम्मेदारी आ पड़ी थी। अगर वह नया हथियार अपनाती है तो उसे अपना पिछला सारा इतिहास भुला देना होगा। उसने पीछे जो कुछ किया है वह सब मलियामेट हो जाएगा। उसका विश्वास जाता रहेगा। यह ठीक है कि इस अस्त्र का प्रयोग हमने ब्रिटेन के खिलाफ किया। पर सवाल तो यह है कि क्या इससे हमारी सांप्रदायिक समस्या सुलझ सकेगी ? यह सुझाव कोई मानी नहीं रखता था कि कांग्रेस फिर से ओहदे संभाल ले; क्योंकि जब तक अनुकूल वातवरण न पैदा हो जाय अथवा उसे काफी सत्ता न हासिल हो जाए, कांग्रेस के लिए ऐसा सोचना या अमल करना बेकार था। अगर कांग्रेस के लिए बल प्रयोग का सहारा लेने के सिवाय और कोई चारा ही न था, तो फिर उसे तब तक सत्ता नहीं ग्रहण करनी चाहिए जब तक कि जनता के ऊपर उसका पूरा-पूरा अहिंसात्मक नियन्त्रण न हो जाय। इसका मतलब कांग्रेस की विचारधारा में क्रान्ति पैदा कर देना था। अगर कांग्रेस कार्यसमिति अहिंसा के पक्ष से विचलित होती है तो निःसन्देह वह विश्वासघात की दोषी ठहराई जाएगी। इसलिए उसे यह घोषणा करनी होगी कि विदेशी हमले के समय भी वह अहिंसा से ही दुश्मन के आक्रमण का मुकाबला करेगी और वह अहिंसक लोगों का एक ऐसा दल तैयार करेगी जो आक्रान्ता के खिलाफ एक जीवित दीवार का काम दे। इसलिए आवश्यकता यह होगी कि जिन सदस्यों को अहिंसा पर विश्वास नहीं है—उन्हें कांग्रेस संगठन से पृथक् कर दिया जाय अथवा वे कांग्रेस से स्वेच्छा-पूर्वक अलग हो जाएं। संयोगवश इस तरह से हिंसा का सहारा लेने वाले सिविक गार्डों का प्रश्न भी हल हो जाता है। इस प्रकार कांग्रेस ब्रिटेन से किसी तरह का सहयोग नहीं कर सकती थी और न ही वह युद्ध-प्रयत्न में उसकी कोई बड़ी सहायता ही कर सकती थी। हां, वह उसे अपनी नैतिक मदद दे सकती थी, बशर्ते कि ब्रिटेन अमली रूप से अपने को इसका अधिकारी साबित कर देता। लेकिन उसे यह सहायता न चाहिये थी।

जब गांधीजी के प्रस्तावों की गहरी छानबीन की गई तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि न केवल नैतिक दृष्टि से बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी भारत जैसे देश में संगठित हिंसा से काम नहीं चल सकता, क्योंकि अनैतिक होने के साथ ऐसा करना कारगर साबित नहीं हो सकता। तब उस हालत में इसके माने यह थे कि अहिंसा की स्थापना के बाद ही देश का शासनसूत्र हाथ में लिया जा सकता था—उससे पहले नहीं। परन्तु देश में उस समय जो विचार-धारा प्रवाहित हो रही थी—उसकी कांग्रेस किस प्रकार उपेक्षा कर सकती थी। इसलिए उसे गांधीजी की स्थिति पर संदेह होने लगा; परन्तु गांधीजी का विश्वास इतना दृढ़ था कि उन्हें पथ-भ्रष्ट करना कठिन था। लेकिन कार्यसमिति उनकी नीति और सिद्धान्तों के मार्ग में कोई रुकावट नहीं खड़ी करना चाहती थी। गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि लोगों को अपनी आत्मा

की पुकार के अनुसार काम करना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अन्दर कुछ और बाहर कुछ। यह नहीं हो सकता था कि आप बाहर से अहिंसा का दम भरते रहें और भीतर से हिंसा का समर्थन करें। यह एक तात्कालिक समस्या थी। इसका विवेचन भविष्य पर नहीं छोड़ा जा सकता था। ब्रिटिश ताकत छिन्न-भिन्न हो रही थी। पर इसके पूरी तरह से खत्म होने के लिए अभी काफी समय चाहिए था। यद्यपि बुराई को दूर करने में वह पर्याप्त थी, फिर भी जनता की रक्षा करने में वह कभी प्रभावशाली नहीं हुई। वह डकैतियां रोकने में असमर्थ रही, हालांकि कभी-कभी वह दावा करती थी कि उसने उन्हें बन्द कर दिया है। अगर यह स्थिति ठीक थी तो फिर देश को अहिंसात्मक आधार पर रक्षात्मक लड़ाई के लिए तैयारी करनी चाहिये। अगर लोग गांधीजी से कहते कि यह कैसे होगा तो शायद वे कोई निश्चित कार्यक्रम अथवा योजना उनके सामने न रख सकते। उन्हें तो तत्कालीन स्थिति के अनुसार काम करना होगा। उन्हें कांग्रेसियों को बताना चाहिए कि (१) डकैतियों और दंगों के समय उन्हें क्या करना चाहिए और (२) अगर इस देश पर अफगान आक्रमण कर दें तो वे क्या करें? "अगर अफगान हमारे ऊपर चढ़ आए तो हमें उनके सामने मर जाना चाहिए। अगर आज सारा भारत ही मेरे साथ हो तो भी मैं ऐसा ही करूंगा। मुझे सेना की आवश्यकता नहीं। ऐसा ही मैं डकैतियों के मामले में भी करूंगा। कांग्रेस को इस तरह के शासन को हाथ में लेना होगा। आज हम ऐसा नहीं कर सकते। हम अंग्रेजों से नहीं लड़ रहे, बल्कि अपने से ही लड़ रहे हैं।" उनका खयाल था कि अब अहिंसा की स्थापना का समय आ गया था। "ऐसा नहीं हो सकता कि कोई शख्स देखे तो पूर्व में और चले पश्चिम में।" परन्तु शक्की लोग पूछते कि क्या "यह समय आ गया है?" इसी तरह का संदेह वे असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध, तीन तरह के बायकाट, रचनात्मक कार्यक्रम, सविनय कानून-भंग और सत्याग्रह में भी प्रकट करते? इन सबके ऊपर थी आश्रित अहिंसा। वही स्वराज्य का मूलमंत्र था। इसके खिलाफ यह कहा जाता था कि गांधीजी को अपने सिद्धान्तों पर कड़ाई से अमल करने के खयाल से इस जीवन-मरण के संघर्ष से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में गांधीजी की दृढ़ विश्वास-भावना से तो देश को रचनात्मक कार्यक्रम के लिए प्रोत्साहन ही मिलना चाहिए। बहुत दिनों से वे राष्ट्र की कमजोरी को जानते आए हैं। यह तो गांधीजी का ही कर्तव्य था—क्या वास्तव में यह काम उनका नहीं था। उन्हें उदार बनने की जरूरत थी। राष्ट्र को ५० साल के इस महान् कलात्मक कार्य को नष्ट नहीं होने देना चाहिए। उसे इसे खराब करने की कोई कोशिश नहीं करनी चाहिए। गांधीजी यदि डाक्टर थे तो राष्ट्र एक अस्पताल था। अगर अस्पताल में रोगी ठीक न थे तो क्या डाक्टर इलाज के डर से अस्पताल छोड़कर भाग जाता। अन्त में गांधीजी को रहम आया। अगर उनके सहयोगी उनकी विचारधारा को समझ सकें तो उन्हें इससे बड़ी खुशी होगी। वे अपने प्रस्ताव में हिंसा और अहिंसा दोनों ही बातें एक साथ नहीं कह सकते थे। यह ठीक था कि वे अब तक फौज को बरदाश्त कर रहे थे, पर उनका उद्देश्य और उनकी इच्छा तो इसे तोड़ देने की थी। जहां तक प्रान्तों का सवाल है वे उन्हें इस नीति पर अमल करने देंगे। जहां तक केन्द्र का प्रश्न है यह फैसला करना उनका काम होगा कि राष्ट्र को कब शक्ति हासिल करनी चाहिए। इसीलिए जून १९४० के प्रस्ताव में कहा गया, "वे स्वीकार करते हैं कि उन्हें अपने ही तरीके से अपने महान् लक्ष्य को हासिल करने की आजादी होनी चाहिए और इसलिए कांग्रेस उन्हें उस कार्यक्रम और कार्रवाई की जिम्मेवारी से मुक्त रखना चाहती है जिस पर उसे बाहरी आक्रमण और देश के

भीतर की गड़बड़ का ख्याल करते हुए, भारत की तथा संसार की मौजूदा परिस्थितियों में, अमल करना है।" परन्तु यह अभी तक सन्देहास्पद बना हुआ था कि यद्यपि प्रस्ताव में गांधीजी को सैनिक और पुलिस विषयक जिम्मेदारियों से मुक्त किया गया है—परन्तु क्या उसका मतलब उन्हें सम्पूर्ण नेतृत्व से हो, जिसमें सत्याग्रह भी शामिल था, मुक्त कर देना न था ? क्या वे इस प्रस्ताव के रहते हुए आन्दोलन का नेतृत्व कर सकते थे ? तो क्या उनका दृष्टिकोण यह था कि तब तक कोई सत्याग्रह नहीं हो सकता जब तक कि कांग्रेस भारतीय सेना को खत्म करने पर तैयार न हो जाय ? अथवा गांधीजी का यह खयाल था कि फ्रांस के पतन के बाद ब्रिटेन भी खत्म हो गया है और अब भारत स्वतन्त्र हो गया है। इसलिए वह अपना शासन वास्तविक अहिंसात्मक ढंग पर चलाएगा ? गांधीजी यह नहीं कह सकते थे कि वे शासन-सूत्र अपने हाथ में संभाल लेने पर क्या-क्या करेंगे। वे केवल इतना कह सकते थे कि राष्ट्र को इसकी तैयारी अभी से कर लेनी चाहिए और इस नई विचारधारा के लिए देश की जनता का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहिए। परन्तु वे यह कदापि नहीं सहन कर सकते थे कि कोई उनसे कहे कि हमारे स्वयंसेवक शान्तिपूर्ण या हिंसक हो सकते हैं। इससे वे कभी सहमत नहीं हो सकते। इसलिए इसका मतलब यह था कि उनका रास्ता और था और हमारा और।

उस समय लोगों की विचारधारा कुछ इस प्रकार की थी—क्या जून, १९४० में वर्धा में गांधीजी और कांग्रेस कार्यसमिति एक-दूसरे से अलग होकर अपने-अपने रास्ते पर चलने को स्वतन्त्र हो गए थे ? कांग्रेस के अन्तर्गत इस तथाकथित संकट के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों का विवेचन करने के बाद अब हम उन प्रश्नों पर सोच-विचार करना चाहते हैं जो इस बारे में कांग्रेस के शुभचिन्तकों और दोस्तों द्वारा उठाए गए थे। क्या गांधीजी यह खयाल करते हैं कि देश उनके इस प्रयोग के लिए तैयार हो गया है ? यह परीक्षण उनके विचारों की चरम सीमा था। क्या वे ऐसा खयाल करने लगे हैं कि सभी लोगों ने उनकी उच्च भावना को ग्रहण कर लिया है; क्योंकि इसीके आधार पर तो वे अपना प्रयोग कर सकेंगे और इसके बिना आगे बढ़ना खतरे से खाली नहीं है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति यह सवाल भी पूछ सकता है कि क्या प्रोफेसर उम्मीदवारों की परीक्षा लेकर उनके पास हो जाने की घोषणा करता है तो उससे उसका प्रयोजन यह होता है कि उनका ज्ञान और विद्वत्ता भी उसके बराबर ही हो गई है ? नहीं, यह बात ऐसी नहीं है। आपको मैट्रिक परीक्षा में साधारणतः उसी समय पास हुआ समझा जाता है जबकि आपने प्रत्येक विषय में कुछ प्रतिशत अंक प्राप्त किए हों और कुल योग में ३५ प्रतिशत अंक। तो कहने का प्रयोजन यह हुआ कि विद्यार्थी का ज्ञान ३५ प्रतिशत और उसका अज्ञान ६५ प्रतिशत है। और इतने पर भी परीक्षा में सिर्फ २२ प्रतिशत विद्यार्थी ही पास हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तीर्ण होने वालों की संख्या बहुत ही कम है और उनके ज्ञान का क्षेत्र भी बहुत कम है। लेकिन फिर भी विश्वविद्यालय चल रहे हैं। प्रोफेसर परीक्षा ले रहे हैं। मां-बाप अपने बच्चों को पढ़ाए चले जा रहे हैं और विद्यार्थी इस संघर्ष में जूझ रहे हैं। इसी प्रकार मान लीजिए कि हम सभी जीवनरूपी इस महान् विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थी हैं और भारतीय जनता ने १९२० में असहयोग की परीक्षा, १९२१ में निष्क्रिय प्रतिरोध और सविनय-भंग की परीक्षाएं पास करके १९३०-३१ में सत्याग्रह की डिग्री प्राप्त की है। और वह १९४०-४१ में एम० ए० या आनर्स की परीक्षा पास करने की फिक्र में है। ऐसी हालत में जबकि इस विश्व-विद्यालय का संस्थापक अभी जीवित है तो क्या हम उसकी देखरेख में पोस्ट-ग्रेज्युएट डिग्री

हासिल करने के लिए जल्दी न करें ? यह कहने से कोई फायदा नहीं कि जबतक अहिंसा की सत्याग्रही सेना तैयार नहीं हो जाती हम हिंसा की दुराग्रही सेना का मुकाबला नहीं कर सकते। यह ठीक है कि जिस प्रकार कुदरत शून्य को खाली रखना पसन्द नहीं करती और उसकी पूर्ति करती रहती है उसी प्रकार राजनीति भी शून्य का स्थान खाली नहीं रहने देती। लेकिन अगर उस रिक्त स्थान को भरने की कोशिश ही न की जाय तो वह खतरा सदा बना ही रहेगा। यह तो मानों ऐसी बात हुई कि बिना डुबकी लगाए तैरने की कोशिश की जाए। कहने का तात्पर्य यह कि दोनों काम साथ-साथ चलने चाहिएं। वास्तव में तो दोनों काम एक ही हैं। लेकिन उनकी दिशाएं विभिन्न हैं। इस तरह के उदाहरण का मतलब यह है कि संक्रांति-काल में हमें ले-दे की नीति से काम चलाना होगा। और होना भी ऐसा ही चाहिए। राजनीतिज्ञ पुलिस की मांग कर सकते हैं और सेना कम कर सकते हैं, अथवा इसी प्रकार सेना की मांग करके पुलिस कम कर सकते हैं। कुछ समय तक के लिए पुलिस रखने पर गांधीजी भी सहमत हैं और शायद अन्तर्कालीन आवश्यकता की दृष्टि से वे सेना रखने पर भी राजी हो जाएं; परन्तु हमें साफ-साफ और असंदिग्ध भाषा में उनके सिद्धान्त को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। वास्तव में देखा जाय तो कांग्रेस कार्यसमिति ने अपने प्रस्ताव में कुछ ऐसी ही कोशिश की है। उसने अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास को फिर दोहराया है और सेना को समाप्त करने के सम्बन्ध में अपनी आशंकाएं भी प्रकट की हैं। इसे हम मजाक में यह कह सकते हैं कि एक टांग इधर और दूसरी टांग उधर। अर्थात् हम कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। राजनीति में ऐसा मजाक करना विशेष रूप से आसान है। परन्तु इस तरह से आत्मिक प्रगति नहीं हो सकती।

अगर आप राष्ट्रीय मामलों में हिंसा से अहिंसा की ओर शान्ति से और व्यवस्थित होकर अग्रसर होना चाहते हैं तो आप यह काम एकबारगी ही नहीं कर सकते। एक ही झटके में आप नीचे से निकलकर ऊपर नहीं आ सकते। इस प्रकार आप एकदम नई नीति पर नहीं चल सकते। इसलिए हमें गांधीजी पर ज़ोर देना है कि वे हमारी विचार-धारा पर सहानुभूति-पूर्वक सोच-विचार करें और अपने विवेक से इस तरह काम लें कि न्याय की कठोरता से उदारता में कमी न आजाए। आखिर गांधीजी डाक्टर हैं और हम एक बड़े अस्पताल के मरीज़। उनके बिना हमारा इलाज नहीं हो सकता। हां, वे हमारे बगैर अपना परीक्षण कर सकते हैं, परन्तु राष्ट्रीय पैमाने पर नहीं। आगामी चन्द वर्षों में जबतक वे जीवित हैं, उनका परम कर्तव्य है कि वे संसार को अपनी सर्वोत्तम चीजें प्रदान कर दें और हमारा अधिकार है कि हम उनसे ये चीजें ग्रहण करलें। हमें वर्धा के प्रस्ताव के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति से काम नहीं लेना चाहिये और यह ख्याल नहीं करना चाहिये कि उसके फलस्वरूप भविष्य के लिए रचनात्मक कार्यक्रम की गाड़ी ही बैठ जायगी। कार्यसमिति ने अपनी मौजूदा परिस्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की सिर्फ ऊहा-पोह ही की है, उसने अपनी नीति नहीं बदली। अहिंसा अब भी उसकी नीति का आधार और केन्द्र है। रचनात्मक कार्यक्रम अभी तक व्यावहारिक रूप में अहिंसात्मक कार्रवाई का प्रतीक है। भय और आशंका हमेशा अतिशयोक्ति की भावना से पैदा होते हैं और जो लोग अपने उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे ही अपनी आशाओं या आशंकाओं को बढ़ा-चढ़ाकर कहा करते हैं। इसलिए पुराने विचारों के लोग ही इस आत्म-प्रवंचना के शिकार हो सकते हैं—दूसरे नहीं। अपनी पिछली असफलताओं से हमें भविष्य में अपना काम और भी दूने उत्साह से जारी रखने की प्रेरणा मिलनी चाहिये। उनसे हमें निराश नहीं होना चाहिये।

जब नया कार्यक्रम शुरू किया गया तो कांग्रेस को भी उसीके अनुसार ढाल दिया गया था। इस कार्यक्रम की ऊँची सीढ़ियां कांग्रेस को इससे भी ऊँचा ले जायँगी; परन्तु जैसा कि स्वयं गांधीजी कहते थे उन्हें वातावरण में हिंसा की भावना नजर आती थी। हमें मालूम है कि अगर भविष्य में देश में अराजकता और गड़बड़ फैलती और कांग्रेस मंत्रिमण्डल अपने पदों पर होते तो उन्हें खुलेआम हिंसा का सहारा लेना पड़ता और उससे हमेशा के लिए हमारी सारी आशाएँ धूल में मिल जातीं। अगर कांग्रेस फिर से निर्माण करना चाहती है तो उसे नीचे से ऊपर तक नये सिरे से निर्माण करना होगा और इसलिए अपने को काफी संयत रखना होगा। समय काफी खराब है और आगे शायद वह इससे भी अधिक खराब हो और जिन कारणों से प्रेरित होकर हम पदारूढ़ होकर अराजकता का सामना करना चाहते थे शायद वे ही कारण हमें प्रेरित कर रहे हों कि इन मंत्रिमण्डलों के जरिये हमें अपने को बदनाम न करना चाहिये। गांधीजी को यकीन है कि अगर हम में काफी अहिंसा होती तो अंग्रेज भी हिन्दू-मुसलमानों में कोई आपसी समझौता होने में रुकावट नहीं डाल सकते थे। आखिरकार अहिंसा साधन है—साध्य नहीं। यह तो प्रयत्न है—लक्ष्य नहीं। जिस प्रकार तत्काल ही पूर्ण सत्य पवित्रता, न्याय और उदारता नहीं हो सकते उसी प्रकार तत्काल पूर्ण अहिंसा भी नहीं हो सकती। नकारात्मक संसार में ये ठोस चीजें हैं। हम तो अपने अल्पकाल के जीवन में यही कर सकते हैं कि वातावरण को अधिक शुद्ध और पवित्र बनाए रखें। अन्त में हमें गांधीजी की वह भविष्यवाणी स्मरण हो आती है जो उन्होंने १९३१ में लन्दन में दूसरी गोलमेज-परिषद् के समाप्त होने से पूर्व कांग्रेस संगठन को स्वीकार करने पर जोर देते हुए की थी—

"यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से आप मुझमें विश्वास करते हैं और उस संगठन में अविश्वास; पर एक क्षण के लिए भी आप मुझ में और उस संगठन में भेद न कीजिए, क्योंकि मैं तो महासागर की एक बूँद के समान उसका एक तुच्छ-सा सेवक हूं। मैं संगठन से बड़ा नहीं हूं और अगर आप मुझ पर भरोसा करते हैं तो मैं आपसे आग्रह करूँगा कि आप कांग्रेस पर भी भरोसा रखिए।"

सच तो यह है कि हम एक नये विज्ञान का प्रयोग कर रहे हैं। हम उसके तत्वों से परिचित नहीं। हमें ऐसी समस्याओं को हल करना है जो हजारों सालों और सैकड़ों प्रयोगों के बाद भी हल नहीं हो सकीं। इसी दौरान में हमारे बीच एक नया वैज्ञानिक प्रकट हो गया है और हमने उसकी प्रयोगशाला स्थापित करने में मदद की है। आइये, हम सब मिलकर काम और नये-नये अनुसंधान करें जिससे यूरोप अन्तहीन विनाश से बच सके। हमारा वैज्ञानिक निरा वैज्ञानिक ही नहीं है, वह प्रसिद्ध कला-विशेषज्ञ भी है और यह उसीकी कोशिशों का फल है कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा जैसा महान् कलात्मक निर्माण-कार्य संभव हुआ है। हमने इस महान् इमारत के निर्माण में उसकी मदद की है, इसलिए हम उसके विनाश में कभी सहयोग नहीं दे सकते। और अगर हम उस ईश्वरीय विभूति के नेतृत्व में आगे बढ़ना चाहते हैं तो पहले हमें अपने को उसका योग्य पात्र साबित करना होगा। इसलिए इस नाजुक घड़ी में हमें निराशा या मज़ाक से काम नहीं लेना चाहिये। कोई वजह नहीं कि अगर एक तरफ अधिक धैर्य से काम लिया जाय और दूसरी तरफ अधिक सहानुभूति से तो हम कांग्रेस को एक ऐसा साधन न बना सकें जो एक नये विश्व की रचना कर सके और कवि का यह स्वप्न भी पूरा हो जाय कि संसार में एक शान्ति-व्यवस्था कायम हो जिसमें शेर-बकरी एक घाट पानी पीते हों और चारों ओर न्याय और प्रेम

का ही साम्राज्य छाया हुआ हो। यह थी वह विचारधारा जिसमें गांधीजी के अपरिवर्तनशील सहयोगी फ्रांस के पतन के बाद की नाजुक परिस्थिति में प्रवाहित हो रहे थे।

कांग्रेस कार्यसमिति ने फैसला किया कि उसकी बैठकें थोड़ी-थोड़ी देर बाद हुआ करेंगी। उसने अपने सदस्यों को हिदायत की कि वे जल्दी में बुलाए जाने के लिए हमेशा तैयार रहा करें। इसके अलावा कार्यसमिति ने जुलाई, १९४० के अन्त में अखिल भारतीय महासमिति की बैठक बुलाने का भी फैसला किया। इन बातों का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया। इस बीच कांग्रेस अपनी अधीनस्थ सभी कमेटियों को संगठन का काम जोरों से चालू रखने और अपनी परीक्षा के समय के लिए प्रारम्भिक तैयारियां करने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी। बड़ी संख्या में प्रतिज्ञापत्र जारी किये गये थे और कार्यसमिति ने अपनी ओर से श्री आर० एस० पण्डित को स्वयंसेवक-आन्दोलन की प्रगति के सम्बन्ध में पूरी-पूरी और वास्तविक जानकारी हासिल करने के लिए सभी प्रान्तों का दौरा करने का आदेश दिया था। कांग्रेस संगठन के अन्तर्गत अनुशासन बनाये रखने के सम्बन्ध में अधीनस्थ समितियों से पाक्षिक रिपोर्ट भेजने को कहा गया था। उनसे यह भी पूछा जाता था कि कौनसे दल कांग्रेस के अनुशासन में नहीं हैं और वे किस तरीके से कांग्रेस के काम में रुकावट पैदा कर रहे हैं। इतना ही बस नहीं था। खादी को प्रोत्साहन देने, हरिजनों और अल्पसंख्यकों के साथ घनिष्ठ संपर्क-स्थापन कांग्रेस कमेटियों के दफ़्तरों की कार्यकुशलता, सत्याग्रह की तैयारी के सम्बन्ध में कांग्रेस के सदस्यों और जनता की प्रतिक्रिया, इस दिशा में मातहत कमेटियों और स्थानीय संस्थाओं के सहयोग, प्रचार-कार्य और प्रान्तों के ट्रेनिंग कैम्पों (शिक्षण-शिविरों) के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए एक विस्तृत प्रश्नावली जारी की गई थी। सरकार ने भी अपना दमनचक्र पूरे जोरों से चलाया। उसकी ओर से देश भर में बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियों, जेल, तलाशियों और नजरबन्दी का कार्यक्रम जारी रहा। युद्ध की प्रगति में फ्रांस का पतन निःसंदेह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी और इसके फलस्वरूप वाइसराय और गांधीजी में एक और मुलाकात हुई। उस समय की परिस्थिति का तकाजा भी यही था। इस सम्बन्ध में स्वयं गांधीजी ने लिखा था, "मुझे भी वाइसराय ने बुलाया था, मगर किसी दल के प्रतिनिधि या किसी नेता की हैसियत से नहीं। मुझे उन्होंने एक मित्र की हैसियत से बुलाया था, ताकि हो सके तो किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने में मैं उनकी मदद करूँ और खासकर कांग्रेस का दृष्टिकोण उन्हें समझाऊँ"। और यह भी ऐसी घड़ी में जबकि स्थिति में बिजली की तेजी से परिवर्तन हो रहा था। उनके अनुसार पहली चीज, जिसके बारे में हर एकको विचार करना था, यह थी कि क्या हिन्दुस्तान वेस्टमिनिस्टर की किस्मका औपनिवेशिक दरजा (स्वराज्य) स्वीकार कर सकता है? उनका खयाल था कि औपनिवेशिक स्वराज्य आज एक काल्पनिक चीज हो गया है या कम-से-कम युद्ध खत्म होने पर हो जाएगा। आगे उन्होंने कहा, "ब्रिटेन की जीत हो या हार, कुछ सदियों से जैसा वह रहा है, वैसे का वैसा वह अब नहीं रह सकता। मगर एक बात पक्की है कि अगर ब्रिटेन को हारना ही पड़ा, तो उसकी हार शानदार हार होगी। अगर उसकी हार हुई तो इसलिए होगी कि उसकी जगह पर दूसरी कोई भी ताकत होती, उसे हारना ही पड़ता। वही बात मैं उसकी जीत के बारे में नहीं कह सकता।" विजय प्राप्त करने के लिए उसे क्रमशः तानाशाही ढंग अख्तियार करना पड़ेगा। गांधीजी को इस बात का अत्यन्त खेद था कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने कांग्रेस के

नैतिक बल को ठुकरा दिया है। यह बल उन्हें आसानी से मिल सकता था और इससे युद्ध का फैसला उनके पक्ष में हो सकता था। शायद उन्हें इसकी जरूरत महसूस नहीं हुई। हो सकता है कि गांधीजी ने जिस नैतिक बल का दावा कांग्रेस की ओर से किया था ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को उस बल का अहसास ही न हुआ हो। कुछ भी हो उनके मन में एक बात बहुत स्पष्ट थी—भारत का तात्कालिक उद्देश्य विशुद्ध स्वतंत्रता ही होना चाहिये। इसके बाद उन्होंने अन्दरूनी फसाद और बाहरी हमले के बारे में यह आशा प्रकट की कि कांग्रेसजनों का फौजी ताकत से कोई वास्ता न होगा। उन्हें हथियारों से काम नहीं लेना होगा।

वाइसराय की शासन परिषद् में विस्तार करने की तजवीज़ हमारे सामने थी। जब तक कांग्रेस आज़ादी और अहिंसा पर दृढ़ थी, वह इस तजवीज पर गौर भी नहीं कर सकती थी। लेकिन अगर वह इन दोनों चीजों पर से हट जाती तो इसका सीधा परिणाम यह होता कि वह सूबों में फिर से मन्त्रिमण्डल कायम करे। इसका अर्थ यह होता कि कांग्रेस युद्ध-तन्त्र का एक जीता-जागता हिस्सा बन गई। अगर गांधीजी की ही चलती तो वे इन चीजों की ओर आंखें उठाकर देखते भी नहीं और न उन्हें इन लोगों पर एतराज़ होता जो इन पदों को पूरा करने में यकीन रखते हों। ख़ैर, कांग्रेस को अपना फैसला करना ही था।

यूरोप की लड़ाई में जो आश्चर्यजनक घटनाएं घट रही थीं उन्हें देखते हुए कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलाना आवश्यक होगया था। इसके अलावा कांग्रेस कार्य-समिति ने जो नया कदम उठाया था उसकी भी उसे स्वीकृति लेनी थी और खास करके रामगढ़ के प्रस्ताव को ध्यान में रखते हुए उसे इस समस्या के विभिन्न पहलुओं की फिर से जांच-पड़ताल करनी थी। यह अनुभव किया गया कि शायद कार्य-समिति की बैठक आएदिन बुलानी पड़े। इसके बाद १५ दिन के अन्दर ही कांग्रेस कार्य-समिति को अपनी बैठक ३ जुलाई को दिल्ली में बुलानी पड़ी।

दिल्ली में पुरानी कठिनाइयां फिर से नये रूप में और नये ज़ोर में प्रकट हुईं। गांधीजी अहिंसा के प्रश्न को फिर से सामने लाए। उन्होंने समिति का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि २१ जून को वर्धा में उसने जो वक्तव्य दिया था उससे कांग्रेसजनों में भ्रम फैला हुआ है। कुछ पत्रों ने और व्यक्तियों ने, जिनमें कांग्रेसजन भी थे, यह यकीन करना शुरू कर दिया था कि समिति ने कांग्रेस की नीति के आवश्यक अंग के रूप में अहिंसा का परित्याग कर दिया है, हालांकि वर्धा-प्रस्ताव में उस नीति के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में और असंदिग्ध रूप से घोषणा कर दी गई थी। इसलिए गांधीजी चाहते थे कि कार्यसमिति फिर से यह ऐलान करे कि जहांतक अन्दरूनी फसाद का सवाल है उसका मुकाबला करने के लिए वह सिर्फ अहिंसा और कांग्रेस के अनुशासन में बँधे हुए कांग्रेस के स्वयंसेवकों पर ही आश्रित रहेगी और हमारे स्वयंसेवक सिविक गार्डों तथा अन्य ऐसे ही संगठनों से केवल अहिंसा के आधार पर ही सहयोग करेंगे। जहांतक बाहरी हमले के मुकाबले का सवाल है गांधीजी का विचार था कि इससे पहले इस प्रश्न पर विचार करने का कांग्रेस को कभी मौका नहीं मिला था, परन्तु यह खयाल करके कि यूरोप के राष्ट्र हिंसा के बल पर अपनी रक्षा करने में असमर्थ साबित हुए हैं, कांग्रेस का फर्ज हो जाता है कि वह इस बारे में भी कोई फैसला करे। जबतक ऐसा मौका न आये कांग्रेस को सारी स्थिति पर खुले दिमाग से सोच-विचार करना चाहिये। इसका मतलब यह था कि कांग्रेसजन सैनिक ट्रेनिंग या उन कार्रवाइयों में भाग न लें जिनका उद्देश्य भारत को लड़ाई के लिए तैयार करना था। इसलिए उनका खयाल था कि कार्यसमिति इस बात

को एक बड़ा खतरा समझे बिना नहीं रह सकती थी कि देश को संगठित रूप से सैनिक रक्षा के लिए तैयार किया जाय। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हम फिलहाल दिल्ली की बैठक की प्रारंभिक बातों पर सोच-विचार कर रहे हैं–उसकी समाप्ति के बाद की नहीं, और यहां जिस सैनिक रक्षा का ज़िक्र किया गया है उसका ताल्लुक सिविक गार्डों से था। इसका सम्बन्ध भारतकी रक्षा के लिए दी जाने वाली उस सहायता से नहीं है, जिसका वायदा दिल्ली के प्रस्ताव से किया गया था।

प्रति सप्ताह जो घटनाएं हो रही थीं उनकी प्रगति को समझने के लिये यह बेहतर होगा कि हम दिल्ली में कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा राजनैतिक स्थिति पर पास किये गए प्रस्ताव और जुलाई १९४० के शुरू में दिल्ली में जो कुछ हो रहा था उस पर ध्यान दें। वर्धा की तरह दिल्ली में भी स्वयं गांधीजी ने एक प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया, लेकिन इस बार भी उनके प्रस्ताव की जगह एक नया प्रस्ताव पास किया गया। कांग्रेस कार्यसमिति ने सारी स्थिति की फिर से समीक्षा करते हुए अनुभव किया कि "हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस समय ब्रिटेन और भारत को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उन्हें सुलझाने का एकमात्र उपाय ब्रिटेन-द्वारा भारत की पूर्ण स्वाधीनता की स्वीकृति है और इसे तत्काल कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उसे केन्द्र में एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार कायम करनी चाहिये, जो यद्यपि एक अस्थायी साधन के रूप में बनाई जाए, परन्तु वह इस तरह से स्थापित की जाय कि उसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सभी निर्वाचित वर्गों का विश्वास प्राप्त रहे और इसके अलावा प्रान्तों की ज़िम्मेदार सरकारों का सहयोग भी उसे मिलता रहे।" कार्यसमिति ने ऐलान किया कि अगर इन उपायों को अपनाया गया तो कांग्रेस देश की रक्षा के लिए प्रभावशाली संगठन में पूरा-पूरा सहयोग देने को तैयार हो जायगी। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में जितनी बार गलत-फहमियां फैलीं और उसका गलत अर्थ किया गया, उतनी ही बार उनका फिर से विश्लेषण करना भी आवश्यक होगया। इसी प्रकार का एक प्रस्ताव पूना में भी अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने पास किया था, जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। श्री एमरी ने इसका मतलब यह लिया था कि कांग्रेस की मांग युद्धकाल में ही सारे विधान को बदलने की है। इतना ही नहीं; इसका यह अर्थ भी किया गया था कि इसके लिए ही ज़िम्मेदार सरकार की मांग की गई है, जबकि वास्तविकता यह थी कि मांग एक ऐसी सरकार की की गई थी कि जिसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सभी निर्वाचित वर्गों का विश्वास प्राप्त हो। ज़िम्मेदार सरकार को सभी निर्वाचित वर्गों का विश्वास प्राप्त होने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो उस दल के बहुमत का विश्वास चाहिये जिसकी मदद से वह पदारूढ़ हुई हो। इस तरह के प्रबन्ध के लिए संघीय व्यवस्थापिका सभा के नये निर्वाचन करने होंगे और इससे जैसा कि श्री एमरी ने कहा था—सारे विधान को ही बदलने का सवाल उठ खड़ा होगा, क्योंकि भारतीय विधान के दूसरे भाग के अन्तर्गत निहित भारत-सरकार की संघ-योजना लड़ाई के शुरू होते ही मुल्तवी कर दी गई थी। इसी कारण से दिल्ली के प्रस्ताव में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सभी निर्वाचित सदस्यों का विश्वास हासिल करने की बात कही गई थी। यह टीका इसलिए आवश्यक समझी गई है ताकि दिल्ली-प्रस्ताव का महत्व पूरी तरह से पाठकों की समझ में आ सके। इसमें भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा करने और अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की मांग फिर से दोहराई गई थी और इन शर्तों को 'देश की रक्षा के लिए प्रभावशाली संगठन में कांग्रेस का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए' पहली आवश्यकता बताया गया था।

इस शृङ्खला को जारी रखने के लिए, यद्यपि इससे आगे की घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है, स्वयंसेवक संगठनों के ऊपर लगाए गए प्रतिबन्ध के विरोध में कांग्रेस का प्रस्ताव नीचे दिया जाता है :

प्रस्ताव में कहा गया है कि कार्यसमिति इस आर्डिनेन्स के वास्तविक उद्देश्य को समझने में असमर्थ है, क्योंकि इसकी भाषा बहुत अस्पष्ट और व्यापक है तथा असल में इससे अनुचित लाभ उठाया जाने की संभावना है।

"यद्यपि हम इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि राजनैतिक अथवा सांप्रदायिक उद्देश्यों को डरा-धमकाकर या बल-प्रयोग करके हासिल करने के लिए निजी सेनाएं और संगठन आपत्तिजनक हैं और ऐसे संगठन नहीं बनने देने चाहिएँ। फिर भी समिति इस बात पर ज़ोर देना चाहती है कि इस प्रकार के संगठनों और कांग्रेस के स्वयंसेवक-संगठन में कोई समता नहीं है। वह आशा करती है कि आर्डिनेन्स का यह उद्देश्य कदापि नहीं है और इस प्रकार के स्वयंसेवक-संगठनों को कुचलने में इसका दुरुपयोग नहीं किया जायगा। वह कांग्रेस के स्वयंसेवक-संगठनों को हिदायत करती है कि वे अपनी साधारण कार्रवाइयां जारी रखें।"

१५ सितम्बर को बम्बई में अखिल भारतीय महासमिति की बैठक होनेवाली थी।

गांधीजी हमेशा से एक अहिंसात्मक राष्ट्र की स्थापना पर ज़ोर देते आ रहे थे। घटनाओं का सिलसिलेवार सिंहावलोकन करने पर हम देखते हैं कि १४ सितम्बर, १९३९ के अपने प्रस्ताव में कार्यसमिति ने युद्धकाल में कुछ शर्तों पर ब्रिटेन को सहयोग प्रदान करने की बात कही थी। वह किस तरह का सहयोग देना चाहती थी ? हमें यह याद रखना चाहिये कि गांधीजी ने वाइसराय के साथ अपनी पहली ही मुलाकात में स्पष्ट कर दिया था कि वे बिना शर्त सहयोग देने को तैयार हैं और बाद को उन्होंने बताया कि इसका मतलब भौतिक सहायता नहीं, बल्कि नैतिक सहयोग था।

लड़ाई को छिड़े हुए मुश्किल से कोई पन्द्रह दिन ही हुए होंगे जब कि १४ सितम्बर, १९३९ को कार्यसमिति ने युद्ध के सम्बन्ध में अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया था। इसलिए यह सर्वथा संभव है कि गांधीजी और कांग्रेस सहयोग का मतलब भिन्न-भिन्न ले रहे थे; क्योंकि बहुत देर के बाद जाकर कहीं गांधीजी ने स्पष्ट किया कि उनके बिना शर्त सहयोग का अभिप्राय नैतिक सहयोग से है और यह स्पष्टीकरण गांधीजी को लन्दन के एक पत्र की चुनौती के जवाब में करना पड़ा। अब यह ज़ाहिर है कि गांधीजी शुरू से ही अपने बारे में और कांग्रेस के बारे में नैतिक सहयोग की बात सोच रहे थे।

१४ जून, १९४० को फ्रांस के पतन के बाद इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की ज़रूरत महसूस हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि १७ जून को वर्धा में कार्यसमिति की बैठक होने से पहले ही सारा वातावरण बदल गया था। अहिंसा के प्रश्न का व्यावहारिक महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था। इस सम्बन्ध में मतभेद प्रत्यक्ष हो चुका था। दिल्ली में इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। कारण कि इसका कांग्रेस की मांग के फैसले और ब्रिटेन के सामने पेश किये गये प्रस्ताव पर बड़ा व्यावहारिक प्रभाव पड़ा। गांधीजी तत्काल ब्रिटेन द्वारा भारत की पूर्ण स्वाधीनता की स्वीकृति चाहते थे और युद्ध में उसे सिर्फ नैतिक सहायता ही देना चाहते थे। मांग के बारे में कार्यसमिति और गांधीजी सहमत थे, लेकिन ब्रिटेन को दी जानेवाली सहायता के बारे में दोनों में गहरा मतभेद था।

यह मतभेद वास्तव में सैद्धान्तिक था। यह मतभेद किसी व्यक्तिगत कारण या ब्रिटेन के

प्रति भारत के रवैये पर आधारित नहीं था। फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद की निन्दा करने में दोनों सहमत थे। अगर ब्रिटेन साम्राज्यवाद को छोड़ दे और इसका सबूत वह भारत की आज़ादी की मांग को स्वीकार करके दे तो उस हालत में उसपर साम्राज्यवाद का लांछन नहीं रहेगा और उसे स्वतंत्र भारत का सहयोग और मदद हासिल हो सकेगी। ४ दिसम्बर को गांधीजी ने "न्यूज़ क्रानिकल" के नाम जो तार भेजा, उसके पीछे यही भावना काम कर रही थी—"मैं ब्रिटेन के दोस्त के रूप में, जिसका निजी रूप से उसके साथ सम्बन्ध है, उसकी जीत चाहता हूँ। उसकी जीत मैं इसलिए नहीं चाहता कि उसके पास बड़ी संख्या में सेना या शस्त्रास्त्र हैं, बल्कि इस कारण कि वह न्याय-भावना से यह काम करना चाहता है।"

इस तरह स्पष्ट है कि यद्यपि दोनों ही इस बात पर सहमत थे कि आजाद हिन्दुस्तान ब्रिटेन का शुभ चाहता है, फिर भी उनमें इस बात पर मतभेद था कि आजाद भारत को किस तरह संगठित और सुसज्जित किया जाय। जो लोग यह उचित समझते थे कि भावी भारत एक अहिंसक राष्ट्र होना चाहिये, उन्हें भी अभी अपने फैसले की प्रतीक्षा करनी थी, क्योंकि अभी कांग्रेस ने इसे स्वीकृति नहीं दी थी। फिर भी हरएक व्यक्ति यह अनुभव कर सकता था कि गांधीजी ने जो कल्पना की है उसके बारे में कोई फैसला अवश्य होजाना चाहिये।

दिल्ली-प्रस्तावों की समीक्षा करने के बाद यह आवश्यक होजाता है कि हम राष्ट्रीय सरकार की योजना के सम्बन्ध में इसका विवेचन करें। दिल्ली-प्रस्तावों का समर्थन पूना में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति की बैठक में किया गया। अब सवाल यह था कि क्या कांग्रेस को अपनी मांग में कमी किये बग़ैर इस आशा से राष्ट्रीय सरकार के संचालन में भाग लेना चाहिये कि इस तरह से वह आजादी हासिल कर सकेगी? इसमें तो कोई शक ही नहीं था कि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद बहुत-सी जटिल समस्याएं पैदा होजाएंगी। कांग्रेस जो कुछ भी करे; पूरी ईमानदारी के साथ करना आवश्यक था। राष्ट्रीय सरकार देने की बात कही गई थी उसे स्वीकार करना था; परन्तु शुरू से अन्त तक यह जानते हुए और ब्रिटिश सरकार तथा दुनिया को जानने का मौका देते हुए कि ब्रिटेन का भाग्य अनिश्चित है।

गांधीजी इस योजना को और उसके अन्तर्गत निहित बातों को खूब समझते थे, लेकिन उनका ख़याल था कि यह योजना उनके लिए इतनी अधिक आकर्षक नहीं थी। क्या राष्ट्रीय सरकार के समर्थक यह समझते थे कि इस तरह से वाइसराय और सिविल सर्विसें खत्म हो जाएंगी। इससे उनका अभिप्राय यह नहीं था कि उन्हें सर्वथा ख़त्म ही कर दिया जाय। वे सिर्फ इतना ही चाहते थे कि उन्हें अशक्त बना दिया जाय और वाइसराय को सभी मामलों में, जिनमें सैनिक मामले भी शामिल हैं, राष्ट्रीय सरकार की बात माननी पड़े।

यह बात आसानी से समझ में आ सकती थी कि सिविल सर्विस वालों को नौकरी से हटाया नहीं जा सकता था, क्योंकि उनके साथ नौकरी के सम्बन्ध में जो शर्तें थीं—उनमें रद्दो-बदल नहीं होसकता था। उनका इकरारनामा ज्यों-का-त्यों बना रहना था। राष्ट्र-विधान-निर्माण के सम्बन्ध से भी कोई बात चीत नहीं थी। इसलिए केन्द्र में सिविल सर्विस की स्थिति वही थी, जैसी कि प्रान्तों में थी। इसी प्रकार वाइसराय की स्थिति भी वैसी ही थी, परन्तु गवर्नरों से कुछ अच्छी। उसके नियंत्रण में सिर्फ आपसी महत्त्व के मामले रहेंगे और चूंकि यह किसी सरकारी कानून से बँधी हुई सरकार के अधीन नहीं होगा, इसलिए स्वाभाविक तौर पर वह उन विचारों पर अमल करने की कोशिश करेगा। और ऐसा करते समय वह यह कह सकता है कि यह विचार ठीक नहीं है, इसलिए इस

पर अमल नहीं हो सकता और उसका परिणाम होगा शासन-परिषद् द्वारा पद-त्याग। ऐसी स्थिति का डटकर मुकाबला होना चाहिये और हो भी सकता था, बशर्ते कि इस प्रकार की कोई व्यवस्था रहती। इसके अलावा वाइसराय उनके काम में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। वह सिर्फ अपनी बात पर ज़ोर दे सकता था और ज्यादा-से-ज्यादा उसे बरखास्त करने का हक़ था। फर्ज कर लीजिए कि सेना भी राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण में आजाती और किसी मामले में वाइसराय यह समझता कि सेना का दृष्टिकोण ठीक है, और राष्ट्रीय सरकार का सदस्य ग़लती पर है, तो वह उसे सिर्फ उसके ओहदे से अलहदा कर सकता था। लेकिन आलोचक यह सवाल उठा सकता है कि क्या ऐसी ही बात ज़िम्मेदार सरकार के रहते नहीं हो सकती? हां, यह संभव है, परन्तु उस हालत में जनता सरकार के साथ होगी। जनता उसे आदेश देगी, न कि वह जनता को, जैसा कि पहली स्थिति में होगा। कहने का मतलब यह कि दूसरी हालत में सरकार राष्ट्रीय न होगी और इस तरह से राष्ट्र के एक ख़तरनाक जाल में फँस जाने की संभावना रहेगी। इसके अलावा प्रचार-कार्य द्वारा भी वे राष्ट्र को ग़लत राह पर ले जाएंगे। वास्तव में स्थिति यह होगी कि राष्ट्रीय सरकार सिर्फ वाइसराय की शासन-परिषद् का एक स्वरूप होगी, क्योंकि वाइसराय यद्यपि उसका प्रधान नहीं होगा, फिर भी वह सरकार का प्रधान तो होगा ही। जब कभी वाइसराय बरखास्त करेगा तो क्या होगा? अगर यह कहा जाय कि उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त रहेंगे तो उसके लिए बरखास्त करने की नौबत ही नहीं आनी चाहिये, क्योंकि वे बड़ी आसानी से अपने सर्वोच्च अधिकारों का प्रयोग कर सकते थे और यह संभावना नहीं हो सकती थी कि इस तरह का कोई समझौता या व्यवस्था स्वीकार कर ली जाती। गांधीजी को सन्तोष यह था कि यद्यपि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना नहीं हो सकी, फिर भी उनके लिए जनता को नीचे से ऊपर उठाने की गुँजाइश है—राष्ट्रीय सरकार ऊपर से लादी जाती और यह बात कभी गांधीजी की योजना का अंग नहीं रही। इसलिए गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि कांग्रेस के लिए सत्ता प्राप्त करने का अभी उपयुक्त समय न आया था। लेकिन अगर कांग्रेस वास्तव में इस प्रस्ताव पर अमल करना चाहती थी तो इसका मतलब यह हुआ कि सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथों से लेकर भारतीयों के हाथों में दे दी जाती। और यह भी निश्चित था कि कांग्रेस युद्ध-काल तक इससे जैसे-तैसे पूरा लाभ उठाने की कोशिश करती। उस हालत में सरकार किसी दल-विशेष की न होकर सभी दलों की संयुक्त सरकार होती। उसके परिणामस्वरूप अहिंसा ख़त्म हो जाती। यदि राष्ट्र कांग्रेस के नाम पर युद्ध-प्रयत्न में हार्दिक सहयोग दे तो उसे स्वतंत्रता मिल जाएगी। अगर कांग्रेस ताक़तवर है तो उसे सरकार के पास जाकर गिड़गिड़ाने की ज़रूरत नहीं। सरकार कांग्रेस की मदद हासिल करने के लिए बहुत उत्सुक थी। लेकिन यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि कांग्रेस सरकार की आतुरता को पूरी तरह से समझती थी। गांधीजी की योजना के अनुसार सरकार को सिर्फ नैतिक सहायता ही मिल सकती थी। उसे एक भी सिपाही या रुपया नहीं मिल सकता था। परन्तु उसे नैतिक सहायता मिल सकेगी, जो भौतिक सहायता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब कभी भी गांधीजी ने नैतिक सहायता देने का ज़िक्र किया उनका मतलब यह था कि उससे ब्रिटेन का हृदय-परिवर्तन हो जाएगा। यही उनका लक्ष्य था। वे मूक भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे। अगर वे कांग्रेस के सदस्यों या मूक जनता के पास जाते तो उन्हें उनमें बलवान की अहिंसा मिलती या न मिलती, पर वे इतना जानते थे कि उनमें यह भावना अवश्य विद्यमान है और वे उसीसे अपना काम चलाना चाहते थे। गांधीजी ने कहा, "मैं नहीं कह सकता कि हरएक अंग्रेज के प्रति मैंने जो

अपील की है, उसके बारे में ऊँचे हल्कों में क्षोभ प्रकट किया जाएगा या नहीं, पर मैं इतना जानता हूँ कि अबतक तो ऐसा नहीं हुआ।"

यह कहना मुश्किल है कि दिल्ली के उस फैसले से पहले, जिसका समर्थन बाद को पूना में किया गया, कार्यसमिति में किस सीमा तक खींचातानी रही होगी। दिल्ली की उस बैठक के तुरत बाद ही खान अब्दुलग़फ्फार खां ने कार्यसमिति से इस्तीफा दे दिया। बाकी बातें निजी हैं। परन्तु यह निर्णय इतना महत्त्वपूर्ण था कि गांधीजी ने उन्हें एक वक्तव्य द्वारा प्रकट करना उचित समझा। यह वक्तव्य उसी समय प्रकाशित किया गया जब कि गांधीजी ने एक तटस्थ और गहरे दोस्त के रूप में ब्रिटेन को सलाह दी कि वह कांग्रेस की दोस्ती का प्रस्ताव न ठुकराये। कांग्रेस को तो यह फैसला करना था कि वह उनके अहिंसा के सिद्धांत को माने या कार्यसमिति द्वारा पास किये गए प्रस्ताव को। प्रस्ताव कांग्रेस की सुनिश्चित नीति का प्रतीक था।

८ जुलाई, १९४० को गांधीजी ने वर्धा से जो वक्तव्य प्रकाशित किया उसका यह शीर्षक सर्वथा उपयुक्त ही था : 'किस का दृष्टिकोण धूमिल है ?'

वक्तव्य इस प्रकार था—"मुझे अभी खबर मिली है कि कार्यसमिति का महत्त्वपूर्ण और भाग्य निर्णायक प्रस्ताव अखबारों में निकल गया है। प्रस्ताव मेरे सामने ही पास हो गया था। पर जबतक वह अखबारों में न छप जाय, मैं उसके बारे में कुछ कहना नहीं चाहता था।

"यह मान लेना कि कार्यसमिति ने पूरे पांच दिन झगड़ने में खर्च किये भारी भूल होगी। उन्हें बड़ी भारी ज़िम्मेदारी अदा करनी थी। दलील की दृष्टि से इस प्रस्ताव में और रामगढ़ के प्रस्ताव में कुछ विरोध नहीं है, मगर दरअसल इस प्रस्ताव के द्वारा हम रामगढ़ के प्रस्ताव की भावना से हट गये हैं। अक्सर ऐसा होता है कि शब्द तो प्रायः वही रहते हैं, मगर उनका भाव बदल जाता है। आज तक किसी-न-किसी कारण से कांग्रेस की नीति यह रही है कि वह युद्ध में हिस्सा नहीं लेगी, सिवाय इसके कि यदि ब्रिटेन अपनी खुशी से हिन्दुस्तान की मांग पूरी करदे तो कांग्रेस उसके पक्ष में अपना नैतिक प्रभाव डाल सकेगी। कार्यसमिति के सभी सदस्यों का मत ऐसा ही नहीं था। इसलिए नाजुक मौकों पर हर एक सदस्य को स्वतंत्र रूप से निश्चय करना पड़ता था। ये पांच दिन भारी आत्म-निरीक्षण के दिन थे। मैंने एक कच्चा प्रस्ताव बनाकर कार्यसमिति के सामने रखा था। करीब-करीब सभी सदस्यों का मत था कि यह प्रस्ताव सब से अच्छा था, बशर्ते कि वे अहिंसा में जीती-जागती पूर्ण श्रद्धा रख सकते, या सचाई से यह कह सकते कि जिनके वे प्रतिनिधि हैं, वे ऐसी श्रद्धा रखते हैं। कइयों के पास तो दोनों में से एक भी नहीं था और कइयों के पास केवल उनकी व्यक्तिगत श्रद्धा थी।

"केवल खान साहब (खान अब्दुलग़फ्फार खां) के सामने उनकी अपनी और उनके प्यारे खुदाई खिदमतगारों की श्रद्धा स्पष्ट थी। इसलिए उन्होंने पिछले वर्धा के प्रस्ताव के बाद ही यह निश्चय कर लिया था कि अब उनका स्थान कांग्रेस में नहीं है। उनके सामने एक खास ध्येय और उनके अनुयायियों के प्रति उनका खास फर्ज था। इसलिए कार्यसमिति ने खुशी से उन्हें कांग्रेस से निकल जाने की इजाज़त दे दी। जैसे मैं अपने बारे में आशा रखता हूं, वैसे ही खान साहब के बारे में भी रखता हूँ कि कांग्रेस से निकल कर वे कांग्रेस की ज्यादा खिदमत करेंगे। कौन जानता है कि शायद हममें से जो लोग कांग्रेस से निकल जाएंगे, वे जिस श्रद्धा को हमारे साथी आज खो बैठे मालूम होते हैं, वह श्रद्धा उन्हें दे सकें।

"प्रस्ताव बनानेवाले राजाजी थे। जितना यकीन मुझको था कि मैं सही रास्ते पर हूँ

उतना ही यक़ीन उनको था कि उनका रास्ता सही रास्ता है। उनकी दृढ़ता, हिम्मत और नम्रता ने कई लोगों को उनकी तरफ़ खींच लिया। इनमें सरदार पटेल एक बहुत भारी शिकार थे। अगर मैं राजाजी को रोकता, तो वे अपना प्रस्ताव समिति के सामने लाने का विचार तक न करते। मगर मैं अपने साथियों को भी उनकी दृढ़ता, ईमानदारी और आत्म-विश्वास के लिए वही श्रेय देता हूँ जो मैं अपने लिए चाहता हूँ। मैं बहुत दिनों से देख रहा था कि अपने सामने उपस्थित देश की राजनैतिक समस्याओं के बारे में हम दोनों के विचारों में अन्तर होता जाता था। वे मुझे यह कहने की इजाज़त नहीं देते थे कि वे 'अहिंसा' से दूर हट गये हैं। उनका यह दावा है कि उनकी 'अहिंसा' ही उन्हें इस प्रस्ताव तक ले गई है। उनको लगता है कि दिन-रात अहिंसा के ही विचार में डूबे रहने से मुझ पर एक किस्म का भूत सवार हो गया है। उनको प्रायः ऐसा लगता है कि मेरा दृष्टिकोण धुंधला हो गया है। प्रत्युत्तर में मेरे यह कहने से कि उनकी दृष्टि धुंधली हो गई है, कोई फ़ायदा नहीं था, अगरचे हंसी-हंसी में मैंने उनसे ऐसा कह भी दिया। मेरे पास सिवाय मेरी श्रद्धा के दूसरा कोई सबूत नहीं है जिसके बल पर मैं उनकी प्रतिकारी श्रद्धा का दावे से विरोध कर सकूं। ऐसा करना स्पष्ट मूर्खता होगी। मैं वर्धा में भी कार्यसमिति को अपने साथ नहीं रख सका था और इसलिए मैं उससे अलग हो गया। मुझे यह दिन के उजाले की तरह स्पष्ट दीख गया था कि अगर वे लोग मेरी बात स्वीकार नहीं कर सकते थे, तो उनके पास राजाजी की बात मानने के सिवाय दूसरा चारा ही नहीं था। इसलिए यद्यपि मैं मानता था कि राजाजी सरासर गलती पर हैं, मैंने उनको अपना प्रयत्न जारी रखने को प्रोत्साहित किया। आदर्शपूर्ण धैर्य, चतुराई और विरोधियों की भावनाओं के प्रति आदर प्रदर्शित करके आख़िर उन्होंने बहुमत प्राप्त कर लिया। पांच सदस्य तटस्थ रहे। मेरे लिए यह खतरे की घण्टी थी।

"आम तौर पर इस तरह के प्रस्ताव बहुमत से पास नहीं किये जाते। मगर इस मौके पर एकमत की आशा नहीं रखी जा सकती थी। मैंने उन लोगों को सलाह दी कि राजा जी का प्रस्ताव अमल में लाया जाय। सो आखिरी घड़ी कार्यसमिति ने यह निश्चय किया कि प्रस्ताव दुनिया के सामने जाना चाहिये।

"यह आवश्यक था कि समिति ने जो अच्छा या बुरा भारी कदम उठाया है, जनता उसकी भूमिका को समझ ले। जो कांग्रेसी अहिंसा में जीती-जागती श्रद्धा रखते हैं, वे इससे अलग रहेंगे। पर इस घड़ी वे लोग क्या कर सकते हैं, इसका विचार करना अप्रासंगिक है।

"राजाजी का प्रस्ताव कांग्रेस की सोच-समझ कर तय की हुई नीति को व्यक्त करता है। गैर-कांग्रेसी लोगों को, जो यह चाहते थे कि कांग्रेस मेरे धार्मिक भार से मुक्त हो जाय और पूर्णतः राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु ही रखे, इस प्रस्ताव का स्वागत करना चाहिये और उसकी पूरे दिल से ताईद करनी चाहिये। मुस्लिम लीग को और राजाओं को भी, जो अपनी रियासतों से ज्यादा खयाल हिन्दुस्तान का रखते हैं, ऐसा ही करना चाहिये।

"ब्रिटिश सरकार को भी यह फैसला करना है कि वह क्या करे। अगर उसकी बुद्धि उतनी ही धुंधली नहीं होगी, जितनी राजाजी मानते हैं कि ऐसी है, तो वह भारत की आजादी को रोक नहीं सकती। अगर हिन्दुस्तान की आजादी स्वीकार की जाती है तो प्रस्ताव का दूसरा भाग स्वीकार करना उसका अनिवार्य परिणाम होता है। सवाल यह है कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान की मदद अपनी हुकूमत के जोर पर लेना चाहता है या कि जो मदद आजाद हिन्दुस्तान उसे दे सकता है वह?

मैं अपनी व्यक्तिगत सलाह दे चुका हूँ कि मेरी मदद हमेशा हाज़िर है। मेरी सलाह को मानने से ब्रिटेन का शौर्य बढ़ेगा ही। यदि वे लोग उसे स्वीकार नहीं कर सकते तो एक निष्पक्ष और पक्के दोस्त की हैसियत से मैं ब्रिटिश सरकार को सलाह दूंगा कि कांग्रेस ने दोस्ती का जो हाथ उनकी तरफ बढ़ाया है, उसे वह ठुकरा न दें।"

अब हम कुछ देर के लिए अपने मुख्य विषय को छोड़कर एक और विषय को उठाना चाहते हैं। जुलाई के पहले सप्ताह से पूर्व दिल्ली में पंजाब और बंगाल के प्रधान मंत्रियों तथा कांग्रेसी नेताओं के बीच कुछ बातचीत हुई। स्वयं मौलाना आजाद सर सिकन्दर से मिल चुके थे। श्री जिन्ना ने इसका विरोध किया और यह कहा कि लीग की वर्किंग कमेटी के पीठ-पीछे प्रधानमन्त्रियों को बातचीत करने या सुलह-सफाई करने का कोई अधिकार नहीं है और न उन्हें इसकी इजाज़त ही दी जा सकती है। हिन्दू-मुस्लिम समझौते के सम्बन्ध में भी उन्होंने ऐसी बातचीत करने की कोई इजाज़त नहीं दी थी। सर सिकन्दर और श्री जिन्ना के बीच तारों का जो आदान-प्रदान हुआ उसमें सर सिकन्दर ने कहा कि श्री सावरकर से उसकी भेंट और पंजाब की स्थिति के बारे में उनके कांग्रेसी नेताओं से बातचीत करने पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। श्री जिन्ना ने जवाब दिया कि वे सर सिकन्दर की यह बात नहीं स्वीकार कर सकते कि वे श्री सावरकर से एक मध्यस्थ के रूप में मिलें। हां, अगर वे चाहें तो पंजाब की स्थिति के बारे में कांग्रेसी नेताओं से पंजाब के प्रधान मंत्री की हैसियत से मिल सकते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में हिन्दू नेता श्री जिन्ना से बड़ी खुशी से मिल सकते थे। दिल्ली के निर्णय के बाद देश में जो स्थिति पैदा हो गई थी उससे यह संभावना होने लगी थी कि एक ओर तो सरकार से समझौता हो जाएगा और दूसरी ओर कांग्रेस और लीग में भी कोई समझौता हो जायगा। इन परिस्थितियों में कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से मौलाना साहब ने श्री जिन्ना को एक तार भेजने का साहस किया और उनसे प्रार्थना की कि वे इसे गोपनीय समझें। परन्तु श्री जिन्ना ने उसका तुरन्त उत्तर देकर दोनों तार अखबारों को प्रकाशनार्थ दे दिये। दोनों तार नीचे दिये जाते हैं।

श्री जिन्ना के नाम मौलाना आजाद का तार यह था :—

"मैंने आपका ६ जुलाई का वक्तव्य पढ़ा है। दिल्ली के प्रस्ताव में कांग्रेस ने जिस राष्ट्रीय सरकार का जिक्र किया है उससे उसकी मुराद निश्चित रूप से संयुक्त मंत्रिमण्डल है, किसी दल विशेष की सरकार नहीं। लेकिन क्या लीग की स्थिति यह है कि वह दो राष्ट्रों के सिद्धान्तों पर आश्रित सरकार को छोड़कर कोई और अस्थायी सरकार बनाना स्वीकार नहीं कर सकती? अगर यह बात ऐसी ही है तो कृपया तार द्वारा इसे स्पष्ट कर दीजिएगा।"
इसके अतिरिक्त तार में मौलाना आज़ाद ने श्री जिन्ना से प्रार्थना की कि वे इसे गोपनीय रखें।

श्री जिन्ना ने यह उत्तर दिया :—

"मुझे आपका तार मिला। मैं इसे गोपनीय नहीं रख सकता। चूंकि आप पूरी तरह से मुस्लिम भारत का विश्वास खो बैठे हैं, इसलिए मैं आपसे पत्र-व्यवहार-द्वारा या किसी और तरीके से कोई बातचीत करने को तैयार नहीं। क्या आप यह महसूस नहीं कर सकते कि आपको कांग्रेस का प्रधान महज़ एक दिखावे के रूप में बनाया गया है, जिससे कि कांग्रेस का स्वरूप राष्ट्रीय नज़र आए और बाहरी मुल्कों को धोखा दिया जासके? आप न तो मुसलमानों के प्रतिनिधि हैं और न हिन्दुओं के ही। आप दोनों में से किसी का भी

प्रतिनिधित्व नहीं करते। कांग्रेस एक हिन्दू संस्था है। अगर आप में आत्मसम्मान की भावना है तो आप फौरन इस्तीफा दे दें। अबतक आपने लीग के खिलाफ अपना पूरा ज़ोर लगाया है। आप जानते हैं कि आप इसमें बुरी तरह असफल रहे हैं। अब आप इसे छोड़ दीजिए।"

लगभग इसी समय सुभाष बाबू गिरफ्तार कर लिये गये और जब दिल्ली में कांग्रेस कार्य-समिति ने उनकी गिरफ्तारी पर कोई ध्यान न दिया तो स्वाभाविक तौर पर यह सवाल उठाया गया कि उसने ऐसा क्यों किया। दिल्ली से वर्धा लौटते हुए स्वयं गांधीजी से भी इस बारे में सवाल किया गया। उन्होंने इसका जो जवाब दिया वह भी बड़ा महत्वपूर्ण था। इसलिए हम यहां उसका जिक्र करना मुनासिब ही समझते हैं। उनकी धारणा यह थी कि सुभाष बाबू ने कांग्रेस की इजाज़त से कानून-भंग नहीं किया। उन्होंने तो खुद कार्यसमिति की आज्ञा का भी साफ ऐलान के साथ और छाती ठोक कर उल्लंघन किया है।

पूना में कांग्रेस महासमिति ने केवल ७ जुलाई १९४० के दिल्ली-प्रस्ताव का ही समर्थन किया और यह स्पष्ट किया कि यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के निमित्त लड़ी जानेवाली लड़ाई में कांग्रेस अहिंसा के सिद्धान्त पर कड़ाई से अमल करती रहेगी, फिर भी मौजूदा हालतों में वह भारत की राष्ट्रीय रक्षा के मामले में इस सिद्धान्त को लागू नहीं कर सकती। महासमिति ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि कांग्रेस का संगठन अहिंसा के आधार पर ही जारी रहना चाहिये और कांग्रेस के सभी स्वयंसेवक अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करते समय अहिंसा पर चलने को बाध्य हैं और इस सिद्धान्त के अलावा किसी और सिद्धान्त पर कांग्रेस का कोई भी स्वयंसेवक-संगठन नहीं कायम हो सकता। आत्मरक्षा के लिए ऐसे और भी जो स्वयंसेवक-संगठन होंगे और जिनके साथ कांग्रेस को सहयोग करना होगा—उन्हें भी अहिंसा पर दृढ़ रहना होगा। इस सम्बन्ध में कांग्रेस कार्यसमिति ने देश की राजनैतिक स्थिति पर वर्धा में एक उपयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया था, जिसे पूना में कांग्रेस महासमिति के अधिवेशन के समय सदस्यों में व्यापक रूप से प्रचारित किया गया था।

पूना में कार्यसमिति का प्रस्ताव कोई सुगमता से नहीं पास हो गया था। प्रस्ताव के हक में ९७ और उसके खिलाफ ६३ वोट पड़े। विरोधियों में कुछ उल्लेखनीय नाम ये हैं : बाबू राजेन्द्र-प्रसाद, डा० प्रफुल्ल घोष, आचार्य कृपलानी, श्री शंकरराव देव और श्री हरेकृष्ण मेहताब। राजेन्द्र बाबू ने प्रस्ताव के विरोध में भाषण दिया।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस अवसर पर कांग्रेस महासमिति के सम्मुख एक वक्तव्य दिया, जिसके कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

"कार्यसमिति के एक सदस्य की हैसियत से इसकी जिम्मेवारी मेरे ऊपर भी है। आप जानते ही हैं कि यह प्रस्ताव पूरी गंभीरता के साथ पास किया गया था।

"यह बात स्वयं प्रस्ताव अथवा उसकी भाषा के कारण नहीं थी, क्योंकि वह तो समय-समय पर घोषित कांग्रेस की नीति के मुताबिक ही था। भारत की आजादी इस प्रस्ताव की आधार-शिला थी। और पूर्ण राष्ट्रीय सरकार की पूर्व-भूमिका के रूप में तत्काल अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का जो सुझाव रखा गया है, इस समय तो इस समस्या को हल करने का वही एकमात्र संभव साधन है। वैसे पूर्ण राष्ट्रीय सरकार की स्थापना भारतीय जनता विधान-परिषद् के बाद ही करेगी।

"हमारे मार्ग में जो कठिनाइयां हैं वे प्रस्ताव के कारण नहीं हैं, बल्कि उसकी संभावित व्याख्या के कारण हैं, और इसी से शायद हम अपना रास्ता भूल भी सकते हैं। ऐसा खतरा मौजूद था, लेकिन परिस्थिति का तकाजा था कि देश को कोई निश्चित मार्ग दिखाया जाता, क्योंकि ब्रिटेन और भारत दोनों के लिए ही समय बड़ी तेजी से बीता जा रहा था। हमने यह खतरा इस उम्मीद से उठाया कि कांग्रेस की ताकत और विवेक-बुद्धि देश को मार्ग से नहीं भटकने देंगी और कांग्रेस की घोषित नीति हमें सही रास्ते पर ले जाती रहेगी।

"नित्य परिवर्तन होनेवाली स्थिति में समय एक बहुत बड़ी समस्या बन गयी थी और यह निश्चित था कि कांग्रेस देर तक चुपचाप नहीं बैठी रह सकती थी। उसे जल्दी ही इधर या उधर कोई फैसला कर लेना था। हम काफी देर तक धीरज से प्रतीक्षा कर चुके थे। भारत के लिए हानिकारक और अपमानजनक मामलों के बारे में हम और अधिक देरतक निष्क्रिय स्वीकृति नहीं दे सकते थे।

"उसके बाद से तीन सप्ताह गुजर चुके हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे सामने अब सिर्फ एक ही रास्ता बाकी रह गया है। फिर भी यह मुनासिब ही है कि इस समिति ने कार्यसमिति के निर्णय पर अपनी मोहर लगा दी है और अब हम जल्दी ही अपना मार्ग तय कर लेंगे।

"हमारे भाग्य में चाहे कुछ भी क्यों न बदा हो, मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हमें पूर्ण स्वाधीनता बिना संग्राम किये और कष्ट उठाए नहीं हासिल हो सकती। युद्ध और संघर्ष की इस दुनिया में हम आजादी की कीमत चुकाने से नहीं बच सकते—वह तो हमें हर हालत में चुकाना ही होगी। इसके विपरीत कोई और बात सोचना अपने को धोखा देना है। अन्तिम निर्णय या भविष्य भारतीय जनता की ताकत और कांग्रेस की संगठित ताकत पर निर्भर होगा। इसलिए हमारी सब ताकतें कांग्रेस की संगठित ताकत को बढ़ाने में लगनी चाहिएँ।"

कार्यसमिति के मत-भेद के बारे में और जिस तरीके से यह प्रस्ताव महासमिति में पास हुआ था उसके सम्बन्ध में अनावश्यक रूप से कोई बात गुप्त नहीं रखी गई थी। विभिन्न दल खुले रूप में सामने आए। यदि रायवादियों का नारा बिना शर्त सहयोग का था तो श्री राजगोपालाचारी शर्तके साथ सहयोग देने के पक्षमें थे। यदि पंडित जवाहरलालजी कुछ शर्तोंपर नैतिक सहयोग के पक्षपाती थे तो गांधीजी बिना शर्त के नैतिक सहायता के। वे स्वयं पूना में नहीं आये थे। लेकिन पूना के बाद उन्होंने विशुद्ध अहिंसा के पक्षपातियों और शेष लोगोंका अन्तर स्पष्ट रूपसे बताया। यह खयाल किया जाता था कि कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य इस्तीफा दे देंगे। परन्तु लाहौर में राजेन्द्र बाबू ने कहा कि जबतक और कोई नयी स्थिति नहीं पैदा हो जाती ऐसी कोई आशंका नहीं है।

गांधीजी ने लिखा—

"अगर विशुद्ध अहिंसा के समर्थक यह देखें कि कांग्रेस महासमिति में वे अल्पमत में हैं तो उनका फर्ज हो जाता है कि कांग्रेस से बाहर निकल आएँ और इस तरह उसकी अधिक अच्छी सेवा करें। अगर वे वहाँ रहें तो संघर्ष होना जरूरी है। बहुमत को ऐसा प्रस्ताव पास करना होगा जो विशुद्ध अहिंसा का प्रतिपादन करे वर्ना उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे मतभेद और संघर्ष पैदा हो जाएगा और यह अहिंसा का रास्ता नहीं है। अहिंसा तो स्वयं मार्ग से हट जाती है और दूसरों के लिए मार्ग प्रशस्त कर देती है। कांग्रेस से इस्तीफा देने के बाद अल्पदल को रचनात्मक कार्य-क्रम में जुट जाना चाहिए और जिन

मामलों में उनका कांग्रेस से एकमत हो उनमें उसकी सहायता करनी चाहिए। अगर इस तरह से दरअसल सच्चे अहिंसकों की सेना तैयार हो गई तो मेरा यक़ीन है कि कार्यसमिति का प्रस्ताव ईश्वरीय देन साबित होगा।"

जब पूना में दिल्ली का प्रस्ताव पास हुआ तो देश भर में खलबली मच गई और आत्म-निरीक्षण किया जाने लगा। एक तरफ तो वे लोग थे जिन्हें इस बात का सन्तोष था कि अहिंसा की दुर्बोधता, उसकी आध्यात्मिकता और प्रतिदिन के जीवन की उसकी अवास्तविकता का अब देश की राजनीति में कोई महत्व नहीं रह गया है। लेकिन देश की अधिकांश जनता को इस पर खेद हुआ। गांधीजी पिछले २० साल से देश का नेतृत्व कर रहे थे और उनके नेतृत्व में देश ने दो ही दशकों में इतनी उन्नति करली थी, जितनी दो शताब्दियों में की जा सकती थी। उन्होंने शक्तिशाली ब्रिटेन को भारतीय जनता से समझौता करने पर विवश कर दिया था। इसलिए अब इस नाजुक घड़ी में उनका कांग्रेस से अलग हो जाना देश को बहुत खेदजनक प्रतीत हुआ। लेकिन क्या वस्तुतः स्थिति ऐसी ही थी? नहीं। अब भी देश को उनका नेतृत्व प्राप्त था। लेकिन यह समय तो एक नये युग का संदेश लेकर आया था। गांधीजी को पराजित नहीं होना पड़ा था, बल्कि उन्हें तो संसार के सामने एक नये रूप से प्रकट होना था। महान् पुरुषों के जीवन में अक्सर ऐसे ही अवसर आया करते हैं, जब उन्हें कसौटी पर परखा जाता है। इसी तरह की एक कसौटी १९३४में आई थी जब कि गांधीजीने सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करके नियमित सदस्य के रूप में कांग्रेस से अपना नाता तोड़ लिया था। परन्तु उसके बाद देश ने देखा कि कांग्रेस की प्रतिदिन की ही नहीं, बल्कि प्रतिक्षण की कार्यवाही में उनके नेतृत्व की स्पष्ट झलक दिखाई देती थी। जिस तरह से मानव-शरीर समय-समय पर अपना कार्य करता है उसी प्रकार मानव-इतिहास में भी घटना-चक्र समय-समय पर नियमित रूप से चलता प्रतीत होता है। मनुष्य विश्राम करता है इसलिए कि वह जागने पर दूने उत्साह से काम करेगा। वह निष्क्रिय बनता है, इसलिए कि दुबारा सक्रिय होकर काम कर सके। संसार के इतिहास की नीरसता और अपरिवर्तनशीलता की पुनरावृत्ति-सी होती दिखाई देती है। लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि जो फैसले आज कर लिए गये हैं, कल वे ही नयी और महत्वपूर्ण समस्याओं के रूप में प्रकट हुए हैं। एक समय कांग्रेस ने धारासभाओं का बहिष्कार किया, बाद में फिर वह उनमें चली गई और उसके बाद दुबारा उसका बहिष्कार किया। सविनय अवज्ञा बड़ी शक्ति समझी जाने लगी। स्वयं मन्त्रि-मण्डल भी एक बार स्थापित होने पर बाद में भंग कर दिये गए। फरवरी १९२२ में बारदोली की घटना के कारण सत्याग्रह स्थगित करने पर भी ऐसे ही उलटे-सीधे सवाल किये गए थे। १९३४ में उनकी पुनरावृत्ति कैसे हुई—इसका जिक्र पीछे किया जा चुका है। १९२४ में गांधीजी के यरवदा जेल से रिहा होने के बाद यह खयाल किया जाता था कि उनका सारा जोश ठंडा पड़ गया है और अब उनमें ताकत नहीं रही। यही बात १९३४ के बाद दोहराई गई। राजनैतिक क्षेत्र में सस्ती ख्याति प्राप्त करना उनका उद्देश्य कभी नहीं रहा, लेकिन जब भाग्य-चक्र ने उन्हें मैदान में ला पटका तो वे उससे घबराए नहीं, बल्कि उन्होंने बहादुरी और हिम्मत से देश का नेतृत्व किया। जब उनकी जरूरत नहीं रहती तो वे चुपचाप आराम से पीछे हट जाते हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है मानो गांधीजी ने राजनीति से संन्यास ही ले लिया हो। उस समय वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण अथवा रचनात्मक राष्ट्रीय कार्य में जुट जाते हैं। जैसा कि जेम्स रसल लोवेल ने कहा है, वास्तव में यह ईश्वर की ही इच्छा प्रतीत होती है कि राष्ट्रों की तरह

समय-समय पर व्यक्तियों के पुरुषार्थ की भी परीक्षा ली जाय। इस परीक्षा के साधन होते हैं बड़े-बड़े खतरे और महान् अवसर। कहने का तात्पर्य यह कि खतरे के समय और महान् अवसरों पर ही मनुष्य की परीक्षा होती है। बार-बार सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर देने पर कि नागरिक विद्रोही के कर्तव्य और अधिकार क्या हैं और इसके साथ ही यह मानते हुए कि सरकार को भी उसे फांसी पर लटका देने का अधिकार है, गांधीजी एक बार राजनीति के अखाड़े में कूद पड़ते हैं और यह साबित करने के लिए जनता का नेतृत्व करते हैं कि गुलामी के परिणामस्वरूप छीनी गई आज़ादी एक "नैतिक गलती, राजनैतिक भूल और वास्तविक दुर्भाग्य है।" शक्ति का स्रोत किसी बाहरी साधन पर आश्रित नहीं है; बल्कि वह तो जनता से ही पैदा होता है। जनता ही उसका स्रोत है। अनुभव बताता है कि जब विवेकशील सेनापति विश्राम करता है तो उसका उचित स्थान अग्रिम मोर्चे पर न होकर पीछे या सेना के केन्द्र में होता है। कहते हैं कि स्थायी नेतृत्व का रहस्य इसमें है कि नेता यह जानता हो कि बीच का मार्ग कब अख्तियार किया जाना चाहिये। वह यह जानता हो कि संयम से कैसे काम लेना है। अगर गांधीजी उग्रवादी बनते हैं, तो लोग कहते हैं कि वे पागल हो गए हैं, और अगर वे पीछे हटते हैं तो लोग कहते हैं कि वे हार गए हैं।

३१ जुलाई, १६४० को गांधीजी ने एक लेख लिखा था। उसका निम्न वाक्य सर्वथा प्रासंगिक प्रतीत होता है—

> "१६३४ में बम्बई में मैं कांग्रेस से इसलिए बाहर आया कि उसकी अधिक सेवा कर सकूं। बाद की घटनाओं ने साबित कर दिया कि मेरा कांग्रेस से पृथक् होना उचित था। इस समय भी मैं जो कांग्रेस से अलहदा हुआ हूँ, उसका भी यही मकसद है।"

जिस प्रकार प्रकृति का एक ही स्पर्श सारे संसार को एकता के सूत्र में पिरो देता है, उसी तरह से ब्रिटिश नौकरशाही के एक ही स्पर्श ने सारे भारत को एक परिवार बना दिया था। ऐसे समय में जब कि कांग्रेस-जैसी सुदृढ़ चट्टान में एक मामूली-सा छिद्र हो जाने पर ऐसा खतरा प्रतीत हो रहा था कि वह एक बड़ा भारी दरार बन जाएगी—अर्थात् कांग्रेस में बहुत भारी मतभेद पैदा हो जाएगा—श्री एमरी ने कामन-सभा में भारत की स्थिति के सम्बन्ध में श्री सोरेन्सेन के बहुत ही संगत प्रश्न का जो उत्तर दिया उससे सब की आँखें खुल गईं। श्री एमरी ने भारत की परिस्थिति की गम्भीरता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने उसकी कोई क़द्र ही नहीं की। परन्तु गांधीजी ने श्री एमरी को चुनौती देते हुए उनके इस दृष्टिकोण को ग़लत बताया। गांधीजी ने स्वयं बताया कि कांग्रेस से अलग हो जाने पर भी मेरा खयाल है कि जनता का एक बड़ा हिस्सा अब भी मेरा मार्ग-दर्शन चाहता है और वह तबतक चाहता रहेगा, जबतक कि मेरे लिये यह समझा जायगा कि मैं हिन्दुस्तान के दूसरे किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा सत्याग्रह की भावना का अधिक प्रतिनिधित्व करता हूँ। ब्रिटिश मंत्रियों को इसका पता था कि म्यूनिख के बाद से ब्रिटेन की परिस्थिति कितनी गम्भीर हो गई थी। परिस्थिति की गम्भीरता से वे इतना घबरा गये थे कि युद्ध की घोषणा को उन्होंने जितने ज्यादा समय तक हो सका, स्थगित रखा। गांधीजी ने बताया कि ब्रिटिश इतिहास की इस अत्यन्त नाजुक घड़ी में कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को परेशान न करने के खयाल से जिस संयम से काम लिया है उसका कम अन्दाजा लगाकर भारत-मंत्री ने बड़ी भारी भूल की है। उनका खयाल था कि अगर यह संयम न रहे तो मुमकिन है कि आग भड़क उठे और उसका कैसा असर पड़े यह कोई नहीं जान सकता।

सत्याग्रह का शस्त्र ऐसा है कि उसका उपयोग अन्दरूनी कमज़ोरियों के बावजूद किया जा सकता है। इसलिए सत्याग्रह को स्थगित करने का आखिरी उद्देश्य यह है कि ब्रिटिश सरकार को परेशान न किया जाय। लेकिन कांग्रेस के इस संयम की भी एक हद है। कांग्रेसजनों में यह शक बढ़ता जा रहा है कि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के इस संयम का फ़ायदा कांग्रेस को कुचलने के लिए उठा रही है। उदाहरण के तौर पर वे बड़ी संख्या में कांग्रेसियों की गिरफ्तारियों की बात कहते हैं। कांग्रेसजनों को संदेह है कि इसका कारण यह है कि कांग्रेस महासमिति के बहुत से सदस्यों ने दिल्ली के प्रस्ताव को मंजूर करने का विरोध किया था। ब्रिटिश सरकार इससे फायदा उठा रही है। गांधीजी ने आगे चलकर कहा, कि "अगर यह साबित हुआ कि मेरा यह सन्देह दृढ़ आधार रखता है तो दुनिया की कोई भी ताक़त मुझे किसी-न-किसी रूप में सत्याग्रह शुरू करने से नहीं रोक सकती। लेकिन यह मेरी प्रार्थना और कोशिश है कि उसे तबतक बचाऊं जब-तक ग्रेट ब्रिटेन पर से विपदाओं के बादल न उठ जायँ।"

खतरे की इस घड़ी पर अपने विचार प्रकट किये हुए गांधीजी को अभी मुश्किल से एक हफ़्ता हुआ होगा कि वाइसराय महोदय ने ८ अगस्त का अपना प्रसिद्ध वक्तव्य प्रकाशित कर दिया। इसकी एक अग्रिम प्रति उन्होंने ४ अगस्त को उटकमंड से कांग्रेस-प्रधान को भेज दी थी और २० अगस्त के लगभग उन्हें मुलाक़ात करने का निमंत्रण दिया था। यह वक्तव्य बहुत बड़ा और विस्तृत था, इसलिए हम यहां पूरा नहीं दे सकते। हां, इसकी मुख्य बातों का उल्लेख किया जा सकता है। वाइसराय को अधिकार दिया गया था कि वे विभिन्न राजनैतिक नेताओं से मुलाकात करें और सम्राट् की सरकार से सलाह-मशवरा करने के बाद कुछ प्रातिनिधिक भारतीयों को अपनी शासन-परिषद् में शामिल होने का बुलावा दें और एक युद्ध सलाहकार परिषद् की स्थापना करें। उन्होंने अल्पसंख्यकों और उचित समय आने पर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत नयी वैधानिक योजना बनाने के सम्बन्ध में की जाने वाली व्यवस्था पर प्रकाश डाला। सरकार को भारतीयों की इस आकांक्षा से पूरी सहानुभूति थी कि वे कुछ जिम्मेदारियों की पूर्ति करके मुख्यतः अपना विधान स्वयं ही बनाएं। जहां तक अल्पसंख्यकों का सवाल है उन्होंने खेद प्रकट किया कि ब्रिटिश सरकार किसी ऐसे दल को सत्ता नहीं दे सकती जिसे देश के बड़े-बड़े और शक्ति-शाली तत्व मानने को तैयार न हों, और इन तत्वों को इस तरह की सरकार में शामिल होने पर बाध्य न किया जा सके।

वाइसराय का वक्तव्य अप्रत्याशित था। इससे नरम और उदार दलवालों को सन्तोष हुआ, पर कांग्रेस को नहीं।

लेकिन वाइसराय के ओरिएंट क्लब वाले भाषण में और प्रस्तुत वक्तव्य में बड़ा फर्क था। ओरिएंट क्लब वाले भाषण में उन्होंने वेस्टमिनिस्टर कानून के अन्तर्गत भाव को औपनि-वेशिक स्वराज्य देने की बात कही थी और अब वे 'स्वतंत्र और बराबर की साझेदारी का दरजा' देने की बात कह रहे थे। अगर साझेदारी स्वतंत्र है तो उसे तोड़ देने की भी स्वतंत्रता उसमें मौजूद है और पृथक् होने का यह अधिकार उस क़ानून के अन्तर्गत एक बहुत बड़ी चीज़ है। इसलिए वास्तव में दोनों में समान अनुपात स्थापित किया जा सकता है, परन्तु कांग्रेसजन तो तत्काल आज़ादी की घोषणा चाहते हैं, इसलिए उनके उन्नीस-बीस का यह साधारण अन्तर कोई मानी नहीं रखता।

जब हम राष्ट्रीय सरकार की मांग करते हैं तो हमारे सामने दुबारा वही पुरानी शासन-

परिषद् पेश की जाती है। वह तो दोहरी शासन पद्धति से गई-गुजरी चीज़ थी। कांग्रेस इस प्रस्ताव की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखेगी। अगर केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो, प्रांतों में फिर से मंत्रिमण्डल स्थापित हो जाएं, अगर विधान-परिषद् की मांग मान ली जाय और ब्रिटिश सरकार तुरत ही उसका आयोजन करे और अगर देश की प्रजातंत्रात्मक सरकार के संचालन में अल्पसंख्यकों और राजाओं को भारत की भावी प्रजातंत्रात्मक सरकार को रद्द करने का अधिकार न दिया जाय तो शायद कांग्रेस इन प्रस्तावों पर सोच-विचार कर सके। लेकिन कांग्रेस की यह स्थिति फ्रांस के पतन से पहले थी। अब फ्रांस के पतन के बाद जब कि साम्राज्यवाद कमज़ोर हो चुका था और कांग्रेस स्पष्ट एवं असंदिग्ध शब्दों में पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर चुकी थी, वाइसराय महोदय एक ऐसी विधान-परिषद् का प्रस्ताव पेश करते हैं, जिसकी मांग सितम्बर, ४२ में की गई थी। जब उसकी मांग की गई थी तब उसे ठुकरा दिया गया था। अब जब कि कांग्रेस तत्काल पूर्ण स्वाधीनता की मांग कर रही है तो वाइसराय महोदय स्वतंत्र और बराबर की साझेदारी का राग अलापने लगे।

वाइसराय ने मौलाना आजाद को इस बारे में जल्दी ही जवाब भेजने से पहले—और अगर संभव हो सके तो २१ अगस्त से पहले-पहले—मुलाक़ात का बुलावा भेजा, जिससे वे यह जान सकें कि कांग्रेस के लिए उनकी केन्द्रीय सरकार और युद्ध सलाहकार परिषद् में शामिल होना संभव हो सकेगा अथवा नहीं। उन्होंने लिखा, "मेरा खयाल है कि कांग्रेस की ओर से कोई नियमित जवाब भेजने से पहले शायद आपके लिए इस सम्बन्ध में मुझ से और बातचीत करना सुविधा-जनक हो," और अपने दौरे के कार्यक्रम का उल्लेख करने के बाद उन्होंने लिखा—"इनमें से किसी भी स्थान पर और किसी भी समय, जो आपके लिए सुविधाजनक हो, मुझे आप से और आपके किसी भी मित्र से, जिन्हें आप अपने साथ लाना चाहें, मिलकर बड़ी खुशी होगी। अपना नियमित जवाब भेजने से पहले जैसा कि मैंने प्रस्ताव किया है अगर आप बातचीत द्वारा इस विषय पर और सोच-विचार करना चाहें तो कृपया आप मुझे पता दें कि क्या आप इसे लाभदायक समझते हैं, और यदि ऐसा है तो कौन-सी तारीख और समय इसके लिए आपको सुविधाजनक होगा ?" वाइसराय चाहते थे कि जितनी जल्दी हो सके इन फैसलों को अमल में लाया जाय। उन्होंने बताया कि मेरा खयाल अगस्त के अन्त या सितम्बर के मध्य तक इन दोनों संस्थाओं में लिये जानेवाले व्यक्तियों के नामों की घोषणा कर देने का है। कांग्रेस के प्रधान ने वाइसराय से पूछा कि जब सरकार ने पहले से ही एक निश्चित योजना पर अमल करने का फैसला कर लिया है तो फिर उस हालत में और बातचीत करने से लाभ क्या होगा ? इसके जवाब में वाइसराय ने लिखा—"सम्राट् की सरकार की नीति मेरे वक्तव्य में स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दी गई है। मुझे आशा है कि कांग्रेस के लिए इन शर्तों के अन्तर्गत मेरे साथ केन्द्रीय सरकार और युद्ध सलाहकार परिषद् में शामिल होना संभव हो सकेगा।" इसके साथ ही उन्होंने दुबारा उन्हें निमंत्रण देते हुए लिखा—"अगर अपना निश्चित जवाब भेजने से पहले आप इस विषय पर और बातचीत करना चाहें तो कर सकते हैं।" ८ अगस्त की घोषणा की शर्तों के अन्तर्गत कांग्रेस प्रधान ने कोई और बातचीत करना लाभदायक नहीं समझा। अन्य बातों को रहने दीजिये, इस घोषणा में राष्ट्रीय सरकार का तो कोई उल्लेख तक भी न था। इसलिए मौलाना साहब ने यह निमंत्रण अस्वीकार कर दिया।

वाइसराय के वक्तव्य और कांग्रेस के प्रधान के बीच उनके पत्र-व्यवहार के कुछ देर बाद ही भारत-मंत्री ने १४ अगस्त को पार्लामेण्ट में एक घोषणा की। लेकिन उस पर विचार करने

से पूर्व हम ११ अगस्त को उनके ब्लैकपूल वाले भाषण का ज़िक्र करना चाहते हैं, जिस पर उस समय उतना ध्यान नहीं दिया गया था, जितना दिया जाना चाहिए था।

ब्लैकपूल के भाषण के थोड़ी देर बाद ही श्री एमरी ने भारत में राजनीति विषयक वाद-विवाद तथा गतिरोध की भूमिका के सम्बन्ध में, जिसका परिणाम वाइसराय का ८ अगस्त वाला वक्तव्य था, एक घोषणा की।

युद्ध के ज़माने में स्वाभाविक तौर पर भारत के इतिहास में एक नाजुक समय उपस्थित हो गया था। अक्टूबर में वाइसराय ने जो भ्रामक और अस्पष्ट भाषण दिया था, उसके कारण कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये थे। उसके बाद जनवरी १९४० में ओरिएंट क्लब वाला उनका भाषण कुछ सद्भावनापूर्ण था। हमें मानना पड़ेगा कि वाइसराय की ८ अगस्त वाली घोषणा और पार्लामेण्ट में भारत-मंत्री के वक्तव्य पर अगर एक साथ विचार किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ये दोनों घोषणाएं भारत की राजनैतिक परिस्थिति, उसके वैधानिक पहलू और केन्द्रीय सरकार के तत्काल पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में एक अधिकृत निर्णय के रूप में थीं। पहली बार ब्रिटिश सरकार ने अपने ऊपर लगाया जानेवाला यह आरोप स्पष्ट कर दिया कि वह जबतक उसका बस चलेगा सत्ता हस्तान्तरित नहीं करेगी। इसका तो साफ मतलब यह हुआ कि मौजूदा नौकरशाही और ग़ैर-जिम्मेवार हुकूमत तबतक जारी रहेगी जबतक कोई भी दल या राजे (अपनी प्रजा को छोड़कर) अथवा विदेशी स्वार्थ भी भारतीय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा बनाए गए किसी भी विधान पर आपत्ति उठाते रहेंगे। इससे तो नागरिक अव्यवस्था और झगड़ों को प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन मिलता था और जो लोग समझौते या सुलह-सफ़ाई के लिए तैयार थे उनके लिए घातक प्रहार था। १८ अगस्त, १९४० को वर्धा में कार्यसमिति की जो बैठक हुई उसके फ़ैसले का यही तत्वमात्र था। एकबार फिर गांधीजी और कार्य-समिति को एक कड़ी परीक्षा में से गुज़रना पड़ा। इससे पहले भी वे कई बार इनमें से गुज़र चुके थे और इसीलिए हाल में गांधीजी पूना के कांग्रेस महासमिति के अधिवेशन में अनुपस्थित भी रहे। दिल्ली के निर्णय के समय स्वयं गांधीजी वहां उपस्थित थे और उन्होंने वादविवाद में हिस्सा लिया। वही निर्णय बाद में पूना में स्वीकृत हुआ। इसलिए हम आसानी से कह सकते हैं कि गांधीजी और उनके सहयोगियों में संपर्क बना रहा; टूटा नहीं।

पूना के बाद की परिस्थिति और सरकारी ऐलान वास्तव में इतने सरल न थे, जितने कि ऊपर से दिखाई देते थे। समय-समय पर पेचीदा और जटिल समस्याओं का खड़ा हो जाना अनिवार्य था। यह सच है कि भारतीय मांग को घृणापूर्वक ठुकरा दिया गया था और जिन लोगों ने यह मांग की थी और जिन्होंने इस पर आपत्ति उठाई थी, वे सभी व्यग्रता से गांधीजी की ओर देख रहे थे। इसलिए सर्वथा स्वाभाविक था कि इस सम्बन्ध में उनकी सलाह ली जाती। इसी प्रकार यह भी सर्वथा स्वाभाविक था कि गांधीजी यह महसूस करते कि उनके लिये नये वातावरण में ऐसी सलाह देना असंभव था। कुछ लोगों का ख़याल था कि यह पूनावाला प्रस्ताव ही था जिसके कारण गांधीजी की ऐसी स्थिति थी। परन्तु गांधीजी इस विचार-धारा से सहमत न थे, क्योंकि वे जानते थे कि लोग समय-समय पर कांग्रेस पर दबाव डालते रहेंगे कि वह सत्ता हासिल करे। देश में बहुत लोगों का ख़याल था कि हम युद्ध की वास्तविकता से मुँह नहीं फेर सकते और न हम सेना में भरती होने से अलग रह सकते हैं। उनका ख़याल था कि ऐसे समय जबकि राष्ट्रों का भाग्य अनिश्चितता के दल-दल में फँस गया था, हमें जनशक्ति

का एकीकरण करना चाहिये और गोला-बारूद के उत्पादन अथवा जनशक्ति के संगठन के काम में किसी तरह की भी रुकावट नहीं डालनी चाहिये। इस प्रकार स्पष्ट हो जाएगा कि अगर हमें राष्ट्रीय सेना की जरूरत थी तो उसका निर्माण तुरंत शुरू हो जाना चाहिये। जिन लोगों ने वाइसराय का वक्तव्य स्वीकार किया है वे इस सम्बन्ध में अपने संप्रदाय के हितों की दृष्टि से ऐसा ही खयाल करेंगे। शासन-परिषद् वाइसराय के प्रति ज़िम्मेवार होगी, अतः उसके सदस्यों को भरती का काम ज़ोरों पर करना पड़ेगा। परिस्थिति दरअसल ऐसी थी कि अगर गांधीजी पूना के प्रस्ताव का समर्थन करते तो इसके मानी यह होते कि वे स्वयं भरती का काम कर रहे हैं। अगर पूना का प्रस्ताव क़ायम रहा तो हजारों के जेल जाने से भी कोई फायदा नहीं होगा। उस हालत में जेल जाना भी हिंसा का ही एक स्वरूप होगा। ऐसी हालत में सविनय-अवज्ञा से कोई फायदा नहीं होगा, क्योंकि लोगों को गोली मार दी जाएगी। और अगर कहीं देश में सामूहिक आन्दोलन छिड़ा तो उसके बाद हिंसा फैल जाएगी। सिक्ख सेना में भरती होना चाहते थे। सर सिकन्दर की योजना के अनुसार भी भरती जारी रहेगी और शायद वे सेना में मुसलमानों की बहुसंख्या चाहेंगे। इस तरह से सेना को चाहे जो राष्ट्रीय या अर्धराष्ट्रीय स्वरूप दिया जाय, सचाई यह है कि स्वयं कांग्रेसजन ही इस योजना को अस्तव्यस्त कर देंगे; क्योंकि हर मामले में वे हस्तक्षेप कर सकेंगे, सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन देंगे और हर एक आदमी अपनी सेना को उत्कृष्ट बनाने की कोशिश करेगा। इस प्रकार किसी निश्चित अवधि तक हम एक वास्तविक राष्ट्रीय सेना बनाने की आशा नहीं कर सकते थे।

आप पूना-प्रस्ताव की उपेक्षा कर सकते हैं। लेकिन जबतक यह प्रस्ताव क़ायम था, राष्ट्रीय संगठन को बढ़ाने की शक्ति का क़ायम रहना संभव न था। जितना ही गांधीजी विचार करते उतना ही उनका यक़ीन दृढ़ होता जाता कि उक्त प्रस्ताव वर्धा, दिल्ली और पूना में की गई भारी ग़लती या भूल का परिणाम था। वे जान-बूझकर पूना में कांग्रेस महासमिति की बैठक में नहीं शामिल हुए; क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनके कारण उन लोगों पर किसी किस्म का दबाव पड़े। यद्यपि उन्होंने कार्यसमिति और कांग्रेस-महासमिति को उनके दृढ़ विश्वास के लिए बधाई दी थी, फिर भी वे अपने को उस प्रस्ताव के ग़लत पहलू से बँधा नहीं पाते थे। वह प्रस्ताव एक भूल थी और उसे अवश्य सुधारना चाहिये। अगर गांधीजी की योजना पर अमल किया गया तो वे इसका प्रामाणिक रूप से प्रदर्शन भी कर सकेंगे। लेकिन इसकी तो अभी सिर्फ चर्चा ही थी। उस समय वे प्रत्यक्ष रूप से कोई बात नहीं कह सकते थे; क्योंकि कार्यसमिति ने उनके बीस बरस के प्रयोग को पलक मारते ही धूल में मिला दिया था। जिन लोगों को अहिंसा में दृढ़ विश्वास था वे गांधीजी से पूना-प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी—मित्रों की—स्थिति के बारे में पूछ रहे थे। पूना के प्रस्ताव में आवश्यक परिवर्तन किये बिना उनके लिए कार्यसमिति का मार्ग-प्रदर्शन करना कठिन था, क्योंकि वे जान गये थे कि कांग्रेसियों की अहिंसा इतनी महत्त्वपूर्ण न थी। एक ओर न तो वे क्रियात्मक रूप से हिंसा पर अमल कर सकते थे और न दूसरी तरफ उनकी अहिंसा का दूसरों पर कोई प्रभाव था। ऐसी नाजुक परिस्थिति में कांग्रेस को मार्ग-प्रदर्शन की ज़रूरत थी और इसके लिए ज़रूरत थी कि अहिंसा की सारी नीति में फिर से संशोधन किया जाय। इधर गांधीजी की धारणा थी कि कांग्रेसियों ने अहिंसा को छोड़ दिया है। लेकिन अगर वे लड़ाई में सफलता प्राप्त कर सकते थे तो "न" नहीं कह सकते थे। उन्होंने हमेशा ही स्वीकार किया है कि उनमें कांग्रेस का मार्ग-प्रदर्शन करने की योग्यता नहीं है, पर फिर भी वे लड़ाई में

कूद पड़ने को तैयार थे, कांग्रेस के नाम पर अथवा स्वाधीनता के प्रश्न पर नहीं, क्योंकि उसका परिणाम था घरेलू युद्ध । यह यक़ीन करने की वजह मौजूद थी कि गांधीजी ने कर्नल एमरी को चेतावनी दे दी है कि वे कहीं कांग्रेस के संयम से फ़ायदा उठाने की बात ही न सोचते रहें । ब्रिटेन को परेशानी में डालने का सवाल हो या न हो, कमजोरी हो या न हो, संग्राम छेड़ा ही जाएगा। इस स्थिति से गांधीजी को फिर से वही प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई जो पहले उन्हें प्राप्त थी और इससे वे आजादी के निकट तो आ गए, लेकिन आजादी तक पहुँच नहीं सके। वे आजादी उसी वक्त हासिल करेंगे जब सांप्रदायिक प्रश्न का फ़ैसला हो जाए । लेकिन ब्रिटेन के लिए उस समय सांप्रदायिक प्रश्न उठाना परले दरजे की विवेक हीनता थी। कर्नल एमरी के लिए मुसलमानों, दलित जातियों और अन्य अल्पसंख्यकों का सवाल उठाने की हिमाकत करना बड़ी हल्की बात थी । कांग्रेस अहिंसा के बिना कोई सर्वसम्मत विधान नहीं बना सकती थी। जबतक कर्नल एमरी कांग्रेस के मत्थे दूसरों को मढ़ते रहेंगे—जैसा कि हाल में उन्होंने राजाओं का सवाल उठाया है—तबतक गांधीजी का खयाल था, उन्हें हार माननी पड़ेगी। परन्तु यह उनकी ज्यादती थी। संग्राम शुरू करने के लिए उनके पास काफ़ी मसाला था, पर यह उनकी निजी बात थी। उनका ख़याल था कि कांग्रेस कार्यसमिति या दूसरे लोग इसमें मेरा साथ नहीं देंगे । क्या दरअसल उनके पास कोई योजना थी ? नहीं, क्योंकि वे तो बार-बार अपनी लाचारी ही बताते रहे। वे अपने साथियों की पूरे जोर से रहनुमाई नहीं कर सकते थे। उन्होंने गांधीजी से बैठक में शामिल होने की प्रार्थना की। वे इसमें शरीक हुए। वे लड़ाई अवश्य करेंगे, लेकिन कांग्रेस के नाम पर नहीं—फिर भी कांग्रेसजन की हैसियत से—जिसने बीस साल तक उसकी सेवा की थी।

वास्तविकता यह है कि गांधीजी और कार्यसमिति के सदस्यों में गहरा मतभेद था। उन्हें इस बात से कोई सरोकार न था कि प्रस्ताव कैसा है—अगर उस समय वे संग्राम न शुरू कर सके तो उन्हें नीचा देखना पड़ेगा। अगर गांधीजी और कांग्रेस अलग-अलग भी लड़ रहे थे तब भी दोनों लड़ाइयों में समन्वय अवश्य रहना चाहिये, गांधीजी और कार्यसमिति में सैद्धान्तिक रूप से मत-भेद होने पर भी यह आवश्यक था कि दोनों में अनुबन्ध रहे। उस समय ब्रिटिश साम्राज्य का भाग्य संदिग्ध था और ऐसी हालत में कोई आश्चर्य नहीं कि सिक्ख और अन्य संप्रदाय सेनाओं की कल्पनाएँ कर रहे थे। इसी वजह से कुछ प्रमुख व्यक्तियों को यह संदेह था कि ब्रिटिश सरकार पूना वाला प्रस्ताव स्वीकार करेगी, क्योंकि ब्रिटेन में ऐसा विवेक या सूझबूझ कहां जैसी कि लोग अक्सर उसमें बताया करते हैं।

सारी स्थिति को ध्यान में रखते हुए हरएक ने यह महसूस किया कि गांधीजी को इस बारे में पूरी आज़ादी देनी चाहिये और इसके लिए शायद वे कार्यसमिति से अपने प्रस्ताव में संशोधन करने को कहें। लेकिन यह भी महसूस किया गया कि यह संशोधन नयी कार्यसमिति को करना चाहिये, क्योंकि वर्तमान कार्यसमिति के अधिकांश सदस्य पूना-प्रस्ताव के समर्थक थे। कार्यसमिति के बाहर यह कहा जा रहा था कि जो सदस्य उससे अलग हो गए हैं, वे उसके सदस्य बने रहेंगे और कांग्रेस को पूरा-पूरा सहयोग देंगे। गांधीजी इससे सहमत न थे। वे इसे ग़लत स्थिति समझते थे; क्योंकि अगर वे कार्यसमिति को पूर्ण सहयोग दें तो फिर ऐसी कौन सी चीज़ है जो उन्हें उसका सदस्य बने रहने से रोकती है। इसका मतलब तो यह है कि वे नीति में संशोधन करने पर रजामंद हैं। ऐसा अगर न किया गया तो उसका मतलब होगा अनजाने में

की गई बेईमानी। अगर नयी कार्यसमिति बनी तो उससे अलग होनेवाले सदस्यों के मन में बहुत-सी ग़लतफहमियां फैल जाने की आशंका है, क्योंकि तब उनके लिए उन सब बातों को मानना असंभव हो जाएगा जो गांधीजी कांग्रेस के नाम पर कहेंगे। हां, उनके लिए विद्रोह का रास्ता खुला था। वे पहले भी ऐसा कर चुके थे और अब उनके लिये इसके सिवाय और कोई चारा नहीं था कि वे या तो कार्यसमिति से सहमत होते या फिर उससे अलग हो जाते। इस प्रकार कांग्रेस अहिंसा के बारे में नयी नीति पर अमल करनेवाली थी और गांधीजी उसके मुख्य नेता थे। नयी कार्यसमिति को पूर्ण रूप से अहिंसा पर अमल करना होगा और इस उद्देश्य के लिए उसमें आपस में कोई मत-भेद नहीं होना चाहिये। अहिंसा पर अमल करने के सम्बन्ध में उसे एकमत होना होगा। लेकिन वे लोग न तो इस नयी व्यवस्था में शामिल हुए और न उन्होंने विद्रोह ही किया। वे कार्यसमिति से किनारा करके गांधीजी को अपने सिद्धान्तों और नीति पर अमल करने की पूरी आजादी दे देंगे और वे गांधीजी के किसी प्रचार या किसी उत्तेजना के कारण उनके मार्ग में रुकावटें नहीं पैदा करेंगे। वे संयम से काम लेंगे ताकि गांधीजी को अपना काम करने की पूरी आज़ादी दी जाय। लेकिन इस तरह का रुख धारण करके अगर कार्यसमिति के प्रमुख सदस्य उससे अलहदा हो जाएंगे और अपने-अपने प्रान्तों में कोई काम नहीं करेंगे तो इससे गांधीजी का काम नहीं चल सकता। इससे उनका उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। गांधीजी श्री राजगोपालाचारी या जवाहरलालजी की सहायता से वंचित नहीं रहना चाहते थे। लेकिन वे यह भी नहीं चाहते थे कि उनका वर्धा वाला प्रस्ताव पास किया जाय, अगरचे उसके हक़ में अवास्तविक बहुमत था। जब वर्धा में यह सुझाव पेश किया गया कि उनका नेतृत्व ख़त्म हो जाना चाहिए और उन्हें इस काम से पृथक् कर देना चाहिये तो यह महसूस किया गया कि अगर गांधीजी सेनापति स्वीकार कर लिए गये थे तो उन्हें अपने पद से अलग होने की बात नहीं माननी चाहिये थी। बल्कि उन्हें इस बात पर ज़ोर देना चाहिये था कि जिन्हें उनपर विश्वास नहीं वे अपना इस्तीफ़ा दे दें। परन्तु उन्होंने महसूस किया कि उनमें उस मौक़े पर (वर्धा में जून, १६४० में) इतनी ताक़त न थी। अगस्त १६४० में भी उनमें ऐसा करने की ताक़त नहीं थी। वाइसराय से लेकर नीचे तक के लोग कह सकते थे, "ओह! इस समय आप यद्यपि सत्तर साल के हो गये हैं, फिर भी बातें ऐसी कर रहे हैं, मानों बीस साल और जिएंगे।" परन्तु उनका जवाब था कि यह कोई व्यक्तिगत चीज़ नहीं है। अलबत्ता मैं यह मानता हूँ कि दूसरे लोग जो कुछ कहते हैं उसमें सचाई जरूर है।

कमिटी के सामने कई रास्ते थे। एक रास्ता यह था कि कार्यसमिति को स्थगित करके सारा काम गांधीजी को सौंप दिया जाय। दूसरा यह कि जो लोग कार्यसमिति से पृथक् हो जाएंगे, उनकी जगह ऐसे नये सदस्य लिए जायँ जिन्हें उनपर विश्वास हो। राजेन्द्रबाबू को प्रधान बनाया जा सकता है। निश्चय ही कार्यसमिति के दस सदस्य ऐसा ही करने को तैयार हैं। पर गांधीजी खयाल करते थे कि वे उस इंजीनियर के समान हैं जिसे बांध बनाने का काम सौंपा गया हो; लेकिन वे सिर्फ़ सत्याग्रही इंजीनियर थे और जिस तरह से कृष्णसागर को बाँधने के लिये बाक़ी सभी इंजीनियरों को अपने प्रधान इंजीनियर का आदेश मानना चाहिये, उसी तरह से कांग्रेसजनों को भी उनका आदेश मानना चाहिये। हां, यह बात और थी कि इनमें से कुछ छोटे इंजीनियर मर जाते अथवा होते ही न; लेकिन जबतक वे वहां मौजूद थे, उन्हें आदेश का पालन करना ही चाहिये। लेकिन यह जरूर था कि कोई भी आदमी इंजीनियर की योग्यता के बारे में सवाल कर

सकता था अथवा यह बता सकता था कि इसमें सभी प्रकार की योग्यता नहीं है। परन्तु इसकी कसौटी तो अहिंसा में विश्वास था। अगर एक बार आप उसे स्वीकार कर लेते हैं तो बाकी सब बातें ठीक तरह से हो जाएंगी। लेकिन मत-भेद तो बुनियादी सवाल पर था और अगर इसी बात को ध्यान में रखकर नये आदमी कार्यसमिति के लिये जाएँ तो फिर मुश्किल पैदा ही नहीं हो सकती थी। पर कठिनाई तो शुरू में ही थी। कार्यसमिति के सदस्य गांधीजी की तरह अहिंसा को राजनैतिक जीवन का आदि और अन्त मानने को तैयार थे या नहीं? लोग यह ख़याल कर सकते हैं कि कार्यसमिति को साधु-सन्तों की एक जमात बनाया जा रहा है, उन्हें हर हालत में आज्ञा-पालन पर मजबूर किया जा रहा है और इस तरीके से, अगर हिंसा से लोगों के सिर काटे जाते हैं तो अहिंसा से उनका दिमाग़ और मन काटे जा रहे हैं। संक्षेप में, उस समय हमें यह फैसला करना था कि गांधीजी को आगामी नये अहिंसात्मक आन्दोलन का नेता बनाया जाय और इनकी सहायता के लिए एक नयी कार्यसमिति बनाई जाय। जो लोग कार्यसमिति से अलग होंगे उनकी राजभक्ति सैनिकों-जैसी होगी, एजेण्टों जैसी नहीं। किसी भी दल को एक दूसरे के साथ अधिक झगड़ा नहीं चाहिये। गांधीजी का कहना था कि यह भेड़ और बकरियों को एक दूसरे से पृथक् करने की बात नहीं थी। उन्हें ख़ुद नहीं मालूम था कि सत्याग्रह की शक्ति क्या होगी। लेकिन वह किसी क़िस्म का भी क्यों न हो, उन्हें मौलाना साहब, वल्लभभाई, राजगोपालाचार्य और जवाहरलालजी की सहायता की जरूरत थी।

एक और कठिनाई यह थी कि सत्याग्रह किस बात को लेकर शुरू किया जाय? गांधीजी आजादी को इसका केन्द्र-बिन्दु नहीं बनाना चाहते थे। वे तो यह चाहते थे कि सारी बात उन्हीं पर छोड़ दी जाय और यह फैसला वही करें कि सत्याग्रह शुरू करने का तात्कालिक कारण क्या हो। वह किस बिना पर छेड़ा जाय। परन्तु स्थिति गम्भीर थी। सवाल सत्याग्रह या किसी और बात का नहीं था। सवाल तो सिर्फ एक ही था और वह मानव-प्रतिष्ठा और गौरव का। देश में जो कुछ हो रहा था उसे वह सहन नहीं कर सकता था। जो नौजवान कांग्रेस के स्वयंसेवक होते और उसके कार्य में प्रमुख भाग लेते—उन्हें सैकड़ों की तादाद में जेल में ठूंसा जा रहा था। कोई दो हज़ार से ऊपर नवयुवक जेल में जा चुके थे। सभी जगह मज़दूर-संगठन का काम करनेवालों को पकड़ा जा रहा था। सम्मेलनों पर प्रतिबन्ध लगाए जा रहे थे। लोगों को घरों में नज़रबन्द रखना आम बात हो गई थी। इन आदेशों का कड़ाई से पालन किया जा रहा था। लोग धड़ाधड़ गिरफ्तार हो रहे थे और राजबन्दियों को बिना मुकदमा चलाए नज़रबन्द किया जा रहा था। जिलों में लोगों पर इस तरह के प्रतिबन्ध लगाए जा रहे थे—(१) उन्हें प्रति सोमवार कोतवाली में हाज़िरी देनी पड़ती थी, (२) उन्हें किसी राजद्रोहात्मक आन्दोलन या युद्ध-विरोधी प्रचार में भाग लेने की इजाज़त नहीं थी, (३) किसी स्कूल या कालेज के विद्यार्थियों से किसी तरह की बातचीत, पत्र-व्यवहार या संपर्क नहीं रख सकते थे; (४) किसी तरह की सभा में शरीक नहीं हो सकते थे, और (५) अगर एक जगह से दूसरी जगह जाना हो तो रवाना होने से कम-से-कम २४ घण्टे पहले उसकी इत्तला पुलिस-थाने में दी जाय और इसके साथ ही समय की भी सूचना दी जाय। २ जुलाई, १९४० को स्वयं सुभाषचन्द्र बोस को भारत-रक्षा कानून के मातहत कलकत्ता में एल्गिन रोड पर स्थित उनके घर से गिरफ्तार कर लिया गया। इस तरह परिस्थिति को बरदाश्त करना मुश्किल हो गया और लोगों को यह यक़ीन दिलाना भी कठिन हो गया कि यह कार्यसमिति की अन्तिम बैठक थी। व्यावहारिक सुझाव के तौर पर कार्यसमिति का पुनर्निर्माण

और पूना के प्रस्ताव का रद्द किया जाना एक मार्ग था। पूना के प्रस्ताव पर क्या गांधीजी के पांचों समर्थकों को इस्तीफा देना चाहिये या उनके विरोधियों को? गांधीजी को इसमें से कोई भी बात पसन्द न थी और वे बार-बार यह सोचने लगे कि जब कार्यसमिति ने उन्हें ज़िम्मेदारी से पृथक् कर दिया है तो फिर वे उसका मार्ग-प्रदर्शन क्योंकर करते हैं? उनकी सिर्फ़ निजी हैसियत थी। एक ख़याल यह भी मालूम होता था कि उनके पास कोई ताक़त है, लेकिन चूंकि वे 'नाराज़ और असंतुष्ट' थे इसलिए उसका उपयोग नहीं करना चाहते थे। गांधीजी कहते थे कि मुझमें यह ताक़त नहीं है। पर उनके साथी कहते थे कि उन्हें कांग्रेस में शामिल होकर और उसे ट्रेनिंग देकर यह ताक़त पैदा करनी चाहिये। ऐसा मालूम होता था कि इससे शेष कांग्रेसजन क्रुद्ध हो गए और जब वे चाहते थे कि कुछ लोग कांग्रेस छोड़कर बाहर आ जाएं और उसके सत्याग्रही दल का निर्माण करें तो वे भी नाराज हो गए, पर सवाल तो यह था कि क्या उस समय लोगों को एकदम दो दलों में बांट दिया जाय—एक वे लोग जो गांधीजी के साथ थे और दूसरे वे जो उनका विरोध करते थे अथवा दोनों दलों को धीरे-धीरे विकसित होने दिया जाय? बात दरअसल यह थी कि दोनों दलों में कोई बहुत भारी मतभेद तो था नहीं और न इस मतभेद का आसानी से फैसला ही हो सकता था। खद्दर के प्रश्न पर जब मतभेद उठा था तो बात और थी। उस वक्त दोनों दलों के मतभेद स्पष्ट थे। महात्मा गांधी और कार्यसमिति के दरमियान मौलाना साहब थे—जो एक डीलडौल वाले भव्यमूर्ति व्यक्ति हैं। उनकी आँखों से तेजस्विता टपकती है और आंखों को देखकर डर लगता है। वे बड़ी परेशानी और दुविधा में पड़े हुए थे। इस महान् नेता, प्रकाण्ड विद्वान्, और 'विश्व-विख्यात मुस्लिम धर्मगुरु' ने अनुभव किया कि यह प्रधानपद उनके लिए असह्य बनता जा रहा है, इसलिए वे इस ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जाना चाहते थे। उनका विचार था कि ऐसे नाजुक वक्त पर गांधीजी का कांग्रेस से अलग होना उचित नहीं है। वे कहते थे कि गांधीजी को कांग्रेसजनों में वफादारी का यह सवाल उठाने की क्या ज़रूरत है? क्या कांग्रेस में कोई ऐसा आदमी है जो पूरी तरह से वफ़ादार नहीं है? इस सवाल का जवाब देते हुए किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता; क्योंकि गांधीजी यह महसूस करते थे कि कांग्रेस से वे सिर्फ़ उसकी अधिक सेवा करने के ख़याल से अलहदा होना चाहते थे। उन्हें हक़ था कि वे अपने दृष्टिकोण का प्रचार करें। उनके साथियों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। अगर यह बात ऐसी ही थी तो फिर उन्हें ज़िम्मेदारी से मुक्त करने का मतलब ही क्या था? परिस्थिति ने और ही रुख धारण कर लिया था। इसका यह परिणाम हुआ कि वे बिल्कुल चुपचाप रहना चाहते थे। फ़र्ज़ कीजिए कि वे जेल चले जाते या कोई और घटना हो जाती तो कांग्रेसजन या कार्यसमिति क्या करती? वातावरण इतना गन्दा हो चुका था कि कोई एक दूसरे पर विश्वास नहीं करता था। आम चर्चा थी कि लोग सत्याग्रह के लिए तैयार हैं, परन्तु जब वे हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता निवारण, मद्यपान-निषेध और चर्खा चलाने की बात कहते तो लोग उसे मानने को तैयार नहीं थे। सेना के बिना वे आगे कैसे बढ़ सकते थे? उनके साथी अहिंसा को नहीं समझते थे और इसलिए उनकी जो कुछ भी ताक़त थी वह जनता और अहिंसा में उसकी निष्ठा के सहारे थी।

गांधीजी के सामने प्रस्तावों और उनकी भाषा अथवा समितियों और उसके कर्मचारियों का कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि वे इस बात का पक्का इरादा किये हुए थे कि मैं देश को या कांग्रेस को अकेले नहीं छोड़ दूंगा और जो कुछ मैं चाहूँगा अपनी तरफ से करूँगा। वे साफ़ तौर पर जानते थे कि वे कांग्रेस के नाम पर कुछ नहीं कर सकते थे। उन्हें मालूम था कि उनके साथियों का यह

ख़याल है कि उनके लेखों के कारण कांग्रेस की प्रतिष्ठा घटी है और उन्होंने ऐसा करके ठीक नहीं किया। वाइसराय के निमंत्रण के जवाब में मौलाना ने जो कुछ लिखा था—उससे वे खुश नहीं थे और वे चाहते थे कि मौलाना साहब उनसे मिलकर कोई रास्ता निकालने की कोशिश करते। पर अब वे खुश थे कि इस बार मौलाना वाइसराय से ज़रूर मिलेंगे और दूसरी बातों पर सोच-विचार करेंगे। पहली बार उन्होंने इसलिए वाइसराय से मिलने से इन्कार कर दिया था कि उन्हें वे बातें पसन्द न थीं जिन पर वाइसराय बातचीत करना चाहते थे। गांधीजी दरवाजा खुला रखना चाहते थे और अपने सहयोगियों को उनके दृष्टिकोण की आज़ादी देना चाहते थे। अगरचे जहां तक उनके दृष्टिकोण का सवाल था—उसके लिए वे दरवाज़ा बन्द ही रखना चाहते थे। वे तत्काल संग्राम नहीं छेड़ेंगे। उन्होंने स्वयं अंग्रेजों को लिखा था कि वे हिटलर से सुलह कर लें। लेकिन यह बात फ्रांस के पतन से पहले की थी; जब वे मुनासिब समझेंगे, कोई कदम उठा लेंगे। इसके अलावा वे कोई और सलाह नहीं दे सकते थे। उनके दिमाग़ में अनशन के विचार उठ रहे थे और उन्होंने पूरी गम्भीरता के साथ घोषणा की कि उनका इरादा आमरण अनशन करने का है। गांधीजी ने बताया कि मैंने अनशन को एक विज्ञान बना दिया है और मैं आग्रह करता हूँ कि और व्यक्ति अनशन न करें और न मेरे पास आएं ही। मुझे इसका खेद है कि इन तीन दिनों तक मैंने जो कुछ कहा है और इधर कई महीनों से जो कुछ किया है सब बेकार गया। गांधीजी बहुत निराश प्रतीत हो रहे थे। उन्होंने मौलाना से कहा कि आप मुझसे नाराज़ न हों। मेरे पास ईश्वर का दिया हुआ जो कुछ भी था वह मैंने आपको दे दिया है और अब मैं आप सब का आशीर्वाद चाहता हूँ। कुछ देर तक निस्तब्धता का साम्राज्य छा गया। इसके बाद उस स्तब्धता को भंग करते हुए मौलाना साहब ने कहा—"हमें आपको रोकना नहीं चाहिये। अगर आप चाहें तो मैं आपसे कल सवेरे मिल लूंगा।" इस पर गांधीजी ने अपनी सहज विनम्रता के साथ जवाब दिया, "हां, अब आप लोगों के लिए यही ठीक होगा कि मुझे जाने दें और आप सब आपस में सलाह-मशविरा कर लें।"

वाइसराय और भारत-मन्त्री के वक्तव्यों के सम्बन्ध में कार्य-समिति के जवाब की मुख्य बातों का ज़िक्र हम पहले ही कर चुके हैं। इस बात पर गहरा खेद प्रकट किया गया कि कांग्रेस ने दोस्ती का जो हाथ बढ़ाया था उसे ब्रिटिश सरकार ने ठुकरा दिया है, क्योंकि अगर वह कांग्रेस का प्रस्ताव मान लेती तो गतिरोध ख़त्म हो जाता और उसे कांग्रेस का सहयोग भी प्राप्त हो जाता। इससे कार्यसमिति को बहुत खेद और क्षोभ हुआ। उसका यह यक़ीन और भी दृढ़ हो गया कि भारत साम्राज्यवादी दायरे के अन्दर रहकर अपना उद्देश्य नहीं पूरा कर सकता और इसलिए उसे स्वतन्त्र राष्ट्र का दरजा हासिल करना होगा। ब्रिटिश सरकार का यह क़दम लड़ाई-झगड़े के लिए प्रत्यक्ष प्रोत्साहन था। विधान-परिषद् की मांग भारत की प्रगति के मार्ग में एक दुस्साध्य कठिनाई बना दी गई थी। कांग्रेस ने प्रस्ताव किया था कि सम्बद्ध अल्पसंख्यकों के चुने हुए प्रतिनिधियों के साथ समझौता करके अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। ब्रिटिश अधिकारी सदा से भारत के राष्ट्रीय जीवन में मतभेद पैदा करने, उन्हें क़ायम रखने और प्रोत्साहन देने पर आमादा थे। ब्रिटिश सरकार किसी तरीके से भी सत्ता छोड़ने को तैयार नहीं है, यहाँ तक कि युद्ध-प्रयत्न में सहयोग प्राप्त करने के लिए भी नहीं। वह ऐसे लोगों और दलों की मदद से अपना काम जारी रखना चाहती थी, जो भारत के बहुमत का विरोध कर रहे थे। कार्य-समिति इन वक्तव्यों में कहे गये प्रस्तावों को मानने को तैयार नहीं है।

जनता और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों के नाम हिदायतें जारी कर दी गई थीं कि वे सार्वजनिक सभाओं में भी किसी और तरीके से ब्रिटिश सरकार के इस रुख़ की निन्दा करें और इसके अलावा कांग्रेस के संगठनों को हिदायत की गई कि वे अपना काम ज़ोर-शोर से जारी रखें तथा जनता को कांग्रेस की स्थिति और हाल की घटनाएं समझाएं। इस गम्भीर परिस्थिति पर सोच-विचार करने के लिए १५ सितम्बर को कांग्रेस महासमिति की एक बैठक बुलाई गई।

अगस्त के अन्त में पण्डित जवाहरलाल ने घोषणा की कि पूने का प्रस्ताव अब लागू नहीं रहा और वह ख़त्म हो गया है। देश के सामने सिर्फ एक ही रास्ता था कि "वह रामगढ़ के प्रस्ताव पर अमल करता हुआ त्याग तथा बलिदान करे और कष्ट झेलने के लिए तैयार रहे।" सभी यह महसूस कर रहे थे कि कांग्रेस को चाहिये कि वह इस आत्मघाती और भयंकर युद्ध के समय पूरी आज़ादी के साथ अपना काम जारी रखने पर ज़ोर दे। लेकिन वास्तविकता यह थी कि सत्याग्रह की भावना ने कांग्रेस को अपने विरोधी को परेशानी में डालने से रोका। इतना महसूस करते हुए भी कांग्रेस यह नहीं बरदाश्त कर सकती थी कि उसने स्वयं संयम का जो व्रत लिया है उसके कारण उसका अस्तित्व ही मिट जाये इसलिए उस समय कांग्रेस का इरादा अगरआवश्यक भी जान पड़े तो भी वह अहिंसात्मक प्रतिरोध-आन्दोलन शुरू करने का समय नहीं था। वर्धा की बैठक के बाद गांधीजी ने कुछ दोस्तों को वहीं रोक लिया। वे लोग गांधीजी को इस बात पर रज़ामन्द करने में सफल हो गए कि वे अनशन नहीं करेंगे और उन सभी ने एक फार्मूला तैयार कर लिया जिसे अभी कार्यसमिति और कांग्रेस महासमिति की स्वीकृति मिलनी बाकी थी। फिर भी यह जरूरी था कि अगर गांधीजी को आन्दोलन का नेतृत्व करना था तो उन सब को अपने प्रस्ताव के सम्बन्ध में एक ही राय होकर काम करना होगा और उसका एक ही अर्थ लेना होगा। लेकिन इसके लिए यह भी ज़रूरी था कि गांधीजी का इरादा भी जान लेते। वे स्वतन्त्रता की मांग पर किसी प्रकार के भी आन्दोलन की कल्पना नहीं कर सकते थे। "इस लड़ाई में कोई भी व्यक्ति ब्रिटेन की जन या धन के रूप में मदद न करे। नौकरशाही की हम प्रशंसा करते हैं, इसलिए कि वह यह साबित कर रही है कि उसमें कितनी ताक़त है।" गांधीजी ने भी लिखा था कि राष्ट्र के धैर्य की भी एक हद होती है। राष्ट्र की नरमी और धीरज से अनुचित लाभ उठाकर कांग्रेस को कुचला जा रहा है। इसलिए मेरे सामने सवाल आज़ादी का नहीं था, बल्कि, यों कहिये कि, नागरिक स्वतन्त्रता का—राष्ट्र के अस्तित्व की आज़ादी का था।

अब की बार गांधीजी स्वयं जेल नहीं जाएँगे। वे इस मज़ाक से दूर ही रहना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार उनसे सुलह नहीं करना चाहती थी। उन्होंने वर्धा में अपने दोस्तों को बताया कि मैंने अनशन का ख़याल छोड़ दिया है। लेकिन यह सिर्फ़ इसी मौक़े के लिए। उनकी धारणा कुछ ऐसी थी कि अगर सविनय-अवज्ञा को ज़ोरदार और प्रभावशाली बनाने में वे सफल न हुए तो उनके लिए अनशन लाज़िमी था। वे चाहे कुछ भी सोच रहे हों, पर अबतक उन्होंने यही तय किया था कि सविनय-अवज्ञा किस किस्म की नहीं होनी चाहिये, यह नहीं कि कैसी होनी चाहिये। यह बात नहीं थी कि सत्याग्रह की योजना के सम्बन्ध में कार्यसमिति के सभी सदस्य एकमत हों। अगर हमारे विरोधी जानवरों की तरह असभ्य थे, जैसा कि उस समय ख़याल किया जाता था, तो सत्याग्रह का मतलब यह था कि हम उनके विरुद्ध डटकर खड़े हो गए हैं और यह मानना पड़ेगा कि बात ऐसी ही थी। अबतक तो वे ज़बरदस्ती का शोषण करके राष्ट्र को

ख़त्म करते जा रहे थे। और अब राष्ट्र स्वेच्छा से अपना बलिदान देने को तैयार था। राष्ट्रीय संगठन को ख़त्म किया जा रहा था और अगर इस समय राष्ट्र अपनी अहिंसा को सुरक्षित रखना चाहता था तो इसका मतलब था कि स्वयं उसकी अहिंसा भी ख़त्म हो जाएगी। स्पष्ट है कि ऐसा ख़तरा मौजूद था। चाहे परिस्थिति कितनी भी नाज़ुक और जटिल क्यों न हो गई हो, राष्ट्रीय संगठन कैसे भी ख़तरे में क्यों न पड़ गया हो और संयुक्त प्रान्त के श्रीकृष्णदत्त पालीवाल तथा अन्य ऐसे ही कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी के कारण हमारा संगठन धीरे-धीरे ख़त्म होता जा रहा हो, फिर भी कांग्रेस के सामने एक बहुत ही मर्यादित और छोटे पैमाने पर सत्याग्रह शुरू करने के सिवा और कोई चारा नहीं था। गांधीजी को प्रकाश की आवश्यकता थी। उनके लिए हरएक चेतावनी स्वागत-योग्य थी। वे हर तरह से सत्याग्रह की घड़ी को टालने की कोशिश में थे। उनके अन्दर एक मानसिक संघर्ष चल रहा था। अगर वे सत्याग्रह का कोई कार्य-क्रम नहीं निर्धारित करते तो वे अपने को कांग्रेस का नेता या सत्याग्रह का नेता नहीं साबित कर सकेंगे। परन्तु अगर कोई यह कहे कि वे सत्याग्रह के मामले में शिथिल पड़ गए हैं तो वे आख़िर तक इस बात को समझने के लिए तैयार थे। यह एक कठिनाई थी। यह ठीक है कि इस भ्रम में पड़े रहना कठिन था कि झगड़े का कोई कारण ही नहीं है। जब वजह मौजूद थी तो फिर झगड़े के बारे में सोचते रहना कहां की बुद्धिमानी थी? बस यहीं सारा मतभेद था। गांधीजी सत्याग्रह को रामबाण औषधि समझते थे। उनके सामने इससे बड़ी कोई चीज़ नहीं थी। बहरहाल, कुछ आदमी इसे भूल कह सकते हैं। गांधीजी कहते थे कि अगर यह भूल है तो उन्हें सेनापति की हैसियत से यह ग़लती करनी ही चाहिये। चाहे आप इसे भूल कहें या प्रयोग, देश को मजबूरन इसकी शरण लेनी पड़ेगी, इसलिए नहीं कि कोई और उपाय ही नहीं था, बल्कि इसलिए कि अगर कोई और उपाय नहीं है तो भी सेनापति को यह प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि उसे इसमें पूरा यक़ीन है। अगर इस प्रयोग का ब्रिटेन पर कोई असर नहीं पड़ेगा, तो भी कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य पूरा हो जायगा, क्योंकि इससे वह अपने लोगों पर तो असर डाल ही सकेगी। सत्य और अहिंसा लोगों के मज़ाक की एक बात बन गई थी। मज़ाक में यह कहा जा रहा था कि कांग्रेस ने वर्धा में अहिंसा और दिल्ली में सत्य को तिलांजलि दे दी थी। पहली बात से कांग्रेस ने गांधीजी को खो दिया था; दूसरी बात से ब्रिटेन को भारत को स्वराज्य न देने का बहाना मिल गया था। और स्वराज्य के लिए कांग्रेस ने गांधीजी को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस-द्वारा भारत की रक्षा की जो बात कही जा रही है उसका मतलब इस लड़ाई में ब्रिटेन की रक्षा करना है। जनता के लिए भाषा की ये बारीकियां समझना मुश्किल था। उन्हें तो साफ़ साफ़ और सीधी सलाह चाहिये। यह सलाह उसे बम्बई में दी जानी थी।

अब भारत के लिए मैदान में उतर आने का मौक़ा आ गया था। उसके लिए कुछ कर दिखाने का अवसर आ पहुँचा था। एक साल तक तो वह प्रतीक्षा करता रहा। १५ सितम्बर को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति की बैठक हो रही थी और तबतक लड़ाई को शुरू हुए साल से ज्यादा हो चुका था। कांग्रेस बड़ी कठिन और दुविधापूर्ण स्थिति में पड़ गई थी। नौजवान इस विलम्ब का कारण कांग्रेस की भीरुता समझ रहे थे। दूसरी ओर, सरकार उसके संयम को उसकी कमज़ोरी समझ रही थी। परन्तु कांग्रेस इन दोनों की परवाह किये बग़ैर अपनी सूझ-बूझ और विवेक के अनुसार अपना काम करती जा रही थी ताकि ब्रिटेन को उसकी मुसीबत के वक्त और परेशान न किया जाय। उसने संग्राम शुरू करने के लिए कोई वक्त निश्चित नहीं

किया था। उस वक्त कुदरत चाहती थी कि यह आगे बढ़े। सुरक्षा का प्रश्न उठाकर अगर लोग आराम से ज़िन्दगी बसर करना चाहते थे तो इससे अधिक आराम उन्हें कहां मिल सकता था कि वे अपने आपको ब्रिटेन की सद्भावना पर छोड़ देते? इस प्रकार की निष्क्रियता का सा आराम और कहां मिल सकता था? ज्योंही लड़ाई छिड़ी, ब्रिटेन ने ऐसा क़दम उठाया जैसा कि कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र उठाने को तैयार नहीं होगा। जब ब्रिटिश सिंह जर्मन गीध के खिलाफ़ दहाड़ रहा था तो उसने भारत को अपनी पूंछ की तरह समझा, क्योंकि पूंछ को तो हर हालत में उसके पीछे ही चलना था। कहने का मतलब यह कि ब्रिटेन ने ज़बरदस्ती भारत को युद्ध की आग में झोंक दिया। इस बारे में ब्रिटेन ने बाक़ी सभी स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों से सलाह-मशविरा किया, परन्तु भारत के सम्बन्ध में पहले से ही मान लिया गया कि वह लड़ाई में शामिल होने को तैयार है। क्या गांधीजी आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे? मौलाना आज़ाद कह चुके थे कि गांधीजी बम्बई जा रहे हैं और वे ही आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे। उनके ख़याल से ब्रिटेन ने इससे पहले राष्ट्र का इतना बड़ा अपमान कभी नहीं किया था। वे सारी ही स्थिति से बड़े परेशान और दुखी थे। लोग पूछ रहे थे कि क्या देश सत्याग्रह के लिए तैयार है? पहली बात तो यह कि इस तैयारी का मतलब जन-धन या साज-सामान की तैयारी से न था। सत्याग्रह की तैयारी का सवाल मुख्यतः वातावरण से सम्बन्ध रखता था। सामूहिक सत्याग्रह के लिए हमें साधारणतः अहिंसात्मक वातावरण की ज़रूरत है। और यह वातावरण देश में मौजूद नहीं था। परन्तु जोश इतना था कि सत्याग्रह अनिवार्य हो गया। उसकी एक योजना की ज़रूरत थी जिसके ज़रिये ऐसा करना सम्भव हो जाता। फिर भी वातावरण की प्रतिक्रिया हमारे प्रतिकूल नहीं होनी चाहिये। गांधीजी का यह विचार सही था कि वातावरण में हिंसा पाई जाती है, जैसा कि उनका विचार था कि कांग्रेस में भ्रष्टाचार पाया जाता है। आप इस बात की तुलना इससे कीजिए कि किसी संयुक्त परिवार का मुखिया बच्चों को उनकी फिज़ूलख़र्ची के बारे में डांट-डपट से काम ले रहा हो। इसी प्रकार गांधीजी कांग्रेसजनों को पारस्परिक सम्बन्धों और सामान्य संगठन के प्रति उनमें अनुशासन की कमी के लिए डाट-फटकार रहे थे। किसी पड़ोसी के लिए संयुक्त परिवार के मुखिया पर इस तरह कीचड़ उछालना ठीक नहीं था। यह डांट-डपट, यह चेतावनी आत्मनिरीक्षण के रूप में दी जा रही थी। गांधीजी सत्याग्रह-आन्दोलन के जन्मदाता हैं। संगठन में व्यवस्था स्थापित करने के ख़याल से ही वे अपने अनुयायियों को उनकी ज्यादतियों के लिए कड़ी चेतावनी दिया करते थे। आपको दुनिया में ऐसी मिसाल कहां मिलेगी कि किसी सार्वजनिक संगठन का नेता खुलेआम यह कह रहा हो कि उसके संगठन में भ्रष्टाचार पाया जाता है? अगर गांधीजी ऐसा कहते थे तो इससे उनका उद्देश्य देश की अन्दरूनी हालत को सुधारना और जल्दी या देर से शुरू होनेवाले संग्राम के लिए इस महान् संगठन को अच्छी तरह से संगठित करना था।

जब कि स्थिति ऐसी थी तो यह एक सचाई है कि भारत और इंगलैण्ड के पारस्परिक सम्बन्ध एक ऐसी अवस्था में पहुँच गए थे कि देश की आम हालत के बावजूद भी संग्राम शुरू कर देना अनिवार्य हो गया था। हो सकता है कि ये बातें परस्पर-विरोधी हों। लेकिन लड़ाई-झगड़े का भी तो निबटारा होना ही चाहिये। क्योंकि दुनिया में आपको समझौते और सुलह-सफाई की बहुत-सी बातें मिलेंगी और यह सम्भव नहीं कि दुनिया अपना काम महज़ कानून या तर्क की बिना पर ही चलाती रहे।

१५ और १६ सितम्बर, १९४० को बम्बई में कांग्रेस महासमिति ने पिछले दो महीनों में

देश की जो हालत हो गई थी उसकी समीक्षा की और यह घोषणा की कि दिल्ली का प्रस्ताव, जिसकी स्वीकृति पूना में दी गई थी, अब अमल में नहीं रहा और वह खत्म हो गया है। इसके साथ ही समिति ने यह भी कहा कि कांग्रेस ने अबतक स्वयं अपने ऊपर जो प्रतिबन्ध लगा रखा था—जिस संयम से वह चल रही थी, उसका मतलब यह नहीं है कि वह अपनी हस्ती ही मिटा देना चाहती है। कांग्रेस का यह इसरार है कि अहिंसा के अनुसार अपनी नीति पर चलने की उसे पूरी आज़ादी रहे, परन्तु कांग्रेस की यह मर्ज़ी नहीं है कि मजबूरी की हालत में भी वह अपना अहिंसात्मक विरोध उस हद के पार ले जाय जितनी जनता की आज़ादी की रक्षा के लिए आवश्यक है।

सितम्बर के मध्य में भारत के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हो रहा था। लड़ाई को शुरू हुए एक साल और १५ दिन हो चुके थे। हर संभव कोशिश की गई कि ब्रिटेन की मुसीबत के दिनों में कोई संग्राम न शुरू किया जाय, यहां तक कि गांधीजी के नेतृत्व की भी उपेक्षा कर दी गई। आखिर यह प्रतिज्ञा पूना में तोड़ दी गई; परन्तु उसका फल अभी सामने नहीं आया था। अब सिर्फ़ यही बाक़ी रह गया था कि फ़िजूलखर्च पुत्र अपने विवेक और अपनी क़ाबलियत का गर्व गँवाकर खाली हाथ और पछताता हुआ, विश्वसनीय होकर और मिन्नतें करता हुआ फिर से अपने पिता के पास वापस चला आए। मिन्नत, खुशामद और प्रार्थना करने की भी ज़्यादा ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि पुत्र कर्तव्य-पथ से विचलित हो सकता था, पर मां-बाप का प्यार तो अक्षुण्ण बना हुआ था। दुनियावी विचारों में फंसी हुई सन्तान अपने पिता की चेतावनी या डांट-डपट को बहुत अधिक नैतिक समझ सकती है, लेकिन उनकी बेवकूफ़ी या भूल जल्दी ही भुला दी जाती है। अगर इस बात की आम चर्चा न हुई होती कि गांधीजी फिर से सेनापति बन रहे हैं और जल्दी ही ब्रिटेन के खिलाफ़ लड़ाई शुरू हो जाएगी तो बम्बई में बहुत अधिक खींचातानी हुई होती। अब सिर्फ़ राष्ट्र को अपने अटूट आज्ञापालन का परिचय देना होगा। अहिंसा को फिर से उसका सर्वोच्च आसन दिया जाना था, क्योंकि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के फ़ैसले का पंच उसे ही बनाया गया था। इन बातों के बावजूद भी वातावरण में बेचैनी और खिंचाव पाया जाता था। लेकिन यह खिंचाव किसी डर या ख़तरे के कारण नहीं था, बल्कि इस आशा के कारण था कि न जाने देश के सामने क्या चीज़ आएगी—गांधीजी अपनी कौन-सी योजना देश के सम्मुख रखेंगे?

कांग्रेस-महासमिति की कार्रवाई शुरू करने से पहले प्रधान ने पूना अधिवेशन के बाद की परिस्थिति की समीक्षा करते हुए एक वक्तव्य दिया।

कार्यसमिति ने दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये, एक सविनय अवज्ञा के स्थगित करने के सम्बन्ध में और दूसरा केरल प्रान्त की परिस्थिति के बारे में।* कार्यसमिति चाहती थी कि उसके सत्याग्रह शुरू करने से पहले देश में पूरी शान्ति और व्यवस्था कायम रहे और वातावरण अहिंसात्मक बना रहे। लेकिन १५ सितम्बर को केरल में पुलिस के एक सब-इंस्पेक्टर को पत्थरों से मार डाला गया था और इस घटना के कारण कांग्रेस बहुत अधिक परेशान थी। इसलिए उसने केरल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के ख़िलाफ़ अनुशासन-भंग की शिकायतों और १५ सितम्बर को सभाओं में जो गड़बड़ हुई थी, उसकी जांच-पड़ताल करने के लिए एक समिति वहाँ भेजनी आव-

---

*देखिए बुलेटिन ५ अक्टूबर २४-१९४०—पृष्ठ, १ से २२ तक।

श्यक समझी। आगे कार्य-समिति ने सभी कांग्रेस-संगठनों से आग्रह किया कि वे "सविनय अवज्ञा—चाहे वह व्यक्तिगत हो या किसी और क़िस्म की—तबतक के लिए बन्द कर दें जब-तक कि उन्हें गांधीजी की ओर से कोई निश्चित हिदायत न की जाय। गांधीजी वाइसराय के साथ अपनी आगामी मुलाक़ात की सफलता के लिए इसे आवश्यक समझते थे। रजिस्टरशुदा और ग़ैर-रजिस्टरशुदा कांग्रेसजनों और कांग्रेस से प्रेम रखनेवाले सभी स्त्री-पुरुषों के अनुशासन की कसौटी के रूप में भी उन्हें यह आवश्यक प्रतीत होता था। वे मानते थे कि यदि सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करना पड़े तो उसकी सफलता के लिए थोड़े समय तक आज्ञा-पालन की शिक्षा लेना बहुत ज़रूरी और अनिवार्य है।"

बम्बई की बैठक को समाप्त हुए अभी पंद्रह दिन भी न हुए थे कि २६ सितम्बर, १९४० को श्री एमरी ने 'ओवरसीज़ लीग' में एक और भाषण दिया। हिन्दुस्तान की आज़ादी के मक़सदों के बारे में उन्होंने बड़ी लच्छेदार भाषा का प्रयोग करते हुए कहा : "इस संक्रांति-काल में भारत में हमें चाहे जो भी अन्दरूनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ें, परन्तु फिर भी हमारे और भारतीयों के बीच एकता की एक कड़ी मौजूद है और हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है कि स्वतंत्रता के जिन आदर्शों से वे अनुप्राणित हो रहे हैं—जिनसे उन्हें प्रेरणा मिलती है—उनका आदि-स्रोत यहीं ब्रिटेन में है।" परन्तु उन्होंने फिर वही पुराना राग अलापते हुए भारतीयों के आपसी मतभेद पर बहुत ज़ोर दिया। श्री एमरी ने कहा, "क़ानून के मुताबिक़ स्वेच्छाचारी रियासतों को जो प्रभाव प्राप्त हो गया है, कांग्रेस को पार्लामेण्टरी प्रजातंत्र की पद्धति की बिना पर उस पर आपत्ति है। दूसरी ओर केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचित बहुमत को रियासतों के मामलों में जिस हद तक हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया है उससे वे घबरा उठी हैं। इसके अलावा महान् मुस्लिम संप्रदाय स्थायी हिन्दू बहुमत के हाथों में अपना भाग्य सौंपने से इनकार करता है...।" आख़िर श्री एमरी इस नतीजे पर पहुँचे कि "वैधानिक प्रगति की संभावना के कारण ही ये मतभेद ज़ोर पकड़ गए हैं, जो (अबतक) स्वेच्छाचारिता के नियंत्रण में दबे पड़े थे।"

: १० :

सत्याग्रह : अक्तूबर १९४०

ऐसे समय में जब कि दुनिया भारी संहार और सर्वनाश में जुटी हुई थी, सिर्फ़ भारत ही एकमात्र ऐसा देश था जो शान्ति और सद्भावना का युगों पुराना सन्देश लिए हुए सभ्य मानवता के बीच अपना सिर ऊँचा किये खड़ा था। ऐसे ही सुअवसर पर गांधीजी की ७२ वीं शुभ वर्षगाँठ आई। अगर हम एक प्रतियोगितापूर्ण सभ्यता को मानव-समाज के ऊपर अपना घातक प्रहार करने की इजाज़त देते हैं तो हम किस प्रकार शान्ति और सद्भावना को क़ायम रख सकते हैं? संयुक्त परिवार की व्यवस्था, मनुष्य का व्यक्तिगत और समाज का वर्णाश्रम धर्म, विश्व की भलाई और समृद्धि के लिए मानव की दैनिक प्रार्थना—ये सभी बातें राष्ट्रों के आत्मसंपन्न, आत्मभरित और आत्मनिर्भर रहने पर ज़ोर देती हैं; परन्तु ऐसी ईश्वरीय व्यवस्था केवल उसी अवस्था में क़ायम हो सकती है जब प्रत्येक बुनियादी इकाई भी इसी तरह आत्मभरित और आत्मपूरित रहे। दूसरे शब्दों में इसका मतलब यह हुआ कि हमारे गांवों को अपने खाने और पहनने का प्रबन्ध स्वयं ही करना चाहिये; शहरों को परमुखापेक्षी नहीं बने रहना चाहिए और संपूर्ण देश को लालच और लोलुपता को छोड़ देना चाहिए। इसलिए खादी नई व्यवस्था की बुनियाद है और खद्दर कोई नई चीज़ नहीं है; क्योंकि वह तो सन् १८०२ तक अनादिकाल से चला आ रहा था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी दो शताब्दियों तक खद्दर बेचकर ख़ूब धन कमाया और बाद में उसे सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट भी किया। इसलिए हम सबको मिलकर कोशिश करनी चाहिए कि इसका पुनरुद्धार किया जाय। अतः प्रत्येक ग्राहक को इसके लिए कुछ अतिरिक्त क़ीमत देनी चाहिए, क्योंकि सरकार तो इसे सरकारी सहायता देने को तैयार नहीं। पिछले साल ७१वें जन्मदिन के अवसर पर इस महान् सन्त, राजनीतिज्ञ, और दार्शनिक ने ब्रिटेन और भारत के बीच लड़ाई की ज़ोरदार लहर को रोकने की भरसक चेष्टा की। वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने अपना आशा-केन्द्र और कार्य-क्षेत्र ब्रिटेन के बाहर भी स्थापित कर दिया; क्योंकि गांधीजी ने लड़ाई छिड़ते ही हिटलर के नाम अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा था। वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सालभर से भी अधिक समय तक कोशिश करते रहे और इस बीच उन्होंने 'प्रत्येक अंग्रेज़ के प्रति, अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा, जिसका उन्हें बड़ा रूखा-सा जवाब मिला। पत्र इस प्रकार था—

"१८९६ में मैंने दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज़ों के नाम एक अपील निकाली थी। वह अपील वहाँ के मज़दूरों और व्यापारीवर्ग के हिन्दुस्तानियों की ख़ातिर थी। उसका असर भी हुआ था। उसका हेतु कितने ही महत्त्व का क्यों न रहा हो, मगर मेरी नज़र में आज की इस अपील के सामने वह तुच्छ थी। मेरा प्रत्येक अंग्रेज़ से, चाहे वह दुनिया के किसी भी हिस्से में क्यों न

हो, निवेदन है कि वह राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों और दूसरे मामलों का फैसला करने के लिए युद्ध का मार्ग छोड़कर अहिंसा का मार्ग स्वीकार करे। आपके राजनीतिज्ञों ने यह घोषणा की है कि यह युद्ध प्रजातंत्र के सिद्धान्त की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। युद्ध के औचित्य को सिद्ध करने के लिए और बहुत-से ऐसे कारण दिये गये हैं। आप यह सब अच्छी तरह जानते हैं। मैं आप से यह कहता हूँ कि इस युद्ध के समाप्त होने पर जीत चाहे किसी भी पक्ष की हो, प्रजातन्त्र का कहीं नामोनिशान भी न मिलेगा। यह युद्ध मनुष्य-जाति पर एक अभिशाप और चेतावनी के रूप में उतरा है। यह शापरूप इसलिए है कि आज तक कभी इन्सान इन्सानियत को इस क़दर नहीं भूला था, जितना कि वह इस युद्ध के असर से भूल रहा है। लड़नेवालों में आज फ़र्क़ ही नहीं किया जाता, कोई भी इन्सान या कोई भी चीज़ छोड़ी नहीं जाती। झूठ बोलने को एक कला का रूप दे दिया गया है। ब्रिटेन छोटे-छोटे राष्ट्रों की रक्षा करनेवाला कहा जाता, पर एक-एक करके कम-से-कम आज तो वे सब राष्ट्र ग़ायब हो चुके हैं। यह युद्ध एक चेतावनी के रूप में भी है। अगर लोग प्रकृति की इस चेतावनी से न चेते तो इन्सान हैवान बन जाएगा। सच तो यह है कि आज इन्सान की करतूतें हैवान को भी शर्मिन्दा कर रही हैं। मैं प्रकृति की इस चेतावनी का अर्थ युद्ध छिड़ते ही समझ गया था। मगर मेरी यह हिम्मत नहीं होती थी कि मैं आपसे कुछ कहूँ, किन्तु आज ईश्वर ने मुझे हिम्मत दे दी है और मौक़ा भी अभी हाथ से निकल नहीं गया है।

"मैं अपील करता हूँ कि युद्ध बन्द कर दिया जाये। इसलिए नहीं कि आपलोग लड़ने से थक गये हैं, बल्कि इसलिए कि युद्ध दरअसल बुरी चीज़ है। आप लोग नाज़ीवाद का विनाश करना चाहते हैं, मगर आप नाज़ीवाद की कच्ची-पक्की नकल करके उसका कभी नाश नहीं कर सकेंगे। आपके सिपाही भी आज जर्मन सिपाहियों की ही तरह सर्वनाश करने में लगे हुए हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि शायद आपके सिपाही इतनी संपूर्णता से तबाही का काम नहीं करते, जितना कि जर्मन सिपाही। अगर यह सही है, तो शीघ्र ही जर्मन सिपाहियों से ज़्यादा नहीं तो उतनी ही संपूर्णता आप लोग भी प्राप्त कर लेंगे। और किसी दूसरी शर्त पर आप युद्ध में जीत नहीं सकते। दूसरे शब्दों में, आप लोगों को नाज़ियों से ज़्यादा निर्दय बनना होगा। कोई भी हेतु, चाहे वह कितना ही न्याययुक्त क्यों न हो, आज प्रतिक्षण के अन्धाधुन्ध क़त्लेआम को उचित नहीं ठहरा सकता। मैं आपसे कहता हूँ कि अगर किसी भी हेतु के लिए ज़ुल्म ढाना ज़रूरी होता है तो वह हेतु कभी न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता।

"मैं नहीं चाहता कि ब्रिटेन हारे। मगर मैं यह भी नहीं चाहता कि वह पाशविक बल की परीक्षा में जीते, भले ही वह पशुबल बाहुबल के रूप में प्रदर्शित किया जाये या बुद्धिबल के रूप में। आपका बाहुबल तो जगत्प्रसिद्ध है। क्या आपको यह प्रदर्शन करने की ज़रूरत है कि आपका बुद्धिबल भी तबाही करने में सबसे ज़्यादा शक्तिशाली है? मुझे आशा है कि आप लोग नाज़ियों के साथ इस क़िस्म के मुक़ाबले में उतरना अपनी बेइज़्ज़ती समझेंगे। मैं आप लोगों के सामने एक बहुत ज़्यादा बहादुरी और बहुत ज़्यादा शराफ़त का तरीक़ा पेश करता हूँ। यह तरीक़ा बहादुर-से-बहादुर सिपाही की शान के उपयुक्त है। मैं चाहता हूँ कि आप नाज़ियों का सामना बिना हथियारों के करें, या फ़ौजी परिभाषा में कहा जाय तो अहिंसा के हथियार से मुक़ाबला करें। मैं चाहता हूँ कि आप अपनी और मनुष्य-जाति की रक्षा के लिए मौजूदा हथियारों को निकम्मा समझकर फेंक दें। आप हर हिटलर और सीन्योर मुसोलिनी को बुलायें कि आप हमारे

इस खूबसूरत इमारतों वाले सुन्दर द्वीप पर क़ब्ज़ा कर लीजिए। आप यह सब उन्हें दे देंगे, मगर अपना दिल और आत्मा उन लोगों को हर्गिज़ नहीं देंगे। ये लोग अगर आपके घरों पर क़ब्ज़ा करना चाहें तो आप अपने घरों को ख़ाली कर देंगे और आप सब-के-सब मर्द, औरतें और बच्चे कट जाएँगे, मगर उनकी अधीनता स्वीकार नहीं करेंगे।

"इस तरीक़े को मैंने अहिंसक असहयोग का नाम दिया है और हिन्दुस्तान में यह तरीक़ा काफी सफल भी हुआ है। हिंदुस्तान में आपके नुमाइन्दे मेरे इस दावे से इन्कार कर सकते हैं। अगर वे ऐसा करेंगे तो मुझे उनपर खेद होगा। वे आपसे कह सकते हैं कि हमारा असहयोग पूरी तरह अहिंसात्मक नहीं था। उसकी जड़ में द्वेष था। अगर ये लोग यह गवाही देंगे तो मैं इससे इन्कार नहीं करूंगा। अगर हमारा असहयोग पूरी तरह अहिंसात्मक रहता, अगर तमाम असहयोगियों के मन में आपके प्रति प्रेम भरा रहता तो मैं दावे से कह सकता हूँ कि आप लोग जिस हिन्दुस्तान के आज स्वामी हैं, उसके शिष्य होते, आप हम लोगों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा कुशलता से इस हथियार को संपूर्ण बनाते और जर्मनी, इटली और उनके साथियों का इसके द्वारा सामना करते। तब यूरोप का पिछले चन्द महीनों का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। यूरोप की भूमि पर निर्दोष रक्त की नदियां न बहतीं। इतने छोटे-छोटे राष्ट्रों का हरण न होता और द्वेष से यूरोप के लोग आज अन्धे न बन जाते।

"यह एक ऐसे आदमी की अपील है, जो अपने काम को अच्छी तरह जानता है। मैं पिछले पचास बरस से ज़्यादा समय से लगातार एक वैज्ञानिक की बारीकी से अहिंसा के प्रयोग और उसकी छिपी हुई शक्तियों को शोधने का प्रयत्न कर रहा हूं। मैंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किया है। घर में, संस्थाओं में, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में, एक भी ऐसे मौक़े का मुझे स्मरण नहीं है कि जहां अहिंसा निष्फल हुई हो। जहां कभी निष्फलता-सी देखने में आई, मैंने उसका कारण अपनी अपूर्णता को समझा है। मैंने अपने लिए कभी संपूर्णता का दावा नहीं किया। मगर मैं यह दावा करता हूँ कि मुझे सत्य की, जिसका दूसरा नाम ईश्वर है, शोध की लगन लगी रही है। इस शोध के सिलसिले में अहिंसा मेरे हाथ आई। इसका प्रचार मेरे जीवन का उद्देश्य है। मुझे अगर ज़िन्दा रहने में कोई रस है तो सिर्फ़ इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये ही है।

"मैं दावा करता हूँ कि मैं ब्रिटेन का आजीवन और निःस्वार्थ मित्र रहा हूँ। एक वक्त ऐसा था कि मैं आपके साम्राज्य पर भी मुग्ध था। मैं समझता था कि आपका राज्य हिन्दुस्तान को फ़ायदा पहुँचा रहा है। मगर जब मैंने देखा कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, इस रास्ते से हिन्दुस्तान का भला नहीं हो सकता, तब मैंने अहिंसक तरीक़े से साम्राज्यवाद का सामना करना शुरू किया और आज भी कर रहा हूँ। मेरे देश की किस्मत में आख़िर कुछ भी लिखा हो, आप लोगों के प्रति मेरा प्रेम वैसे ही क़ायम है और रहेगा। मेरी अहिंसा सार्वभौम है और वह सारे जगत् के प्रति प्रेम मांगती है और उस जगत् का आप लोग कोई छोटा हिस्सा नहीं हैं। आप लोगों के प्रति अपने प्रेम के कारण ही मैंने यह निवेदन किया है।

"ईश्वर मेरे एक-एक शब्द को शक्ति दे। भगवान के नाम पर ही मैंने यह लिखना शुरू किया था और उसी के नाम पर मैं समाप्त करता हूँ। ईश्वर आपके राजनीतिज्ञों को सन्मति और साहस दे कि वे मेरी प्रार्थना का उचित उत्तर दे सकें। मैंने वाइसराय महोदय से कहा है कि अगर ब्रिटिश सरकार को ऐसा लगे कि मेरी इस अपील के हेतु को आगे बढ़ाने के लिए मेरी मदद उन्हें

उपयोगी होगी तो मेरी सेवाएं उनके हाथ में हैं।"

गांधीजी ने देखा कि लड़ाई की लपटें यूरोप में दूर-दूर तक फैलती जारही हैं। इनके कारण ब्रिटेन का दिल भारत के प्रति नरम होने की बजाय और भी सख़्त और कठोर होता जारहा है। वह इतना निर्मम और निर्दय बनता जारहा था, जिसकी कल्पना तक भी नहीं की जा सकती थी।

फिर भी गांधीजी का उपदेश और संदेश अभीतक जनता के सामने अपना सिर उन्नत किये खड़ा था। इस साल गांधी-जयन्ती के अवसर पर भी उनके पिछले ५५ साल के सार्वजनिक जीवन के उपदेश का स्मरण किया गया। जनता के सामने विगत सारा इतिहास रखा गया कि किस प्रकार देश धीरे-धीरे सत्याग्रह संग्राम की तीसरी मंजिल तक पहुंच गया। यह सर्वथा उचित ही प्रतीत होता है कि तीसरे महान् आन्दोलन का वर्णन करने से पहले विगत इतिहास का चित्र पाठकों के सामने रख दिया जाय।

१७ अक्तूबर को सत्याग्रह-संग्राम की रणभेरी बज उठी। उस दिन पहले सत्याग्रही श्री विनोबा भावे ने यह प्रतिज्ञा दोहराते हुए सत्याग्रह किया--"जन या धन से ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न में सहायता देना ग़लत है। युद्ध का एकमात्र उपचार युद्धमात्र के अहिंसात्मक प्रतिरोध से मुक़ाबला करना है।"

यह बात सभी जानते थे कि दूसरे सत्याग्रही पंडित जवाहरलाल नेहरू थे। कुछ लोगों का ऐसा विचार था कि क्या प्रथम सत्याग्रही कांग्रेस के प्रधान या उनकी कार्यसमिति के किसी सदस्य को नहीं होना चाहिए था? लेकिन गांधीजी ने यह बात छिपाकर नहीं रखी कि श्री विनोबा के अतिरिक्त उनमें से एक भी आदमी उनके (विनोबा) बराबर नहीं था। उनमें एक आश्चर्यजनक गुण यह है कि बड़े मृदुभाषी हैं, खासकर जबकि कही जाने वाली बातें बड़ी कटु हों। जवाहरलाल-जी को ७ नवम्बर को सत्याग्रह करना था। गांधीजी ने उन्हें बुलाया। वापस लौटते हुए ३१ अक्तूबर को उन्हें इलाहाबाद के क़रीब छिउकी रेलवे स्टेशन पर गिरफ़्तार कर लिया गया।

वाणी-स्वातंत्र्य की प्राप्ति के लिए आन्दोलन छेड़ने के निमित्त एक व्यक्ति का चुनाव कुछ लोगों की दृष्टि में अत्यधिक सूझ-बूझ देशभक्ति, उत्साह और हिम्मत और आत्म-बलिदान का परिचायक था, जो प्राय: मज़ाक़-सा नज़र आ रहा था। पहले तो यह कि सीमित उद्देश्य समझ के बाहर की चीज़ नज़र आती थी और उस पर सत्याग्रह का सीमित क्षेत्र, जिसमें सिर्फ़ व्यक्तिगत सविनय भंग ही था, और अन्त में सीमित रूप से उसका सूत्रपात और वह एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसके बारे में कार्यसमिति के कुछ सदस्य कुछ भी नहीं जानते थे। अगर वे प्रमुख व्यक्तियों के सीमित क्षेत्र में भी प्रसिद्ध न थे, तो इसका कारण यह था कि श्री विनोबा विज्ञापन के ख़िलाफ़ थे और वे हमेशा उससे बचते रहे। वे रचनात्मक कार्यक्रम में इतने व्यस्त रहे कि राजनीति के रंगमंच पर कभी लोगों के सामने आये ही नहीं। परन्तु गांधीजी की दृष्टि में वे प्रिय, आदरणीय और आदर्शवादी—प्रियमित्र, आदरणीय सहयोगी और आदर्श सत्याग्रही थे।

"मेरे बाद प्रायः अहिंसा के सर्वोत्तम प्रतिपादक और उसे समझनेवाले श्री विनोबा ही हैं। वे मूर्तिमान् अहिंसा हैं। मैं 'प्रायः' शब्द का व्यवहार इसलिये कर रहा हूँ कि अहिंसा का सिद्धान्त उन्होंने मुझसे लिया है। उनमें मेरी अपेक्षा काम करने की दृढ़ता अधिक है। वे एक ख़ास जगह में बैठकर रचनात्मक कार्यक्रम कर रहे हैं। युद्ध के प्रति उनका विरोध विशुद्ध अहिंसा से उत्पन्न हुआ है।" श्री विनोबा के बाद गांधीजी ने पंडित जवाहरलाल को चुना था। अपने कार्य-क्रम के लिए

उन्होंने कार्यसमिति की स्वीकृति मांगी। निस्सन्देह यद्यपि उन्हें अपना काम करने का अधिकार दे दिया गया था, फिर भी वे कार्य-समिति का समर्थन और सहयोग प्राप्त करना परमावश्यक समझते थे। वे इसके लिए भी बड़े उत्सुक थे कि कार्य-समिति को सारी स्थिति समझ लेनी चाहिये। जो लोग पीछे रह गये थे—अर्थात् जिन्हें सत्याग्रह के लिए नहीं चुना गया था—उन्हें जानबूझकर या नासमझी से जेल नहीं जाना चाहिये। पहली श्रेणी के लोग अपराधी होंगे, और बाद की श्रेणी के ग़लती पर होंगे—पर वे क्षम्य होंगे। इस प्रकार देश के ऊपर कड़े संयम का प्रतिबन्ध लगा दिया और उसे अब अपने को पूरी तरह से रचनात्मक कार्यक्रम में लगा देना था, क्योंकि सविनय अवज्ञा की अपेक्षा रचनात्मक कार्य-क्रम का महत्त्व कहीं अधिक था। सिविल नाफ़रमानी में तो आप ग़लती कर सकते हैं; लेकिन रचनात्मक कार्य-क्रम के क्षेत्र में नहीं। अगर सभी आदमी जेल चले जायँ तो फिर रचनात्मक कार्य-क्रम ख़त्म हो जायगा और वे जेल में कुछ भी नहीं कर सकते। गांधीजी की स्पष्ट राय थी कि कोई भी कांग्रेसजन किसी जगह जाकर लोगों से लड़ाई में भाग लेने या उसमें चन्दे द्वारा मदद करने के लिए न कहे, क्योंकि इससे भारी ख़तरा पैदा हो जायगा। श्री विनोबा की गिरफ़्तारी के बाद क्या होगा? हां, गांधीजी जवाहरलालजी को इसकी इजाज़त देंगे कि वे सत्याग्रह करें; परन्तु लोगों के जत्थे ले जाने को नहीं। परन्तु कठिनाई यह थी कि गांधीजी यह कैसे फ़ैसला करेंगे कि जिन लोगों ने प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये हैं, उनमें से कौन सच्चा और कौन झूठा है? इसलिए पहले उन्होंने एक आदमी को चुना—फिर दूसरे को और बाद में क्या होगा यह उन्हीं पर निर्भर था। अगर इस बीच देश में अराजकता फैल गई तो वे उसका सामना करने की भी तैयारी कर लेंगे। कोलम्बस की तरह जो चार व्यक्तियों को अपने साथ लेकर समुद्र-यात्रा पर घर से निकला था—और इनमें दो आदमी समुद्र की गहराई की जांच-पड़ताल करने के लिये थे—उसी तरह गांधीजी भी देश की भावना की गहराई का पता लेते रहेंगे। श्री विनोबा और पंडित जवाहरलाल को जेल भेज देने के बाद अब उनके सामने यह सवाल था कि उन्हें अपनी सुरक्षित सेना को काम में लाना चाहिये। एक दृष्टिकोण यह भी था कि एक व्यक्ति-द्वारा सत्याग्रह के महत्त्व को तुच्छ न समझा जाय। क्या दाण्डी-यात्रा इसी तरह की नहीं थी? छोटे पैमाने पर शुरू किये गये काम में बड़ी शक्ति होती है। लेकिन इस दृष्टिकोण से सभी को सन्तोष नहीं हो सकेगा। अगर एक ही व्यक्ति यह काम करेगा तो क्या यह बात बनावटी नहीं नज़र आयेगी? अगर उस एक आदमी के बाद और भी होते तो लोगों की समझ में कुछ आ सकता था। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिरोध का प्रचार करना चाहता था। अगर वे भाषण दें और पकड़े न जायँ तो इसका मतलब होगा कि युद्ध करना ठीक नहीं है, और उसे ख़त्म कर देना चाहिए। वे शान्तभाव, विनम्रता और संयम से भाषण देंगे, लेकिन वातावरण में जोश कहां से आयेगा? क्या इसका तात्कालिक प्रभाव यह नहीं होगा कि गांधीजी जो संग्राम शुरू करना चाहते हैं, उसे बन्द कर दिया जाय? इसके अलावा यह कहना कि कोई भी कांग्रेसजन लड़ाई के सम्बन्ध में भाषण न दे—क्या यह बात अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति और कार्यसमिति की हिदायतों के ख़िलाफ़ न होगी कि देश को लड़ाई के ख़िलाफ़ प्रचार करना चाहिये? यह घटना अक्तूबर के मध्य की है, और उसके बाद के दो सप्ताहों में कांग्रेस के लिये सदस्य भरती करने का ज़ोरदार काम प्रारम्भ हो जाना था—प्रत्येक गांव में लोगों को जाग्रत करने का काम। इसे बन्द करके यह कहना कि श्री विनोबा वर्धा में आन्दोलन शुरू करेंगे दूसरे लोगों की समझ में कुछ भी न आसकता था।

इस प्रकार देश में जोशीला वातावरण कभी नहीं पैदा हो सकेगा—उसमें बिजली की-सी तेज़ी नहीं आ सकेगी। श्री विनोबा को कोई भी नहीं जानता था। क्या उन्हें इस पर सोच-विचार करने का कोई हक़ नहीं कि विनोबा क्या कर रहे हैं? क्या एक ही आदमी शेष की सहायता के बिना वातावरण में जोश पैदा कर सकता था? नहीं, कभी नहीं। पर गांधीजी की विचार-धारा इसके सर्वथा प्रतिकूल थी। यह कहना कि उस समय देश उनके साथ है—कोरा बहाना था। इससे कांग्रेस दुनिया को सिर्फ यह जाहिर कर सकेगी कि वह अपमानित होकर नहीं मरना चाहती। यह एक भयंकर लड़ाई की तैयारी थी पर वे प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को जेल नहीं जाने देना चाहते थे। श्री विनोबा का ख़याल उन्हें शिमला से लौटने पर आया। गांधीजी इस समस्या पर बिलकुल नये ढंग से विचार कर रहे थे। परन्तु इस पर कई तरीकों से सोच-विचार किया जा सकता था, और बुनियादी तौर पर जो लोग उनके घनिष्ठ संपर्क में थे, उनका दृष्टिकोण उनसे भिन्न था। हो सकता है कि एक दृष्टिकोण के विचारकों को यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ हो कि इसके फलस्वरूप किसी राजनैतिक परिणाम पर पहुँचने का कोई इरादा नहीं है। वे कहते थे कि नागरिक स्वतंत्रता की बजाय भारत की आजादी हमारा मक़सद होना चाहिये। एक बात को छोड़कर दूसरी बात पर जोर देना न केवल एक भूल ही थी, बल्कि ऐसा करना ख़तरनाक भी था। वे लोग यह नहीं कहते थे कि उन्होंने सत्ता न लेने का फैसला कर लिया है, बल्कि हर मौक़े पर सत्ता हासिल करने को तैयार थे। सीमित मांग पेश करना दुनिया की नजरों में गलती है। सभी सभाएं बन्द कर देने का परिणाम लोगों की हिम्मत तोड़ देना है और उनमें निराशा भर देना है। हमें किसी भी हालत में जनता के साथ व्यापक पैमाने पर संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिये। युद्ध का उल्लेख न करना बनावटी बात होगी। प्रत्येक आदमी यह जानने को उत्सुक था कि आगे क्या होगा? पहला क़दम यद्यपि बड़े सोच-विचार के बाद उठाना चाहिये; लेकिन वह बड़ा क़दम होना चाहिए। जनता की तैयारी के सम्बन्ध में हमारे लिये उसके मानसिक पहलू पर भी ध्यान देना नितान्त आवश्यक था। ऐसा करना जरूरी था, जिससे कि लोगों को यह यकीन हो जाय कि कांग्रेस पूरी गंभीरता के साथ कोई क़दम उठाने जा रही है। बुरी भावनावाले लोगों को पता लग जाना चाहिए कि आन्दोलन का क्रान्तिकारी पहलू क्या है। पहला क़दम इतना बारीक और सूक्ष्म न होना चाहिए कि लोग उसका अनुभव ही न कर सकें। पहला सत्याग्रही कोई प्रसिद्ध कांग्रेसजन होना चाहिए। उधर गांधीजी की विचार-धारा इसके बिल्कुल ही विपरीत थी। अगर लोग एक व्यक्ति-द्वारा सत्याग्रह प्रारंभ करने की बात नहीं समझ सकते तो उनके पास कोई और तरीका नहीं है। उन्हें इस बात का डर नहीं था कि लोग इस तरीके को नहीं समझते। लेकिन अगर उनका कोई साथी उनकी कार्य-पद्धति के औचित्य के बारे में संदेह प्रकट करता है तो वे अपने को कमज़ोर समझने लगते हैं। वे बार-बार कह चुके थे कि उनका इरादा या उनकी कल्पना सामूहिक आन्दोलन छेड़ने की नहीं है। देश उस समय इसके लिये तैयार नहीं था। आवश्यक साज-सामान भी उस समय उपलब्ध नहीं थे। किसी ने भी लोगों को इसके लिये तैयार नहीं किया था। आज़ादी की बातें बनाना आसान था। वास्तव में एक अर्थ में तो यह उनके पास ही थी। अगर वे इसे हासिल नहीं कर सकते थे तो यह उनका अपना ही कसूर था। अंग्रेज़ उन्हें आज़ादी नहीं दे सकते थे। जबतक स्वाधीनता का अर्थ महज़ शाब्दिक था, तबतक आप उसके बारे में बड़ी-बड़ी बातें बना सकते थे। और जब निर्णायक लड़ाई शुरू हो गई, तो उसके बारे में कुछ कहने की मनाही कर दी गई।

इसलिए जब उन्हें भाषण की स्वतंत्रता प्राप्त हो गई तो उन्हें काम करने की भी आज़ादी मिल गई। ऐसे सीमित आन्दोलन के समय प्रधान को स्वयं अपनी स्थिति के बारे में संदेह था कि क्या वे अपने पद पर बने रहकर अपनी ज़िम्मेदारी पूरी कर सकेंगे ? लेकिन ये सब विचार अस्थायी और क्षणिक थे।

श्री विनोबा ने वर्धा से पांच मील दूर अपने निवास-स्थान पवनार गांव में १७ अक्तूबर को युद्ध-विरोधी एक भाषण देकर सत्याग्रह का श्रीगणेश कर दिया। न तो सभा पर ही कोई रोक लगाई गई और न श्री विनोबा को पकड़ा ही गया। हां, इतना अवश्य हुआ कि देशभर के अख़बारों को चेतावनी दे दी गई कि वे उनके भाषण अथवा उनके कार्यक्रम के बारे में कोई समाचार न छापें। श्री विनोबा पैदल चलकर गांव-गांव में भाषण देते रहे। आखिर २१ अक्तूबर को उन्हें गिरफ़्तार करके तीन महीने की सादी क़ैद दी गई। तीसरे महान् सत्याग्रह के प्रारंभ में दिये गये उनके भाषणों का बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है; परन्तु स्थानाभाव से हम उन्हें यहां नहीं दे रहे हैं।

सज़ा पानेवाले दूसरे व्यक्ति पंडित जवाहरलाल थे। उन्हें सज़ा सत्याग्रह के लिए नहीं दी गई थी, बल्कि एक विशाल सार्वजनिक सभा में भाषण देने के लिए। अगर श्री विनोबा के मामले में दी गई सजा अपनी नरमी के लिए उल्लेखनीय थी तो पं० जवाहरलाल की सजा अपनी सख़्ती के लिए उतनी ही बदनाम। परन्तु भारत में सत्याग्रहियों ने सजा की मियाद का कभी ख़याल ही नहीं किया गया। वे खुशी-खुशी जेल गये हैं और क़ैद काटी है। वहां वे कातते रहे, पढ़ते और लिखते रहे, बीमार भी हुए और उसके बाद स्वस्थ भी। इतना ही नहीं, रिहा होने पर अथवा जेलों में ही मरे भी।

इस बीच आगामी सत्याग्रह आन्दोलन के लिए संयुक्तप्रान्त ने किस हद तक तैयारी कर ली है, यह जानने के हेतु पंडित जवाहरलाल ने प्रान्त के विभिन्न ज़िलों का दौरा अभी ख़त्म ही किया था। आपने मौजूदा परिस्थिति पर सभी तरह के बहुत से भाषण दिये। उन्हें वर्धा आने को कहा गया था जहाँ की वापसी पर उन्हें ३१ अक्तूबर, १९४० को गिरफ़्तार कर लिया गया।

जिस मजिस्ट्रेट के यहां उन पर मुकद्दमा चलाया गया, उसने उन्हें ४ साल की सजा दी।

ज्योंही सत्याग्रह अपने पूरे वेग से प्रारंभ हुआ 'स्टेट्समैन', ने जिसके तत्कालीन संपादक श्री आर्थर मूर थे, और गांधी जी की दोस्ती और उनके प्रशंसक होने का दावा करते थे, सत्याग्रह की खबरें छापने के लिए 'पागलों का स्तंभ' शीर्षक से अपने पत्र में एक नया स्तंभ छापना शुरू किया।

१७ नवम्बर को सरदार पटेल हिरासत में ले लिये गये। उन पर कोई इलज़ाम नहीं लगाया गया और न मुकद्दमा ही चलाया गया। उन्हें गिरफ़्तार करके अनिश्चित अवधि तक के लिए नज़रबन्द कर दिया गया। देश के विभिन्न भागों में सत्याग्रह करनेवाले लोगों की भरमार थी। गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाला, जिसमें उन्होंने इस बात पर एक दफ़ा फिर ज़ोर दिया कि "लोग नेताओं की गिरफ़्तारी के बाद किसी किस्म का प्रदर्शन न करें।" बाद के सप्ताह में देश के विभिन्न भागों में बहुत-से प्रसिद्ध नेता गिरफ़्तार कर लिये गये। बड़े-बड़े शानदार प्रदर्शन कहीं भी नहीं हुए और जब बम्बई के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री बी० जी० खेर पकड़े गये तो बम्बई के गवर्नर ने हिदायत की कि "श्री खेर के साथ अत्यधिक नम्रतापूर्ण बर्ताव किया जाय।" परन्तु श्री एमरी विनम्रता और मज़ाक की भावना दोनों को ही ताक पर रख बैठे थे और भूतपूर्व मंत्रियों की गिरफ़्तारियों के सम्बन्ध में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने समझाया :—

"जेलों में कांग्रेसजनों को लिखने-पढ़ने की पर्याप्त सुविधाएं दी जायँगी। लड़ाई के खत्म हो जाने के बाद उन्हें इजाज़त होगी कि वे कोई सुनिश्चित रचनात्मक योजना पेश करें, जिस पर भारतीय अमल कर सकें और बाद में वस्तुतः उसे अविलम्ब कार्यान्वित किया जा सके।"

नवम्बर के अन्त तक अधिकांश मंत्री और पार्लमेण्टरी सचिव तथा अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के बहुत-से सदस्य जेलों में जा चुके थे। एक-दो दुर्घटनाओं को छोड़कर, जो नवम्बर १९४० के अन्त में हुईं और जिनके कारण इस आन्दोलन के उज्ज्वल नाम पर धब्बा लगा, देश में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था क़ायम रही। जब बिहार के प्रधान मंत्री गिरफ़्तार हुए तो लोगों की एक बड़ी भीड़ वहां जमा हो गई और उसने प्रदर्शन भी किया। परिणाम यह हुआ कि पटना की पुलिस को उस पर लाठी बरसानी पड़ी। इसी प्रकार लाहौर में भी जब पुलिस पंजाब प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान मियां इफ़्तख़ारुद्दीन को गिरफ़्तार करके थाने ले जा रही थी, तो कहा जाता है कि भीड़ में से किसी अनजान व्यक्ति ने पुलिस पर एक पत्थर फेंका। परिणाम यह हुआ कि पुलिस ने भीड़ पर लाठी चार्ज किया। इस पर गांधीजी ने एहतियात के तौर पर सभी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के नाम हिदायत जारी की कि वे सत्याग्रह का नोटिस सिर्फ़ स्थानीय अधिकारियों को ही दें और जनता को इसकी सूचना देना आवश्यक नहीं है।

नये वर्ष के प्रारम्भ में कांग्रेस के प्रधान पकड़ लिये गये और इसके अलावा इसी वर्ष जमीयत-उल-उलेमा ने सत्याग्रह आन्दोलन में शरीक़ होने का फ़ैसला कर लिया। उधर उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के प्रधान मन्त्री डा० खान साहब सत्याग्रह करने के अपराध में गिरफ़्तार कर लिये गये और बाद में रिहा कर दिये गये। डा० खान साहब ने फिर सत्याग्रह किया, परन्तु वे इस बार भी गिरफ़्तार नहीं किये गये। मध्य-प्रान्त में सरकार ने स्त्री सत्याग्रहियों को गिरफ़्तार करना बन्द कर दिया।

अगस्त १९३९ में कांग्रेस कार्यसमिति ने केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों को सिवाय अपनी सीटें बनाये रखने के उसमें ग़ैर-हाजिर रहने की हिदायत की थी। नवम्बर १९४० में उसने कांग्रेस सदस्यों को असेम्बली के विशेष अधिवेशन में शामिल होने की इजाज़त दी जिससे कि वे युद्ध के सम्बन्ध में पेश किये गये अर्थबिल को नामंजूर करके दुनिया पर यह ज़ाहिर कर दें कि हिन्दुस्तान युद्ध-प्रयत्न में सरकार की मदद नहीं कर रहा। विरोधी पक्ष के नेता श्री भूलाभाई देसाई ने अपने भाषण में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का जिक्र करते हुए कहा, "हमारी मांग बहुत सरल-सी है। हम एक ऐसी व्यवस्था क़ायम करना चाहते हैं जिस पर आसानी से अमल किया जा सके और जिसे आसानी के साथ परिस्थितियों के अनुकूल ढाला जा सके। हम लड़ाई के दौरान में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं चाहते थे।" इसका क्या परिणाम हुआ—यह सभी जानते हैं। लेकिन अब कांग्रेस के अलावा, और उन लोगों के अलावा जिन्होंने इस सभा में अपने विचार व्यक्त किये हैं, प्रत्येक व्यक्ति ने जो जनता की राय का प्रतिनिधि है, यह अनुभव कर लिया है कि ब्रिटेन तो सिर्फ़ हमारे नाम का उपयोग करना चाहता है। वह हमारी नैतिक मदद चाहता है। वह चाहता है कि हम अपने सभी भौतिक साधन उसके हवाले करदें और वह इस लड़ाई को जारी रखने के लिए हमें उसका साधन बनाना चाहता है। दूसरे शब्दों में इसके ये माने हुए कि हम अपने प्रभुओं के लिए काम करें। मुझे यक़ीन है कि उसकी यह मांग पूरी नहीं की जायगी और न वह पूरी की ही जा सकती है।

सत्याग्रह-आन्दोलन का उद्देश्य वाणी-स्वातंत्र्य और आज़ादी के साथ लिखने के हक़

की रक्षा करना था। परन्तु सरकार ने अक्तूबर १६४० में एक विशेष अधिकार क़ानून लागू करके यह अधिकार भी देश से छीन लिया और गांधीजी ने नवम्बर के बाद से अपने तीनों साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया। इसके सम्बन्ध में विस्तृत बातों का उल्लेख समाचारपत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले अध्याय में किया गया है।

दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के (१६४१) वार्षिक विशेषांक में ६१ वें पृष्ठ पर एक श्रमजीवी पत्रकार ने लिखा, "दिसम्बर'४० तक भारत में एक नया संकट पैदा हो रहा था। अब यह पता चला है कि महात्मा गांधी ने पिछले साल बड़े दिनों में हिटलर के नाम एक खुला पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने नाज़ी तानाशाह को अरुचिकर सलाह दी थी। साथ ही उन्होंने भारत में ब्रिटिश-राज्य के सम्बन्ध में कुछ खरी-खरी बातें भी कही थीं। सरकार विदेश में अथवा भारत में उसके प्रकाशन की आज्ञा नहीं देती, यह बात जल्दी ही प्रकट हो गई और कई पत्रों में इसकी ख़बर भी छप गई। (२) कुछ समय बाद ही गांधीजी ने सत्याग्रहियों द्वारा जुर्माना अदा करने के सम्बन्ध में एक वक्तव्य दिया। लेकिन अख़बारवालों को सलाह दी गई कि वे इसे न छापें, क्योंकि यह भारत-रक्षा क़ानून की धाराओं के ख़िलाफ़ था। (३) कांग्रेस के प्रधान की गिरफ़्तारी और सत्याग्रह-आंदोलन के भविष्य के बारे में गांधीजी के एक तीसरे वक्तव्य को भी दबाने की कोशिश की गई।"

"स्पष्ट है कि ऊपर जिन दो वक्तव्यों का ज़िक्र किया गया है, उन पर लगाया गया प्रतिबन्ध अनुचित था। जहाँ तक हिटलर के नाम लिखे गये पत्र का सवाल है अब पता चला है कि कम-से-कम फिलहाल स्वयं गांधीजी ने उसे वापस ले लिया है; क्योंकि इस सम्बन्ध में सरकार का दृष्टिकोण बड़ा कड़ा है।"

लड़ाई प्रारम्भ होने के एक साल बाद जो परिस्थिति पैदा हो गई थी, उसमें सुधार होने की बजाय वह और भी ख़राब होती गई। बहरहाल गांधीजी ने अक्टूबर में प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में बताया—

"मैं हार क़बूल नहीं करूँगा, मेरी अब भी कोशिश जारी रहेगी कि यह स्पष्ट सत्य अंग्रेज प्रजा से क़बूल करवा सकूँ कि हिन्दुस्तान की आज़ादी में रुकावट कांग्रेस या किसी और दल का समझौता न हो सकने के कारण से नहीं है। दरअसल वह रुकावट तो यह है कि ब्रिटिश सरकार न्याय की बात करने को राजी ही नहीं है। मेरा अभिप्राय यह था कि ग़लतफ़हमी के लिए गुञ्जाइश बाक़ी न रह जाय, और अगर लड़ाई करनी पड़े, तो वह स्पष्ट उद्देश्य को लेकर हो, और उसमें कोई कटुता न रहे। मैं यही आशा लेकर लड़ाई के मैदान में उतरना चाहता हूँ कि उसका औचित्य और शुद्धता ही संसार को यह मानने के लिए मजबूर करेगी कि हिन्दुस्तान न सिर्फ़ अंग्रेज़ों से बल्कि संसार के सभी राष्ट्रों से अच्छे बर्ताव का हक़दार है। आज हमारे सामने तात्कालिक प्रश्न स्वतंत्रता का नहीं है, बल्कि अपनी हस्ती को क़ायम रखने का है, आत्माभिव्यक्ति का है, प्राकृत भाषा में कहें तो वाणी-स्वातंत्र्य का है। यह कांग्रेस अपने लिये नहीं, सब के लिए मांगती है, शर्त सिर्फ इतनी है कि इसमें अहिंसा की मर्यादा का तनिक भी भंग न हो। मैं मानता हूँ कि इस शर्त के अन्दर ऐसी सब बाधाओं का, जो कोई व्यक्ति खड़ी कर सकता है, जवाब आ जाता है।"

जनवरी, १६४१ को वाइसराय ने अपने भाषण में घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत को वेस्टमिनिस्टर की किस्म का औपनिवेशिक स्वराज्य देना है। आपने यह आश्वा-

सन भी दिया कि ब्रिटिश सरकार का इरादा है कि मौजूदा विधान और औपनिवेशिक स्वराज्य का संक्रांति-काल कम-से-कम हो। आपने कांग्रेस मंत्रिमण्डलों के इस्तीफ़े का ज़िक्र करते हुए आशा प्रकट की कि वे शीघ्र ही फिर से क़ायम हो जायँगे।

गांधीजी ने घोषणा की कि जो कांग्रेस-जन निजी रूप से हड़तालें करायेंगे, अथवा आन्दोलन में हिंसा या ज़बरदस्ती से काम लेंगे उनके ख़िलाफ़ अनुशासन-सम्बन्धी कार्रवाई की जायगी। उन्होंने राष्ट्रीय विचारों के व्यापारियों से पुलिस की बजाय कांग्रेस कमेटियों से मदद लेने का आग्रह किया।

पण्डित जवाहरलाल को चार साल की कड़ी सज़ा दिये जाने के सम्बन्ध में कामन-सभा में प्रश्न किये गये। इस पर श्री एमरी ने ७ नवम्बर को एक वक्तव्य में उनकी इस सज़ा पर चुटकी लेते हुए कहा—"प्रत्यक्ष रूप से यह सवाल सारी ही वैधानिक समस्या में इसलिए परिवर्तन करने का नहीं है कि चूँकि एक ख़ास व्यक्ति पर अदालत ने मुक़दमा चलाया है।"

पन्द्रह दिन बाद श्री एमरी ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को दी गई सज़ा के बारे में बड़ी आश्चर्यजनक बातें कहीं। आपने कहा, "चाहे कुछ भी हो, पंडित नेहरू की सज़ा का ताल्लुक़ देश की शासन-व्यवस्था से नहीं है, बल्कि क़ानून की व्यवस्था से है। अगर वे समझते हैं कि उन्हें सज़ा बहुत ज़्यादा दी गई है, तो उन्हें अपील करने का पूरा हक़ है। ख़ैर, उन्हें जेल में 'ए' श्रेणी में रखा गया है। इसके अन्तर्गत उन्हें किताबों, अपने क्वार्टर, दूसरों से मिलने-जुलने, पत्र लिखने, निजी मुलाक़ातों की सुविधाएं तथा और ऐसी ही बहुत-सी सहूलियतें दी गई हैं। इससे उनकी आज़ादी में कोई बड़ा फ़र्क नहीं पड़ा। हां, इतना ज़रूर हुआ है कि अब उन्हें ऐसी तक़रीरें करने की आज़ादी नहीं रहेगी जैसी वे हाल में देते रहे हैं।"

अबकी बार फिर श्री एमरी ने ऐसी ही निर्ममता दिखाई। एक साल के बाद १ अगस्त १९४१ को सत्याग्रही कैदियों की आम रिहाई की मांग की गई। इस मांग का उत्तर देते हुए श्री एमरी ने कहा, "जो आदमी जेल जाने पर तुले हुए हैं, उन्हें ऐसा करने दिया जाय।" हिन्दुस्तान में घटना-चक्र काफ़ी तेजी से चल रहा था। महात्मा गांधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का जो आन्दोलन छेड़ा था, वह किसी ऐसे साधु-सन्त की सनक नहीं थी जिसे राजनीति की बारीकियों का कोई ज्ञान न हो—या जो ब्रिटेन जैसे बलवान् राष्ट्र की बड़ी ताकत से परिचित न हो।

नवम्बर के पहले सप्ताह में कार्य-समिति की बैठक में अनशन का सवाल फिर से उठाया गया। इसकी क्या ज़रूरत थी ? इस बार प्रश्न सिर्फ़ विशुद्ध अनशन का न था, बल्कि सामूहिक सिविल नाफ़रमानी के रूप में इसका प्रयोग था। गांधीजी का खयाल था कि उनके पास केवल ये ही दो मार्ग हैं। उन्हें आशंका थी कि व्यक्तिगत सिविल नाफ़रमानी के साथ-साथ सामूहिक सिविल नाफ़रमानी फैल जायगी और सामूहिक सिविल नाफ़रमानी के साथ-साथ हिंसा के फैल जाने का डर था। इसलिए वे अनशन की बात सोच रहे थे। लेकिन जहां तक हिंसा का प्रश्न है इससे पहले भी गांधीजी दो आन्दोलनों—व्यक्तिगत और सामूहिक—का नियंत्रण कर चुके थे। इसलिए अब की बार भी वे जब कभी हिंसा देखते तो उस पर नियंत्रण करके उसे बन्द कर सकते थे। लोग जानते थे कि गांधीजी उनके नेता हैं, इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा सर्वप्रधान रहनी चाहिये। यह बात सब जानते थे कि समाजवादी भी उन्हीं के नियंत्रण में रहेंगे। अगर कोई ऐसी घटना हुई भी तो वे उसे क्षमा कर देंगे। "जिस समय नादिरशाह चांदनी चौक में था और दिल्ली में चारों ओर लूट का बाज़ार गर्म था तो उसने अपना हाथ ऊपर उठाकर कहा था—"इसे बन्द

करदो।" चुनांचे प्रत्येक आदमी ने लूटमार बन्द करदी। एक सिपाही की तलवार अपने शिकार की गर्दन पर पड़नेवाली ही थी कि वह वहीं रुक गई। उसने कहा, 'आपके आदेश का पालन किया जायगा'।"

इस बारे में तो दो मत थे ही नहीं कि उनकी आज्ञा मानी जायगी या नहीं। हो सकता है कि गांधीजी जो कुछ लिख रहे थे उससे उन्हें खेद हुआ हो, पर वे यह जानते थे कि उन्होंने जो कुछ लिखा है वह सही और ठीक है। लोग पछताते थे कि वे उन्हें यक़ीन नहीं दिला सके, पर ऐसा होते हुए भी उन्हें गांधीजी का अनुशासन मान्य था। उन्हें यक़ीन था कि उनके नेतृत्व के बिना वे आगे नहीं बढ़ सकते। ख़ैर, चाहे उन्हें यक़ीन था या नहीं, उन्होंने अपने नेता के आदेशों का पालन किया। परन्तु गांधीजी का यह खयाल था कि अगर एक बार सामूहिक आन्दोलन छिड़ गया तो उसे रोकना असंभव हो जायगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि चौरी-चौरा की घटना के समय सामूहिक आन्दोलन अभी शुरू नहीं हुआ था और न उसे शुरू करने की कोई बात ही सोची गई थी। एक दफ़ा सामूहिक आन्दोलन की घोषणा हो जाने पर वे उसे रोक नहीं सकते थे, और अगर उसे रोकने की कोशिश की जाती तो लोग कुचल दिये जाते। सामूहिक आन्दोलन की कला ऐसी है कि अगर एक बार उसे छेड़ दिया जाय तो फिर उसे रोकना खतरनाक हो जाता है। उनका ख़याल था कि अभी इसके लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है। क्या वे बार-बार ऐसा नहीं कह चुके थे? और अगर उन्होंने एक बार यह आन्दोलन शुरू कर दिया तो उन्हें हिंसा का सामना करने के लिए भी तैयार रहना चाहिये। एक योजना यह भी थी कि जिन लोगों के नाम दर्ज हो चुके हैं उन्हें एक-एक करके जेल भेजा जाय, और इस तरह से हमारे ३०-४० आदमी जेल भेजे जा सकेंगे। पर यह कोई मामूली बात नहीं थी; क्योंकि अगर एक बार नियमित रूप से और बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयता की आग लगादी गई तो वह खूब जल उठेगी, और उसके साथ ही लोगों में उत्साह और विश्वास की दृढ़ भावना भी बढ़ जायगी। पर गांधीजी इस विचार-धारा से सहमत न थे। वे ऐसा महसूस कर रहे थे मानो वे सामूहिक और व्यक्तिगत सत्याग्रह की दुविधा में ही पड़ गये हों। सामूहिक आन्दोलन का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। व्यक्तिगत आन्दोलन में भी शायद मुख्य कार्रवाई की ज़रूरत पड़े, पर वे यह नहीं चाहते थे। अगर एक तरीक़ा खतरनाक था तो दूसरा अरुचिकर और घृणित। अगर सविनय-भंग शुरू करने का मतलब सारा गुड़-गोबर करना था, तो बेहतर होगा कि वे भागकर कहीं जंगल में चले जायें, और ऐसा वे कभी खयाल तक भी न करेंगे। इसलिए अनशन ही एकमात्र उपाय उनके सामने था। लोग पूछते-इसका नतीजा क्या होगा? अगर वे जीवित रहे तो लोगों को अशक्त नहीं बनाया जा सकेगा। वे मरना नहीं चाहते थे। हो सकता है कि वे अनशन का खयाल छोड़ दें और जीते रहें, और अगर वे मर भी गये तो उनका काम पूरा हो जायगा और मुल्क आज़ाद हो जायगा। चाहे कुछ भी हो, वे कम-से-कम यह सोचना तो बन्द कर देंगे कि मेरे बिना उनका कोई काम ही नहीं चल सकता। यह निष्क्रियता खत्म हो जायगी। उन्हीं कारणों से वे अपना दृष्टिकोण उत्तम और मानव-प्रतिष्ठा के अनुकूल समझते थे। एक दिन आयेगा जब लोग किसी के आगे सिर झुकाने की बजाय मृत्यु का आलिंगन करना श्रेष्ठ समझेंगे। हिन्दुस्तान पर हमला करने के लिए चारों ओर दुश्मन तैयार खड़े थे और कांग्रेस का कर्तव्य था कि वे लाखों व्यक्तियों को इसका सामना करने के लिए तैयार करे। उनका विचार था कि वे चाहे किसी भी दृष्टिकोण से इस समस्या पर विचार करें यह सचाई उनके सामने प्रत्यक्ष हो। जब भी उनकी अन्तरात्मा यह कहेगी कि वे अब और इसका मुकाबला

नहीं कर सकते तो वे अपना काम बन्द कर देंगे। आगे चलकर गांधीजी ने कहा कि हाँ, यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों द्वारा फांसी लगाये जाने के डर से मैं आत्महत्या कर रहा हूँ। मेरे खयाल से उपवास के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। परन्तु क्या स्वयं उपवास का परिणाम हिंसा न होगा ? हो सकता है कि ऐसा ही हो। लेकिन इसका तो यह मतलब हुआ कि हिंसा के भय से कुछ भी नहीं किया जा सकेगा। फिर भी सामूहिक आन्दोलन की अपेक्षा इसमें हिंसा की गुंजाइश कम ही है। उपवास के पक्ष में उनकी युक्ति और तर्क इस प्रकार का था। बहुत समय तक सोच-विचार करने के बाद गांधीजी को व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए राजी किया जा सका। परन्तु शर्त यह थी कि उसे व्यवस्थित रूप से चलाया जाय, उसके लिए जरूरी योग्यता की कसौटी निर्धारित करदी जाय और यह आन्दोलन सीमित पैमाने पर चलाया जाय। उनका खयाल था कि सभी जिम्मेदार कांग्रेसजनों को जेल जाना चाहिए। कार्य-समिति, व्यवस्थापिका सभाओं और अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के सदस्यों तथा अन्त में स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों को अपने-अपने सूबों और जगहों में सत्याग्रह करना चाहिये, बशर्ते कि कांग्रेस के कार्यक्रम में उनको पूरा यकीन हो। शुरू में उनका खयाल व्यक्तिगत सत्याग्रह दो व्यक्तियों तक ही सीमित रखने का था, पर वाइसराय की कार्यपद्धति ने ऐसा करना ग़ैर-मुमकिन बना दिया था। उन्हें व्यक्तिगत सत्याग्रह का कार्य-क्षेत्र बढ़ा देना पड़ा। प्रत्येक सत्याग्रही स्वीकृति मिल जाने के बाद कलक्टर को पहले से ही अपने इरादों की सूचना दे देगा। वह उसे अपने कार्यक्रम से अवगत करा देगा। स्वयं वे किसी व्यक्ति के लिए तारीख निर्धारित नहीं करेंगे, वे तो केवल दलों का क्रम निश्चित कर देंगे—अर्थात् उन्हें किस क्रम से सत्याग्रह करना होगा। प्रान्तों में क्रम-निर्धारण का काम स्वयं कांग्रेसजनों का होगा। लेकिन वे यह आन्दोलन जनता तक नहीं फैलने देना चाहते थे। इसे वे निष्फल सामूहिक आन्दोलन का रूप नहीं देना चाहते थे। हर हालत में इसे व्यक्तिगत आन्दोलन ही रहना चाहिये। अगर कोई और दल भी सत्याग्रह करना चाहता था, तो इसकी ज़िम्मेदारी उसी पर होगी, उन पर नहीं। बहुत-से आदमी जेल जाने को तैयार थे। परन्तु रचनात्मक कार्यक्रम में या तो उनको यक़ीन ही नहीं था अथवा उसका ज्ञान नहीं था। जिन लोगों को गांधीजी के कार्यक्रम पर विश्वास नहीं था, उन्हें जेल भेजने की जिम्मेदारी वे अपने ऊपर नहीं लेना चाहते थे। वे किसी भी आदमी को मजबूर करके जेल नहीं भेजना चाहते थे और न ही किसी अयोग्य आदमी को ही। दूसरे शब्दों में इसके मानी ये हुए कि और दूसरे लोग भी जिनमें सत्याग्रही की योग्यताएं तो थीं, पर वे कार्यसमिति, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी अथवा अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के सदस्य न थे, जेल जा सकते थे, इन पर किसी किस्म की रोक नहीं थी। गांधीजी के मित्रों ने उन्हें याद दिलाया कि वे असहयोग के प्रारम्भिक दिनों में कहा करते थे कि मुझे बड़ी संख्या में लोगों को जेल भरने की इच्छा नहीं है। इसलिए वे चाहते थे कि प्रमुख व्यक्तियों को जिन्हें सत्याग्रहियों के निर्वाचन का काम सौंपा गया था, बड़ी होशियारी के साथ अपना काम करना चाहिए। उन्हें उन लोगों की धमकियों या रोष और यहां तक कि हिंसा की भी परवाह न करनी चाहिये जो चुने नहीं गये थे। कुछ लोगों को डर था कि शायद इस बार ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को कुचल दे। लेकिन यह असम्भव था। ब्रिटिश सरकार जर्मनी को कुचल सकती थी, पर कांग्रेस को नहीं। कोई भी राष्ट्र यहां तक कि जर्मनी भी स्थायी रूप से दबाया या कुचला नहीं जा सकता। उन्हें इस बात का कोई खयाल नहीं करना चाहिये कि जेल जाने के बाद वे व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य नहीं बन सकेंगे। यह वक्त उनके लिए

किसी किस्म के पार्लामेण्टरी सवाल उठाने का नहीं था। इसका मतलब यह नहीं कि वे पार्लामेण्टरी कार्यक्रम—व्यवस्थापिका सभाओं में जाकर काम करने की नीति का महत्त्व नहीं समझते थे। पर वे चाहते थे कि लोग इस कार्यक्रम की ओर जितना ही कम ध्यान दें उतना ही उनके लिए बेहतर होगा। उम्मीदवारों को इन सभाओं के सदस्य बनने के लिए अयोग्य घोषित कर देने से देश में कांग्रेस का प्रभाव कम नहीं हो जायगा। इसलिए कोई वजह न थी कि कांग्रेसजन इन संस्थाओं को छोड़कर जेल में जाना पसन्द न करें। उन्हें यह खयाल ही नहीं करना चाहिए कि गांधीजी की गिरफ्तारी की भी नौबत आ सकती है। अगर वे उपवास भी करलें तो भी उससे सरकार विचलित न होगी। वह तो वातावरण भी अपने अनुकूल बना लेगी, और जब उसे उनका जीवन-दीप बुझता नज़र आयेगा तो वह उन्हें बाहर आकर अपनी इहलीला समाप्त करने के निमित्त रिहा कर देगी। जबतक विधि को स्वीकार है, गांधीजी जीवित रहेंगे और आन्दोलन का नेतृत्व करते रहेंगे। अगर उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया या उन्हें क़ैद कर दिया गया तो देश को नये नेता का ख़याल ही छोड़ देना चाहिये। जब कांग्रेसजन जेल में चले जायँ तो यह ज़रूरी नहीं कि प्रत्येक की जगह कोई नया आदमी नियुक्त किया जाय। जिलों के मुखियाओं के लिए ज़रूरी हिदायतें जारी करदी जायँगी। अगर किसी सभा पर रोक लगादी गई हो तो वह नहीं होनी चाहिये। लेकिन अगर किसी व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जाय तो उसे सर्वथा इससे विपरीत कार्य करना चाहिये। व्यक्तिगत रूप से लगाये गये प्रतिबन्धों को अवश्य तोड़ा जाय, परन्तु सभाओं के सम्बन्ध में दिये गये आदेशों या लगाये गये प्रतिबन्धों का उल्लंघन न किया जाय। पहली हालत में लोगों को ब्रह्मदत्त की तरह काम करना चाहिये। श्री ब्रह्मदत्त गांधीजी के आश्रम में रहनेवाले एक नवयुवक हैं, जिन्हें गांधीजी ने कार्यसमिति के इजलास के वक्त सत्याग्रह करने की इजाज़त दी थी। श्री ब्रह्मदत्त ने सरकार को उचित रूप से नोटिस देकर नारे लगाये और वर्धा की गलियों में नारे लगाते हुए आगे बढ़े। उनके पीछे-पीछे थोड़े-से लोग भी चलने लगे। बाद में उनके साथ एक खासी भीड़ हो गई और वह भी नारे लगाने लगी। जब-जब वे भाषण देते या नारे लगाते, तो लोगों की भीड़ जमा हो जाती। वे पैदल ही दिल्ली के लिए रवाना हुए। इस तरह नारे लगाते हुए वे छः मील तक चले गये। पुलिस के लिए उनका पीछा करना मुश्किल हो गया। इसलिए उसने एक मोटरकार ली और अगले दिन जाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। इसके बाद उन्हें सजा दे दी गई। वे दूसरे सत्याग्रही थे। व्यक्तिगत आन्दोलन के दौरान में विशिष्ट तरीके छोड़ दिये गये। अगर मांग करने पर टाइप या साइक्लोस्टाइल की मशीनें वापस नहीं की जाती थीं तो उनका इस्तेमाल नहीं हो सकता था। उनसे खुले तौर पर काम लिया जाना था और अगर पुलिस उन्हें उठाकर ले जाये तो उनकी जगह नयी मशीनें काम में नहीं लाई जाई जा सकती थीं। ज्यों-ज्यों आन्दोलन जोर पकड़ता गया नयी-नयी हिदायतें जारी होती रहीं।

आन्दोलन शुरू होने से पहले प्रत्येक सूबे में उसके सम्बन्ध में बड़ी सावधानी के साथ जाँच-पड़ताल कर ली गई। ज्यों-ज्यों कार्यसमिति, व्यवस्थापिका सभाओं और अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के सदस्य अपने को गिरफ़्तारी के लिए पेश करते रहे—आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया। कुछ प्रान्तों में सरकार ने सदस्यों को सत्याग्रह करने से पहले ही नज़रबन्द कर दिया। श्री वल्लभभाई, श्री भूलाभाई, श्रीमती सरोजिनी और बम्बई के भूतपूर्व मंत्रियों, स्पीकर और बम्बई की कौन्सिल के प्रधान—इन सभी व्यक्तियों को नज़रबन्द कर दिया गया। मद्रास

में वहाँ के मंत्रियों ने सत्याग्रह किया और उन्हें दण्ड दिया गया। सिर्फ़ स्पीकर, चीफ़ पार्लामेण्टरी सेक्रेटरी और चार-पाँच दूसरे व्यक्ति नज़रबन्द कर लिये गये। इसी प्रकार संयुक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त और बिहार में भी कुछ मंत्रियों को नज़रबन्द कर लिया गया। आसाम और उड़ीसा में उन्हें सज़ा दी गई और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में न तो मंत्री और न कोई अन्य ही पकड़ा गया। राजेन्द्र बाबू चूँकि बीमार थे, इसलिए उन्हें जेल जाने की इजाज़त नहीं दी गई। जेल जाने के थोड़ी देर बाद श्रीमती सरोजिनी देवी बीमार पड़ गईं, इसलिए उन्हें रिहा कर दिया। श्री कृपलानी कांग्रेस के दफ़्तर का काम करते रहे और निरन्तर गांधीजी की मदद करते रहे। वे देश का दौरा करते रहे और सत्याग्रह का मुख्य भार अपने कन्धों पर उठाते फिरे। उनकी पत्नी श्रीमती सुचेता देवी जेल चली गईं। सन् १९४१ की गर्मियों में श्री जमनालालजी को सख़्त बीमारी के कारण रिहा कर दिया गया। स्वयं राष्ट्रपति को अचानक गिरफ़्तार करके सज़ा दे दी गई। बाक़ी का आन्दोलन विधिवत् चलता रहा और उसमें योजना के अनुसार प्रगति होती रही। स्वयं गांधीजी जेल नहीं गये।

अभी आन्दोलन मुश्किल से शुरू ही हुआ था कि श्री एमरी ने एक और भाषण दिया। यह भाषण आपने अंग्रेज़ी भाषाभाषी संघ द्वारा अपने सम्मान में दिये गये एक भोज के अवसर पर २१ नवम्बर को दिया। इस बार आपने एकदम बड़ी निर्भीक घोषणा की, जो बिलकुल नई क़िस्म की थी। आपके भाषण का मुख्य सार यह था कि भारत के लिए एक ऐसा विधान तैयार किया जाय जिससे आपसी मतभेद भी दूर हो जायें और देश की एकता भी क़ायम रह सके। भारत के गतिरोध का कारण आपने भारतीयों की स्वाभाविक प्रवृत्ति बताई। आपने कहा कि "भारत की सर्वथा विभिन्न और जटिल परिस्थितियों में हमने ब्रिटेन जैसी प्रजातंत्रीय पद्धति को सफल बनाने की चेष्टा की है। लेकिन ब्रिटेन और स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों में उसकी सफलता का कारण यह रहा है कि उसका स्वाभाविक विकास उसकी (ब्रिटेन) विशेष ऐतिहासिक और स्थानीय परिस्थितियों में हुआ है।" उन्होंने बड़े सरल स्वभाव से पूछा कि "आख़िर १९३५ के विधान में कौन-सी ख़राबी है?"

सन् १९४० समाप्त हो रहा था। युद्ध को चलते हुए १६ महीने हो चुके थे। इस दौरान में यूरोप को महान् विनाश का सामना करना पड़ा। भारत अभी तक इस सर्वनाश से बचा हुआ था। युद्ध की भयंकरता अभी हिन्दुस्तान तक नहीं पहुँच पाई थी। फिर भी एक ग़ुलाम देश को—जिसे कहने और करने की कोई आज़ादी नहीं थी—लड़ाई में उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ धकेल दिया गया। भारत में भरती का काम, धन-संग्रह और गोला-बारूद का उत्पादन पूरे वेग से होता रहा। कांग्रेस और दूसरे सार्वजनिक नेताओं ने इसका ज़ोरदार विरोध करते हुए बताया कि लोगों से जबरन रुपया लिया जा रहा है—वे अपनी मर्ज़ी से लड़ाई के लिए धन नहीं दे रहे हैं, भरती का तरीक़ा अनुचित था और लोग सिर्फ़ पेट पालने की ख़ातिर ही फ़ौज में भरती हो रहे थे— देशभक्ति से प्रेरित होकर नहीं; और गोला-बारूद का उत्पादन भी भारत के हितों को हानि ही पहुँचा रहा था, क्योंकि 'ईस्टर्न-प्रोडक्शन कौन्सिल' गुप्त रूप से जो कारोबार कर रही थी—उससे देश की व्यापारिक संस्थाओं और व्यापारिक वर्ग को यह गहरा संदेह था कि इसका वास्तविक प्रयोजन भारत में उन वस्तुओं का उत्पादन बन्द करना था—जो आस्ट्रेलिया और दूसरे स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों में बनाई जा रही थीं। कांग्रेस ने भी इस दौरान में अहिंसा और सत्याग्रह के आधार पर ब्रिटेन के साथ लड़ने का कोई कार्यक्रम नहीं बनाया था—और वह

चुपचाप बैठी थी। परन्तु अब स्थिति बदल चुकी थी और उसे भी मजबूर होकर १७ अक्तूबर १९४० को ब्रिटेन के ख़िलाफ़ लड़ाई छेड़ देनी पड़ी। गांधीजी की योजना के सिद्धान्तों के अनुसार धीरे-धीरे सत्याग्रह-आन्दोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा था। सत्याग्रह के लिये गांधीजी ने जो शर्तें निर्धारित की थीं--उन पर कड़ाई के साथ अमल हो रहा था। सत्याग्रह-आन्दोलन में कोई भी शरीक हो सकता था, क्योंकि अठारह साल से ऊपर की उम्र का कोई भी नवयुवक और नवयुवती जिसे कांग्रेस के सिद्धान्तों पर विश्वास था, इसमें शामिल हो सकता था। सत्याग्रहियों को कड़ी शर्तों पर चलना पड़ता था। गांधीजी का विचार था कि अगर कोई सत्याग्रही ऐसी कला को, जिसमें निष्णात् होने में आठ घण्टे से ज़्यादा नहीं लगते, सीखने की कोशिश नहीं करता तो वह सत्याग्रही बनने के क़ाबिल नहीं था। अगर लड़ाई में जाने और फ़ौज में भरती होने से पहले प्रत्येक सिपाही के लिए अनुशासन के रूप में कवायद करना ज़रूरी समझा जाता है, तो साफ़ ज़ाहिर है कि सत्याग्रही के लिए भी--जो हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार के युद्ध-प्रयत्न के ख़िलाफ़ लड़ रहा था--रुई ओटने, धुनने और कताई के रूप में अपनी कवायद और अनुशासन सीखना उतना ही ज़रूरी था। उसके लिए कम-से-कम शर्त यह थी कि वह एक महीने में लगभग १,००० गज़ सूत कातकर कांग्रेस कमेटी या चर्खा-संघ की शाखा में जमा करा दे। १९४०-४१ तक भी ऐसे कांग्रेसजन मौजूद थे जिन्हें चर्खे में जीवित श्रद्धा नहीं थी और गांधीजी के खयाल से कातना अमली रूप में अहिंसा थी। ऐसे कांग्रेसी भी हैं जो अहिंसा में सिद्धान्त या धर्म के रूप में विश्वास नहीं रखते; लेकिन चाहे आप इसे सिद्धान्त कहिये अथवा धर्म या नीति—उनके लिए अहिंसा पर आचरण करना लाज़िमी था। अलबत्ता यह बात और है कि वे चाहे इसे धर्म के रूप में स्वीकार करें या नीति के, और अगर यह ऐसा ही है तो फिर किसी सत्याग्रही के लिए कातना एक ज़रूरी शर्त भी हो जाती है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि केन्द्रीय कांग्रेस कमेटी की हिदायतों, उसके स्थायी आदेशों इत्यादि का मानना प्रत्येक कांग्रेसजन के लिए आवश्यक था। अगर कोई व्यक्ति गांधीजी को अपनी सेवाएँ अर्पित करता है तो हमें उसके बारे में आवश्यक जाँच-पड़ताल इन्हीं मापदण्डों को ध्यान में रखकर करनी होगी। परन्तु इसी सम्बन्ध में गांधीजी और सुभाष बाबू की विचार-धारा पर भी प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है।

जनवरी १९४१ में सुभाष बाबू के अचानक अन्तर्धान हो जाने से पहले गांधीजी और उनमें कुछ पत्र-व्यवहार हुआ। इसका मुख्य विषय यह था कि सुभाष बाबू ने सत्याग्रह के सिलसिले में गांधीजी को लिखा कि उनकी सेवाएँ आपके अधीन हैं और आप जैसे चाहें उनका इस्तेमाल कीजिए। परन्तु गांधीजी ने उनकी सेवाएँ यह कहकर अस्वीकार कर दीं कि हम दोनों की विचार-धाराओं में महत्त्वपूर्ण और बुनियादी मतभेद हैं। साधारणतः श्री सुभाष बोस की कोटि के कांग्रेसजन को जो दो-दो बार कांग्रेस के प्रधान रह चुके थे—इस तरह की इजाज़त लेना कोई ज़रूरी नहीं था, लेकिन ज़ाहिर है कि उन्होंने ९ जुलाई, १९४० के बाद की घटनाओं को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न को उठाना ज़रूरी समझा।

यह स्मरण रहे कि सुभाष बाबू २ जुलाई, १९४० को गिरफ़्तार कर लिए गये थे। प्रेसीडेन्सी जेल में राजबन्दियों की भूख-हड़ताल के सम्बन्ध में ३० नवम्बर को बंगाल सरकार ने जो विज्ञप्ति प्रकाशित की थी—उसमें कहा गया था कि इन भूख हड़तालियों में श्री सुभाष बोस भी शामिल हैं। भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत नज़रबन्द किये गये सुरक्षा बन्दियों ने अक्तूबर और

नवम्बर में अपने लिए विशेष व्यवहार की मांग की और धमकी दी कि अगर सरकार ने इन्हें स्वीकार न किया तो वे भूख-हड़ताल कर देंगे। बाद में प्रान्तीय असेम्बली में बहस के दौरान में बंगाल के गृहमंत्री ने राजबन्दियों की मांगों और उनके सम्बन्ध में की गई सरकारी कार्रवाई पर प्रकाश डालते हुए घोषणा की कि शीघ्र ही सरकार इस सम्बन्ध में एक विज्ञप्ति प्रकाशित करेगी, जिससे कि जनता के सामने सारी बातें रखी जा सकें। विज्ञप्ति में बताया गया कि २५ नवम्बर को १६ राजबन्दियों ने यह कहकर कि सरकार ने उनकी मांगें पूरी करने के लिए जो कार्रवाई की है उससे उन्हें सन्तोष नहीं है—अपनी धमकी के अनुसार फिर से भूख-हड़ताल प्रारम्भ कर दी। इस विज्ञप्ति में उन राजबन्दियों के नाम भी बताये गये जिसमें सुभाष बाबू भी शामिल थे। इसमें यह भी कहा गया कि ये लोग अभी तक भूख-हड़ताल पर हैं। डकैती के जुर्म में नज़रबन्द किये गये तीन विचाराधीन कैदियों ने इनकी सहानुभूति में २५ नवम्बर से भूख-हड़ताल कर दी। लेकिन २६ नवम्बर को उन्होंने अपनी भूख-हड़ताल छोड़ दी। २९ नवम्बर को सुभाष बाबू ने और कई-एक वजह से भोजन करने से इन्कार कर दिया और वे अब तक भूख-हड़ताल किये रहे थे। बाद में उन्हें रिहा कर दिया गया।

ब्रिटेन के ख़िलाफ़ कांग्रेस की ओर से लड़ी जानेवाली इस लड़ाई के बड़े नाटक के सम्बन्ध में हमें कुछ ज़रूरी घटनाओं का भी ज़िक्र करना है। इस नाटक के साथ हिन्दू-मुस्लिम समस्या का गहरा सम्बन्ध है। यह ठीक है कि यह समस्या कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के इस्तीफ़े के बाद पैदा हो सामने आई, परन्तु उसके बाद से यह ज़्यादा ज़ोर पकड़ गई। डा० सप्रू ने मार्च में इस सम्बन्ध में हस्तक्षेप करना शुरू किया। वे सरकार के विश्वस्त व्यक्ति थे। नमक-सत्याग्रह के समय जुलाई १९३० में भी श्री सप्रू और श्री जयकर ने सरकार और कांग्रेस में समझौता कराने की कोशिश की थी। उसके बाद फरवरी और मार्च १९३१ में गांधी-इरविन समझौते की बातचीत के समय भी आपने श्री जयकर और माननीय शास्त्रीजी के साथ मिलकर दोनों पक्षों में समझौता कराने में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। इसलिए मार्च १९४१ में उनके द्वारा फिर से समझौते की कोशिश करना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उन्होंने मार्च, १९४१ में बम्बई में नरमदल के नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास करके गवर्नर-जनरल की शासन-परिषद् के पुनर्निर्माण की ज़ोरदार मांग की और आग्रह किया कि इसमें सभी सदस्य भारतीय लिये जाएँ तथा अर्थ और रक्षा विभाग भी भारतीयों के हाथों में ही दे दिये जायँ। (२) युद्धकाल में यह परिषद् सामूहिक रूप से सम्राट् के प्रति ज़िम्मेदार हो; (३) और इसका दरजा वही हो जो अन्य स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों की सरकारों का है अर्थात् ब्रिटिश सरकार को घोषणा कर देनी चाहिये कि लड़ाई ख़त्म होने के बाद एक निश्चित अवधि के अन्दर हिन्दुस्तान को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जायगा।

अपने उद्घाटन-भाषण में सर तेजबहादुर सप्रू ने कहा, "मेरा स्पष्ट रूप से और ज़ोरदार विचार है कि भारत की कोई भी सरकार देश के जनमत और मुख्य विचार-धारा से इतनी अलग नहीं रही जितनी कि मौजूदा सरकार।"

बम्बई में पहले सम्मेलन के सभापति सर तेजबहादुर सप्रू थे और अपने भाषण में आपने बताया कि, 'एक-न-एक दिन यूरोप के युद्धलिप्त राष्ट्र संधि-सम्मेलन में भाग लेंगे। मैं यह चाहता हूँ कि इस सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व उसकी राष्ट्रीय सरकार द्वारा अपने अधिकारों की हैसियत से नियुक्त किये गये प्रतिनिधि ही करें। मैं इस बात को बड़ा महत्त्व देता हूँ।" और

यही राय कांग्रेस की भी थी। लेकिन सवाल तो यह था कि राष्ट्रीय सरकार बनाई कैसे जाय और सप्रू-सम्मेलन से इस बात का कोई आश्वासन नहीं मिलता था; क्योंकि एक ओर तो वह राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की बात कह रहा था और दूसरी ओर वह यह भी कह रहा था कि "लीग और कांग्रेस के अलावा देश में लाखों ही ऐसे और भी व्यक्ति हैं, जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है" और यह कि "जब किसी को नेतृत्व दिया जायगा तो वह नेता बन भी जायगा।" ये वक्तव्य यद्यपि अक्षरशः सत्य हैं फिर भी राजनैतिक सोच-विचार के लिये उपयुक्त विषय की दृष्टि से सर्वथा ग़लत हैं। लेकिन उनसे यह जानने में मदद मिली कि हवा का रुख किधर है। बम्बई के इस सम्मेलन में यह बताने की भी कोशिश की गई कि बम्बई के प्रस्ताव भी लगभग वे ही हैं जैसे कि पूना में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने जुलाई, १९४० में पेश किये थे। अगर आप किसी बीमार को बचाना चाहते हैं तो उसकी मौत के बाद कब्र से उसकी हड्डियां निकाल कर उसे नहीं बचा सकते। उसे तो आपको समय पर ही बचाना होगा—वर्ना बाद में कुछ करना बेकार रहेगा। यही बात पूनावाले प्रस्तावों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। पूना के प्रस्ताव खत्म हो चुके थे और भारत तथा बम्बई के सभी सरकार-परस्त मिलकर भी उन्हें दुबारा जीवित नहीं कर सकते थे। उनमें फिर से जान नहीं डाल सकते थे। ये प्रस्ताव हमेशा के लिए खत्म ही नहीं हो गये थे, बल्कि सत्याग्रह के रूप में उनका पुनर्जन्म भी हो चुका था और इस सत्याग्रह का आधार था वाणी-स्वातंत्र्य की मांग, जिसके अन्तर्गत भारत की स्वाधीनता-मांग भी निहित थी। अगर इंगलैण्ड ने यह मांग स्वीकार करली तो उसे अपनी मुसीबत के समय भारत-जैसा सच्चा दोस्त मिल जायगा। ऐसा दोस्त जिसका सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में साझेदार का होगा, न कि अपनी ताकत या ज़ोर के बल पर जबरन अपने साथ मिला हुआ दोस्त।

एक लिहाज़ से कांग्रेस की मांग, जिसे अस्वीकार करने का परिणाम सत्याग्रह-आन्दोलन था—बम्बई के नेताओं की अपेक्षा सरल और आसान थी। कांग्रेस तो केवल यह चाहती थी कि स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया जाय। लेकिन जब एक बार आप उसे वह दरजा दे देंगे तो उसके मुताबिक काम स्वयं ही शुरू हो जायगा। और अगर आप नेतृत्व-विहीन किसी अयोग्य व्यक्ति को यह दरजा देदेंगे तो बेकार होगा, परन्तु अगर आप कांग्रेस को जिसके पास नेतृत्व और योग्यता दोनों ही बातें हैं—यह दरजा देंगे तो निश्चित है कि आप उसके कर्मचारियों पर यह विश्वास कर सकेंगे कि ये अपने मार्ग की सब कठिनाइयां दूर करके अपने उद्देश्य तक पहुंच जायँगे। बम्बई के इस सम्मेलन की एक कमज़ोरी या दोष यह था कि श्री एमरी की तरह ही उसकी नज़रों में कांग्रेस देश की बहुत-सी संस्थाओं में से एक अथवा ज़्यादा से ज़्यादा उनमें से एक मुख्य संस्था थी। ऐसा दृष्टिकोण केवल निराशा या अपने आपको बहुत ऊंचा खयाल करने का परिणाम ही हो सकता है। लेकिन कांग्रेस को इनमें से किसी से भी सन्तोष या खुशी अनुभव नहीं हो सकती थी।

यह शर्त कि परिवर्द्धित शासन-परिषद् सम्राट् के प्रति उत्तरदायी हो—हमारे सामने कौन से निगूढ़ वैधानिक तत्वों पर प्रकाश डालती है? अर्थात् इसके फलस्वरूप वैधानिक महत्त्व की कौन-सी बात हमारे सामने आती है। यह तो सिर्फ एक तर्क का विषय है। इसका जवाब कुछ तो हमें स्वयं बम्बई-सम्मेलन के मुख्य प्रस्ताव से मिल जाता है और कुछ इसके समर्थन में दिये गये भाषणों से। बम्बई के प्रस्ताव में की गई इस मांग की कि "शासन-परिषद् सम्राट् के प्रति ज़िम्मेदार है" तुलना आप पूना के इस प्रस्ताव से कीजिए कि, "केन्द्र में एक ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय-

सरकार की स्थापना हो, जो यद्यपि अस्थायी रूप से बनाई जाय परन्तु उसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के सभी निर्वाचित तत्वों का विश्वास और प्रान्तों की ज़िम्मेदार सरकारों का सहयोग प्राप्त रहे।"—आप देखेंगे कि दोनों प्रस्तावों में जमीन-आसमान का फर्क है। जब हम यह कहते हैं कि कोई सरकार धारासभा के प्रति जिम्मेदार हो तो उसका साफ-साफ मतलब यह है कि उसे धारासभा का विश्वास प्राप्त रहे। इसलिए हम उचित रूप से यह कह सकते हैं कि यद्यपि पूना के प्रस्ताव में 'जिम्मेदार' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था—फिर भी मूल-भावना यही थी। इस तरह हम देखते हैं कि बम्बई के प्रस्ताव में और पूना के प्रस्ताव में कोई सामंजस्य ही नहीं पाया जाता। जबकि पूना के प्रस्ताव में एक ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय-सरकार की मांग की गई है जो केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के प्रति जिम्मेदार हो, बम्बई के प्रस्ताव में सिर्फ एक ऐसी परिवर्द्धित शासन-परिषद् की मांग की गई जो सम्राट् के प्रति उत्तरदायी हो। फर्क का विषय था—सम्राट् के प्रति जिम्मेदारी और देश के प्रति जिम्मेदारी का। और यह है एक बहुत भारी फर्क। दूसरा फर्क यह था कि केवल केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के निर्वाचित वर्ग ही अस्थायी राष्ट्रीय सरकार को बरखास्त कर सकते थे—कोई दूसरा नहीं, परन्तु परिवर्द्धित-शासन परिषद् के मामले में वे ऐसा नहीं कर सकते थे। दूसरे शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि परिवर्द्धित शासन-परिषद् को भंग करने, या उसके फैसलों को रद्द करने का अधिकार वाइसराय को है जो सम्राट् के प्रतिनिधि हैं और शासन-परिषद् निश्चित रूप से सम्राट् के प्रति जिम्मेदार है। परन्तु पूना—प्रस्ताव के अनुसार जिस अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की मांग की गई है, उसके बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस तरह बम्बई का प्रस्ताव पूना-प्रस्ताव का पासंग भी नहीं था। इसलिए बम्बई-प्रस्ताव पर कांग्रेस की अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हो सकती थी। उस समय कांग्रेस के लिये पूना की मांग से कुछ भी कम मंजूर करना मुश्किल था। यह प्रश्न भी उठाया गया कि क्या सिर्फ यही वजह है कि कांग्रेस ऐसा रुख अख़्त्यार करेगी। यह वस्तुतः एक उचित और उपयोगी सवाल था। इस समस्या पर विचार करने का ढंग ही बिल्कुल निराला था। बम्बई के उदार नेताओं का एकमात्र उद्देश्य युद्ध-प्रयत्न को अधिक ज़ोरदार, स्वाभाविक और प्रचुर बनाना था। वे नयी शासन-परिषद् चाहते थे। इसलिए कि पुरानी परिषद् "भारत के युद्ध-प्रयत्न को संगठित करने और उसका संचालन करने के लिए न तो पर्याप्त थी और न ही काफ़ी प्रातिनिधिक।" उनका उद्देश्य "भारत के हितों को ध्यान में रखते हुए यथासंभव ब्रिटिश-जनता की सहायता करना था।"

बम्बई-प्रस्ताव में कहा गया है कि "उपर्युक्त कारणों से सम्मेलन की यह राय है कि शासन-परिषद् में सभी सदस्य भारतीय लिये जायँ जो देश के प्रमुख तत्वों का प्रतिनिधित्व करते हों।"

प्रस्ताव के अन्तिम शब्द श्री एमरी के भाषण से लिये गये हैं। इसका स्पष्ट उद्देश्य केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचित तत्वों की उपेक्षा करना था। बम्बई के ये नेता इन निर्वाचित तत्वों का उल्लेख करने में भी शर्माते थे और इसीलिये उन्होंने इनका जिक्र अपने प्रस्ताव में भी नहीं किया। इस प्रकार दोनों प्रस्तावों में सामंजस्य कैसे हो सकता था? लेकिन एक बात तो आपको माननी ही होगी कि सर तेजबहादुर सप्रू ने पहले सांप्रदायिक एकता का पचड़ा नहीं खड़ा किया जो ब्रिटिश सरकार के तर्क की सब से बड़ी कमजोरी थी। एक बार यदि यह प्रश्न ही ख़त्म हो जाय तो फिर रोना काहे का। सारा सवाल ख़ुद-ब-ख़ुद सुलझ जायगा।

उदार और नरमदली नेताओं के इस सम्मेलन के अलावा एक घटना और भी है जिसका

जिक्र करना ज़रूरी हो जाता है। गांधीजी चूंकि स्वतंत्र थे और जेल नहीं गये थे—इसलिए सर तेजबहादुर सप्रू का उनसे और श्री जिन्ना से लिखा-पढ़ी करना स्वाभाविक और सरल था। इसके अलावा वे अपने बम्बई-सम्मेलन को निर्दल सम्मेलन का रूप देने के लिए भी व्यग्र थे। वे इसे व्यापक रूप देने के लिए भी उतना ही उत्सुक थे। वे श्री जिन्ना को अपने पक्ष में ले लेना चाहते थे और ऐसा करना उनके लिए न्यायोचित भी था।

डा० सप्रू ने यह काम "ट्वन्टीयथ सेंचुरी" नामक पत्रिका में एक लेख लिखकर शुरू किया। इसमें भारत की वैधानिक समस्या का विवेचन करते हुए डा० सप्रू ने बताया कि साम्प्रदायिक प्रश्न के सम्बन्ध में कोई समझौता करने की जिम्मेदारी स्वयं भारतीयों की है। यह लेख पढ़ने के बाद गांधीजी ने डा० सप्रू से कहा कि वे इस सम्बन्ध में श्री जिन्ना से मिलें। डा० सप्रू ने कहा कि यह अधिक अच्छा होगा अगर गांधीजी श्री जिन्ना से मिलें और अगर वे (गांधीजी) चाहें तो मैं इसका प्रबन्ध करने की कोशिश करूँ। परन्तु गांधीजी को आशंका थी कि इस तरह अगर वे श्री जिन्ना से मुलाक़ात करें भी तो शायद उसका कोई फल न निकले, क्योंकि श्री जिन्ना चाहेंगे कि वे (गांधीजी) उनसे एक हिन्दू नेता की हैसियत से ही कोई बातचीत करें। इस सम्बन्ध में श्री जिन्ना ने जो पत्र लिखा—उसकी बातें गांधीजी के लिए पहले से ही भांप लेना, निस्संदेह एक बड़ी बुद्धिमत्ता थी। संक्षेप में कहने का मतलब यह है कि श्री जिन्ना ने जैसी कि आशंका की गई थी) डा० सप्रू को एक पत्र लिखा कि मैं हिन्दुओं के नेता गांधीजी या किसी और हिन्दू नेता से मिलने के लिए हमेशा तैयार हूँ। इस तरह यह योजना वहीं ठप्प हो गई। इस सम्बन्ध में सिर्फ इतना ही हुआ कि श्री जिन्ना और डा० सप्रू के दरमियान जो पत्र-व्यवहार हुआ था उसे छाप देना पड़ा, क्योंकि श्री जिन्ना ने यह शिकायत की कि ११ फरवरी के उनके पत्र के बाद डा० सप्रू ने गांधीजी और उन (श्री जिन्ना) की मुलाकात की सब कोशिशें छोड़ दी हैं। इससे यह साफ ज़ाहिर हो जाता है कि वे गांधीजी से सिर्फ उन्हें हिन्दुओं के नुमाइन्दे मानकर ही मिलना चाहते थे। श्री जिन्ना के पत्र के ये शब्द कि : "हिन्दुओं की तरफ से" उनके वक्तव्य में नहीं थे और यही वजह थी कि गांधीजी इस शर्त पर उनसे नहीं मिलना चाहते थे। यह बात और भी अधिक असाधारण थी कि बंगलौर से श्री जिन्ना ने जो वक्तव्य प्रकाशित किया उसमें उन्होंने यह कहा कि बम्बई-सम्मेलन के पीछे कांग्रेस के पिट्ठुओं और हिन्दू-महासभा के नेताओं का हाथ है और बड़े-बड़े नेता स्वयं आगे न आकर इस सारी कार्रवाई की पृष्ठभूमि में रहे। सम्मेलन से पहले गांधीजी और सर तेजबहादुर सप्रू की मुलाकात के बारे में अख़बारों ने और पत्रकारों ने अनेक अटकलबाज़ियां लगाईं। अख़बारों में यह छपा कि गांधीजी समझौता करने पर तुले हुए हैं। मालवीयजी और इलाहाबाद में सर तेजबहादुर सप्रू से तथा नैनी जेल में मौलाना आज़ाद से उनकी मुलाकातें विशुद्ध रूप से दोस्ताना थीं। इसमें कोई शक नहीं कि वे डा० सप्रू के यहां सर जगदीशप्रसाद से भी मिले। लेकिन जब वे सेवाग्राम से चले थे तो इन मुलाकातों का कोई ख़याल भी नहीं था। इस बारे में बाकी बातों पर स्वयं गांधीजी के ६ मार्च, १९४१ के वक्तव्य से काफ़ी प्रकाश पड़ता है। वक्तव्य इस प्रकार है :

"मैं सिर्फ एक ही उद्देश्य से गया था। इसके अलावा मैंने जो भी थोड़ा-बहुत काम किया वह सर्वथा अप्रत्याशित था। मेरा मतलब कुछ विद्यार्थियों और गढ़वाल के कार्यकर्ताओं से अपनी मुलाकात से है। मैं सर तेजबहादुर सप्रू से मिलने गया, इसलिए कि वे अस्वस्थ थे। हम दोनों पुराने दोस्त हैं। वे मुझ से मिलने आनेवाले थे, लेकिन जब मुझे पता चला कि वे बीमार हैं तो

मैंने उनके यहां जाने का इरादा कर लिया। इसमें कोई शक नहीं कि हम दोनों ने राजनीतिक परिस्थिति और हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर भी सोच-विचार किया।

सर जगदीशप्रसाद भी वहां आ गये। उनका शाम का खाना उस दिन सर तेजबहादुर के यहां था। वे भी इस बात-चीत में शामिल हो गये। लेकिन इस बात-चीत का राजनैतिक महत्त्व तनिक भी नहीं है। हम लोगों ने निजी हैसियत से बात चीत की। किसी खास उद्देश्य को ध्यान में रखकर नहीं। सर तेजबहादुर ही क्या सभी लोग मौजूदा गतिरोध को समाप्त करने के लिए चिन्तित हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए वे हर मुमकिन कोशिश करने को तैयार हैं। वे ज़रूरत से ज़्यादा यह ख्याल करते हैं कि मुझ में हिन्दू मुस्लिम एकता कराने की ताक़त है। सर जगदीश भी इसके लिए कम चिन्तित नहीं हैं। लेकिन इस बात-चीत का महत्त्व इससे अधिक और कुछ नहीं कि हमने दोस्तों की हैसियत से अपने खयालात का तबादला किया।

जहां तक सवाल श्री मालवीयजी महाराज से मिलने का है—उसके बारे में भी मुझे यही कहना है कि यह मुलाक़ात बिल्कुल निजी थी। वे वृद्ध हो चुके हैं। उन्हें मौजूदा समस्याओं पर सोच-विचार नहीं करना चाहिए। वे बहुत ज़्यादा कमज़ोर हैं। लेकिन रात दिन उन्हें देश की फ़िक्र रहती है। जब वे गीता पढ़ना और उसका मनन करना छोड़ देंगे तो इन बातों की फ़िक्र करना भी छूट जायगा। देश के बारे में सोचते रहना उनके जीवन का एक अंग बन गया है और यह भी उनके अन्तिम श्वास के साथ ही बन्द हो जायगा। कौन जानता है कि वे इसे भी अपनी आत्मा के साथ परलोक में ले जायँगे।

"यह मेरा अहोभाग्य है कि मैं इन मित्रों से मिल सका, लेकिन हमारी बातचीत का मुल्क की सियासी हालत से कोई ताल्लुक नहीं है। इसी प्रकार मौलाना आज़ाद और श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित से जेल में की गई मुलाकातें बिल्कुल निजी थीं और उनका कोई राजनैतिक महत्त्व नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि इन मुलाकातों के बारे में कल्पना की जो जो उड़ानें की गई हैं और जनता ने जिस उत्सुकता से उनमें दिलचस्पी ली है उससे साफ़ साफ़ ज़ाहिर है कि वह सांप्रदायिक एकता और राजनीतिक गतिरोध का अन्त चाहती है। लेकिन महज़ ऐसा चाहने से ही हम अपना मकसद हासिल नहीं कर सकते। वह तो तभी हासिल किया जासकेगा अगर हम सब मिलकर इसकी कोशिश करें। सभी लोग इस बात की कोशिश में हैं कि मिल-जुल कर कोई कार्रवाई की जाय। परन्तु अटकलबाजियों से इस काम में रुकावटें पड़ती हैं। जहाँ तक कांग्रेस का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में उसकी नीति और कार्य स्पष्ट है। यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि कांग्रेस अपने हक़ में कोई फ़ैसला कराने पर तुली हुई है। जिस प्रकार आज़ादी सभी के लिए होगी उसी प्रकार भाषण देने की स्वतंत्रता भी सभी के लिए हासिल की जायगी। आज़ादी के बारे में विस्तृत बातों का फ़ैसला सिर्फ़ कांग्रेस ही नहीं करेगी—बल्कि सभी की राय से होगा। और अगर हमें इसे अहिंसा के बल पर हासिल करना है तो उसका साफ़ मतलब यह है कि केवल बहुसंख्यकों की राय होने का कोई महत्त्व नहीं होगा। स्वाधीनता का अधिकार-पत्र अल्पसंख्यकों और दूसरे ऐसे न्यायोचित स्वार्थों की मदद से तैयार किया जायगा, जिनका भारतीय जनता के हितों से कोई विरोध नहीं होगा।

"जो हो, इस ग़रज से किसी को भी अपने विचार प्रकट करने की पूरी-पूरी आज़ादी हो, यहाँ तक कि लड़ाई के ख़िलाफ़ कहने की भी, कांग्रेस ने सिविल नाफरमानी शुरू की है। उपर्युक्त समान आकांक्षा की प्राप्ति के हेतु कांग्रेस ने यह क़दम उठाया है। जब तक कोई और

तरीक़ा नहीं मिल जाता तब तक सही दिशा में जाने का यही एक मार्ग है। बम्बई-सम्मेलन के प्रस्ताव का जो अर्थ मैंने लगाया है उसका ज़ोरदार विरोध किया गया है। मैं इसके सही मानी यही समझता हूँ। लेकिन यह मेरी निजी राय है। कांग्रेस की तरफ़ से मुझे कांग्रेस के प्रस्तावों में परिवर्तन करने या उनकी व्याख्या करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया। यह काम तो वास्तव में और मुख्य रूप से कांग्रेस के प्रधान, कार्यसमिति और अन्त में अखिल-भारतीय कांग्रेस महासमिति का है।"

दूसरी बात पर हमें सोच-विचार करना अभी बाक़ी है। एक ओर डा० सप्रू और श्री जिन्ना तथा दूसरी ओर श्रीसप्रू और गांधीजी के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ उसे मई में प्रकाशित कर दिया गया।

जैसी कि आशा की जाती थी, बम्बई के सम्मेलन का कांग्रेस के साथ किसी किस्म का सम्बन्ध नहीं था। मुकम्मिल आज़ादी उसका मक़सद नहीं था और औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए वह बड़ी खुशी से इन्तज़ार करता रहेगा बशर्ते कि ब्रिटिश सरकार यह घोषणा कर दे कि लड़ाई ख़त्म हो जाने के बाद यथासंभव शीघ्रता से एक ख़ास तिथि पर वह हमें दे दिया जायगा। युद्ध-प्रयत्न में ज़ोरदार मदद कर देना उनका मक़सद था। इसके लिए शासन-परिषद् में ऐसे एकसे और योग्य आदमी लिये जाने चाहियें जो देश में काफ़ी तादाद में उन लोगों में से मिल सकते थे, जिनका कांग्रेस या लीग से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्मेलन ने देश के दो बड़े-बड़े दलों—कांग्रेस और मुस्लिम लीग में आपसी समझौते की आवश्यकता पर बहुत ज़ोर दिया। वास्तव में सम्मेलन के प्रधान ने बम्बई में इसके अधिवेशन से पूर्व दोनों में समझौता कराने की संभावनाओं के सम्बन्ध में दौड़-धूप भी की। परन्तु सम्मेलन के संगठनकर्त्ताओं का विचार था कि लीग और कांग्रेस के बीच बुनियादी मतभेद को मद्देनज़र रखते हुए यह संभावना नहीं की जा सकती कि दोनों दलों में जल्दी ही कोई समझौता हो सकेगा। साथ ही सम्मेलन की यह राय भी थी कि ऐसी हालत में इसी बिना पर सरकार-द्वारा देश की प्रगति को रोके रखना सहन नहीं किया जा सकता था। क्या ८ अगस्त को स्वयं वाइसराय ने साफ़-साफ़ शब्दों में यह घोषणा नहीं की थी कि, "इस मतभेद के ख़याल से उन्हें और अधिक समय तक गवर्नर-जनरल की शासन परिषद् के विस्तार और परिवर्द्धन के काम को स्थगित नहीं रखना चाहिये।" बम्बई-सम्मेलन का दावा था कि उसने कुछ व्यावहारिक तजवीजें पेश की हैं, जिन्हें अगर मान लिया जाय तो उसका देश के ऊपर बड़ा अच्छा मानसिक प्रभाव पड़ेगा और इसके साथ लोग स्वेच्छा से तथा वास्तविक रूप से युद्ध-प्रयत्न में सहायता करेंगे।

२२ अप्रैल को श्री एमरी ने एक भाषण दिया जिसमें आपने विगत मार्च के बम्बई के निर्दल नेता-सम्मेलन के प्रस्ताव पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। डा० सप्रू और उनके प्रस्तावों की प्रशंसा करने के बाद आपने इन प्रस्तावों को इस आधार पर नामंज़ूर कर दिया कि उनके अनुसार वर्तमान सरकार में संशोधन की बात न कहकर उसकी जगह नयी सरकार बनाने की बात कही गई थी और यह लड़ाई के दौरान में संभव नहीं था। उनके फलस्वरूप आन्तरिक वैधानिक समस्याएं पैदा हो जायँगी और भावी विधान के सम्बन्ध में भी और नई समस्याएँ खड़ी हो जायँगी। आगे आपने कहा कि "मैं यह बात बिना किसी प्रकार की अभद्रता के कहूँगा" कि वाइसराय के प्रस्तावों पर अमल करना इसलिये मुल्तवी नहीं किया गया कि उनकी निन्दा की गई है, बल्कि ख़ास तौर पर इस वजह से कि मुसलमानों और हिन्दुओं के अपनी-

अपनी स्थितियों के बारे में किये गये दावों में कोई सामंजस्य स्थापित करना कठिन है।" मार्च, १९४१ में निर्दल नेताओं के इस सम्मेलन की समाप्ति पर श्री जिन्ना ने इसकी तुलना डच सेना से करते हुए कहा कि, "इसमें सभी सेनापति हैं—सिपाही एक भी नहीं।"—अर्थात् सम्मेलन में सभी नेता हैं—लेकिन उनके पीछे चलनेवाला या उनकी बात माननेवाला एक भी व्यक्ति देश में नहीं है। उनके रुख से श्री एमरी को बड़ी मदद मिली और उन्होंने कहा कि मुझे मालूम नहीं कि वास्तव में बम्बई-प्रस्ताव के समर्थक कौन लोग हैं।

डा० सप्रू ने ७ अप्रैल को वाइसराय के साथ बड़ी लम्बी देर तक दो मुलाकातें कीं, जिनके दौरान में उन्होंने सम्मेलन की मुख्य बातों पर ज़ोर दिया। स्वाभाविक था कि वे बम्बई के प्रस्ताव का और उससे निकलनेवाली ध्वनि का समर्थन करते। उनकी युक्ति और तर्क इस प्रकार थे :—"अगर कांग्रेस और मुस्लिम लीग शासन-परिषद् में शामिल होने को राजी हो जायँ तो बहुत अच्छा होगा। हम उनका स्वागत करेंगे; लेकिन यह फैसला करना उनका काम है, लेकिन अगर वे इसमें शरीक होना नहीं चाहते या आपस के अथवा ब्रिटिश सरकार के साथ अपने मतभेदों का फैसला नहीं कर लेते, तो मुझे इसकी कोई वजह नहीं दिखाई देती कि बाकी लोगों को उनकी इच्छा पर क्यों छोड़ दिया जाय। उस हालत में केन्द्रीय-सरकार के स्वरूप में अवश्य परिवर्तन होना चाहिये।" डा० सप्रू के साथ न्याय करने की दृष्टि से और उन्होंने वाइसराय को जो-कुछ कहा तथा वाइसराय और उनके दृष्टिकोण का मुख्य आशय क्या था, उस पर हम यहां विचार करना आवश्यक समझते हैं, "अगर किसी वक्त कांग्रेस और लीग शासन-परिषद् में शामिल होना चाहें तो यह बात उन लोगों पर निर्भर होगी जिन्हें इस सरकार में लिया जाएगा कि वे उन दलों के लिए स्थान खाली कर दें, बशर्ते कि ऐसा प्रतीत न होता हो कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग पर देश को विश्वास नहीं रहा। दूसरे शब्दों में कहने का मतलब यह है कि जो लोग शासन-परिषद् में शरीक होना चाहते हैं वे न अवसरवादी हैं और न ही उनका इरादा किसी दल को उखाड़ना या नष्ट करना है।" उनका ख़याल था कि बम्बई-प्रस्ताव के अनुसार बनाई जानेवाली केन्द्रीय सरकार के लिए मौजूदा भारतीय विधान में किसी किस्म के संशोधन की ज़रूरत नहीं है। बम्बई-प्रस्ताव के एक वाक्य में भारत और स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों के बीच बराबर के दर्जे की मांग की गई थी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए सर तेज ने कहा, "मैंने सम्मेलन में इस बात पर जोर दिया था और कल फिर वाइसराय के साथ अपनी मुलाकात में भी इसी बात पर जोर दिया था कि शान्ति सम्मेलन के समय भारतीय प्रतिनिधि भारतीय सरकार और भारतीय मन्त्री द्वारा नियुक्त किये जायँ और वे भारतमन्त्री के हाथ के खिलौने नहीं होने चाहिए। उन्हें हिदायतें भारत-सरकार से मिलनी चाहिए। अगर किसी बात के बारे में उन्हें कोई शक हो तो इसका स्पष्टीकरण भारत-सरकार से कराना चाहिये। मुझे वेस्टमिनिस्टर के कानून से कोई विशेष प्रेम नहीं है। मेरा सदा से यह ख़याल रहा है कि भारत का दरजा दूसरे किसी भी स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेश-जैसा होना चाहिए; चाहे लड़ाई के बाद हमारा विधान कैसा ही क्यों न बने?"

बाद में इस बात पर खेद प्रकट करते हुए कि श्री एमरी ने गतिरोध को ख़त्म करने की दिशा में कोई मदद नहीं की, सर तेजबहादुर सप्रू ने १० मई के 'बीसवीं सदी' में 'श्री एमरी और बम्बई-सम्मेलन' शीर्षक से एक लेख लिखा। इसमें आपने बताया कि "मेरा दृढ़ विश्वास है कि अगर ब्रिटेन ने भारत के विभाजन की मांग को साधारण रूप से भी स्वीकार कर लिया तो भारत

के साथ उनका यह जघन्य विश्वासघात होगा।" सर तेजबहादुर जो कांग्रेसी सरकारों के समर्थक नहीं थे और जिन्होंने सत्याग्रह-आन्दोलन के औचित्य तथा उसकी बुद्धिमत्ता के बारे में संदेह किया था, यह देखकर कदापि प्रसन्न नहीं थे कि वे लोग जिनके हाथ में कल तक विभिन्न प्रांतीय सरकारों की बागडोर थी और गवर्नर जिनकी प्रशंसा के पुल बांध रहे थे, आज जेलों में ठूंस दिये जाएँ।

सर तेजबहादुर ने कहा कि निस्संदेह यह बड़े घटिया दरजे की राजनीतिज्ञता है जिसका परिणाम आज हम यह देख रहे हैं कि स्वयं सरकार के लिये अपने ही मन्त्रियों को जेलमें बन्द करना आवश्यक समझा गया है। आगे चलकर आपने कहा, "इसका मतलब यह नहीं कि अगर ऐसा कदम उठाना नितान्त आवश्यक हो जाय तो मैं उससे घबड़ाऊंगा, लेकिन मैं इतना अवश्य कहूँगा कि ऐसी परिस्थिति पैदा होने से पहले मैं उसे रोकने या दूर करने में किसी भी उपाय को काम में लाने की कसर नहीं उठा रखूंगा। जब यह स्पष्ट हो कि दो बड़े बड़े संगठित दल विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर घरेलू युद्ध में लगे हुए हैं और जब दोनों ही अपने सिद्धान्तों और निश्चयों को अपना धर्म-विश्वास समझते हैं तो विधान में कोई भी परिवर्तन करने से पहले उनके लिये आपसी समझौते को नितान्त आवश्यक बताना बड़ा खतरनाक है। अगर उनमें कोई समझौता संभव नहीं है तो क्या होगा? क्या उस हालत में ब्रिटिश सरकार हमारे लिये विधान बनाने का अपना अधिकार या दावा छोड़ देने को तैयार होगी?"

भारत की परिस्थिति और वैधानिक-सुधारों के सम्बन्ध में श्री एमरी द्वारा दी गई युक्तियों का उल्लेख करते हुए सर तेजबहादुर ने कहा, "वर्तमान कठिनाइयों और प्रतिकूलताओं के बीच भविष्य का ख़याल करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम लोगों को कुछ ऐसे नेताओं की दया पर छोड़ दिया गया है जो यह समझते हैं कि उनके जीवन का एक खास उद्देश्य है और वे प्रत्येक व्यक्ति को दबा सकते हैं। प्रत्यक्ष है कि श्री एमरी की नज़रों में किसी भी सम्प्रदाय के नरमदलवाले लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है।"

आगे चलकर पाकिस्तान की योजना और उसे कार्यान्वित करने के प्रश्न की समीक्षा करते हुए सर तेजबहादुर लिखते हैं, "भारत के विभाजन की कोई भी योजना महज़ इसी आधार पर उचित नहीं ठहराई जा सकती कि आपको या मुझे कांग्रेस के अथवा भारत के किसी ख़ास हिस्से में सत्ताप्राप्त राजनीतिज्ञों के किसी और वर्ग के ख़िलाफ़ शिकायतें हैं। इस तरीके से हिन्दुस्तान के टुकड़े-टुकड़े करने के मानी यह होंगे कि मुल्क दो ऐसे विरोधी हिस्सों में बँट जायगा जो एक दूसरे की प्रगति में रुकावट पैदा करते रहेंगे, एक दूसरे के ख़िलाफ़ साजिशें करते रहेंगे और संभव है कि एक दूसरे के ख़िलाफ़ लड़ते भी रहेंगे।"

अन्त में सर तेज कहते हैं, "कोई भी व्यक्ति निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि इस योजना के सम्बन्ध में ब्रिटेन का दृष्टिकोण क्या होगा। श्री एमरी ने शायद वर्तमान परिस्थिति की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस सम्बन्ध में विनम्र भाषा का प्रयोग करना उचित समझा है; लेकिन अगर आप उनकी भाषा को ध्यान से पढ़ें तो आपको पता चल जायगा कि उन्होंने इस योजना को अव्यावहारिक बताया है। मेरी दृढ़ धारणा है कि अगर अंग्रेज़ों ने साधारणतः इसे मंजूर कर लिया तो वे भारत के साथ जघन्य विश्वासघात करेंगे। वे अपने १७५ साल के विगत इतिहास को मलियामेट कर देंगे। संक्षेप में कहने का मतलब यह है कि श्री एमरी की सारी अपीलों का, चाहे वे कितने ही अच्छे इरादोंवाली क्यों न रही हों, इस देश पर संभवत

श्री जिन्ना और उनके अनुयायियों को छोड़कर और किसी पर कोई असर नहीं हुआ। आज उन्हें अपना पद संभाले हुए एक साल से ज़्यादा होने को आया; लेकिन वे यह नहीं कह सकते कि, उन्होंने गति-रोध का हल ढूँढ़ निकालने में कोई मदद की है।''

निर्दलीय नेता श्री एमरी से अत्यधिक असंतुष्ट थे और इसलिए उन्होंने टस-से-मस न होनेवाली ब्रिटिश सरकार पर और अधिक दबाव डालने के लिए अपना एक और अधिवेशन बुलाना ज़रूरी समझा; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार और पूना-सम्मेलन में होड़ लगी हुई थी, और ब्रिटिश सरकार इससे फ़ायदा उठाना चाहती थी; क्योंकि पूना-सम्मेलन की तारीख़ २६ जुलाई निर्धारित की गई थी, जबकि २२ जुलाई को ही भारत-सरकार ने परिवर्द्धित केन्द्रीय शासन-परिषद् की घोषणा कर दी।

× × ×

श्री एमरी को अपना पद संभाले हुए एक साल से ऊपर हो चुका था। इस दौरान में उन्होंने बहुत से बड़े-बड़े और लच्छेदार भाषण किये थे; लेकिन इनमें उन्होंने कोई मारके की बात नहीं कही। वे एकदम तर्कों से भरी पड़ी हैं। वे अस्पष्ट नहीं हैं। उनमें सभी समस्याओं पर विचार किया गया है। परन्तु उनमें पाई जानेवाली कमज़ोरी या त्रुटि मुख्यतः वक्ता की त्रुटियां या कमज़ोरियां हैं। वे दक़ियानूसी और अनुदार विचारों के शिकार हैं और श्री चर्चिल की प्रतिमूर्ति हैं। वे अपनी बात को बार-बार कहने में यक़ीन रखते हैं। उनके भाषणों और उक्तियों का दूसरों पर क्या असर पड़ेगा, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं। १६०६, ०७, ०८, और ०६ में लार्ड मोर्ले नरमदलवाले राजनीतिज्ञों को अपने साथ मिला लेना चाहते थे; लेकिन श्री एमरी उनसे दो हाथ आगे बढ़ गये। उन्होंने नरमदलवालों, कांग्रेसियों और सभी दलों को ताक पर रख दिया और उन्हें समान राजनीतिक-संकट में अपनी क़िस्मत पर छोड़ दिया। आपने सबके साथ एक-जैसा ही सलूक किया। २२ अप्रैल को श्री एमरी ने कामन-सभा में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसका उद्देश्य गवर्नरों को प्रान्तों में एक साल तक के लिए और प्रान्तीय सरकारों के अधिकार देना था। इस अवसर पर आपने जो भाषण दिया उसका आशय हम उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्ट कर आये हैं।

श्री एमरी ने कामन-सभा को याद दिलाया कि बंगाल, आसाम, सिन्ध और पंजाब में प्रान्तीय सरकारें अपना २ काम करती हैं और इन चारों प्रान्तों में ब्रिटिश भारत की कुल जनसंख्या का तीसरा हिस्सा रहता है। आपने कहा कि यह बड़े खेद की बात है कि शेष सातों प्रान्तों के २०,००,००,००० निवासियों को कांग्रेस के हाईकमाण्ड ने स्वायत्त शासन की परम्परा को जारी रखने की मनाही कर दी। भारत की वैधानिक प्रगति के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की नीति का उल्लेख करते हुए आपने कहा कि सारे ही विधान में संशोधन किया जा सकता है बशर्ते कि भारतीयों में आपस में समझौता हो जाय कि वे अपने लिए किस क़िस्म का विधान चाहते हैं। आगे श्री एमरी ने कहा, ''अगर भारतीय राजनीतिज्ञ इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हमारे देश की क़िस्म का प्रजातंत्र उनके आपसी समझौते के मार्ग में रुकावट पैदा करता है तो भारत की आवश्यकताओं की दृष्टि से एक ऐसा विधान उसके लिए उपयुक्त साबित हो सकता है जिसके अन्तर्गत अमरीका की तरह उसकी शासन-परिषद् को सीधे संघीय इकाइयों से अपनी सत्ता हासिल हो और उसका व्यवस्थापिका सभा से कोई सम्बन्ध न हो।'' आगे चलकर श्री एमरी ने कहा कि युद्ध-काल में भारत-सरकार के ढाँचे में कोई परिवर्तन करना संभव नहीं है, परन्तु

भारतीय नेताओं-द्वारा इसी समय आपस में कोई प्रारम्भिक बातचीत शुरू करने में कोई रुकावट नहीं पैदा हो सकती। श्री एमरी ने कहा, "मुझे डर है कि कांग्रेस यह मानने को तैयार नहीं कि इस समय कोई और ऐसा विधान नहीं बन सकता जिसके अन्तर्गत समस्त भारत पर इतनी अधिक मात्रा में नियंत्रण रखा जा सके जितना कि भारत को वर्तमान विधान के अन्तर्गत प्राप्त है। इस दिशा में हम एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह देख रहे हैं कि श्री जिन्ना की यह मांग ज़ोर पकड़ती जा रही है कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी भागों को शेष भारत से पूर्णतः पृथक् करके वहां पूर्ण रूप से स्वतंत्र रियासतें क़ायम कर दी जायँ जिन्हें रक्षा, विदेश और आर्थिक मामलों पर पूरा-पूरा नियंत्रण प्राप्त हो।

"तथाकथित पाकिस्तान-योजना के मार्ग में जो बड़ी-बड़ी व्यावहारिक कठिनाइयां हैं उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही मैं १८वीं सदी के भारतीय इतिहास के 'अन्धकारपूर्ण' पृष्ठों का उल्लेख करना चाहता हूँ। इसके अलावा आज हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं कि बाल्कन राष्ट्रों की जनता को कितने भयंकर परीक्षण में से गुज़रना पड़ रहा है, और इससे हम जान सकते हैं कि भारत की एकता को भंग करने का कितना ख़तरनाक परिणाम हो सकता है।"

इसके बाद श्री एमरी ने अगस्त-प्रस्तावों का उल्लेख करते हुए बताया कि इनकी अन्तर्निहित नीति यह है कि भारत के विधान का नया ढाँचा तैयार करने की ज़िम्मेदारी पार्लमेण्ट पर न होकर स्वयं भारतीयों पर ही है। यह एक बड़ी व्यापक और क्रान्तिकारी घोषणा थी।

यह भारत के भावी स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेश पद की स्वीकृति थी। इस स्वीकृति के अन्तर्गत दो मुख्य शर्तें थीं, एक तो यह भारत के साथ ब्रिटेन के चिरकाल के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले दायित्वों की उचित रूप से पूर्ति, और दूसरे, भारत का भावी विधान मुख्यतः भारतीय ही होना चाहिए, जिसे भारतीय विचार-धारा, भारतीय परिस्थितियों और भारतीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार किया जाय।

आगे श्री एमरी ने कहा, "एक शर्त यह है कि भारत का नया विधान भारत के राष्ट्रीय-जीवन के प्रधान तत्वों के समझौते से बनना चाहिए, जो कि सफलता के पहले ज़रूरी चीज़ है।

"अगर भारतीय इसी बात पर सहमत नहीं हो सकते कि उन्हें अपने लिए किस किस्म का विधान चाहिए तो उस पर अमल करने के सम्बन्ध में वे किस प्रकार सहमत हो सकेंगे? हम इस बात के लिए बड़े उत्सुक हैं कि भारत-सरकार को चलाने की ज़िम्मेदारी स्वयं भारतीयों के कन्धे पर ही होनी चाहिए; लेकिन हम सत्ता सिर्फ़ ऐसी संस्था को ही दे सकते हैं जो उसे ग्रहण कर सके और तत्काल ही भंग न हो सके। ऐसे समझौते की शर्त को ध्यान में रखते हुए मौजूदा विधान में पूरी तरह से या बुनियादी तौर पर संशोधन करने की आज़ादी है। भारतीय राजनीतिज्ञों का केन्द्रीय सरकार के स्वरूप अथवा केन्द्र, प्रान्तों और रियासतों के आपसी सम्बन्धों से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए।"

इस तरह हम देखते हैं कि श्री एमरी ने बताया है कि अगर किसी पार्लमेण्टरी सरकार को सफलतापूर्वक अपना काम चलाना है तो उसे तीन ज़िम्मेदारियां अपने ऊपर लेनी पड़ेंगी। पहली ज़िम्मेदारी सम्राट् के प्रति, दूसरी बतौर एक संस्था के पार्लमेण्ट के प्रति और तीसरी पार्लमेण्ट के समर्थकों के प्रति। पहली ज़िम्मेदारी के कारण पुरानी उक्ति "सम्राट् की सरकार का काम चलता रहे" की ध्वनि निकलती है, परन्तु श्री एमरी को पता होना चाहिए कि कांग्रेस की मांग भारत

की स्वाधीनता थी। दूसरी ज़िम्मेवारी के बारे में श्री एमरी का कहना है कि इसका आधार "श्रीमन् (स्पीकर) आपकी अधिकार-सीमा और अल्पसंख्यकों का अधिकार है, और ये अल्पसंख्यक पार्लमेण्ट की अधिकार-सीमा के अन्तर्गत रहते हुए आपके संरक्षण में हैं। श्री एमरी को मालूम है कि भारत प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों ने स्वेच्छा से इस्तीफे दिये हैं और व्यवस्थापिका सभाएं स्थगित हो गई हैं और इस प्रकार स्पीकर की अधिकार-सीमा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि वह तो इससे अब बिल्कुल कमज़ोर पड़ जाता है। अब रह जाती है तीसरी ज़िम्मेवारी जिसे मंत्रियों ने न्यायोचित ढंग से निभाया है। इस प्रकार आप देखेंगे कि किसी "दलविशेष की तानाशाही" का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है—जैसा कि श्री एमरी का विचार था। वाइसराय के प्रस्तावों का स्पष्टीकरण करते हुए श्री एमरी ने बताया है कि भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को वाइसराय की शासन-परिषद् में शामिल होने का जो निमंत्रण दिया गया है, उसमें बता दिया गया है कि महत्त्वपूर्ण विभागों की ज़िम्मेदारी न केवल अलग-अलग रूप से उनके ऊपर होगी बल्कि परिषद् की सामूहिक ज़िम्मेदारी भी पूर्ण रूप से उन्हीं पर होगी। जुलाई में कामन-सभा में वाइसराय की परिवर्द्धित परिषद् के सम्बन्ध में श्वेत-पत्र पेश करते हुए श्री एमरी ने जो भाषण दिया था उसमें आपने साफ़-साफ़ बताया था कि सम्पूर्ण शासन परिषद् पर वैधानिक रूप से पूरी सामूहिक ज़िम्मेवारी होगी; परन्तु स्वयं श्री एमरी भी जानते हैं कि यह एक काल्पनिक चीज़ या महज़ एक ढकोसला है; क्योंकि परिषद् की धारा-सभा के प्रति कोई ज़िम्मेवारी नहीं होगी। इस प्रकार साफ़ ज़ाहिर है कि ऊपर से तो श्री एमरी की योजना बड़ी आकर्षक प्रतीत होती है; परन्तु उसके भीतर कुछ भी नहीं। आगे आप फरमाते हैं कि "अब तक तो हमें निराश ही होना पड़ा है। कांग्रेस ने हमारे मुख्य और अन्तर्कालीन दोनों ही प्रस्ताव नामंजूर कर दिये हैं। उसका रुख यह है कि या तो 'सब कुछ दो, या हम कुछ भी नहीं लेंगे।' और इस 'सब कुछ' का मतलब श्री एमरी यह लेते हैं कि एक ऐसे भारत की तत्काल आज़ादी—जिसके विधान पर बहुमत का नियंत्रण रहेगा—अर्थात् उस हालत में बहुमत सारे देश पर छाया रहेगा। उसके बाद आप कहते हैं कि गांधीजी ने एक अनोखा आन्दोलन शुरू किया हुआ है जिसमें भूतपूर्व प्रधानमंत्री, भूतपूर्व मंत्री और जनता के चुने हुए लोग शामिल हैं। ये लोग युद्ध-प्रयत्न के खिलाफ़ भाषण देते हैं और जान-बूझकर क़ैद की सज़ा या जुर्माने को चुनौती देते हैं। ये लोग अपने दल का कहना उसी तरह मान रहे हैं जिस तरह मंत्रिमण्डल छोड़ते समय उन्होंने किया था। फिर आपने आन्दोलन की तीन विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डाला। "पहली अवस्था प्रमुख कांग्रेसियों तक सीमित रही जो जनवरी में ख़त्म हो गई। दूसरी प्रान्तीय और स्थानीय कमेटियों के प्रतिनिधियों तक सीमित रही जो इस महीने के प्रारंभ में ख़त्म हो गई और अब तीसरी अवस्था चल रही है, जिसमें जनता के आमलोग भाग ले रहे हैं।" आगे आपने कहा कि "मैजिस्ट्रेट कानून-व्यवस्था की प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए बड़ी सूझ-बूझ से काम ले रहे हैं। वे साधारण आदमियों की उपेक्षा कर देते हैं—उसके खिलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं करते और बहुत-से मामलों में सिर्फ़ जुर्माने ही करते हैं और यह शर्त नहीं लगाते कि जुर्माना अदा न करने पर अभियुक्त को जेल जाने की आज़ादी है। इस बात से उन लोगों को बड़ी निराशा हुई है जो इस ख़याल से जेल जाना चाहते थे कि भविष्य में चुनाव के समय, उन्हें इससे बड़ी मदद मिलेगी। यही वजह है कि गांधीजी को यह घोषणा करनी पड़ी है कि कांग्रेस की दृष्टि में जुर्माने की सज़ा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।"

श्री एमरी ने खेद प्रकट किया कि नवम्बर में वाइसराय को शासन-परिषद् की स्थापना के सम्बन्ध में अपनी कोशिशें छोड़ देनी पड़ीं; क्योंकि मुस्लिम-लीग ने खास तौर पर हिन्दुओं के मुक़ाबले में एक निश्चित प्रतिनिधित्व की मांग की और भविष्य के लिए भी यही शर्त रखी। परन्तु वाइसराय महोदय ने उसे स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

कामन सभा में श्री एमरी के भाषण के सम्बन्ध में गांधीजी ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया:—

"भारत के सम्बन्ध में कामन-सभा की लम्बी बहस पढ़कर मुझे दुःख हुआ। कहा तो ऐसा जाता है कि मुसीबत से लोगों के दिल नरम पड़ जाते हैं और वे सचाई का महत्व समझने लग जाते हैं; परन्तु साफ़ ज़ाहिर है कि ब्रिटेन आज जिस भारी संकट में से गुज़र रहा है उसका श्री एमरी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका हृदय आज भी चिकनी-मिट्टी के घड़े-जैसा बना हुआ है। उनके कान पर जूं तक नहीं रेंगी। उनकी इस निर्भयता को देखकर मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है कि चाहे कांग्रेस को कितनी ही मुसीबतें क्यों न झेलनी पड़ें, उसे अहिंसा की नीति पर दृढ़ता से अमल करना चाहिए। भारत की मौजूदा परिस्थिति के प्रति श्री एमरी ने जो अवहेलना प्रदर्शित की है उससे उन्होंने ब्रिटेन की कोई मदद नहीं की। वे इस बात को बड़ी डींग हांक रहे हैं कि ब्रिटिश-राज ने भारत में शान्ति स्थापना की है। क्या उन्हें मालूम नहीं कि अहमदाबाद और ढाका में क्या हो रहा है? इन दोनों स्थानों पर शान्ति बनाये रखने की ज़िम्मेदारी किस पर है? मेरा ख़याल है कि वे मुझे यह कहकर टालने की कोशिश न करेंगे कि बंगाल में तो स्वायत्त-शासन क़ायम है। वे जानते हैं कि इस तरह की संकटपूर्ण परिस्थितियों ने इन कठपुतली मंत्रिमण्डलों के हाथ में कितनी ताकत रहती है, फिर चाहे ये मंत्रिमण्डल कांग्रेस के हों, लीग के हों अथवा किसी और दल के।

"मैं उनसे एक मुनासिब सवाल करना चाहता हूँ: क्या वजह है कि इतने समय तक ब्रिटिश राज के रहते हुए भी ये लोग इतने नपुंसक बने हुए हैं कि मुट्ठीभर गुण्डों का भी मुक़ाबला नहीं कर सकते? यह बड़े शर्म की बात है, हमारे लिए ऐसी नहीं जैसी कि ब्रिटेन के लिए, कि लोग इसलिए अपना घर-बार छोड़कर भाग जायँ कि कुछ गुण्डों को आग लगाने, हत्या करने और लूट-मार मचाने का मौक़ा मिल गया है। किसी भी सरकार का यह पहला फ़र्ज़ है कि वह लोगों को आत्म-रक्षा का काम सिखाये; परन्तु विदेशी ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तानियों की इस बुनियादी भलाई से कोई सरोकार नहीं था। इसलिए उसने लोगों से हथियार चलाने का हक भी छीन लिया।

"श्री एमरी ने भारतीय सैनिकों की जो, भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसका भारतीयों पर कोई असर नहीं हो सकता, क्योंकि अगर फिलहाल हम कांग्रेस की अहिंसा की नीति का ख़याल भी न करें तो भी यदि भारत को आत्म-रक्षा के लिए शिक्षा दी गई होती और वह स्वेच्छा से ब्रिटेन को सहयोग प्रदान करता तो मैं दावे के साथ कहता हूँ कि यूरोप की तमाम ताकतें मिलकर भी ब्रिटेन का बाल बांका नहीं कर सकती थीं।

"श्री एमरी ने यह बात फिर दोहराकर भारतीय जनता का अपमान किया है कि भारत के राजनीतिक दलों के लिए आपस में समझौता करने के अलावा और कोई चारा ही नहीं है और ब्रिटेन तो सिर्फ संयुक्त भारत की ही बात सुनेगा। मैं बार-बार यह बात साबित कर चुका हूँ कि ब्रिटेन की यह परंपरागत नीति रही है कि भारतीय दलों में एकता न हो सके। ब्रिटेन का आदर्श

सदा से यही रहा है कि लोगों में फूट डालकर अपना राज बनाये रखे। भारतीयों की पारस्परिक फूट की ज़िम्मेवारी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की है और जब तक हिन्दुस्तान गुलाम रहेगा, यह भेद-भाव और आपस की फूट भी बनी रहेगी। मैं मानता हूँ कि दुर्भाग्य से कांग्रेस और मुस्लिम-लीग के बीच भारी मतभेद है; लेकिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञ यह क्यों नहीं मानते कि आखिर यह हमारा घरेलू झगड़ा है ?

"मैं वायदा करता हूँ कि अगर अंग्रेज़ हिन्दुस्तान से चले जायँ तो कांग्रेस, लीग और अन्य दल अपने हितों के ख़याल से एक-दूसरे से मिल जायँगे और खुद ही भारत के लिए अपने ढंग की कोई मुनासिब सरकार बना लेंगे। हो सकता है कि हमारी यह सरकार वैज्ञानिक ढंग की या पश्चिमी ढांचे की न हो; लेकिन यह निश्चित रूप से स्थायी तो होगी। यह मुमकिन है कि उस शुभ-घड़ी के आने से पहले हमें आपस में ही लड़ना पड़े; परन्तु यदि हम किसी बाहरी ताक़त का मुँह ताकना बन्द कर दें तो पन्द्रह दिन के अन्दर-अन्दर ही फ़ैसला हो जायगा और शायद एक दिन में इतनी क्षति न हो सके जितनी आज यूरोप में हो रही है। इसका एक साधारण-सा कारण यह है कि ब्रिटेन की दया से आज हम निःशस्त्र हैं।

"श्री एमरी सचाई का गला घोंटकर आज अपनी अनजान जनता को यह कहकर भ्रम में डाल सकते हैं कि कांग्रेस या तो 'सब कुछ लेना चाहती है अथवा कुछ भी नहीं।' मैं उन्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि मुख्यतः ब्रिटिश जनता को खुश करने के लिए ही कांग्रेस ने पूना-प्रस्ताव पास किया था और जब बम्बई में उसने अपना यह प्रस्ताव रद्द कर दिया तो मैंने अधिकृत रूप से घोषणा की थी कि इस समय ब्रिटिश-सरकार भारत को न तो आज़ादी दे सकती है और न उसकी घोषणा कर सकती है, इसलिए फिलहाल हमें भाषण देने और लिखने की पूरी आज़ादी से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। क्या उससे यह ज़ाहिर होता है कि कांग्रेस या तो 'सबकुछ लेना चाहती है अथवा कुछ भी नहीं ?'

"मेरा विचार है कि श्री एमरी की मानसिक स्थिति को देखते हुए उनसे यह उम्मीद करना बहुत बड़ी बात होगी कि उनमें इतनी शिष्टता भी होगी कि वे कांग्रेसके इस नियंत्रित संयम को स्वीकार कर सकेंगे कि उसने ब्रिटिश-सरकार को अपनी मुसीबत के वक्त परेशान न करने की कोशिश की; लेकिन श्री एमरी में ऐसा सौजन्य कहां ? वे तो कांग्रेस के संयम की उपेक्षा करके यह कह रहे हैं कि सिविल नाफरमानी चारों खाने चित्त गिरी है।

"मैंने जब भारत की समृद्धि के सम्बन्ध में उनका बयान पढ़ा तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि यह बिलकुल काल्पनिक चीज़ है। भारत की जनता धीरे-धीरे मुफलिसी की ओर बढ़ती जा रही है। उसे तन ढकने को कपड़ा और भरपेट खाना भी मयस्सर नहीं होता। वजह यह है कि देश पर एक ही आदमी की हुकूमत है और वह लाखों का बजट तैयार करता है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यह बात हिन्दुस्तान की भूखी जनता की समृद्धि की सूचक न होकर इस बात की सूचक है कि आज हिन्दुस्तान ब्रिटेन के पैरों-तले रौंदा जा रहा है। हर हिन्दुस्तानी का, जो हमारे किसानों की मुसीबत को जानता है, फर्ज हो जाता है कि इस स्वेच्छाचारी-शासन के खिलाफ़ बग़ावत का झण्डा खड़ा करे। सौभाग्य से हिन्दुस्तान की मानवता शान्तिपूर्ण है और मैं उम्मीद करता हूँ कि इसी शान्तिपूर्ण तरीके से वह अपनी किस्मत का फ़ैसला करेगी और अपने पैदायशी हक़ को हासिल करेगी; लेकिन मैं श्री एमरी के दुःखद बयान पर और ज़्यादा विचार नहीं करना चाहता। उनके भाषण के इस

संक्षिप्त विश्लेषण से भी मुझे दुःख पहुँचा है; लेकिन चूंकि यह इतनी आश्चर्यजनक गलत-फहमियों से भरा पड़ा है कि मुझे मजबूर होकर यह महसूस करना पड़ा कि अगर मैं इनकी ओर जनता का ध्यान न आकर्षित करूँ तो मैं अपने फर्ज से गिर जाता हूँ। अगर वे चाहते तो इतने में ही सन्तोष कर लेते कि ४० करोड़ जनता पर उनका एकछत्र राज्य कायम है।"

पिछले कुछ समय से "स्टेट्समैन" के सम्पादक श्री आर्थर मूर ब्रिटेन के अखबारों में और वहां के लोगों से बातचीत करके यह कोशिश कर रहे थे कि हिन्दुस्तान के साथ समझौता कर लिया जाय। कुछ एंग्लो-इंडियन व्यापारियों को यह अभिशाप-सा प्रतीत होता था और उन्हें फूटी आंखों भी न भाता था।

बंगाल-व्यापारमंडल के प्रधान, उप-प्रधान और कई प्रमुखसदस्यों ने "स्टेट्समैन" के नाम नीचे लिखा पत्र भेजा—

"२२ अप्रैल को कामन-सभा में भारत-विषयक बहस के बाद ब्रिटेन के अखबारों में भारत के सम्बन्ध में सम्राट् की सरकार की वर्तमान-नीति के गुण-दोष और उसके वैधानिक गतिरोध के हल के सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद हुआ है। इस वाद-विवाद में 'स्टेट्समैन' के संपादक श्री आर्थर मूर ने जो इस समय इंगलैंड में हैं, विभिन्न लेख लिखे हैं, जिन्हें भारत में प्रचारित किया गया है और छापा गया है।

"इस खयाल से कि ब्रिटेन या भारत के लोगों के दिलों में किसी किस्म के शक या ग़लत-फ़हमी की गुंजाइश न रहे, बंगाल चेम्बर आफ कामर्स के हम निम्नलिखित सदस्य यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भारत और ब्रिटेन के वैधानिक प्रश्न के सम्बन्ध में श्री मूर के राजनैतिक विचार, जो हाल में ही ब्रिटेन के अखबारों में प्रकाशित हुए हैं और जिन्हें श्री मूर ने लोगों के साथ अपनी मुलाकातों के दरमियान व्यक्त किया है, उन्हें किसी भी तरह से भारत में रहनेवाले व्यापारिक-वर्ग के विचार नहीं समझना चाहिए। हो सकता है कि 'स्टेट्समैन' के सम्पादक के रूप में और कलकत्ता के लोगों के साथ उनके घनिष्ठ सम्पर्क के कारण ब्रिटेन या किसी और जगह लोग यह समझने लगें कि उनके राजनैतिक विचारों और कार्रवाइयों को भारत-स्थित ब्रिटिश-व्यापारिक-वर्ग का समर्थन प्राप्त है। इसलिए हम यह बात ज़ाहिर कर देना चाहते हैं कि यह वास्तविकता से कोसों दूर है और साथ ही हम यह भी कह देना चाहते हैं कि इस सम्बन्ध में 'स्टेट्समैन' की सम्पादकीय नीति से भी हमारा किसी किस्म का ताल्लुक नहीं है।"

इस बात पर हस्ताक्षर करनेवाले सज्जनों के नाम इस प्रकार हैं—श्री जी० बी० मॉर्टन (प्रधान), श्री आर० आर० हैडो (उप-प्रधान), श्री एन० डब्ल्यू शिशोम्, श्री ई० वी० ग्राट, श्री एच० जी० स्टोक्स, श्री जे० एच० बर्डस, श्री ए० डन्कन और सर एच० एच० बर्न।

२२ जून, १९४१ को जर्मनी ने रूस पर धावा बोल दिया। इससे भारतीय प्रश्न के बारे में ब्रिटेन के मज़दूर-दल के सदस्यों को और भी ज़्यादा उत्साह मिला। इंगलैंड का मज़दूर दल कामन-सभा में श्री एमरी को परेशान किये था। यह बार-बार भारतीय समस्या की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर रहे थे। जर्मन हमले के थोड़ी देर बाद ही मज़दूर दल ने कामन-सभा में भारत के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की नीति की कड़ी आलोचना करनी शुरू कर दी थी। भारत के उप-मन्त्री ड्यूक आव डीवनशायर ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दिये गये अपने एक भाषण में कहा कि भारत की सरकार 'भारत के लिये, भारतीयों द्वारा और भारत में' स्थापित होगी; लेकिन इब्राहम लिंकन के शब्दोंमें उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि यह सरकार 'जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा'

होगी। ड्यूक के भाषण के परिणाम-स्वरूप कामन-सभा में श्री सोरेन्सन ने रूस-जर्मन युद्ध के बाद भारत के सम्बन्ध में कई एक प्रश्न पूछे और उनका जवाब देते हुए श्री एमरी ने कहा कि "इस समय मेरे सामने कोई नया प्रस्ताव नहीं है और भारतीय राजनैतिक दलों के साथ परामर्श करने का कोई सवाल ही नहीं उठता !" १० जुलाई को मजदूर-दल के सदस्य श्री सोरेन्सनने प्रश्न किया कि क्या परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए भारत-मंत्री ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि "भारत में राजनैतिक बन्दियों की आम रिहाई के कारण हमें कितना बड़ा कूटनीतिक और मानसिक लाभ प्राप्त हो सकता है ? क्या उन्होंने राजनीतिक गतिरोध के जारी रहने की बुनियादी वजह और उसे दूर करने की स्वीकृत नीति पर फिर से विचार करने के सम्बन्ध में कोई विचार किया है ? क्या उनका इरादा भारतीय राजनीतिक दलों से फिर से बात-चीत करने का है ?"

इनका जवाब देते हुए श्री एमरी ने कहा कि परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का भारत के राजनैतिक गतिरोध पर पड़नेवाले प्रभाव के सम्बन्ध में श्री सोरेन्सन जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उससे मैं सहमत नहीं हूँ। ख़ैर कुछ भी हो, मैं इस सम्बन्ध में कोई और नया वक्तव्य देने को तैयार नहीं, फिर भी इतना ज़रूर है कि सम्राट् की सरकार इस विषय पर बड़े ध्यान से सोच विचार कर रही है।

१७ जुलाई, १६४१ को ऑक्सफोर्ड में भाषण देते हुए श्री आर्थर मूर ने कहा :—

"हमें एशिया में भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। यह काम हमारा है कि हम भारत को यह महसूस करा दें कि उसके लिए यही मुनासिब वक्त है जब वह अपने को एक राष्ट्र के रूप में साबित कर सकता है। ज्यों-ज्यों सप्ताह बीतते जायँगे, सर्वनाश का ख़तरा भी बढ़ता जायगा और यह ख़तरा तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक भारत अपने को एक राष्ट्र साबित न कर दे, अपने मामूली-मामूली झगड़ों का फैसला न कर ले और आस्ट्रेलिया अथवा किसी और दूसरे ऐसे देश की तरह जो इस समय लड़ाई में पूरे वेग से लड़ रहा है, उसकी बराबरी का पद साबित न कर दे और एक संयुक्त-राष्ट्र के रूप में नहीं लड़ता।

"यह स्पष्ट कर देना हमारा फ़र्ज है कि अगर वह चाहे तो इसी समय वह पद हासिल कर सकता है। हमें हिन्दुस्तान और सारी दुनिया को दिखला देना चाहिए कि हम केवल पुरानी स्वाधीनताओं को बचाने की ख़ातिर ही नहीं बल्कि नई स्वाधीनताएँ स्थापित करने के लिए लड़ रहे हैं। इस ख़याल से नहीं कि उससे हम पुराने संसार का बचाव कर सकें, बल्कि एक श्रेष्ठतर संसार की स्थापना के लिए।

"अगर चीन ख़त्म हो जाता है तो क्या भारत जीवित रह सकेगा ? अगर जर्मनी एशिया-माइनर या मध्य-एशिया पर चढ़ आये तो क्या भारत जीवित रह सकेगा ? केवल ब्रिटेन और भारत ही मिलकर एशिया में उत्साह की एक ऐसी आग सुलगा सकते हैं जिससे हिटलर और जापानियों की योजनाएँ विफल की जा सकती हैं।"

× × × ×

कविवर रवीन्द्र इन दिनों बहुत बीमार हो गये थे और कलकत्ता में इलाज कराने के बाद शान्ति-निकेतन लौट आए थे, जहाँ उन्हें परम शान्ति प्राप्त होती थी। स्वास्थ्य-लाभ की इस अवधि में विश्व के इस महान् कवि ने कृतज्ञ संसार को अपनी अन्तिम उज्ज्वल कृति प्रदान की। उनकी इस कृति में जितनी करुणा और उत्कृष्टता थी उसकी महत्ता की तुलना केवल एक इस बात से हो सकती है कि उन्होंने अपनी मृत्यु के ठीक पहले ७ अगस्त, १६४१ को स्वयं मृत्यु के सम्बन्ध में यह कविता

लिखी थी। उनका यह कार्य उनके जीवन के सिद्धान्तों तथा उनकी विरक्ति की भावना के, जो उनके जीवन का अंग बन गई थी, सर्वथा अनुरूप था। भारत के वे महर्षि-महाकवि थे। मानवता के इस सच्चे पुजारी का, जिसने अपने देश और संसार की सेवा में अपना सारा जीवन ही लगा दिया था, अवसान राष्ट्र के लिए एक महान् क्षति थी। उसी राष्ट्र की जिसे अपनी संकट की घड़ी में वयोवृद्ध राजनैतिज्ञ, कवि और योद्धाओं की सेवाओं की आवश्यकता थी। जलियाँवाला बाग़ के हत्याकाण्ड के विरोध में और बाद में अंग्रेज़ों द्वारा प्रदर्शित की गई निर्ममता के विरोध में उपाधि त्यागने के ही दिन से जीवन की अन्तिम घड़ी तक कवि ने जहां एक ओर सरस्वती की आराधना और नवयुवकों के शिक्षाक्षेत्र में दिलचस्पी ली, वहाँ दूसरी ओर मातृभूमि की सकट की घड़ियों में उसकी मर्यादा, उसके सम्मान और उसकी स्वाधीनता की हिमायत करने में कुछ भी उठा नहीं रखा।

उपाधि त्यागते हुए लार्ड चेम्सफोर्ड के नाम उन्होंनेअपने पत्र में लिखा था—"अब वह समय आ गया है जब ये सम्मान-सूचक चिह्न हमारी लांछना की पृष्ठभूमि पर हमारी लज्जा को और भी नग्नरूप में उपस्थित कर देते हैं और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं इन सम्मान-सूचक चिह्नों से अयुक्त होकर अपने उन देशवासियों के समकक्ष आना चाहता हूँ जो अपनी तथाकथित नगण्यता के कारण मानवोचित पद से भी नीचे गिर जाते हैं।"

यद्यपि कवि की बीमारी १६३७ से प्रारम्भ हुई थी, पर वे तब अच्छे हो गये थे। ३० अक्टूबर, १६३७ में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने एक प्रस्ताव पास करके उनके स्वास्थ्य और दीर्घायु के लिए प्रार्थना की थी।

कवि ने "मृत्यु" शीर्षक से अपनी जो अन्तिम कविता लिखी थी, उसका आशय इस प्रकार है:—

> परिताप की अन्धकारपूर्ण रात्रि बारम्बार मेरे घर तक आई है। उसका एकमात्र अस्त्र जो मुझे दिखाई दिया, पीड़ा की सिकुड़ी भौंहें, भय के भयानक संकेत थे, वह उस अन्धकार की कालिमा में भी दिखाई दे रहे थे।
>
> जब कभी मुझे उसकी भयपूर्ण मुद्रा का यक़ीन हुआ, तभी मुझे पराजित होना पड़ा है। जय और पराजय का यह खेल ही जीवन की भ्रान्ति है।
>
> शैशवावस्था से ही पग-पगपर यह विभीषिका, परिताप से भरी हुई मेरे पीछे छाया की तरह लगी हुई है।
>
> अनेक आशंकाओं का यह चल-चित्र—विशृङ्खलित कालिमा में निर्मित मृत्यु की कुशल कृति है।

× × × ×

जुलाई के शुरू से ही पत्र-प्रतिनिधि केन्द्रीय शासन-परिषद् के परिवर्द्धन के सम्बन्ध में बहुधा लिखने लगे थे। कुछ लोगों का ख़याल था कि ये समाचार किसी की प्रेरणा पर लिखे गये थे और दूसरों का ख़याल था कि ये सिर्फ कल्पनाएं ही हैं। इसी बीच २२ जून को जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। फलतः भारत की परिस्थिति का स्वरूप भी बदल गया। अब लोग यह कहने लगे थे कि चूंकि १२ जुलाई के रूसी और ब्रिटिश समझौते के अनुसार रूस ब्रिटेन का सहयोगी राष्ट्र बन गया है, इसलिये भारत के राजनीतिक बन्दियों—विशेषकर साम्यवादियों और नज़रबन्दों को मुक्त कर देना चाहिए; लेकिन वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि रूस और जर्मनी में लड़ाई छिड़ जाने के परिणामस्वरूप नई परिस्थितियां पैदा हो गई थीं और

प्रत्यक आदमी उसके बारे में पृथक्-पृथक् राय दे रहा था। रायवादियों, किसान-सभा वालों और साम्यवादी संगठनों ने भी इसी प्रकार अपनी-अपनी विचारधाराएं बना लीं। अखिल भारतीय किसान-सभा और कुछ साम्यवादी तथा मज़दूर संघवादी रूस को ही भारतीय किसानों और मज़दूरों का आशा-केन्द्र बताने लगे। वे रूस को अपना पितृदेश समझने लगे; परन्तु कांग्रेस के खयाल से भारत ही उनकी मातृभूमि थी। इसलिये जाहिर है कि किसानों और मज़दूरों के लिए भारत को अपनी मातृभूमि और रूस को अपनी पितृ-भूमि समझने में कोई तुक नहीं था। कहने का मतलब यह कि उनकी एक टांग हिन्दुस्तान में और दूसरी रूस में थी। वे दो नावों पर सवार थे। इन लोगों ने रूस की तन, मन और धन से पूरी मदद करने के लिए प्रस्ताव पास किए। साथ ही वे ब्रिटिश विरोधी होने का भी दम भरते रहे। युद्ध के पक्षपाती, ब्रिटेन के विरोधी और रूस के पक्षपाती लोगों ने देश को विभिन्न विचार-धाराओं को भ्रमजाल में डाल दिया। कुछ समय के लिए देश में अव्यवस्था-सी फैल गई। लोग भ्रम में पड़ गये।

ये दुविधाएं और पेचीदगियां तो एक ओर रहीं, वास्तविकता यह थी कि सरकार इस बात से बड़ी परेशान थी कि लड़ाई भारत के द्वार तक आ पहुंची थी। यद्यपि पार्लमेण्ट में प्रति सप्ताह श्री सोरेन्सन, श्री गालवे और दूसरे मज़दूर-दलीय सदस्य, श्री एमरी के यह समझाने की कोशिश करते रहते कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति बदल गई है। इसलिए ब्रिटेन की भारतीय नीति में भी परिवर्तन होना आवश्यक है; परन्तु वे भला ये बातें कहां माननेवाले थे। फिर भी यह साफ़ ज़ाहिर था कि ब्रिटेन के समाचार-पत्रों का एक वर्ग भारतीय-नीति में परिवर्तन करने का पक्षपाती था। इसे ध्यान में रखते हुए भारत-सरकार चाहती थी कि अगर संभव हो तो उसे अपने युद्ध-प्रयत्न में जनता की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त हो जाए और इस उद्देश्य के लिए वह चाहती थी कि अगर गति-रोध दूर न हो सके तो भी कम-से-कम भारत के निहित स्वार्थों के साथ उसका मेल-जोल स्थापित हो जाए और वे दोनों सुर-में-सुर मिलाकर अपना काम जारी रख सकें। २१ जुलाई को इन सात भारतीयों—सर सुलतान अहमद, सर होमी मोदी, सर अकबर हैदरी, श्री अणे, श्री एन० आर० सरकार, श्री राघवेन्द्र राव और सर फिरोजखां नून को वाइसराय की शासन-परिषद् में नियुक्त किए जाने की घोषणा की गई। इनके अलावा श्री रामस्वामी मुदालियर को भी इसमें शामिल कर लिया गया। इस प्रकार वाइसराय की शासन-परिषद् में आठ भारतीय, तीन यूरोपियन सदस्य और प्रधान-मंत्री थे। "डेली हेरल्ड" ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि सरकार की इस कार्रवाई का महत्त्व इससे अधिक और कुछ भी नहीं कि भारतीयों को कुछ और नौकरियां दे दी गई हैं। इसके अलावा उक्त पत्र ने सारी समस्या पर ही बिल्कुल नये सिरे से और नये दृष्टिकोण से पुनर्विचार करने पर ज़ोर दिया। यहां तक भारत के उदारवादी भी इस परिवर्तन से सन्तुष्ट नहीं हो सके।

जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि यह घोषणा रूस और जर्मनी की लड़ाई छिड़ने के ठीक एक महीने बाद की गई थी तो हमें भारत-सरकार के इस वक्तव्य में कि "युद्ध के सिलसिले में काम का अधिक दबाव और ज़ोर बढ़ जाने के कारण" उसने शासन-परिषद् में विस्तार करने का फ़ैसला किया है, कुछ तुक नहीं दिखाई देती। सरकारी विज्ञप्ति के इस कथन से कि यह कार्रवाई सिर्फ़ कानून, और रसद तथा व्यापार और श्रम, विभागों को पृथक् करने, शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि-विभाग के वर्तमान विभागों को शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि तथा भारतीय समुद्र-पार के अलग-अलग विभागों में विभक्त करने और सूचना तथा नागरिक रक्षा के नये विभागों

की स्थापना कर के लिए की गई है, भारत-सरकार स्वयं अपराधी साबित हो जाती है। इसकी आलोचना करते हुए डा० सप्रू ने निर्दल नेता-सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में पूना में कहा था कि आज देश में चारों ओर से यह पूछा जा रहा है कि क्या रक्षा, अर्थ और यातायात विभागों में लड़ाई की वजह से काम का ज़ोर नहीं बढ़ा ? शासन-परिषद् में इस विस्तार के कारण प्रत्यक्ष थे और इन पर २१ जुलाई को शिमला से जारी की गई एक विज्ञप्ति में प्रकाश डाला गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि—इस तथा कथित "गैर-राजनैतिक और गैर-सांप्रदायिक" परिषद् में तीन सरकारी और आठ गैर-सरकारी सदस्य हो गये, जबकि उससे पहले प्रधान सेनापति को छोड़कर शासन-परिषद् में चार सरकारी और तीन गैर सरकारी सदस्य हुआ करते थे।

यह दावा किया गया था कि इस घोषणा के अनुसार प्रधान राजनीतिक दलों के तत्कालीन रुख़ को देखते हुए अगस्त-प्रस्तावों को कार्यान्वित करने की चेष्टा की गई है। इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि अगस्त के प्रस्तावों के बाद से सरकारी नीति में किसी क़िस्म का परिवर्तन नहीं किया गया। शासन-परिषद् के विस्तार का उद्देश्य युद्ध-रत राष्ट्र के लिए कार्यकुशल सरकार की स्थापना करना है और ये परिवर्तन मौजूदा विधान के अन्तर्गत किये गये हैं और इनके कारण भविष्य के वैधानिक निर्णय पर जो राजनैतिक दलों के पारस्परिक समझौते से किया जाएगा—किसी क़िस्म का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

शासन-परिषद् के इस विस्तार और राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् की स्थापना के पीछे काम करने-वाली नीति का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया था कि उक्त दोनों बातें महज़ युद्धकालीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए की गई हैं और इनका मकसद किसी राजनैतिक दल की मांग को पूरा करना नहीं है। इस कार्रवाई के परिणामस्वरूप किसी भी राजनैतिक मांग को न तो दृष्टि से ओझल ही किया गया है और न उसके विरुद्ध कोई क़दम उठाया गया है। अगस्त-प्रस्ताव के अन्तर्गत किये गये वायदे अब भी ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। यह भी कहा गया था कि जिन भारतीयों को शासन-परिषद् में लिया गया है, भारतीयों के प्रतिनिधियों की हैसियत से उनकी स्थिति सर्वथा अविवादास्पद है। वे अपने ओहदों पर तब तक बने रहेंगे जब तक सम्राट् की मर्जी होगी।

सरकारी तौर पर यह घोषणा भी की गई कि शासन-परिषद् के मौजूदा और नये सदस्यों को ६६,०००) सालाना वेतन मिलेगा जबकि उससे पहले यह वेतन ८०,०००) सालाना था। यह आशा भी प्रकट की गई कि नये सदस्य अविलम्ब अपने ओहदे संभाल लेंगे।

नागरिक रक्षा और सूचना के जो दो नये विभाग स्थापित किये गए थे, उनके सम्बन्ध में यह कहा गया कि पहले विभाग का सैनिक विभाग से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा; लेकिन इसमें मुख्यतः हवाई हमले से रक्षा का काम, और न केवल हवाई हमलों के तात्कालिक ख़तरे अथवा प्रभाव बल्कि शत्रु-द्वारा स्थल अथवा नौसैनिक बमवर्षा का मुकाबला करने के लिये आवश्यक साज-सामान की व्यवस्था और सैनिक संगठनों की स्थापना भी शामिल है। इसके अलावा इस विभाग के अन्तर्गत शत्रु की जल-स्थल और हवाई कार्रवाई का प्रतिरोध करने के लिये आवश्यक सर्विसों को कायम रखने, शरणार्थी जनता अथवा बेघर लोगों की देखभाल और डर दूर करने का काम इत्यादि बातें भी शामिल होंगी। यह आशा प्रकट की गई थी कि इंगलैण्ड की भाँति नागरिक-रक्षा-विभाग भी एक बड़े और महत्त्वपूर्ण विभाग का रूप धारण कर लेगा और इसलिए उसे किसी और दूसरे विभाग में शामिल कर देना असंभव था। इस विभाग के सदस्य

श्री ई० राघवेन्द्र राव उस समय इंगलैण्ड में थे। इसलिये उनसे कहा गया कि भारत लौटने से पहले वे नागरिक रक्षा के कार्यों का विशेष रूप से अध्ययन कर लें।

सूचना-विभाग का काम-देश के युद्ध-प्रयत्न के एकीकरण और जनता के नैतिक साहस तथा विश्वास को बनाए रखना था।

यह दावा किया गया था कि परिवर्द्धित शासन-परिषद् में जो लोग लिए गये हैं वे इस बात का सबूत हैं कि वाइसराय और सम्राट् की सरकार उत्तरदायित्वपूर्ण विभागों को संभालने के लिये यथासंभव उच्चतम कोटि के और वास्तविक रूप से गैर-सरकारी प्रतिनिधियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए इच्छुक है।

यह भी कहा गया कि युद्ध की परिस्थित में तेजी से होनेवाले परिवर्तनों को देखते हुए और भारत के करीब युद्ध के पहुँच जाने पर संभवतः भविष्य में भूतकाल की अपेक्षा सरकारी व्यवस्था पर बहुत अधिक दबाव पड़े और इसलिए यह प्रबन्ध करना आवश्यक है कि शासन-परिषद् को उस समय किसी बड़ी कठिनाई का सामना न करना पड़े। यह प्रबन्ध करना भी आवश्यक है कि कहीं सदस्य अपने विभागों के अत्यधिक काम के कारण अपने प्रधान कार्यालय में ही न फँसे रहें। उनके लिए भारत का दौरा करना भी संभव और आसान होना चाहिये।

यह कहा गया कि परिवर्द्धित शासन-परिषद् और राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् उस सरकारी मशीन के दो मुख्य अंग हैं, जिसमें विस्तार करने का फैसला किया गया है। यदि सुरक्षा-परिषद् को अपना वह मकसद पूरा करना है जिसके लिये वह बनाई गई है तो उसके लिये शासन-परिषद् के सदस्यों को अपना काफ़ी समय उस ओर लगाना पड़ेगा।

इसके साथ ही २२ जुलाई को भारत-मंत्री श्री एमरी ने भारत और युद्ध की परिस्थिति के बारे में पार्लमेण्ट में एक श्वेत-पत्र उपस्थित किया। यह श्वेत-पत्र न्यूनाधिक रूप में पिछले ग्यारह महीनों की घटनाओं का सिंहावलोकन और वाइसराय द्वारा जारी की गई विज्ञप्ति की पुनरावृत्तिमात्र था।

वाइसराय की शासन-परिषद् के विस्तार पर जो प्रतिक्रिया हुई वह बड़ी दिलचस्प थी। श्री जिन्ना इस बात से तिलमिला उठे कि वाइसराय ने स्वयं लीग के प्रधान और उनकी कार्य-समिति से सलाह-मशविरा लिये बग़ैर ही उनके आदमियों से बातचीत की। उन्होंने बंगाल, पंजाब और आसाम के प्रधानमंत्रियों के ख़िलाफ़ अनुशासन-सम्बन्धी कार्रवाई करने की धमकी दी। सिन्ध के प्रधान मंत्री का लीग से कोई ताल्लुक़ न था। स्वयं सर सिकन्दर हयात ख़ाँ पंजाब असेम्बली में यूनियनिस्ट पार्टी के टिकट पर चुने गए थे। सर सिकन्दर हयात की तरह ही श्री फजलुलहक भी लीग की बजाय बंगाल की कृषकप्रजा-पार्टी के टिकट पर चुने गये थे। सिर्फ सर सादुल्ला ही लीग के शिकार थे, पर वे भी चुनाव के समय उसके साथ नहीं थे। यह लीग ही थी जो उनकी मिन्नतें, खुशामदें कर रही थी, न कि वे लोग लीग के आगे-पीछे घूम रहे थे। अगर श्री जिन्ना वस्तुतः अनुशासन-सम्बन्धी कार्रवाई करते हैं तो उसका परिणाम यही होगा कि पंजाब और बंगाल के प्रधान-मंत्री उस सौभाग्य से वंचित हो जायंगे—जो एक संदिग्ध लाभ किन्तु निश्चित भार-स्वरूप ही था; लेकिन इन तीनों प्रान्तों के प्रधान-मंत्रियों का कहना था कि अगर लीग चाहती है कि वे प्रधान-मंत्री पदों पर बने रहें तो उन्हें अपनी उस हैसियत से सुरक्षा-परिषद् के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ेगा। इस युक्ति को स्वीकार करना कठिन था।

भारत की दलित जातियों के एक नेता अर्थात् डा० अम्बेदकर पर इसकी प्रतिक्रिया बड़ी आश्चर्यजनक हुई।

डा० अम्बेदकर ने श्री एमरी के नाम नीचे लिखा समुद्री तार भेजा.—

"आपने मुसलमानों को लगभग हिन्दुओं जितना अर्थात् ४३ प्रतिशत प्रतिनिधित्व देकर ६ करोड़ दलितों का अपमान किया है। यह बहुत ही आश्चर्यजनक बात है। सरकार ने केवल कुछ संप्रदायों को ही गिरवी रख दिया है। आपने यह स्वीकार किया था कि दलित वर्ग भारत के राष्ट्रीय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण और प्रधान अंग है और किसी भी वैधानिक परिवर्तन के लिए उनकी सहमति आवश्यक है। इस प्रकार आपने लड़ाई में उनके सहयोग से अनुचित लाभ उठाया है। वाइसराय की शासन-परिषद् में उन्हें न लेने का साफ मतलब यह है कि आप पर भरोसा नहीं किया जा सकता। हमने अंग्रेजों से कभी सहायता नहीं मांगी और न उनके समर्थन की याचना ही की है। हम तो केवल न्याय चाहते हैं। दलित जातियां शासन-परिषद् में अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं हैं। इसलिए हम आपसे ज़ोरदार आग्रह करते हैं कि आप हमारी यह बात अवश्य ही स्वीकार कीजिए। हमें कोई नुक्सान नहीं पहुँचा सकता।"

'हितवाद' का कथन था कि श्री अणे का वाइसराय की परिषद् में जाना आसान अथवा सरल नहीं है, क्योंकि अखबारों में छपे समाचारों से प्रकट होता था कि पं० मदनमोहन मालवीय जी ने श्री अणे से कहा है कि वे कांग्रेस राष्ट्रवादी दल के नेतृत्व से इस्तीफा देदें। श्री अणे और भी होशियार निकले और उन्होंने जुलाई के अन्त में कांग्रेस से भी इस्तीफा दे दिया। महामाननीय श्रीनिवास शास्त्री-जैसे अनुभवी और कुशल व्यक्ति का कथन था कि मुझे तो इस घोषणा से कोई लाभ होता नजर नहीं आ रहा। सरकार ने न तो अपनी स्थिति ही सुदृढ़ बनाई और न किसी भी अंश में जनता की मांग ही पूरी करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर गांधीजी का विचार था कि इससे कांग्रेस की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न उससे कांग्रेस की मांग ही पूरी होती है। एक सवाल का जवाब देते हुए गांधीजी ने कहा, "मैं तत्काल यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अखिल-भारतीय कांग्रेस-महासमिति के सदस्य जो चाहें करें। मुझे उन्हें ऐसा करने से रोकनेका कोई अधिकार नहीं। महासमिति ने मुझे जो अधिकार प्रदान किये हैं, उनकी वजह से मैं किसी तरह से भी सदस्यों की पूर्ण आजादी में बाधा नहीं पहुँचा सकता। जिस संस्था ने मुझे ये अधिकार दिये हैं वह किसी भी समय उन्हें वापस ले सकती है अथवा नामंजूर कर सकती है।"

सिक्खों ने इसे अपनी सारी जाति का अपमान समझा कि उनका एक भी आदमी केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में न लिया जाए और खासकर उस हालत में जबकि इस विस्तार का असली उद्देश्य सरकार के युद्ध-प्रयत्न को प्रोत्साहन देना है।

स्वयं सरकार का दावा भी यही था कि यह परिषद् महज एक युद्ध-मंत्रिमण्डल है और इसकी आवश्यकता इसलिए महसूस की गई कि लड़ाई के कारण काम बहुत बढ़ गया था। सरकार की इस उक्ति और तर्क में भी जान न थी; क्योंकि पूना के सर्वदल सम्मेलन में डा० सप्रू ने अपने अभिभाषण में प्रश्न किया था कि यह कैसे हो सकता है कि केवल भारतीय सदस्यों के महकमों में ही काम बढ़ा हो और जो महकमें अंग्रेजों के अधीन थे उनमें काम का जोर न बढ़ा हो? यह कैसे संभव था कि श्री क्लो के यातायात, श्री मैक्सवेल के गृह और श्री रेजमैन के अर्थ-विभागों को काम की अधिकता के कारण सहायता की जरूरत न थी। डा० सप्रू ने तानाज़नी करते हुए और मज़ाक में पूछा कि क्या श्री रेजिनाल्ड, मैक्सवेल ऐसे जरूरी व्यक्ति हैं कि उनके

बिना सरकार का काम ही नहीं चल सकता ? लेकिन श्री एमरी और भारत-सरकार ने समझा कि शासन-परिषद् का यह विस्तार किसी वैधानिक परिवर्तन का अंग नहीं है और उनका यह ख़याल बिलकुल ठीक था; क्योंकि उनके मुताबिक ८ अगस्त के प्रस्ताव ज्यों-के-त्यों क़ायम थे और उन पर अमल करना स्वयं भारतीयों का काम था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रिटेन का प्रमुख पत्र "डेली हैरल्ड" बृटिश सरकार की भारतीय नीति का ज़ोरदार विरोध कर रहा था और श्री एमरी पर दबाव डाल रहा था कि वे सारी परिस्थिति पर फिर से सोच-विचार करें। इसी प्रकार भारत से सहानुभूति रखनेवाले मज़दूर-दलीय सदस्य सदा की भांति पार्लमेण्ट में भारत विषयक प्रश्न उठा रहे थे और मांग कर रहे थे कि इस पर विचार करने के लिए कोई दिन निर्धारित किया जाय। चुनांचे पहली अगस्त को श्री एमरी ने कहा कि ब्रिटेन लड़ाई के बाद यथासंभव शीघ्र-से-शीघ्र भारत को स्वतंत्रता और बराबरी का दरजा देने को हमेशा तैयार है। आपने कहा कि सवाल यह नहीं है कि भारत को कब स्वाधीनताप्राप्त-उपनिवेश घोषित किया जायगा, बल्कि प्रश्न तो यह है कि वह देश का शासन किस ढंग से चलाएगा ? "इस विलम्ब का एकमात्र कारण यह है कि अभी तक भारतीय यह फ़ैसला ही नहीं कर सके कि वे देश का शासन किस ढंग से करेंगे।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि श्री एमरी के सभी भाषणों का मूल तत्व एक ही था, "कुछ भी न किया जाय", फिर भी समय-समय पर उन्होंने जो घोषणाएँ कीं, वे एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर थीं और ऐसा प्रतीत होता था कि वे अपनी इस कला में प्रवीण होते जा रहे हैं। आपने बताया कि भारतीय विधान पास करने से पहले प्रश्न यह था कि क्या ब्रिटेन भारत-सरकार की सम्पूर्ण सत्ता भारतीयों को हस्तान्तरित कर दे और यदि ऐसा हो तो यह किस सीमा तक की जाय—"यह एक ऐसा प्रश्न था जिस पर न केवल भारतीय नेताओं और पार्लमेण्ट में मतभेद था, बल्कि स्वयं पार्लमेण्ट में भी एक राय न थी।" आपने यह भी बताया कि किस तरह से अब यह सिद्धान्त का प्रश्न विवादास्पद नहीं रहा। आगे आपने कहा कि "हमारे सम्मुख आज प्रमुख प्रश्न यह नहीं है कि भारत को अपना शासन स्वयं करना चाहिए या नहीं, बल्कि यह है कि वह शासन किस ढंग से करे; किस प्रकार के विधान के अन्तर्गत वह अपनी एकता स्थापित कर सकता है और साथ ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त करके देश के राष्ट्रीय जीवन के प्रधान तत्वों को उचित रूप से आत्म-निर्णय का अधिकार दे सकता है।" आपका विचार था कि १९३५ के भारतीय विधान का सफलता के सम्बन्ध में जिसका आधार ब्रिटेन की उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजातंत्र पद्धति थी, बाद के अनुभव और प्रान्तीय स्वायत्त शासन के वास्तविक संचालन के परिणामस्वरूप संदेह उत्पन्न हो गया है। इसमें कोई शक नहीं कि जहाँ तक ब्रिटेन का सवाल है वहाँ एक दल का शासन होता, लेकिन देश के प्रति वफ़ादारी दल की वफ़ादारी से बड़ी समझी जाती है। वहाँ राष्ट्र का हित सर्वोपरि समझा जाता है। राष्ट्र के हितों के मुक़ाबले में किसी दल-विशेष के हित इतना महत्त्व नहीं रखते। श्री एमरी का कहना था कि ब्रिटेन जैसी परिस्थितियाँ भारत में मौजूद नहीं हैं; अर्थात् भारत में यह सम्भव नहीं था कि आज का अल्पमत कल बहुमत में परिवर्तित हो जाय। लेकिन हमारे लिए यह समझना बड़ा मुश्किल है कि क्यों श्री एमरी भारत में दलों को धार्मिक और सांप्रदायिक आधार पर स्थापित करने की कल्पना कर रहे थे और इसलिए उन्हें हिन्दू और मुस्लिम दलों में बाँट देना चाहते थे। ऐसी हालत में उन्हें चाहिए था कि वे ब्रिटेन के दलों को भी प्रोटेस्टैण्ट और रोमन कैथलिक दलों में विभक्त करते;

अर्थात् अपने यहाँ के दलों की कल्पना भी धार्मिक और साम्प्रदायिक आधार पर ही करते। तब इस अवस्था में ब्रिटेन का अल्पमत भी कभी बहुमत में नहीं परिवर्तित हो सकता था। नहीं, यह ऐसा नहीं था; बल्कि बात दरअसल यह है कि भारत में यद्यपि सभी अल्पमतों को सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त हैं, फिर भी अभी यहाँ की जनता का विकास हो रहा है और हमें चाहिए कि हम उसका विकास एक ऐसे समान राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर करें जिसमें समस्त राष्ट्र के आर्थिक स्वार्थों की प्रधानता रहे। उस अवस्था में इन दलों के परस्पर-विरोधी विचारों का आधार भी ये ही आर्थिक स्वार्थ होंगे। अगस्त १९४० में श्री एमरी ने कहा था कि, "प्रान्तों में एक-दलीय शासन के अनुभव से भारत के राष्ट्रीय जीवन के महान् और शक्तिशाली तत्वों की ऐसी सही या गलत धारणा बन गई है कि वर्तमान विधान की केन्द्रीय सरकार-सम्बन्धी धाराओं के अन्तर्गत अथवा उसमें किये गए किसी अन्य ऐसे संशोधन के अन्तर्गत जिसके फलस्वरूप देश का नित्यप्रति का शासन-प्रबन्ध बहुमत के नियंत्रण में ही रहेगा, उनका जीवन तथा उनकी विभिन्न स्वतंत्रताएं सुरक्षित नहीं रह सकेंगी; क्योंकि उस हालत में बहुमत पर आधारित यह सरकार अन्धाधुन्ध "बाहर की कार्यकारिणी का आदेश" मानती रहेगी। लेकिन अगस्त १९४१ में श्री एमरी के लिए वही राग अलापते रहने का साफ़ मतलब यह था कि वे वास्तविक प्रश्न को अन्धकार में रखना चाहते थे। उनका असली मक़सद वस्तुस्थिति पर पर्दा डालना था। अगर प्रान्तीय स्वायत्त शासन के साथ-साथ केन्द्र में भारतीय सरकार का ढांचा भी बदल दिया जाता तो यह कठिनाई ही सामने न आती। परन्तु केन्द्र मे जिम्मेवार हकूमत कायम किये बिना, प्रान्तों में जिम्मेदार सरकारें स्थापित करना एक लड़खड़ाते हुए ढांचे को खड़ा करने के समान था। माना कि यह ढांचा ऊपर से खूबसूरत था लेकिर इन दोनों ढांचों—प्रान्तीय और केन्द्रीय—को जोड़नेवाली कोई मजबूत कड़ी भी तो चाहिए थी? ऐसी केन्द्रीय सरकार के अभाव के कारण ही तो बाहर की कार्यकारिणी के आदेशों को मानने की ज़रूरत महसूस हुई, लेकिन सवाल तो यह है कि क्या यह कार्य-कारिणी कोई बाहरी शरारती अथवा ख़ामख़ाह दखल देनेवाली संस्था थी? क्या उसे देश के हितों से कोई मतलब न था? नहीं, यह ऐसा नहीं था। क्या सभी नाज़ुक मौकों पर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री सबसे पहले ब्रिटेन के यूनियन एसोसियेशन का विश्वास प्राप्त करने की कोशिश नहीं करते? बाल्डविन ने यही किया और चेम्बरलेन ने भी। अगर ब्रिटेन में अविश्वास का कोई प्रस्ताव पास हो जाय तो उसका मतलब होता है प्रधानमंत्री और मन्त्रिमण्डल की बरखास्तगी। और यह काम पार्लमेण्ट नहीं करती बल्कि स्वयं श्री एमरी के शब्दों में इसकी जिम्मेवारी होती है, "बाहर की एक कार्यकारिणी के आदेशों को अन्धाधुन्ध पालन करने पर।" श्री एमरी ने कांग्रेस-राज अथवा हिंदू-राज के ख़तरे का ज़िक्र किया है, जिसकी वजह से मुसलमानों की तरफ़ से हिन्दुस्तान को हिन्दू और मुसलिम—दो राज्यों में बाँट देने की जोरदार माँग की जा रही है। आगे श्री एमरी फरमाते हैं कि "इस समय मुझे इस योजना के सम्बन्ध में उठाई गई बहुत-सी अनिवार्य आपत्तियों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। मैं तो यही कहूँगा कि इसका परिणाम स्थायी अल्पमतों को कुछ अपेक्षाकृत छोटे-छोटे इलाक़ों में भेज देना होगा; लेकिन इससे भी तो समस्या हल नहीं हो सकेगी। यह बात तो निराशा की प्रतीक है और इसे मैं सर्वथा अनावश्यक निराशा की भावना समझता हूँ; क्योंकि मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि हिन्दुओं और मुसलमानों में काफी रचनात्मक योग्यता और बुद्धि और काफी सद्भावना तथा पर्याप्त देश-भक्ति विद्यमान है जिसकी सहायता से वे एक ऐसा वैधानिक हल ढूँढ सकते हैं, जिससे सभी संप्रदायों और सभी हितों को

सन्तोष हो सकता है और उन्हें उचित मान्यता प्राप्त हो सकती है। ख़ैर जो कुछ भी हो, पिछले साल अगस्त में लार्ड लिनलिथगो ने सम्राट् की सरकार की ओर से जो महत्त्वपूर्ण और व्यापक घोषणा जारी की थी, उसकी पृष्ठभूमि में यही भावना काम कर रही थी। श्री एमरी यह बात भी स्वीकार करते हैं कि "मुसलमानों और दूसरे महत्त्वपूर्ण तत्वों ने अगस्त की इस घोषणा का स्वागत किया। इसलिए कि इससे उन्हें यह आश्वासन मिलता था कि ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस उनकी पीठ के पीछे ही उनके भाग्य का निपटारा नहीं कर सकेंगे। लेकिन इसके विपरीत यह बात भी बिलकुल सही है कि इससे न केवल कांग्रेस को ही धक्का लगा, बल्कि भारत और यहाँ तक कि ब्रिटेन के भी बहुत से नरम दलीय तत्वों को धक्का पहुँचा; क्योंकि इस घोषणा में यह बात स्पष्ट रूप से कह दी गई थी कि भारत को अपने लक्ष्य तक पहुँचने से पहले एक और अनिवार्य परन्तु नई अवस्था में से होकर गुज़रना पड़ेगा।" आपने सुलह-सफ़ाई और आपसी बातचीत-द्वारा समझौता करने की कार्य-प्रणाली पर बहुत जोर दिया। सत्याग्रह से नई परिस्थितियाँ नहीं सुलझ सकेंगी। आपने कहा कि इस वक्त हमने जो अन्तर्कालीन नीति निर्धारित की है वह लक्ष्य को देखते हुऐ अत्यधिक व्यावहारिक है और उससे किसी वैधानिक प्रश्न पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता और जो आदमी युद्ध-प्रयत्न में सहायता दे रहे हैं, उनके प्रति कोई वायदे भी नहीं किया गया। सम्राट् की सरकार की यह हार्दिक आकांक्षा है कि भारत का अधिक-से-अधिक शासन-सूत्र स्वयं भारतीयों के ही हाथो में रहे। इसका सबूत वायसराय की शासन-परिषद् और युद्ध-सलाहकार परिषद् की स्थापना है। लेकिन जब इस सम्बन्ध में वायसराय ने राजनीतिक दलों के नेताओं का दरवाजा खटखटाया तो उन्हें निराशा का मुँह ताकना पड़ा। कांग्रेस ने असहयोग के मार्ग को अपनाया। वायसराय की शासन-परिषद् और उनके युद्ध-मंत्रिमण्डल के विस्तार के पीछे मुख्य बात परिषद् की कार्यकुशलता थी। महत्त्वपूर्ण पद और स्थान दिये जाने की व्यवस्था की गई थी। अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात ऐसे योग्य व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना था जो स्वेच्छा से और सामूहिक रूप से परिषद् की जिम्मेवारी और कार्य-भार अपने कन्धों पर उठाने को तैयार थे। और श्री एमरी तो यहाँ तक कह गए कि इस दिशा में वाइसराय को बड़ी भारी सफलता मिली है। यह बात नहीं थी कि उन्हें सिर्फ़ अपनी हाँ-में-हाँ मिलानेवाले व्यक्तियों का दल मिल गया था। आपने कांग्रेस की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा, "मैं अनुभव करता हूँ कि पिछली दो पीढ़ियों से भारत ने कांग्रेस-द्वारा चलाए गए राष्ट्रीय आन्दोलन से बहुत कुछ पाया है। वास्तव में अगर देखा जाय तो हम यह कह सकते हैं कि इन्हीं वर्षों में कांग्रेस ने भारत के लिए जिन आदर्शों का प्रतिपादन किया है, वे वास्तव में वही आदर्श हैं, जिनका समर्थन हम भी करते हैं।......और कांग्रेस मौजूदा विधान के संघीय अंग के कार्यान्वित करने में मदद करती, तो क्या कोई व्यक्ति यह सन्देह कर सकता है कि स्वराज्य के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान आज के मुकाबले में कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है? क्या कोई भी यह संदेह कर सकता है कि भारत सरकार में कांग्रेस की स्थिति इतनी मजबूत और शक्तिशाली होती जितनी कि शायद वह फिर कभी हासिल न कर सके?"

श्री एमरी ने अपने भाषण में जो सवाल और विषय उठाये थे उनका उन्हें तत्काल जवाब भी मिल गया। श्री जयकर जैसे शान्त वृत्तिवाले राजनीतिज्ञ ने श्री एमरी से एक सीधा सवाल किया कि क्या ब्रिटिश जनता ने १६३१ में दूसरी गोलमेज परिषद् के अवसर पर मुसलमान और

हिन्दू सदस्यों द्वारा संयुक्त रूप से पेश किये गये स्मृतिपत्र का कोई उत्तर अब तक दिया है ? श्री एमरी अक्सर यह कहा करते थे कि हिन्दुओं और मुसलमानों में देश की सरकार के बारे में कोई समझौता ही नहीं होता। इस प्रकार उनकी इस शिकायत का यह मुंहतोड़ जवाब था। लेकिन श्री एमरी की वैधानिक और कानूनी, ऐतिहासिक और भौगोलिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक बुद्धिमत्ता अधिकाधिक प्रखर होने लगी जब वे यह कहने लगे कि वास्तविक समस्या हिंदू-मुस्लिम एकता नहीं, बल्कि भौगोलिक इकाइयों, शेष अल्प-संख्यकों और प्रान्तों की एकता की है।

जहां तक कामन सभा में पहली अगस्त को श्री एमरी-द्वारा भारतीय उद्योग पर दिये गए वक्तव्य का सम्बन्ध है, उसका श्री वालचन्द हीराचन्द ने मुंहतोड़ जवाब दिया था। आप एक ऐसे औद्योगिक थे जिन्हें विजगापट्टम में, जहाजी उद्योग तथा मैसूर में वायुयान-निर्माण उद्योग को उन्नत करने में गहरी दिलचस्पी थी। उन्होंने बड़ी बेताबी से श्री एमरी के जवाब में उन्हें एक तार भेजा कि मुझे अपने इस प्रयास के लिए ४० लाख डालर के अमरीकी ऋण और दस विशेषज्ञों की जरूरत है; लेकिन उन्हें यह मदद नहीं मिल सकी। परन्तु निराशा के इन बादलों में आशा की नहीं, बल्कि धुंधले-से प्रकाश की एक रेखा दिखाई दी, और यह रेखा ब्रिटेन के मजदूर दल का रुख था। ब्रिटेन के मजदूर-सम्मेलन ने, जिसके अध्यक्ष श्री डोबी थे, यह फैसला किया कि ब्रिटेन को भारत की अपनी आजादी का हक मान लेना चाहिये और उसे ऐसी सुविधा देनी चाहिये कि जिससे भारतीय स्वयं अपने लिये कोई उपयुक्त विधान बना सकें। प्रोफेसर लास्की ने बताया कि इस सम्बन्ध में कोई तारीख निश्चित करो अन्यथा भारत के लिए सरकार की स्थापना करने में कोई कठिनाई नहीं उपस्थित हो सकती।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि श्री एमरी सरीखे व्यक्ति पर भी भारत में होनेवाले विचार-विमर्श का प्रभाव पड़ा हो। लेकिन आवश्यकता तो इस बात की थी कि राजनैतिक परिस्थित का सिंहावलोकन किया जाता न कि राजनैतिक बातचीत की विस्तृत बातों की छानबीन या उनकी उधेड़-बुन की जाती। जिस प्रकार मनुष्य के स्वास्थ्य का अन्दाजा हम उसकी डाक्टरी परीक्षा से लगा सकते हैं, उसी प्रकार देश के राजनैतिक जीवन का अन्दाजा हम राष्ट्र में प्रचलित पारस्परिक सहयोग और भ्रातृ-भावना से लगा सकते हैं। हो सकता है कि लोगों में मतभेद हों; परन्तु छोटी-मोटी बातों से सम्बन्ध रखनेवाले मतभेदों और सैद्धान्तिक मतभेदों में बड़ा अन्तर होता है; किसी कार्यक्रम की विस्तृत बातों का फैसला करते समय मतभेद का होना लाज़िमी है। ऐसी हालत में हमें देखना है कि कांग्रेस की स्थिति उस समय क्या थी और आज की उसकी स्थित क्या है ? वाइसराय की शासन-परिषद् में विस्तार और युद्ध-सलाहकार परिषद् की स्थापना के कारण हम देखते हैं कि देश में व्याप्त मतभेदों को प्रोत्साहन ही नहीं मिला, बल्कि आपसी मतभेदों की खाई और भी चौड़ी होगई। एक ओर यदि साम्यवादी दल को लोग छोड़ रहे हैं, उससे निकाले जा रहे हैं, तो दूसरी ओर समाजवादी दल की नीति भी बड़ी डावाँडोल दिखाई देती है,—कभी वे एक पक्ष का समर्थन करते हैं तो कभी दूसरे का। उधर किसानों में भी मतभेद देखने में आता है। एक पक्ष यदि विशुद्ध रूप से अपने आर्थिक हितों के बचाव का पक्षपाती है तो दूसरा राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार के हितों का समर्थक है। इसी प्रकार ट्रेड यूनियन में एक नहीं दो या तीन दल हो रहे हैं। उधर मुसलमानों में एक ओर मोमिन हैं जो कुल मुस्लिम आबादी का एक चौथाई हैं। उधर उनके अलावा राष्ट्रवादी जमीयत-उल-उलेमा, अहरारी और मुस्लिम लीगी भी हैं। इतना ही नहीं, स्वयं हिन्दू महासभा ने भी एक और नये संगठन हिन्दू लीग को जन्म दिया है। हम देखते

हैं कि ये सब मतभेद या नये संगठन सीधे ब्रिटिश सरकार की नीति का ही परिणाम हैं। ऐसी हालत में कांग्रेस अपना मस्तक ऊँचा किये एक ओर खड़ी है। उसके द्वार सभी जातियों के लिए खुले हैं। उसकी इमारत राष्ट्रीयता की भित्ति पर टिकी हुई है। और उसका संचालन-सूत्र एक ही व्यक्ति के हाथों में है जिसे विधाता ने दर्शन और धर्म के क्षेत्र से हटाकर राजनीति में ला पटका है। पिछले २५ बरस से यह व्यक्ति कांग्रेस की नीति का व्यवस्थापक और नियन्त्रक रहा है, उसी ने कांग्रेस के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसी का सिद्धान्त कांग्रेस का मूलमंत्र है। वही कांग्रेस का सच्चा दोस्त है। वास्तव में वह सारे राष्ट्र का मूर्त रूप है। यह बात श्री एमरी जानते हैं, लार्ड लिनलिथगो जानते हैं और बृटिश पार्लमेण्ट भी जानती है। इतना ही नहीं, ब्रिटेन से यह बात छिपी नहीं है; लेकिन सवाल तो यह है कि ये लोग सब कुछ जानते हुए भी सत्ता नहीं छोड़ना चाहते। बस, इसीलिए गतिरोध भी बना हुआ है।

खुरशीदबेन के कारावास का जिक्र करते हुए गांधी जी ने मंत्रिमण्डल के विस्तार और परिवर्द्धन पर आंखें खोल देनेवाली टीका की है। सभी जानते थे कि श्रीमती खुरशीदबेन दादा भाई नौरोजी की चार पोतियों में से सबसे छोटी हैं। गांधी जी ने श्रीमती खुरशीदबेन के उन पत्रों का उल्लेख किया है जो उन्होंने सजा मिलने के बाद कुछ बड़े-बड़े अफसरों को अपनी नजरबंदी के आदेशों का विरोध करते हुए लिखे थे। पहले तो श्रीमती खुरशीदबेन को बम्बई शहर की चार-दीवारी के भीतर ही नजरबन्द किया गया; लेकिन बाद में यह आदेश सारे बम्बई प्रान्त पर ही आयद कर दिया गया। आपको वर्धा जाने से रोक दिया गया और गांधीजी के शब्दों में तो सरकार "उन्हें उठाकर यरवदा सेंट्रल जेल" ले गई।

आगे चलकर गांधीजी कहते हैं कि "सरकार की इस कार्रवाई से मैं बड़े चक्कर में पड़ गया हूँ, कम से-कम मुझे तो वह समझ में नहीं आती और यह वाइसराय की शासन-परिषद् के तथा-कथित विस्तार पर एक महत्वपूर्ण और आंखें खोल देने वाली टीका है। जनता को समझ लेना चाहिये कि खुरशीदबेन का काम किसी युद्ध-विरोधी आन्दोलन का भाग नहीं है। लेकिन जनता शायद ही यह बात जानती हो कि बहुत से व्यक्ति इसी प्रकार गिरफ्तार कर लिये गए हैं और उनपर मुकदमा चलाए बिना ही उन्हें नजर-बन्द कर दिया गया है, हालांकि जहां तक मेरी जानकारी है उनके खिलाफ यह अभियोग भी नहीं कि उन्होंने कांग्रेस के आन्दोलन में भाग लेकर अथवा उससे बाहर रहकर युद्ध का विरोध किया है। उन्हें किन कारणों से नजरबन्द किया गया है, इस बारे में न तो उन्हें कोई ज्ञान है और न ही जनता को। खुरशीदबेन का उदाहरण इस बात का द्योतक है कि दूसरे व्यक्तियों के साथ भी यही व्यवहार किया गया है ?"

२६ जुलाई को डा० सप्रू की अध्यक्षता में निर्दल-नेताओं के सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन हुआ। उन्होंने वाइसराय की शासन-परिषद् के विस्तार का स्वागत करते हुए यह असन्तोष प्रकट किया कि गृह, रक्षा और अर्थ जैसे महत्वपूर्ण विभाग भारतीयों को क्यों नहीं दिये गये। इन नेताओं का खयाल है कि भारत की वैधानिक लड़ाई धीरे-धीरे चलनेवाली लड़ाई है। इस में कोई शक नहीं कि स्वयं श्री एमरी ने स्वीकार किया है कि वाइसराय की परिवर्द्धित शासन परिषद् को "पूर्ण वैधानिक सामूहिक उत्तरदायित्व के अधिकार प्राप्त होंगे।"

निर्दल नेताओं का यह सम्मेलन इसलिए भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उस में माननीय डा० एम. आर. जयकर ने भाग लिया। आप प्रिवी कौंसिल के न्यायाधीश के पद से इस्तीफा देकर प्रचार-आन्दोलन में कूद पड़े। श्री जिन्ना ने बम्बई सम्मेलन पर कटाक्ष करते हुए कहा था कि

यह सम्मेलन डच सेना की भांति था, जिसमें सभी सेनापति हैं—अर्थात् इस सम्मेलन में सभी नेता थे, अनुयायी एक भी नहीं। इसका उत्तर देते हुए श्रीजयकरने कहा -"मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि बिना सैनिकों के सेनापति बने रहना उस सेनापति से कहीं अच्छा है, जिसके सैनिक लड़ाई की पहली मार से ही घबराकर मैदान से भागने लगे हों।"

इसके प्रत्युतर में श्री जिन्ना ने कहा—"छोटे लोगों की बातें भी छोटी ही होती हैं। श्री जयकर—जैसे व्यक्ति के लिए, उन लोगों पर तानाकशी करना जो लीग का साथ छोड़ गये हैं, कुछ अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वे स्वयं अपने राजनैतिक जीवन-काल में एक नहीं कई दलों से पृथक् हो चुके हैं और यह काम उन्होंने पहली मार से घबरा कर ही नहीं किया, बल्कि उसके पहले ही झोंके से।"

आगे चलकर श्री जयकर ने कहा—"मुझे संदेह है कि श्री जिन्ना शायद यह जानते ही नहीं कि 'थोथा चना बाजे घना'। जहां तक राजनैतिक विचारों के परिवर्तन का सम्बन्ध है, १४ शर्तों से पाकिस्तान पर आजाना उन सभी परिवर्तनों के मुकाबले में बड़ा परिवर्तन है जो मैंने अपने जीवन में देखे हैं या जिनका मैंने समर्थन किया है। यह ठीक है कि मैंने जीवन में बहुत से परिवर्तन देखे हैं। पर मैंने इतना बड़ा परिवर्तन कभी नहीं देखा कि कोई अल्पसंख्यक, चाहे वह कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, अपने को जातिविज्ञान, सामाजिक शास्त्र और राजनीतिक दृष्टिकोण से और जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में अपने को बिलकुल एक अलग "राष्ट्र" कहने लग गया हो और वह अपनी पड़ोसी जातियों के साथ सिर्फ निरन्तर लड़ाई झगड़ा करके ही रह सकता हो और अपनी खिचड़ी अलग ही पकाता रहे। हमारी जिन्दगियों में पिछले कुछ महीनों में यह एक बड़ा भारी परिवर्तन देखने में आया है। पाकिस्तान प्रत्येक को शक की निगाह से देखता है और पर्दे की ओट के पीछे रहकर सब काम करता है। शायद ब्रिटेन और भारत दोनों ही जगह यह कोशिश की जारही है कि बहुमत के सिद्धान्त को बिल्कुल ही खत्म कर दिया जाय और उसकी जगह एक ऐसा विधान बना दिया जाय जिसका प्रजातंत्र के सिद्धान्तों से दूर-दराज़ का भी कोई वास्ता न हो।"

आगे श्री जयकर ने कहा, कि "केवल सरकार ही इस देश की जनता के अन्दर से गहरी निराशा की भावना को दूर करके देश के गतिरोधका अन्त कर सकती है। केवल वही भारतीयों के हाथों में सत्ता देकर सकती है। और लड़ाई के बाद एक खास अवधि के भीतर भारत को आज़ाद करने की घोषणा कर सकती है। इससे वास्तविकता की भावना पैदा हो जाएगी और हो सकता है कि इस प्रकार कांग्रेस और मुसलमानों का एक बड़ा भाग संतुष्ट हो जाय। सरकार के इस कथन से कि विभिन्न दलों में कोई आपसी समझौता नहीं है, सिर्फ यही खयाल किया जाता है कि उसका इरादा दर-असल सत्ता न छोड़ने का है। १९३५ के विधान का आधार कोई ऐसा समझौता नहीं था और यह एक सच्चाई है कि गोलमेज़ परिषद् की पार्लमेण्टरी समिति के साथ सहयोग करनेवाले भारतीयों ने संयुक्त रूप से जो स्मृतिपत्र पेश किया था उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी गई और इस बात का कोई खयाल नहीं किया गया कि उसे सभी भारतीयों ने मिलकर पेश किया था।

"मैंने ऊपर बहुमत के सिद्धान्त को खत्म करने की बात कही थी। इस सिलसिले में हमें श्री एमरी के हाल के वक्तव्य पर विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। प्रान्तों में कांग्रेस-द्वारा पद-त्याग पर टिप्पणी करते हुए श्री एमरी ने कहा है कि कांग्रेस ने स्वेच्छा से सत्ता और अधिकार का त्याग करते समय यह नहीं खयाल किया कि वे एक ऐसे विधान को तिलांजलि दे रहे हैं जिसके

अन्तर्गत उन्हें इतनी शक्ति और अधिकार हासिल थे जिसकी शायद वे फिर कभी भविष्य में कल्पना भी नहीं कर सकते। भारत की शासन व्यवस्था के सर्वोच्च प्रधान के ये शब्द बड़ा महत्व रखते हैं। इनसे साफ जाहिर है कि ब्रिटेन के प्रजातंत्रीय बहुमत के सिद्धान्त पर आधारित किसी भी विधान के लिए भारी खतरा पैदा होगया है और अगर ब्रिटिश सरकार बहुमत के प्रति मुस्लिम लीग के विरोध का पूरा-पूरा लाभ उठाए तथा इस बात से लाभ उठाए कि केन्द्रीय परिषद् में कांग्रेस ने लीग के सहयोग से बहुमत पर आधारित भारतीय विधान के अन्तर्गत संघ विधान को अस्वीकार कर दिया है तो हमें इस में तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा। हमें श्री एमरी के इन शब्दों से सावधान और सतर्क हो जाना चाहिए, क्योंकि उसके बाद के भाषणों में भी उन्होंने बड़ी होशियारी से इन्हीं बातों को दोहराया है।

"मुस्लिम लीग के नेताओं की यह एक बड़ी भारी चाल है कि एक ओर तो वे सरकार के सिर पर पिस्तौल ताने खड़े हैं और दूसरी लड़ाई के जमाने में अपनी मर्जी के बिना भारत में किसी किस्म की भी वैधानिक प्रगति नहीं होने देना चाहते। ये ही नेता कांग्रेस के साथ भी समझौते की बातचीत को असम्भव बना रहे हैं; क्योंकि वे अपनी ऐसी असम्भव शर्तों पर अड़े हुए हैं, जो उन्हें पता होना चाहिये कि किसी भी हालत में पूरी नहीं की जा सकतीं।

"ये शर्तें ऐसी हैं कि इनके आधार पर कोई बातचीत नहीं हो सकती और इसका परिणाम यह हो रहा है कि गतिरोध वैसे ही कायम है और हिन्दू बहुमतवाले प्रान्तों में प्रान्तीय शासन-व्यवस्था के लिए सिवाय पूर्ण सर्वनाश के और कुछ नहीं दिखाई देता।

"इसलिए यह बात पाकिस्तानी मुसलमानों के हित में है कि जब तक हो सके सभी तरीकों से गतिरोध को जारी रखा जाय। उन्हें इससे कोई नुक्सान नहीं पहुँच रहा और बहुमतवाले जिन प्रान्तों में कांग्रेस ने अपनी मूर्खतावश पद-त्याग किया है, वहाँ क्या बीत रही है इससे उनको कोई सरोकार नहीं।

"इसलिये यह बात उन सब लोगों के हित में है जो पाकिस्तानी मुसलमान हैं कि वे यथाशक्ति इस गतिरोध का अन्त करने में मदद करें। इसे और अधिक समय तक जारी नहीं रहने देना चाहिये। इस दिशा में हमें उपर्युक्त कारणों से सरकार या मुस्लिमलीग से किसी किस्म की सहायता की आशा नहीं रखनी चाहिये। ऐसी हालत में हमारे लिए सिवाय कांग्रेस का मुँह ताकने के और कोई चारा ही नहीं।"

आइये अब हम कुछ क्षण के लिये ब्रिटेन की हलचलों पर भी ग़ौर कर देखें। उप-भारत मंत्री ड्यूक ऑफ डेवनशायर ने ६ अगस्त को लार्ड सभा में भारत में साधारण निर्वाचन स्थगित रखने के सम्बन्ध में एक बिल पेश करते हुए कहा कि अगर इस समय भारत में चुनाव किये गये तो उससे देश में और भी मुश्किलें पैदा हो जाएंगी। परिस्थिति खराब हो जाएगी। इसके अलावा इस समय भारत बड़े भारी युद्ध-प्रयत्न में व्यस्त है और अगर अब चुनाव किये गए तो निश्चित है कि कुछ हद तक इस दिशा में रुकावट पैदा हो जाएगी।

संभवतः ब्रिटेन के वास्तविक एतराजों का जिक्र मार्क्विस आफ क्रयू ने किया। आपने कहा कि हमारे सामने इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं कि इस समय भारत में चुनाव को स्थगित रखा जाय क्योंकि, "प्रान्तों में शासन-व्यवस्था उसी हालत में जारी रह सकती है, अगर हिन्दुओं या मुसलमानों की माँगें मान ली जाएँ। इस संशोधन बिल के अन्तर्गत भारत के प्रत्येक प्रान्त में १९३५ के विधान के अनुसार बनाई गई पहली व्यवस्थापिका सभा उक्त कानून की

धारा ६१ के २ रे उपनियम का खयाल किये बिना भी लड़ाई के खत्म हो जाने के बाद एक साल तक की अवधि के लिए जारी रहेगी, बशर्ते कि उक्त विधान की धारा ६२ के २ रे उपनियम के अन्तर्गत उसे पहले ही भंग न कर दिया गया हो। इस धारा (नियम १) के अन्तर्गत उल्लिखित "युद्ध-अवधि" से अभिप्राय उस अवधि से है जिसमें १६३६ का भारत-रक्षा-विधान लागू रहेगा। लार्ड सभा में पास हो जाने के बाद जब यह बिल कामन सभा के सामने आया तो श्री एमरी ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात की जिससे प्रकट होता है कि चुनाव मुल्तवी रखने के पीछे उनका वास्तविक उद्देश्य क्या था। बिल के दूसरे प्रवचन के समय १० सितम्बर, १६४१ को श्री एमरी ने कहा, कि जब तक प्रान्तों में मंत्रिमंडल फिर से कायम नहीं हो जाते तब तक चुनाव स्थगित करना सर्वथा उचित ही है; क्योंकि अगर उससे पहले चुनाव किये गए और यह संभावना बनी रही कि प्रान्तों में मंत्रिमंडल स्थापित नहीं होंगे तो उससे सिर्फ गांधीजी की नकारात्मक नीति को ही प्रोत्साहन मिलेगा और मेरे खयाल में ऐसा करना महज़ एक मज़ाक ही होगा। इसी बीच जबकि इस बिल पर पार्लमेण्ट में बहस हो रही थी और युद्ध तीसरे वर्ष में पदार्पण कर रहा था, नागपुर और लखनऊ से यह समाचार मिला कि श्री एच० वी० हडसन, सुधार-कमिश्नर, जिनकी नियुक्ति उन्हीं दिनों हुई थी—भावी विधान के सम्बन्ध में जनता की राय जानने के लिए देश का दौरा कर रहे हैं और वे इन चार बातों के सम्बन्ध में आँकड़े एकत्र कर रहे हैं:—(१) संयुक्त-मंत्रिमण्डल, (२) ऐसी शासन परिषद् जिसे भंग न किया जा सके, (३) प्रान्तों का पुनर्विभाजन, यह आवश्यक नहीं कि यह विभाजन भाषाओं के आधार पर ही हो और (४) क्या भारत के लिये संघ अथवा संयुक्त-संघ अधिक उपयुक्त रहेगा। वास्तव में श्री हडसन को सौंपे जानेवाले काम की पूर्व-सूचना श्री एमरी ११ अगस्त और २१ नवम्बर, १६४० के अपने भाषण में दे चुके थे, लेकिन उस वक्त जनता ने इस ओर काफी ध्यान नहीं दिया। ११ अगस्त को ब्लैकपूल में श्री एमरी ने भारत का उल्लेख करते हुए कहा था कि उसे "अपनी मर्जी के अनुसार और अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विचारों के अनुसार अपना विधान तैयार करने की आज़ादी होगी। और अगर लड़ाई समाप्त होने के बाद ही इस दिशा में कोई अन्तिम फैसला किया जाय तो कोई वजह नहीं कि लड़ाई के जमाने में ही दोस्ताना तौर पर इस सम्बन्ध में आवश्यक प्रारम्भिक कार्य का अध्ययन और बातचीत न की जाए।" इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐसे समय जबकि देश के प्रधान नेता जेलों में पड़े थे, श्री हडसन इस समस्या के अध्ययन, सोच-विचार और बातचीत के प्रारम्भिक काम में जुटे हुए थे। लेकिन यह बातचीत वे किसके साथ कर रहे थे? साम्राज्यवाद के पोषकों और अगर हम यह कहें कि भारतीय राष्ट्रवाद के शत्रुओं के साथ? लेकिन इतना ही काफी नहीं था। जिस आधार पर भारत के नये विधान के सम्बन्ध में अध्ययन, सोच-विचार और बातचीत की जाती थी, उसका उल्लेख भी श्री एमरी ने अंग्रेज़ी भाषा-भाषी जनता की यूनियन के एक भोज के अवसर पर २१ नवम्बर को किया। श्री एमरी ने कहा कि "हमें एक ऐसे अंग्रेजी विधान की तलाश करनी है जिसमें भारतीय मतभेद भी सुलझ सकें और आवश्यक बातों में भारत की एकता भी बनी रहे।" इस गतिरोध का कारण आपने यह बताया कि "भारत की सर्वथा विभिन्न और जटिल परिस्थितियों में हमने ब्रिटेन जैसी प्रजातंत्रीय पद्धति को सफल बनाने की चेष्टा की है। लेकिन ब्रिटेन और स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों में उसकी सफलता का कारण यह रहा है कि उसका स्वाभाविक विकास उसकी (ब्रिटेन) विशेष ऐतिहासिक और स्थानीय परिस्थितियों में हुआ है।" गतिरोध को दूर करने की दिशा में आपने

प्रान्तों को और अधिक अधिकार देने का प्रस्ताव रखा, और कहा कि अगर हो सके तो उनका पुनर्गठन कर दिया जाय। इसके अलावा विदेशी मामलों, रक्षा के प्रश्नों और आर्थिक नीति के क्षेत्र में भी एकता स्थापित करने के मकसद से प्रान्तों को कुछ हदतक नियंत्रण रखने के अधिकार दिये जाएँ। आपने अमरीकी आधार पर एक शासन-परिषद् कायम करने का भी सुझाव रखा— जो अपने कार्यकाल में व्यवस्थापिका सभा के हस्तक्षेप से परे हो अर्थात् सभा को उसके कार्यों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न हो। आपने पेशेवार प्रतिनिधित्व का भी सुझाव उपस्थित किया।

जहाँ तक लड़ाई के दौरान में श्री हडसन को सुधार-कमिश्नर के रूप में नियुक्त करने का सवाल है, यह बात उल्लेखनीय है कि इस बार भी इस पद पर एक ऐसे व्यक्ति को ही नियुक्त किया गया जो गोलमेज-परिषद् में भाग ले चुका था।

: ११ :

आन्दोलन की प्रगति

लड़ाई छिड़े दो साल हो चुके थे। एक ओर वे लोग थे जो निरन्तर पीछे दो सालों से युद्ध-प्रयत्न का विरोध करते आरहे थे और दूसरी ओर वे लोग थे जो उसमें सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। यह मौका दोनों ही पक्षों के लोगों के लिए अपनी-अपनी स्थिति की समीक्षा करने का था। १ सितम्बर, १९४१ को स्थिति यह थी कि उस समय तक जर्मनों ने यद्यपि न तो रूस के चारों ही बड़े शहरों में से किसी पर कब्जा किया था, न उन्होंने इंग्लैंड पर हमला किया था और न वे अफ्रीका को पराजित कर सके थे, फिर भी यह कहा जा रहा था कि वे लेनिनग्राड की बस्तियों के करीब तक पहुँच गए हैं, जिससे शहर को भारी खतरा पैदा हो गया है। फिनलैंड की उत्तरी सेनाएं और जर्मनी की पूर्वी सेनाएं आगे बढ़ गईं, लेकिन दक्षिण में मार्शल वोरशियालोफ़ की सेनाओं ने जर्मन सेनाओं को तीन मील तक पीछे धकेल दिया। लेनिनग्राड का बाहरी दुनिया से सम्बन्ध काट देने और रूस को दोनों ओर से स्थल सेनाओं द्वारा घेर लेने की योजना अभी कार्यान्वित नहीं हो सकी थी। जर्मनी का खयाल था कि ओडेसा पर कब्जा हो जाने से डोन नदी के मैदान और बातुम और बाद में शायद बाकू तक का कार्य खुल जायगा। कीफ पर कब्जा होजाने के बाद यूक्रेन के खनिज, औद्योगिक और कृषि-सम्बन्धी भंडार को हथिया लेने का रास्ता खुल जायगा। मास्को पर कब्जा होजाने का नतीजा यह होगा कि पिछले बीस बरसों में रूस ने नयी सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में जो कुछ भी तरक्की की है वह सब-कुछ उसके हाथ से निकल जर्मनों के पास चली जायगी।

इस प्रकार यूरोप की परिस्थिति अभी अधर में लटक रही थी और उधर एशिया में लड़ाई के बादल घिर रहे थे, क्योंकि ३ सितम्बर को प्रिंस कोनोय ने यह संकटपूर्ण और खतरनाक खबर ब्राडकास्ट की कि जापान इस समय अपने इतिहास की सबसे अधिक नाजुक घड़ी में से गुजर रहा है। इसलिये उन्होंने जापानी जनता से तैयार रहने की अपील की। अब तक तुर्की ही एक ऐसा देश था जिसके सम्बन्ध में कोई भी बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती थी और उसके परिणामस्वरूप सीरिया, ईराक और ईरान की स्थिति के लिए खतरा बना हुआ था। इसी बीच अमरीका अपनी उधार-पट्टे की नीति पर अमल करता रहा और अपने व्यापार तथा उद्योग को उन्नत करता रहा। अमरीका के प्रति चिरकाल से बृटेन का जो कर्ज चला रहा था उसे माफ कर देना उसका काम था। जैसा कि लार्ड डी टी का कहना था कि ईसाइयत का दम भरते हुए अमरीका सबसे अधिक चतुर बोल्शेविक शक्ति के साथ मिल गया। मुक्त व्यापार का जिक्र करते हुए उन्होंने बताया कि अपने १ करोड़ १० लाख लोगों को रोजगार पर लगाने की गरज से अमरीका पुरानी दुनिया की मुसीबतों से अनुचित लाभ उठा रहा था। यह कहकर कि वह कोई और

भू-खण्ड या प्रदेश अपने में नहीं मिलना चाहता, अमरीका उधार-पट्टे के नाम पर ब्रिटेन के पैतृक औपनिवेशिक भण्डार पर कब्जा करता जा रहा था और उसने इंगलैंड को ५० पुराने मशहूर क्रूज़र बेच दिये। लड़ाई के तीसरे साल के शुरू में जबकि यूरोप की ताकतें पिछले सालों की परिस्थितियों के सिंहावलोकन में लगी हुई थीं, कांग्रेस को अपना आन्दोलन छेड़े अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था, क्योंकि उसने सत्याग्रह आन्दोलन का सूत्रपात १७ अक्टूबर १९४० को किया था। जर्मनी की युद्ध-शब्दावलि में हम यह कह सकते हैं कि सत्याग्रह-आन्दोलन की प्रगति योजना के अनुसार धीरे-धीरे हो रही थी। गांधीजी के सामने पीछे कदम हटाने का कोई सवाल ही नहीं उत्पन्न होता था। सदाशय मित्र, पटु पत्रकार, उदार दल के राजनीतिज्ञ, निर्दलीय नेता और कुछ रिहा किये गये सत्याग्रही आन्दोलन को बन्द करने और मंत्रिमण्डल पुनः संभालने पर ज़ोर दे रहे थे। लेकिन गांधीजी अपने स्थान पर अडिग खड़े थे। वे देश में प्रवाहित होनेवाली नयी विचार-धाराओं का अध्ययन कर रहे थे। और वे राष्ट्र की नब्ज पहचान कर अपना काम करते जा रहे थे। वे एक कुशल वैद्य की तरह रोग के निदान में व्यस्त थे। समय और धैर्य इन दो मुख्य बातों को ध्यान में रखकर वे आगे बढ़ रहे थे। आप मंझधार में जाकर नाव नहीं बदल सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीजी पर इन मित्रों की राय का कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। वे अपने मार्ग से तनिक भर भी विचलित नहीं हुए वे अपने स्थान पर डटे रहे। उन्होंने शत्रुओं की बदनामी या गाली-गलौज की परवाह नहीं की। लेकिन जो राष्ट्र हिंसा में यकीन रखते हों, और रक्तपात की लड़ाई में जुटे हुए हों, उनके सामने सत्य और अहिंसा का क्या महत्त्व हो सकता था। पर सत्याग्रही के तो ये ही दोनों शाश्वत सिद्धान्त हैं। इन्हीं के सहारे रह कर तो वह जीता और मरता है। लेकिन हिंसा के समर्थक इनकी खिल्ली उड़ाते हैं। उसका गलत मतलब निकालते हैं। नहीं तो फिर हम वाइसराय के उस ब्राडकास्ट का क्या मतलब लगाएं जो उन्होंने ३-९-४१ को लड़ाई की दूसरी वर्षगांठ के अवसर पर किया था और जिसमें उन्होंने कांग्रेस का जिक्र करते हुए ये शब्द कहे थे :—

"हम में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो किसी किस्म की सहायता किये बिना ही विजय में हिस्सा बटाना चाहेंगे। इन के अलावा और दूसरे ऐसे लोग भी हैं जो इस बात की परवाह न कर के कि राष्ट्र के लिए महान् खतरा पैदा हो गया है लोगों में मतभेद पैदा करके युद्ध-प्रयत्न को कमजोर कर देना चाहते हैं और इस प्रकार जनता में विश्वास की भावन नष्ट कर देने का प्रयत्न कर रहे हैं।" सरकार कांग्रेस के आन्दोलन का परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न खयाल करती रही हो, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बड़े से बड़े व्यक्ति ने इस आन्दोलन के स्वरूप और उसपर किये गए अमल की तारीफ ही की।

१९४०—में पुलिस विभाग के शासन प्रबन्ध की रिपोर्ट का जिक्र करते हुए उड़ीसा की सरकार ने लिखा था:—

"आलोच्य वर्ष में पुलिस विभाग को सत्याग्रह-आन्दोलन के सिलसिले में असाधारण रूप से व्यस्त रहना पड़ा। यह आन्दोलन साल के अंत में शुरू हुआ। सौभाग्य से इस आन्दोलन के नेता द्वारा जो हिदायतें दी गई थीं उनके परिणामस्वरूप इस प्रान्त में किसी किस्म की गड़बड़ नहीं हुई।"—("नागपुर टाइम्स" २८-८-४१)

बार-बार गांधी जी पर यह जोर दिया गया कि वे अपना आन्दोलन वापस ले लें, लेकिन उनके पास एक ही रिआयत थी जो वे सत्याग्रहियों को दे सकते थे। रिआयत यह थी कि किन्हीं

खास परिस्थितियों के अंतर्गत जेल से मुक्त हो कर आनेवाले सत्याग्रही यदि चाहें तो फिर दुबारा सत्याग्रह न करें और इस के लिए उन्हें अपनी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के ज़रिये आवेदन करना चाहिये। उस के बाद उनके मामले पर सोच विचार किया जाएगा और इस प्रकार जिन्हें सत्याग्रह करने से मुक्त किया जाएगा उन्हें अपने आप को रचनात्मक कार्यक्रम में लगाना पड़ेगा। पहली श्रेणी के व्यक्तियों का नाम सत्याग्रहियों की सूची में से काट दिया जाएगा। लड़ाई शुरू हुए दो साल हो चुके थे, पर परिस्थिति वैसी ही बनी रही। सिर्फ पत्र-प्रतिनिधि ही ऐसे व्यक्ति थे जो ये भविष्य-वाणियां कर रहे थे कि नयी शासन-परिषद् के पद संभाल लेने पर राजनीतिक कैदियों को रिहा कर दिया जाएगा। यहाँ तक कहा गया था कि नये सदस्यों में इस सम्बन्ध में परस्पर पत्र-व्यवहार भी चल रहा है। लेकिन जेल के बन्दियों के लिए इन अफवाहों का कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि सत्याग्रहियों के सामने तो सिर्फ एक ही सवाल था—वाणी-स्वातंत्र्य का और यह खयाल तक भी नहीं किया जा सकता था कि अंग्रेज कभी इसे स्वीकार भी कर लेंगे, चूंकि इस के बाद की मंजिल आजादी की थी। मानो शायद इन्हीं शंकाओं और भविष्य-वाणियों को खत्म कर देने के खयाल से श्री चर्चिल ने ९ सितम्बर को पार्लमेण्ट में एक बड़ा उल्लेखनीय भाषण दिया। पार्लमेण्ट का यह छोटा-सा असाधारण अधिवेशन कामन सभा को युद्ध की परिस्थिति से अवगत कराने के लिए बुलाया गया था। अटलांटिक-घोषणापत्र का उल्लेख करते हुए श्री चर्चिल ने भी वे ही बातें दोहराईं जो वाइसराय ने अपनी ८ अगस्त १९४१ वाली घोषणा में कहीं थीं। उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य की बजाय स्वतंत्र और बराबरी की साझेदारी का ही ज़िक्र किया—इस वाक्यावलि के जनक श्री एमरी थे और इसका व्यवहार आपने पहली बार पिछले साल किया था। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट से अटलांटिक की ऐतिहासिक मुलाकात के बाद पहली बार श्री चर्चिल ने उस घोषणा को भारत पर लागू किये जाने के सम्बन्ध में सभी शंकाओं का निवारण करते हुए कहा:—

"हमारी इस संयुक्त घोषणा का उस नीति से सम्बद्ध रखनेवाले विभिन्न वक्तव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है जो समय-समय पर भारत, बर्मा अथवा ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे हिस्सों में वैधानिक सरकार की उन्नति के बारे में दिये गए हैं। हमने अगस्त १९४० की घोषणा में भारत को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत स्वतंत्र और समान साझेदारी का पद प्राप्त करने में मदद देने का वायदा किया है। हाँ, अलबत्ता ऐसा करते समय हमें भारत के साथ अपने पुराने सम्बन्धों के परिणामस्वरूप पैदा होनेवाली जिम्मेदारियों और उसकी बहुत-सी जातियों, स्वार्थों और धर्मों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को ध्यान में अवश्य रखना होगा।

"अटलांटिक की बैठक में हमने मुख्यतः नाजी शासन के अधीन यूरोप के राष्ट्रों के राष्ट्रीय जीवन, उनकी स्वायत्त सरकार और उनकी सत्ता के विस्तार के प्रश्न पर ही सोच-विचार किया था। साथ ही हमने उन सिद्धान्तों पर भी सोच-विचार किया जो विभिन्न देशों की सीमाओं के परिवर्तन के समय हमें अपने ध्यान में रखने होंगे।

"उन इलाकों में जिनकी जनता ब्रिटिश सम्राट् के प्रति वफादार है, प्रगतिशील संस्थाओं के विकास से इस समस्या का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह समस्या उन से बिलकुल अलग है। हमने इन विषयों पर जो स्वयं पूर्ण हैं, सर्वथा असंदिग्ध शब्दों में अपनी घोषणाएं करदी हैं और इनका सम्बन्ध उन देशों और जनता के हालात से है जिन पर युद्ध का प्रभाव पड़ा है। इस

संयुक्त घोषणा को आजादी और न्याय की जिस भावना से प्रेरणा मिली है, उसके साथ इनका पूर्ण मेल है।''

श्री चर्चिल का यह भाषण उन भाषणों का ही एक नमूना था जो वे चिरकाल से भारत के बारे में देने के आदी हैं।

उनके भाषणों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं !

दूसरे महायुद्ध के छिड़ जाने के बाद श्री चर्चिल ने कामन सभा में एक बहस के दौरान में कहा :—

''भारतीय राजनीतिज्ञों की इस अत्यधिक कृत्रिम और सीमित श्रेणी के हाथों में यह उत्तरदायित्व सौंप देना एक प्रतिगामी कदम उठाना होगा। यह एक शर्मनाक कार्रवाई होगी। यह एक कायरतापूर्ण और अपमानजनक काम होगा।''

१९३० में भी श्री चर्चिल ने अपनी असामयिक आत्मकथा 'ए रोविंग कमीशन' में ऐसे ही विचार प्रकट करते हुए लिखा था कि ''मैंने हमेशा से इस बात पर ज़ोर दिया है कि हमें अपूर्व विजय-प्राप्ति तक पूरी ताकत से लड़ाइयां लड़नी चाहिएं और उसके बाद पराजित देश की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार मैं लड़ाई-झगड़े के वक्त शान्ति का समर्थन करनेवालों और उसके खत्म होने के बाद उसके विरोधियों के सदा से ही खिलाफ रहा हूँ।

''मेरा विचार है कि हमें पहले आयरलैण्ड को जीत लेना चाहिये था और उसके बाद उसे स्वराज्य दे देते; हमें पहले जर्मनी को भूखों मार देना चाहिये और उसके बाद वहां खाने-पीने की व्यवस्था करने......जो लोग अच्छी तरह से लड़ाई जीत सकते हैं वे शायद ही कभी अच्छी संधि कर सकें और जो लोग अच्छी संधि कर सकते हैं वे कभी लड़ाई नहीं जीत सकते। शायद ऐसा कहना अतिशयोक्तिपूर्ण हो कि मैं ये दोनों ही काम कर सकता हूँ।''

''ब्रिटिश राष्ट्र का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि वह अन्ततोगत्वा भारतीय जीवन और उसकी प्रगति पर से नियंत्रण उठा ले। हम सम्राट् के मुकुट का वह चमकता हुआ और बहुमूल्य हीरा कभी नहीं छोड़ना चाहेंगे, क्योंकि हमारे शेष सभी स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों और आश्रित देशों की तुलना में भारत ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा और शक्ति का मुख्य आधार-स्तंभ है।''

२९ मार्च, १९३३ को कामन सभा में भाषण देते हुए श्री चर्चिल ने कहा —

''इस देश में १ करोड़ ५० लाख व्यक्ति और ऐसे हैं जो हमारे विदेशीय सम्बन्धों, हमारे निर्यात् व्यापार, जो अब आधा रह गया है, हमारे जहाजों, जिनकी स्थिति इस समय बहुत अधिक खराब होगई है, विदेशों में लगाई हुई हमारी पूंजी की आय, जिसके सहारे सामाजिक उपयोगिता की हमारी व्यवस्थाएं कायम रहती हैं—के बिना जीवित ही नहीं रह सकते। मेरा खयाल है कि ब्रिटेन के २०-३० लाख आदमी अपनी आजीविका के लिए भारत पर आश्रित हैं।''

२९ जनवरी, १९३५ को भारत के सम्बन्ध में ब्राडकास्ट करते हुए श्री चर्चिल ने कहा;

ब्रिटेन के वेतन-भोगियों से भारत का बहुत गहरा सम्बन्ध है। लंकाशायर की मिलों में काम करनेवाले मजदूर यह बात अच्छी तरह से जानते हैं। उनमें से १ लाख व्यक्तियों की आजीविका का साधन भारत है और अगर हम भारत को अपने हाथ से निकल जाने दें और अगर स्वतंत्र भारत भी हमारे साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसा कि स्वतन्त्र आयरलैण्ड ने किया है, तो इसका यह परिणाम होगा कि इस देश के २० लाख आदमी बेकार हो जाएँगे।''

भारत पर अपना शासन और अधिकार बनाए रखना बृटेन के पूंजीपतियों के हित में है।

श्री चर्चिल इस बात पर जोर देना कभी नहीं भूलते। ईमिंग में ८ जुलाई, १९३८ को भाषण देते हुए आपने कहा:—

"ब्रिटेन की संपन्नता और समृद्धि के लिए भारत एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन है और जब मैं उन साधनों का, जिनके सहारे हमारी जनता जीवित रहती है, धीरे-धीरे ह्रास होते हुए देखता हूँ तो मुझे बड़ी बेचैनी होती है। हमारी विदेशी पूंजी और जहाजी शक्ति का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है और अगर इन कठिनाइयों के साथ-साथ हम भारत को भी किसी न किसी शक्ल में अपने हाथ से गँवा बैठे तो हमें अभूतपूर्व संकटों का सामना करना पड़ेगा। उस हालत में इस देश में आप क्यों इतने फालतू आदमी मिलेंगे, जिनकी आजीविका के लिए सरकार कोई प्रभावशाली व्यवस्था नहीं कर सकेगी।"

लड़ाई से पहले वैधानिक क्लब में भाषण करते हुए श्री चर्चिल ने कहा:—

"पार्लमेण्ट ने भारत को स्वराज्य देने और वहाँ की शासन व्यवस्था में सुधार करने का निश्चय करके बड़ी भारी भूल की है। जब तक आप भारत में अपने अधिकारों और हितों की रक्षा करने को तैयार नहीं हो जाते तब तक आपको भारत में अपनी एक-एक चीज़ से वंचित रहना पड़ेगा और आपको अपमानित करके वहाँ से निकाल दिया जायगा। अगर भारत हमारे हाथ से निकल गया तो हमने अब तक जो कुछ भी किया है वह सब मलियामेट हो जाएगा।

भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रश्न पर सोच-विचार करते हुए श्री चर्चिल ने विंचेस्टर के अपने एक भाषण में कहा—

"चाहे कुछ भी हो, हमारे लिए यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि हम स्पष्ट रूप से कह दें कि अपने जीवन-काल में अथवा ऐसी किसी अवधि तक जो हमारे लिए उपयोगी हो, हम भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं दे सकते। भारत की जनता का भाग्य भारतीय राजनीतिक वर्ग के हाथों में सौंप देना एक बड़ी भारी गलती होगी।

लेकिन सिर्फ चर्चिल ही अकेले व्यक्ति न थे जिनकी भारत के बारे में ऐसी धारणा थी। १९३० में ब्रिटेन के अत्यधिक उदार विचारोंवाले पत्र "मांचेस्टर गार्जियन" ने 'वास्तविक समस्या' शीर्षक से अपने एक संपादकीय लेख में लिखा:—

"दो वजह हो सकती है, जिनके कारण आत्माभिमानी इंग्लैण्ड को भारत पर से अपना नियंत्रण ढीला करने में हिचकचाहट हो सकती है। पहली बात तो यह है कि पूर्व में उसका प्रभाव इस पर आश्रित है कि वह आवश्यकता पड़ने पर भारत से सेनाएं बुला सकता है और उसके साधनों पर निर्भर रह सकता है। ज्यों ही भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया गया ब्रिटेन का यह अधिकार और शक्ति खत्म हो जायगी। दूसरी वजह यह है कि ब्रिटेन के माल की खपत के लिए भारत सर्वोत्तम बाज़ार है और इसके अलावा भारत में उसकी १ अरब पौंड पूंजी भी लगी हुई है।"

जब गांधीजी से कहा गया कि श्री चर्चिल के भाषण पर उनकी क्या राय है, तो उन्होंने कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उनके विचार में उनका मौन रहना और उनके द्वारा चला गया आन्दोलन श्री चर्चिल के भाषण का स्पष्ट प्रत्युत्तर था।

"अगर मेरा ऐसा विश्वास न होता तो मैं आप लोगों के कहने के बिना ही वक्तव्य दे देता। लेकिन मेरा यकीन है कि मेरा मौन मेरे किसी भी वक्तव्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। आखिर अमल ही तो सब से बड़ी चीज़ है। और मेरा अमल या काम सारे हिन्दुस्तान ही नहीं, बल्कि

सारी दुनिया के सामने है। भारत के बारे में श्री चर्चिल-द्वारा समय-समय पर दिये गये वक्तव्यों से जो लोग भलीभांति परिचित हैं उन्हें निराश होने की जरूरत न थी और न ही उन्हें चर्चिल की हाल की घोषणा से क्रुद्ध होने को आवश्यकता थी और यह सर्वथा ठीक ही था कि गांधीजी ने उस पर कोई राय जाहिर करने से इन्कार कर दिया।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचन स्थगित करने के सम्बन्ध में पेश किये गए बिल के तीसरे प्रवचन के समय श्री एमरी ने इस कानून के कारणों पर फिर से प्रकाश डालते हुए कहा कि न केवल ब्रिटिश पार्लमेण्ट ही, बल्कि समस्त ब्रिटेन और उसकी जनता चाहती है कि भारत शीघ्र-से-शीघ्र ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के अन्तर्गत स्वतंत्र और समान साझेदारी का पद प्राप्त कर सके :—

"यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिस पर हमने अटलांटिक के घोषणापत्र से पहले ही अमल करना शुरू कर दिया था। मैं पार्लामेण्ट के उन सदस्यों का बहुत आभारी हूंगा जो इस सम्बन्ध में शीघ्र से शीघ्र कोई कार्रवाई करने के समर्थक हैं। अगर वे कोई ऐसी निश्चित योजनाएं मेरे सामने प्रस्तुत करें जिनके अन्तर्गत भारत-सरकार को भारतीय मामलों का नियंत्रण सौंपा जासके और जो स्वयं भारतीयों के आपसी समझौते से अपना काम जारी रख सके—तो मैं उनका विशेष रूप से कृतज्ञ हूंगा।"

लार्ड लिनलिथगो के कार्यकाल में वृद्धि इन विचारधाराओं के सर्वथा अनुरूप थी।

श्री एमरी से पूछा गया कि इस बात में कहां तक तर्क और सामंजस्य है कि एक ओर तो पंडित जवाहरलाल को जेल में ठूँस दिए जायँ और दूसरी ओर यह कहा जाय ब्रिटेन की नीति भारत को स्वराज्य देने की है। अमरीका के नाम अपने एक ब्राडकास्ट में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री एमरी ने पंडित जवाहरलाल पर युद्ध-प्रयत्न में बाधा पहुँचाने का दोषारोपण किया। श्री एमरी को निश्चय ही इस बात की तसल्ली होगी कि वे जो कुछ कह रहे हैं ठीक है। क्योंकि पंडित जवाहरलाल तो जेल में बन्द होने की वजह से उन्हें कोई जवाब नहीं दे सकते थे। लेकिन पहले तो पंडित जवाहरलाल शायद उन्हें कोई उत्तर ही नहीं देते और अगर वे उत्तर देना भी चाहते तो उन्हें अपने ऊपर लगाए गए उस इलजाम पर कोई एतराज भी नहीं हो सकता था कि वे युद्ध के विरोध में अत्यधिक हिंसात्मक जोरदार और जानबूझ कर जनता को भड़काने-वाले भाषण देते रहे हैं। परन्तु इन भाषणों को हिंसात्मक कहना निपट मूर्खता थी। कम-से-कम वैसी ही मूर्खता, जिसका परिचय नागपुर के डिप्टी कमिश्नर श्री ए० जी० एफ० फर्क्यूहर ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू को देशद्रोही कह कर दिया था, और बाद में जिसके लिए उन्होंने बिलकुल ईमानदारी के साथ क्षमा-याचना की थी।

श्री फर्क्यूहर का पत्र इस प्रकार थाः—

१२ सितम्बर १९४७

'नागपुर टाइम्स' के नाम

प्रिय महोदय !

जब मैंने यह वक्तव्य प्रकाशित हुआ देखा कि मैंने पण्डित जवाहरलाल नेहरू को देश-द्रोही कहा है, और यह बात मेरे वक्तव्य को तोड़-मरोड़ कर कही गई है तो मैं यह ख्याल करके भयभीत हो उठा कि न जाने इसके क्या-क्या अर्थ लिए जाएंगे। इसलिए मैं पूरी सचाई

और ईमानदारी के साथ यथाशीघ्र क्षमा-याचना करना चाहता हूं कि मैंने यह बात एक सभा में जहाँ बड़ी गड़बड़ फैली हुई थी—कही थी और मैं उस समय यह नहीं जानता था कि इसका मतलब यह लिया जायगा।

श्री पी० एम० नायडू के नाम मेरा पत्र प्रकाशित हो चुका है। उसमें मैंने स्पष्ट रूप से बताया है कि मैंने यह बात किस सम्बन्ध में कही थी और उसका क्या मतलब था। इस समय मैं इतना ही कह सकता हूँ कि जिन लोगों को मेरे इस शब्द से ठेस पहुँची हो वे मुझे क्षमा करेंगे और यह वाद-विवाद यहीं समाप्त कर देंगे।

मैं हूं,

आपका सेवक

ए० जी० एफ० फर्क्यूहर।

उधर पंजाब में सर सिकन्दर हयातखाँ ने राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् से इस्तीफा देने के बाद पंजाब के नये गवर्नर सर बर्टरैण्ड ग्लैन्सी के सम्मान में एक भोज दिया। इस अवसर पर सर बर्टरैण्ड ग्लैन्सी ने कहा कि मैं शतप्रतिशत पंजाबी बनने की कोशिश करूँगा अर्थात् मुझे सांप्रदायिकता से कोई वास्ता न होगा। इसके कुछ समय बाद ही सर सिकन्दर हयातखाँ ने १ अक्टूबर को पत्र-प्रतिनिधियों से अपनी एक भेंट में बताया कि किस प्रकार श्री चर्चिल के हाल के वक्तव्य से सारे देश में क्षोभ की लहर दौड़ गई है और उसकी कड़ी आलोचना हो रही है। और "स्वयं मुझे भी समझ में नहीं आता कि उनके इस वक्तव्य का क्या मक़सद है और इसकी क्या आवश्यकता थी।" सर सिकन्दर ने यह भी कहा कि इस वक्तव्य के कारण देश में निराशा की भावना फैल गई है और ब्रिटेन के मित्रों के लिए बड़ी परेशानी पैदा हो गई है। उन्होंने श्री चर्चिल से एक स्पष्ट और असंदिग्ध वक्तव्य देने की मांग की। जिसके अनुसार भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने की तारीख़ निश्चित कर दी जाय और लड़ाई के जमाने में ही नये विधान का मसविदा तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त की जाय। 'टाइम्स आफ़ इण्डिया' ने सर सिकन्दर के इस वक्तव्य का तत्काल समर्थन करते हुए लिखा। "हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि श्री चर्चिल के इस वक्तव्य का भारत पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। इस वक्तव्य के परिणाम स्वरूप कुछ सीमा तक वह सद्भावना जाती रही है, जो वाइसराय की शासन परिषद् में विस्तार और राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् की स्थापना की घोषणा के बाद देश में पैदा होगई थी। यह एक सचाई और वास्तविकता है, जिसका ब्रिटेन और भारत दोनों को ही सामना करना चाहिए।"

यह स्मरण रहे कि लड़ाई प्रारम्भ हो जाने के कुछ समय बाद ही सर सिकन्दर हयातखाँ ने घोषणा की थी कि अगर ब्रिटेन ने भारत को औपनिवेशक स्वराज्य देना मंजूर न किया तो वे स्वयं उसके ख़िलाफ़ लड़ेंगे। और अब वे ही सर सिकन्दर यह कह रहे थे कि उनकी समझ में नहीं आता कि श्री चर्चिल के वक्तव्य का क्या मक़सद है। ख़ैर, कुछ भी हो, यह कोई कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि ब्रिटेन की मदद के लिए युद्ध-प्रयत्न के सर सिकन्दर-सरीखे ज़ोरदार समर्थक को भी चर्चिल के इस मुंहफट वक्तव्य से अत्यधिक निराशा हुई; और उन्हें यह कहना पड़ा कि श्री चर्चिल को ऐसा वक्तव्य न देना चाहिए था जिससे भारत में उनके दोस्तों को परेशानी उठानी पड़ती।

सर सिकन्दर ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के वक्तव्य पर जो टीका की उसका देश में बहुत

स्वागत नहीं हुआ। लेकिन कांग्रेस इस बारे में कुछ नहीं कहना चाहती थी। हिन्दू महासभा चाहती थी कि पंजाब के प्रधानमन्त्री मुस्लिम नेताओं से बात-चीत शुरू करें। लेकिन दिल्ली के सरकारी क्षेत्रों का कहना था कि ऐसा करना राजनीतिज्ञता नहीं है। बम्बई के क्षेत्रों का कहना था कि सर सिकन्दर श्री चर्चिल से नया वक्तव्य देने की मांग करके एक बड़ी अनोखी चीज़ मँगा रहे हैं। कलकत्ता के हल्कों का कहना था कि यद्यपि वे आक्रमण करने को तैयार हैं, लेकिन मैदान में कूद पड़ने से घबराते हैं। लखनऊ के हल्कों का आग्रह था कि नयी घोषणा के साथ-साथ उसपर अमल भी होना चाहिए। मद्रास के क्षेत्रों की प्रतिक्रिया यह थी कि यद्यपि अटलांटिक घोषणापत्र में भारत के लिए कोई ऐसी नयी बात न थी, जिसे देने का उसे पहले ही वायदा न किया गया हो, लेकिन फिर भी श्री चर्चिल के वक्तव्यसे भारतीयों की आशाओं पर चाहे वे कितनी ही अप्रत्याशित और अनुचित क्यों न रही हों, तुषारपात हो गया है और "सर सिकन्दर गलत कारणों को लेकर अपने को सही साबित करने की कोशिश कर रहे हैं।" लाहौर के क्षेत्रों की प्रतिक्रिया यह थी कि उन्हें भी सर सिकन्दर की तरह खेद है कि श्री चर्चिल का यह वक्तव्य नितान्त "असामयिक" है और इस वक्तव्य के मानसिक प्रभावों से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिटेन के प्रधामन्त्री ने भारतीय मनोवृत्ति का गलत अन्दाज़ा लगाकर भारी भूल की है और उन (श्री चर्चिल) के वक्तव्य से गलतफहमियां फैल सकती हैं। 'टाइम्स आफ इण्डिया' के शब्दों में यह वक्तव्य अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण था।

स्वयं सर सिकन्दर का यह विचार था कि श्री एमरी ने अमरीका-द्वारा उठाए गए प्रश्नों का जो उत्तर दिया है उससे स्थिति और भी बिगड़ गई है और इसके साथ ही उन्होंने नीचे लिखी धमकी भी दी :—

"अगर दो-तीन सप्ताह के अन्दर ऐसी घोषणा न की गई जिसकी मांग की गई है तो मैं बिना किसी हिचकिचाहट के भारतीय राजनीतिक दलों से अपील करूँगा कि वे एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करें,—वे एकमत होकर इस नयी स्थिति का मुकाबला करें।"

उस समय भारत के चार प्रान्तों अर्थात् पंजाब, बंगाल, आसाम और सिन्ध में मंत्रि-मण्डल काम कर रहे थे। पंजाब के प्रधानमंत्री का दोहरी शासन-नीति के सम्बन्ध में बाकी तीनों प्रधान मंत्रियों से गहरा मतभेद था। सर सिकन्दर ने राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् से इस्तीफा दे दिया। श्री फ़जलुल हक ने लीग की कार्य-कारिणी और सुरक्षा परिषद् दोनों ही इस्तीफा दे दिये। श्री अल्लाहबख्श का इन दोनों से कोई सम्बन्ध नहीं था—इसलिए उनके इस्तीफे का सवाल ही नहीं उठता था। आसाम के सर सादुल्ला के बारे में यह कहा जा रहा था कि अस्वस्थ रहने के कारण वे सुरक्षा-परिषद् तथा प्रधानमंत्री पद से इस्तीफा दे रहे हैं। इसलिए यह आशा ही नहीं की जा सकती थी कि ये चारों राजनीतिज्ञ किसी नीति या देश के सम्मुख उपस्थित आवश्यक समस्याओं के बारे में एकमत हो सकते थे। सर सिकन्दर के वक्तव्य के कुछ देर बाद ही ४ अक्टूबर १६४१ को शिमला से खानबहादुर अल्लाहबख्श ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें आपने कहा:—

"अगर मैंने सर सिकन्दर हयात के वक्तव्य को ठीक से समझा है तो उससे यह ज़ाहिर होता है कि वे ब्रिटेन से पुरानी घोषणाओं को दोहराने की मांग नहीं कर रहे, बल्कि एक नयी घोषणा की मांग कर रहे हैं, जिससे कि उन लोगों के साथ भारत के भावी-विधान का फैसला करते समय विशिष्ट व्यवहार किया जाय जो इस समय भारत की सुरक्षा के काम में हाथ बँटा रहे

हैं अथवा जिन्हें सर सिकन्दर 'मित्र' कह रहे हैं। इसका मतलब तो यह हुआ कि भारत के लिए वे जिस विधान की कल्पना कर रहे हैं उसमें सबको एक-से हक हासिल न होंगे। उनके साथ समान बर्ताव न होगा। बल्कि जो आदमी इस समय युद्ध-प्रयत्न में मदद कर रहे हैं, उन्हीं का उसमें बोल-बाला रहे। कम-से-कम मुझे तो इस तरह के रुख या मनोवृत्ति से बड़ा दुख पहुंचता है।"

खान बहादुर अल्लाहबख्श ने बताया कि भारतीय समस्या का हल ढूंढने की बजाय पंजाब के प्रधानमंत्री के रुख से जैसा कि उनके वक्तव्य से प्रकट होता है—देश के हितों को नुकसान ही पहुँचेगा और समस्या को सुलझाने के मार्ग में भारी कठिनाइयां पैदा हो जाएंगी।

आगे चलकर सिन्ध के प्रधानमंत्री ने बताया कि "जब मैंने पंजाब के प्रधानमंत्री का १ अक्टूबर वाला वक्तव्य देखा, जिसमें उन्होंने श्री चर्चिल से एक नये वक्तव्य की मांग की है, तो मेरे सामने स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठा कि 'अगर श्री चर्चिल ने ऐसी कोई घोषणा न की तो फिर उस हालत में सर सिकन्दर हयात खां क्या करेंगे?' पंजाब के प्रधान मंत्री ने मेरे सवाल का जो जवाब दिया है—उसे मैंने देखा है। उस पर मैंने गौर किया है। उनका कहना है कि अगर ऐसी कोई घोषणा न की गई तो भारत को एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करना चाहिए।

"१ अक्टूबर के अपने वक्तव्य में पंजाब के प्रधान मंत्री ने कहा है कि भारत को आज़ादी सत्याग्रह-आन्दोलन अथवा अटलांटिक घोषणा-पत्र की मदद से नहीं मिल सकती, बल्कि यह आज़ादी तो उसे लड़ाई के विभिन्न मोर्चों पर लड़नेवाले भारतीय सैनिकों की वीरता और बलिदानों की सहायता से ही मिल सकेगी। लेकिन उन्होंने यह सन्देह प्रकट किया कि अगर देश में पारस्परिक विश्वास की भावना और अन्तर्जातीय एकता न होगी तो हमारे इन वीर सैनिकों की कुरबानियां भी बेकार जाएंगी।

"अगर वास्तव में सर सिकन्दर की ऐसी धारणा है तो उनका पहला कर्तव्य यह है कि वे ऐसी घोषणा की प्रतीक्षा किये बिना ही इसी समय देश में पारस्परिक विश्वास की भावना और अन्तर्जातीय एकता स्थापित करने के लिए अपनी सारी शक्तियां जुटा दें। जैसा कि स्वयं पंजाब के प्रधान मंत्री ने स्वीकार किया है कि, आज भी एकता भारत की सर्वोपरि आवश्यकता है, इसलिये नहीं कि उससे भारत की कठिनाइयां दूर हो जाएंगी।

"लेकिन जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं यह खयाल नहीं करता कि श्री चर्चिल ने भारत के बारे में जो कुछ कहा है उससे ब्रिटिश सरकार की पिछली किसी घोषणा का खंडन होता है अथवा उनका कथन परस्पर विरोधी है। और अगर नयी घोषणा से सर सिकन्दर की मंशा यह है कि पिछली घोषणाओं का खण्डन न हो, तो मुझे इसमें कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती कि ब्रिटेन की सरकार अथवा श्री चर्चिल को ऐसी घोषणा करने में क्योंकर कोई आपत्ति हो सकती है? लेकिन भारत के बहुत से राजनीतिक नेताओं ने ब्रिटिश सरकार की इन पिछली घोषणाओं के सम्बन्ध में भी गहरा असंतोष प्रकट किया है, यद्यपि सर सिकन्दर उनमें से नहीं हैं। तब इन पिछली घोषणाओं की पुनरावृत्ति या उनके समर्थन करने की इस माँग का मकसद ही क्या है?

"स्वयं सर सिकन्दर हयात यह स्पष्ट कर चुके हैं कि वे इस लड़ाई में पंजाब के सभी वर्गों और संप्रदायों के प्रतिनिधि की हैसियत से ही मदद कर रहे हैं, किसी और हैसियत से नहीं। उस हालत में युद्ध-प्रयत्न में मदद करने के परिणामस्वरूप जो लाभ होगा उसका बँटवारा भी पंजाब के सभी लोगों में होना चाहिये; किसी विशिष्ट वर्ग या स्वार्थ के पक्ष में नहीं।

"सर सिकन्दर भली भाँति यह बात जानते हैं कि भारतीय समस्याओं का हल ढूँढ़ने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं उनका कारण वर्तमान विधान में पाई जाने वाली कुछ त्रुटियाँ ही हैं।

"निश्चय ही वे इन त्रुटियों को कायम नहीं रखना चाहते, लेकिन एक नयी विशिष्ट अधिकारोंवाली श्रेणी स्थापित करने की वे जो माँग कर रहे हैं, उससे तो ये त्रुटियाँ और भी बढ़ जाएंगी और वर्तमान गतिरोध से भी बुरा गतिरोध पैदा हो जाएगा।

"मेरी यह स्पष्ट राय है कि अगर ब्रिटेन ने वह घोषणा की जिसकी सर सिकन्दर उससे माँग कर रहे हैं अर्थात् देश के कुछ वर्गों के साथ विशिष्ट व्यवहार किया जाय तो वह बड़ी गलती करेगा। इस तरह की घोषणा से सर सिकन्दर का यह मकसद ही, कि देश में पारस्परिक विश्वास की भावना और साम्प्रदायिक एकता स्थापित हो जाय, बिल्कुल नष्ट हो जाएगा। इसका परिणाम एक ही होगा कि विभिन्न संप्रदायों में दुर्भावना और कटुता उत्पन्न हो जाएगी और उससे ब्रिटिश सरकार बड़ी परेशानी में पड़ जाएगी।

"चिरकाल से ब्रिटिश सरकार यह चिन्ता करती रही है कि विभिन्न संप्रदायों में एकता स्थापित हो जाय। यह मकसद सिर्फ उसी हालत में पूरा हो सकता है अगर ब्रिटिश सरकार किसी खास वर्ग या संप्रदाय की तरफ से पेश की गई ऐसी गैर-मुनासिब माँग को मंजूर न करे, खासकर जबकि एक दल यह धमकी देकर अपनी माँग मनवाना चाहता हो कि अगर उसकी माँग न मानी गई तो वह दूसरे लोगों से जा मिलेगा। इस प्रकार के किसी भी प्रस्ताव पर जिसमें ऐसी धमकी दी गई हो—सरकार को कोई ध्यान ही नहीं देना चाहिये और उसे ऐसी माँग कभी मंजूर नहीं करनी चाहिए, जिससे कि ऐसी माँग पेश करनेवाले दल को दूसरे लोगों से जाकर मिलने का मौका तो मिल सके और इस प्रकार ब्रिटेन के इरादों का भी सबूत मिल सके। अगर ब्रिटिश सरकार ने ऐसी कोई माँग मंजूर कर ली तो उससे उस पर लगाए जाने वाले इस इलजाम की पुष्टि हो जाएगी कि वह भारतीय संप्रदायों में मतभेद कायम रखना चाहती और उनमें फूट बनाए रखने की नीयत से वह कभी एक संप्रदाय या दल का समर्थन करती है तो कभी दूसरे को बढ़ावा देती रहती है और देश की जनता की उसे कोई परवाह ही नहीं है।"

लेकिन श्री अल्लाहबख्श के वक्तव्य का सर सिकन्दर ने तत्काल प्रत्युत्तर दिया :—

"मैंने खानबहादुर अल्लाहबख्श का वक्तव्य देखा है और मुझे यह देखकर खेद हुआ कि मैंने १ अक्टूबर को अपनी भेंट में जो दो स्पष्ट प्रश्न उठाये थे उनका गलत मतलब लिया गया है। ये दोनों प्रश्न सरल और स्पष्ट थे और मैंने पहली मांग यह की थी कि आसान और असंदिग्ध भाषा में भारत के भावी पद के बारे में घोषणा की जाय अर्थात् उसे एक निश्चित अवधि के भीतर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत स्वतंत्र और बराबरी की साझेदारी का दरजा देने की घोषणा कर दी जाय और दूसरे यह कि देश के मुख्य वर्गों के प्रतिनिधियों से कहा जाय कि वे एक सर्वसम्मत विधान तैयार करें और अगर उनमें आपस में कोई समझौता न हो सके तो ब्रिटिश सरकार उन लोगों की मदद से, जो भारत की रक्षा के लिए सहायता करने को तैयार हों, एक विधान तैयार करे जिसका आधार स्वतंत्र और समान साझेदारी का सिद्धान्त हो।"

इंगलैण्ड के क्षेत्रों में सर सिकन्दर की आलोचना की तत्काल प्रतिक्रिया देखन में आई। श्री एडवर्ड एम्सन को श्री चर्चिल में यद्यपि अगाध विश्वास था, फिर भी आपने इस बात की निन्दा की कि भारत के बारे में कोई भी निर्णय करने से पहले यह शर्त रखी जाय कि विभिन्न सम्प्रदायों में समझौता हो जाना आवश्यक है। आपने कहा कि यह शर्त कभी पूरी नहीं हो

सकेगी। आपने मांग की कि वाइसराय के मंत्रिमण्डल का दरजा वास्तविक मंत्रिमण्डल का सा होना चाहिए जिसे सामूहिक ज़िम्मेदारी का हक़ हासिल हो। इसके अलावा एक छोटी-सी समिति नियुक्त की जानी चाहिए जो तत्काल औपनिवेशिक ढंग का विधान बनाने का काम शुरू कर दे। आपने यह आशा प्रकट की कि, "इस उदारतापूर्ण प्रस्ताव की भावना को सामने रखते हुए मेरा विश्वास है कि कांग्रेस को इस बात पर राजी किया जा सकेगा कि वह अल्पसंख्यकों को इतने व्यापक अधिकार दे दे कि देश का जनमत इतना शक्तिशाली हो जाए कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग का यह झगड़ा जारी रहना असम्भव हो जाय।" श्री एम्सन ने आग्रह किया कि श्री चर्चिल को भारत के सम्बन्ध में इसी आधार पर एक वक्तव्य देना चाहिए। उन्हें भारत को "अपने बराबर का सहयोगी" समझकर ही ऐसा वक्तव्य देना चाहिए। अगर ऐसा किया गया तो "मुझे यक़ीन है कि अमरीका और दूसरे देशों में हमारे दुश्मन भारत का बहाना बना कर और अधिक समय तक हमारी रक्षा के लिए ख़तरा नहीं पैदा कर सकेंगे। हमारा उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट और सच्चा होगा जिसकी प्राप्ति के लिए मानव सदा से चेष्टा करता रहा है और जिसकी रक्षा के लिए उसने अपनी जान भी दे दी है।" ब्रिटेन के समाचार-पत्र भी चुप नहीं बैठे रहे।

भारत में बृटेन की नीति के सम्बन्ध में ब्रिटेन के लोगों ने ज़ोरदार शब्दों में अपना विरोध प्रकट किया। ब्रिटेन के सुदूर-पूर्व के मामलों के मंत्री श्री डफकूपर ने सितम्बर १९४१ में अमरीका का दौरा किया। अमरीका में ये जहाँ-कहीं भी गए उन्हें बड़ा कटु अनुभव प्राप्त हुआ। उन्होंने जहाँ-कहीं भी भाषण दिया उनसे भारत के सम्बन्ध में सवाल पूछे गए। अन्त में खीझ कर उन्होंने कहा कि "आख़िर जर्मनी के साथ ब्रिटेन की लड़ाई का भारत से क्या ताल्लुक़ है?"

इसी समय ब्रिटेन के लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति कर्नल यंग हस्बैण्ड ने, जिनकी आयु उस समय लगभग ९० साल की थी, एक ज़ोरदार लेख में भारत के पक्ष का समर्थन किया। आपने भारत को अपने हाथ से निकल जाने का ख़तरा उठाकर भी ब्रिटेन की आत्मा और उसकी प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का बीड़ा उठाया।

१५ अक्टूबर के लन्दन "टाइम्स" में सर फ्रांसिस यंगहस्बैण्ड का निम्नलिखित पत्र प्रकाशित हुआ:—

"भारत के मामले में हमने बड़ी भारी ग़लती की है। एक ओर तो हमने यह इरादा प्रकट किया है, कि हम संसार के प्रत्येक देश को आज़ाद करना चाहते हैं, उधर दूसरी ओर भारत की स्वतंत्रता के बारे में हम कुछ और ही कहते हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि इससे मुसलमानों और हिन्दुओं—दोनों में ही समान रूप से क्षोभ पैदा हो गया है। हम इस मामले में इतना क्यों हिचकिचाते हैं? इसलिए कि हमें डर है कि अगर हम भारत पर से अपना नियंत्रण ढीला कर दें तो उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। लेकिन हमें इस तरह की आशंकाएँ क्यों होनी चाहिएँ? भारतीय आख़िर मूर्ख तो हैं नहीं। उनमें भी चीनियों, जापानियों और रूसियों जितनी ही राजनीतिक और सैनिक बुद्धि है। और भारतीय बड़े आत्माभिमानी होते हैं। उन पर किसी बात की प्रतिक्रिया बड़ी शीघ्रता के साथ होती है। उन्हें यह कदापि सहन नहीं हो सकता कि हम उनकी तुलना में मिश्र, सीरिया, अरब देशों और एबीसीनिया के लोगों से अधिक उदारतापूर्ण बर्ताव करें। अँग्रेज़ों के लिए यह सर्वथा अनुचित है कि वे एक भी ऐसे व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्य में रहने को विवश करें, जो इसमें रहना

अपने लिए गौरवशाली अनुभव नहीं करता। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं भारत में ही पैदा हुआ और पिछले ४६ सालों से मेरा भारतीयों के साथ घनिष्ट संपर्क रहा है, लेकिन मेरे लिए यह बड़े धिक्कार की बात है कि हम भारतीयों के साथ वफादार सहयोगियों और प्रिय मित्रों जैसा बर्ताव न करें। आप एक बार एक भारतीय पर पूरी तरह से विश्वास कर लीजिए वह मरते दम तक आपका साथ देगा। आप उसका अपमान करें या उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचाएँ तो वह आपके नाकों-चने चबवा देगा। आपका जीना दूभर कर देगा। निश्चय ही हम काफ़ी बड़ा दिल रखते हैं। इसलिए हमें इस मामले में और अधिक बखेड़ा नहीं खड़ा करना चाहिए। हमें महान् त्याग करना चाहिए और उदारतापूर्ण नीति से काम लेना चाहिए। हमें चाहिए कि हम उन्हें निश्चित रूप से यह आश्वासन दे दें कि विराम-संधि होने के बाद, उसी वर्ष हम यह बात स्वयं उन्हीं पर छोड़ देंगे कि वह ख़ुद फ़ैसला कर लें कि क्या वे ब्रिटिश साम्राज्य में रहना चाहते हैं या नहीं। इसके ख़िलाफ़ सैकड़ों कारण दिए जा सकते हैं। लेकिन अगर इसके ख़िलाफ़ हज़ार वजहें भी हों तो भी हमें एक ही बात का खयाल रखकर अलग हो जाना चाहिए—इंग्लैण्ड के नाम पर धब्बा न लगने पाए। हो सकता है कि इस तरह से हम भारत को अपने हाथों खो बैठें लेकिन हमें यह तो सन्तोष होगा कि हमारी आत्मा पवित्र और निर्मल है। हमारी आत्मा जीवित है। और इंग्लैण्ड की आत्मा को जीवित रखना कितने ही भारतीयों से श्रेष्ठतर है; उसका मूल्य कितने ही भारतीयों से अधिक है।"

परन्तु इस वीर कर्नल को तुरन्त ही प्रत्युत्तर मिल गया। सर एल्डफ्रेड नाक्स ने उन्हें जवाब देते हुए कहा कि इसका फैसला स्वयं भारतीयों पर ही छोड़ देना कायरता होगी। और कट्टर पन्थी टोरी ने 'ट्रस्टीशिप' किसी देश को धरोहर के रूप में किसी दूसरे देश को सुपुर्द करने का सवाल उठाया।

ब्रिटेन के कुछ पत्रों और देशभक्त अंग्रेज़ों द्वारा ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति की इस कड़ी भर्त्सना के साथ-साथ अमरीका के देशभक्तों ने भी इस नीति की कड़ी आलोचना की।

अक्टूबर, १६४१ के प्रारम्भ में एक समाचार मिला कि किस प्रकार लखनऊ क्रिश्चियन कालेज के अर्थशास्त्र विभाग के एक प्रोफेसर और मिशनरी श्री होल्ड इ० ब्यूह्ल ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है। श्री ब्यूह्ल ने निवेदन किया कि १ दिसम्बर तक उन्हें इस्तीफा देकर अमरीका वापस चले जाने की आज्ञा दे दी जाय। वे अमरीका के मेथोडिस्ट चर्च के एक मिशनरी थे। उन्होंने इस पद से भी इस्तीफा देने की प्रार्थना की।

कहा जाता है कि उनके इस्तीफा देने का प्रधान कारण यह था कि उन्होंने उस 'वायदे' को पूरा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की जो भारत में आनेवाले प्रत्येक विदेशी मिशनरी को पड़ता देना है कि वह भारत में रहते हुए ऐसा कोई काम नहीं करेगा जो ब्रिटिश सरकार के खिलाफ हो; जिससे ब्रिटेन के हितों को नुक़सान पहुँचता हो। उन्होंने महसूस किया कि इस तरह का वायदा करने का मतलब यह होगा कि उन्हें वाणी-स्वातंत्र्य के अधिकार से वंचित कर दिया जायगा और उन्हें अपनी आत्मा के अनुसार कार्य करने की आज़ादी न रहेगी।

पता चला है कि अपना इस्तीफा पेश करते हुए श्री ब्यूह्ल ने लिखा कि "भारत में एक मिशनरी की हैसियत से प्रवेश करने से पहले मुझसे एक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा गया, जिसका आशय यह था कि "मैं यहाँ रहते हुए इस देश की सरकार के खिलाफ़ कोई काम नहीं करूँगा। भारत के लिए रवाना होने से दो दिन पहले मैंने मेथोडिस्ट

चर्च के पादरी के रूप में यह प्रतिज्ञा की कि मैं ईसामसीह के सिद्धान्तों और उपदेशों के अनुसार, जैसे कि मेरी आत्मा कहेगी, काम करूंगा। जब से मैं भारत में आया हूँ मैंने यह महसूस किया है कि अगर मुझे ब्रिटिश सरकार को दिये गए वायदे का पालन करना है तो मुझे ईश्वर के सामने की गई अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करना पड़ेगा। और ऐसा मैं कर नहीं सकता।

यह उल्लेख करने के बाद कि वे साधारणतः युद्ध के विरोधी हैं और ख़ासकर इस के, श्री ब्यूहल ने आगे चलकर बताया:—

"मुझे इस्तीफा अवश्य दे देना चाहिये, क्योंकि भारत में रहकर यहाँ की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बुराइयों के खिलाफ मेरे लिए मुँह बन्द करके बैठे रहना अपनी अन्तरात्मा की पुकार का उल्लंघन करना होगा। मेथोडिस्ट चर्च के 'सामाजिक धर्म' में यह कहा गया है कि हमारा यह विश्वास है कि आवश्यकता, अन्याय और शोषण को देखकर चुप बैठ रहना ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करना है, मैं उस विजेता के अन्याय को देखते हुए चुप होकर नहीं बैठ सकता जो यह दावा करता है कि वह सभी लोगों के इस अधिकार की रक्षा के लिए लड़ रहा है कि उन्हें अपनी इच्छानुसार अपने लिए सरकार का स्वरूप निर्धारित करने की स्वतन्त्रता है। उन्हें अपनी इच्छानुसार अपनी सरकार चुनने की पूरी स्वतन्त्रता है लेकिन दूसरी ओर यही विजेता पाँच हजार भारतीय नेताओं को जेलों और नजरबन्द कैम्पों में बन्द किये हुए हैं। उनका अपराध सिर्फ इतना ही है कि वे इसी मर्यादित अधिकार का प्रयोग करना चाहते हैं। एक ओर तो यह दावा किया जा रहा है कि यह लड़ाई तानाशाही के खिलाफ प्रजातंत्र की रक्षा के लिए लड़ी जा रही है और दूसरी ओर भारत को गुलामी में रखा जा रहा है। ऐसी हालत में मैं भला क्योंकर और कैसे मौन धारण करके बैठ सकता हूँ। एक सदाशय और सभ्य व्यक्ति होने की हैसियत मुझे उन दावों का विरोध करना चाहिए जिसमें यह कहा जा रहा है कि हम सद्भावना से प्रेरित होकर स्वयं भारतीयों के हित में ही शासन कर रहे हैं। और इतने पर भी मैं जानता हूं पीढ़ियों तक दूसरे के शासन के नीचे रहकर भी भारत के ३ करोड़ लोग भूखों मर रहे हैं। "मुँह में राम-राम और बगल में छुरी" जैसी परिस्थिति को देखते हुए मैं भला कैसे चुपचाप बैठ सकता हूं। मैं देख रहा हूं कि जिन लोगों ने सिर्फ शोषण के लिए ही प्राप्तव्य और वांछित प्रदेशों पर अधिकार कर रखा है। और इनमें भारत भी शामिल है—वे इन पर अपना नियंत्रण और भी कड़ा कर दें, और अपनी न्यायपरायणता की दुहाई देकर अब यह घोषणा कर रहे हैं कि उनका इरादा किसी प्रदेश पर अधिकार करने का नहीं है। इस तरह के शोषण और अन्याय को देखते हुए मेरे लिए मौन धारण करना या ईसा के अस्तित्व को अस्वीकार करना होगा। मेरे सामने दो ही मार्ग हैं—एक तो रास्ता यह है कि मैं सरकार को दिये गए वचन का पालन करूँ और इस प्रकार उस ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार कर दूँ और दूसरा यह कि अपने सर्वोच्च आदर्श पर दृढ़ रहते हुए मैं इस देश को ही छोड़ दूँ। और मैंने फैसला किया है कि मैं इसी मार्ग का अवलम्बन करते हुए अपने प्रभु-ईसा के प्रति वफ़ादार बना रहूँ।

इस प्रकार एक ओर तो विदेशों में इस तरह की विचार-धारा प्रवाहित हो रही थी और भारत में रहनेवाले अमरीकी मिशनरियों के लिए अपनी आत्मा के अनुसार काम करना कठिन होता जा रहा था। उधर इसकी ओर हमें दुर्भाग्य तथा वाइसराय की नयी शासन परिषद् के सदस्यों के वक्तव्य सुनने पड़े। श्री एन० आर० सरकार के प्रारंभिक भाषणों के मुकाबिले में हमें श्री माधवराव अणे के वे वक्तव्य सुनने पड़े जिन में उन्होंने धीरे-धीरे स्वराज्य प्राप्त करने की

बात कही थी। उनके अलावा हमें डा० राघवेन्द्र राव के वक्तव्य भी देखने को मिले जिनमें आपने कहा था, कि जब तक भारत के लोगों में कोई समझौता नहीं हो जाता तब तक हमारे लिए कोई भी विधान बनाना कठिन है।

सर फिरोजखां नून ने भारत पहुँचने पर एक नयी तान छेड़ी, यद्यपि उसका स्वर पुराना ही था; आपने कहा कि "श्री जिन्ना गांधी जी को स्वराज्य और गांधी जी श्री जिन्ना को पाकिस्तान दे सकते हैं।" ऐसा करना सर्वथा उन्हीं के अधिकार में है। यद्यपि यह वाक्य सूत्र रूप में कहा गया था और देखने में आकर्षक था, फिर भी यह एक माया-जाल था।

श्री एमरी हमेशा से यही कहते चले आरहे थे कि अटलांटिक घोषणा-पत्र सिर्फ पराजित राज्यों पर लागू होता है और इस तरह ही उन्होंने एक ऐसे घोषणापत्र का क्षेत्र बिल्कुल सीमित कर दिया जो "मैग्ना कार्टा" और अमरीका के घोषणापत्र के बाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। परन्तु श्री एमरी को इतने पर भी संतोष न हो सका और वे पार्लमेण्ट में अपने सहयोगियों के दिमाग में यह बैठाने लगे कि भारत साम्राज्य का एक अंग है और वह अंग संसार की राजनीति में अपना सिर उठाने का दावा नहीं कर सकता था। अन्त में श्री एमरी भारतीयों को यह कह कर फुसलाना चाहते थे कि वाइसराय के अगस्तवाले प्रस्तावों के अन्तर्गत भारत को इतने विस्तृत और व्यापक अधिकार दे दिये गए हैं जितने कि उसे अटलांटिक घोषणापत्र के द्वारा भी नहीं मिल सकते थे। तब इसका मतलब यह हुआ कि अटलांटिक घोषणापत्र भारत पर लागू नहीं हो सकता। इसलिए कि वाइसराय के प्रस्ताव मौजूद थे और वाइसराय के प्रस्तावों पर इसलिए अमल नहीं हो सकता था कि भारतीयों में एकता का अभाव था।

(२)

१९४०-४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह अन्दोलन को शुरू करने और उसे आगे चलाने के लिए गांधीजी के पास अपनी निश्चित योजना मौजूद था। उन्हें यह आन्दोलन शुरू करने में एक साल से भी अधिक समय लग गया—यह इस बात का प्रमाण है कि किस तरह से वे यथाशक्ति संघर्ष से बचना चाहते थे। उधर दूसरी ओर वे राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन से बचने के लिए अनशन करना चाहते थे। यह सर्वथा संभव था कि उनका यह अनशन अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की घटना का रूप धारण कर लेता। लेकिन वे सामूहिक आन्दोलन शुरू न करके हर हालत में ब्रिटेन को परेशानी से बचाना चाहते थे। निःसंदेह इस तरह के आन्दोलन का एक के ऊपर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता। परिणाम यह हुआ कि देश ने गांधी जी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू कर दिया और यह आन्दोलन धीरे-धीरे जोर पकड़ता गया और उसमें योजनानुसार प्रगति होती रही। राष्ट्र के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी कि गांधी जी जेल नहीं गए और वे स्वतंत्र रहकर इस आन्दोलन का नियंत्रण और संचालन करते रहे। यह सत्य है कि अखबारों के नाम उनकी सभी विज्ञप्तियां और वक्तव्य कुछ प्रान्तों में छपने नहीं दिये गए। यह भी उतना ही सत्य है कि सरकार ने गांधीजी को अपना साप्ताहिक-पत्र अथवा निजी वक्तव्य या निजी लेख लिखने की विशेष सुविधाएँ देने से इन्कार कर दिया। उदाहरण के तौर पर सत्याग्रहियों को उनकी यह सलाह कि वे अपना जुर्माना अदा कर दें, क्योंकि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद उनकी एक-एक पाई उन्हें वापस मिल जाएगी, केवल "नागपुर टाइम्स" में ही प्रकाशित हो सकी और ज्यों ही गांधीजी की यह हिदायत प्रकाशित हुई दूसरे प्रान्तों में इसका प्रकाशन रोक दिया गया। इन बाधाओं और कठिनाइयों के रहते हुए भी गांधीजी प्रमुख कांग्रेसजनों के

साथ अपना संपर्क और पत्र-व्यवहार जारी रख सके। विभिन्न जिलों के कार्यकर्त्ताओं की मदद से प्रत्येक प्रान्त को बड़ी सतर्कता के साथ 'सत्याग्रहियों' की सूची तैयार करके गांधी जी के पास भेजनी पड़ती थी और गांधीजी प्रत्येक प्रान्त के सैकड़ों ही नामों की समीक्षा करते। कुछ नाम उनमें से काट देते। कुछ औरों के बारे में ताजे विवरण भेजने को कहते और इस प्रकार पूरी-पूरी छानबीन करने के बाद ही वे किसी व्यक्ति को सत्याग्रह-आन्दोलन में शामिल होने की इजाज़त देते। इस काम में उनके सेक्रेटरी श्री महादेव देसाई के अतिरिक्त कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी श्री जे० बी० कृपलानी भी गांधीजी की मदद करते रहे। इन दोनों मित्रों तक राजेन्द्रबाबू—इन तीन कांग्रेसजनों के साथ गांधीजी निरन्तर सलाह-मशविरा लेते रहे। श्री जे० बी० कृपलानी और श्री महादेव देसाई समस्त भारत का दौरा करके देश के विभिन्न भागों में स्थानीय परिस्थितियों के सम्बन्ध में निजी रूप से छानबीन कर रहे थे। प्रान्तों में कांग्रेस के अध्यक्षों अथवा एजेण्टों को अपने उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था। लेकिन उनको स्वीकृति गांधीजी से लेनी पड़ती थी। पुलिस और जेल-अधिकारियों के प्रति शिकायतें सुनने में आरही थीं। यह शिकायत भी सुनने में आई कि राजबन्दियों को चर्खा कातने की सुविधाएं भी नहीं दी गईं। यद्यपि कातना स्वीकृत जेल-उद्योगों में से था। दक्षिण भारत की जेलों में 'सी' क्लास को दिया जानेवाला खाद्य पहले की तरह ही खराब था। कभी-कभी जेल के भीतर लाठी-चार्ज की भी नौबत पहुँच जाती थी। जेलों के पुराने सुपरिन्टेंडेन्ट राजनीतिक बन्दियों के साथ व्यवहार करने के अयोग्य थे। उन्हें यह नहीं मालूम था कि इन कैदियों के साथ कैसा सलूक किया जाना चाहिये। वे अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का प्रदर्शन करते रहे। दक्षिण भारत की जेलों के सम्बन्ध में एक नयी बात देखने में आई। यहां पुलिस के ऐंग्लो-इंडियन अथवा यूरोपियन डिप्टी-सुपरिन्टेंडेन्टों को, जिन्हें जेल के काम का कोई अनुभव नहीं था—थोड़ी-सी ट्रेनिङ्ग देने के बाद जेलों के डिप्टी-सुपरिन्टेंडेन्ट नियुक्त किया जाने लगा। राजनीतिक नजरबन्दों की वजह से प्रारम्भ में ही जेलें भरने लगीं। शुरू-शुरू में तो उन्हें १० रु० और ५ रु० के हिसाब से भत्ता भी किया जाने लगा, किन्तु कुछ समय बाद ही यह भत्ता बन्द कर दिया गया। और सब से बड़ी बात यह थी कि उन्हें दो श्रेणियों—'ए' और 'सी' में विभक्त कर दिया गया। पहले श्रेणी के आदमियों को ०-४-३ फी आदमी के हिसाब से स्थान मिलता था और दूसरी श्रेणी के कैदियों को ०-१-४ फी आदमी के हिसाब से। जब बार-बार अनुरोध करने का भी कुछ फल न निकला तो कहीं-कहीं भूख-हड़ताल भी की गई। वस्तुतः प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के ब्रांच (शाखा) डाकघर बन गए और वे जेल-अधिकरियों की तरह ही निस्सहाय बन गई थीं। उनसे कुछ किये नहीं बनता था। वार्डर, प्रधान-वार्डर पर निर्भर था। प्रधान वार्डर डिप्टी जेलर पर और जेलर साहब नये डिप्टी-सुपरिन्टेंडेन्ट पर निर्भर रहते थे और डिप्टी साहब सुपरिन्टेंडेन्ट पर। सुपरिन्टेंडेन्ट साहब जेलों के इंस्पेक्टर-जनरल पर और वे चीफ सेक्रेटरी पर आश्रित थे। चीफ सेक्रेटरी साहब सलाहकार पर और सलाहकार गवर्नर पर निर्भर था। यों सभी भारत-सरकार का मुंह ताकते रहते थे और भारत-सरकार अपने से ऊपर के अधिकारियों का। यह एक बड़ी असाधारण बात थी कि सीधे-सादे मामलों का निबटारा सीधे और सरल तरीकों से नहीं किया जाता था। आखिरकार ब्रटिश सरकार इतनी कार्यकुशल नहीं है जितना कि दावा करती है। जेलों में पत्र बहुत देर के बाद मिलते थे, कभी-कभी महीने के बाद और इसी प्रकार जेलों से बन्दियों के पत्र भी उनके घरवालों को बहुत देर से पहुँचते थे। और बहाना

यह किया जाता था कि सेंसरशिप का पर्याप्त प्रबन्ध नहीं है। बहाने तो ढेरों हो सकते हैं। लेकिन सवाल यह है कि उनसे सिर्फ कैदियों की हालत शोचनीय बनाने में ही मदद मिलती है और सरकार की उस कार्यक्षमता की पोल खुल जाती है, जिसका वह अक्सर दावा किया करती है।

सत्याग्रहियों को दी जानेवाली सज़ाओं के मामले में सरकार ने विभिन्न समय पर विभिन्न नीति से काम लिया। शुरू-शुरू में सजाएं कड़ी दीगईं और भारी-भारी जुर्माने किये गए। इस आन्दोलन के प्रारंभ में ही दी गई सजाओं में भारी अन्तर था। उदाहरण के तौर पर पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्री विनोबा भावे को दी गई सजाओं को ही देख लीजिए। पहले व्यक्ति को दूसरे के मुकाबले में सोलह गुना ज्यादा सज़ा दी गई। आंध्र जैसे प्रान्त में ही अकेले कुल मिलाकर १,१८,६६०—१२—० जुर्माना किया गया।

वर्धागंज से ३ मार्च को जारी की गई एक विज्ञप्ति इस प्रकार की थी; विभिन्न प्रान्तों से अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के कार्यालय में प्राप्त सूचनाओं के आधार पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन के सम्बन्ध में गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों की कुल संख्या ४,७६१ है और सत्याग्रहियों पर किये गए जुर्माने की कुल रकम २,०६,६६३ रु० बैठती है। इन गिरफ्तारियों और जुर्मानों में पंजाब के आंकड़े शामिल नहीं हैं, क्योंकि वहाँ से अब तक इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं प्राप्त हो सकी।

लेकिन यह सूचना अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के जनरल सेक्रेटरी-द्वारा किये गए एक वक्तव्य में शामिल कर ली गई है।

सबसे अधिक गिरफ्तारियां संयुक्तप्रान्त में हुईं। फरवरी के मध्य तक वहां १,४६५ व्यक्ति गिरफ्तार किये गए। सबसे अधिक जुर्माना आंध्र प्रान्त में हुआ। वहां सत्याग्रहियों पर कुल मिलाकर ७६,५३३ रु० जुर्माना किया गया।

आंकड़े

सेवाग्राम से अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के कार्यालय ने विभिन्न प्रान्तों में सत्याग्रहियों पर किये गए जुर्माने और उनकी गिरफ्तारियों के सम्बन्ध में नीचे लिखे आंकड़े प्रकाशित किये हैं:—

प्रान्त	गिरफ्तारियां	(जुर्माने रुपयों में)
अजमेर	१०	५६५
आंध्र	८८२	७६,५३३
आसाम	१७६	३,१४५
बंगाल	३६	३,६२५
बिहार	२४२	४,३४०
बम्बई	४७	प्राप्त नहीं हुए
दिल्ली	३६	२,०५०
गुजरात	२६६	६,१५०
कर्नाटक	२१०	५,६८५
केरल	७०	५,७००
महाकौशल	१३७	१०,३०२

महाराष्ट्र	२२१	१,६१४
नागपुर	२१	४,२१५
उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त	२ (जिन्हें अब रिहा कर दिया गया है)	शून्य
तामिलनाद	४२४	३१,०३०
संयुक्तप्रान्त	१,४६४	३८,०००
उत्कल	३१४	६,४३२
विदर्भ	१२६	८,१७६
	४,७४६	२,०६,६६३

बाद में सिर्फ दो, तीन और चार महीने की ही सजा दी जाने लगी। परन्तु जब सत्याग्रही दूसरी बार सत्याग्रह करते थे तो उनकी सजा भी बढ़ा दी जाती थी। उदाहरण के तौर पर दक्षिण भारत में कोयम्बटोर जिले में एक सत्याग्रही को जेल से रिहा होकर आने के बाद अपने सम्मान में आयोजित एक सभा में भाषण करने के लिए छः महीने की सजा दी गई। उस पर भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत मुकदमा चलाया गया और छः महीने की सजा दी गई। और उसकी सजा बढ़ाने के लिए सरकार ने हाईकोर्ट में अपील दायर की।

इस सम्बन्ध में आखिरी बात कैदियों की विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत रखने की प्रथा को बन्द कर देने की थी। अभी तक सरकार ने इस बारे में कोई फैसला नहीं किया था। राजबन्दियों पर चलाए गए मुकदमों के सम्बन्ध में मैजिस्ट्रेटों के आचरण के बारे में भी एकाध शब्द कहना अनुचित न होगा। इस क्षेत्र में नेलोर जिले के अन्तर्गत गुडूर के डिवीज़नल मैजिस्ट्रेट श्री० आर० गैलेटी आई० सी० एस० का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक मुकदमे का फैसला सुनाते हुए उन्होंने न केवल यह राय दी कि पुलिस इस आन्दोलन के प्रधान नेताओं को स्वतंत्र छोड़कर, जो वस्तुतः मुख्य षड्यंत्रकारी हैं और आन्दोलन की रूपरेखा निर्धारित करते हैं तथा उसे जगह-जगह फैलाते हैं—छोटे-छोटे कार्यकर्त्ताओं पर मुकदमे चलाकर भारी गलती करती है, बल्कि वे स्वयं सार्वजनिक सभाओं में शामिल होकर जनता से आन्दोलन की अच्छाइयों और बुराइयों पर बहस भी करते थे। श्री गैलेटी एक नवयुवक अधिकारी हैं और आप एक भूतपूर्व तथा प्रसिद्ध नागरिक अधिकारी कैडीलाड डी गैलेटी के सुपुत्र हैं। आपके पिताने तेलगू-अंग्रेजी भाषा का एक शब्दकोश भी लिखा है। वे एक उदारचेता शासक थे। नवयुवक गैलेटी का व्यक्तित्व अपने ही ढंग का और विलक्षण है।

आपने अपने वक्तव्य के शुरू में बताया कि सारे भारत में यह एक पहली सभा थी जिसमें दोनों पक्षों के वक्ताओं को जनता के सम्मुख अपने-अपने विचार प्रगट करने का मौका दिया गया था। सभा के प्रधान को इस बात पर बधाई देते हुए कि उन्होंने उन्हें (श्री गैलेटी को) ऐसा मौका दिया है, श्री गैलेटी ने कहा कि इस देश में बहुत थोड़ी बार ऐसे अवसर होते हैं जब कि दोनों पक्षों को जनता के सामने अपने विचार प्रगट करने की आजादी दी जाती है, उन्होंने गुडूर के लोगों से आगाह किया कि वे अपना कोई निर्णय करने से पहले दोनों पक्षों को सुनने की आदत डालें। उन्होंने सुलुपेट और वेंकटागिरी की सभाओं में शरीक होने को भी इच्छा प्रकट की जहां क्रमशः श्री वेंकटनारायण रेड्डी और श्री के० षणमुखम् ने पिछले दिसम्बर में सत्याग्रह किया। लेकिन वे अपने काम में व्यस्त रहने की वजह से इन सभाओं में भाग न ले सके।

सत्याग्रहियों के दृष्टिकोण को समझने के इरादे से और उनके साथ अदालत के कमरे में विभिन्न प्रश्नों पर सोच-विचार करने के इरादे से ही उन्होंने सत्याग्रहियों को अपने विचार प्रकट करने की आज़ादी दी। लेकिन राजबन्दियों ने उनके प्रश्नों का उत्तर देने से और अदालत में बहस करने से साफ इन्कार कर दिया। एक और अवसर पर जब कि श्री नरसा रेड्डी पर उनकी अदालत में मुकदमा चल रहा था तो उन्होंने कुछ कठोर शब्द कहे, परन्तु अभियुक्त ने उनके जवाब में कुछ भी नहीं कहा। उन्होंने उसी वक्त कहा कि अगर मैंने आपके प्रति कोई सख्त शब्द कहे हैं तो मैं क्षमा मांगने को तैयार हूँ। उन्हें सूचित कर दिया गया कि उनके द्वारा अभियुक्त को रिहा कर देने के आदेश की ओर मुकदमे में दिये गए उनके फैसले की ओर गांधीजी का ध्यान आकर्षित कर दिया गया है और इस पर गांधीजी ने श्री रेड्डी को आदेश दिया है कि वे १५ दिन तक चर्खा कातने के बाद फिर सत्याग्रह करें। उन्होंने श्री रेड्डी से पूछा कि "क्या यह बात सच है।" श्री नरसा रेड्डी ने कहा कि हाँ गांधीजी ने ऐसी हिदायत उन्हें की थी उन्होंने कहा कि मैजिस्ट्रेट ने इनके खिलाफ जिस भाषा का प्रयोग किया है उसकी उन्हें तनिक भी परवाह नहीं, लेकिन देशके सम्मानित नेताओं के प्रति उन्होंने जो कुछ कहा है उससे उन्हें ठेस पहुँची है। वे अब नियमित रूपसे चर्खा चला रहे थे। श्री गैलेटी ने चर्खे के सम्बन्ध में श्री रेड्डी के कथन का खण्डन किया। श्री गैलेटी ने आगे चल कर कहा कि मैं चरित्रवान् व्यक्तियों का आदर करने को तैयार हूँ, भले ही वे कितनी गलतफहमी में हों, लेकिन जिन लोगों के पास चरित्रबल नहीं है उनकी मैं पोल खोले बिना नहीं रह सकता। अपने डिवीज़न के अन्तर्गत युद्ध-प्रयत्न का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा कि वहां सत्याग्रहियों की दाल नहीं गल सकती, भले ही गांधीजी भी वहां क्यों न चले आएं। श्री गैलेटी ने रेडक्रास के उद्देश्यों के सम्बन्ध में नेलोर के जिला मैजिस्ट्रेट श्री ई० ई० मैक और गान्धीजी में हुए पत्र-व्यवहार का भी ज़िक्र किया। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने यह राय जाहिर की थी कि अगर कांग्रेसजन रेडक्रास में शामिल भी हों तो भी उनका यह काम कांग्रेस के अनुशासन के खिलाफ नहीं होगा। श्री गैलेटी ने कहा कि जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है, गांधीजी अपने आध्यात्मिक निर्णय के बाहर कभी नहीं जा सकते थे। आपने क्वेकर मत के समर्थकों का उदाहरण देते हुए कहा कि यद्यपि वे सैद्धान्तिक रूप से लड़ाई का विरोध करते हैं, फिर भी वे युद्ध के शिकार व्यक्तियों की सहायता का काम करते हैं। गांधीजी का भी यही विचार था। परन्तु प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी उस समय क्या कर रही थी? कांग्रेसजनों के रेडक्रास में शामिल होने के बारे में गांधीजी ने जो राय दी थी उससे बहुत से कांग्रेसजन गांधीजी से नाराज़ थे। कुछ सच्चे कांग्रेसी भी थे—पर उनमें से बहुत से कांग्रेसजन जिनमें मौलाना आजाद और श्री राजगोपालाचारियर सरीखे नेता भी शामिल थे—अपने विचारों पर दृढ़ नहीं थे। एक समय वे कुछ कहते थे और दूसरे समय कुछ और।

इन्हीं मैजिस्ट्रेट ने गुडूर में श्री० जी० वी० सुब्रह्मण्यम् को रिहा करते हुए सितम्बर, १९४१ को एक और दिलचस्प फैसला सुनाया :—

अभियुक्त को गत १५ मार्च को गुडूर की एक सार्वजनिक सभा में से गिरफ्तार किया गया था और कहा जाता है कि बाद में उसके घर की तलाशी लेने पर उसके यहां से कुछ हिंसात्मक और राजद्रोहात्मक परचे भी मिले। पुलिस ने उस पर भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत मुकदमा चलाया। अभियुक्त ने अपने को दोषी नहीं माना और इस बात से इन्कार किया कि मेरे पास ऐसा कोई साहित्य घर में था। उसने बताया कि मैं एक पक्का और कट्टर कांग्रेसी हूँ और

मैं न तो हिंसा का समर्थक हूँ और न ही मेरा उस पर विश्वास है। आपने कुछ गवाहों से भी जिरह की जिनमें नेलोर जिला बोर्ड के प्रधान और नेलोर जिले के कांग्रेस के डिक्टेटर श्री वी० कोदण्डराय रेड्डी भी शामिल थे।

अभियुक्त को रिहा करते हुए श्री गैलेटी ने अपने फैसले में कहा कि अभियुक्त स्वयं अपने शब्दजाल का ही शिकार है। उसका नाम स्वेच्छा से जेल जानेवालों की सूची में मौजूद था और निःसंदेह समय आने पर वह गिरफ्तार हो जाता और इस तरह खुशी-खुशी वह शहीद हो जाता। लेकिन गुडूर के स्टेशन हाउस अफसर ने बड़ी होशियारी से उसे एक भाषण देने के बाद पकड़ लिया और इसकी प्रतीक्षा भी नहीं की उसे "नारा" लगाने का अवसर भी दिया जाता। इस "नारे" शब्द का अर्थ युद्ध के वास्तविक जयघोष से नहीं है। बल्कि इस नारे का उद्देश्य लड़ाई का विरोध करते हुए अपने देशवासियों को यह समझाना है कि सैनिक सुरक्षा की तैयारी के ज़रिये अपने अधिकारों, अपने घरों और स्वयं अपने को आक्रमण से बचाना गलती करना है। गिरफ्तार हो जाने के बाद निःसंदेह उसे भी अपने साथियों की तरह ही जेल भेज दिया जाता। यह कितना सरल था कि वह स्वयं कुछ कहे बिना ही जेल भेज दिये जाते। ऐसा मालूम होता है कि शायद वाणी-स्वातंत्र्य के अधिकार की रक्षा करने का एकमात्र तरीका यही है, हालांकि वाणी-स्वातंत्र्य के इस अधिकार से कभी इन्कार नहीं किया गया। परन्तु दुर्भाग्य ने पुलिस को उसके घर की तलाशी लेने पर विवश किया और वहां उसे बहुत-सी पुस्तकें और परचे मिले, जिनमें हिंसात्मक कार्रवाई का गुणगान किया गया था, लोगों को क्रान्ति और विद्रोह के लिए भड़काया गया था और कांग्रेस की अहिंसात्मक नीति को एक बेकार-सी नीति कहकर उसकी निन्दा की गई थी। एक प्रमुख कांग्रेसी के लिए ऐसा करना उचित नहीं कि वह हिंसा का प्रचार और समर्थन करता हुआ जेल-यात्रा करे। इसलिए अभियुक्त को वाणी-स्वातंत्र्य के अपने अधिकार की रक्षा करनी थी, जिसे उसके सहयोगी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस भाषण के कारण अभियुक्त को गिरफ्तार किया गया है उसमें उसने अदालत को (गुडूर के ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट को) भला-बुरा कहा है, क्योंकि उसने प्रमुख कांग्रेसजनों के आचरण और उनके पिछले इतिहास के बारे में छानबीन की है; लेकिन अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के लिए उसने अपने बारे में अदालत को और अधिक जानकारी देना मुनासिब समझा। उसने अपने जीवन और अपने परिवार के सम्बन्ध में इतनी अधिक सूचना दी है, जितनी कि अदालत को नहीं चाहिये थी—और न ही अदालत ने दूसरे अभियुक्तों के बारे में इतनी विस्तृत जानकारी हासिल करने की जरूरत ही समझी। "सो कालचक्र अथवा भाग्यचक्र भी अपना बदला ले ही लेता है। परन्तु किसी अदालत के लिए अपने ही आलोचक को जवाब देना निराली बात है और यह और भी अनोखी बात है कि स्वयं आलोचक ही अपने मुंह से यह जवाब दे।"

आगे चलकर मैजिस्ट्रेट ने कहा कि १५ मार्च की सार्वजनिक सभा में जब कि उसे गिरफ्तार किया गया था अभियुक्त द्वारा दिए गए भाषण की रिपोर्ट के अनुसार उस पर भारत-रक्षा विधान के अन्तर्गत जुर्म नहीं लगाया जा सकता। उसने भी कांग्रेसी नेताओं की तरह ही यह कहा है कि इस लड़ाई से भारतीयों का कोई वास्ता नहीं है। अभियुक्त ने जनता से आग्रह किया कि वह उस दिन सत्याग्रह करनेवाले सत्याग्रही के भाषण पर गौर करे। लेकिन चूंकि इससे पहले भी कई बार लोग ये नारे सुन चुके थे, इसलिये इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्होंने वक्ता का भाषण सुना या नहीं सुना। इस बात का हमारे सामने कोई सबूत

नहीं है कि इसका गुड्डूर की जनता पर कोई प्रभाव पड़ा और उसने अपना युद्ध-प्रयत्न शिथिल कर दिया।

अभियुक्त के पास पाई गई तीन पुस्तिकाओं का उल्लेख करते हुए मैजिस्ट्रेट ने कहा कि यद्यपि वे आपत्तिजनक हैं और सिर्फ दल के प्रचार के धोखे के शिकार लोग ही उसे पढ़ने में अपना समय गंवा सकते हैं फिर भी उन्हें भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत आपत्तिजनक साहित्य नहीं कहा जा सकता। इसलिये उसने उन्हें जब्त किये जाने की आज्ञा दी और उन्हें अपने कब्जे में रखने के सम्बन्ध में अभियुक्त पर कोई जुर्म नहीं लगाया।

मार्च के प्रारंभ तक सत्याग्रहियों को न पकड़ने की नीति काफी व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। पहले तो गांधीजी ने गैर-गिरफ्तारशुदा सत्याग्रहियों को यह हिदायत की कि वे मार्ग में युद्ध विरोधी प्रचार करते हुए दिल्ली की ओर कूच करें लेकिन बाद में उन्होंने हिदायत दी कि गिरफ्तार न होनेवाले सत्याग्रहियों को चाहिये कि दिल्ली रवाना होने से पहले वे अपने गांव के घर-घर में जाकर और प्रत्येक व्यक्ति के पास जाकर अपना प्रचार करें। उनकी योजना यह थी कि प्रत्येक जिले में एक ऐसा ताल्लुका चुन लिया जाय, जहां तहसील के हर गांव में, हर घर में और हर नागरिक में जोरदार प्रचार किया जाय। उनकी सारी योजना का उद्देश्य वाणी-स्वातंत्र्य का अधिकार प्राप्त करना था। १५ फरवरी को गांधीजी ने 'टाइम्स आफ इंडिया' के नाम जो पत्र लिखा था, उसमें उन्होंने इस आन्दोलन के उद्देश्य और योजना दोनों पर ही प्रकाश डाला था। 'टाइम्स आफ इंडिया' के नाम गांधीजी का पत्र नीचे दिया जाता है :—

"श्रीमान्—आपने ७ फरवरी के अंक में मेरे सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका मैं जवाब देना आवश्यक समझता हूं।

"आपके अविश्वास के बावजूद भी मेरा अब तक यही दृढ़ विश्वास है कि पतित से पतित व्यक्ति भी अहिंसा के आगे झुक जाता है। अहिंसा की भावना सभी विरोधियों पर विजय पा लेती है। यह संभव है कि मैं स्वयं अहिंसा की उस सीमा तक न पहुंच पाऊं और मेरे अलावा दूसरे अन्य व्यक्ति इससे भी कम सीमा तक पहुँच सकें। परन्तु मैं अहिंसा की शक्ति को कम करके नहीं दिखाना चाहता और न मेरा ऐसा विश्वास है कि फ्यूहरर पर सच्ची अहिंसा की प्रतिक्रिया ही नहीं होगी।

"अपने अविश्वास के सम्बन्ध में आपने जो उदाहरण दिये हैं वे सब अनुचित हैं और उनका मेरे इस दृढ़ विश्वास से किसी प्रकार से भी सम्बन्ध नहीं साबित होता। यह आवश्यक नहीं कि हथियार डाल देने का मतलब यह हो कि मनुष्य अहिंसा पर चल रहा है। हो सकता है कि चेक लोगों, डेन्मार्क के लोगों, आस्ट्रियनों और पोलैण्डवासियों ने बड़ी बुद्धिमतापूर्ण काम किया हो, लेकिन निश्चय ही उन्होंने अहिंसात्मक कार्रवाई पर अमल नहीं किया। अगर वे शस्त्रों की मदद से शत्रु का सफलतापूर्वक विरोध करते रहते तो उनका यह काम निःसंदेह अहिंसात्मक होता और उनके देशवासी उनकी तारीफ करते। परन्तु जब उनके लिए प्रतिरोध जारी रखना कठिन हो गया तो उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके लिए मैं उन्हें दोष नहीं देता। परन्तु इसी तरह के संकट का मुकाबला करने के लिए और इस उद्देश्य से कि विनाश के आधुनिकतम शस्त्रों से पूर्णतः सुसज्जित बलवान् व्यक्ति के मुकाबले में कमजोर से कमज़ोर व्यक्ति भी अपने को असहाय और निःशक्त न ख्याल करे, मैंने सत्याग्रह के अस्त्र की खोज की थी और १६०७ में दक्षिण अफ्रीका में उसका प्रयोग भी किया था। और उसके बाद से इस अस्त्र

का प्रयोग विभिन्न और कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी किया गया है। आप मुझे क्षमा करेंगे यदि मैं यह भेद मानने से इन्कार कर दूं कि हिटलर-द्वारा काम में लाई जानेवाली ताकतों में, और भारत में जिन ताकतों का मुझे सामना करना पड़ रहा है, उनमें किसी किस्म का फर्क है। मेरी दृष्टि से दोनों एक-सी ही ताकतें हैं। इस संभावना से कि वह प्रत्येक सत्याग्रही को मौत के घाट उतार देगा मुझे न तो कोई भय होता है और न कोई निराशा ही। अगर हिन्दुस्तान को इस तरह की अग्नि-परीक्षा में से गुजरना है और अगर बहुत से सत्याग्रही अपने हृदय में बिना किसी विद्वेष-भावना के हिटलर की सेना का मुकाबला करते हुए मर भी जाएं तो भी उसके लिए यह एक नया अनुभव होगा— चाहे उस पर इसकी कोई प्रतिक्रिया हो अथवा नहीं। परन्तु मैं यह अवश्य जानता हूं कि ये सत्याग्रही भी इतिहास में वैसे ही वीर और वीरांगनाएं समझी जाएंगी, जिनका उल्लेख हमें कहानियों और गाथाओं में मिलता है।

"लेकिन जब आप मेरे सहयोगियों की ईमानदारी और अहिंसा पर अविश्वास करते हैं तो आपका आधार कुछ कम कमजोर होता है। आपको हक है कि आप मेरे सामने पूना-प्रस्ताव की वकालत करें। मैं पहले ही स्वीकार कर चुका हूँ कि अगर मेरी क्षणिक कमज़ोरी न होती तो पूना का प्रस्ताव किसी भी हालत में स्वीकार नहीं किया जा सकता था। जहाँ तक ईमानदारी की कमी अथवा अहिंसा की त्रुटियों का प्रश्न है मैं तो सिर्फ इतना ही कह सकता हूं कि इस बात का प्रमाण भविष्य दे सकेगा कि क्या ये सत्याग्रही वस्तुतः वैसे थे जैसे कि आप कह रहे हैं अथवा इतने ईमानदार और अहिंसक जितना कि एक मुल्क हो सकता है। मैं यह बात दावे के साथ कह सकता हूं कि अहिंसा के उचित मापदण्ड को ध्यान में रखते हुए ही बड़ी सतर्कतापूर्वक सत्याग्रहियों का निर्वाचन किया गया है। फिर भी मैं मानता हूँ कि इनमें कुछ पाखण्डी और झूठे लोग भी घुस आए हैं। परन्तु मेरा विश्वास है कि अधिकांश सत्याग्रही सच्चे उतरेंगे। कांग्रेस के प्रधान ने खुले-आम अहिंसा के सम्बन्ध में अपनी मर्यादाएँ— खामियां घोषित कर दी हैं। लेकिन जहां तक मैं उन्हें जानता हूं—और मेरा दावा है कि और कोई व्यक्ति उन्हें इतना नहीं जानता जितना कि मैं —उनकी अहिंसा उनके द्वारा निर्धारित मर्यादाओं के अन्तर्गत अडिग रहेगी चाहे कितनी भी बाधाएं उनके कार्य में क्यों न आएं। अगर मेरे पास मौलाना साहब जैसे दृढ़ विश्वास-वाले सहयोगी हों तो मैं फ्यूहरर का डटकर प्रतिरोध करूँगा। क्या ऐसी अहिंसा कसौटी पर खरी उतरेगी या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। अब तक मैंने ऐसी ही सामग्री—अर्थात् सहयोगियों के आधार पर सफलता प्राप्त की है। आपका यह कहना गलत है कि मैं समाचारपत्रों के लिए अथवा लोगों के लिए भाषण की अनिमंत्रित आजादी की मांग कर रहा हूँ। मैंने तो यह कहा है कि हमें अनियंत्रित आजादी चाहिये बशर्ते कि वह अहिंसा के प्रतिकूल न हो। मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं कि कांग्रेस के मंत्रियों का सीमित काम मर्यादा के बाहर चला गया है। अगर यह सच है तो मैं कहूँगा कि निश्चय ही यह कार्यवाई कांग्रेस की घोषित नीति के खिलाफ थी और वह मेरा पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती और न ही वह मेरे लिए कोई कसौटी हो सकती है।

"इस अभियोग के रूप में मेरी इस मांग का असली उद्देश्य ब्रिटेन से राजनीतिक रिआयतें हासिल करना है। मेरे ऊपर निर्ममतम प्रहार किया गया है। अगर सविनय-भंग का डर दिखला कर राजनीतिक मांगें भी पेश की जाएं तो राजनीतिक दृष्टिकोण से उसमें कोई दोष नहीं है लेकिन सारी जनता जानती है कि पूना का प्रस्ताव खत्म हो चुका है। और जहां तक मेरा सम्बन्ध है, लड़ाई खत्म होने तक इस प्रस्ताव पर अमल नहीं हो सकता और उसे समाप्त ही समझा जायगा।

"अगर कभी स्वातंत्र्य का अधिकार मान लिया गया और देश में पहले जैसी ही व्यवस्था कायम कर दी गई तो निश्चय ही सविनय-भंग-आन्दोलन वापस ले लिया जायगा।

"मैंने पिछले आन्दोलनों के बारे में कभी यह अनुमान नहीं लगाया था कि वे देर तक चलते रहेंगे। परन्तु इस बार मैंने ऐसा अनुमान नहीं लगाया, चूंकि मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब तक लड़ाई जारी रहेगी तब तक कांग्रेस के साथ पूर्ण स्वाधीनता के आधार के बिना किसी किस्म का समझौता संभव नहीं है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि कांग्रेस लड़ाई में जन और धन शक्ति से सक्रिय भाग नहीं ले सकती। इसका मतलब कांग्रेस की उस अहिंसात्मक नीति के विरुद्ध काम करना होगा जिस पर वह पिछले बीस बरस से चलती आ रही है। और जब तक लड़ाई जारी रहेगी तब तक किसी समझौते के जरिये हमें आज़ादी हासिल नहीं हो सकती। इसलिए जहां तक मुझे मालूम है अगर कांग्रेस को अहिंसात्मक आधार पर प्रगति करने की पूरी आजादी दे दी जाए तो उसे सन्तोष हो जायगा। कांग्रेस की मांग सभी लोगों और दलों की ओर से है।

"इन बातों को ध्यान में रखते हुए आपने मुझ से सवाल किया है कि क्या मेरे लिये मौजूदा आन्दोलन को जारी रखना नैतिक दृष्टि से उचित है अथवा नहीं? इसका जवाब तो स्वयं आपने ही नकारात्मक रूप में दे दिया है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि मैं आपके जवाब से सन्तुष्ट हो जाऊँ। पहली बात तो यह है कि जैसा मैंने ऊपर कहा है मैं आपकी बातें मानने को तैयार नहीं। दूसरे, अगर मैं आपका जवाब मान भी लूँ तो उसका मतलब मेरे लिये अपने आपको बिल्कुल दिवालिया घोषित कर देना होगा। पिछले लगभग पचास साल से अहिंसा पर मेरा जो विश्वास रहा है—उसके प्रति ऐसा करना विश्वासघात होगा। हो सकता है कि प्रत्यक्ष रूप से मैं अपने काम में असफल रहूँ लेकिन यह खतरा उठाकर भी कि लोग मुझे गलत समझ रहे हैं, अपने विश्वास से रत्तीभर भी विचलित नहीं होना चाहता। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मैं अपने इसी मार्ग पर चलकर भारत, ब्रिटेन और मानवता की सेवा कर रहा हूं। मैं ब्रिटेन को नुकसान पहुँचाकर भारत की भलाई नहीं चाहता और इसी तरह मैं जर्मनी को नुकसान पहुंचाकर ब्रिटेन का कल्याण नहीं चाहता। हिटलर तो दुनियां में आते और जाते रहेंगे। जो लोग यह खयाल करते हैं कि हिटलर के मर जाने पर अथवा उसके पराजित होने पर उसकी (हिटलर) भावना मर जायगी—बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि हम उस भावना का मुकाबला कैसे करते हैं—हिंसा से या अहिंसा से। अगर हम उसका मुकाबला हिंसा से करते हैं तो इसका मतलब है कि हम उस दुर्भावना को प्रोत्साहन दे रहे हैं। और अगर हम उसका मुकाबला अहिंसा से करते हैं तो उसका अभिप्राय यह है कि हम उसे निस्तेज और निःशंक कर देते हैं।"

गांधीजी की हिदायतें हर समय उपलब्ध हो सकती थीं और वे प्रत्येक क्षण इस आन्दोलन की नब्ज़ देखते रहते थे। इतवार के दिन सत्याग्रह नहीं होता था। बड़े दिनों में २३ दिसम्बर से लेकर ४ जनवरी तक सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित रखा गया और ५ जनवरी को इतवार था। फरवरी के शुरू से ही ये अफवाहें सुनने में आरहीं थीं कि शायद गांधीजी गिरफ्तार कर लिये जायं। १९४१ के शुरू में एक-एक करके सभी प्रांतीय गवर्नर वाइसराय से मिलने गये और इसलिये यह ख्याल किया जा रहा था कि शायद उनसे गांधीजी की गिरफ्तारी के बारे में राय ली जा रही थी। वैसे तो शायद इससे पहले भी उनसे इस बारे में राय मांगी गई थी। परन्तु चाहे

कुछ भी हो, जब तक गांधीजी स्वयं कुछ विरोधी कार्रवाई में भाग न लेते सरकार उन्हें गिरफ्तार करने की मूर्खता नहीं कर सकती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री गैलेटी, जिनका जिक्र हम पहले कर चुके हैं--और भारत-सरकार के विचारों और दृष्टिकोण में कितना अन्तर है। सत्याग्रह-आन्दोलन के सम्बन्ध में समय-समय पर बड़ी कड़ी छानबीन की जाती थी। जनवरी १९४१ के शुरू में कांग्रेस-संगठनों के जो कार्यकर्त्ता या प्रतिनिधि गांधीजी से मिलने वर्धा गए--उन्हें गांधी जी ने बड़ी कड़ी चेतावनी देते हुए कहा कि सत्याग्रहियों का चुनाव करते समय इस बात का खास तौर पर खयाल रखा जाय कि वे न केवल चर्खा ही कातते हों, बल्कि उनका दिल और दिमाग दोनों ही इस काम में लगे हुए हों और वे यह बता सकें कि वे कितना और किस तरह का सूत कातते हैं। कुछ आदमियों ने जो उनसे मिलने गए यह कहा कि वे इस बात का आश्वासन नहीं दे सकते कि जिन लोगों के नाम सूची में शामिल किये गये हैं—वे सभी कातते हैं और इन लोगों में एक ने अपने बारे में कहा कि मैं कातना जानता हूँ।

"लेकिन आप कितना कातते हैं?"

"पांच या दस गज।"

"पांच या दस गज एक दिन में, या एक सप्ताह में अथवा एक महीने में?"—गांधीजी ने पूछा।

जवाब मिला "प्रतिदिन नहीं।"

स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में और अधिक छानबीन करना व्यर्थ था।

जहां तक अहिंसा का प्रश्न है, यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सितम्बर १९४० के बंबई वाले प्रस्ताव के अनुसार न केवल स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन के लिए ही मन-वचन और कर्म से अहिंसा की नीति स्वीकार की गई है, बल्कि जहां तक संभव होगा आजाद हिन्दुस्तान में भी इसी नीति पर अमल किया जाएगा। वर्तमान लड़ाई के कारण जो संकट पैदा हो गया है उससे विवश होकर ही हमें भविष्य का खयाल करना पड़ रहा है। हम न केवल स्वराज्य प्राप्त करने की बात ही सोच रहे हैं, बल्कि उसे बनाए रखने के प्रश्न पर भी गौर कर रहे हैं। इस प्रकार बम्बई का प्रस्ताव प्रारंभिक स्थिति से कहीं आगे चला गया था। जून १९४१ तक सत्याग्रह की दूसरी अवस्था खत्म हो गयी थी और यह समय था कि परिस्थिति की समीक्षा कर ली जाती। सत्याग्रह-आन्दोलन की—१ जून तक की दूसरी अवस्था का वर्णन श्री महादेव देसाई ने संक्षेप में इस प्रकार किया है। इसमें रचनात्मक कार्यक्रम शामिल नहीं है :—

"अब सत्याग्रह-आन्दोलन का दूसरा चरण समाप्त हो गया है और यह बेहतर होगा कि हम सारी परिस्थिति की समीक्षा कर देखें। यह बात तो पहले ही स्पष्ट कर दी गई थी कि इस आन्दोलन के कारण हम किसी ठोस परिणाम का अन्दाज नहीं लगा सकेंगे। हमारा तात्कालिक उद्देश्य तो अपने प्रारंभिक अधिकार का प्रतिपादन करना है और यह अधिकार या तो हमें उस पर अमल करने से हासिल हो सकता है या फिर उस पर अमल करते हुए जेल जाने में। कहा जाता है कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में हमने यह अधिकार हासिल कर लिया है, यद्यपि सरकार ने भाषण और लिखने की स्वतंत्रता घोषित नहीं की है। सरकार वहां सत्याग्रहियों को गिरफ्तार ही नहीं करती; क्योंकि उसका लाभ इसी में है। लेकिन जब हम परिस्थिति का सिंहावलोकन कर रहे हैं तो उसका यह अभिप्राय नहीं कि हम इस बारे में भी छानबीन करें कि सरकार क्या रही है और क्या नहीं। हमें तो यह देखना है कि क्या हम अपने कर्त्तव्य का पालन सही तौर पर करते रहे हैं

अथवा नहीं ? यह आन्दोलन स्वतंत्रता के लिए लड़े जानेवाले आन्दोलन का ही एक हिस्सा है। इसलिए इसके परिणाम-स्वरूप हम में धीरे-धीरे सत्य, अहिंसा और आत्म-शुद्धि की उन्नति होनी चाहिए।"

इसके अलावा दिल्ली की ओर कूच करनेवाले अथवा गिरफ्तार न किये जानेवाले सत्याग्रही हैं, जिनकी संख्या कई हज़ार है। उनमें से कुछ ने बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। इस सम्बन्ध में श्रीमती दमयन्ती धर्माधिकारी और श्रीमती सरयूबाई घोमे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने सत्याग्रह और रचनात्मक-कार्यक्रम का सन्देश ८० से अधिक गांवों में पहुँचाया। उनका प्रतिदिन का कार्यक्रम, गलियां साफ करना, हरिजनों की बस्तियों में जाना, सामूहिक रूप से चर्खा कातना और शाम को सभा करना होता था। उनका दौरा इतना सफल और प्रभावशाली रहा कि हरिजनों के लिए तीन मंदिरों के द्वार खोल दिये गए, जहां कहीं भी वे गईं कातने और खादी के कार्यक्रम को प्रोत्साहन मिला। इसके अलावा प्रसिद्ध सत्याग्रही जकतदर की बहू श्रीमती प्रभावती जकतदर का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्हें अन्त में ६ गुना अधिक ज्यादा जुर्माना किया गया और ६ महीने कैद की सजा दी गई। वे दोनों ही इस समय नागपुर जेल में हैं।

दिल्ली की ओर कूच करनेवाले सत्याग्रहियों का काम जितना दिलचस्प है उतना ही कठिन भी। बंगाल के गांवों में एक सत्याग्रही को कई दिन तक भूखों रहना पड़ा। कारण कि ग्रामीण सत्याग्रही की आव-भगत करने से डरते थे, लेकिन उसके धैर्य और इस्तकलाल से एक ज़मींदार इतना प्रभावित हुआ कि उसने यह व्यवस्था कर दी कि वह जहां-कहीं भी जाए उसे भूखा न रहना पड़े। आंध्र और तामिलनाद के सैंकड़ों ही सत्याग्रही अपने जीवन में नये-नये अनुभव कर रहे हैं। उनका शानदार स्वागत किया जाता है। और उन्हें अपनी आंखों से यह देखने का मौका मिलता है कि किस प्रकार लोगों से लड़ाई के लिए जबरदस्ती चन्दा वसूल किया जा रहा है।

इन सत्याग्रहियों के सम्बन्ध में सभी तरह के समाचार मिल रहे हैं—अच्छे-बुरे और बीच के दर्जे के। हमें पत्र मिले हैं कि इसमें से कुछ सत्याग्रही बड़े बे-सिर-पैर के भाषण देते हैं और मध्यप्रान्त की सरकार ने इलजाम लगाया है कि मध्यप्रान्त के कुछ सत्याग्रही झूठी और शरारत-भरी अफवाहें फैला रहे हैं। हम इन शिकायतों की छानबीन कर रहे हैं और अगर वे ठीक साबित हुईं तो इससे हमें बड़ा दुःख पहुँचेगा। इनमें से बहुत से सत्याग्रही गांवों के रहनेवाले हैं, इसलिए अधिक शिक्षित नहीं है। इन लोगों को किसी किस्म के भाषण नहीं देने चाहियें, बल्कि उन्हें अपना सारा समय रचनात्मक-कार्यक्रम में ही लगा देना चाहिये। और जब तक उन्हें हिन्दुस्तानी भाषा का पर्याप्त ज्ञान न हो उन्हें कोई भाषण नहीं देना चाहिये। इनमें से कुछ सत्याग्रहियों ने चाहे वे कितने ही 'गौण' क्यों न हों, यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि जब तक वे अपनी मंजिल तक नहीं पहुँच जाएँगे वे सब-कुछ सहने को तैयार हैं।

इस तरह के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। लेकिन महज़ 'दिल्ली की ओर कूच करने का दृढ़ निश्चय करने से ही काम नहीं चल सकेगा। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूं, इनमें सैकड़ों ही ऐसे हैं, जिन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया। हज़ारों सत्याग्रहियों के नाम उस सूची पर हैं, जिन्हें, अभी सत्याग्रह करने की स्वीकृति दी जानी है। लेकिन सवाल यह है कि क्या इन लोगों को स्वीकृति देना मुनासिब होगा और इतने अधिक सत्याग्रहियों का भार गांवों पर डाल दिया जाय ? इसलिये यह फैसला किया गया है कि जिन इलाकों में सत्याग्रहियों को गिरफ्तार नहीं

किया गया वहां और अधिक सत्याग्रहियों को कूच करने की आज्ञा नहीं दी जा सकेगी। कुछ इलाकों में सांप्रदायिक दंगे हो गए हैं। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि सत्याग्रह का स्वरूप व्यक्तिगत होने की वजह से किसी जगह भी इस गड़बड़ का सम्बन्ध सत्याग्रह से नहीं है। परन्तु जिन जगहों में आतंक फैला हुआ है और शान्ति के लिए प्रतिदिन खतरा बना हुआ है, वहां व्यक्तिगत सत्याग्रह करना भी बेवकूफी है। सत्याग्रही का कर्तव्य लोगों में उत्साह भरना है और—जहां-कहीं भी गड़बड़ फैली हुई हो अथवा उसके फैलने का डर हो—उसे वहां जाकर लोगों की सेवा करनी चाहिये।

गड़बड़वाले इलाकों में वर्तमान सत्याग्रहियों को और भावी सत्याग्रहियों को बन्द करना चाहिये। इस बारे में कार्यक्रम निर्धारित कर दिया गया है। दूसरे इलाकों में—खासकर जहां गिरफ्तार न किये हुए असंख्यों सत्याग्रही प्रान्तों में से होकर गुजर रहे हैं—भावी सत्याग्रहियों को सत्याग्रह करने की स्वीकृति मिलने से पूर्व एक कड़ी परीक्षा में से गुजरना पड़ेगा। वे अपने आपको गांवों में खपा देंगे और उन्हें अपने पास एक दैनिकी रखनी पड़ेगी जिसमें उनके काम की एक-एक बात का विस्तृत रूप से उल्लेख रहेगा—गलियों की सफाई, हरिजनों की बस्तियों में जाना, लोगों को ताड़ी की दूकानों में जाने से रोकना, सामूहिक रूप से चर्खा कातना, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए कोई ठोस काम, दंगे को शान्त करने इत्यादि बातें शामिल हैं। अगर सभी भावी सत्याग्रही इस कार्यक्रम पर चलेंगे तो यह संभावना है कि उन्हें सत्याग्रह करने से पहले ही गिरफ्तार कर लिया जाय। सरकार की नज़रों में वे लोग 'गौण' हो सकते हैं, परन्तु ज्योंही हमारे सत्याग्रही अपना काम शुरू कर देंगे, सरकार को भी अपनी नीति में संशोधन करना पड़ेगा।

उदाहरण के तौर पर संयुक्तप्रान्त में न केवल सत्याग्रही ही पकड़े जाते हैं बल्कि विशुद्ध रूप से रचनात्मक-कार्य में संलग्न कार्यकर्ता भी। मैं श्री धीरेन मजुमदार के सम्बन्ध में पहले ही उल्लेख कर चुका हूं। एक और उल्लेखनीय व्यक्ति तथा प्रसिद्ध हिन्दी कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं, जिन्हें ईश्वर जाने किस बिना पर गिरफ्तार किया गया है, लेकिन उनके मित्रों और संबन्धियों का ऐसा खयाल है कि उन्हें इस वजह से पकड़ लिया गया है कि वे अपने घर में चर्खे की शिक्षा देते थे।

आन्दोलन का उद्देश्य कोई आश्चर्यजनक काम करना नहीं है। इसकी वजह से कोई गड़बड़ नहीं पैदा हो सकती। अनजान और पक्षपात से काम लेनेवाले आलोचकों ने दंगों का कारण सत्याग्रह बताया है। लेकिन किसी भी जगह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष से उनका संबन्ध सत्याग्रह से नहीं रहा है। अगर यह आन्दोलन सफल होगया तो उससे कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी दोनों ही श्रेणियों के लोगों को लाभ पहुँचेगा। अगर यह असफल रहा, जैसा कि सम्भव नहीं है, तो उससे सिर्फ कांग्रेसवालों को ही नुकसान पहुँचेगा—दूसरे किसी और को नहीं, वह भी यदि हम स्वेच्छा से सहन किये गए कष्ट को नुकसान पहुँचना कहें।

यह स्मरण रहे कि पंजाब के वकीलों के संघ ने देशभक्ति और निःस्वार्थ-भाव से प्रेरित होकर सत्याग्रहियों के ऐसे मामले हाईकोर्ट के सामने पुनः विचार करने के लिए पेश करने का फैसला किया है—जिनमें उनका ख्याल है कि उनके साथ अन्याय किया गया है।

सत्याग्रह आन्दोलन के हितों को ध्यान में रखते हुए परिवर्तित परिस्थितियों में नये प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होगया है। इसलिए अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के जनरल सेक्रेटरी आचार्य जे० बी० कृपलानी ने महात्मा गांधी के परामर्श से १७ जून, १९४१ को सत्या-

ग्रहियों और कांग्रेस कमेटियों के पथ-प्रदर्शन के लिए नीचे लिखी हिदायतें जारी कीं :—

(१) जेल से रिहा होकर आनेवाले सत्याग्रही को यथासंभव शीघ्र ही फिर दुबारा सत्याग्रह करना चाहिये । अगर किसी खास वजह से वह ऐसा नहीं कर सकता तो उसे चाहिये कि वह प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान संबद्ध के ज़रिये गांधीजी से इस बारे में छूट देने के निमित्त आवेदनपत्र भेजदे । इसमें उसे इस छूट की वजहें भी देनी चाहिये ।

(२) जिस तारीख को संभावित सत्याग्रही का नाम गांधीजी के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाय उसी दिन से उसे अपना निजी काम स्थगित करके नीचे लिखे रचनात्मक-कार्यक्रम की १३ मदों से किसी एक को या ज़्यादा को लेकर पूरी तरह से उसमें जुट जाना चाहिये !

(क) हिन्दू-मुस्लिम अथवा सांप्रदायिक एकता, (ख) अस्पृश्यता-निवारण, (ग) मद्यनिषेध या शराबबन्दी, (घ) खादी, (च) दूसरे ग्रामोद्योग, (छ) गांव की सफाई, (ज) नयी या बुनियादी तालीम, (झ) प्रौढ़ शिक्षा, (ट) स्त्रियों की उन्नति, (ठ) स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा, (ड) राष्ट्र-भाषा का प्रचार, (ढ) स्वभाषाप्रेम, (त) आर्थिक समानता का यत्न ।

(३) प्रत्येक संभावित सत्याग्रही से यह आशा की जाती है कि वह अपने पास एक डायरी रखे जिसमें वह अपने प्रतिदिन के काम का ब्योरा लिखे और १५ दिन के बाद उसे संबद्ध प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के पास भेज दे । सत्याग्रह करने की इजाज़त केवल उन्हीं कार्यकर्ताओं को दी जाएगी जो अपने प्रतिदिन के काम से अपनी योग्यता का सबूत दे देंगे ।

(४) भविष्य में सत्याग्रह आन्दोलन की प्रगति तथा उसके हितों को ध्यान में रखते हुए सत्याग्रहियों की सूचियों को पास करने के लिये नयी शर्तें और प्रतिबन्ध लगाने आवश्यक समझे गए हैं और वे उत्तरोत्तर और भी कड़े होते जाएंगे । इसलिये नये सत्याग्रही ऐसे होने चाहिये जो नयी परीक्षा में या कसौटी पर खरे उतर सकें । हमारे पास शिकायतें पहुँची हैं कि सत्याग्रहियों के नामों की स्वीकृति प्रदान करने में अनावश्यक रूप से देर होजाती है । परन्तु जिन लोगों ने अपने नाम सत्याग्रहियों की सूची में लिखाए उन्हें इस देरी पर अधीर होने की जरूरत नहीं । इस बीच में उन्हें रचनात्मक-कार्यक्रम में व्यस्त रहना चाहिये ।

अगर कोई सत्याग्रही, जिसने अपना नाम पहली शर्तों और प्रतिबन्धों को ध्यान में रखकर सूची में लिखाया था—अब इन नयी शर्तों को मंजूर करने में अपने को असमर्थ समझता है तो उसे चाहिये कि वह अपना नाम वापस ले ले और अगर वह ऐसा करता है तो उसमें कोई अपमान-जनक बात नहीं है । वह यथाशक्ति किसी और तरीके से देश की सेवा का काम जारी रख सकता है । वह पहले की तरह ही कांग्रेस-जन बना रहेगा । उसकी स्थिति में कोई फर्क नहीं आएगा ।

(५) जिन सत्याग्रहियों ने अपने नाम दर्ज करा दिये हैं वे स्थानीय संस्थाओं के चुनाव नहीं लड़ सकते । जो लोग सत्याग्रहियों की सूची में नाम दर्ज कराने से पहले इन चुनावों में उम्मीदवार खड़े होगए थे उन्हें चाहिये कि या तो वे चुनाव से हटजाएं अथवा सत्याग्रह न करें । एक सत्याग्रही की हैसियत से वे दोनों जगहों पर नहीं रह सकते ।

(६) जेल-मुक्त होनेवाला कोई भी सत्याग्रही जो किसी स्थानीय संस्था का सदस्य है । तब तक उसकी बैठकों में भाग नहीं ले सकता, जबतक कि गांधीजी उसे इसके लिए विशेष रूप से अनुमति न दे दें ।

(७) गिरफ्तार न किये जानेवाले सत्याग्रही जो अपने-अपने जिलों का दौरा कर रहें तथा वे सत्याग्रही जिनका नाम स्वीकार कर लिया गया है--स्थानीय संस्थाओं की बैठकों में भाग नहीं ले सकते।

(८) वर्षा-ऋतु में, अगर कोई सत्याग्रही चाहे तो अपने गांव के अलावा किसी और गांव अथवा गावों के समूह में ठहर सकता है और वहीं उसे सत्याग्रह और रचनात्मक-कार्य करते रहना चाहिये ।

(९) गिरफ्तार न किये जानेवाले जो सत्याग्रही या तो अपने जिलों का दौरा कर रहे हों अथवा दिल्ली की ओर कूंचकर रहे हों—उन्हें चाहिये कि वे अपने काम की रिपोर्ट हर पन्द्रहवें दिन अपने यहाँ की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में भेजदें । और प्रांतीय कांग्रेस कमेटियां उनके काम की संयुक्त रिपोर्ट हर पन्द्रहवें दिन अथवा महीने में एक बार अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के कार्यालय को भेज देंगी।

(१०) कुछ सत्याग्रहियों द्वारा अनियंत्रित अथवा अशिष्ट भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में शिकायतें मिली हैं । सत्याग्रहियों को समझ लेना चाहिये कि किसी को गाली देना या भला-बुरा कहना सत्याग्रह की भावना के सर्वथा प्रतिकूल है और इसलिये उन्हें हर हालत में उससे बचना चाहिये ।

जुलाई के मध्य में गांधीजी की इन कड़ी शर्तों के सम्बन्ध में लाहौर के डा० सत्यपाल ने बहुत क्षोभ प्रकट करते हुए कहा कि "इस समय कांग्रेस में जो निष्क्रियता देखने में आ रही है उससे मुझे बड़ी निराशा हुई है। उन्होंने भारत के लिए दो खतरों अर्थात् आन्तरिक सुरक्षा और बाहरी हमले की समीक्षा की और गांधीजी के फार्मूले पर एतराज करते हुए कहा कि इसका साफ मतलब यह है कि या तो आप कांग्रेस में रहिये अथवा उसके बाहर हो जाइये।" डा० सत्यपाल ने इस सम्बन्ध में श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस और श्री एम० एन० राय के प्रति किये गये व्यवहार का उदाहरण देते हुए कहा कि ये दोनों घटनाएं मेरे कथन को पूरी तरह साबित कर देती हैं। आपने कहा कि "कांग्रेस के प्रति मेरी वफादारी में जरा भी फर्क नहीं आया और अभी तक कांग्रेस के साथ मेरा दृढ़ संपर्क बना हुआ है।" आपने बताया कि मैंने इस उद्देश्य से कि हमारे देश को बाहरी हमले से बचाया जा सके "ब्रिटेन की मदद करने के प्रतीक-स्वरूप अपनी सेवाएँ सरकार को अर्पित कर दी हैं।" आपने यह मानने से इन्कार कर दिया कि "मैं सरकार के साथ सहयोग कर रहा हूँ, क्योंकि मैंने सरकार को अपनी जो सेवाएँ अर्पित की हैं, उनका सम्बन्ध भारत के दिन-प्रतिदिन की शासन-व्यवस्था से क़तई नहीं है।" इसके बाद उन्होंने अपने वक्तव्य में तानाज़नी के तौर पर बहुत से ऐसे उदाहरण पेश किये जो उनके खयाल में असहयोग की भावना के प्रतिकूल थे और फिर भी पंजाब में सत्याग्रह आन्दोलन के कुछ नेता उन पर अमल कर रहे थे। उन्होंने कहा मैं सत्याग्रही नहीं हूँ और मुझे इस आन्दोलन पर विश्वास नहीं है । हाँ, अलबत्ता स्वराज्य-प्राप्ति के लिए मैं सामूहिक आन्दोलन प्रारंभ करने की बात का औचित्य समझ सकता हूँ। इन शब्दों में कांग्रेस कार्यसमिति के इस भूतपूर्व सदस्य ने १४ जुलाई, १९४१ को कांग्रेस की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। इसके एक सप्ताह बाद अखिल भारतीय अग्रगामी दल की कार्यसमिति की एक बैठक हुई, जिसमें सत्याग्रह आन्दोलन, गांधीजी-द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, युद्ध की परिस्थिति तथा राजनीतिक बन्दियों के सम्बन्ध में ये कई प्रस्ताव पास किये गए।

"सत्याग्रहियों के सम्बन्ध में सरकारी नीति की जोरदार निन्दा करने के साथ-साथ समिति यह घोषणा कर देना चाहती है कि गांधीजी-द्वारा इस समय चलाए गए इस प्रकार के आन्दोलन की उपयोगिता में उसे कोई विश्वास नहीं है। अग्रगामी दल कांग्रेस के इस सिद्धान्त पर अटल बना हुआ है कि 'स्वराज्य-प्राप्ति के निमित्त सभी न्यायोचित और शान्तिपूर्ण उपायों से काम लिया जा सकता है। यह समिति उन कांग्रेसजनों को जिनका गांधीजी से मतभेद है यह सलाह देती है कि वे कांग्रेस से इस्तीफा न दें, बल्कि वे इसमें बने रहें और निर्भय होकर आन्दोलन करते हुए उसे पवित्र बनाएं। उसे शोधें।

"आन्तरिक अव्यवस्था को शान्त करने और बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा के उद्देश्य से यह समिति सारे देश में राष्ट्रीय सुरक्षा ब्रिगेडों की स्थापना का भी समर्थन करती है। समिति आग्रह करती है कि शस्त्रास्त्र कानून के अन्तर्गत भारतीयों द्वारा अस्त्रों के प्रयोग पर लगाए गए प्रतिबन्ध उठा लेने चाहियें।"

एक ओर जबकि देश में सत्याग्रह आन्दोलन में बड़ी शीघ्रता के साथ प्रगति हो रही थी, दूसरी ओर देश में विषम परिस्थितियाँ पैदा हो रही थीं। १९४०–४१ का सत्याग्रह आन्दोलन एक दृष्टि से बहुत ही उल्लेखनीय और अनोखा है कि कांग्रेस के मंत्री सरकारी पदों से इस्तीफा देकर जेल के सींकचों का चुम्बन करने के लिये उत्सुक हो उठे थे। और कांग्रेसजनों के इस श्रेणीबद्ध संगठन में जो लोग सत्ता के उच्च शिखर पर आसीन हो गए थे, उनमें वे लोग भी शामिल थे, जिन्होंने चिरकाल तक कष्ट-सहन करके देश की अथक सेवा की थी और इन उच्च पदों पर पहुँचने से पहले ये लोग स्थानीय संस्थाओं के उत्तरदायित्वपूर्ण पदों को सुशोभित कर चुके थे। निस्संदेह यह एक कल्पनातीत बात है कि ब्रिटेन जितने बड़े और जनसंख्या वाले प्रान्तों में एक ओर तो स्वायत्त-शासन चल रहा हो और दूसरी ओर स्थानीय संस्थाओं में मंत्रिमंडलों के विरोधियों का बोलबाला हो। चुनांचे जब सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ तो उस समय दक्षिण के २६ ज़िला-बोर्डों में से २४ का संचालन कांग्रेसजनों के हाथ में था और इसी प्रकार मदरास की तीन-चौथाई म्युनिसिपैलिटियों में भी कांग्रेसियों का ही राज्य था। रामगढ़ में इस प्रश्न पर सोच-विचार किया गया था कि क्या इन संस्थाओं के प्रधानों और सदस्यों को वहाँ से हटा लिया जाय? लेकिन फैसला इसके विपक्ष में हुआ अर्थात् उन्हें इन संस्थाओं में बने रहने को कहा गया। युद्ध-प्रयत्न में तीव्रता आने के साथ-साथ दो और परिस्थितियाँ पैदा हो गईं। एक तो यह कि सरकारने इस बात पर अधिकाधिक जोर देना शुरू कर दिया कि स्थानीय संस्थाएं युद्ध-प्रयत्न में आर्थिक मदद करें और अपना रुपया युद्ध के बांडों में लगाएं। दूसरी परिस्थिति यह यह थी कि सरकार के इस दबाव डालने पर कमजोर वर्ग तो उसके आगे झुक गए और जिन संस्थाओं ने युद्ध-प्रयत्न में चन्दा देना मंजूर कर लिया था—उनमें से कांग्रेसियों को हटा लेना आवश्यक हो गया। परिणाम यह हुआ कि स्थानीय संस्थाओं के कांग्रेसी सदस्यों में कटुता और मतभेद पैदा हो गये। सरकारी दबाव और आपसी झगड़ों और मतभेदों के अलावा लोभ और दलबन्दी ने भी उनका साथ दिया। इन सब बातों का परिणाम अच्छा न था। इससे गम्भीर परिस्थिति पैदा हो गई। मदरास में यह बात देखने में आई कि प्रचलित कानून के अनुसार स्थानीय संस्थाओं के सदस्य हर तीन महीने के बाद अपने पदों पर बने रह सकते थे, लेकिन किसी जिला बोर्ड अथवा म्युनिसिपैलिटी का प्रधान अनिश्चित काल तक अपने पद पर नहीं बना रह सकता था। यह स्थिति आन्दोलन के शुरू-शुरू में थी। परन्तु अब सवाल यह पैदा

हुआ कि जो लोग जेलों में चले गए हैं क्या उनके सम्बन्ध में यह समझ लिया जाय कि वे स्वेच्छा से इन संस्थाओं की बैठकों में अनुपस्थित रहे हैं। इनके अलावा नजरबन्द व्यक्तियों का सवाल भी था, जिनका मामला और भी सन्देहास्पद था। मद्रास सरकार ने अपने एडवोकेट-जनरल की राय ली। उन्होंने बताया कि इस प्रकार सदस्य अपनी मेम्बरी से वंचित नहीं किये जा सकते। इसी बीच मदरास कारपोरेशन में १५ स्थान खाली हो गए। १५ सदस्यों ने इसलिए इस्तीफा दे दिया कि कारपोरेशन की ओर से युद्ध के लिए १०,००० रु० की आर्थिक सहायता दी गई थी और फिर कुछ सदस्य जेल में भी चले गये थे। इसी अवसर पर मद्रास-सरकार ने इस सम्बन्ध में अपने एक सरकारी आदेश में संशोधन करके यह घोषणा की कि इस सवाल का फैसला कि सदस्यों के जेल चले जाने पर अथवा नजरबन्द किये जाने पर उनके स्थान खाली समझे जाने चाहियें अथवा नहीं—पृथक्-पृथक् रूप से एक अदालत-द्वारा किया जायगा और सम्बद्ध सदस्यों को चाहिये कि वे अपना मामला जिला मैजिस्ट्रेटों के सामने पेश करें। इससे एक और नया सवाल यह पैदा हो गया कि सरकार के इस आदेश से पहले जो चुनाव हो चुके हैं—क्या उन्हें वैध समझा जाय या नहीं, क्या पहले और बाद के आदेशों के दरमियान की अवधि में चुनाव होने चाहिये थे या नहीं, और अन्तिम सवाल यह था कि जजों के फैसला देने तक परिस्थिति क्या होगी, क्योंकि यह संभव था कि विभिन्न जिलों के जज अलग-अलग फैसले दें। इधर दक्षिण में परिस्थिति यह थी और उधर उत्तर में, बिहार प्रान्त में एक संकटपूर्ण परिस्थिति पैदा हो गई और उसके फलस्वरूप गांधीजी ने राजेन्द्र बाबू के परामर्श से यह फैसला किया कि कांग्रेसियों को स्थानीय संस्थाओं से इस्तीफा दे देना चाहिये। इसी बीच सरकार ने नीचे लिखा आदेश जारी किया, जिससे स्पष्ट रूप से साबित हो जाता है कि इस बारे में गांधीजी का फैसला बिल्कुल उचित और ठीक था:—

भारत-रक्षा-कानून में एक संशोधन-द्वारा सरकार ने अपने हाथ में यह अधिकार ले लिया है कि वह स्थानीय अधिकारियों को आवश्यक सतर्कतापूर्ण कार्रवाई करने का आदेश दे सकती है। यह आदेश दिया जाता है कि, "सम्बद्ध सरकार यदि चाहे तो कहीं भी स्थानीय अधिकारियों को यह आदेश दे सकती है कि वे एक निश्चित अवधि के अन्दर ऐसे साधनों को अपने हाथ में लें लें जिनके बारे में उन्हें सरकार द्वारा आदेश दिया जाय। ये वे साधन होंगे जिन्हें सम्बद्ध सरकार उनके नियंत्रण में या उसकी अधिकार सीमा के अन्तर्गत रहनेवाले व्यक्तियों और जायदादों के संरक्षण के लिए आवश्यक समझती हो। अथवा विरोधी आक्रमण के समय इन उपायों का उपयोग इस मकसद से भी किया जा सकता है कि उस सम्बद्ध इलाके की महत्वपूर्ण व्यवस्थाओं को कायम रखा जा सके। इसके अलावा उन्हें ये हिदायतें भी माननी होंगी:—

(क) स्थानीय अधिकारियों को इन आदेशों का पालन करना होगा।

(ख) स्थानीय संस्थाओं के कोष से इन उपायों के लिए रुपया दिया जा सकेगा।

(ग) स्थानीय अधिकारियोंको अपने और सब काम छोड़कर इन उपायों को प्राथमिकता देनी होगी।

अगर किसी जगह स्थानीय अधिकारी इस संबन्ध में सम्बद्ध सरकार द्वारा जारी किये गए आदेश की शर्तों के अनुसार एक निश्चित अवधि में इन उपायों पर अमल नहीं करेंगे तो सरकार स्वयं उन्हें अपने हाथ में ले लेगी और कार्यान्वित करेगी। उस हालत में उनपर जो भी खर्च आयेगा उसकी पूर्ति उस सम्बद्ध स्थानीय शासन-व्यवस्था के कोष में से की जायगी।

सम्बद्ध सरकार से अभिप्राय छावनियों के अधिकारियों, बन्दरगाहों के अधिकारियों और मुख्य बन्दरगाहों में केन्द्रीय सरकार और अन्य स्थानीय संस्थाओं के मामले में प्रान्तीय सरकारों से है।

सत्याग्रह-जैसे महान् और व्यापक तथा राष्ट्रव्यापी आन्दोलन के दौरान में समय-समय पर थोड़ी-बहुत अनुचित परिस्थितियों का पैदा हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। एक ऐसी ही नई बात यह पैदा हो गई थी कि लोग धार्मिक उत्सवों के अवसर पर और मन्दिरों पर राष्ट्रीय झण्डा लहराना चाहते थे।

'राष्ट्रीय' झण्डा और 'हिन्दू' पताका के प्रश्न के सम्बन्ध में 'सिमोगा हिन्दू-महासभा' के सेक्रेटरी के नाम गांधीजी ने नीचे लिखा पत्र भेजा। इसमें आपने लिखा: —

"प्रिय सेक्रेटरी,

मुझे पता चला है कि गणपति-उत्सव के अवसर पर आयोजित जुलूस में राष्ट्रीय झण्डे का प्रयोग किया गया है। मन्दिरों पर राष्ट्रीय झण्डा लगाना गलती है। कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था है। कारण कि उसके द्वार सभी जातियों और धर्मों के लिए बिना किसी भेदभाव के खुले हैं। कांग्रेस का हिन्दू या दूसरे इसी किस्म के त्योहारों-उत्सवों से कोई सम्बन्ध नहीं है।"

पत्रों में बार-बार यह घोषणा की जा रही थी कि गांधीजी सत्याग्रह आन्दोलन की निरन्तर प्रगति से संतुष्ट हैं। अक्सर कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी, श्री कृपलानी गांधीजी के प्रवक्ता की हैसियत से कोई घोषणा आदि किया करते। और प्रत्येक छोटी से छोटी ऐसी घटना का, जिसका दूर-दराज का सत्याग्रह आन्दोलन पर प्रभाव पड़ता था और उसके सम्बन्ध में गांधीजी की जो प्रतिक्रिया होती थी उसका ज्ञान बाहरी संसार को आपके ज़रिये ही होता था। श्री कृपलानी का काम बाहरी दुनिया और गांधीजी के बीच घनिष्ट संपर्क बनाए रखना था।

गांधीजी सरकार और जनता—दोनों की ही तारीफ और बुराई करने में बड़ी निष्पक्षता से काम लेते थे। गांधीजी ने सरकार को इस बात पर बड़ी खरी-खरी सुनाईं और उसके कान भी ऐंठे कि उसने श्रीमती खुरशीद नौरोजी को उनसे मिलने के लिए वर्धा नहीं आने दिया। उनके मामले की विस्तृत बातों का उल्लेख कहीं और किया गया है और गांधीजी की इस कड़ी आलोचना के बाद एक सप्ताह के भीतर ही १४ अगस्त को इन्हें रिहा कर दिया गया।

कभी-कभी कांग्रेसजनों पर बड़े अपमानजनक प्रतिबन्ध लगा दिये जाते थे और एक ऐसे ही मौके पर गांधीजी ने उनका विरोध और उल्लंघन करने का जोरदार परामर्श भी दिया।

१५ सितम्बर को वर्धा से गांधीजी ने श्री इकबालकृष्ण कपूर के नाम नीचे लिखा पत्र लिखा:—

"प्रियवर कपूर, मेरी राय है कि आपका मामला बिलकुल स्पष्ट है। यह आदेश अपमानजनक है। आप इसका प्रतिरोध बतौर एक सत्याग्रही के नहीं करेंगे, बल्कि एक व्यक्तिगत हैसियत से, जिसके लिए तथाकथित आजादी से भी अधिक मूल्य उसके आत्मसम्मान का है। इसलिए किसी साधारण हिदायत की जरूरत नहीं है। आपका सच्चा, एम० के० गांधी"

यह स्मरण रहे कि श्री इकबाल कृष्ण कपूर भारत रक्षा कानून की धारा १२६ के अन्तर्गत दो महीने तक नजरबन्द रहने के बाद ६ सितम्बर को कानपुर की जिला जेल से रिहा कर दिए गए थे। रिहा करते समय आप पर संयुक्तप्रान्त की सरकार के चीफ़ सेक्रेटरी की ओर से एक नोटिस तामील किया गया। इस नोटिस के अन्तर्गत आप पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए।

उदाहरण के तौर पर आप को कोतवाली पुलिस थाने की सीमा के बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। सप्ताह में एक बार स्वयं उपस्थित होकर कोतवाली में रिपोर्ट देना, और कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन से सम्बन्ध रखनेवाली किसी कार्रवाई में भी भाग न लेने को कहा गया था।

श्री कपूर सत्याग्रही नहीं थे और साधारणतः कांग्रेस की कर्रवाइयों से भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। हाल में आपने कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया था और इस पर आपको दो महीने के लिए नजरबन्द कर दिया गया। अपने ऊपर लगाए गए प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में उन्होंने गांधीजी को अपना पथ-प्रदर्शन करने के लिए लिखा।

यह बड़े आश्चर्य की बात है किस प्रकार कुछ सत्याग्रही, जिन्होंने गांधीजी के आदेशों के अनुसार सत्याग्रह किया था—उनपर मुकदमा चलाकर उन्हें सजा दी गई, परन्तु जेल से रिहा होने के बाद उन्हें फिर नजरबन्द कर दिया गया। इसका कारण सिर्फ सरकार ही जानती थी। प्रारंभ में दक्षिण भारत में कभी नजरबन्दों को एक ही श्रेणी में रखा गया। परन्तु जुलाई, १९४१ के मध्य में उन्हें 'ए' और 'बी' दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया। पहली श्रेणी के अन्तर्गत इन नजरबन्दों को प्रतिदिन ०–४–३–० फी आदमी के हिसाब से और दूसरी श्रेणी वालों को ०–१–७ के हिसाब से राशन मिलता था। यह कहना अधिक उचित होगा कि यह राशन 'ए' और 'सी' क्लास के कैदियों जितना था। कैदियों को इसप्रकार दो श्रेणियों में बाँटे जाने के परिणामस्वरूप वैलोर जेल में उन्होंने भूख-हड़ताल कर दी। इसके अलावा शुरू-शुरू में हरेक नजरबन्द को १० रु० और ५ रु० के हिसाब से मासिक भत्ता मिलता था, पर अब वह भी बन्द कर दिया गया था। वैलोर जेल के १५० नजरबन्दों में से केवल तीन-चार को ही भत्ता मिल रहा था और वह भी तुच्छ-सा—७ रु० से लेकर १० रु० तक। एक व्यक्ति को १५ रु० और एक दूसरे को जिसकी, सौभाग्य से दो पत्नियाँ थीं—१५ रु० मिलता था। १० रु० पहली पत्नी के लिए और ५ रु० दूसरी के लिए। और जब इतने पर भी उन्हें दो श्रेणियों में बाँट दिया गया तो उनमें भारी असन्तोष की लहर दौड़ गई और आखिर दोनों श्रेणियों के लगभग ८० राजबन्दियों ने ५ मई, १९४१ को भूख-हड़ताल शुरू करदी और १७ दिनों के बाद २२ मई को यह भूख हड़ताल बिना किसी शर्त के खोल दी गई। लेकिन उन्हें प्रारम्भ में ही एक संदेश मिला कि उनके भूख-हड़ताल करने से पहले ही इस सम्बन्ध में मद्रास-सरकार ने भारत-सरकार को लिखा है। मद्रास-सरकार की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उससे कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार करने, उन्हें नजरबन्द रखने और कानून तथा व्यवस्था कायम रखने को तो कहा गया लेकिन उन्हें सूचित किये बिना ही कैदियों के लिए विभिन्न श्रेणियाँ निर्धारित कर दी गईं और इस प्रकार सरकार की मूर्खताओं का फल उन्हें भुगतना पड़ा। बहरहाल, कुछ वक्त के बाद यह ऐलान किया गया कि दूसरी श्रेणी के नजरबन्दों को ०–४–० और पहली श्रेणी के नजरबन्दों को ०–८–० प्रति खुराक भोजन के लिए मिलेंगे। इसके अलावा उन्हें आजादी थी कि वे अगर चाहें तो क्रमशः ५ और १० रु० तक का अतिरिक्त राशन और ले सकते थे। पर सवाल तो यह था कि यह रुपया कहाँ से आएगा? अधिकांश नजरबन्द मजदूर-पेशा लोग थे। बहुत-से अपने गाढ़े पसीने की कमाई से गुजारा करते थे। उनमें बहुत से मजदूर-संगठनों में काम करते थे और सरकार को मजदूरों से चिढ़ थी। कोई भी व्यक्ति जिसका मजदूरों के साथ बहुत दूर-दराज़ का भी ताल्लुक होता था—उसे

गिरफ़्तार करके नजरबन्द कर दिया जाता था और जिन सत्याग्रहियों को रिहा करने के बाद फिर गिरफ़्तार कर लिया जाता था--उसकी वजह अक्सर यही होती थी कि उनका सम्बन्ध मजदूरों से साबित कर दिया जाता था। सरकार को इससे कोई मतलब नहीं था कि क्या यह रेल अथवा जहाज, वर्कशाप या जहाजघाट, मिल या कारखाने में काम करनेवाला मजदूर हो चाहे वह चीनी की मिल में हो अथवा कपड़े की, चाहे वह मशीनों पर काम करता हो अथवा हाथ से और अन्त में चाहे वह पान अथवा बीड़ी का काम करता हो—आखिर था तो मजदूर। सरकार की नजरों में हरेक मजदूर-पेशा शख्स मजदूर ही तो था और उसका मतलब था कि वह लुक-छिपकर काम करेगा। लड़ाई को शुरू हुए दो साल हो चुके थे फिर भी बहुत से ऐसे व्यक्ति अज्ञात रूप से काम कर रहे थे –जिन्हें सरकार हिरासत में ले लेना चाहती थी। कुछ लोगों को सिर्फ उन पर संदेह होने की वजह से नजरबन्द कर दिया गया था। इनमें से कुछ आदमी जिन्हें सरकार पकड़ना चाहती थी--वे थे जो जेल से दूसरे साधारण नजरबन्दों के साथ भाग निकले थे। इनमें से चार आदमी बेलारी और पाँच वेलोर जेल से भाग गए थे। इधर दक्षिण भारत के नजरबन्दों को इस तरह की मुसीबतें झेलनी पड़ रहीं थीं और उधर पश्चिम भारत में उनकी हालत शायद इससे भी बदतर थी।

: १२ :

सत्याग्रह और उसके बाद।

१७ अक्टूबर, १९४१ को इस व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन को शुरू हुए एक साल हो चुका था। इस आंदोलन का वास्तविक उद्देश्य वाणी-स्वातंत्र्य के अधिकार का प्रतिपादन और उसकी रक्षा करना था। इसकी प्रणाली भी विलक्षण थी। सत्याग्रही सत्याग्रह करने से पहले ही उसकी सूचना मैजिस्ट्रेट और पुलिस को भेज देता था। वह जनता के सामने घोषणा करता कि उसका युद्ध-प्रयत्न में सहायता न करने का दृढ़ विश्वास है। इसके अलावा जिस जगह और जिस समय उसे सत्याग्रह करना होता उसकी सूचना वह अधिकारियों को पहले से ही दे देता था। सम्भावित सत्याग्रहियों की सूची गांधीजी को भेज दी जाती थी। वे ख़ूब छानबीन करने के बाद आदेश देते थे कि कौन व्यक्ति सत्याग्रह कर सकता है। सत्याग्रहियों के निर्वाचन का काम स्वयं गांधीजी ही करते थे। इस आन्दोलन की प्रगति का दारोमदार इस बात पर नहीं था कि कितने अधिक आदमी जेल जाते हैं। संसार भलीभांति जानता है कि किस प्रकार १९२१ के सत्याग्रह में ३०,०००, १९३० में ६०,००० और १९३२–३३ में १,२०,००० व्यक्ति कृष्ण-मंदिर के अतिथि बने थे। यह आन्दोलन किसी शृङ्खला की कड़ी नहीं था। उसकी सफलता प्रगति का अन्दाज़ा गणित शास्त्र या ज्यामिति से नहीं लगाया जा सकता था। इस आंदोलन के नेता ने बारम्बार यह घोषणा की थी कि यह आन्दोलन पूर्णतः सफल रहा है और हाल में गांधीजी ने जो वक्तव्य दिया है, जिसका उल्लेख आगे चलकर किया गया है, उसमें उन्होंने बताया है कि मुझे सत्याग्रह आन्दोलन की प्रगति से पूर्ण सन्तोष है और इसलिए इस समय यह प्रश्न ही नहीं उठता कि "क़दम पीछे हटाया जाय अथवा आगे बढ़ाया जाय।"

१२ अक्टूबर, १९४१ को सेवाग्राम में गांधीजी को जन्मदिन के उपहार में लगभग ३ करोड़ गज़ सूत और १२,००० रु० भेंट किया गया। गांधीजी ने लगभग ४५ मिनिट तक इस सभा में भाषण किया। अपने भाषण के दौरान में गांधीजी ने कहा:—

"मेरा हमेशा से ऐसा यक़ीन रहा है कि अनुभव के साथ साथ देश का खद्दर की उपयोगिता के सम्बन्ध में विश्वास दृढ़तर होता जायगा। परन्तु मेरे-जैसे अत्यधिक आशावादी को भी इस बार यह आशा न थी कि देश के सभी हिस्सों में खादी का इतना उत्पादन हो पायेगा और ख़ासकर जेलों में। इस अप्रत्याशित सफलता से मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई है कि हम जिस उद्देश्य को लेकर लड़ रहे हैं, उसमें हमारी विजय अवश्यम्भावी है। हिन्दी के और लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को मैंने अपने पत्र में लिखा है कि आपने और आपके सहयोगियों ने जेल में जो सूत काता है उससे आप स्वराज्य को अधिकाधिक निकट लाने में समर्थ हुए हैं।

"मैं यह बात कोई बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कह रहा; जो कुछ मैं कह रहा हूं उसका वैसा ही भाव और अर्थ है, क्योंकि मेरे सामने स्वराज्य का अर्थ भारत की मूक जनता का स्वराज्य है।

"इसका अर्थ श्वेत स्वेच्छाचारिता के स्थान पर भारतीय स्वेच्छाचारिता को अधिष्ठित करना नहीं है। स्वराज्य की परिभाषा के अनुसार तो ग़रीब-से-ग़रीब भारतीय को भी काफ़ी दूध—घी, तरकारियां और फल मयस्सर होने चाहिए। प्रत्येक मर्द और औरत को उचित और संतुलित ख़ूराक और रहने को सुन्दर मकान मिलना चाहिए। जब मैंने वह ख़त लिखा तो मेरे सामने स्वराज्य की यही परिभाषा और कल्पना थी।

"सभी प्रान्तों की जेलों से मेरे पास जो समाचार पहुँचे हैं उनसे मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है। अगर मुझे सही समाचार मिला है तो हमारे साम्यवादी भाई भी शौक़ से चरखा कातने लगे हैं। मैंने ये बातें आपसे इसलिए कही हैं कि कुछ लोग बारम्बार मुझसे यह सवाल कर रहे हैं कि मौजूदा आंदोलन का क्या हशर होगा? सरकार पर इसका कोई असर नहीं पड़ रहा है।

"इस बारे में मेरा जवाब यह है कि मुझे सत्याग्रह की वर्तमान प्रगति से पूर्ण सन्तोष है। मैं फ़िलहाल ज़्यादा तेज़ क़दम नहीं उठाना चाहता। इसका मतलब यह नहीं कि मैं कोई तेज़ क़दम उठाना ही नहीं चाहता, लेकिन अहिंसा के क़ानून के मुताबिक़ उसमें ख़ुद-ब-ख़ुद तेज़ी आ जायगी। अगर लोग फ़ौरन ही कोई आश्चर्यजनक घटना या परिणाम होते देखना चाहते हैं, तो यह मुमकिन नहीं है। अहिंसा उस परमपिता प्रभु का स्वरूप है और उस सर्वनियंता के तरीक़े अवर्णनीय हैं। वाणी उनका वर्णन नहीं कर सकती।

"बारम्बार यह कहा जा रहा है कि इंग्लैण्ड की मुसीबत हमारे लिए लाभ उठाने का सबसे अच्छा मौक़ा है। मैं आपको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अखिल भारतीय कांग्रेस महा-समिति के बम्बईवाले प्रस्ताव के अनुसार इस तरह की किसी भी नीति पर अमल करने की सम्भावना नहीं हो सकती। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक तरफ़ तो हम अहिंसा को मानें और दूसरी तरफ़ हम इंग्लैण्ड को उसकी मुसीबत की घड़ी में परेशान करें? कांग्रेस के प्रस्ताव एक ऐसे ज़िम्मेदार संगठन द्वारा पास किए गये प्रस्ताव हैं, जो दुनिया पर रोब नहीं गांठना चाहता। उसे भ्रान्ति में नहीं रखना चाहता।

"मेरे लिए यह कोई मुनासिब मौक़ा नहीं है कि मैं आपको यह स्पष्ट कहूँ कि अन्त में किस तरह से अहिंसा का सफल होना अनिवार्य है। हो सकता है कि मैं जो कुछ कहूँ उससे आपको सन्तोष न हो सके, लेकिन मैं आपको निश्चय ही यह बता सकता हूँ कि अहिंसा अपना काम किस तरीक़े से करती है और यही एक वजह है कि हम इस नाज़ुक अवसर पर ब्रिटेन को परेशान करने की कल्पना तक भी नहीं कर सकते।

"लोग कहते हैं कि अवांछित लोग इस आंदोलन में घुस आये हैं। मुझे मालूम है कि एक भी ऐसा सूबा नहीं जहाँ अवांछित लोग जेल न गये हों, पर मैं यह भी तो जानता हूँ कि हर सूबे में लोग मेरी हिदायतों पर अमल करते हुए ही जेल गये हैं। अगर ये मुट्ठीभर लोग भी अपने धर्म और विश्वास पर अडिग बने रहे तो हमारी विजय निश्चित और अनिवार्य है। लेकिन कामयाबी के लिए सबसे ज़रूरी शर्त कांग्रेस के तेरह-सूत्री रचनात्मक कार्य को पूरा करना है।

"जैसा कि मैं बार-बार कहते थकता नहीं, खादी उस सारे कार्यक्रम का केन्द्र-बिन्दु है।

अगर कोई कांग्रेसजन खादी में यक़ीन नहीं रखता, अपने निजी जीवन में अस्पृश्यता को मानता है दूसरे मज़हब के लोगों से घृणा करता है तो वह सत्याग्रही बनने के क़ाबिल नहीं है। उसे कोई हक़ नहीं कि वह सत्याग्रह करे। उसका जेल जाना उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि किसी चोर या डाकू का। इसमें कोई शक नहीं कि सिविल नाफ़रमानी एक शक्तिशाली और अमोघ अस्त्र है, लेकिन जब तक एक रचनात्मक कार्यक्रम पर अमल करने को राष्ट्र तैयार नहीं हो जाता तब तक हथियार का प्रयोग बेकार है। उसे हम प्रभावशाली नहीं बना सकते।

"जो लोग एक बार जेल हो आए हैं, उन्हें बार-बार जेल जाना चाहिए। हमारे पीछे हटने का तो कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। पर इसका मतलब यह नहीं कि इस मामले में हम अपनी विवेक-बुद्धि से काम न लेंगे।

"हो सकता है कि कुछ मामलों में हमें छूट देनी पड़े—कुछ व्यक्ति इस दिशा में अपवाद हो सकते हैं। अगर कोई सत्याग्रही हर सम्भव कोशिश करने पर भी अपना स्वास्थ्य क़ायम नहीं रख सकता तो मैं उसे दुबारा जेल जाने की इजाज़त कभी नहीं दे सकता। इसके अलावा और भी ऐसे अप्रत्याशित कारण हो सकते हैं, जिनमें हमें किसी व्यक्ति को छूट देनी पड़े। इस सम्बन्ध में हमें अपने विवेक से काम लेना चाहिए, लेकिन साधारण नीति स्पष्ट है। साधारणतः प्रत्येक सत्याग्रही को अनावश्यक विलम्ब किये बिना बारम्बार जेल जाना चाहिए।

"मैं आपको यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि तीन प्रान्तों की ओर से आपने मुझे जो रकम दी है, उसे मैं किस तरीके से इस्तेमाल करना चाहता हूँ। यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं कि इसका उपयोग खद्दर का मार्ग प्रशस्त करने में किया जायगा। मैं इसे किसी और मकसद के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता। मैं और श्री जाजू जी किसी भी ऐसे सुझाव का स्वागत करेंगे जो आपलोग मिलकर या अलग-अलग इस अभिप्राय से पेश करेंगे कि आपके प्रान्तों में खद्दर को प्रोत्साहन देने के लिए इस रुपये को इस्तेमाल करने का सबसे बढ़िया तरीका कौन-सा है? हम इन सुझावों पर पूरी तरह से गौर करेंगे।

"अन्त में मैं लोगों पर फिर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सत्याग्रह की लड़ाई कष्ट उठाने और त्याग करने की लड़ाई है। हिंसा-जैसी पैशाचिक युद्धकला में जैसा कि आजकल यूरोप में देखने में आरही है लोगों को मजबूरन अनेक कष्ट सहन करने पड़ रहे हैं। परन्तु हमारे संघर्ष में इतने बड़े पैमाने पर कष्ट झेलने का सवाल नहीं पैदा होता। इसमें तो हमें सिर्फ बारम्बार जेल ही जाना है। अगर हम इस मामूली से कष्ट को भी बरदाश्त नहीं कर सकते तो हमारे लिए स्वराज्य की चर्चा करना बिलकुल बेकार है। उसके कोई माने नहीं।"

सत्याग्रह आन्दोलन की इस वर्षगांठ का इसलिए इतना महत्त्व न था कि उसके परिणाम-स्वरूप लोगों में भावोद्रेक को प्रोत्साहन मिलेगा, बल्कि बहुत से महत्त्वपूर्ण नेता जेल से रिहा होकर आ रहे थे। १६ अक्टूबर तक कार्यसमिति के ग्यारह सदस्य मुक्त होकर वर्धा पहुँच चुके थे। उनके अलावा और भी नेता वहाँ मौजूद थे। यद्यपि कोई भी दल सरकार के रुख और उसकी कारंवाई का समर्थक नहीं था, परन्तु उनका दो बातों के बारे में आपसी मतभेद था। एक तो यह कि कांग्रेस के साधारण सुख का समर्थन वे अपने-अपने दृष्टिकोण से करते थे और दूसरे गतिरोध का अन्त करने के लिए उनके अपने-अपने सुझाव थे। कुछ दल तो पूर्णतः भारतीय शासन-परिषद् के हामी थे और कुछ दूसरे यह चाहते थे कि शासन-परिषद् का स्वरूप तो यही बना रहे, लेकिन वह सम्राट् और वाइसराय के प्रति सामूहिक रूप से ज़िम्मेवार होनी

चाहिये। डा० सप्रू के नेतृत्व में निर्दल नेताओं की मांग यह थी कि उपर्युक्त आधार पर शासन-परिषद् के निर्माण के अलावा ब्रिटिश सरकार को युद्ध समाप्त होने के बाद एक निश्चित अवधि के भीतर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने के सम्बन्ध में भी घोषणा कर देनी चाहिये। निर्दल नेता निरन्तर गांधीजी से यही कह रहे थे कि वे सत्याग्रह-आन्दोलन वापस लेलें। मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण बिल्कुल निराला ही था। उसने इस सिलसिले में पाकिस्तान का सवाल खड़ा कर दिया और यह फैसला किया कि जब तक इस प्रश्न का निपटारा न हो जाय तब तक शासन-परिषद् अथवा सुरक्षा-परिषद् से असहयोग किया जाय। यद्यपि लीग ने अपने अपने प्रान्तों में मुस्लिम लीग के प्रधान मंत्रियों को युद्ध-प्रयत्न में पूर्ण सहयोग देने की छुट्टी दे दी, लेकिन उसने लीग के अध्यक्ष और कार्यसमिति की सहमति लिये बिना उनके सुरक्षा-परिषद् में भाग लेने पर आपत्ति उठाई।

परन्तु मुसलमान यह महसूस कर रहे थे कि इंग्लैण्ड द्वारा सीरिया पर कब्जा ईरान के शाह रज़ा खान पहलवी का सिंहासन च्युत होना और १६१६ की तरह ईरान पर विदेशी शक्तियों का अधिकार अर्थात् दक्षिणी भाग पर इंग्लैण्ड का और उत्तरी भाग पर रूस का अधिकार इस्लाम की तौहीन करना था। इसके अलावा मुसलमानों की नाराज़ी की एक और वजह यह भी थी कि मुस्लिम लीग की कार्यसमिति ने ईरान की परिस्थिति के बारे में जो प्रस्ताव पास किया था, सरकार ने संभवतः उसका प्रकाशन इसलिए रोक दिया था कि उसके कारण भारत-रक्षा कानून का उल्लंघन होता था। २६ अक्टूबर से केन्द्रीय असेम्बली का अधिवेशन शुरू हो रहा था। इस सम्बन्ध में लीग का रुख क्या होगा, इस बात की देश में बड़ी चर्चा थी। अपना सिंहासन छोड़ते समय शाह ने जो संदेश दिया वह बड़ा करुणापूर्ण था और भारत के लिए उसका बड़ा महत्त्व है, इसलिये उसे हम नीचे देते हैं:—

"मेरी शक्ति का ह्रास होता जा रहा है, इसलिये मैं निर्बल पड़ गया हूँ। मेरा ख्याल है कि अब देश का काम-काज, जिसके लिए निरंतर देखरेख की ज़रूरत रहती है, एक नौजवान और स्फूर्ति से भरे हुए हाथों में चला जाना चाहिये, जिसमें कि राष्ट्र संतुष्ट हो सके और उसका भला होसके। इसीलिये मैंने १६ सितम्बर, १६४६ से अपने उत्तराधिकारी के हक में राजगद्दी छोड़ना स्वीकार कर लिया है। इसलिए संपूर्ण राष्ट्र को, जिसमें नागरिक और सैनिक सेनाएं भी शामिल हैं, चाहिये कि वे मेरे उत्तराधिकारी को वैध राजा स्वीकार करें और अब तक देश के हितों के ख्याल से वे मेरे लिए जो कुछ भी करते रहे हैं, भविष्य में उसके लिए वही करें।"

नरम दलवालों की नीति यह थी कि वे पृथक्-पृथक् घटनाओं के सम्बन्ध में अपने पवित्र और ज़ोरदार विचार प्रकट करके सन्तोष कर लेते थे। लेकिन समस्या को हल करने की कोई उपयुक्त योजना नहीं सुझाते थे। इनके अलावा देश में साम्यवादी दल—साम्यवादी नेता अलग-अलग अपनी हैसियत से, उसके सदस्य की हैसियत से नहीं—समाजवादी दल, अग्रगामी दल,और किसान सभा वाले अपने विचार सार्वजनिक रूप से नहीं जाहिर कर रहे थे। इसके अलावा उन्हें ऐसा करने का मौका भी नहीं मिला था। लेकिन इनमें से कुछ कार्यकर्ता मुख्य रूप से अपना कार्य कर रहे थे और ये सभी दल ब्रिटेन के विरोधी थे। २२ जून १६४१ को जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया तो इन विभिन्न दलों के सामने एक नयी परिस्थिति पैदा हो गई। इस बात पर जोरदार बहस की जाने लगी कि क्या अब उन्हें लड़ाई के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण

में परिवर्तन करना चाहिये या नहीं ? कुछ लोग यह कह रहे थे कि उन्हे अपनी नीति में आमूल परिवर्तन करके युद्ध-प्रयत्न में सक्रिय रूप से जोरदार मदद करनी चाहिये । दूसरा पक्ष यह कहता था कि रूस को तो पूरी मदद दी जाय, लेकिन ब्रिटेन को नहीं । अखिल भारतीय किसान-सभा ने यद्यपि अपने "पितृदेश" की यथासंभव मदद करने का समर्थन किया, परन्तु साथ ही इस बात पर खेद भी प्रकट किया कि भारत में उनकी स्थिति बड़ी शोचनीय है और इसलिए उनके लिए प्रत्यक्ष रूप से रूस की कोई मदद करना संभव नहीं है। तो फिर रूस को एक रेडक्रास ऐम्बुलैंस दल ही क्यों न भेजा जाय ? रूस के पक्ष में प्रचार करने और उसकी सहायतार्थ धनादि एकत्र करने के उद्देश्य से देश का दौरा करने के लिए दल बनाये गए । उन लोगों का विचार था कि रूस की सहायता का काम और ब्रिटेन का विरोध दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं थीं, क्योंकि २१ जून, १९४१ को दोनों राष्ट्रों में एक पारस्परिक सन्धि हो गई थी कि वे लड़ाई में एक दूसरे की मदद करेंगे और जर्मनी के साथ कोई अलहदा सुलह नहीं करेंगे । इसलिए परिस्थिति बदल चुकी थी। बहरहाल रूस की मदद करने की यह सरगर्मी और जोश कुछ देर बाद ठण्डा पड़ गया । वजह यह कि एक तो श्री एमरी ने भारत की समस्या के बारे में वही पहले-जैसे दकियानूसी ख़याल ज़ाहिर किये और ब्रिटेन ने जो कुछ कह दिया था उसमें रत्तीभर भी परिवर्तन करने को वे तैयार नहीं थे । दूसरे, जेलों में राजनैतिक कैदी युद्ध की इस परिवर्तित स्थिति और रूस को सहायता देने के प्रश्न पर खूब बहस कर रहे थे जिससे साफ ज़ाहिर था कि इस बारे में उनमें काफी मतभेद है । इसलिये रूस को मदद देने का जोश जल्दी ही ठण्डा पड़ गया । रूस के खिलाफ जल्दी ही लड़ाई का प्रतिकूल पांसा पलट गया । ब्रिटेन की उत्तेजनापूर्ण उदासीनता, अटलांटिक घोषणा-पत्र के बाद मास्को सम्मेलन में अनावश्यक विलंब, हर बात में अमरीका का व्यापारिक दृष्टिकोण और सबसे बड़ी बात यह कि श्री चर्चिल के यह घोषणा कर देने पर भी कि अटलांटिक-घोषणा भारत पर लागू नहीं की जा सकती, मो० मैस्की का इस सम्बन्ध में जुबान तक न हिलाना और रूस की ओर से उसकी स्वीकृति दे देना—इन सब बातों से एक ध्वनि निकलती थी कि रूस की हालत कितनी शोचनीय और दयनीय बन गई थी । किस प्रकार उसकी आशाएँ पूरी नहीं हो रही थीं और किस प्रकार वह शत्रु के आगे सिर झुकाने की बजाय वीरतापूर्वक मर-मिटना अधिक श्रेयस्कर समझता था । इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार ये साम्यवादी, अग्रगामी दलवाले और तथा कथित वामपक्ष के लोग दर-दर भटकते फिर रहे थे । परन्तु सिक्खों और हिन्दू-महासभाइयों ने युद्ध-प्रयत्न में पूरी-पूरी मदद की । इधर तो ये विरोधी विचारधाराएँ, वाद-विवाद और विचार-विनिमय हो रहे थे, उधर कांग्रेस निश्चल भाव से अपना मस्तक ऊँचा किये अपने निर्धारित कार्यक्रम पर अग्रसर हो रही थी । उसे पूरा यकीन था कि लड़ाई में मदद न करते हुए या ब्रिटेन को परेशानी में न डालने की उसकी जो नीति है, वह सही और समयानुकूल है । सत्याग्रह-आन्दोलन में इस दूषित विचार के लिए कोई स्थान ही नहीं था कि दुश्मन की मुसीबत से फायदा उठाया जाय । गांधीजी को इस बात पर कोई यकीन नहीं था कि सामूहिक सत्याग्रह-द्वारा हम शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेंगे ।

इसी बीच कुछ ऐसी ताकत जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं था, सत्याग्रह के कार्यक्रम में कुछ परिवर्तन करने को बाध्य कर रही थीं । केन्द्रीय असेम्बली की कांग्रेस पार्टी के उपनेता और मंत्री का यह ख़याल था कि उन्हें असेम्बली के आगामी अधिवेशन में सम्मलित होने की

आज्ञा मिलनी चाहिये, विशेष कर इसलिए कि उसमें बर्मा और लंका में भारतीयों के प्रवास के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक समस्याओं पर बहस होने जारही थी और इस सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पेश किये जा रहे थे वे नितान्त प्रतिक्रियावादी और भारतीय हितों के विरोधी थे। इसके अलावा उनका यह खयाल भी था कि और किसी और वजह से नहीं तो कम से-कम असेम्बली में अपने स्थान बनाये रखने के लिए ही उन्हें एक दिन के लिए अधिवेशन में शामिल होने की इजाजत दी जानी चाहिये। यह उल्लेखनीय है कि प्रारंभ में इस असेम्बली की अवधि केवल तीन वर्ष तक के लिए थी, परन्तु उसे हर साल बढ़ाते-बढ़ाते अब तक चार बार बढ़ाया जा चुका था। एक दृष्टिकोण यह भी था कि केन्द्रीय असेम्बली के कांग्रेसी सदस्यों को इस्तीफा देकर युद्ध में सहयोग देने के प्रश्न को लेकर फिर से चुनाव लड़ना चाहिये, जिससे यह साबित हो जायगा कि निर्वाचकों पर कांग्रेस का कितना प्रभाव है। लेकिन श्री एमरी तो वास्तव में कांग्रेस के इस प्रभाव को पहले ही स्वीकार कर चुके थे; क्योंकि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की अवधि बढ़ाने के सम्बन्ध में बिल पेश करते समय श्री एमरी ने कामन सभा की एक बहस के दौरान में कहा था कि "मैं इस प्रकार के चुनाव नहीं चाहता जिस में सिर्फ गांधी जी की नकारात्मक नीति के प्रतिपादन का ही अवसर मिले और इस बात की कोई संभावना न हो कि इन चुनावों के बाद फिर से देश के विभिन्न प्रान्तों में वैधानिक सरकारें कायम हो सकेंगी।" सिर्फ इतना ही काफी नहीं था। निस्संदेह ब्रिटिशमंत्रमण्डल के इशारे पर श्री एमरी तो भारतीय विधान की रूपरेखा में ही परिवर्तन करने की योजनाएं बना रहे थे और इस सम्बन्ध में आपने भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़नेवाले नवयुवकों से भारतीय विधान को नये आधार पर बनाने की अपील की।

इन्हीं परिस्थितियों में वर्धा में नयी बातचीत प्रारंभ हुई। इस बातचीत के समय युद्ध की परिस्थिति भी कोई बहुत अनुकूल न थी। दुश्मन मास्को के दरवाजे तक जा पहुँचा था और रूस के दूतावास पूर्व की ओर सुरक्षित स्थानों में भेज दिये गये थे। स्वतंत्र रूस की राजधानी भी वोल्गा के किनारे पर स्थित कुजीशेव में स्थापित कर दी गई। उधर जापान के मंत्रिमण्डल में भी परिवर्तन हुआ और देश का शासन-सूत्र एक युद्धप्रिय प्रधान मंत्री के हाथों में चला गया। अमरीका ने घोषणा की कि वह लड़ाई में शामिल नहीं होगा लेकिन उसने जापानी जहाजों को प्रशान्त महासागर में से हटालेने की मांग की। उधर हमारे देश में नयी शासन-परिषद् के सभी नये सदस्यों ने अपने-अपने ओहदे संभाल लिये थे और उनकी भी पहली बैठक उसी तारीख को होनी थी जिस दिन की कांग्रेस कार्य-समिति के ग्यारह सदस्यों की एक बैठक वर्धा में होने जा रही थी। कांग्रेस कार्य समिति की बैठक १९ अक्टूबर को और विभिन्न व्यवस्थापिका सभाओं के नेताओं ,तथा कार्यसमिति की बैठक २० अक्टूबर को होनेवाली थी। इसी प्रकार एक बार पहले भी हुआ था, जबकि गांधी-इरविन समझौते को बातचीत के समय जहाँ एक ओर कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक १ दरयागंज (दिल्ली) में डा० अंसारी की कोठी पर हो रही थी, दूसरी तरफ़ वहाँ से दो-तीन मील के फासिले पर भारत-सरकार के सेक्रेटरियट में वाइसराय की शासन-परिषद् की बैठक हो रही थी। इसी प्रकार इसबार भी जहाँ एक ओर वर्धा में कांग्रेस की बैठक हो रही थी, उधर दूसरी तरफ़ नयी दिल्ली में वाइसराय की नयी परिवर्द्धित शासन-परिषद् की बैठक होने जा रही थी। उस समय सारे देश में इस तरह के सवाल उठ रहे थे:—नये सदस्य क्या कुछ करने जा रहे हैं? वे किस तरीके से अपनी इन नयी नियुक्तियों का औचित्य

सिद्ध करेंगे ? वे राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा किस ढंग से करेंगे ? कमसे-कम अपने-अपने विभागों में और राजनीतिक कैदियों के बारे में वे क्या करेंगे ? इत्यादि-इत्यादि ।

इसी अवसर पर भारत-सरकार ने उस पत्र-व्यवहार की एक संक्षिप्त-सी रिपोर्ट प्रकाशित की, जो उसके ख़याल से दिल्ली में एक कथित नजरबन्द द्वारा अपनी पत्नी से की जानेवाली थी। परन्तु लोगों के लिए यह समझना कठिन था कि सरकार ने विशेष रूप से १८ अक्टूबर को ही उक्त सनसनीखेज पत्र-व्यवहार प्रकाशित करना क्योंकर बेहतर और मुनासिब समझा ?

हो सकता है कि ऐसा करने का इरादा यह हो कि विभिन्न श्रेणियों के राजनीतिक बन्दियों के साथ अलग-अलग व्यवहार करने का प्रमाण-संग्रह किया जाय ? अथवा ऐसा करने की एक और वजह यह भी हो सकती है कि इससे वाइसराय की शासन-परिषद् के नये सदस्यों को यह कहने का मौका ही न मिले कि इन कैदियों के साथ उदारपूतार्ण व्यवहार किया जाय ? और यह समझ में नहीं आ रहा था कि क्यों सरकार एक-के बाद-एक नयी उलझनें, पेचीदगियाँ और जटिलताएँ पैदा करती जा रही है। लेकिन ऐसा वह हमेशा के लिए नहीं कर सकती थी; क्योंकि सरकारी नीति में कोई ऐसी बात तो होती नहीं कि उसे बहुत समय तक जनता से छिपाकर रखा जा सके। इसी बीच २१ अक्टूबर को गांधीजी ने एक बार फिर जोरदार शब्दों में ऐलान किया, कि जेल से रिहा होकर आनेवाले सत्याग्रहियों को एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर पुनः सत्याग्रह करना चाहिये। ऐसे मौके पर जबकि देश के सभी प्रान्तों और भागों के नेता जेल से मुक्त होने के बाद सेवाग्राम में एकत्र हो रहे थे, तो गांधीजी को अपनी हिदायतें फिर से दोहराने की क्या ज़रूरत महसूस हुई थी ? स्पष्ट है कि वे किसी को भी इस गलत-फहमी में नहीं रहने देना चाहते थे कि उनकी तरफ से सत्याग्रह के कार्यक्रम को ढीला कर देने का प्रस्ताव किया गया है। अगर वाइसराय की शासन-परिषद् के नये सदस्य इस सम्बन्ध में नये सुझाव रखने जा रहे हैं तो उनका आधार किसी किस्म की गलतफहमी नहीं होनी चाहिये।

यद्यपि वर्धा की इस बातचीत के सम्बन्ध में कोई अधिकृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी संवाददाताओं ने इस सम्बन्ध में जो अटकल-बाजियाँ कीं उनसे इनपर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। आम तौर पर यह कहा जा रहा था कि एक उच्च सार्वजनिक नेता का यह ख़याल है कि सत्याग्रह आन्दोलन को और देर तक चलाने से कोई लाभ नहीं हो सकता और वह बिलकुल असफल रहा है। साथ ही यह भी कहा जा रहा था कि इस नेता ने व्यावहारिक क्षेत्र में अहिंसा के सिद्धान्त को लागू करने के बारे में संदेह प्रकट करते हुए गांधीजी से आग्रह किया है कि वे अपने सारे ही कार्यक्रम में संशोधन करें। कांग्रेस के इन दोस्तों की इस स्थिति से लाभ उठाकर कि वे सार्वजनिक रूप से अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते, श्री के० एफ० नरीमान-जैसे भूतपूर्व कांग्रेसी नेताओं ने, जिन्हें कांग्रेस के कार्यक्रम पर यकीन नहीं था, तानाज़नी करते हुए यह कहा कि कांग्रेस ने श्री सुभाष बोस और उनके अग्रगामी दल की बात न मानकर बड़ी मूर्खता का परिचय दिया है। गांधीजी की स्थिति कुरुक्षेत्र के रणस्थल में श्रीकृष्ण जैसी थी। पाण्डवों ने ही श्रीकृष्ण को अपने दूत की हैसियत से दुर्योधन के दरबार में भेजा था। जब सन्धि की बातचीत असफल होगई और युद्ध करने का ही फैसला रहा तो श्रीकृष्ण ने दोनों दलों की बात मानकर अपनी सेनाएँ तो कौरवों को दे दीं और स्वयं पाण्डवों के पक्ष में चले गए। इतना ही नहीं, उन्होंने अर्जुन का सारथी बनना भी

स्वीकार कर लिया। ठीक इसी प्रकार गांधीजी ने भी वाइसराय के साथ बातचीत के असफल हो जाने पर कांग्रेस का सेनापति होकर सत्य... ...का नेतृत्व अपने हाथ में लेना स्वीकार कर लिया था। लेकिन पहले प्रहार के पड़ते ही अर्जुन की भाँति कांग्रेस के सैनिकों ने भी नैतिक, धार्मिक और इसी तरह के दूसरे और प्रश्न उठाने शुरू कर दिये। उन्होंने नये नहीं, बल्कि वही पुराने प्रश्न जो पूने में उठाये गये थे—नये रूप में उठाने शुरू किये, हालाँकि बम्बई में इस रूप को नामंजूर करके 'संघर्ष' छेड़ने का फैसला किया गया था। गांधीजी की स्थिति क्या थी? वे क्या करते? क्या बम्बई में एक भी व्यक्ति ने इस बात का विरोध किया था कि लड़ाई न छेड़ी जाय? वर्धा में की जानेवाली बातचीत भी कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र की तरह ही व्यापक बहुमुखी विस्तृत रही होगी। क्या गांधीजी भी वैसी ही परिस्थिति का सामना करते जिसका कि श्रीकृष्ण ने किया था, जबकि चुने हुए वीरों ने हथियार उठाने से जवाब दे दिया था और उन्हें विवश होकर आक्रमण करने का आदेश देना पड़ा था। क्या उसी तरह से अब गांधीजी जेल से मुक्त होकर आनेवाले कैदियों को नहीं कह रहे थे कि वे फिर दुबारा सत्याग्रह करके जेल जाएँ?

अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में गांधीजी ने एक व्यापक और विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित किया जो उन लोगों की इस युक्ति का प्रत्युत्तर था कि कार्यक्रम में परिवर्तन किया जाय और आन्दोलन की पिछले साल की प्रगति-समीक्षा की जाय। गांधीजी ने अपने वक्तव्य में भी अपने शाश्वत सिद्धान्तों को दोहराते हुए कहा कि "सविनय नाफरमानी को छोड़ देना बेवकूफी होगी। सिविल नाफरमानी स्वयं पूर्ण रूप से एक अहिंसात्मक कार्रवाई है। हिंसा के मुकाबले में यह परम कर्तव्य बन जाता है, जिसकी मिसाल दुनिया में नहीं मिल सकती।"

जेल से रिहाइयाँ और उसके बाद

अचानक २७ अक्टूबर, १९४१ को सारे भारत में यह समाचार प्रकाशित हुआ कि वेलौर सेंट्रल जेल से कुछ नज़रबन्द क़ैदी छोड़े जा रहे हैं जिनमें मद्रास की व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष और छः अन्य भी शामिल हैं। इस समाचार के तुरन्त बाद ही कैदियों को पहली नवम्बर को रिहा कर दिया गया। आख़िर इसकी वजह क्या थी? कोई कुछ नहीं कह सकता था। हाँ, इतना अवश्य था कि पिछले कुछ समय से यह अफ़वाह अवश्य फैल रही थी कि सरकार आंशिक रूप से क़ैदियों को रिहा करने के प्रश्न पर सोच-विचार कर रही है और सबसे पहले वे सत्याग्रही छोड़े जाएँगे जिन्होंने कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए थे और जो नारे लगाने अथवा सत्याग्रह के सम्बन्ध में अधिकारियों को नोटिस देने से पहले ही गिरफ़्तार कर लिये गए थे; लेकिन जब पहले-पहल इस सम्बन्ध में अफ़वाहें फैली थीं तो यह पता चला था कि सरकार फिलहाल यह जान लेना चाहती है कि क्या मुक्त किये हुए सत्याग्रही दुबारा तो जेल नहीं जाएँगे। परन्तु जब तक वस्तुतः उन्हें रिहा किया गया तब तक सरकार की नीति बदल चुकी थी। उसने यह किया कि बहुत-से साधारण सत्याग्रहियों को भी आमतौर पर पहली बार सत्याग्रह करने पर गिरफ़्तार करना छोड़ दिया। किसी-किसी को दूसरी बार और किसी को तीसरी बार सत्याग्रह करने पर गिरफ़्तार करना छोड़ दिया। मद्रास में इन रिहाइयों के बाद बम्बई के प्रधान मन्त्री और एक-दो और आदमियों को तथा और जगह भी एकाध आदमियों को रिहा कर दिया गया। बात दरअसल यह थी कि सभी हल्कों के लोगों-

द्वारा जिनमें कामन सभा के कुछ सदस्य भी शामिल थे, यह मांग की जा रही थी कि पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा दूसरे क़ैदियों को रिहा कर दिया जाय जिससे कि देश में गतिरोध का अन्त करने के लिए नया प्रयत्न करने के अनुकूल वातावरण पैदा हो सके।

यह स्मरण रहे कि अक्टूबर १६४१ के प्रारम्भ में ही मद्रास के भूतपूर्व प्रधान मंत्री और भूतपूर्व माल मंत्री को रिहा कर दिया गया था। इसलिए कि उनकी अवधि पूरी हो चुकी थी। सरकार ने बताया कि पहली नवम्बर को की गई रिहाइयों की वजह यह है कि अगर इन क़ैदियों को नज़रबन्द रखने के बजाय उन पर साधारण रूप से मुकदमा चलाकर उन्हें सज़ा दी जाती तो उनकी क़ैद की मियाद भी १ नवम्बर तक ख़त्म हो जाती। मतलब यह कि सत्याग्रह को शुरू हुए साल भर हो चुका था और इन क़ैदियों को भी अब सत्याग्रहियों की तरह ही मुक्त कर दिया जाता। यह अफ़वाह बड़े ज़ोरों पर फैली हुई थी कि सत्याग्रहियों की आम रिहाई के सवाल पर सरकार सोच-विचार कर रही है, लेकिन बार बार पूछताछ करने पर भी इस सम्बन्ध में कोई आशाजनक उत्तर नहीं मिल रहा था। कांग्रेस के प्रधान मौलाना आज़ाद और पण्डित जवाहरलाल नेहरू की रिहाई के लिए बड़ा दबाव और ज़ोर डाला जा रहा था। वैसे अभी मौलाना आज़ाद के रिहा होने में आठ महीने और पण्डित नेहरू की रिहाई में अभी तीन बरस और बाक़ी थे।

इस प्रकार जहाँ एक तरफ़ वातावरण आशापूर्ण दिखाई देता था, वहाँ दूसरी तरफ़ घोर निराशा का वातावरण भी पाया जाता था। राजनीतिक क्षेत्र इस बात से बहुत चिंतित थे कि अगर कहीं सत्याग्रहियों की आम रिहाई शुरू हो गई तो फिर न जाने कैसी परिस्थिति पैदा हो जाय। पहले ही ऐसा यक़ीन किया जा रहा था कि मद्रास के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री सी० राजगोपालाचारी न केवल सत्याग्रह बन्द करने के पक्ष में थे, बल्कि उन्हें सन्देह था कि इस अवसर पर ऐसा करना लाभदायक और यहाँ तक कि वांछनीय भी होगा कि नहीं? १६४१ में सत्याग्रहियों के जेल जाने के बाद एक महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई थी कि २२ जून, १६४१ को जर्मनी ने रूस पर यह दोष लगाकर आक्रमण कर दिया था कि उसने १५०० से लेकर २००० मील तक की सीमा के किनारे अपनी फ़ौजें जमा कर रखी हैं। ख़ैर; कुछ भी हो रूस पर जर्मनी का आक्रमण जितना ही नारकीय और अप्रत्याशित था, उसकी सफलता भी उतनी ही नारकीय और आश्चर्यजनक थी। आशंका पैदा हो गई थी कि क्या रूस और ब्रिटेन इस अग्नि-परीक्षा में सफल भी हो सकेंगे। यह आशंका इसलिए की जा रही थी कि भारत के सहयोग के बिना ब्रिटेन की सफलता अनिश्चित थी। पर सवाल यह था कि क्या भारत भी इस डूबते हुए ब्रिटेन के साथ डूब जाए अथवा उससे अपना किनारा कर ले। गांधीजी ऐसी परिस्थिति में सबसे बड़े पारखी थे, क्योंकि जहाँ एक ओर उनमें सूझ-बूझ, दूरदर्शिता, राजनीतिक विवेक की प्रचुरता है, वहाँ दूसरी तरफ़ उनमें यह साहस भी है कि वे झूठी प्रतिष्ठा का ख़याल किए बिना ही अपने कार्यक्रम में परिवर्तन कर सकते हैं। लेकिन गांधीजी ने इन रिहाइयों का मूल्य आंकने में एक क्षण की भी देर नहीं की। उन्होंने तो अक्टूबर के प्रारम्भ में ही उनका डटकर विरोध करते हुए बार-बार यह हिदायत की थी कि रिहा होकर आनेवाले सत्याग्रहियों को पुनः सत्याग्रह करना चाहिए। इसके साथ ही गांधीजी ने इस सम्बन्ध में ३१ अक्टूबर को भारतीय समाचार-पत्रों में एक तीन स्तम्भ का लेख भी प्रकाशित किया।

इसी बीच नवम्बर में दिन-प्रतिदिन देवली के नज़रबन्द कैम्प की परिस्थिति ख़राब

होती जा रही थी। लगभग १८० नज़रबन्दों ने वहाँ भूख-हड़ताल कर रखी थी और भारत भर में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हो रही थी। गांधीजी इस सम्बन्ध में नज़रबन्दों और वाइसराय के साथ निरन्तर लिखा-पढ़ी कर रहे थे और इस तरह सारी स्थिति समझ रहे थे। श्री एन० एम० जोशी की देवली-यात्रा, नज़रबन्दों की शिकायतों के बारे में उनकी निजी जांच-पड़ताल तथा इस विषय पर केन्द्रीय असेम्बली में उनके प्रस्ताव का एक अच्छा असर यह हुआ कि भारत-सरकार के गृह-मंत्री ने इन नज़रबन्दों को उनके अपने-अपने प्रान्तों में भेजना स्वीकार कर लिया। लेकिन इस पर स्वयं नज़रबन्दों की ओर से यह सवाल उठाया गया कि उन्हें प्रान्तों में भी वही अधिकार और सुविधाएँ मिलनी चाहिए जो उन्होंने देवली में कठिन संघर्ष के बाद प्राप्त की हैं। नतीजा यह हुआ कि इस दिशा में प्रगति धीमी पड़ गई। इस पर गांधीजी ने श्री महादेव देसाई को नज़रबन्दों-द्वारा लगाए गये कुछ आरोपों की जांच-पड़ताल करने के लिए भेजा। लेकिन अभी श्री महादेव देसाई दिल्ली ही पहुँचे होंगे कि रेडियो पर यह समाचार सुनाया गया कि क़ैदियों की मांगें स्वीकार कर ली गई हैं और इसलिए भूख-हड़ताल भी ख़त्म हो गई है।

इस अप्रत्याशित घटना से गांधी जी की बहुत-सी चिन्ताएं दूर हो गईं। बात यह थी कि कि गांधी जी को क़ैदियों की इस भूख-हड़ताल से बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने बार-बार उनसे आग्रह किया था कि वे भूख-हड़ताल हर्गिज न करें। नवम्बर, १९४१ के तीसरे सप्ताह में उन्हें यकीन हो गया था कि पंडित जवाहरलाल नेहरू रिहा नहीं किये जाएँगे और उन्हें इस बात पर बड़ा दुःख था कि भूख-हड़ताल अभी तक जारी है। उन्हें वस्तुतः इस बात का खयाल तक भी नहीं हो सकता था कि आखिर महज़ उन्हें नीचा दिखाने के लिए ही अंग्रेज जवाहरलाल को मुक्त कर देंगे। वजह यह थी कि वे इस बात की कल्पना तक भी न कर सकते थे कि सरकार उन्हें नीचा दिखाने के लिए भी कोई कार्रवाई कर सकती है। नवम्बर भर गांधीजी तथा रिहा होकर आनेवाले सत्याग्रहियों के दौरान में निजी रूप में इन्हीं विषयों को लेकर विचार-विनिमय होता रहा; परन्तु इतने पर भी वे इस बात पर तुले हुए थे कि सत्याग्रहियों को दुबारा फिर सत्याग्रह करना चाहिये। वे उनकी मुक्ति के सख्त विरोधी थे और उन्हें यकीन था कि जवाहरलाल नेहरू रिहा नहीं किये जा सकते। वे तीन दिन तक श्री भूलाभाई जे० देसाई के साथ माथा-पच्ची करते रहे। यह बातचीत सिर्फ उन दोनों में ही विशेष रूप से होती रही और चौथे दिन श्री राजगोपालाचारी भी इस में शरीक होगए। श्री देसाई के लाख तर्क करने पर गांधी जी टस-से-मस नहीं हो सके। उनका सिंहासन रत्ती भर भी हिला-डुला नहीं। लेकिन हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि गांधी जी अपने 'चेलों' और अपने सर्वोत्तम सहयोगियों के तर्क और युक्तियों की समीक्षा कर रहे थे। गांधी जी की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि वे यह नहीं चाहते कि लोग उनकी हां में हां मिलाते रहें, वे तो हमेशा से मैत्रीपूर्ण विरोध, उचित और युक्तियुक्त विचार-विनिमय और रचनात्मक आलोचनाओं का स्वागत ही करते रहे हैं। उन्होंने कभी यह नहीं चाहा कि लोग सिर्फ भद्रतावश या नम्रतावश ही अन्धाधुन्ध उनके पीछे चलते रहें। इस बातचीत के दौरान में आपने यह बात स्वीकार की कि अगर क़ैदियों की आम रिहाई हुई तो इस का मतलब यह होगा कि सरकार ने अपनी ओर से उदारतापूर्ण संकेत किया है और उसके कारण सारी समस्या का स्वरूप ही बदल जायगा। लेकिन सत्य तो यह है कि बरसों की पुरानी चट्टान लहरों, और हवा के थपेड़े खाकर भी वैसी ही बनी रहती है। हां, इतना

अवश्य होता है कि हर नये प्रहार से उसकी जड़ें और धरातल कमजोर पड़ता जाता है। इसी प्रकार बम्बईवाले प्रस्ताव पर जो टीका-टिप्पणी हो रही थी, जो विरोध किया जा रहा था, जो चुनौती दी जारही थी, उसकी जो प्रतिक्रिया दिखाई दे रहीं थी—उससे भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि गांधी जी की स्थिति कमज़ोर पड़ती जा रही थी और आखिरकार उन्होंने महसूस किया कि उन्हें अपने सेनापति-पद को छोड़ देना चाहिए। लेकिन क्या उनके लिए अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति में कार्यसमिति के इस निर्णय को चुनौती देनी चाहिये ? क्या उन्हें कार्यसमिति में मतभेद और फूट पैदा कर देनी चाहिये ? ख़ैर, अभी इन बातों पर सोचना ज़रा असामयिक-सा था; क्योंकि अभी जवाहरलाल जेल में थे। उनके छूटने की कोई आशा भी न थी।

इसी उधेड़-बुन में एक सप्ताह ही गुज़रा होगा कि भारत-सरकार ने अचानक नई दिल्ली से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की जिसमें बताया गया था कि भारत सरकार को इस बात का यकीन है कि भारत के सभी ज़िम्मेवार व्यक्ति युद्ध में विजय प्राप्त होने तक युद्ध-प्रयत्न में सहायता करने का दृढ़ निश्चय किये हुए हैं। इसलिए वह इस नतीजे पर पहुँची है कि सविनय-भंग-आन्दोलन के उन कैदियों को जिनका अपराध सिर्फ रस्मी तौर पर अथवा सांकेतिक रूप में था, उन्हें रिहा किया जा सकता है। इनमें पंडित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद भी शामिल हैं।

उन्हें तत्काल ही रिहा भी कर दिया गया। जैसी कि आशा थी, गांधीजी ने अपनी स्थिति और स्पष्ट करदी और कांग्रेस के अध्यक्ष की रिहाई को ध्यान में रखते हुए कहा कि कांग्रेस की भावी नीति का निर्णय अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति और कार्यसमिति ही करेंगी। गांधीजीका नीचे दिया गया वक्तव्य ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व रखता है, क्योंकि आजतक उन्होंने यह नहीं कहा कि यह वक्तव्य कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन के सम्बन्ध में अन्तिम घोषणा है:—

रिहाइयों के बारे में गांधीजी का वक्तव्य

"जैसा कि मैं इस घटना से पहले भी कह चुका हूँ, और अब भी कहना चाहता हूँ कि मैं इसे पसन्द नहीं करता।

"मैं अपने विद्यार्थी-जीवन से अपने को ब्रिटिश जनता का मित्र समझता रहा हूँ और अभी तक समझता हूं; लेकिन इस मित्रता का यह तात्पर्य नहीं कि मैं यह ख़याल करना छोड़ दूं कि ब्रिटेन के प्रतिनिधि भारत को अपना क्रीतदास समझते हैं। भारत को आज जो आजादी मिली हुई है वह गुलामों-जैसी आजादी है, बराबरी के दरजेवालों की वह आजादी नहीं, जिसे हम दूसरे शब्दों में मुकम्मिल आजादी कहते हैं।

"श्री एमरी की घोषणाओं से हमारे घाव और हरे होते हैं; क्योंकि वे उनपर नमक छिड़कने की कोशिश करते हैं। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर मुझे रिहाइयों के प्रश्न की समीक्षा करनी है।

"अगर भारत-सरकार को ऐसा यकीन है कि देश के सभी उत्तरदायी लोग युद्ध-प्रयत्न में सहयोग देने का दृढ़ निश्चय किये हुए हैं तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सविनय-भंग के कैदियों को जेलों में बन्द रखा जाय, क्योंकि वे इस कथन के अपवाद हैं। मैं तो इन रिहाइयों का सिर्फ एक ही मतलब समझ सका हूँ और वह यह है कि सरकार यह

उम्मीद करती है कि उनके विचार बदल जाएंगे। मुझे उम्मीद है कि इस बारे में सरकार को बहुत शीघ्र ही निराश होना पड़ेगा।

"सत्याग्रह आन्दोलन खूब सोच-विचार करने के बाद ही शुरू किया गया था। यह बदला लेने की भावना से नहीं प्रारंभ किया गया था। यह इसलिए शुरू किया गया था और मुझे उम्मीद है कि आगे भी जारी रहेगा कि कांग्रेस ब्रिटिश जनता और संसार के सामने अपना यह दावा साबित कर देना चाहती है कि देश का एक बड़ा भाग जिसका कांग्रेस प्रतिनिधित्व करती है, लड़ाई का सर्वथा विरोधी है। इसलिए नहीं कि वह ब्रिटेन की पराजय और नाजियों की विजय चाहती है बल्कि इसलिए कि वह जानती है कि इस लड़ाई से विजयी और पराजित राष्ट्रों को रक्तपात से मुक्ति न मिल सकेगी। वह निश्चित रूपसे जानती है कि भारत को इस लड़ाई के फलस्वरूप आजादी नहीं मिलेगी।

"कांग्रेस का यह दावा है कि वह देश की करोड़ों मूक जनता का प्रतिनिधित्व करती है। उसने गत बीस वर्षों से अहिंसा पर चलते हुए ही भारत की आजादी हासिल करने की कोशिश की है। और यही उसकी निरन्तर नीति भी रही है। इसलिए सत्याग्रह को, चाहे वह फिलहाल प्रतीक स्वरूप ही क्यों न हो, बन्द करने का मतलब यह होगा कि उसने नाजुक घड़ी में आकर अपनी नीति छोड़दी।

"सरकार यह दावा करती है कि कांग्रेस के विरोध करने पर भी उसे भारत से यथेष्ट सैनिक और धन मिल रहा है। इसलिए कांग्रेस का विरोध सिर्फ एक नैतिक विरोध ही है। मैं तो इससे बिल्कुल संतुष्ट हूँ, क्योंकि मुझे यकीन है कि इसी नैतिक प्रदर्शन से समय आने पर हमें स्वाधीनता मिल जाएगी फिर ब्रिटेन में चाहे किसी भी दल का प्रभुत्व क्यों न हो।

"कांग्रेस का संघर्ष देश के प्रत्येक कोने में फैला हुआ है और चूंकि राष्ट्रपति जेल से मुक्त होनेवाले हैं इसलिए वे ही यह फैसला करेंगे कि कार्यसमिति अथवा अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलाई जाए या नहीं और यदि बुलाई जाय तो कब? ये दोनों संस्थाएं ही कांग्रेस की भावी नीति का निर्धारण करेंगी। मैं तो सविनय-भंग आन्दोलन को संचालित करने में एक तुच्छ सेवक हूँ।

"परन्तु, मैं नजरबन्दों और दूसरे कैदियों के सम्बन्ध में एक-दो शब्द कहना चाहता हूँ। यह एक विचित्र-सी बात प्रतीत होती है कि जो लोग स्वेच्छा से जेल गए हैं, उन्हें तो मुक्त किया जा रहा है, और उन लोगों को रिहा नहीं किया जा रहा है जो या तो बिना मुकदमा चलाए नजरबन्द रखे गए हैं अथवा जिन्हें कैद की सजा दी गई है। उनका अपराध सिर्फ इतना ही है कि उन्हें निजी आजादी की अपेक्षा अपने देश की आजादी अधिक प्यारी थी। निश्चय ही, कहीं दाल में कुछ काला है, इसलिए मुझे भारत-सरकार के फैसले से खुशी नहीं हो सकती।"

वास्तव में देखा जाय तो जवाहरलालजी और कांग्रेस के प्रधान की रिहाई का ज़िक्र सरकार को खास तौर पर करने की कोई जरूरत नहीं थी। वास्तव में सरकार ने उनके सत्याग्रह करने की प्रतीक्षा ही नहीं की। और इन दोनों के मामलों में सरकार ने जो कार्रवाई की उससे वह सत्याग्रहियों में आतंक पैदा करना चाहती थी। जवाहरलालजी को चार साल की जो सजा दीगई उसके पीछे तो निश्चय ही यही भावना काम कर रही थी। दूसरे मामले में मैजिस्ट्रेट ने अपनी अधिकार-सीमा का उल्लंघन करके कांग्रेस के प्रधान के सम्बन्ध में कहा कि उन्होंने युद्ध-

विरोधी नियमित नारे लगाए बिना ही एक युद्ध-विरोधी भाषण देना प्रारम्भ कर दिया था। कांग्रेस के प्रधान मौलाना आजाद को भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत १८ महीने की सादी सजा देते हुए इलाहाबाद के सिटी मैजिस्ट्रेट ने नीचे लिखा फैसला दिया,

"कांग्रेस के प्रधान मौलाना अबुल कलाम आजाद ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने १३ दिसम्बर, १९४० को पुरुषोत्तमदास पार्क, इलाहाबाद में एक भाषण दिया था। उनके इस भाषण की नकल शार्टहैण्ड (संकेतलिपि) के रिपोर्टर ने ली थी। बाद में उसने यह भाषण गवाह को पढ़कर सुनाया और उसने इस पर अपने हस्ताक्षर किये। शार्टहैण्ड रिपोर्टर ने इस भाषण के सम्बन्ध में प्रमाण दिया है :—

"मौलाना आजाद ने अपने वक्तव्य में बताया है कि रिपोर्टर ने मेरे भाषण की जो नकल ली है, वह गलतियों से भरी पड़ी है लेकिन जहां तक उसमें यह कहा गया है कि कांग्रेस की नीति यह है कि लड़ाई में मदद न की जाय वहाँ तक वह ठीक है और उन्होंने इस बात की पूरी ज़िम्मेवारी अपने ऊपर ली है कि मैंने ऐसा भाषण न केवल इलाहाबाद में ही दिया है, बल्कि सारे भारत में ही और साथ ही मैंने दूसरों को भी ऐसा ही कहने की हिदायत की है। इस भाषण में ऐसे बहुत से वाक्य भरे पड़े हैं जिनका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के प्रति देश में घृणा फैलाना और युद्ध के ज़ोरदार संचालन में रुकावटें पैदा करना है। ये बातें ३४ वें नियम के अन्तर्गत आपत्तिजनक हैं इसलिए उनपर भारत-रक्षा कानून की धारा ३८ (५) के अनुसार जुर्म लगाया गया है और उन्होंने अपना अपराध स्वीकार भी किया है।

"यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि कांग्रेस का कार्यक्रम बड़ा व्यवस्थित है; प्रत्येक सत्याग्रही अधिकारियों को सत्याग्रह करने से पहले उचित समय पर सत्याग्रह की तारीख, स्थान और समय की सूचना दे देते हैं; परन्तु कांग्रेस के प्रधान ने स्वयं कांग्रेस के उस कार्यक्रम की बुरी तरह से अवहेलना करने के बाद एक जोरदार युद्ध-विरोधी भाषण दिया।"

('हिन्दू,' १० जनवरी, १९४१, पृष्ठ ८)

इसमें तो कोई शक ही नहीं कि इन दोनों को मुक्त करने के लिए सरकार को काफी परेशानी उठानी पड़ी; लेकिन इसे हम हृदय-परिवर्तन का सबूत नहीं समझ सकते। वास्तविकता यह है कि सरकार ने इन रिहाइयों के सम्बन्ध में ढील-ढाल की जो नीति अपनाई उससे उसके (सरकार के) इस सद्‌भावना के संकेत का सारा महत्त्व जाता रहा। अगर इन दोनों प्रमुख व्यक्तियों को मुक्त न किया जाता तो यह सारी कार्रवाई महज एक मजाक हो जाती।

४ दिसम्बर को मजदूर दल के सदस्य श्री सोरेन्सन ने कामन सभा में श्री एमरी से पूछा कि "क्या आप भारतीय जनता को यह बता सकते हैं कि सम्राट् की सरकार किस प्रजातंत्रात्मक आधार पर भारतीयों को अपने देश के भावी विधान का निर्णय करने का हक देना चाहती है; क्या वे यह बताने की कोशिश करेंगे कि भारत की कौन-कौनसी प्रजातंत्रात्मक संस्थाएं इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करतीं; क्या वे निकट-भविष्य में भारत के मौजूदा विधान में किसी किस्म का संशोधन करने का इरादा रखते हैं ?"

श्री एमरी ने उत्तर दिया : "भारत की वैधानिक समस्या के सम्बन्ध में सम्राट् की सरकार ने अपने इरादों की घोषणा वाइसराय के ८ अगस्त, १९४० वाले वक्तव्य में कर दी थी। उसके अनुसार यह कहा गया था कि स्वयं भारतीयों को ही आपस में मिलकर इस बात का फैसला कर-लेना चाहिये कि लड़ाई के बाद भारतका भावी विधान बनाने के लिए किस-किस्म की संस्था बनाई

जाए और वह अपने निर्णय किस ढंग से करे तथा इस विधान की रूपरेखा और सिद्धान्त क्या होने चाहियें।"

रिहाइयां

स्वाभाविक तौर पर यह आशा की जा रही थी कि मुक्त हुए नेता धुंआधार भाषण देंगे। इनमें से सर्वप्रथम पंडित जवाहरलाल नेहरू थे, जिन्हें ४ दिसम्बर, १९४१ को जेल से मुक्त किया गया। आपने रिहा होने के बाद ही अपने सभी सहयोगियों और मित्रों का हार्दिक अभिवादन करते हुए उनके नाम निम्नलिखित अत्यधिक हृदयस्पर्शी, क्रान्तिकारी और ज़ोरदार संदेश भेजाः—

भारत के नाम नेहरू का आह्वान

"अपने साथियों, कांग्रेसजनों और संयुक्त प्रान्त की जनता का मैं अभिवादन करता हूँ। पुराने मित्रों, परिचित जनों और जोरदार स्वागत को देखकर खुशी होना स्वाभाविक ही है। दूर-दूर तक फैले हुए खेतों, भीड़ से भरी हुई गलियों और मानव जाति के परिवर्तनशील चित्र को देखकर खुशी होती है। परन्तु एक विदेशी हुकूमत के कहने पर जेल जाना और उससे बाहर आने में मुझे किसी-किस्म की खुशी नहीं महसूस होती। जेल की तंग चारदीवारी में से निकलकर भारत जैसे विशाल कैदखाने में आना कोई खुशी की बात नहीं है। निश्चय ही एक समय ऐसा आएगा जब हम गुलामी की इन बेड़ियों को तोड़कर आजादी के साथ सांस ले सकेंगे। परन्तु अभी वह दूर है और हमें इस तुच्छ-से परिवर्तन पर प्रसन्न नहीं होना चाहिये।

"इस संसार में जहाँ असीम दुखों, हिंसा, घृणा, और सर्वनाश का साम्राज्य छाया हुआ है, हम आराम और चैन से क्यों कर बैठ सकते हैं। इस भारत में जहां विदेशी और स्वेच्छाचारी शासन हमें दबाकर और जकड़ कर रखता है, हमें शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए स्वतंत्र भारत तथा स्वतंत्र संसार के हितों को अग्रसर करने का हमें निरंतर आह्वान करना है। जो व्यक्ति इस आह्वान को सुनना चाहते हैं, उनके लिए यह मौजूद है। दुखित मानव जाति का आह्वान दिन-प्रतिदिन कष्टकर होता जा रहा है।"

रिहाइयों पर गांधीजी की निजी प्रतिक्रिया और कांग्रेस की भावी नीति के सम्बन्ध में उनके विचारों का आभास ५-१२-१९४१ के उनके नीचे लिखे वक्तव्य से मिलता हैः—

"कार्यसमिति और अखिल-भारतीय महासमिति के सदस्यों को और उन लोगों को, जो बम्बई के निर्णय को बदलना चाहते हैं, किसी भी हालत में सत्याग्रह नहीं करना चाहिये। इनके अलावा सत्याग्रह-संग्राम निर्बाध गति से चलते रहना चाहिये।

"गांधीजी की दृढ़ धारणा है कि रचनात्मक कार्यक्रम के बिना सविनय-भंग आन्दोलन से हमें आजादी हासिल नहीं हो सकती। उसके बिना यह आन्दोलन एक हिंसात्मक साधन की शक्ल अख्त्यार कर लेता है और अन्त में उसका असफल होना अवश्यंभावी और अनिवार्य है।"

जल्दबाजी की जरूरत नहीं

एक सवाल का जवाब देते हुए गांधीजी ने कहा कि "रिहा हुए सत्याग्रहियों को सभाओं में भाग लेना चाहिये और भाषण देने चाहिये। मैं यह नहीं चाहता कि वे तत्काल ही पुनः सत्याग्रह करें। वह तो अनुचित जल्दबाजी होगी, लेकिन साधारण रूप से सविनय-भंग जारी रह सकता है।

"मैं यह बात साफतौर पर कह देना चाहता हूँ कि मुझे किसी बाहरी कारण के आधार पर सत्याग्रह-आन्दोलन मुल्तवी करने का कोई हक नहीं है। यह काम तो कांग्रेस का है।" आगे गांधीजी कहते हैं, "मैं तो शान्तिप्रिय व्यक्ति हूँ और इस नाजुक घड़ी में युद्ध-विरोधी कार्रवाई को स्थगित करने का तात्पर्य यह होगा कि मैं अपने अस्तित्व से ही इन्कार कर रहा हूँ।"

गांधीजी का पूरा वक्तव्य नीचे दिया जाता है:—

"इस समय सत्याग्रहियों की शीघ्रता के साथ जो रिहाइयां होरही हैं, उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें अखिल भारतीय महासमिति की बैठक अवश्य बुलानी चाहिये, क्योंकि सरकार का प्रत्यक्ष रूप से यह ख्याल है कि उसमें बम्बई के इस प्रस्ताव को वापस ले लिया जायगा जिसकी बिना पर मैंने सत्याग्रह-आन्दोलन चलाया है। इसलिए मैंने मौलाना साहब से कांग्रेस कार्यसमिति और अखिल भारतीय महासमिति की बैठक बुलाने को कहा है, लेकिन जब तक वह फैसला बदल नहीं दिया जाता, तब तक सत्याग्रह-आन्दोलन जारी ही रहना चाहिये। परन्तु मैं यह मानता हूँ कि सरकार-द्वारा सत्याग्रही बन्दियों की मुक्ति के कारण सत्याग्रह का संचालन कठिन अवश्य हो गया है, लेकिन अगर हमें अपने मकसद तक पहुँचना है तो हमें हरेक मुश्किल का मुकाबला करना होगा। यह मुश्किल तो उस मुश्किल के मुकाबिले में कुछ भी नहीं है जिसका सामना शायद हमें अपनी स्थिति सुधर जाने पर करना होगा। अखिल भारतीय महासमिति की बैठक होने तक कांग्रेस कार्यसमिति और भारतीय महासमिति के सदस्यों को तथा जो लोग बम्बई के प्रस्ताव को बदलना चाहते हैं, उन्हें किसी भी हालत में सत्याग्रह नहीं करना चाहिये। इनके अलावा सत्याग्रह-आन्दोलन निर्बाध रूप से चलते रहना चाहिये। हां, अलबत्ता बड़े दिनों में और नये वर्ष के दिन के मौके पर यह मुल्तवी रहेगा।

"अब स्वाभाविक तौर पर यह सवाल उठता है कि सत्याग्रह पूर्ववत् निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार जारी रहना चाहिये या नहीं। मैं तो कम-से-कम उसी तरीके को पसन्द करता हूं; क्योंकि उससे आन्दोलन में समानता आ जाती है। उसी नारे को उसी तरीके से दोहराने में बड़ी ताकत है। इससे लोगों का ध्यान उन्हीं विषयों की ओर आकर्षित होता है। नारे लगाना कोई छोटा काम नहीं है। यह तो युद्ध के तरीके से संसार की समस्याओं का फैसला करने के खिलाफ राष्ट्र का विरोध प्रकट होता है। यह संसार में शान्ति और मानव-जाति के प्रति सद्भावना का सन्देश है। आज जो एक व्यक्तिगत नारामात्र है। कल वही समय आने पर जनता का नारा बन जाएगा। लेकिन हो सकता है कि सरकार अब इन व्यक्तिगत सत्याग्रहियों को एक बार रिहा करने के बाद अब दुबारा नारे लगाने पर उन्हें गिरफ्तार न करे। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते हैं। अगर सरकार सत्याग्रहियों को दुबारा नहीं पकड़ती तो हमें उससे निराश नहीं होना चाहिये, हमारा हौसला नहीं गिरना चाहिये। जेल जाना ही हमारा मकसद नहीं है। हमारा तात्कालिक उद्देश्य वाणी-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त की रक्षा करना है। अगर नारे लगाने पर लोगों को गिरफ्तार नहीं किया जाता तो उससे हम बहुत कुछ अपने उद्देश्य के निकट तक पहुँच जाते हैं और केवल इसीलिए जेल जाना बेवकूफी होगी। निराशा और निरुत्साह पैदा हो जाने की वजह यह है कि साधारणतः कांग्रेसजनों ने अब तक यह महसूस नहीं किया है, कि रचनात्मक कार्यक्रम और सविनय-भंग में परस्पर कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है और रचनात्मक कार्यक्रम के बिना सविनय भंग की बदौलत हम किसी भी हालत में आज़ादी हासिल नहीं कर सकते। उसके बिना यह आन्दोलन एक हिंसात्मक साधनकी शक्ल अख्त्यार कर लेता है और अन्तमें उसका असफल होना अवश्यम्भावी

और अनिवार्य है। इसके अलावा जब उसका स्वरूप सामूहिक हो जाता है, तब भी केवल वे ही सत्याग्रही इसमें भाग ले सकते हैं, जो शारीरिक रूप से उसके लिए उपयुक्त बैठते हैं। परन्तु उसकी तुलना में रचनात्मक कार्यक्रम में सभी लोग शामिल हो सकते हैं और अगर सारा राष्ट्र ही ईमानदारी के साथ उसमें शरीक रहे तो उसे मुल्तवी करने का सवाल भी नहीं उठ सकता। हमें मुकम्मल आजादी मिलने पर सन्तोष हो जायगा।

"रचनात्मक कार्यक्रम पर अमल करने का मतलब स्वराज्य की इमारत खड़ी करना है। अगर इस कार्यक्रम में हमारा जीता-जागता यकीन नहीं है तो अहिंसा की वह परिभाषा जो मैंने की है, बिलकुल नष्ट हो जाती है। मेरे खयाल से तो रचनात्मक कार्यक्रम की पूर्ति ही अहिंसा पर आधारित स्वराज्य है। इसलिए चाहे सरकार हमें जेल में बन्द करे या न करे, हमें अपने रचनात्मक कार्यक्रम पर चलते रहना चाहिये।

"मुझसे पूछा गया है कि जेल से मुक्त होकर आनेवाले सत्याग्रहियों को सभाओं में भाग लेना चाहिये अथवा सभाएं करनी चाहियें और उनमें भाषण देने चाहियें। हां, उन्हें ऐसा करना चाहिये। मैं यह नहीं चाहता कि वे रिहा होने के तुरन्त बाद ही फिर सत्याग्रह करें। वह तो अशिष्टतापूर्ण और अनुचित जल्दबाजी होगी; लेकिन साधारण रूप से सत्याग्रह-आन्दोलन जारी रह सकता है। उन्हें अपने-अपने हल्कों में, जिनके वे प्रतिनिधि हैं, सभाएं करनी चाहिएं और इन सभाओं में सारी स्थिति पर सोच-विचार करना चाहिये। वे साधारण परिस्थिति के सम्बन्ध में अपने विचार पेश करते हुए कांग्रेस की युद्ध-विरोधी नीति की व्याख्या करने में भी नहीं हिचकिचाएंगे।

"सांकेतिक-सत्याग्रह का एक खास मतलब है; लेकिन सरकार अगर चाहे तो उन कांग्रेसजनों को भी भाषण देने पर पकड़ सकती है, जिनका इरादा सत्याग्रह में भाग लेने का नहीं है। औरों का तो क्या कहना, सरकार ने इसी तरह से मौलाना साहब और पंडित जवाहरलाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया था। मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मुझे किसी बाहरी कारण के आधार पर सत्याग्रह-आन्दोलन मुल्तवी कर देने का कोई हक नहीं है। यह काम तो कांग्रेस का है। मेरे लिए तो कोई और मार्ग ही नहीं। मैं तो शान्तिप्रिय व्यक्ति हूं और इस नाजुक घड़ी में युद्ध-विरोधी कार्रवाई को स्थगित करने का तात्पर्य यह होगा कि मैं अपने अस्तित्व से ही इन्कार कर रहा हूं। इसलिए जिनका मेरे जैसा ही विश्वास है, हमें इस बात का खयाल किये बिना कि हमें गलत समझा जा रहा है अथवा हमारे ऊपर इससे भी कुछ बुरी बीतेगी, अपने कार्यों द्वारा अपने विश्वास का सबूत देना चाहिये। यह काम हमें इस आशा से प्रेरित होकर करना होगा कि अन्त में सभी युद्धरत शक्तियां केवल हमारे ही तरीके को उस रक्तपात से बचने का एकमात्र उपाय समझेंगी, जिसकी वजह से आज हम देख रहे हैं कि मनुष्य इतना नीचे तक गिर गया है।"

दिसम्बर के मध्य में दो उल्लेखनीय भाषण हमारे सामने आए। एक तो १९ दिसम्बर को कलकत्ता के व्यापार-मण्डल संघ के सम्मुख वाइसराय ने दिया और दूसरा भाषण श्री सी० राजगोपालाचारी ने १३ दिसम्बर को लखनऊ विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर दिया। अपने भाषण में वायसराय ने फिर से ८ अगस्त, १९४० के प्रस्तावों को दोहराया। परन्तु शायद वाइसराय महोदय वास्तविकता पर परदा डाल देना चाहते थे। नहीं तो बार-बार अगस्त प्रस्तावों का ही राग अलापते रहने से क्या फायदा था? क्या उनका मतलब यह था कि कांग्रेस की एक साल की तपस्या बेकार और निरुद्देश्य थी? क्या वे यह कहना चाहते थे कि जो लोग ८ अगस्त,

१६४० के प्रस्ताव मंजूर कर लगे, उन्हें ही हिन्दुस्तान का राज्य प्राप्त करने का सौभाग्य होगा ? अगर इनका ऐसा ही खयाल था तो निःसंदेह वे बड़ी ग़लतफ़हमी और भूल में थे।

दूसरा भाषण श्री सी० राजगोपालाचारी का था। इसका महत्त्व इसलिए अधिक है कि उन्होंने सार्वजनिक रूप से अहिंसा-जैसे विषय पर नये और विवादास्पद विचार प्रकट किये।

पता चला कि आपने लखनऊ में निजी बातचीत के दौरान में देश की राजनीतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में अहिंसा के प्रश्न पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। आपने बताया कि अहिंसा कहां तक वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति पर लागू हो सकती है। प्रतीत होता है कि आपने मानवीय मामलों में अहिंसा की खामियों के विषय में जोरदार संकेत किया। उन्होंने यह बात साफ तौर पर कह दी कि मुझे ब्रिटेन और उसके सहयोगियों के प्रति किसी किस्म की सहानुभूति नहीं है। अहिंसा के सम्बन्ध में मेरे जो विचार हैं, उनके अनुसार मेरे जैसा बूढ़ा व्यक्ति भी अपने देश की रक्षा और उसकी आज़ादी के लिए सेना में भरती होने से हिचकिचाहट नहीं कर सकता। लेकिन शर्त यह है कि जहां तक हिन्दुस्तान का सवाल है, ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्रता को इस प्रकार की वास्तविकता में परिणत कर दे। उन्होंने बहुत-कुछ पूना-प्रस्तावों पर ही जोर देने का समर्थन किया। उन्होंने यह भी साफ तौर पर कहा कि केन्द्र में एक संयुक्त राष्ट्रीय सरकार और प्रान्तों में लोक-प्रिय सरकारें स्थापित होनी चाहियें। उन्होंने कहा कि जैसे पंडित जवाहरलाल नेहरू का विचार है, शासन परिषद् के महज भारतीयकरण में मेरा यकीन नहीं है। वह तो उसे बदनाम करना है।

श्री राजगोपालाचारी का विचार था कि राजनीतिक सूझबूझ और चाल के रूप में हमें अपने दृष्टिकोण पर पुनः प्रकाश डालने के बाद और तटस्थता की नीति अख्त्यार करके वर्तमान परिस्थिति में सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर देना चाहिये। वे यह नहीं चाहते थे कि हम अपने दृष्टिकोण में ऐसा संशोधन करें जो ब्रिटेन को स्वीकार हो सके। उनकी राय थी कि कांग्रेस अपने दृषिकोण साफ तौर पर जनता के सामने रख दे। उस हालत में यह ज़िम्मेवारी सरकार की होगी कि वह उसे या तो स्वीकार कर ले या फिर नामंजूर कर दे।

यद्यपि उन्हें ब्रिटिश सरकार के रुख का कोई ज्ञान न था, न हो सकता था, फिर भी उनका ऐसा ख्याल था कि एक-न-एक दिन सरकार परिस्थिति की वास्तविकता को मानकर यह महसूस करेगी कि बारम्बार इस तरह के प्रस्तावों को ठुकराना स्वयं ब्रिटेन के हितों की दृष्टि से हानिकारक होगा। एक दफा जब ऐसा हो जाएगा तो फिर हम अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकेंगे। उस समय हम सभी स्वार्थों को, जिसमें सांप्रदायिक भी शामिल हैं, अपने साथ मिलाकर इतना दबाव डालेंगे कि किसी के लिए भी हमारा प्रतिरोध करना कठिन हो जाएगा।

जैसा कि स्वयं गांधीजी ने संकेत किया था कि सत्याग्रहियों की रिहाई के बाद पहला काम शीघ्र ही कार्यसमिति की बैठक बुलाने का था और यह कि उसके बाद अखिल भारतीय महासमिति की बैठक बुलाकर उसमें कांग्रेस की भरती-नीति पर सोच-विचार करके कोई फैसला कर लिया जाय। तदनुसार कार्यसमिति की बैठक २३ दिसम्बर, १६४१ को बुलाई गई। पिछले कुछ सालों से गांधीजी जाड़े के दिनों में दिसम्बर-जनवरी के महीने बारदोली में गुज़ारा करते थे। १६४१ से दो-तीन साल पहले गुजरातवाले पूरी तरह से इस कोशिश में थे कि गांधीजी बारदोली को ही अपना स्थायी और प्रधान शिविर बनालें। लेकिन गांधीजी सेवाग्राम और वर्धा को नहीं छोड़ सकते थे। वर्धा अहिंसात्मक भारत की राजधानी और सेवाग्राम गांधीजी का निजी निवास-स्थान बन चुके थे। और वे गुजरात तथा बारदोली की खातिर अपना यह छोटा-सा गांव

नहीं छोड़ सकते थे, जहां वे ग्रामोद्योगों, शिक्षा, सामाजिक सेवा और महिलाओं की ट्रेनिंग के रूप में सत्य और अहिंसा के अनेक परीक्षण करने में व्यस्त थे। वास्तव में देखा जाय तो ये काम गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के ही विभिन्न अंग थे। कार्यसमिति की बैठक बारदोली में गांधीजी के निवास-स्थान पर हुई। यह एक ऐतिहासिक बैठक थी, जिसके निर्णय अप्रत्याशित, परन्तु उचित ही थे।

कार्यसमिति के प्रस्ताव

कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा पास किया गया मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार है :—

"कार्यसमिति की पिछली बैठक को हुए चौदह महीने हो चुके हैं और इस दौरान में विश्व लड़ाई की आग में बुरी तरह फँस गया है और बिना सोचे-समझे आत्मविनाश की ओर अग्रसर होता जा रहा है। समिति के सदस्य अपनी रिहाई के बाद फिर एकत्र हो सके हैं और उन्होंने मानव-इतिहास की इस भाग्य-निर्णायक-अवधि में उत्पन्न होनेवाली राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर खूब गौर किया है। इस नाजुक घड़ी में जबकि पुरानी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ नये रूप में हमारे सामने आ रही हैं और लड़ाई हिन्दुस्तान की सीमाओं तक आ पहुँची है और उसके कारण नयी-नयी समस्याएँ पैदा हो गई हैं, कांग्रेस और राष्ट्र के पद-प्रदर्शन की ज़िम्मेवारी बहुत अधिक बढ़ गई है और यह समिति उसे सिर्फ उसी हालत में योग्यता के साथ अपने कन्धों पर उठा सकती है अगर उसे भारत की जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहे।

"इन पिछले बहुत से सालों में कांग्रेस ने जो सिद्धान्त और उद्देश्य अपने सामने रखे हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए समिति ने उन पर संसार की परिस्थितियों और संसार की स्वतन्त्रता के व्यापक दृष्टिकोण से सोच-विचार किया है। समिति का दृढ़ विश्वास है कि भारत की जनता के लिए पूर्ण स्वाधीनता नितान्त आवश्यक है और विशेषकर संसार के वर्तमान संकट के समय। यह स्वाधीनता भारत के लिए ही नहीं बल्कि विश्वभर के हितों के लिए भी आवश्यक है। समिति का यह विचार भी है कि संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही संसार में वास्तविक शान्ति और स्वतन्त्रता स्थापित हो सकती है।

"युद्ध के सम्बन्ध में समिति ने अपने रुख पर १४ सितम्बर, १९३९ के अपने वक्तव्य द्वारा पूरी तरह से प्रकाश डाला था। उस वक्तव्य में उसने नाजी और फासिस्ट आक्रमण की जोरदार शब्दों में निन्दा करते हुए यह कहा था कि भारत के लोग प्रजातन्त्र और स्वाधीनता की रक्षा के लिए सहयोग देने के लिए तैयार हैं, बशर्तेकि युद्ध के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया जाय और वर्तमान परिस्थितियों में जहां तक बन पड़े उन पर अमल भी। अगर ये उद्देश्य प्रजातन्त्र और स्वाधीनता हैं तो इनके अन्तर्गत साम्राज्यवाद का विनाश और भारत की स्वाधीनता की स्वीकृति भी अवश्य सम्मिलित होनी चाहिये। उसके बाद से ब्रिटिश सरकार की ओर से घोषणाएँ की गई हैं और उसने जिस प्रतिगामी और दमनकारी नीति पर आचरण किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन की वर्तमान सरकार भारतीय जनता के शोषण और भारत पर अपने साम्राज्यवादी पंजे को बनाए रखने के लिए ही नहीं बल्कि उसे और भी अधिक मजबूत एवं कड़ा करने का दृढ़ निश्चय किए हुए है। ब्रिटेन की नीति जान-बूझकर भारतीय राष्ट्रवाद का अपमान करने, स्वेच्छाचारी शासन को कायम रखने तथा विनाशकारी और प्रतिगामी वर्गों को प्रोत्साहन देने की रही है। उसने न केवल कांग्रेस-द्वारा सम्मानपूर्ण समझौते के

लिए की गई कोशिशों को ही ठुकराया है, बल्कि उसने नरमदलीय विचार के लोगों की रायका भी अपमान किया है।

"इसलिए कांग्रेस को विवश होकर भारतीय जनता के सम्मान, प्रारम्भिक अधिकारों, राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता और अखंडता बनाए रखने के उद्देश्य से गांधीजी से निवेदन करना पड़ा कि वे कांग्रेस को बताएँ कि उसे ऐसी हालत में क्या करना चाहिये ? गांधीजी ने यह खयाल करके कि जहाँ तक सम्भव हो और खासकर लड़ाई की नाजुक घड़ी में अपने विरोधी को परेशान न किया जाय, सत्याग्रह-आन्दोलन का स्वरूप सीमित ही रखा और उन्होंने यह आन्दोलन केवल कुछ ऐसे चुने हुए व्यक्तियों को लेकर ही शुरू किया जो उनकी शर्तों की कसौटी पर पूरे उतरे। इस आन्दोलन को शुरू हुए इस समय १४ महीने से भी ज्यादा हो चुके हैं और इसके फलस्वरूप २५,००० कांग्रेसी जेल गये हैं। उनके अलावा उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा देश के दूसरे भागों में हजारों ही ऐसे सत्याग्रही थे, जिन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया।

"समिति गांधीजी के नेतृत्व और राष्ट्र-द्वारा इस आन्दोलन में दिए गए सहयोग की सराहना करती है और उसकी कद्र करती है। उसकी राय है कि इससे जनता की शक्ति बढ़ी है। ब्रिटेन ने भारत की आजादी का विरोध किया है और वह भारत में यहां की जनता की आकांक्षाओं को ठुकराकर, पूर्णतः स्वेच्छाचारी शासन पर अमल करता रहा है। प्रजातन्त्र और स्वाधीनता के उद्देश्य और लड़ाई के फलस्वरूप वह जिस संकट में फंसा हुआ है, उसे ध्यान में रखते हुए भी उसकी नीति और मनोवृत्ति में किसी किस्म का परिवर्तन देखने में नहीं आया और जो कोई परिवर्तन हुए भी हैं उनके कारण परिस्थिति बिगड़ी ही है, सुधरी नहीं।

"हाल में राजनीतिक बन्दियों की जो रिहाई हुई है, वह महत्वहीन है, क्योंकि यह कार्रवाई जिन परिस्थितियों में की गई है और इस सम्बन्ध में सरकारी तौर पर जो घोषणा हुई है उससे साफ जाहिर है कि इसका सम्बन्ध नीति में किसी परिवर्तन से नहीं है। अब तक बहुत से लोग बिना मुकदमा चलाए ही भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत जेलों में नजरबन्द पड़े हैं। इन लोगों का एकमात्र अपराध यही है कि वे सच्चे देशभक्त हैं, वे विदेशी हुकूमत से ऊब चुके हैं और उन्होंने देश को स्वतंत्र कराने का दृढ़ निश्चय कर रखा है। हाल में जो प्रमुख व्यक्ति गिरफ्तार किए गए हैं और जेल में उनके साथ जो व्यवहार किया जा रहा है, उससे भी यही जाहिर होता है कि कि अब तक पुरानी नीति पर अमल हो रहा है।

"यद्यपि ब्रिटेन की भारतीय नीति में किसी किस्म का परिवर्तन नहीं हुआ है, फिर भी कार्य-समिति उस नयी परिस्थिति पर पूरी तरह से ध्यान देना चाहती है, जो इस लड़ाई के विश्वव्यापी रूप धारण कर लेने तथा उसके भारत के द्वार तक आ पहुँचने के कारण पैदा होगई है। स्वाभाविक है कि कांग्रेस की सहानुभूति आक्रान्त लोगों और स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़नेवाले लोगों से है। परन्तु केवल आजाद भारत ही राष्ट्रीय आधार पर देश की रक्षा की ज़िम्मेवारी अपने कन्धों पर उठा सकता है और लड़ाई के परिणामस्वरूप जो बड़े-बड़े उद्देश्य सामने आ रहे हैं, उनकी रक्षा कर सकता है।

"भारत का सारा वातावरण अंग्रेज़ों के विरोध और उनके प्रति अविश्वास की भावना-से ओतप्रोत है और बड़े-बड़े व्यापक वायदों से भी इस परिस्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ सकता और न ही भारत स्वेच्छा से, अभिमानी साम्राज्यवाद की कोई मदद ही कर सकता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में साम्राज्यवाद और तानाशाही में किसी किस्म का अन्तर नहीं है।

"इसलिए समिति की राय है कि १६ सितम्बर १९४० को अखिल भारतीय महासमिति ने बम्बई में जो प्रस्ताव पास किया था और उसमें कांग्रेस की जो नीति बताई गई थी, वह अभी तक कायम है।"

इसके अलावा कार्य-समिति ने ये प्रस्ताव पास भी कियेः—

"कार्य-समिति को गांधीजी का एक पत्र मिला है और उसमें उन्होंने जो प्रश्न उठाया है वह उसके औचित्य को स्वीकार करती है और इसलिए उन्हें उस ज़िम्मेदारी से मुक्त करती है; जो उन्हें बम्बई के प्रस्ताव के अनुसार सौंपी गई थी, जिसका गांधीजी ने उल्लेख किया है; परन्तु समिति उन्हें यकीन दिलाना चाहती है कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिए उनके पथ-प्रदर्शन में रहकर अहिंसा की जो रीति अपनाई गई है और जिसके कारण हमें जनता में जागृति उत्पन्न करने में इतनी अधिक सफलता मिली है, उसपर कांग्रेस दृढ़ रहेगी।

"कार्य-समिति उन्हें यह यकीन भी दिलाना चाहती है कि जहाँ तक संभव जान पड़ेगा वह आजाद भारत में भी उसी नीति को लागू करेगी। समिति आशा करती है कि कांग्रेसजन उसे उनकी उद्देश्यपूर्ति में, जिसमें सत्याग्रह भी शामिल है, पूर्ण सहायता प्रदान करेंगे।"

कार्य-समिति द्वारा कांग्रेसजनों के नाम निम्नलिखित हिदायतें जारी की गईं:—"विश्व-व्यापी परिस्थिति में हाल में जो परिवर्तन हुए हैं; उनके कारण लड़ाई भारत के द्वार तक पहुँच गई है। हो सकता है कि इसके कारण देश के कुछ भागों में अव्यवस्था फैल जाय। यह संभावना भी है कि कुछ शहरों पर हवाई आक्रमण भी हों।

"चाहे जितने खतरे और कठिनाइयाँ सामने आएँ, उनका मुकाबला करने का वास्तविक उपाय शान्ति और धैर्य से काम लेना है। और हमें किसी भी परिस्थिति में आतंक, बेचैनी और उत्तेजना का शिकार नहीं होना चाहिए। कांग्रेसजनों को अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ बने रहना चाहिए और जहाँ-कहीं भी जरूरत पड़े जनता की सेवा करने का अपना काम जारी रखना चाहिए। उन्हें चाहिये कि जिन लोगों को अधिक सुरक्षा की आवश्यकता हो उन्हें सुरक्षित स्थानों पर पहुंचा दिया जाय और जिन्हें सहायता की आवश्यकता पड़े, उनकी सहायता करने को वे हमेशा तैयार रहें।

"कांग्रेस आगे आनेवाले कठिन दिनों में जनता की सेवा सिर्फ उसी हालत में कर सकती है अगर इसका संगठन मजबूत और अनुशासनपूर्ण बना रहे और अपने-अपने इलाकों में कांग्रेस-समितियाँ और कांग्रेसजन निजी रूप से जनता के विश्वास-भाजन बने रहें।

"इसलिए कांग्रेस कमेटियों और कांग्रेसजनों को चाहिये कि वे तुरन्त ही संगठन का काम तथा गाँवों और शहरों में लोगों के साथ घनिष्ट संपर्क स्थापित करने का काम शुरू करदें। जहाँतक संभव हो गाँव-गाँव में कांग्रेस का सन्देश पहुँच जाना चाहिये और लोग आगे आने वाली विपत्तियों का सामना करने के लिए तैयार हो जाएँ।"

इसके अलावा तत्काल बाद ही राजेन्द्र बाबू, सरदार पटेल, श्री कृपलानी और डा० घोष ने एक वक्तव्य निकाल कर अखिल भारतीय महासमिति की आगामी बैठक में स्वतंत्र रूप से अपने-अपने विवेक के अनुसार कांग्रेस की भावी नीति पर विचार प्रकट करने का आग्रह किया।

बारदोली के प्रस्ताव पर और अधिक प्रकाश 'हरिजन' में प्रकाशित गांधीजी के निम्न संक्षिप्त वक्तव्य से पड़ता है :—

आपने बताया कि "यह प्रस्ताव एक दर्पण है, जिसमें सभी दल अपना-अपना प्रतिबिम्ब देख

सकते हैं। इसका मसविदा जवाहरलाल जी ने तैयार किया था, लेकिन उसके बाद इसे एक उप-समिति के सुपुर्द कर दिया गया जिसने उसमें काफी परिवर्तन कर दिया।

"मूल प्रस्ताव में राजा जी के दृष्टिकोण के लिए कोई गुन्जाइश नहीं थी, परन्तु उपसमिति ने इसके लिए थोड़ी-सी गुन्जाइश करदी। जवाहरलाल जी भी प्रायः युद्ध-प्रयत्न के उतने ही सख्त विरोधी हैं जितना कि मैं हूं। उनके कारण कुछ और हैं। अगर कांग्रेस की कुछ शर्तें मंजूर कर ली जाएं तो राजाजी लड़ाई में मदद देने को तैयार हैं। राजेन्द्र बाबू जिस प्रकार के अहिंसात्मक असहयोग के हामी हैं, उसके लिये भी निश्चय ही गुन्जाइश है, क्योंकि जब तक ऐसी घटना नहीं घट जाती तब तक अहिंसा का प्राधान्य रहता है।"

आगे गांधीजी ने कहा:—

"जब यह कहा गया कि अखिल भारतीय महासमिति में मतभेद हो जाने की संभावना है तो कई सदस्य उस संभावना का विचार करके घबरा उठे कि कहीं कांग्रेस फिर से पागल गांधी का नेतृत्व बनाए रखने के लिए उसकी बात न मान जाए और वह राजनीतिक संगठन की बजाय एक धार्मिक संगठन बन जाय। मैं उनकी इस आशंका का समाधान कर देना चाहता हूँ कि कांग्रेस ऐसा कुछ नहीं कर सकती कि जिससे हमारे पिछले साल के किये-कराये पर पानी फिर जाय। कांग्रेस ने तो केवल यह फैसला किया है कि संसार जिन शर्तों पर चाहे उसके प्रति बर्ताव कर सकता है और यदि उसे ये शर्तें उचित प्रतीत हुईं तो वह उन्हें मंजूर कर लेगी। पर आपको यह भी समझ लेना चाहिये कि कांग्रेस आसानी से संतुष्ट होनेवाली नहीं है। जब तक उसे अपनी मनोवांछित वस्तु नहीं मिल जाएगी तब तक "वह किसी भी हालत में संतुष्ट होकर नहीं बैठ सकेगी। जब तक उसे वास्तविक वस्तु नहीं प्राप्त हो जायगी वह तब तक यही कहती रहेगी "यह नहीं', "यह नहीं"

"इसलिए आप ठीक-ठीक बताइये कि आप क्या चाहते हैं और इसी प्रकार मैं आप लोगों को बताऊँगा कि मुझे क्या चाहिए। यही कारण है कि मैंने तीनों साप्ताहिक पत्रों को प्रकाशित करने का निर्णय किया है और जब तक मुझे आजादी रहेगी मैं उनके जरिये अपने विचार पूरी तरह से प्रकट करता रहूँगा। इसी बीच अगर आपको अपनी मनोवांछित चीज मिल जाए तो आप समझौता कर लीजिए और इस सम्बन्ध में, मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि मुझे इससे कोई दुःख नहीं होगा। इसलिए मैं संसार को इस प्रस्ताव के बारे में, जो उसने खुशी जाहिर की है, धोखे में नहीं रखना चाहता। मैं दुनिया की नजरों में कांग्रेस की हँसी नहीं उड़वाना चाहता। मैं यह नहीं कहलाना चाहता कि मैंने अपनी नेतागीरी को बनाए रखने के लिए आप लोगों को अपने विचार छोड़ देने को कहा।"

गांधीजी ने ४ जनवरी, १९४२ को बारदोली-प्रस्ताव के महत्व का स्पष्टीकरण करते हुए बताया:—

गुजरात प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी और गुजरात के कार्यकर्त्ताओं की बैठक में जिसमें सरदार पटेल, डा० घोष, आचार्य कृपलानीजी और डा० राजेन्द्र प्रसाद भी शामिल थे, भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा:—"इस बारे में मेरी राय चाहे कुछ भी क्यों न हो, आप लोगों को अपने विवेक से काम लेने की पूरी आजादी है।"

बारदोली के प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए गांधीजी एक घण्टे तक भाषण देते रहे और उन्होंने अखिल भारतीय महासमिति के गुजरात के सदस्यों से कहा कि वे वर्धा की आगामी बैठक में अपने विचार बिना किसी लाग लपेट के पेश करें।

गांधीजी ने बताया कि मैंने कांग्रेस छोड़ी नहीं है और बम्बई में भी मेरी स्थिति ऐसी ही थी। आगे आपने कहा, "मैं तो कांग्रेस का एक सेवक हूँ और सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त पर चलकर कांग्रेस की सेवा करना चाहता हूँ। कार्यसमिति ने फैसला किया है कि अगर ब्रिटेन भारत को स्वराज्य दे दे तो वह लड़ाई में उसकी मदद करने को तैयार है। यह कहना ठीक नहीं कि कांग्रेस ने अहिंसा के सिद्धान्त का उल्लंघन किया है; लेकिन उसने ब्रिटेन की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाने की मामूली-सी कोशिश की है। राजाजी का खयाल है कि हम सब को पूरी तरह से शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर लड़ाई में शामिल हो जाना चाहिए, परन्तु हो सकता है कि सबका ऐसा ही विचार न हो।"

यह बताते हुए कि रचनात्मक कार्यक्रम जारी रहना चाहिए, गांधीजी ने कहा, "आजकल के दिनों में, मैं कार्यकर्त्ताओं को जेल नहीं भेजना चाहता जबकि उनकी सेवाओं से हम आतंक को दूर करने में मदद ले सकते हैं।"

सरदार वल्लभभाई पटेल इस सभा के अध्यक्ष थे। आपने अपने भाषण में कहा, "इससे भी कहीं अधिक नाजुक समय हमारे सामने आनेवाला है। हमारी जिम्मेदारियाँ बढ़ जाएँगी, और तब हम सरकार का मुँह नहीं ताक सकेंगे, क्योंकि वह स्वयं अपनी जिम्मेदारियों के चक्कर में फँसी हुई है; हमें यह फैसला खुद ही करना होगा कि हमें क्या करना चाहिए।"

तत्काल ही इस प्रस्ताव की ओर इंगलैण्ड के लोगों का ध्यान आकर्षित होगया; लेकिन प्रत्यक्ष रूप से इसकी कोई प्रतिक्रिया या प्रभाव देखने में नहीं आया।

भारत मंत्री ने ८ जनवरी, १९४२ को कामनसभा में भाषण देते हुए कहा, "दिसम्बर के अन्त में भारत के राजनीतिक दलों ने जो प्रस्ताव पास किये हैं और इस सम्बन्ध में राजनीतिक नेताओं ने जो विभिन्न वक्तव्य दिये हैं, उनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ है, लेकिन मुझे खेद है कि हाल में वाइसराय ने समान संकट को देखते हुए भारतीय जनता से सहयोग और एकता की जो अपील की थी, उसके सम्बन्ध में इन दलों ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया।"

आगे आपने बताया, "सरकार ने भारत से जो वायदे कर रखे हैं, ऐसे वायदे जिनका अटलांटिक अधिकारपत्र से किसी किस्म का सम्बन्ध नहीं है; लेकिन जो पूर्णतः उसके सिद्धान्तों के अनुकूल हैं उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक समझौते को प्रोत्साहन देने से तो वह कभी पीछे हटेगी नहीं।"

कार्यसमिति की एक बैठक १३ जनवरी को हुई, जिसमें उसने कांग्रेस संगठन से सम्बद्ध विषयों पर सोच-विचार किया। कार्यसमिति ने स्वाधीनता-दिवस के मनाने, कांग्रेस कमेटियों द्वारा पुनः अपना काम शुरू करने और कांग्रेस के साधारण सदस्य भरती करने के सम्बन्ध में हिदायतें जारी कीं।

कार्यसमिति ने स्वाधीनता-दिवस की प्रतिज्ञा में से व्यक्तिगत सत्याग्रह से सम्बन्ध रखनेवाले भाग हटाकर उसमें आवश्यक संशोधन कर दिया।

संशोधित प्रतिज्ञा

संशोधित प्रतिज्ञा इस प्रकार है :—

"हम हिन्दुस्तानी लोग भी अन्य कौमों की भांति अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं

कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल खुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएं मिलें, जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौका मिले। हम यह मानते हैं कि अगर कोई सरकार जनता के इन हकों को छीने और उस पर जुल्म करे तो उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह उसे बदल दे अथवा खत्म करदे। अंग्रेजी हुकूमत ने सिर्फ हिन्दुस्तान की जनता की आजादी को ही नहीं छीना है, बल्कि उसने अपनी बुनियाद ही जनता के शोषण पर कायम की है और हिन्दुस्तान की राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से भी तबाह कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को ब्रिटेन से अपना ताल्लुक खत्म कर पूर्ण स्वराज्य अथवा मुकम्मल आजादी हासिल करनी चाहिए।

"हम मानते हैं कि हिन्दुस्तान की आजादी के हासिल करनेका सबसे कारगर तरीका हिंसा नहीं है। शान्तिमय और उचित उपायों के जरिये ही हिन्दुस्तान ने ताकत हासिल की है और आत्मविश्वास पैदा किया है तथा स्वराज्य के रास्ते पर इतना आगे बढ़ सका है। इन्हीं तरीकों पर चलकर हमारा मुल्क पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगा।

"हम आज हिन्दुस्तान की आजादी की प्रतिज्ञा को फिर से दोहराते हैं और दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक पूर्ण स्वराज्य प्राप्त नहीं होगा तब तक अपनी आजादी की लड़ाई को अहिंसात्मक तरीके पर ही जारी रखेंगे।

"हमारा यकीन है कि आम तौर पर हर अहिंसात्मक काम में और खासकर अहिंसात्मक लड़ाई या सत्याग्रह के लिए यह जरूरी है कि खादी, कौमी एकता कायम करने और अछूतपन दूर करने के रचनात्मक कार्यक्रम को कामयाबी के साथ पूरा किया जाय। हम जाति या मज़हब का भेदभाव छोड़कर अपने मुल्क के रहनेवालों में सद्भाव और प्रेम कायम करने की पूरी कोशिश करेंगे। जिन लोगों की उपेक्षा की गई है, उनकी जहालत और गरीबी दूर करने का हम प्रयत्न करेंगे और जो पिछड़े हुए हैं, तथा पददलित माने जाते हैं, उन्हें ऊपर उठाने और उनके हितों की हिफ़ाजत का हम भरसक प्रयत्न करेंगे, हालांकि हम साम्राज्यवाद का खात्मा करना चाहते हैं, लेकिन हमारा अंग्रेजों से, चाहे वह सरकारी अफसर हों या गैर-सरकारी, कोई झगड़ा नहीं है। हमारा विश्वास है कि हरिजनों और सवर्ण हिन्दुओं के ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटा देना चाहिए और हिन्दुओं को अपने रोजाना के बर्ताव में भी इस भेदभाव को भूल जाना पड़ेगा। इस तरह के फर्क अहिंसात्मक ढंग और कार्य में रुकावट पैदा करते हैं। चाहे हम विभिन्न धर्मों के माननेवाले ही क्यों न हों; लेकिन आपस के बर्ताव में भारतमाता के बच्चों की तरह काम करेंगे, क्योंकि हम एक ही राष्ट्र के रहनेवाले हैं और हमारे राजनीतिक और आर्थिक हित समान हैं।

"हिन्दुस्तान के सात लाख गांवों में फिर से जान डालने और आम जनता की जबरदस्त गरीबी को दूर करने के लिए चर्खा और खादी हमारे कार्यक्रम के अमोघ अंग हैं। हम निजी आवश्यकता के लिए खादी ही इस्तेमाल करेंगे, जहां तक मुमकिन होगा हाथ से बनी हुई गांव की चीजों का ही उपयोग करेंगे। दूसरों से भी ऐसा ही कराने की कोशिश करेंगे। आज हम फिर से प्रतिज्ञा करते हैं कि कांग्रेस के सिद्धान्त और नीति का संयम के साथ पालन करेंगे और कांग्रेस के आदेश के अनुकूल भारत की आजादी के युद्ध को जारी रखने के लिए हर घड़ी तैयार रहेंगे।"

अखिल भारतीय महासमिति की बैठक में मुख्य बहस का उत्तर देते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लोगों में पाई जाने वाली इस प्रवृत्ति की कड़ी आलोचनाकी कि लोग नारों के प्रवाह

में बह जाते हैं। उनका खयाल था कि साम्यवादी, समाजवादी और गांधीवादी, सभी लोग इस प्रवृत्ति के शिकार हैं। समाजवाद अथवा साम्यवाद दोनों में से किसी का भी यह उद्देश्य नहीं रहा कि भारत की परिस्थितियों की उपेक्षा करके इस देश पर पश्चिमी देशों के आधार पर इन निगूढ़ सिद्धान्तों को लागू किया जाय। उनका विचार था कि कांग्रेस समाजवादियों का यह सुझाव कि विधान-परिषद् बुलाई जाए, इस नाजुक घड़ी में अव्यावहारिक था; हालांकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि अन्त में भारत के भाग्य का निर्णय करने का एकमात्र उपाय विधान-परिषद् ही है।

नेहरूजी ने आगे बताया कि मुझे उन लोगों का रवैया समझ में नहीं आता जो "शत् प्रतिशत अहिंसा की बातें कर रहे हैं। लेकिन साथ ही वे हिंसा और अन्याय पर आधारित मौजूदा सामाजिक ढांचे को सहन करते जा रहे हैं और जो यह आशा लगाए बैठे हैं कि पूँजीपतियों और धनिक वर्ग की मनोवृत्ति में परिवर्तन करके वे एक नया ढांचा खड़ा करने में समर्थ हो सकेंगे। आपने कहा कि मेरा डा० राजेन्द्रप्रसाद और उनके मित्रों से इस बात पर मतभेद है कि हमें इंगलैण्ड और अमरीका-जैसी आजादी की जरूरत नहीं है। लेकिन मैं तो कम-से-कम इस किस्म की आजादी को किसी भी क्षण स्वीकार कर लेने को तैयार हूँ, चाहे वह कितनी भी अपूर्ण क्यों न हो। उसको बाद में मैं उसकी खामियां दूर करने की कोशिश करूँगा और समाज का एक ऐसा नया ढांचा खड़ा करने की चेष्टा करूँगा जिसमें एक निश्चित अवधि के बाद होनेवाली लड़ाइयों और अहिंसा के लिए कोई गुंजाइश न होगी।

श्री चर्चिल अभी अमरीका में ही थे जब कि उन्हें बारदोली के प्रस्ताव का समाचार मिला और एक सवाल का जवाब देते हुए आपने कहा कि मैं फिलहाल इस बारे में कुछ भी नहीं कह सकता; क्योंकि पिछले कुछ समय से मेरा भारत की घटनाओं से कोई संपर्क नहीं रह सका। लेकिन लंदन पहुँचने पर पार्लमैण्ट में यही प्रश्न किया गया। श्री चर्चिल ने उत्तर दिया कि अमरीका से प्रस्थान करने के वक्त ही मुझे डा० सप्रू का पत्र मिला था और मैं उनके सुझावों] पर पूरी तरह गौर करके उन्हें उत्तर भेज दूंगा। इसे जनता के लाभ के लिए प्रकाशित भी कर दिया जायगा।

२२ जनवरी, १९४२ को कामनसभा में एक सवाल का जवाब देते हुऐ श्री एमरी ने कहा कि मैं भारत की राजनीतिक परिस्थिति के बारे में कोई और वक्तव्य नहीं देना चाहता। २७ जनवरी १९४२ को कामन सभा की एक बहस में हिस्सा लेते हुए श्री पेथिक लारेंस ने कहा, कि मेरे विचार में भारतीय समस्या का कोई सन्तोष-जनक हल ढूंढ़ निकालना युद्ध-प्रयत्न का एक महत्वपूर्ण अंग है और प्रधानमंत्री को भारतीय जनता तथा उसके राजनीतिक नेताओं को यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि देश के सभी लोगों की हार्दिक इच्छा यह है कि लड़ाई के बाद आपको औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय।

कामनसभा में विश्वास के प्रस्ताव पर होनेवाली बहस के पहले दो दिनों में भारत के सम्बन्ध में कई बार उल्लेख किया गया।

श्री एडगर ग्रेनविल (उदार राष्ट्रवादी) ने यह आशा प्रकट की कि सरकार भारत के सभी साधनों का एकीकरण करने में सफल हो जाएगी और प्रधानमंत्री यह घोषणा कर देंगे कि दूसरे स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों की भांति भारत का प्रतिनिधि भी लन्दन के युद्ध मंत्रिमण्डल में ले लिया जाएगा।

३ फरवरी को एक बार फिर लार्ड सभा में एक गरमागरम बहस हुई, जिसमें लार्ड

फैरिंगटन (मज़दूर दल) ने बड़ा प्रमुख भाग लिया।

आपने सरकार का ध्यान उस वक्त की जरूरी समस्या की ओर आकर्षित किया। आपने शिकायत की कि सरकार में आत्म-संतुष्टि की भावना घर कर गई है और परिस्थिति हर रोज नाज़ुक होती जारही है; लेकिन इस पर भी उसका मुकाबला करने की कोई कोशिश नहीं की जाती।

आगे लार्ड फैरिंगटन ने कहा कि यह बड़े दुर्भाग्य की बात प्रतीत होती है कि सम्राट् की सरकार ने भारत को स्वायत्त शासन देने का जो वायदा कर रखा है, उसे वह यथार्थ रूप देने में असफल रही है। अटलांटिक के घोषणा-पत्र की भारत के लिए जो थोड़ी-बहुत उपयोगिता हो भी सकती थी, उसे दुर्भाग्यवश प्रधान मंत्री के इस वक्तव्य-द्वारा बिल्कुल ही नष्ट कर दिया गया है कि उक्त घोषणापत्र भारत पर लागू नहीं हो सकता। मौजूदा गतिरोध का अन्त करने के लिए मैं कुछ व्यावहारिक सुझाव रखना चाहता हूँ। पिछले कुछ महीनों में इस गतिरोध के कारण भारी खतरा पैदा होगया है। इसके अलावा मलाया से जो खबरें यहां पहुँच रही हैं उनसे ज़ाहिर होता है कि देश की जनता लड़ाई में कोई दिलचस्पी नहीं ले रही है। इसलिए भारत का यह गतिरोध और भी अधिक खतरनाक नज़र आता है।

मेरा सबसे पहला सुझाव यह है कि सरकार यह घोषणा कर दे कि वह भारत को भविष्य में नहीं, बल्कि इसी वक़्त स्वराज्य दे देना चाहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोगों के साथ भारतीय नेता समझौते की बातचीत चलाने को तैयार हैं। उस व्यक्ति को और सरकार को वाइसराय की शासन-परिषद् का पूर्ण भारतीयकरण करने को तैयार रहना चाहिए। विदेशी मामले और रक्षा-विभाग भी भारतीयों को ही दे देना चाहिए। उन्हें ऐसी परिषद् को भारत की अस्थायी सरकार स्वीकार कर लेनी चाहिए और इस नयी परिषद का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह विधान-परिषद् अथवा विधान बनानेवाला सम्मेलन बुलाने का आयोजन करे और इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्य भी करे। मेरा आख़िरी सुझाव यह है कि सरकार यह घोषणा कर दे कि इस विधान-परिषद् के फैसले पार्लमेण्ट में एक सरकारी क़ानून के रूप में पेश कर दिये जाएँगे और लड़ाई ख़त्म हो जाने के बाद कम-से-कम तीन साल के अन्दर उन्हें पास कर दिया जायगा।

लार्ड फैरिंगटन ने कहा कि सरकार ने यह घोषणा की है कि अगर भारत के दोनों दलों में कोई समझौता हो जाय तो वह उसका समर्थन करेगी, लेकिन मेरे ख़्याल से यह कुछ अनुचित रवैया है। मुस्लिम लीग ने, जो कि मुसलमानों का प्रतिनिधि होने का दावा करती है, काग़ज़ पर अपनी माँगें लिखकर रख दी हैं और स्पष्ट है कि कांग्रेस उन्हें किसी भी हालत में मंज़ूर नहीं कर सकती। लेकिन वास्तविकता यह है कि मुस्लिम लीग सभी मुसलमानों का प्रतिनिधि होने का दावा नहीं कर सकती और यह आवश्यक है कि ब्रिटेन के लोगों को भी यह बात आसानी से समझ लेनी चाहिए और उन्हें उग्र विचारोंवाले मुसलमानों के हाथ का खिलौना बनकर भारतीयों के समझौते के मार्ग में रुकावट नहीं पैदा करनी चाहिये। आगे आपने कहा, ऐसा मालूम होता है कि मुस्लिम लीग तो भारत के अधिकांश मुसलमानों का भी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती और मेरे ख़याल में भारत के विभाजन की उसकी योजना अव्यावहारिक ही नहीं, बल्कि प्रतिगामी भी है।

लार्ड हेली ने कहा कि यह वक़्त छोटी रस्मी बातों का नहीं है। हमें सीरिया की तरह

ही भारत के बारे में भी कोई स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिए। यह कहा गया है कि युद्ध-काल में कोई वैधानिक परिवर्तन नहीं किए जा सकते, परन्तु भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घोषणा—अर्थात् १९१७ की घोषणा लड़ाई के ज़माने में ही तो की गई थी और मांटेगू-चेम्स-फोर्ड योजना भी १९१८ में ही तैयार हुई थी, जो कि लड़ाईकी बहुत ही नाज़ुक घड़ी थी। हमारा वास्तविक उद्देश्य क्या है? इसका ख़याल किए बिना हमारे लिए भारत के गतिरोध का कोई हल ढूँढ़ निकालना बड़ा कठिन है। १९३५ का विधान बहुत समय तक के विचार-विमर्श और सतर्कता के बाद तैयार हो सका था और ब्रिटेन की जनता ने स्वाधीनता-प्राप्त किसी भी उपनिवेश अथवा साम्राज्य का विधान तैयार करने में इतनी सतर्कता और धैर्य से काम नहीं लिया था, जितना कि १९३५ का विधान बनाने में।

लार्ड हेली ने पूछा कि भारतीय रियासतों की स्थिति क्या रहेगी? और क्या अब हमें मुसलमानों की यह बात मंजूर कर लेनी चाहिए कि संयुक्त भारत के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जायँ। आपने कहा कि मेरे ख़याल से तो सम्राट् की सरकार को एक ऐसी संतोषजनक घोषणा कर देनी चाहिए कि जिसके अन्तर्गत या तो कोई तारीख़ निश्चित कर दी जाय अथवा कोई ऐसा तरीक़ा बताया जाय जिससे कि भारत के दोनों दलों में कोई समझौता हो सके।

अगर हम युद्ध-प्रयत्न के रास्ते में कोई भारी रुकावट नहीं देखना चाहते तो यह आवश्यक है कि हम मतभेदों को ख़त्म करके कोई समझौता कर लें। आपने प्रश्न किया कि क्या यह सम्भव नहीं है कि प्रान्तों में इस तरह का परिवर्तन किया जाय कि वे स्वयं केन्द्रीय धारासभा की इकाइयाँ बन जाएँ।

लार्ड केटो ने कहा कि बहुत से भारतीय नेता अभी तक यह महसूस नहीं कर रहे कि यह लड़ाई ख़ुद उनकी लड़ाई भी है और उन लोगों की मदद के बिना भारत की जनता को राजनीतिक परिस्थिति के ख़तरों से अवगत कराना और युद्ध प्रयत्न में उनका अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करना कठिन है। जब तक हम उनकी वैधानिक समस्या को नहीं सुलझा देते और औपनिवेशिक स्वराज्य देने का अपना वायदा पूरा नहीं कर देते तब तक युद्ध के प्रति उनकी यह उदासीनता और उपेक्षा जारी रहेगी।

लार्ड सभा में भारत-विषयक बहस के दौरान में उप-भारत मंत्री ड्यूक आफ डीवन शायर ने जो भाषण दिया उससे साफ़ तौर पर यह ज़ाहिर हो जाता है कि साम्राज्य के लिए भारी ख़तरा पैदा हो जाने पर भी अपनी भारत-विषयक नीति के सम्बन्ध में ब्रिटेन की मनोवृत्ति में किसी क़िस्म का कोई फर्क नहीं आया।

ड्यूक का यह भाषण बड़ा उत्तेजनापूर्ण था और उन्होंने कांग्रेस का असर घटाकर और मुस्लिम लीग का असर बढ़ाकर दिखाने की कोशिश की। आपने कहा, "ऐसा मालूम होता है कि मुस्लिम लीग का असर और उसकी ताकत निश्चित रूप से बढ़ रही है और इस वक़्त कांग्रेस की ताक़त कम हो रही है। कांग्रेस के दावे को चुनौती दी जा रही है और महान् मुस्लिम जाति हमेशा ही उसके दावे को चुनौती देती रहेगी।"

ड्यूक ने सांप्रदायिक मतभेदों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया और बताया कि भारत की समस्या का हल १९४० के अगस्तवाले प्रस्तावों में ही है। एक भारतीय सरकार अथवा 'सरकारें' बनाने का भी संकेत किया गया। आपने मानों बड़े अनजानेपन से कहा कि भारत-कार्यालय अब भारत पर हुकूमत नहीं कर रहा और नौकरियों में अब यूरोपियन लोग बहुत

कम रह गए हैं। लेकिन "यह निश्चित है कि अगर किसी क़िस्म के आपसी समझौते के बिना भारत में सत्ता हस्तांतरित की गई तो उसका परिणाम देश में अव्यवस्था और अराजकता को जन्म देना होगा।"

ड्यूक ने भारत के युद्ध-प्रयत्न के सम्बन्ध में पूर्ण संतोष प्रकट किया और उनका रवैया यह था कि अगर राजनीतिक आन्दोलन जारी भी रहे तो भी उनका काम चलता रहेगा; रुक नहीं सकता। इसमें कोई शक नहीं कि बहस के दौरान में कुछ बुद्धिमत्तापूर्ण भाषण अवश्य दिये गए, लेकिन ड्यूक का भाषण कांग्रेस के बारदोली-प्रस्ताव का प्रत्युत्तर समझना चाहिए।

लार्ड सभा की इस बहस के बाद लीड्स में ४ फरवरी को साम्राज्य के युद्ध-प्रयत्न की समीक्षा करते हुए श्री एमरी ने अपने भाषण में उन्हीं पुराने बहानों को फिर से दोहराया और प्रान्तीय स्वायत्त शासन का ज़िक्र करते हुए कहा, "जहाँ तक और बातों का सम्बन्ध है हम लड़ाई के बाद भारत को भी स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों की भाँति ही अपने बराबर का दरजा और आज़ादी देने के लिए वचन-बद्ध हैं। जैसा कि और जगहों पर है भारत के बारे में भी साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि स्वायत्त शासन के लिए सम्बद्ध तत्त्वों में एकता होना नितान्त आवश्यक है। अन्त में विश्लेषण करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भारत की आज़ादी स्वयं भारतीयों पर ही आश्रित है। जब तक भारत के विभिन्न दलों में कोई समझौता नहीं हो जाता हम उन पर उसी तरह से कोई विधान नहीं लाद सकते जैसे कि यूरोप के ऊपर और फिर हम उसके सफल होने की भी आशा नहीं कर सकते।

"हम भारत को आज़ादी देने के लिए वचनबद्ध हैं। हम भारत की एकता के इच्छुक हैं। और हमीं ने भूतकाल में इन दोनों ही बातों की नींव भी रखी।" इस तरह से श्री एमरी ने ब्रिटेन पर लगाये जानेवाले इस इलजाम का मुँह धोने की कोशिश की कि वह जनता में भेदभाव पैदा करके अपना शासन चला रहा है। लेकिन बहुमत से पिछले मौक़ों की तरह इस बार भी श्री एमरी ने तुरन्त ही भारत में कोई वैधानिक परिवर्तन किये जाने का विरोध किया, इस बिना पर कि भारतीय आज़ादी और एकता के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट सांप्रदायिक मतभेद है। लेकिन सौभाग्य से भारत ही अकेला ऐसा देश नहीं है जो ब्रिटेन पर इस तरह का दोषारोपण करता है, बल्कि आयरलैण्ड भी यह महसूस करता है कि बरसों की प्रगति के बाद भी उसकी स्थिति भारत-जैसी ही है।

अभी कुछ ही समय पूर्व डी० वैलरा ने यह कहा था कि ब्रिटेन की नीति सदा से यह रही है कि जहाँ मतभेद न भी हों, वहाँ उन्हें पैदा कर दिया जाय। १८६० और १८६५ के दरमियान जब ग़ुलामों के व्यापार को लेकर उत्तरी अमरीका और दक्षिणी अमरीका की रियासतों में गृह-युद्ध छिड़ गया तो ब्रिटेन और ग्लैड्स्टन ने दक्षिणी अमरीका का पक्ष लिया, जो कि इस दास-प्रथा को जारी रखने का समर्थन कर रहा था। इस प्रकार अमरीका में यह सवाल उत्तरी और दक्षिणी अमरीका का था। आयरलैण्ड में यही सवाल अलस्टर और शेष आयरलैण्ड का था। भारत में यह सवाल एक सम्प्रदाय का दूसरे संप्रदाय के प्रति विरोध के रूप में और राजाओं द्वारा सभी के विरोध के रूप में प्रकट हुआ है। जहाँ तक बर्मा का सवाल है, श्री एमरी कहते हैं कि शान की रियासतें, केरेन, काचिन, और चिन की रियासतें ख़ास बर्मा को लड़ाई के बाद भी औपनिवेशिक स्वराज्य देने के ख़िलाफ़ हैं। एक कैनेडियन पत्रकार श्री डेविड मार्टिन से बातचीत करते हुए श्री एमरी ने बताया कि हमें न केवल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ

ही अपने ध्यान में रखनी हैं बल्कि बर्मा की आन्तरिक स्थिति भी।" आगे आपने बताया कि "गोलमेज परिषद् के अवसर पर शान के नेताओं ने इस बात का विरोध किया था कि बर्मा की केन्द्रीय सरकार उन पर शासन करे। इसी प्रकार कोई एक शताब्दी पहले "लन्दन टाइम्स" ने कैनेडा की आज़ादी और एकता के विरोध में ऐसी ही बातें कही थीं। उस समय लार्ड डरहम ने कैनेडा के उपनिवेश का दौरा करने के बाद उसके लिए एक विधान की सिफ़ारिश की थी, लेकिन लन्दन के इस प्रमुख दैनिक पत्र को यह बात नागवार गुज़री और उसने उनका विरोध किया। उसने लार्ड डरहम पर छींटाकशी करते हुए उन्हें राजविद्रोह फैलानेवाले लार्ड की उपाधि दी थी। कहने का मतलब यह कि कैनेडा, अमरीका, आयरलैण्ड, मिस्र, मध्यपूर्व, भारत और बर्मा आदि में—जिधर भी देखो उधर ही ब्रिटेन की इस विषाक्त भेद-नीति का बोलबाला था। इतना ही नहीं लार्ड नार्थ से लेकर विंस्टन चर्चिल के शासन-काल तक ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने जो बेवकूफ़ियाँ कीं, उनसे उसने कोई सबक़ नहीं सीखा और अपना भारी अहित किया।"

जिस प्रकार नाटकों में एक-एक अंक और एक-एक दृश्य के कथानक के बाद हमें पाठकों के मन-बहलाव की सामग्री का आयोजन करना पड़ता है उसी प्रकार युद्ध के दुखान्त नाटक के बीच-बीच में हमें श्री एमरी दर्शकों का मनोरंजन करते हुए दिखाई देते हैं। श्री एमरी समय-समय पर रंगमंच पर आकर सोरेन्सन और सिलवरमैन सरीखे सदस्यों के प्रश्नों का वही दकियानूसी और प्रतिक्रियावादी जवाब देकर अपना मन शान्त कर लेते हैं। फरवरी १९४२ के मध्य में ब्रिटिश-मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन होने जा रहा था। १९ फरवरी को श्री एमरी पर पुनः भारत के सम्बन्ध में किये जानेवाले प्रश्नों की बौछार पड़ने लगी; लेकिन आपने अपनी उसी चिर-परिचित नज़ाकत के साथ उत्तर दिया कि "मैं भारत के सम्बन्ध में कोई और नया वक्तव्य देने में असमर्थ हूं। मैं इस अवसर पर आपसे इससे अधिक और कुछ नहीं कह सकता।" श्री सिलवरमैन ने आग्रह किया कि युद्ध में भारतीय जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए हमें भारत को आजाद कर देना चाहिये। लेकिन श्री एमरी टस-से-मस न हुए और इस बारे में आपने बिलकुल मौन ही धारण कर लिया। २० फरवरी को ब्रिटेन के मंत्रिमंडल में किये गए परिवर्तनों की घोषणा की गई; लेकिन भारत में उससे रत्तीभर भी निराशा नहीं देखने में आई, क्योंकि दुनिया चाहे इधर-से-उधर हो जाती, पर विदूषक एमरी को अपने स्थान पर ही बने रहना था। ब्रिटेन और अमरीका में होनेवाली प्रतिक्रियाओं और आलोचनाओं का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। उधर अन्ध-महासागर के पार न्यूयार्क का ध्यान गांधी और चांगकाई शेक के मिलन की ओर आकर्षित हो गया और "न्यूयार्क टाइम्स" ने लिखा है कि भारतीय राष्ट्रवादी इस समय केवल समय की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आगे यही पत्र प्रश्न करता है कि "क्या भारत की जागृति का समय निकट आ गया है? इस बारे में हमें कुछ नहीं मालूम; लेकिन हम इतना अवश्य जानते हैं कि अब चीन और भारत अंग्रेज के घर पानी नहीं भरते। वे अब उसकी कठपुतली नहीं रहे।"

९ फरवरी, १९४२ को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की एक घटना हुई जब कि भारत ने जनरल चांगकाई शेक, मदाम चांगकाई शेक और उनके सैनिक अफसरों का भारत के वाइसराय के अतिथियों के रूप में स्वागत किया। एक विज्ञापन में बताया गया कि "जेनरलिसिमो चांगकाई शेक भारत और चीन के सम्बन्ध रखनेवाले समान विषयों के सम्बन्ध में भारत-सरकार और खासतौर पर भारत के प्रधान सेनापति से सलाह-मशविरा करने आए हैं। उन्हें आशा है कि भारत में अपने

प्रवास की अवधि में उन्हें भारत के प्रमुख सार्वजनिक नेताओं से भेंट करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

"भारत सरकार का निश्चय है कि भारत की जनता चीन के महान् प्रजातन्त्र के इस वीर नेता का स्वागत करने में उसका हाथ बटाएगी।"

आधुनिक चीन के उद्धारक के नाम भारत के विभिन्न भागों से उनका स्वागत करते हुए बहुत से सन्देश भेजे गए। ब्रिटेन और अमरीका के समाचारपत्रों ने इस अभूतपूर्व और अप्रत्याशित घटना पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उसके साथ कई बार भेंट की। पहले तो स्वयं अकेले, फिर कांग्रेस के प्रधान मौलाना आजाद के साथ और बाद में अपनी बहन और पुत्री के साथ। यह आशा की जाती थी कि जेनरलिस्सिमो गांधीजी से भी मुलाकात करेंगे, लेकिन ऐसा न हो सका।

वाइसराय भवन में हिज एक्सीलेंसी जेनरलिस्सिमो और मदाम चांग काई शेक के सम्मान में एक भोज दिया गया। इस अवसर पर वाइसराय ने निम्नलिखित भाषण दिया।

"श्रीमान् और श्रीमती चांग काईशेक, देवियो और सज्जनो!

"एक महान् बुद्धिमान् दार्शनिक कनफ्यूशियस ने प्रश्न किया है—'समान विचारवाले व्यक्ति यदि दूर से आकर मिलें तो क्या इससे प्रसन्नता नहीं होती?'

"उस दार्शनिक ने जिन पीढ़ियों के लिए यह वाक्य लिखा था उनमें हमसे अधिक इस सत्य कथन का अनुभव और कौन कर सकता है, जिन्हें इस हर्षपूर्ण अवसर पर चीनी राष्ट्र के दो महान् नेताओं और उनके सम्मानित साथियों का अपने बीच स्वागत करने का अवसर मिल रहा है।

"यदि पिछले दस वर्ष के चीन के इतिहास का अनुशीलन किया जाय तो हमारे सम्मानित मेहमानों के नामों पर दृष्टि पड़नी अनिवार्य है। इन महान् व्यक्तियों ने मानों अपने को धैर्य, दृढ़ता और संगठित प्रयत्नों की प्रतिमा बना लिया है। और आज चीन उस प्रतिमा को सभ्य संसार के पथ-प्रदर्शन हेतु प्रस्तुत कर रहा है।

"इतिहास में जो कुछ हो चुका है उसका स्मरण दिलाने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। इन पांच वर्षों के कठिन और संकटपूर्ण काल में चीनी प्रधान सेनापति और उनकी धर्मपत्नी ने अपनी समस्त शक्तियां लड़ाई में केन्द्रित कर रखी हैं और जापानी आक्रमणों के प्रति स्वाधीन चीन के गौरवपूर्ण संघर्ष की तो वे प्रति मूर्त्तियां बन गए हैं। बृटिश साम्राज्य के लिए संकट की घड़ी में बृटिश प्रधान मन्त्री श्री विंस्टन चर्चिल ने एक बार कहा था कि 'यदि आवश्यकता हुई तो हम वर्षों तक और अकेले ही' लड़ते रहेंगे। चीन इन शब्दों का तात्पर्य भली-भांति समझता है। शक्ति-शाली और सुसज्जित आक्रमणकारी राष्ट्र का सामना करते हुए उसने स्वतंत्रता की ज्योति को जलता रखा है। चीन के इस महान् संघर्ष में सब से अधिक भार हमारे सम्मानित मेहमानों ने ही वहन किया है।

"यह भार अभी हल्का नहीं हुआ है। किन्तु ईश्वर को धन्यवाद है कि आज हम या उनमें से कोई भी अकेला नहीं है। आज हम मित्र-राष्ट्रों की स्थिति में हैं—और नये संकल्प तथा विश्वास के साथ भविष्य का सामना करने के लिए कटिबद्ध हैं। कुछ सप्ताह पहले श्रीमान् ने चीनी युद्ध-क्षेत्र में लड़नेवाली मित्रराष्ट्रीय सेनाओं का प्रधान सेनापतित्व स्वीकार किया था। इस क्षेत्र में हिन्दचीन और थाईलैण्ड भी सम्मिलित हैं। यह हमारे लिए गौरव की

बात है कि प्रधान सेनापतित्व का भार ग्रहण करने के बाद जेनरलिस्सिमो चांग काई शेक ने सबसे पहला कार्य अपनी धर्मपत्नी के साथ भारत की यात्रा का किया है। उनके इस साहस और उदारता से परिपूर्ण कार्य से भारत और चीन के बीच की प्राकृतिक बाधाएँ दूर हो गई हैं। इस कारण अब यह बात पहले से भी अधिक प्रकाश में आ गई है कि चीन और भारत एक-दूसरे से कितने निकट हैं और सभ्यता की कितनी अमूल्य देन उन दोनों को समान रूप से मिली हुई है। दोनों देशों में, संस्कृति तथा उदारता के आदर्शों को प्रमुख स्थान प्राप्त है। और दोनों देशों में स्वतंत्रता की ज्योति आलोकित हो उठी है। भारत में हमलोग चीन के उदाहरण से सीख सकते हैं कि साहसी और निःस्वार्थ स्त्री-पुरुष आक्रमण के भयानक-से-भयानक प्रहार को सहन करने के लिए किस प्रकार अपने लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से मिलकर कार्य कर सकते हैं।

"हम जानते हैं कि श्रीमती चांग काई शेक से केवल चीन के लक्ष्य को ही नहीं, वरन् समस्त संसार को और भारत को तो अवश्य ही प्रोत्साहन मिला है। युद्ध-पीड़ितों की सहायता करने और बच्चों तथा लड़ाई में मारे गए वीर सैनिकों के अनाथों के लिए घरों का प्रबन्ध करने में उन्होंने जो अथक परिश्रम किया है, उसे हम सुन चुके हैं। हम यह भी जानते हैं कि आप अनेक बार युद्ध के ख़तरों में भी पड़ चुकी हैं, और अपने पति के साथ उनकी रण-यात्राओं में साथ रह चुकी हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि मित्रता का सन्देश लाने में भी वे उनके साथ हैं और आज रात को अपने मध्य उन्हें पाकर हमें अभिमान है।

"देवियो और सज्जनो, हम सुन चुके हैं कि आज शत्रु जब हमारे पूर्वी दुर्ग के बुर्ज पर आक्रमण कर रहा है तो चीनी सैनिक किसी प्रकार की हिचकिचाहट न कर सहयोग-सीमा के बरमा के मोर्चे पर हमारा साथ देने को आ गए हैं। यह है एक महान् मित्र और बन्धु का कार्य। ये हैं वे लोग, और ये हैं उनके नेता जिनकी युद्ध-कीर्ति के पट पर चांगशा और तायरच्वांग के नाम अंकित हैं। अतः इस युद्ध में हम इस बात पर विश्वास और अभिमान करते हुए लड़ेंगे कि हमारा मार्ग चाहे कण्टकाकीर्ण हो चाहे सरल, समय अच्छा हो चाहे बुरा, विजयी होने तक हम चीन के साथ रहेंगे। हमारे साथ भी ऐसा ही होगा जैसा कि जॉन बनियन के यात्री के साथ हुआ था (जॉन बनियन—"पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस" नामक प्रसिद्ध लेखक का नाम है।):—

"जिन्होंने उसे निराशाजनक कथाएँ कह कर व्याकुल करना चाहा वे स्वयं ही घबरा गए और उसकी शक्ति में और भी वृद्धि हो गई। ऐसी कोई निराशा नहीं है जो उसे यात्री बने रहने से सर्वप्रथम दृढ़ निश्चय से विमुख कर सके।

"भगवान् की सहायता से हमारी यात्रा चीन तथा अन्य शक्तिशाली मित्रों के साथ-साथ तब तक समाप्त नहीं होगी जब तक शत्रु को एशिया, यूरोप और महासागरों में पूर्णतया पराजित नहीं कर दिया जायगा और जबतक हमारी विजय-पताकाएँ अत्याचार और दमन से मुक्त स्वतंत्र वायुमण्डल में नहीं लहराने लगेंगी। इस समय जिस विजयश्री की ओर हम साथ-साथ बढ़ रहे हैं, उसके आगमन का इससे अधिक हर्षपूर्ण प्रतीक और क्या होगा कि आज रात्रि को हमारे मध्य चीनी स्वातंत्र्य-संग्राम के दो नेता उपस्थित हैं। देवियो और सज्जनो! मैं श्रीमान् और श्रीमती चांग काई शेक के स्वास्थ्य की कामना का प्रस्ताव करता हूँ।"

मार्शल चांग का उत्तर

श्रीमान् वाइसराय के उपर्युक्त भाषण का उत्तर देते हुए जेनरलिस्सिमो ने कहा :—

"श्रीमान् वाइसराय, लेडी लिनलिथगो महोदया, देवियो तथा सज्जनो !

"श्रीमान् ने श्रीमती चांग का और मेरा जैसा अपूर्व स्वागत किया है, उसकी हम हृदय से कद्र करते हैं। हमारे निजी प्रयत्नों की आपने बड़ी उदारतापूर्वक प्रशंसा की है। जिन पांच थका देने वाले वर्षों की आपने चर्चा की है उनमें हमारा काम उतना नहीं हो सका, जितना हम करना चाहते थे। सच तो यह है कि लोकतंत्र के लिए लड़े जाने वाले इस युद्ध का भार अपने आदर्शों के अनुरूप चीनी जनता ने ही उठाया है। जापान ने चीनी भूमि पर जब पहली बार आक्रमण किया था तभी से चीनी जनता का दृष्टिकोण उच्च समतल पर पहुँच गया है। उनमें उच्च-कोटि के सिद्धान्त, देशभक्ति, निस्स्वार्थभाव, साहस, सहिष्णुता और उदारता ने स्थान प्राप्त कर लिया है। उनका उद्देश्य एकमात्र यही है कि हमें जो यातनाएं और हानियां उठानी पड़ रही हैं उनके परिणामस्वरूप एक नवीन और ऐसे संसार की सृष्टि हो, जिसमें विश्व भर के नर-नारी सुख और शान्ति से रह सकें।

"प्रशान्त महासागर में युद्ध छिड़ने के समय से चीन और भारत एक दूसरे के निकट आगए हैं। इस युद्ध के बीच मैंने मित्र-देश भारत की यात्रा के प्रथम अवसर से लाभ उठाया है ताकि उसके साधनों के सम्बन्ध में, मैं अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकूँ और जान सकूँ कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह कितना योगदान कर सकता है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मैं इस देश में अपने अल्पकालीन प्रवास की अवधि में बहुत कुछ सीख सका हूं। चीनी भाषा में एक कहावत है, "चीजों को स्वयं देख लेना उनके सम्बन्ध में सुन लेने की अपेक्षा सैकड़ों गुना अच्छा है।" भारत की महानता से मैं सचमुच ही बहुत प्रभावित हुआ हूँ।

"श्रीमान्, आप से मिलकर, आपसे परिचय प्राप्त करके मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है। भारतीय समस्याओं के सम्बन्ध में आपका ज्ञान विस्तृत है और आपकी राजनीतिज्ञता महान् है। आपसे मिलकर मैंने अनुभव किया है कि मैं आपकी प्रचुर बुद्धिमत्ता से अबाधित लाभ उठा सकता हूं। लेडी लिनलिथगो महोदया समाज-सुधार के कार्य में जो दिलचस्पी लेती रही हैं उसका पता हमें भारत की यात्रा से पहले ही लग चुका है। हम आपके प्रति अपनी हार्दिक सम्मान की भावना प्रकट करना चाहते हैं।

"आपने ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल की चर्चा की है। इस महान् नेता ने जबसे अपना पद-ग्रहण किया है तभी इतना दूरी से जितना सम्भव है उतना उनके वैयक्तिक सम्पर्क में मैं रहा हूँ, और उससे मुझे प्रोत्साहन और प्रेरणा प्राप्त हुई है।

"श्रीमान् ने बरमा में चीनी सैनिकों की उपस्थिति का जिक्र किया है। चुँगकिंग में जब मेरी भेंट जनरल सर आर्चिबाल्ड वेवल से हुई थी तो उनसे मैंने कह दिया था कि आक्रमणकारियों के विरुद्ध मिलकर मोर्चा लेने के लिए वे चीन के सहयोग और सहायता पर निर्भर रह सकते हैं। अपने इस वचन को पूरा करने के लिए मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। इसमें अच्छाई और बुराई का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह तो एक दूसरे के प्रति हमारा कर्त्तव्य है।

"देवियो और सज्जनो, अब मैं श्रीमान् वाइसराय और लेडी लिनलिथगो के स्वास्थ्य की शुभ-कामना का प्रस्ताव उपस्थित करने का सम्मान प्राप्त करता हूं।"

१६ फरवरी, १६४२ को शान्तिनिकेतन में जनरलिस्सिमो चांगकाई शेक और मदाम चांगकाई शेक का खूब धूम-धाम से स्वागत किया गया।

रथीन्द्रनाथ के स्वागत-भाषण का उत्तर देते हुए जेनरलिस्सिमो ने कहा :—

"इस अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में महाकवि के निवासगृह पर आकर मुझे और मदाम चांगकाई शेक को बड़ी प्रसन्नता हुई है। आपने हमारा जो स्वागत किया है उसके लिए हम आपके आभारी हैं। हमने महाकवि के साक्षात् दर्शन तो नहीं किये हैं; लेकिन अपनी इस संस्था में जो जीवन वे डाल गए हैं; उसे देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है।

"हमें पूर्ण आशा है कि इस संस्था के अध्यापक और छात्रगण, जो यहाँ एकत्रित हैं, इस संस्था की परंपरा को बनाए रखने का प्रयत्न करेंगे और उस महान् कर्म को जारी रखेंगे जिसकी आधार-शिला आपके गुरुदेव रख गए हैं। जिस प्रकार हमारे सनयात सेन ने हममें विश्वव्यापी भ्रातृत्व का बीज बोया था और नवीन चीन के यश को बढ़ाया था उसी प्रकार आपके गुरुदेव ने आपके महान् देश के अध्यात्म को उन्नत करके एक नयी जागृति पैदा करदी है।"

श्री टैगोर, अध्यापक और विद्यार्थियों को संबोधन करते हुए मार्शल ने कहाः—"अपनी सहृदयता और चीन-वासियों की शुभकामनाओं के अतिरिक्त मैं आपके लिए चीन से और कुछ नहीं लाया हूँ। भगवान् करे आप उस विशाल कार्य को पूरा कर सकें जिसे पूरा करने का भार आपके महान् नेताओं ने समस्त राष्ट्र के कन्धों पर छोड़ा है।"

जनरलिस्सिमो चांगकाई शेक और उनके साथी कलकत्ता से स्पेशल गाड़ी में शान्ति-निकेतन पहुँचे थे। उनके साथ पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी थे।

बोलपुर स्टेशन पर उनका स्वागत कवि की पोती श्रीमती प्रतिभा टैगोर, प्रिंसिपल क्षितिमोहन सेन और विश्वभारती के प्रधान सेक्रेटरी श्री अनिलचन्द्र ने किया। वहाँ से ये सब लोग सीधे मोटर-द्वारा उत्तरायण पहुँचे। जहाँ श्री रथीन्द्रनाथ टैगोर ने उनकी आवभगत की।

कवि के अन्तिम निवासस्थान "उदीची" में कुछ देरतक विश्राम करने के बाद मार्शल चांगकाई शेक और मदाम चांगकाई शेक ने शान्ति-निकेतन के कला विभाग का निरीक्षण किया।

मध्याह्नोत्तर उनका स्वागत सिंह सदन में किया गया। जब सम्मानित अतिथि अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए, तो समारोह वैदिक मंत्रों से प्रारम्भ हुआ। इसके बाद उन्हें पुष्पमालाएँ पहनाई गईं और उनके मस्तक पर भारतीय विधि के अनुसार चंदन का तिलक लगाया गया।

विश्व-भारती की ओर से जेनरलिस्सिमो को एक जोड़ा रेशमी धोती तथा एक चादर और श्रीमती चांगकाई शेक को एक सुन्दर रेशमी साड़ी भेंट की गई।

विश्व-भारती की ओर से मार्शल चांगकाई शेक और श्रीमती चांगकाई शेक का अभिनन्दन करते हुए श्री रथीन्द्रनाथ टैगोर ने चीन के प्रति महाकवि रवीन्द्रनाथ की असीम सहानुभूति और प्रेम का उल्लेख करते हुए कहा कि "अन्तिम समय तक कवि ने आपके देश की निर्जाति के सम्बन्ध में गहरी दिलचस्पी ली और वे आपकी जनता के महान् गुणों और जीवन मृत्युके महान् संघर्ष में भी ज्ञान के प्रति उनके आराम की प्रशंसा करते नहीं थकते थे।"

श्री टैगोर ने कहा कि शान्ति निकेतन की यात्रा करके सम्मानित अतिथियों ने विश्व-भारती का सन्मान किया है और यह महान् घटना हमारे निजी जीवनों तथा विश्वविद्यालय के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। आगे आपने कहा, मुझे खेद है कि आज हमारे बीच हमारे अधिष्ठाता देव नहीं है, वरन् वे ही आज आप लोगों का स्वागत करते। इस अवसर पर

विचारों तथा प्रसन्नता को व्यक्त करने की सामर्थ्य उनके अतिरिक्त हममें से किसी में भी नहीं है। इस आश्रम में आप लोगों का स्वागत करके इनसे अधिक प्रसन्नता और किसी को नहीं हो सकती थी।

आगे श्री टैगोर ने कहा "श्रीमान्, आप यह तो जानते ही हैं कि मेरे पिता आपकी तथा आपकी योग्य सहधर्मिणी श्रीमती चांगकाई शेक की कितनी प्रशंसा और आदर किया करते थे। उन्होंने आपके प्रति अपनी यह प्रशंसा और आपके देश के महान् भविष्य में अपने दृढ़ विश्वास को बहुत अवसरों पर व्यक्त किया था। और वे सदा उस महान् दिवस की प्रतीक्षा किया करते थे जब आपकी और हमारी जनता मिलकर अपनी पुरानी विरासत और घनिष्ट मैत्री को पुनरुज्जीवित कर सकेगी। आज-जैसे स्मरणीय-दिवस के अवसर पर उनकी आत्मा हर्षातिरेक से उद्वेलित हो उठती है और मेरा तो विश्वास है कि वह आज भी इस हर्षातिरेक में मस्त होकर नाच रही है और वह हमारे साथ मिलकर ही आपका और आपके साथियों का स्वागत कर रही है।"

श्री टैगोर ने कहा कि भारत और चीन को एक-दूसरे से बाँधनेवाला सूत्र केवल राजनीतिक ही नहीं है; इन दोनों देशों की मैत्री किसी क्षणिक राजनीतिक उद्देश्य के लिए नहीं है क्योंकि इतिहास और सभ्यता के आदिकाल से ही दोनों देशों की मैत्री, एक दूसरे से उनकी सहानुभूति और एक-दूसरे को समझने की उनकी शक्ति अबाध गति से प्रवाहित होती रही है। परन्तु दुर्भाग्यवश, कालचक्र के कारण चीन और भारत एक-दूसरे से पृथक् होगए। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, मेरे पिता प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने चीन के साथ अपने पुराने घनिष्ट संपर्क को फिर से स्थापित करने की नितान्त आवश्यकता समझी और इस विश्वविद्यालय की स्थापना के दिन से दोनों देशों की प्राचीन सांस्कृतिक मैत्री और एकता को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा करते रहे। यह प्रसन्नता की बात है कि इस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई, क्योंकि चीन के विद्वानों और चीनी जनता ने उनके विचारों का खूब स्वागत किया। हमारा चीन-भवन जिसमें श्रीमान् ने भी निजरूप से गहरी दिलचस्पी ली है, आज इन दोनों महान् और प्राचीन राष्ट्रों की एकता का प्रतीक बन गया है।

अन्त में श्री टैगोर ने यह आशा प्रकट की कि "मार्शल चांगकाई शेक जो मृत्युञ्जयी चीन के अप्रतिहत और दुर्दमनीय साहस की प्रतिमूर्ति हैं," अपने राष्ट्र की धवल कीर्ति भविष्य में उत्तरोत्तर बढ़ाते रहेंगे।

श्रीमती चांगकाई शेक ने पृथक् रूप से उत्तर देते हुए कहा:—

"आज मुझे अपने देश के हजारों छात्रों का स्मरण हो रहा है। आपके चेहरों को देखते हुए बड़े गर्व और बड़ी आशा के साथ नूतन चीन की उत्साह भरी आत्मा का स्मरण हो रहा है। मुझे यह भी स्मरण हो रहा है कि इस समय उन्हें कितनी कठिन परीक्षा में से होकर गुजरना पड़ रहा है। जब से जापान ने चीन पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया है, हमारे हजारों छात्रों को बमों, टैंकों और तोपों का सामना करना पड़ा है। शत्रु ने उनके घरों और विश्वविद्यालयों को नष्ट कर दिया। लेकिन जैसा आपको ज्ञात है, हमारे छात्र सैकड़ों मील पैदल चलकर सरकार द्वारा देश के भीतरी भागों में स्थापित नये शिक्षालयों में पढ़ने के लिए गए। उन्होंने चीन के मस्तिष्क को जागरूक बनाए रखा और देश-भक्ति की ज्योति को अपूर्व द्युति के साथ प्रज्ज्वलित रखा। इस शान्तिमय भूमि में जहाँ जापानी सैनिकवाद का कोई खतरा नहीं

है आपके लिए यह समझना कठिन होगा कि इसका क्या अभिप्राय है।

"मैं समझती हूं कि आप यह अनुभव करते होंगे कि मानवता के सिद्धान्तों का तकाजा है कि हम जीवन के प्रति कोई अटल रुख धारण न करें। यदि घृणा के अभाव में भी दूसरों के लिए दुष्टता और अन्याय करने की संभावना बनी रहे तो जीवन निर्जीव और चेतनाहीन बन जाएगा। आपके लिए एक महान् अवसर उपस्थित है इसलिए लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को स्वतंत्रता और समानता की ओर अग्रसर कीजिए। जापानियों ने यह समझकर हमारे विश्वविद्यालयों पर बम बरसाये कि प्रतिरोध के प्रधान केन्द्र वे ही हैं। और हमारे छात्रों ने उन्हें शत्रु के विरोध का वास्तविक केन्द्र बना भी दिया। उन्होंने जनता में अपना काम जारी रखा। उन्होंने एक संयुक्त महान् चीन की नींव डाली।

"मेरा विश्वास है कि आपकी संस्था के वन्दनीय संस्थापक का उद्देश्य यह था कि आप नेता बनने की तैयारी करें। वे जनता से पृथक् रहकर नाममात्र के नेता नहीं रहना चाहते थे। वे उन पीढ़ियों में जागृति पैदा करना चाहते थे, जिन्हें आपके देश को उठाना है। मुझे मालूम है कि यदि मेरे देश के युवकों को मेरे इस देश में आने की संभावना का ज्ञान होता तो वे आपके साथ अपने बन्धुभाव तथा अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए अपनी हार्दिक शुभ कामनाएं भेजते। आपके महाकवि ने चीनियों के हृदय में हमेशा के लिए बड़ा सन्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।"

बहुत अधिक वर्षा हो जाने के कारण उस दिन उनको सन्मान का आयोजन अमराई से हटाकर सिंह-सदन में करना पड़ा।

शान्तिनिकेतन की छात्राओंने केसरी साड़ियों में मार्शल चांगकाई शेक को "गार्ड आव आनर" दी। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस "गार्ड आव आनर" का निरीक्षण किया।

मार्शल चांग काई शेक और श्रीमती चांग काई शेक ने कला-भवन और श्री-भवन का निरीक्षण किया। चीन-भवन में दोपहर बाद चाय दी गई। भवन चीनी चित्रों से कलापूर्ण ढंग से सजाया गया था। बाद में वे उत्तरायण गए जहां उनके मनोरंजन का प्रबन्ध किया गया था।

भारतीय जनता के प्रति मार्शल चांग का संदेश

"भारत में दो सप्ताह तक ठहरने की अवधि में मुझे सर्वोच्च सैनिक तथा शहरी अधिकारियों और भारतीय मित्रों के साथ आतंकवाद के विरुद्ध संयुक्त योजनाएं तैयार करने तथा अपने समान युद्ध-प्रयत्नों के उद्देश्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करने का अवसर मिला है। मुझे प्रसन्नता है कि हम में परस्पर पूर्ण सहानुभूति है और साधारणतया पूर्ण रूप से एकमत हैं। भारत से प्रस्थान करते समय मैं अपने समस्त भारतीय मित्रों से विदाई लेना चाहता हूं और श्रीमती चांगकाई शेक तथा मेरे प्रति जो असीम प्रेमभाव प्रदर्शित किया गया है उसके लिए मैं धन्यवाद देना चाहता हूं। इस देश में मैं बहुत कम समय तक ठहर सका हूँ, इसलिए भारतवासियों से मैं जो कहना चाहता वह सब ,प्रकट नहीं कर सका हूँ। इस अवसर पर मैं उन्हें निम्न संदेश देना चाहता हूँ। भारत के प्रति मेरे हृदय में जो उच्च सन्मान है तथा भारत के लिए बहुत दिनों से मेरी जो आशाएं रही हैं उन्हें यह संदेश प्रकट करता है। यह मेरे हृदय के अन्तस्तल से निकला है।

"इस देश में आने के बाद से मैंने बड़े सन्तोष के साथ यह अनुभव किया है कि भारत के निवासियों ने एक होकर अत्याचार का विरोध करने का दृढ़ निश्चय कर रखा है ।

"चीन और भारत में मिलाकर संसार की आधी जनता रहती है । ३,००० किलो मीटर की लम्बाई तक उनकी सीमाएं आपस में मिली हुई हैं । २००० वर्ष के पारस्परिक सम्बन्ध के काल में, जबकि इन दोनों देशों का सम्बन्ध मुख्यतः व्यापारिक और सांस्कृतिक रहा है, इनमें कभी भी संघर्ष नहीं हुआ है ।

"वस्तुतः संसार के अन्य किन्हीं दो पड़ोसी राष्ट्रों में लगातार इतने दीर्घकाल तक शान्ति नहीं रही है । यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि इन दोनों देशों के निवासी स्वभावतः शान्तिप्रिय हैं ।

"आज इन दोनों देशों के हित ही समान नहीं हैं बल्कि इनका भाग्य भी एक सूत्र में बँधा हुआ है । अतएव दोनों देश इस बात के लिए कर्तव्यबद्ध हैं कि वे आतंकवाद का विरोध करने वाले राष्ट्रों का साथ दें और समस्त संसार के लिए वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए परस्पर कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर शत्रु से मोर्चा लें ।

"इसके अतिरिक्त हमारे दोनों देशों के निवासियों में न्याय और सचाई के लिए त्याग करने की भावना का विशिष्ट गुण समान रूप से विद्यमान है । यही परंपरागत भावना है जिसके कारण मानव-समाज के हित के लिए वे आत्मोत्सर्ग करने को प्रेरित हो सकेंगे । इसी भावना से प्रेरित होकर अत्याचार के विरुद्ध चीन ने सबसे पहले शस्त्र उठाया और इस युद्ध में वह बिना हिचकिचाहट के आतंकवाद के विरोधी राष्ट्रों के साथ होगया । चीन ने केवल अपनी स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि सारे मानव-समाज के लिए न्याय और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए ऐसा किया है ।

"मैं अपने भारतवासी भाइयों से यह अनुरोध करना चाहता हूं कि सभ्यता के इतिहास के इस विकटतम काल में हमारे दोनों देशों के निवासियों को समस्त मानव-समाज की स्वतंत्रता के लिए अधिक-से-अधिक प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि स्वतंत्र संसार में ही चीन तथा भारत भी अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त यदि चीन या भारत को स्वतंत्रता से वंचित रखा गया तो संसार में वास्तविक शान्ति नहीं रह सकती ।

"वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण संसार दो भागों में विभक्त होगया है । एक अत्याचारी दल और दूसरा अत्याचार-विरोधी दल । उन सब लोगों को अत्याचार-विरोधी दल में सम्मिलित होना चाहिये जो आतंकवाद के विरोधी हैं और अपने देश तथा मानव-समाज की स्वतंत्रता के लिए यत्न कर रहे हैं । बीचका कोई मार्ग नहीं है और न घटनाक्रम की प्रतीक्षा करने का अवसर है । मानव-समाज के भविष्य के लिए यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है । हमारे सामने किसी एक व्यक्ति या देश की स्वतंत्रता का प्रश्न है और न किन्हीं दो राष्ट्रों के निवासियों के बीच की किसी खास समस्या से इस प्रश्न का कोई संबन्ध है । इसलिए जो भी राष्ट्र आतंक-विरोधी मोर्चे में सम्मिलित होगा वह किसी खास देश के साथ नहीं बल्कि सारे मोर्चे के साथ ही सहयोग करेगा । इस प्रकार हम यह विश्वास कर सकते हैं कि राष्ट्रीयता के इतिहास में प्रशान्त सागर का युद्ध एक युगान्तरकारी घटनाक्रम है । लेकिन साधनों के द्वारा संसार के लोग अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं, वे अतीत में काम में लाए जानेवाले साधनों से भिन्न हो सकते हैं । आतंकवाद-विरोधी राष्ट्रों को आशा है कि नये युग में स्वतंत्र संसार की रक्षा के लिए,

जिसमें भारत का अपना स्थान होगा, भारत के निवासी अपनी इच्छा से वर्तमान युद्ध में पूरी तरह सहयोग प्रदान करेंगे । संसार के लोगों का बहुत बड़ा भाग भारतीयों की स्वतंत्रता की मांग से पूर्ण सहानुभूति रखता है। यह सहानुभूति इतनी मूल्यवान् है तथा इसे प्राप्त करना इतना कठिन है कि इसकी कीमत धन या साज-सामान की दृष्टि से नहीं कूती जा सकती । इसलिए इस सहानुभूति को बनाए रखने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

"वर्तमान युद्ध स्वतंत्रता और गुलामी का, प्रकाश और अन्धकार का, अच्छाई और बुराई का तथा आतंकवाद और उसकी विरोधी शक्ति का युद्ध है । यदि आतंकवाद-विरोधी मोर्चा युद्ध में पराजित हो गया तो संसार की सभ्यता को सौ वर्ष पीछे ढकेल देनेवाला धक्का लग जाएगा और मनुष्य-समाज के कष्टों का पारावार नहीं रहेगा।

"जहां तक एशिया का प्रश्न है, जापानी सैनिक तानशाहों के अत्याचार अवर्णनीय हैं। जापान के शासनाधिकार में आने के बाद से फार्मूसा और कोरिया के लोगों को जो यातनाएं सहनी पड़ी हैं वे हमें चेतावनी देने के लिए पर्याप्त हैं। जापानियों के विरुद्ध हमारा मोर्चा प्रारंभ होने के बाद से अब तक जापानी सेना ने जिस प्रकार की बर्बरता दिखाई है उसे प्रकट करने के लिए दिसम्बर, १९३७ में नानकिंग के पतन का उदाहरण दिया जा सकता है। एक सप्ताह के अन्दर ही २,००,००० से अधिक नागरिकों की हत्या कर डाली गई थी। स्वतंत्र चीन की नागरिक जनता पिछले पांच वर्षों से प्रायः प्रतिदिन हवाई हमलों और तोपों की बमबारी का अनुभव करती रही है। जापानी सेना ने जहां भी आक्रमण किया वहां पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों पर या तो हमला हुआ या वे मारे गए। शत्रु ने युवकों और पढ़े-लिखे लोगों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। फलतः सद्बुद्धि और सद्विचारों के व्यक्तियों को विशेष रूप से कष्ट दिये गए। इतना ही नहीं सांस्कृतिक संस्थाओं, ऐतिहासिक महत्त्व की चीजों और खाना पकाने के बर्तनों, हलों, औजारों, तथा घरेलू पशु आदि जीवन के आवश्यक साधनों को जापानियों ने या तो नष्ट कर दिया या उन्हें छीन कर ले गए। जो प्रदेश जापानी सेना के अधिकार में हैं, वहां व्यभिचार, लूटमार तथा हत्या और अग्निकाण्डों का बोलबाला है। इसके अतिरिक्त-चीनियों की शक्ति क्षीण करने और उनके उत्साह को नष्ट करने के उद्देश्य से जापानियों ने सरकार की प्रेरणा पर हर जगह अफीम बेचने के अड्डे, जुआ खेलने के अड्डे तथा व्यभिचार के केन्द्र स्थापित कर दिये हैं। जापानियों के कारनामे ऐसे लज्जाजनक हैं कि अन्य अत्याचारी देशों ने दूसरे देशों में जो कुछ भी किया है वह जापानियों के इन कारनामों की बराबरी नहीं कर सकता। चीनियों तथा प्रत्यक्षदर्शी विदेशियों ने जापानियों के अत्याचारों का जो विवरण दिया है उसका यह एक अपूर्ण चित्र है।

"बर्बरता और पाशविक दल के इस युग में चीनियों और उनके आर्य भारतीयों को चाहिए कि अटलांटिक अधिकार-पत्र तथा २६ राष्ट्रों के संयुक्त घोषणापत्र में प्रतिपादित सिद्धांतों का वे एक होकर समर्थन करें और आतंक-विरोधी मोर्चे का साथ दें। मुझे आशा है कि भारत के निवासी पूर्ण रूप से मित्रराष्ट्रों अर्थात् चीन, ब्रिटेन, अमरीका और रूस का साथ देंगे और स्वतंत्र संसार की रक्षा के लिए तब तक कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर लड़ते रहेंगे जब तक कि पूर्ण विजय न प्राप्त कर ली जाय और जब तक कि वे इस संकट-काल के अपने कर्तव्यों को अच्छी तरह से पूरा न करलें।

"अन्त में, मुझे पूरी आशा और दृढ़ विश्वास है कि हमारा महान् मित्र ब्रिटेन भारतीयों

की मांग की प्रतीक्षा किये बिना ही उन्हें शीघ्र-से-शीघ्र वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्रदान करेगा जिससे कि वे अपनी आत्मिक तथा भौतिक शक्तियों को और भी अधिक उन्नत कर सकें और इस प्रकार यह अनुभव कर सकें कि वे सिर्फ आतंकवाद के विरोधी राष्ट्रों की विजय के लिए ही युद्ध में सहयोग नहीं दे रहे हैं, बल्कि यह भी अनुभव करें कि उनका यह सहयोग भारतीय स्वतंत्रता के उनके संघर्ष में भी एक युगान्तरकारी घटना है। क्रियात्मक दृष्टि से मेरे विचार में यह सब से अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण नीति होगी जो ब्रिटिश साम्राज्य के यश को चतुर्दिक् प्रसारित कर देगी।''

हिज़ एक्सलेंसी जेनरलिस्सिमो चांगकाई-शेक का भारतीयों के प्रति यह सन्देश मूल रूप से चीनी भाषा में था, परन्तु उसका अंग्रेजी में अनुवाद श्रीमती चांगकाई शेक ने किया जो अखिल भारतीय रेडियो के कलकत्ता स्टेशन से ब्राडकास्ट किया गया।

चांगकाई शेक की भारत-यात्रा जितनी अप्रत्याशित थी उतनी ही गोपनीय थी। जहां तक गैर-सरकारी क्षेत्रों का सम्बन्ध है श्रीमती चांगकाईशेक ने सब से पहले पंडित जवाहरलाल नेहरू से उनकी गति-विधि के बारे में पूछताछ की और उसके बाद ही दूसरा समाचार पंडित नेहरू को कलकत्ता से यह मिला कि जेनरलिस्सिमो और उनकी पत्नी कलकत्ता पहुंच गए हैं। अब तक यह एक रहस्य बना हुआ है कि क्या चीन के ये दोनों महान् नेता भारत-सरकार के आग्रह करने पर यहां आए थे अथवा स्वयं अपनी मर्ज़ी से? संभवतः पहली बात ज्यादा ठीक हो। लेकिन एक बात जो उससे मेल नहीं खाती वह यह है कि भारत-सरकार ने उनके प्रति उचित और पर्याप्त विनम्रता तथा शिष्टता क्यों नहीं प्रकट की। आम तौर पर यह कहा जाता है कि हमारे ये सम्मानित अतिथि अपने प्रति भारत सरकार के व्यवहार से संतुष्ट और प्रसन्न नहीं हो सके। ख़ैर, चाहे कुछ भी हो, हम यह बात कभी नहीं भूल सकते कि उन्हें गांधीजी से मुलाकात करने में कितनी कठिनाई अनुभव करनी पड़ी। और उनकी यात्रा का मूल्यांकन करते समय हम इस तथ्य की किसी प्रकार उपेक्षा भी तो नहीं कर सकते। गांधीजी दुनियां के किसी भी तख्ते पर चांगकाई शेक से मिलने को राजी थे। लेकिन सवाल तो यह था कि आखिर इस मुलाकात का प्रबन्ध कहां किया जाना चाहिये? लखनऊ और बनारस का नाम लिया गया। और सेवाग्राम का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। आखिरकार चांगकाई शेक ने पूछा कि क्या कलकत्ता में गांधीजी के लिए भेंट करना उपयुक्त रहेगा। गांधीजी ने बड़े डरते-डरते उन्हें पत्र लिखा। इस पर जेनरलिस्सिमो ने उत्तर दिया कि मेरे ऊपर आपके पत्र का इतना गहरा असर पड़ा है कि मैं हर हालत में आप से मुलाकात करने को उत्सुक हूँ। आखिर कलकत्ता में इस मुलाकात का प्रबन्ध किया गया। दोनों नेताओं ने एक-दूसरे से मुलाकात और लम्बी हार्दिक बातचीत की।

जैसा कि अब पता चला है कि चांगकाई शेक यह कहते थे कि भारत को बिना शर्त युद्ध में सहयोग देना चाहिये। दूसरी तरफ गांधीजी इस बात पर दृढ़ थे कि किसी भी हालत में हम लड़ाई में शामिल नहीं हो सकते। इसलिए दोनों के एक राय होने की गुंजाइश न थी। हां, इतना अवश्य था कि दोनों के बीच ऊँची संस्कृति की एक अटूट कड़ी थी, जो चीन और भारत को एक दूसरे से बांधे हुए थी। श्री जिन्ना भी चांगकाई शेक से मिले, परन्तु उनकी मुलाकात के वक्त गांधीजी की तरह श्रीमती चांगकाई शेक ने दुभाषिये का काम नहीं किया, बल्कि चांगकाई-शेक के एक कर्मचारी ने ही यह ज़िम्मेवारी निभायी।

२१ फरवरी, १९४२ को रात्रि के समय उक्त दोनों महानुभावों ने कलकत्ता रेडियो स्टेशन से भारतीयों के नाम अपना संदेश ब्राडकास्ट किया। और जेनरलिस्सिमो ने भारतीयों के नाम जो सन्देश दिया वह सर्वथा समीचीन था। उन्होंने यह आशा प्रकट की कि ब्रिटेन भारत में आवश्यक राजनीतिक परिवर्तन कर देगा। आपका यह यकीन था कि श्री चर्चिल जैसे महान् व्यक्ति से इस महान् कार्य की आशा की जा सक..

निःसन्देह जेनरलिस्सिमो की यह भारत-यात्रा सामरिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण थी। परन्तु इसके अलावा न केवल चीन और भारत के लिए ही उसका सांस्कृतिक महत्व था बल्कि समस्त संसार के लिए, क्योंकि जब हम इन दोनों प्राचीन देशों की आबादी की तुलना शेष संसार की आबादी से करते हैं तो हम यह बात आसानी से समझ सकते हैं कि सम्पूर्ण मानव जाति के इस एक तिहाई हिस्से का सभ्यता की प्रगति पर कितना व्यापक और बड़ा प्रभाव पड़ना चाहिये। ब्रिटेन के समाचारपत्रों ने इस अवसर से लाभ उठाते हुए यह प्रश्न किया कि "अगर ब्रिटेन चीन का सम्मान कर सकता है तो कोई वजह नहीं कि हम भारत के साथ समानता के आधार पर अपनी दोस्ती का हाथ क्यों न बढ़ाएं ?" लगभग इसी समय यह फैसला हुआ कि भारत-सरकार को ब्रिटेन के युद्ध-मन्त्रिमण्डल में अपना एक प्रतिनिधि भेजने का निमंत्रण दिया जाना चाहिये। भारत में इसकी प्रतिक्रिया मिश्रित-सी रही; क्योंकि यहां ऐसा अनुभव किया जा रहा था कि यह प्रस्ताव महज़ एक पुरानी प्रथा की पुनरावृत्तिमात्र है; क्योंकि इससे पहले पिछली लड़ाई में भी तात्कालिक प्रधान मंत्री लॉयड जॉर्ज ने शाही युद्ध मंत्रिमंडल में उपनिवेशों के प्रधान मन्त्रियों के साथ-साथ एक भारतीय प्रतिनिधि को भी ले लिया था। यह भी स्मरण रहे कि किस प्रकार लॉयड जॉर्ज ने राजकीय युद्ध-सम्मेलन में एक प्रस्ताव द्वारा भारतीय प्रतिनिधि को भी वही स्थान दिये जाने का फैसला किया था जैसा कि उपनिवेशों के प्रधान मंत्रियों को प्राप्त था। १९१४—१८ के युद्ध में भारत के प्रतिनिधि सर एस० पी० सिन्हा थे। यह साबित करने के लिए कि इस सम्बन्ध में क्या ब्रिटेनके इरादे सच्चे थे, श्री एमरीसे पूछा गया कि क्या भारतीय प्रतिनिधि को भी वही दरजा हासिल रहेगा जो स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों के प्रधान मंत्रियों को प्राप्त है ? इस पर श्री एमरी ने कहा 'हां'। आपने इस सुझाव का समर्थन किया। "मैंचेस्टर गार्जियन" ने यह सुझाव दिया कि वाइसराय को इस अवसर से लाभ उठाकर एक ऐसे भारतीय को नामजद करना चाहिये, जिसे स्वयं भारत भी अपना प्रतिनिधि स्वीकार कर सके। इस प्रस्ताव पर जरा विस्तृत रूप से सोच-विचार करते हुए लन्दन के "टाइम्स" ने लिखा:—

"जिस प्रकार १९१७ के बाद भारत का एक प्रतिनिधि शाही युद्ध-मंत्रिमण्डल में बैठा करता था, उसी प्रकार अब भी किया जायगा। परन्तु इस अवसर पर हमें एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है जो पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की दिशा में भारत की प्रगति का प्रतीक है। १९१७ में युद्ध-मंत्रिमंडल में भारतीय प्रतिनिधि भारतमंत्री द्वारा नामजद किये जाते थे, जो स्वयं भी उनमें से एक होते थे। परन्तु अब यह प्रस्ताव वाइसराय ने अपनी परिषद् के सम्मुख रख दिया है। और उसीसे इस संबन्ध में कोई निर्णय करने को कहा है। इसमें तो कोई शक ही नहीं कि उसे स्वीकार कर लिया जायगा। सभी सम्बद्ध व्यक्ति यह चाहेंगे कि इस पद पर ऐसे भारतीय प्रतिनिधि नियुक्त किये जाएँ जो भारत की उस अधिकांश जनता का प्रतिनिधित्व कर सकें; जो ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों को अपना सक्रिय सहयोग देने के पक्ष में है और जो यह समझती है कि इसी सहयोग के आधार पर हम मुख्यतः और आवश्यक रूप से जापानी आक्रमण और आतंक-

वाद का प्रतिरोध कर सकेंगे।"

इससे पहले सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा था कि मेरा तो यह विश्वास है कि ब्रिटेन को युद्ध के बाद तत्काल ही भारत को आजादी दे देनी चाहिये।

अपने वक्तव्य का स्पष्टीकरण करते हुए सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने रायटर के एक प्रतिनिधि से कहा:—

"मेरा खयाल है कि हमें भारत से औपनिवेशिक स्वराज्य का वायदा स्पष्ट रूप से उन्हीं शब्दों में करना चाहिये जिनमें लार्ड बैलफोर ने १९२६ में किया था अर्थात् किसी भी स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेश को ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में बने रहने अथवा उससे अलग होकर बाहर रहने का अधिकार प्राप्त रहेगा। उसका तात्पर्य है स्वाधीनता का अधिकार। अगर हम भारत को लड़ाई के बाद यह अधिकार देने का वायदा कर लें तो मेरा विचार है कि इस आधार पर हमारी मौजूदा कठिनाइयां दूर हो सकेंगी और इसमें कोई शक नहीं कि लड़ाई के दौरान में भारत जंगी कोशिशों में मदद देने को तैयार रहेगा। परन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा सहयोग हमें तभी प्राप्त हो सकेगा जब हम स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में उपयुक्त वायदा करें।"

यह बात तो निर्विवाद है कि सुदूर-पूर्व से भारत में मार्शल चांगकाई शेक के आगमन से पूर्वी राष्ट्रों में फिर से एक दूसरे के साथ घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हो गया। उधर निकट-पूर्व में नहस पाशा ने काफी समय तक सोच-विचार करने और प्रतीक्षा के बाद मिस्र में अपना मंत्रिमण्डल स्थापित किया। ५ फरवरी, १९४२ को काहिरा से रायटर ने नीचे लिखा एक दिलचस्प समाचार भेजा:—

"ब्रिटेन की नीति का आधार यह है कि वह सच्चे हृदय से एक स्वतन्त्र राष्ट्र और मित्र देश के साथ मिलकर एंग्लो-मिस्री समझौते पर अमल करना चाहता है। उसका इरादा किसी भी रूप में मिस्र के आन्तरिक मामलों में दखल न देना है।" यह आश्वासन ब्रिटिश राजदूत सर माइल्स लैम्पसन ने नये प्रधान मंत्री नहस पाशा के एक पत्र के उत्तर में दिया है।

नहस पाशा ने अपने पत्र में लिखा था कि "मैंने अपना मंत्रिमण्डल इस शर्त पर बनाना मंजूर किया है कि न तो एंग्लो-मिस्री समझौते और न ही एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में मिस्र की स्थिति के कारण ब्रिटेन को मिस्र के अन्दरूनी मामलों में दखल देने का अख्त्यार होगा।" नहस पाशा ने यह आशा भी प्रकट की है कि सर माइल्स लैम्पसन उनके इस दृष्टिकोण का समर्थन करेंगे और समझौते की शर्तों के अनुसार दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की भी चेष्टा करेंगे।"

११ फरवरी, १९४२ को महान् दानवीर राजनीतिज्ञ और क्रियाशील व्यक्ति सेठ जमनालाल बजाज का सहसा देहावसान हो गया। आप वर्षों से कांग्रेस के कोषाध्यक्ष और एक अनुभवी तथा पुराने सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे। आपकी मृत्यु वर्धा में आपके निवास स्थान पर हृदय की गति के बन्द हो जाने से हो गई।

सेठ जमनालाल बजाज का जन्म जयपुर रियासत के एक मारवाड़ी घराने में नवम्बर १८८९ में हुआ था।

१९२० में ही सेठ जमनादास बजाज ने देश के सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था, जब कि आप 'राव बहादुर' की उपाधि त्याग कर कांग्रेस में शामिल हो गए और आप नागपुर में कांग्रेस-अधिवेशन की स्वागत-समिति के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। आप

हमेशा ही देश की हर तरीके से सेवा करने को तत्पर रहते थे और आपने देश के बहुत-से पुण्य-कार्यों के लिए समय-समय पर बड़ी उदारतापूर्वक दान भी दिया। १९२१ में आपने तिलक-स्वराज्य-कोष में एक लाख रुपया दान दिया। यह कोष उन वकीलों के सहायतार्थ खोला गया था जो गांधीजी के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन में अपना पेशा छोड़कर शामिल हो गए थे। उसके बाद से इसी तरह सेठ जमनालाल बजाज ने देश के विभिन्न कामों के लिए २५ लाख रुपये से भी अधिक दान दिया।

पिछले बीस वर्षों में कांग्रेस की प्रायः कोई भी ऐसी महत्त्वपूर्ण नीति अथवा कार्यक्रम नहीं था जिसमें सेठ जमनालाल बजाज ने प्रमुख भाग न लिया हो। परन्तु आपने देश के सामाजिक जीवन और संगठन के क्षेत्र में तथा गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के क्षेत्र में जो अमूल्य सेवाएं की हैं वे चिरस्मरणीय रहेंगी और देश उनके लिए आपका सदा आभारी रहेगा। आप वर्धा में गांधी-सेवा-संघ के संस्थापक, अखिल भारतीय अग्रवाल महासभा के प्रधान तथा सामाजिक सुधार से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य अनेक संस्थाओं के जन्मदाता थे। १९२१ से बराबर आप अखिल भारतीय चर्खा संघ के प्रधान पद को सुशोभित करते रहे। चर्खा संघ के प्रधान के रूप में सेठ जमनालाल बजाज ने खादी-उद्योग का दृढ़ता के साथ संगठन किया।

१९२३ में सेठ जमनालाल बजाज पहली बार नागपुर से 'झण्डा-सत्याग्रह' आन्दोलन के सिलसिले में जेल गए। पुलिस ने दफा १४४ के अधीन राष्ट्रीय झण्डे के साथ जुलूस निकालने की मनाही करदी थी। इसलिए उस आज्ञा के विरोधस्वरूप सेठजी ने उक्त अहिंसात्मक आन्दोलन प्रारम्भ किया। आपकी गिरफ्तारी के तत्काल बाद ही नागपुर में कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक बुलाई गई, जिसमें समिति ने सेठ जमनालाल बजाज को उनकी गिरफ्तारी पर बधाई देते हुए उन्हें अपनी ओर से पूर्ण सहायता देने का आश्वासन दिया। आपको ३०००) रु० जुर्माने की सजा दी गई, परन्तु आपने जुर्माना अदा करने से इन्कार कर दिया। इसलिए अधिकारियों ने आपकी एक कार कुर्क करने की आज्ञा दी। परन्तु जनता को आप पर इतनी अगाध श्रद्धा थी, कि आपकी कार नागपुर में न बिक सकी और उसे काठियावाड़ जाकर बेचना पड़ा। १९३० और १९३२ में सेठ जमनालाल बजाज अपनी पत्नी-सहित सविनय-भंग-आन्दोलन में प्रसन्नतापूर्वक जेल गए।

सेठ जमनालाल बजाज की अपने देशवासियों के लिए एक अमूल्य देन वर्धा में अछूतों के लिए श्री लक्ष्मी नारायण का मन्दिर है, जिसकी स्थापना १९२८ में की गई थी। देश में अपने ढंग का वह एक ही मंदिर है।

गांधीजी का विचार है कि धनिक-वर्ग संरक्षक के रूप में समाज के लाभ के लिए अपने धन-दौलत की व्यवस्था करता है। एक तरह से वह समाज का संरक्षक है। इस प्रकार गांधीजी की परिभाषा की इस कसौटी पर केवल एक ही व्यक्ति खरा उतरता है। यदि ऐश्वर्य सेवा-वृत्ति में सहायक है तो केवल एक ही व्यक्ति ऐसा है जिसने अपने ऐश्वर्य से अपने देशवासियों के कष्टों और मुसीबतों को कम करने की भरसक चेष्टा की है। यदि अहिंसा का अर्थ यह है कि उसके कारण शत्रु-मित्र या ऊँच-नीच में किसी प्रकार के भेद-भाव की गुंजाइश नहीं रहती, तो सिर्फ एक ही व्यक्ति ऐसा है जिसके विशाल हृदय में मनुष्य और पशु के लिए एक समान भाव रहता था। उसके लिए दोनों की ही सहायता करना सेवा-कार्य था। यदि पृथ्वी पर जन्म लेकर मनुष्य का परम कर्तव्य मानव जीवन से पूर्ण लाभ उठाना है तो एक ही व्यक्ति ऐसा है जिसका

जीवन इतना व्यापक और कठोर परिश्रम करनेवाला था। यदि इस नश्वर जगत् में जीवन की सफलता का मूल्यांकन जीवन की अवधि की बजाय व्यक्ति के नैसर्गिक गुणों के आधार पर किया जाता है तो केवल एक ही व्यक्ति ऐसा है जो अपने त्याग, आत्मोत्सर्ग, संयम, निर्मोही और विरक्त तथा विनम्र स्वभाव, सद्भाव और मनुष्यमात्र के प्रति अपने प्रेम-भाव के कारण अपने जीवन को सफल कह सकता है और वह व्यक्ति है—सेठ जमनालाल बजाज। आप यद्यपि ५२ वर्ष तक ही जीवित रहे फिर भी इस थोड़े से समय में ही आपने देश के जीवन में प्रमुख स्थान बना लिया था। भावी कई पीढ़ियों तक आप धनिक-वर्ग के लिए आदर्श बने रहेंगे।

: १३ :

क्रिप्स मिशन : १९४२

१९४२ के प्रारम्भ से ही भारत और ब्रिटेन दोनों ही जगह काफ़ी राजनीतिक सरगर्मी देखने में आई। रूस से लौटने के बाद सर स्टैफर्ड क्रिप्स की शान में चार चाँद लग गये। सभी व्यक्ति उनकी ओर उत्सुकता-भरी दृष्टि से देखने लगे। सब का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो गया। और स्टैफर्ड क्रिप्स भी अपने वक्तव्यों में अत्यधिक सावधानी से काम लेने लगे। भारतीय समस्या के हल के लिए सभी व्यक्ति उनका मुँह ताकने लगे। आमलोगों का यह ख़याल था कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो भारतीय प्रश्न पर नये दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं। भारतीय समस्या को हल करने के प्रस्ताव के सम्बन्ध में स्वयं स्टैफर्ड क्रिप्स ने भी अपनी दिलचस्पी प्रकट करते हुए ६ फरवरी, १९४२ को कहा--

"यदि भारतीय प्रश्न को हल करने में मैं किसी प्रकार भी सहायक हो सकूँ तो मुझे भारत जाने में बड़ी प्रसन्नता होगी। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका निबटारा हो जाना नितान्त आवश्यक है। मुख्यत: यह प्रश्न भारतीयों का ही नहीं है बल्कि सरकार का भी। इसे सुलझाने की मुख्य जिम्मेदारी सरकार की है। इस सम्बन्ध में जब ब्रिटेन अपनी कोई राजनीतिक नीति निर्धारित कर लेगा तो मेरा ख़याल है कि भारतीयां को भी उस पर राज़ी कर लिया जायगा। आमतौर पर प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि इस प्रश्न को भारतीय नेताओं के कन्धों पर डाल दिया जाय। सर्वप्रथम और मुख्य बात तो यह है कि ब्रिटिश सरकार को अपनी एक दृढ़ नीति बना लेनी चाहिए और यह नीति अब तक की घोषित नीति से सर्वथा भिन्न होनी चाहिए।"

--[रायटर]

इधर तो ये सरगर्मियाँ देखने में आ रही थीं और उधर दूसरी ओर मिस्र का मंत्रि-मण्डल संकट में पड़ गया था। यह स्मरणीय रहे कि ६ अगस्त, १९३६ की ऐंग्लो-मिस्री संधि के अनुसार ब्रिटेन ने मिस्र की राष्ट्रीय स्वाधीनता स्वीकार कर ली थी और इसका प्रथम परिणाम हम यह देखते हैं कि मिस्र दूसरे महासमर के समय तटस्थ रहा। लेकिन मिस्र का राष्ट्रीय दल, जिसने यह संधि की थी, कुछ समय के लिए दृष्टि से ओझल हो गया और नहस पाशा के स्थान पर वफ़्द दल की विरोधी प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने अपना कब्ज़ा कर लिया। इस बीच मिस्र का मंत्रिमण्डल ख़तरे में पड़ गया और नहस पाशा से नई सरकार बनाने को कहा गया।

एक ओर जहाँ ब्रिटेन और भारत में वाग्युद्ध चल रहा था, दूसरी तरफ़ एशिया के दो प्राचीन और महान् राष्ट्रों— भारत तथा चीन के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

फरवरी, १९४२ के अन्त में भारत की राजनीतिक परिस्थिति कुछ धुँधली-सी दिखाई देने लगी। मिस्र के राजनीतिक संकट का भी भारत पर प्रभाव पड़ा। भारतीय राजनीतिक परिस्थिति में चांगकाई शेक की भारत-यात्रा और उनके स्पष्ट विचारों का अपना एक ख़ास स्थान था। निर्दल नेताओं ने फिर से एक बार सरगर्मी दिखाई और उन्होंने दिल्ली में अपने सम्मेलन में धुँआधार भाषण दिए। ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश सरकार भारत में घटनेवाली इन घटनाओं की ओर उत्सुकतापूर्वक देख रही थी और फ़िलहाल केवल समय टाल रही थी। उधर भारत में केन्द्रीय धारासभा राजनीतिक क़ैदियों की स्थिति, रसद, यातायात् और उत्पादन की समस्याओं पर वाद-विवाद करने में व्यस्त थी। हम इन प्रश्नों पर पृथक्-पृथक् रूप से सोच-विचार करेंगे।

२४ फरवरी, १९४२ को कामन सभा में भारत के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प बहस हुई। लार्ड सेम्युअल और श्री स्टोक के अलावा अनेक सदस्यों ने अपने-अपने विभिन्न विचार प्रकट किये। लार्ड सेम्युअल ने भारत की सैनिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से वहाँ गतिरोध को शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त कर देने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। वे यह ख़याल करके बड़े बेचैन और निराश थे कि भारत पर आक्रमण के समय वहाँ शत्रु का विरोध करने वाली सेनाएँ न होंगी। सर जार्ज शुस्टर ने यह शिकायत की कि सरकार ने भारत में भरती के प्रश्न पर पूरी तरह से ध्यान नहीं दिया। आपने सिफ़ारिश की कि भारत में तुरन्त ही युद्ध-मंत्रिमण्डल की स्थापना होनी चाहिए और उसके ज़रिये विभिन्न सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने की हर सम्भव चेष्टा करनी चाहिए। आपने भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना पर बहुत अधिक ज़ोर दिया।

कामन सभा में भारत-विषयक बहस का जवाब देते हुए सभा के नये नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा—

"अब मैं भारत के प्रश्न को उठाता हूं जिसके सम्बन्ध में सभा के सभी दलों के सदस्यों ने बेचैनी प्रकट की है। भारत में उपस्थित ख़तरों को देखते हुए अन्य लोगों की तरह सरकार भी उस देश की एकता और शक्ति एवं दृढ़ता के प्रश्न पर उतनी ही चिंतित है और वह पूर्ण रूप से अनुभव करती है कि इस देश का यह परम कर्त्तव्य है कि वह वर्तमान परिस्थितियों में उस एकता की प्राप्ति के लिए अपनी ओर से पूरी-पूरी कोशिश करे। परन्तु मेरा विचार है कि हमें ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर इस प्रकार आंशिक रूप में सोच-विचार नहीं करना चाहिए बल्कि सरकार को आशा है कि इस सम्बन्ध में वह जो फ़ैसला करनेवाली है, उसके आधार पर निकट-भविष्य में ही इस समस्या पर आप लोगों को पूरी तरह से बहस करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।"

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकार का बहुत-सा समय और ध्यान युद्ध-विषयक समस्याओं की ओर से हटकर राजनीतिक प्रश्नों की ओर अधिक लग रहा था जिनमें राजनीतिक बन्दियों का प्रश्न प्रमुख था।

निर्दल नेताओं का तीसरा सम्मेलन दिल्ली में २१ फरवरी, १९४२ को हुआ। इस अवसर पर डा० सप्रू ने देश की राजनैतिक परिस्थिति पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला। परन्तु कांग्रेस उनके विचारों और उनके द्वारा पेश की गई माँगों से सहमत नहीं थी।

मार्च का महीना शुभ कामनाओं को लेकर प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन के मज़दूर नेताओं ने

भारतीय मज़दूरों और उनके नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू को उनके दृढ़ विचारों के लिए बधाई देते हुए उन्हें अपनी शुभ कामनाएँ भेजीं।

मार्च में एक और उल्लेखनीय घटना यह हुई कि ख़ान अब्दुल गफ्फ़ार ख़ाँ ने तीसरी बार कांग्रेस कार्यसमिति से इस्तीफा दिया।

कार्यसमिति की पिछली बैठक को हुए दो महीने से अधिक समय हो चुका था। इस बीच कार्य-समिति की हिदायतों के अनुसार विभिन्न प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां अपने-अपने पुनर्गठन के कार्य में व्यस्त थीं। जिला और ताल्लुका कांग्रेस कमेटियों का नये सिरे से संगठन किया जा रहा था और शान्ति-समितियों की स्थापना पर खासतौर से ध्यान दिया जा रहा था। १७ मार्च को देश की राजनीतिक परिस्थिति पर सोच-विचार करने के लिए कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक बुलाई गई थी। क्या वास्तव में कोई ऐसी नयी परिस्थिति पैदा होगई थी जिसके कारण इतनी जल्दी कार्य-समिति की बैठक बुलानी पड़ी? आम अफ़वाह यह थी कि ब्रिटिश-सरकार भारत के राजनीतिक गतिरोध पर सोच-विचार कर रही है। सर स्टैफर्ड क्रिप्स को कामन सभा का नेता नियुक्त किया गया था। इससे ब्रिटेन के राजनीतिक क्षेत्र में उनका स्थान बहुत ऊँचा हो गया था। श्री एमरी, श्री ईडन, श्री लिटलटन और श्री एटली को वे अपने से बहुत पीछे छोड़ गए थे। वे भारत के गतिरोध के बारे में पहले ही एक वक्तव्य देकर उसके लिए आवश्यक परिवर्तनों का प्रस्ताव कर चुके थे। यह आशा की जा रही थी कि स्वयं प्रधान मंत्री श्री चर्चिल भारत के सम्बन्ध में कोई घोषणा करनेवाले हैं और १० मार्च, १९४२ को सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने भी इसकी पुष्टि करते हुए घोषणा की कि, "सभा की अगली बैठक में प्रधान मन्त्री भारत के सम्बन्ध में एक वक्तव्य देंगे।" अगले कुछ दिनों में लार्ड-सभा में भारत की स्थिति पर सोच-विचार किया जाएगा। इसके बाद ही यह घोषणा की गई कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स एक खास उद्देश्य को लेकर भारत जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में सरकारी तौर पर यह कहा गया कि वे भारत की समस्या को हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार-द्वारा उपस्थित किये गए प्रस्तावों के सम्बन्ध में भारतीयों की स्वीकृति लेने के लिए वहां जा रहे हैं।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स की भारत-यात्रा की घोषणा के साथ-साथ इन प्रस्तावों की रूप-रेखा भी तैयार कर ली गई। जैसी कि घोषणा की गई थी, उनका भारत-आगमन इस दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त था कि वे इस बात की कोशिश करेंगे कि अल्पसंख्यक देश की राजनीतिक प्रगति में नाहक रुकावटें न पैदा करते रहें और न बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा करें। यह भी कहा गया था कि उनकी भारत-यात्रा का उद्देश्य इस विषय में पिछली सभी आशंकाओं का निवारण और भारत के विभिन्न दलों में एकता की स्थापना करना था। निस्संदेह यह एक उच्च उद्देश्य था। श्री चर्चिल ने कामन सभा में दिये गए अपने निम्नलिखित भाषण में इन प्रस्तावों के मूल्य, उत्पत्ति और उनके स्वरूप का पूर्वाभास दे दिया था:—

प्रस्तावों का मसविदा

११ मार्च, १९४२ को कामन सभा में प्रधान मन्त्री का वक्तव्य

"जापानियों की प्रगति के कारण भारत के लिए जो खतरा पैदा होगया है उसे देखते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि हमलावर से देश की रक्षा करने के लिए हमें भारत के सभी वर्गों का संगठन करना चाहिये। अगस्त, १९४० में हमने भारत के सम्बन्ध में अपने उद्देश्यों और नीति के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से प्रकाश डालते हुए एक घोषणा की थी। संक्षेप में उसका आशय

यह था कि लड़ाई खत्म होने के बाद यथासंभव जल्दी-से-जल्दी भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाएगा और उसका दरजा इस देश के तथा अन्य स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों के समान रहेगा। इसके अलावा स्वयं भारतीय पारस्परिक समझौते-द्वारा देश के लिए एक ऐसा विधान तैयार करेंगे जो देश के सभी मुख्य वर्गों को स्वीकृत होगा। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें अल्पसंख्यकों के हितों का ध्यान रखना होगा, जिनमें दलित जातियां भी शामिल हैं। इसके अलावा रियासतों के साथ हमारी जो सन्धियां हैं उनका तथा भारत के साथ अपने पुरातन सम्बन्धों के कारण हमारी जो जिम्मेवारियां हैं उनका भी हमें ख़याल रखना होगा।

"फिर भी इस विचार से कि इन साधारण घोषणाओं को कोई निश्चित रूप दिया जा सके और भारत के सभी वर्गों, जातियों और धर्मावलंबियों को हम अपनी ईमानदारी का विश्वास दिला सकें। युद्ध-मंत्रिमंडल ने सर्वसम्मति से वर्तमान और भविष्य के लिए कुछ प्रस्ताव स्वीकार किये हैं। यदि समस्त भारत ने इन प्रस्तावों को मंजूर कर लिया तो इस बात का कोई खतरा नहीं रहेगा कि कोई शक्तिशाली अल्पसंख्यक, बहुमत के निर्णय को अनिश्चित काल तक के लिए रद कर सके अथवा बहुमत-द्वारा कोई ऐसा फैसला कर लिया जाय जिसका इतना अधिक विरोध किया जाय कि उससे देश की अन्दरूनी एकता नष्ट हो जाय या नये विधान के निर्माण पर उसका घातक प्रभाव पड़े। हमने सोचा था कि पूर्ण-स्वायत्त शासन की प्राप्ति के लिए हम भारत की कोई रचनात्मक सहायता करें, लेकिन हमें आशंका है कि अगर हम इस सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप से अपनी योजना की घोषणा करदें तो उससे भलाई की अपेक्षा बुराई की ही अधिक संभावना है। हमें सबसे पहिले इस बात का यक़ीन हो जाना चाहिये कि हमारी योजना को उचित रूप से तथा व्यावहारिक तौर पर स्वीकार कर लिया जाएगा और इस प्रकार भारत की रक्षा के लिए देश की सारी शक्तियां संगठित हो जाएँगी। यदि भारत के राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख वर्ग हमारी योजना को ठुकरादें और ऐसे समय में जब कि शत्रु भारत के द्वार पर खड़ा हो देश में जोरदार सांप्रदायिक और वैधानिक झगड़े खड़े होजाएं तो उससे हम साधारण जनता को नुकसान ही पहुँचाएंगे।

"चुनांचे हमने युद्ध-मंत्रिमण्डल के एक सदस्य को भारत भेजने का फैसला किया है जिससे कि वह वहां जाकर भारतीय नेताओं के साथ निजी बातचीत द्वारा इस बात की तसल्ली कर लें कि हमने जो फैसला किया है और जो हमारे खयाल से न्यायोचित है तथा इस समस्या का अन्तिम हल है, सफल हो जाएगा—अर्थात् भारतीय उसे स्वीकार कर लेंगे। मेरे महामाननीय मित्र लार्ड प्रिवीसील तथा कामन सभा के नेता ने स्वेच्छा से यह काम करने की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेली है। उन्हें सम्राट् की सरकार का पूर्ण विश्वास प्राप्त है और वे इन प्रस्तावों के लिए न केवल बहुसंख्यक हिन्दुओं की ही स्वीकृति प्राप्त करेंगे बल्कि उन उन बड़े-बड़े अल्पसंख्यकों की भी स्वीकृति प्राप्त करेंगे जिनमें मुसलमान सबसे बड़े और प्रमुख हैं।

"साथ ही लार्ड प्रिवीसील सैनिक परिस्थिति के सम्बन्ध में वाइसराय और प्रधान मन्त्री से भी सलाह-मशविरा करते रहेंगे और वे इस बात को सदा ध्यान में रखेंगे कि इस समय भारत के लोगों के सामने जो बड़ा खतरा पैदा होगया है उससे उनकी रक्षा की मुख्य जिम्मेवारी सम्राट् की सरकार पर है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि विश्व के स्वतंत्रता के संग्राम में भारत को प्रमुख भाग लेना है और उसे चिरकाल से युद्ध-रत बहादुर चीनी जनता का भी हाथ बँटाना

है । हमें यह भी याद रखना चाहिये कि भारत एक ऐसा अड्डा है जहाँ से हम अत्याचार और आतंक की प्रगति पर जोरदार प्रत्याक्रमण कर सकते हैं ।

"ज्योंही इस सम्बन्ध में आवश्यक प्रबन्ध हो जाएंगे और सुविधाजनक समझा जाएगा, मेरे महामाननीय मित्र भारत के लिए रवाना हो जाएंगे । मुझे यकीन है कि उन्हें सभा के सभी वर्गों की हार्दिक शुभ कामनाएं प्रथम प्राप्त रहेंगी और इस बीच ब्रिटेन अथवा भारत में ऐसी कोई बात नहीं कही जाएगी जिससे उनका उत्तरदायित्व, जो पहले ही बहुत भारी है, और भी बढ़ जाए और शुभ परिणाम की संभावनाएं कम होजाएं । उनकी अनुपस्थिति में सभा के नेता का काम मेरे माननीय मित्र विदेश मन्त्री करेंगे ।"

सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने ब्रिटिश सरकार की ओर से नीचे लिखे प्रस्ताव प्रकाशित किये—

"भारत के भविष्य के सम्बन्ध में दिये गए वचनों के पूरे होने के विषय में जो चिन्ता इस देश तथा भारत में प्रकट की गई है उस पर विचार करते हुए सम्राट् की सरकार स्पष्ट तथा निश्चित शब्दों में उन उपायों को बता देना आवश्यक समझती है, जो भारत में शीघ्रातिशीघ्र स्वायत्त शासन स्थापित करने के लिए वह करना चाहती है । ऐसा करने में उसका उद्देश्य एक नवीन भारतीय संघ को जन्म देना है । यह संघ एक स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेश होगा और ब्रिटेन तथा साम्राज्य के अन्य स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों से उसका सम्बन्ध सम्राट् के प्रति समान राज-भक्ति-द्वारा कायम रहेगा । यह भारतीय संघ पद की दृष्टि से पूरी तौर पर ब्रिटेन तथा अन्य स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों के समान होगा और आन्तरिक शासन तथा वैदेशिक समस्याओं के सम्बन्ध में भी वह किसी प्रकार से भी पराधीन न होगा ।

"इसलिए सम्राट् की सरकार निम्न घोषणा करती है—

(क) युद्ध बन्द होने के बाद तुरन्त ही भारत के लिए नवीन शासन-विधान का निर्माण करने के उद्देश्य से बाद में वर्णित आधार पर एक निर्वाचित संस्था कायम की जाएगी ।

(ख) विधान बनानेवाली संस्था में देशी रियासतों-द्वारा भाग लिये जाने की व्यवस्था जिस प्रकार से की जाएगी, उसका वर्णन नीचे किया गया है ।

(ग) सम्राट् की सरकार इस प्रकार तैयार किये गए विधान को स्वीकार करके कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर केवल उसी अवस्था में लेती है जब कि निम्न शर्तें भी पूरी होती हों—

(१) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नये विधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का अधिकार रहे, किन्तु साथ में यह व्यवस्था भी रहेगी कि यदि वह प्रान्त बाद में चाहे तो विधान में सम्मिलित कर लिया जाय ।

"नये विधान में सम्मिलित न होनेवाले ऐसे प्रान्तों को, यदि वे चाहें, सम्राट् की सरकार नया विधान देना स्वीकार करेगी और उनका पद भी पूर्ण रूप से भारतीय संघ के ही समान होगा । यह विधान उस क्रम से मिलते-जुलते ढंग पर तैयार होगा, जिसका उल्लेख यहां किया गया है ।

(२) सम्राट् की सरकार तथा उस विधान-निर्मात्री संस्था के बीच एक संधि होगी । अंग्रेजों से भारतीयों के कन्धों पर पूर्ण उत्तरदायित्व हस्तान्तरित होने की सभी आवश्यक समस्याओं का पूर्ण समावेश इस संधि में रहेगा । सम्राट् की सरकार-द्वारा दिये गए आश्वासनों को ध्यान में रखते हुए संधि में जातीय तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए प्रबन्ध रहेगा,

किन्तु उसमें ऐसा कोई प्रतिबन्ध न रखा जाएगा जिसके कारण भारतीय संघ के ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के अन्य सदस्यों से अपने भावी संबन्ध निश्चित करने के अधिकार में कमी होने की संभावना हो।

"देशी रियासतें नये विधान के अनुसार चलना चाहें अथवा नहीं, नयी परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए उनकी सन्धियों की व्यवस्था में संशोधन करना आवश्यक होगा।

(घ) यदि प्रमुख संप्रदायों के नेताओं ने युद्ध समाप्त होने तक और किसी प्रणाली के विषय में मिलकर निश्चय न कर लिया, तो विधान-निर्मात्री संस्था का निर्माण इस प्रकार होगा --

"प्रान्तीय चुनावों के परिणाम ज्ञात होते ही (युद्ध समाप्त होने पर प्रान्तीय चुनावों की आवश्यकता पड़ेगी) प्रान्तों की निम्न धारा-सभाओं के संपूर्ण सदस्य मिलकर एक निर्वाचक-मंडल की हैसियत से बैठेंगे और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर विधान-निर्मात्री संस्था का चुनाव करेंगे। निर्वाचक मंडल में जितने व्यक्ति होंगे उसकी दसमांश संख्या इस विधान-निर्मात्री संस्था में होगी।

ब्रिटिश-भारत की तरह देशी राज्यों से भी अपनी जन-संख्या के अनुपात से प्रतिनिधि नियत करने को कहा जाएगा और इन प्रतिनिधियों के अधिकार ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के समान रहेंगे।

(ङ) भारत के सम्मुख जो संकट-काल उपस्थित है उसके बीच में और जब तक कि नया विधान लागू नहीं होता तब तक सम्राट् की सरकार भारत की रक्षा, नियंत्रण और निर्देशन का उत्तरदायित्व संपूर्ण विश्व युद्ध-प्रयत्नों के एक अंग के रूप में अपने हाथ में रखेगी। किन्तु भारतीय जनता के सहयोग से देश के संपूर्ण सैनिक, नैतिक तथा आर्थिक साधनों को संगठित करने की ज़िम्मेदारी भारत-सरकार पर रहेगी। सम्राट् की सरकार की इच्छा है, और वह भारतीय जनता के विविध वर्गों के नेताओं का आह्वान करती है कि वे अपने देश, ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल तथा मित्रराष्ट्रों के सलाह-मशविरे में तुरन्त और प्रभावोत्पादक ढंग से भाग लें। इस प्रकार एक महान् कार्य के सम्पादन में वे रचनात्मक और सक्रिय सहायता प्रदान कर सकेंगे, जो भारत की भावी स्वाधीनता के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।"

सर स्टैफर्ड क्रिप्स पहली बार भारत नहीं आ रहे थे। इससे पहले वे नवम्बर १६३६ में भी वर्धा आए थे। भारतीय क्षेत्रों में वे एक प्रमुख वकील के रूप में काफी प्रसिद्ध थे। १६३२ में निजाम सरकार ने मसुलीपट्टम बन्दरगाह के सम्बन्ध में अपने अधिकारों के बारे में आप से सलाह-मशविरा लिया था। १६२६ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ब्रिटेन की मज़दूर सरकार के एटॉर्नी जनरल (प्रधान वकील) थे। बड़े-बड़े कांग्रेसियों का यह खयाल था कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स मन-ही-मन अपने को कोस रहे हैं और पछता रहे हैं कि उनका सम्बन्ध एक ऐसी सरकार के साथ है जिसका भारत के सम्बन्ध में अपना पिछला इतिहास बड़ा कलुषित रहा है। इसलिए वे शीघ्र-से-शीघ्र अपनी गलती सुधार लेने के लिए चिन्तित थे। लेकिन लोग यह भी जानते थे कि क्रिप्स सनकी दिमाग के व्यक्ति हैं।

× × ×

ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के प्रस्तावों को यद्यपि बड़ी सतर्कता के साथ गुप्त रखा गया था, फिर भी २३ मार्च को उनके दिल्ली पधारने के कुछ दिन बाद ही लोगों को उनके बारे में पता चल गया था। कांग्रेस के प्रधान मौलाना आज़ाद उस समय लाहौर में थे। आपको २४ मार्च

को सर स्टैफर्ड क्रिप्स से मुलाकात करने के लिए बुलावा भेजा गया। उसी दिन मौलाना साहब को ब्रिटेन के इस नये प्रस्तावों का ज्ञान हो गया था। आप पर उनकी मिश्रित प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि ये प्रस्ताव इतने असंतोषजनक थे कि इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता था, लेकिन इतने असंतोषजनक भी नहीं थे कि उन्हें एकदम ही रद कर दिया जाता। इसलिए उनके सम्बन्ध में कोई अन्तिम निर्णय करने के लिए इन्होंने कार्यसमिति की एक बैठक बुलाना मुनासिब समझा।

इस बैठक में शामिल होने का निमंत्रण गांधीजी को भी दिया गया, हालांकि वे सर स्टैफर्ड क्रिप्स से मुलाकात करने के लिए इतने उत्सुक नहीं थे। लड़ाई छिड़ने के कुछ समय बाद ही सर स्टैफर्ड क्रिप्स १९३९ में वर्धा गए थे। तभी से गांधीजी उन्हें काफी निकट से जान गए थे। इसके अलावा गांधीजी किसी भी शर्त पर लड़ाई में सहयोग देने के समर्थक नहीं थे और जैसा कि ओलिवर वैंडल होम्स् ने अपनी पुस्तक 'ब्रेकफास्ट टेबुल' में लिखा है गांधीजी यह जानते थे कि जब दो व्यक्तियों का सैद्धान्तिक रूप से एक दूसरे से मतभेद हो तो उनके लिए यही बेहतर है कि वे विवादास्पद विषय को न उठाएं। फिर भी गांधीजी ने शिष्टाचार के तौर पर दिल्ली में सर स्टैफर्ड से भेंट की, क्योंकि वे उनसे (गांधीजी) मिलने के लिए बहुत उत्सुक थे।

सभी लोग सर स्टैफर्ड क्रिप्स की शिष्टता और इनके मृदुभाषण की प्रशंसा कर रहे थे। यह बात नहीं थी कि वे कभी नाराज़ या खफा ही नहीं होते थे, बल्कि बात यह थी कि वे सारी समस्या पर बड़े दोस्ताना ढंग से सोच-विचार कर रहे थे जिसका उनसे मिलनेवालों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने वाइसराय की शासन परिषद् के सदस्यों से भी शुरू में ही मुलाकात की। लेकिन उनके साथ आपकी यह मुलाकात बहुत संक्षिप्त-सी थी। आपने उनके सामने ये प्रस्ताव केवल पढ़कर सुना दिये और इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार के सवाल-जवाब में व्यर्थ समय नष्ट नहीं किया। कांग्रेस के प्रधान के साथ अपनी पहली मुलाकात के समय ही आपने यह बात स्पष्ट रूप से कह दी कि राष्ट्रीय सरकार के साथ वाइसराय का सम्बन्ध वैसा ही होगा जैसा कि सम्राट् का ब्रिटेन के मंत्रि-मण्डल से होता है। यही एक बात थी जिससे प्रभावित होकर मौलाना आज़ाद ने कार्य-समिति की बैठक बुलाने का निश्चय किया था और इसी आधार पर कार्य समिति १० अप्रैल तक क्रिप्स-प्रस्तावों पर सोच-विचार करती रही। लेकिन १० अप्रैल को कांग्रेस के प्रधान की सर स्टैफर्ड क्रिप्स के साथ अन्तिम मुलाकात के बाद कांग्रेस का यह भ्रम दूर हो गया। निस्सन्देह यह एक बड़ी विचित्र-सी बात है कि जिस आधार को लेकर विभिन्न दलों में यह बातचीत शुरू हुई थी अन्त में वही आधार एक मृगमरीचिका साबित हो और सारी बातचीत उस पर आकर टूट जाय।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स के प्रस्ताव ३० मार्च, १९४२ को प्रकाशित हुए और उस समय वे बड़े विचित्र और अनोखे प्रतीत हुए। उनमें प्रत्येक दल को खुश करनेवाली बातें थीं। कांग्रेस को प्रसन्न करने के लिए इन प्रस्तावों की पूर्व-भूमिका में औपनिवेशक स्वराज्य, वेस्टमिंस्टर कानून, प्रथक् होने का अधिकार, और सर्वोपरि बात विधान-परिषद् का उल्लेख था जिसे प्रारंभ में ही ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल से पृथक् हो जाने की घोषणा कर देने का अधिकार दिया गया था। मुस्लिम-लीग के लिए सब से बड़ी बात यह थी कि किसी भी प्रान्त को भारतीय संघ से अलग हो जाने का हक़ था। नरेशों को न केवल इस बात की आज़ादी थी कि वे चाहें तो इस संघ में शामिल हों या न हों बल्कि विधान परिषद् में रियासतों के प्रतिनिधि भेजने का एकमात्र अधिकार भी

उन्हें ही दिया गया था। रियासतों की जनता की बुरी तरह उपेक्षा की गई थी और यहां तक कि उन्हें यह हक़ भी नहीं था कि वे गुलामों की तरह अपने मालिकों के साथ भी वहां जा सकें। कार्यसमिति को ब्रिटेन की इस योजना का रहस्य समझने में बहुत देर नहीं लगी। इससे साफ़ ज़ाहिर था कि ब्रिटेन का इरादा सत्ता हस्तान्तरित करने का बिल्कुल नहीं था। वह तो केवल एक गुलाम देश के प्रतिनिधियों के रूप में कांग्रेस और लीग की मदद से अपना युद्ध-प्रयत्न ज़ोरदार बनाना चाहता था। और भारत उस समय इस स्थिति को किसी भी शर्त पर कबूल करने को तैयार नहीं था।

आज़ादी के सवाल को टाल-मटोल कर खटाई में डालने की कोशिश की गई थी। जहां तक पाकिस्तान का सवाल था कांग्रेस ने यह प्रस्ताव रखा कि "वह किसी भी प्रादेशिक इकाई को उसकी मर्जी के खिलाफ़ भारतीय संघ में शामिल होने को मजबूर नहीं कर सकती।" इस तरह से वह यह चाहती थी कि विभिन्न इकाइयों को एक समान सामूहिक राष्ट्रीय जीवन के आधार पर उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिल सके। कार्यसमिति ने घोषणा की कि प्रत्येक प्रादेशिक इकाई को इस संघ के अन्तर्गत एक सुदृढ़ राष्ट्र के हितों को ध्यान में रखते हुए पूर्ण स्वायत्त शासन के अधिकार प्राप्त रहेंगे।

इसके अलावा तीसरी बात यह थी कि रियासतों की जनता को विधान परिषद् में अपने प्रतिनिधि भेजने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। इससे रियासतों की जनता में बेचैनी और क्षोभ फैल जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था और उनकी प्रतिनिधि संस्था देशी-राज्य-लोक-परिषद् इस मौके पर हाथ-पर-हाथ धर कर कैसे बैठ सकती थी? चुनांचे लोक-परिषद् के प्रधान पंडित जवाहरलाल ने सारी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए इस सम्बन्ध में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एकदम लिखा और यह सुझाव पेश किया कि इस विषय पर और सोच-विचार करने के लिए उन्हें उक्त परिषद् के उप-प्रधान से भेंट करनी चाहिये। फलतः ३१ मार्च को परिषद् के उप-प्रधान ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स से बातचीत की। उन्होंने बताया कि किस प्रकार ज्योंही एक बार ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों के सम्बन्ध में कोई समझौता हो जाएगा, देशी नरेश भी स्वतः वाइसराय और राजनीतिक विभाग के नैतिक प्रभाव में आजाएंगे और वे स्वयमेव रियासतों की जनता के प्रतिनिधियों को विधान-परिषद् में भेज देंगे। परन्तु देशी राज्यों की जनता के राजनीतिक कष्टों के निवारण के लिए यह एक अप्रत्याशित औषधि थी जिसे जल्दी से प्रयोग में नहीं लाया जा सकता था। यह एक ऐसा प्रस्ताव था, जिसे आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता था। सर स्टैफर्ड क्रिप्स का यह कहना था कि रियासतों के साथ ब्रिटिश सरकार ने जो संधियां कर रखी हैं, उनकी शर्तों के अन्तर्गत उसके लिए रियासतों को विधान-परिषद् में जनता के प्रतिनिधि भेजने की किसी खास प्रणाली पर अमल करने के लिए मजबूर करना संभव नहीं था। परन्तु उनके पास इस तर्क का कोई जवाब नहीं था कि ५६२ रियासतों में से केवल तीस-चालीस रियासतों को छोड़कर बाकी किसी भी रियासत के साथ ब्रिटिश सरकार की कोई संधि नहीं थी। शेष के साथ तो उसके सम्बन्ध केवल सनदों और समझौतों पर आधारित थे। वास्तव में देखा जाय तो सर स्टैफर्ड क्रिप्स की स्थिति यह थी कि रियासतों की जनता को प्रतिनिधित्व केवल उसी हालत में हासिल हो सकेगा अगर शेष भारत के साथ ब्रिटेन का कोई समझौता हो जाय। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उनका अभिप्राय यह था कि अगर कोई

समझौता हो गया तो बेहतर वर्ना हालत बिगड़ जाएगी और कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकेगा। खेद है कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स के भारत से लौटने पर लन्दन में जो श्वेतपत्र प्रकाशित हुआ उसमें देशी-राज्य-लोक परिषद् के प्रधान के उस पत्र का, जो उन्होंने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को लिखा था-तथा परिषद् के उप-प्रधान ने उनके सामने जो स्मृति-पत्र पेश किया था उसका ज़िक्र तक नहीं किया गया था।

बहरहाल, जो कुछ भी हो जब यह बातचीत अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच गई और यह प्रतीत हो रहा था कि वह सफल होनेवाली है, तो आमतौर पर यह खयाल किया जा रहा था कि रक्षा, व्यवस्था और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के प्रश्न पर समझौता होजाने की दशा में रियासतों के भारतीय संघ में शामिल न होने तथा विधान-परिषद् में रियासती जनता के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में कांग्रेस के दृष्टिकोण के बारे में कोई अन्तिम फैसला न किया जाय जैसा कि ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के प्रस्तावों में किया गया था। परन्तु दुर्भाग्य से कहिए अथवा सौभाग्य से उस वक्त सर स्टैफर्ड क्रिप्स की इस भारत-यात्रा का कोई फल न निकला। वह बिल्कुल असफल रही।

अब हम समझौते की इस बातचीत के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण पहलू अर्थात् रक्षा के प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार करना चाहते हैं।

रक्षा का प्रश्न और क्रिप्स-प्रस्ताव

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी, यदि हम यह कहें कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स की यात्रा के समय रक्षा के प्रश्न ने इतना महत्व ग्रहण कर लिया था और जनता का ध्यान भी विशेष रूप से इसी पर केन्द्रित रहा। अप्रैल १९४२ के पहले दो सप्ताहों में कार्यसमिति और उनके बीच जो वार्तालाप हुआ, वह एक दुहरी कहानी थी। इस प्रश्न के कई एक ऐसे पहलू थे जो अबतक बिल्कुल गोपनीय थे और जिनके सम्बन्ध में जनता का ध्यान आकर्षित करना नितान्त आवश्यक था। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल ने भारत के विभिन्न दलों की मंजूरी के लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स के जरिये जो प्रस्ताव यहाँ भेजे थे, उनमें रक्षा के प्रश्न को छुआ तक नहीं गया था। परन्तु बात यहीं तक सीमित नहीं थी। दिल्ली के अपने पहले ही पत्र-प्रतिनिधि-सम्मेलन में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने साफ-साफ शब्दों में यह कह दिया था कि अगर सभी दल एक साथ मिलकर रक्षा-विषय को भारतीयों के सुपुर्द करने की मांग करें तब भी उसे उन्हें हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मामला बिल्कुल साफ था। इसीसे प्रभावित होकर कांग्रेस ने क्रिप्स-योजना को ठुकरा देने का फैसला किया। जब समाचारपत्रों की इस सम्बन्ध में की गई भविष्यवाणियों का ज्ञान सर स्टैफर्ड क्रिप्स को हुआ तो उन्होंने पहली अप्रैल को विनम्रतापूर्वक कांग्रेस के प्रधान और पंडित जवाहरलाल को लिखा कि मेरी यह इच्छा है कि आप लोग इस प्रश्न पर प्रधान सेनापति से बातचीत करें। दूसरे दिन आपने एक और पत्र लिखा जिसमें यह आग्रह किया गया था कि यदि कांग्रेस कार्यसमिति ने इन प्रस्तावों को ठुकराने का ही फैसला कर लिया हो तो भी उसे अपना निर्णय तब तक नहीं प्रकाशित करना चाहिये, जब तक कि मैं कांग्रेस के प्रधान से मुलाकात न करलूं। इससे पूर्व सर स्टैफर्ड क्रिप्स ३० मार्च को कांग्रेस के प्रधान को लिख चुके थे कि—

"वाइसराय इस आधार पर भारतीय नेताओं से बातचीत करने को तैयार हैं कि क्या यह संभव है कि भारत की सशस्त्र सेनाओं के सर्वोच्च प्रधान सेनापति अथवा वाइसराय

परिषद् के रक्षा-विभाग के सदस्य के रूप में प्रधान सेनापति के अधिकारों और ज़िम्मेदारियों पर बिना किसी प्रतिबन्ध के, भारत सरकार के रक्षा-विभाग के किसी पद पर किसी भारतीय को नामज़द किया जा सके ?''

आप तनिक उनकी कूटनीतिक भाषा पर तो ग़ौर कीजिए—कैसा शब्दजाल है—जो देखने में तो सुन्दर है परन्तु भीतर से बिल्कुल खोखला !

न कांग्रेस के प्रधान और न पंडित जवाहरलाल नेहरू की प्रधान सेनापति से हुई मुलाकात का और न उनसे सर स्टैफर्ड क्रिप्स की मुलाकात का कोई ऐसा परिणाम निकला जिससे प्रभावित होकर कार्यसमिति अपना निर्णय बदल लेती । लेकिन उसने १० अप्रैल तक अपना प्रस्ताव प्रकाशित नहीं किया ।

इसी बीच ३ अप्रैल को कर्नल जॉनसन अमरीका से भारत में पधारे और विश्वस्त सूत्रों से पता चला है कि हवाई जहाज से उतरते ही उन्होंने पहला सवाल यह किया कि ''क्रिप्स-योजना का क्या परिणाम निकला ?'' इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्नल जॉनसन का भारत-आगमन उस दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है जिसका उल्लेख सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने बाद में इंग्लैण्ड में किया था । उन्होंने कहा था कर्नल जॉनसन भारत में एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल के नेता के रूप में आए हैं और उनका मेरी भारत-यात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह तो केवल घटनावश ऐसा हो गया कि हम दोनों एक ही समय पर भारत में थे ।

सूचना मिली कि ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों का संक्षेप में अध्ययन करने के बाद गांधीजी ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स से कहा, ''अगर आपके ये ही प्रस्ताव थे तो फिर आपने यहां स्वयं आने का कष्ट क्यों किया ? अगर भारत के सम्बन्ध में आपकी यही योजना है तो मैं आपको सलाह दूँगा कि आप अगले ही हवाई जहाज से ब्रिटेन लौट जाइये ।'' इस पर क्रिप्स ने कहा, ''मैं इस बात पर गौर करूँगा ।''

चाहे कुछ भी हो यह एक सचाई है कि इस अवसर पर राजनीतिक वार्तालाप के क्षेत्र में एक नये व्यक्ति ने पदार्पण किया और वस्तुतः सबका ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो गया । एक सप्ताह तक तो ऐसा मालूम होता रहा कि बातचीत का केन्द्रबिन्दु क्रिप्स की बजाय जॉनसन, लन्दन की बजाय न्यूयार्क और चर्चिल की बजाय रूजवेल्ट बन गये हैं । ७ अप्रैल को स्वयं कर्नल जॉनसन ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को लिखा कि मेरी इच्छा तो यह थी कि मैं आपके घर पर ही आपसे मिलता, लेकिन चूंकि डर है कि कहीं यह बात प्रकट न हो जाय इसलिए बेहतर होगा कि आप ही मेरे निवास-स्थान पर पधारिये । चुनांचे पंडित जवाहरलाल कर्नल जॉनसन से मिलने उनके घर गए । लेकिन लन्दन जाकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यह विवाद खड़ा कर दिया कि स्वयं जवाहरलाल नेहरू ही पहले कर्नल जॉनसन से मिलना चाहते थे । पर सवाल तो यह है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू को ऐसी क्या पड़ी थी कि वे दिल्ली में उस समय रहनेवाले दस हजार अमरीकियों को छोड़कर केवल कर्नल जॉनसन से ही मुलाकात करने की उत्सुकता प्रकट करते ? इस सम्बन्ध में सर स्टैफर्ड क्रिप्स के कथन में कोई सार नहीं था । वह बिल्कुल निराधार था ।

इसी बीच कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा क्रिप्स-प्रस्तावों को ठुकरा दिये जाने पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने रक्षा-व्यवस्था के विषय में एक और हल पेश किया जो कांग्रेस को सर्वथा अमान्य था, इसलिए उसने इस बार भी इसे ठुकरा दिया । इस सुझाव का विस्तृत उल्लेख उस पत्र में किया गया है, जो आपने ७ अप्रैल, १९४२ को कांग्रेस के प्रधान को लिखा था ।

इसके अनुसार प्रधानमंत्री युद्ध-सदस्य के रूप में वाइसराय की शासन-परिषद में बने रहेंगे और युद्ध-सम्बन्धी सभी कार्रवाइयों का नियंत्रण उनके हाथ में रहेगा। वाइसराय की शासन-परिषद् में रक्षा-विभाग का सदस्य एक भारतीय भी रहेगा, जिसके अधीन ये विषय होंगे.—जनसंपर्क-विभाग, सैन्य-विघटन और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण, पैट्रोल का नियंत्रण, पूर्वी देशसमूह परिषद् का प्रतिनिधित्व, सैनिकों की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था, कैंटीन (उपाहारगृह) संगठन, कुछ गैर-टेकनिकल शिक्षण संस्थाएं, सेना के लिए स्टेशनरी और छपाई आदि की व्यवस्था, विदेश से आनेवाले सभी शिष्ट-मंडलों और अफसरों के लिए आवश्यक प्रबन्ध की देखरेख—यदि वह चाहे तो उनके आगमन पर आपत्ति भी उठा सकता है—खतरेवाले इलाकों से लोगों का स्थानान्तरण, सिगनल-व्यवस्था का एकीकरण तथा आर्थिक सुख-सुविधा की व्यवस्था।

इन प्रस्तावों के नामंजूर कर दिये जाने पर ही कर्नल जॉनसन ने इस वार्तालाप में हस्तक्षेप करते हुए निम्न पत्र लिखा—

"(क) रक्षा विभाग प्रतिनिधित्व प्राप्त एक भारतीय के हाथ में रहेगा। लेकिन उसके अधिकार में वे विषय नहीं होंगे जो प्रधान सेनापति को युद्ध-सदस्य के रूप में सौंपे जायंगे।

(ख) एक युद्ध-विभाग स्थापित किया जाएगा जिसके अन्तर्गत रक्षा-विभाग के वे विषय होंगे जो रक्षा-सदस्य के पास नहीं होंगे।"

इस प्रकार साफ जाहिर है कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने ७ अप्रैल के अपने सुझाव में जिस दुहरी शासन-पद्धति की योजना का प्रस्ताव किया था उसकी जगह अब इस नये सुझाव के अनुसार, उन दायित्वों को छोड़कर जो प्रधान सेनापति का शासन परिषद् के युद्ध-सदस्य के रूप में स्वयं उठाते हैं, रक्षा-विभाग के अन्तर्गत शेष सब विषय प्रतिनिधित्वप्राप्त भारतीय को पूर्ण-रूप से सौंप दिये जाएंगे। एक तरह से यह कार्यों का विभाजन न होकर उनके उत्तरदायित्व का बँटवारा था। कार्यसमिति ने इस सुझाव में जो मुख्य परिवर्तन किये उनका सम्बन्ध निम्न बातों से था :—

(क) कितनी अवधि तक ये उत्तरदायित्व जारी रहेंगे;

(ख) रक्षा-सदस्य को और शासन-परिषद् के युद्ध सदस्य के रूप में प्रधान सेनापति को दिये जानेवाले विषयों की तालिकाएं।

कार्यसमिति ने अपने प्रस्ताव में 'युद्ध की अवधि' शब्द का प्रयोग किया था। इसमें संशोधन करके सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने उसकी जगह ये शब्द रखे :—

"जब तक कि नया शासन-विधान नहीं लागू हो जाता।"

सर स्टैफर्ड क्रिप्स का दूसरा संशोधन बहुत भ्रम-मूलक था।[1]

'सरकारी सम्बन्ध' शब्द बहुत अस्पष्ट था और उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी। इससे यह स्पष्ट नहीं था कि क्या इसका अभिप्राय प्रधान सेनापति के अधिकारों से था अथवा इसका केवल यह अभिप्राय था कि क्या चार शीर्षकों के अन्तर्गत उल्लिखित विभिन्न विषयों की मंजूरी युद्ध-विभाग से ली जायगी जिसके सदस्य प्रधान सेनापति होंगे? १० अप्रैल को इसके स्पष्टी-करण के सम्बन्ध में सर स्टैफर्ड क्रिप्स से जो मुलाकात की गई उसके दौरान में आपने कहा कि ये विषय युद्ध-विभाग के सदस्य के रूप में प्रधान सेनापति की अधिकार-सीमा में होंगे और जब उनसे विषयों की तालिकाओं के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करने को कहा गया तो उन्होंने फिर १०

[1] (देखो कांग्रेस बुलेटिन संख्या २—१९४२-२२ अप्रैल, २३-२४ पृष्ठ)

अप्रैल वाली उन तालिकाओं का उल्लेख किया जो नामंजूर की जा चुकी थीं। जिन कारणों से अन्त में जाकर क्रिप्स-प्रस्ताव अस्वीकार किये गए उनमें से एक मुख्य बात यह भी थी। दूसरा कारण धारासभा के प्रति मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व का प्रश्न था। सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने इस बात से साफ इन्कार कर दिया कि उन्होंने २५ मार्च की अपनी मुलाकात के दौरान में मौलाना आजाद से बातचीत करते समय 'मंत्रिमंडल' शब्द का प्रयोग किया था और यदि कांग्रेस इस तरह का उत्तरदायित्व चाहती है तो उसे अपनी यह मांग वाइसराय के सामने रखनी चाहिये।

पर अभी यह सवाल बाकी रह जाता है कि कार्यों के विभाजन के सम्बन्ध में स्वयं कांग्रेस का सुझाव क्या था। कांग्रेस के पास उस समय कोई ठोस योजना तो नहीं थी, परन्तु नीचे दिये गए वर्गीकरण के अन्तर्गत प्रथम स्तंभ के अन्तर्गत सभी विषय प्रधान सेनापति के अधीन युद्ध-विभाग के सुपुर्द किये जा सकते थे और शेष विषय रक्षा सदस्य को दिये जा सकते थे।

प्रधान सैनिक कार्यालय में काम का बँटवारा

चीफ आव दि जनरल स्टाफ (प्रधान सेनापति)	एडजुटेंट जनरल (सहायक प्रधान सैनिक अफसर)	क्वार्टर मास्टर जनरल (रसद का प्रधान अफसर)	सेक्रेटरी, आर्मी हेडक्वार्टर्स (मन्त्री, प्रधान सैनिक कार्यालय)	फाइनेन्शियल एडवाइजर (आर्थिक सलाहकार)
सैनिक नीति ... युद्ध का संचालन ...	संगठन, भरती, साधारण सेनाओं और रिज़र्व सेनाओं की देखरेख।	रसद का निरीक्षण, रख-रखाव और कक्षा-निर्धारण, चारे, ईंधन, कपड़े और शस्त्रास्त्रों की व्यवस्था।	आर्मी हेडक्वार्टर्स से सम्बन्ध रखनेवाला पत्र-व्यवहार, केन्द्रीय रजिस्ट्री सम्बन्धी कार्य।	आर्थिक मामलों में परामर्श देने का काम।
शस्त्रास्त्रों और युद्ध-सामग्री की व्यवस्था सम्बन्धी नीति	छुट्टी और अवकाश की व्यवस्था।	उपर्युक्त सेनाओं के लिए गोला-बारूद, साधारण सामान और युद्ध-सामग्री तथा सुरक्षित भंडारों की व्यवस्था।	आर्मी हेडक्वार्टर्स की कार्य-पद्धति का नियन्त्रण	—
सैनिक साधनों का बँटवारा	वेतन और पेंशन	—	सैनिक परिषद् के कार्यालय का काम	—
युद्ध-सम्बन्धी संगठन ...	अनुशासन, सैनिक और मार्शल ला।	यातायात और सैनिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने की व्यवस्था।	भारत-सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के अन्य विभागों के साथ संपर्क।	—
गुप्त जानकारी और सेंसरशिप	डाक्टरी और सफाई-सम्बन्धी व्यवस्था	रसद और यातायात, जिसमें डेरी फार्म (दुग्धशालाएँ आदि), शस्त्रास्त्र, सैनिक निर्माण कार्यों का साज-सामान और शस्त्रास्त्रों के भंडार और गोदाम भी शामिल हैं।	भारत में सेना से सम्बन्ध रखनेवाले सभी नियमों, आदेशों तथा भारतीय सेना के कर्मचारियों की सूचियों का सम्पादन।	—
ट्रेनिंग और शिक्षा ...	सहायक सेनाएँ			

प्रधान सैनिक कार्यालय में काम का बँटवारा

चीफ आव दि जनरल स्टाफ (प्रधान सेनापति)	एडजुटेंट जनरल (सहायक प्रधान सैनिक अफसर)	क्वार्टर मास्टर जनरल (रसद का प्रधान अफसर)	सेक्रेटरी, आर्मी हेडक्वार्टर्स (मंत्री, प्रधान सैनिक कार्यालय)	फाइनेन्शियल एडवाइजर (आर्थिक सलाहकार)
अन्तर्राष्ट्रीय कानून ...	उत्सवों और विशेष समारोहों के लिए अभिवादन, सलामी तथा अन्य आवश्यक व्यवस्था।	सेना के लिए घोड़ों की व्यवस्था।	भारत-सरकार के आदेश, सेना के आदेश, भारतीय सेना की हिदायतों और गजट सम्बन्धी आदेश जारी करना।	—
जनरल स्टाफ ब्रांच का शासन-प्रबन्ध और उपर्युक्त शाखा के लिए स्वीकृत आर्थिक सहायता का प्रबन्ध।	रेजिमेण्टों से सम्बन्ध रखनेवाले रिकार्डों (आवश्यक कागजपत्र) और युद्ध-पदकों की व्यवस्था।	पशु-चिकित्सा की व्यवस्था। छावनियों के मैजिस्ट्रेट और रहने के स्थान की व्यवस्था।	आर्मी हेडक्वार्टर्स में काम करनेवाले क्लर्कों तथा अन्य सहायक कर्मचारियों का नियन्त्रण।	—
जनरल स्टाफ से सम्बद्ध चीफ आव दि जनरल स्टाफ।	ऐडजुटेंट जनरल की शाखा और उससे सम्बद्ध सर्विसों के लिए स्वीकृत आर्थिक सहायता का प्रबन्ध।	उत्पादन और रसद के लिए उत्तरदायी नागरिक सदस्य-द्वारा उन छोटी-छोटी वस्तुओं की खरीद जो एक साथ खरीदी जानेवाली रसद में शामिल नहीं की गईं।	उपर्युक्त सर्विसों के लिए स्वीकृत आर्थिक सहायता का प्रबन्ध।	—
घुड़सवार सेना का निरीक्षक, तोपखाने का निरीक्षक, इंजीनियरो और पायोनियर शाखा का निरीक्षक।	ऐडजुटेंट-जनरल के विभाग से सम्बद्ध : जज एडवोकेट जनरल।	क्वार्टर मास्टर जनरल की ब्रांच और उपर्युक्त सर्विसों के लिए स्वीकृत आर्थिक सहायता का प्रबन्ध।	सैनिक सेक्रेटरी, अफसरों की नियुक्ति और उनके रिटायर होने की व्यवस्था—गोपनीय रिपोर्टें।	—

प्रधान सैनिक कार्यालय में काम का बँटवारा

चीफ आव दि जनरल स्टाफ (प्रधान सेनापति)	क्वार्टर मास्टर जनरल (रसद का प्रधान अफसर)	सेक्रेटरी, आर्मी हेड-क्वार्टर्स (मन्त्री, प्रधान सैनिक कार्यालय)
पैदल सेना का निरीक्षक ।	पदकों तथा अन्य सम्मानसूचक व्यवस्थायें ।	कर्मचारियों की सूचियां तैयार करना और अफसरों के रिकार्डों को सुरक्षित रखना ।
सिगनल दस्तों का निरीक्षक ।		
कमाण्डेंट, मशीनगन केन्द्र ।	निर्वाचन बोर्ड का सेक्रेटरी ।	
टैंकों और बख्तरबन्द गाड़ियों का सलाहकार ।		
गैस-सर्विसों का प्रधान निरीक्षक ।		
ट्रेनिंग, संगठन तथा साज-सामान के मापदण्ड और डिजाइन के सम्बन्ध में परामर्श देने का काम ।		
ट्रेनिंग का एकीकरण ।		
ट्रेनिंग-सम्बन्धी पुस्तकें तैयार करने में सहायता ।		
ट्रेनिंग स्कूलों और केन्द्रों का निरीक्षण ।		
अनुसन्धान और आविष्कार-सम्बन्धी कार्य से संपर्क ।		
प्रधान सेनापति—		
एयर मार्शल—		
शाही वायुसेना और उसके लिए स्वीकृत आर्थिक सहायता का प्रबन्ध ।		

भारत के प्रधान सेनापति के अधीन रसद के सर्वेयर-जनरल की नियुक्ति होने पर कार्य का विभाजन

प्रधान सेनापति

- एयर मार्शल
- सैनिक सेक्रेटरी ✲
- चीफ आव जनरल स्टाफ ✲
- ऐडजुटेंट जनरल ✲
- क्वार्टर-मास्टर जनरल ✲
- रसद का सर्वेयर जनरल ✲
- आर्मी हेडक्वार्टर्स का सेक्रेटरी ✲
- आर्थिक सलाहकार ✲
- शाही भारतीय बेड़े का डाइरेक्टर

(✲ सैनिक परिषद् का सदस्य)

रसद के सर्वेयर जनरल का काम वही होगा जैसा कि गोला-बारूद और बेड़े के सदस्य का होगा, लेकिन उसमें शाही भारतीय बेड़ा शामिल नहीं है।

गोला-बारूद और व्यापारिक बेड़े के सदस्य और (उत्पादन और रसद) के सेक्रेटरी के कार्य का विभाजन

परिषद् का सदस्य

सरकारी विभाग का सेक्रेटरी (आर० आई एस०)

- (सैनिक कारखानों का नियन्त्रक)
- कपड़े के कारखानों का नियन्त्रक
- सैनिक टेकनिकल सलाहकार। आर्मी हेडक्वार्टर्स के साथ संपर्क
- ठेकों का नियन्त्रक
- बेड़े का डाइरेक्टर (सरकार के सेक्रेटरी का-सा दरजा)

सैनिक कारखानों, ठेकों और शाही भारतीय बेड़े का शासन-प्रबन्ध।

सेना की रसद, चारे, ईंधन, कपड़े, शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद, साधारण सामान और सामग्री-सम्बन्धी मांगों की सामूहिक पूर्ति की व्यवस्था।

उपर्युक्त सर्विसों के लिए प्रधान सेनापति-द्वारा उसके लिए स्वीकृत आर्थिक सहायता का प्रबन्ध।

इसमें तो कोई शक ही नहीं था कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स बड़े चालाक और होशियार बनने की कोशिश कर रहे थे। यह स्पष्ट हो चुका है कि कार्यसमिति तीन बार इन प्रस्तावों को ठुकरा चुकी थी; लेकिन सर स्टैफर्ड क्रिप्स इसे समाचारपत्रों में प्रकाशित नहीं होने देना चाहते थे। पहली बार उसने २ अप्रैल को इन प्रस्तावों को नामंजूर किया था। उसके बाद उन्होंने कार्यसमिति के पास अपना रक्षा-व्यवस्था सम्बन्धी सुझाव भेजा और उसे भी कांग्रेस ने ७ अप्रैल को रद कर दिया। लेकिन इस बार कर्नल जॉनसन ने इसे पत्रों में न प्रकाशित करने का आग्रह किया। उसके बाद रक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में कर्नल जॉनसन ने एक और सुझाव पेश किया। उसके सम्बन्ध में कई संशोधन पेश किये गए। पर अन्त में १० अप्रैल को उसे भी कार्यसमिति ने नामंजूर कर दिया। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि क्रिप्स-योजना रक्षा और मंत्रिमंडल के उत्तर-दायित्व के प्रश्न पर आकर असफल हो गई। कांग्रेस के प्रधान ने अन्तिम रूपसे इन प्रस्तावों को नामंजूर करते हुए सर स्टैफर्ड क्रिप्स को जो पत्र लिखा था उसके उत्तर में सर स्टैफर्ड ने जो पत्र ११ अप्रैल को लिखा उसके निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट हो जायगा कि इस प्रकार की स्पष्ट स्थिति में भी उन्होंने कितनी चालाकी और होशियारी से काम लेने की कोशिश की—

"रक्षामंत्री तथा प्रधान सेनापति के युद्धमंत्री की हैसियत से कार्यों के विभाजन के सम्बन्ध में भी मैं कुछ नहीं कहूँगा, जिसके सम्बन्ध में आप विस्तार के साथ लिख चुके हैं। इस कार्य-विभाजन में उन कार्यों के अतिरिक्त सब कार्य रक्षामंत्री के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत कर दिये गए हैं, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्षतः जनरल हेडक्वार्टर्स, नेवी हेडक्वार्टर्स, और एयर हेडक्वार्टर्स से है और जो भारत की लड़ाकू सेनाओं के प्रधान की हैसियत से प्रधान सेनापति के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

"रक्षा के संकुचित क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले कार्यों के अतिरिक्त अन्य सब विभागों को शासन-परिषद् के प्रतिनिधित्वपूर्ण भारतीय सदस्यों के हाथ में रहना चाहिये। विभागों का सम्बन्ध इस प्रकार निम्न विषयों से होगा :—

होम डिपार्टमेण्ट (गृह-विभाग)	आन्तरिक व्यवस्था, पुलिस, शरणार्थी इत्यादि।
फाइनेंस डिपार्टमेण्ट (अर्थ-विभाग)	भारतकी युद्ध-सम्बन्धी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था।
कम्यूनिकेशन्स डिपार्टमेण्ट (यातायात्-विभाग)	रेल, सड़क, यातायात् इत्यादि।
सैप्लाई डिपार्टमेण्ट (रसद-विभाग)	सभी सेनाओं के लिए रसद और युद्ध-सामग्री उपलब्ध करना।
इन्फर्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग डिपार्टमेण्ट (सूचना और रेडियो विभाग)	प्रचार, प्रकाशन इत्यादि।
सिविल डिफेंस डिपार्टमेण्ट (नागरिक रक्षा-विभाग)	हवाई हमलों से बचाव तथा अन्य प्रकार की नागरिक रक्षा-व्यवस्थाएँ।
लेजिस्लेटिव डिपार्टमेण्ट (कानून-विभाग)	नियम तथा आदेश।
लेबर डिपार्टमेण्ट (श्रम-विभाग)	जन-शक्ति।
डिफेंस डिपार्टमेण्ट (रक्षा-विभाग)	सेना के भारतीय भाग का शासन-प्रबन्ध।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स की भारत-यात्रा के सम्बन्ध में जो घोषणा की गई थी उसका यदि एक

अच्छा पहलू था तो उसके दो-तीन बुरे पहलू भी थे। अच्छा पहलू यह था कि आखिर ब्रिटिश सरकार को भारत के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य का अनुभव तो हुआ और उसने भारत के विभिन्न संप्रदायों या दलों के आपसी मतभेद का बहाना करना छोड़ दिया। इससे पहले अगस्त १९४० में जब वाइसराय ने भारत के ५२ प्रमुख नेताओं से बातचीत की थी तो उसका परिणाम केवल यही हुआ था कि देश के विभिन्न वर्गों के आपसी झगड़े और भी बढ़ गए थे। लेकिन अब इस नीति को छोड़कर क्रिप्स को भारत में एक पंच के रूप में भेजा जा रहा था जिससे कि वे यहां आकर भारतीय नेताओं से निजी वार्तालाप द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था करें कि "अल्पसंख्यक राष्ट्र की राजनीतिक प्रगति में बाधा न डाल सकें और न वे बहुमत के निर्णय का सदा ही ऐसा विरोध कर सकें जिसका परिणाम यह हो कि देश की आन्तरिक एकता नष्ट हो जाय और नये विधान के निर्माण पर उसका घातक प्रभाव पड़े।"

अच्छा, तो अब आप इसके बुरे पहलुओं को लीजिए। इस योजना की पहली बुराई तो यह थी कि उसमें अगस्त १९४० के प्रस्तावों का रोना फिर रोया गया था और साथ ही यह भी कहा गया था कि—

"वर्तमान घोषणा का मकसद पिछले वायदों को रद करना नहीं है बल्कि इन साधारण घोषणाओं को ठोस रूप देना है जिससे कि भारत की जनता को युद्ध-मंत्रिमंडल की ईमानदारी का यकीन हो जाय।"

इससे केवल सन्देह को ही स्थान मिलता था और यह प्रकट होता था कि ब्रिटिश सरकार अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए चिंतित है। और जब तक राजनीतिक शब्द-कोष में से 'प्रतिष्ठा' शब्द को नहीं निकाल दिया जाता तब तक किसी भी हालत में हिन्दुस्तान में शान्ति नहीं हो सकती थी।

दूसरी खामी यह थी कि उसमें कोई भी बात ऐसी नहीं थी जिससे यह जाहिर होता हो कि ब्रिटेन सत्ता हस्तान्तरित करने को तैयार है। इसी प्रकार नवम्बर १९१७ में जब श्री माण्टेगू अगस्त १९१७ की प्रसिद्ध घोषणा के बाद भारत आये थे तो यह खयाल किया गया था कि वे नये प्रस्तावों पर सोच-विचार करने आये हैं, हालांकि वे प्रस्ताव मार्च १९१६ में ही लार्ड चेम्सफोर्ड के भारत के वाइसराय नियत होकर यहाँ आने से पहले दिखा दिये गए थे। उस समय भी ब्रिटिश सरकार ने ऊपर से दिखाने को तो भारतीयों से समझौता करने का स्वांग रचा लेकिन वस्तुतः उसने अपनी एक निश्चित नीति बना रखी थी जिसे बाद में कार्यान्वित किया गया। इसलिए जिन लोगों को उस वक्त का घटनाक्रम मालूम है, वे आसानी से समझ जायंगे कि १९१७ और १९४२ के इस घटनाक्रम में कोई अन्तर नहीं था। उस वक्त भी उत्तरदायी सरकार की दुहाई दी जा रही थी, पर वास्तव में वह एक जाल साबित हुई थी। इसी प्रकार इस बार भी हमारे सामने एक अनिश्चित और अस्पष्ट-सी घोषणा पेश की गई जिसमें यह कहा गया कि "हमने जो फैसला किया है, वह हमारे खयाल से न्यायोचित है तथा उस उद्देश्य की प्राप्ति का अन्तिम हल है।" आखिर यह उद्देश्य क्या था? एक उद्देश्य यह था कि देश की रक्षा के लिए सारी शक्तियों का एकीकरण किया जाय और दूसरा उद्देश्य चिरकाल से युद्ध-रत बहादुर चीनी जनता का हाथ बटाना है।"

इस घोषणा और रचनात्मक रूप से भारत की सहायता करने के खयाल से एक पंच को भारत भेजने के परिणामस्वरूप जो प्रश्न उठ खड़े हुए, वे इस प्रकार थे—क्या भारत हिंसात्मक

नीति पर चलकर अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकेगा ? दूसरे, क्या भारत अपने पुराने पड़ोसी और मित्रराष्ट्र चीन की भी उसी हिंसात्मक नीति पर चलकर सहायता करे और अपना भी वही उद्देश्य बनाए जो चीन का है ? तीसरे क्या क्रिप्स-योजना का वास्तविक उद्देश्य यह है कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल के संयुक्त प्रस्तावों को कार्यान्वित करने से पूर्व युद्ध-प्रयत्न में भारत का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए उससे समझौते की बातचीत चलाई जाए ?

आइये, अब हम इन प्रश्नों पर एक-एक करके विचार करें। भारत पर आक्रमण करनेवाले शत्रु का प्रतिरोध करते हुए देश की रक्षा केवल दो ही तरीक़ों से हो सकती थी। एक तरीक़ा तो यह था कि उसका विरोध हिंसात्मक ढंग पर किया जाय और उसे पछाड़ दिया जाय और दूसरा तरीक़ा उसके सामाजिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक बहिष्कार का था। अर्थात् उसके साथ किसी क़िस्म का भी मेल-जोल न रखा जाय। दूसरा अहिंसा का तरीक़ा है। अगर हम इसी तरीक़े पर अमल करने का फ़ैसला करते हैं तो चीन को भी ऐसा ही करना होगा। परन्तु अगर हमें भारत की रक्षा हिंसात्मक ढंग से करनी है तो यह कहाँ तक उचित और वांछनीय होगा कि हम चीन का साथ एक ऐसे युद्ध में दें जिसका हमारे देश से कोई ताल्लुक़ नहीं है और जिसका परिणाम सिर्फ यह होगा कि हम स्वयं ख़तरा मोल लेंगे। तीसरा सवाल यह था कि अगर ब्रिटेन सत्ता हस्तांतरित करने को राज़ी भी हो जाय तो क्या हमें उसकी उस युद्ध में मदद करनी चाहिये जिसका सम्बन्ध केवल उसीसे है। और प्रत्यक्ष रूप से क्रिप्स को भी इसी मक़सद के लिए यहाँ भेजा गया था। अगर हम ब्रिटेन की मदद करना मंज़ूर करते हैं तो उसका मतलब यह है कि उससे हम न केवल भारत की ही रक्षा करते हैं बल्कि संसार के पाँच महाद्वीपों में भी ब्रिटेन की मदद करते हैं और यह मदद हम उस हालत में करेंगे जबकि ब्रिटेन ने न तो अपना साम्राज्यवादी चोला ही उतारा है और न हम इस साम्राज्यवादी युद्ध को किसी भी तरीक़े से जन-युद्ध कहने का साहस कर सकते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ था और उसकी रक्षा करने के लिये भारतीय सेनाएँ भारत की मर्ज़ी या उसकी जानकारी के बिना पहले ही भेज दी गई थीं। तो क्या अब भारत को उस कार्रवाई पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा देनी चाहिए जो उस पर उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ लाद दी गई थी और वह पूरी तरह से इस लड़ाई में जुट जाए जिसे शुरू करने में उसका कोई हाथ न था ?

इस सवाल के सम्बन्ध में कि प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग हो जाने की आज़ादी रहेगी हम कुछ तथ्यों पर विचार करना चाहते हैं। सिक्खों को उत्तर-पश्चिमी भारत में अपनी स्थिति के सम्बन्ध में चिन्ता होना स्वाभाविक है। वे पाकिस्तान के कट्टर विरोधी रहे हैं और सिक्खों के सर्वदल सम्मेलन ने केवल इसी आधार पर क्रिप्स-प्रस्तावों को ठुकरा दिया कि चूंकि उनके अन्तर्गत प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग हो जाने का अधिकार दिया गया था। उन्होंने यह घोषणा की कि "हम पंजाब को अखिल भारतीय संघ से पृथक् करने की कोशिश का हर सम्भव तरीक़े से विरोध करेंगे।" सिक्खों के लिये भारतीय संघ से पृथक् रहना काफ़ी हानिकारक था और ख़ासकर अम्बाला डिवीज़न से वंचित होना (जिसकी कल्पना लीग के मार्च १९४० के लाहौर वाले प्रस्ताव में प्रयुक्त प्रादेशिक पुनर्विभाजन शब्दों के अन्तर्गत की गई थी) स्वयं अपने टुकड़े-टुकड़े कर लेना था। इसके अलावा अम्बाला डिवीज़न के पंजाब से पृथक् हो जाने पर भी पंजाब में ८०,००,००० ग़ैर-मुस्लिम आबादी रह

जाएगी। इस प्रकार प्रान्त की साम्प्रदायिक समस्या तो ज्यों की त्यों बनी रहेगी ही; लेकिन उसके अलावा सिक्खों की एक और पेचीदा एवं जटिल समस्या खड़ी हो जायगी।

क्रिप्स-प्रस्ताव और रियासतें

प्रान्तों की तरह भारतीय रियासतों की जनसंख्या भी मिली-जुली है। रियासतों का क्षेत्रफल लगभग भारत का एक-तिहाई है और उनकी आबादी भारत की कुल आबादी का चौथाई है। राजाओं को अपनी स्थिति अपने स्थायित्व और सार्वभौम सत्ता की फ़िक्र थी। वे इस फ़िक्र में थे कि उन्हें कौन-सी सार्वभौम सत्ता के प्रति वफ़ादार होना पड़ेगा? २ या ३ अप्रैल, १९४२ को क्रिप्स ने तीन नरेशों को, जो उनसे मिलने आये थे, गुस्से में आकर कहा कि उन्हें अपना फ़ैसला कांग्रेस या गांधीजी से करना होगा क्योंकि "हम तो अब बिस्तर-बोरिया बाँधकर भारत से कूच करनेवाले हैं।" दूसरा सवाल देश के बँटवारे का था। लेकिन यह कोई टेढ़ा सवाल नहीं था, क्योंकि अगर सार्वभौम सत्ता ब्रिटेन के हाथ से निकल कर भारतीय संघ अथवा संघों के हाथ में चली जाती है तो नरेशों को यह फ़ैसला करना है कि वे अपना सम्बन्ध किस संघ से स्थापित करें? क्या यह नहीं हो सकता कि वे ख़ुद ही अपना एक संघ बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य से अपना नया नाता जोड़ लें? हाँ, ऐसा होना सम्भव था, क्योंकि ब्रिटिश सरकार की घोषणा के मसविदे में नयी परिस्थितियों की कल्पना की गई थी। इन प्रस्तावों के अन्तर्गत प्रान्तों और रियासतों को अपने-अपने पृथक् संघ बनाने का प्रोत्साहन दिया गया था और इसका अब यह परिणाम हुआ कि लार्ड विलिंगडन और लार्ड लिनलिथगो के शासन-काल में इनकी ओर से भारतीय संघ में शामिल न होने के लिए जो सिद्धांत और कठिनाइयाँ पेश की जा रही थीं वे अब नहीं रही थीं। यह ठीक है कि प्रान्तों को तो अपना पृथक् संघ बनाने की आज़ादी थी, परन्तु रियासतों के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। उनके बारे में तो केवल इतना ही कहा गया था कि उन्हें ब्रिटिश सरकार के साथ अपनी संधियों में संशोधन करने होंगे। क्या ब्रिटिश सरकार अपनी युगों पुरानी भेदनीति को फिर से कार्यान्वित करने जा रही थी? रियासतें भला अपना संघ अलग क्यों नहीं बना सकती थीं? इसलिए उनके शिष्टमण्डल ने यह मांग पेश की कि "हमें भी इस उद्देश्य के लिए सर्वसम्मत पद्धति के अन्तर्गत एक ऐसा संघ बनाने का अधिकार दिया जाय जिसे पूर्ण अधिकार प्राप्त हों।" इसमें कोई शक नहीं कि अगर उन्हें ऐसा अधिकार दे दिया जाता तो भारत में पूरी तरह से बाल्कन-राष्ट्रों जैसी परिस्थिति पैदा हो जाती।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने इस घोषणा के साथ पूरक के रूप में और भी ऐसी इधर-उधर की बेसिर-पैर की बातें जोड़ दीं जिनका स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न उन्होंने पत्र-प्रतिनिधियों के सम्मेलनों में किया था। उदाहरण के तौर पर उन्होंने बताया कि व्यवस्थापिका-सभा के ६० प्रतिशत सदस्यों के बहुमत से कोई भी प्रान्त संघ से पृथक् होने का फैसला कर सकता है और यदि ऐसा न हो सके तो मत-संग्रह-प्रणाली के आधार पर ५१ प्रतिशत बहुमत से इसका फ़ैसला किया जा सकता है। लेकिन श्री जिन्ना ने यह मांग की कि, व्यवस्थापिका-सभाओं का विभाजन के प्रश्न से किसी क़िस्म का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए; सिर्फ़ मुसलमानों के जनमत से ही इसका फैसला होना चाहिए। और इसका मतलब यह था कि मुसलमानों की ५१ प्रतिशत आबादी पंजाब में और ५१ प्रतिशत आबादी बंगाल में संघ से पृथक् होने का

निर्णय कर सकती थी। परन्तु वास्तव में इसका तात्पर्य यह था कि पंजाब की ५१ प्रतिशत मुसलिम आबादी जो पंजाब की कुल आबादी का ५७ प्रतिशत है। (जो देश की समस्त आबादी के २९ प्रतिशत के क़रीब बैठती है) और बंगाल की ५१ प्रतिशत मुसलिम आबादी प्रान्त की कुल आबादी का ५४ प्रतिशत बैठती है अथवा जो देश की कुल आबादी का २७ प्रतिशत है, संघ से दोनों प्रान्तों के पृथक् रहने के प्रश्न का निर्णय कर सकती है।

इस सम्बन्ध में हम सर स्टैफर्ड क्रिप्स के कुछ वक्तव्यों का विवेचन करना चाहते हैं। ३० मार्च, १९४२ के अपने ब्राडकास्ट में उन्होंने कहा—

"यह स्वयं भारतीयों का कार्य है, किसी बाहरी शासक का नहीं, कि वे यह विश्वास करें कि भविष्य में किस योजना के आधार पर भारत अपना शासन चलाएगा। यदि भारतीय हमारी सहायता मांगेंगे तो वह सहर्ष दी जायेगी; लेकिन यह तो आप सब भारतीयों का ही कार्य है कि आप अपने भावी शासन-विधान के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करके किसी निश्चय पर पहुँचें। हम बड़ी तन्मयता के साथ आपके कार्य को देखेंगे और यह आशा करेंगे कि इस महान् कार्य में आपका सद्विवेक वास्तविक रूप में आपका पथ-प्रदर्शन करे।"

पर इसके बाद ही आपने सहसा एक धमकी भी दी।

"हमसे जिस मार्ग-प्रदर्शन की आशा की गई थी अब वही हमने किया है और अब यह बात भारतीयों—केवल भारतीयों के ही निश्चय करने की है कि स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए वे हमारे बतलाये मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं या नहीं। यदि अवसर से लाभ उठाने में वे असफल होते हैं तो इस असफलता का उत्तरदायित्व उन्हीं के कन्धों पर रहेगा। हमारे प्रस्ताव निश्चित और स्पष्ट हैं। यदि भारतीय लोकमत के नेताओं ने इन्हें अस्वीकार कर दिया तो युद्ध की समाप्ति तक इन प्रस्तावों पर पुनः विचार करने का न तो समय और न अवसर मिलेगा।"

इससे भी बुरी बात यह थी कि अपनी निजी बातचीत में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यह धमकी दी अथवा भविष्यवाणी की कि भारत में एक अभूतपूर्व दमन-चक्र चलाया जायेगा।

पत्र-प्रतिनिधियों से बातचीत

प्रश्न—क्या भारतीय संघ को सम्राट के प्रति वफ़ादार न रहने का हक़ हासिल होगा?

उत्तर—हाँ, क्यों नहीं। इस उद्देश्य से कि इस सम्बन्ध में किसी क़िस्म का शक न रहे, हमने पैरा (ग) संख्या २ के अन्तिम वाक्य में ये शब्द रखे हैं: "किन्तु उस (प्रस्तावित संधि) में ऐसा कोई प्रतिबन्ध न रखा जाएगा जिसके कारण भारतीय संघ के ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के अन्य सदस्यों से आपके भावी सम्बन्ध निश्चित करने के अधिकार में कमी होने की सम्भावना हो।" इससे संघ को ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में रहने या उससे अलग होने की पूरी आज़ादी होगी।

प्रश्न—क्या इस संघ को संसार के किसी भी अन्य राष्ट्र के साथ सन्धि करने का अधिकार होगा?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—क्या संघ को अपने किसी विदेशी पड़ोसी राष्ट्र में सम्मिलित होने का अधिकार होगा?

उत्तर—इस सम्बन्ध में उसके मार्ग में कोई रुकावट नहीं है।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स के वक्तव्य का पैरा (ङ) उनकी घोषणा का व्यावहारिक भाग है और इस पर विस्तृत रूप से विचार करना समीचीन और लाभकारी होगा : "भारत के आगे जो संकट-काल उपस्थित है इसके बीच और जब तक कि नया विधान लागू नहीं होता तब तक सम्राट् की सरकार भारत की रक्षा के नियंत्रण और निर्देशन का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण विश्व-युद्ध-प्रयत्नों के एक अंग के रूप में अपने हाथ में रखेगी।"

प्रश्न—आखिर कौन-सी निश्चित अवधि व अवस्था में ब्रिटिश सरकार इस देश को छोड़ने का इरादा रखती है ?

उत्तर—ज्योंही विधान-निर्मात्री संस्था पुराने विधान की जगह एक नया विधान तैयार कर लेगी ब्रिटिश सरकार नये विधान को स्वीकार करके उसे कार्यान्वित करने का वायदा करती है और ज्यों ही नये विधान पर अमल होना शुरू हो जायगा वह यहाँ से हट जाएगी।

प्रश्न—भारतीय सेना का क्या होगा ?

उत्तर—जहाँ तक नवीन भारत का प्रश्न है वह सारी ही भारतीय सेना और उसके आवश्यक साज-सामान को अपने अधिकार में ले सकता है। ज्योंही भारतीय विधान का फ़ैसला हो जाएगा, सब चीज़ें भारत को सौंप दी जायेंगी। इस अन्तिम वाक्य की व्याख्या करते हुए प्रोफेसर कूपलैण्ड ने लिखा है कि "इसमें वे सभी सर्विसें आ जाती हैं जो इस समय भारत-मंत्री के नियंत्रण में हैं।"

क्रिप्स की वापसी

सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत में आये। उन्होंने इस देश को देखा, उसका अध्ययन किया और लौट गये। उन्हें वापस जाने की जल्दी थी। दरअसल वे दो सप्ताह से अधिक ठहरना भी नहीं चाहते थे। रक्षा-व्यवस्था-सम्बन्धी बातचीत और कर्नल जॉनसन के यहाँ पधारने के बाद रंगमंच पर कूद पड़ने के कारण सर स्टैफर्ड क्रिप्स को एक सप्ताह तक और रुकना पड़ गया। पर बातचीत सहसा ख़त्म हो गई।

भारत में क्रिप्स-योजना की बातचीत अभी चल ही रही थी और ८ अप्रैल को दिल्ली में कार्यसमिति कर्नल जॉनसन द्वारा पेश किये गए सुझाव में संशोधन कर रही थी कि इसी दौरान में एक बड़ी विचित्र और रहस्यपूर्ण घटना हुई। इस बात का तनिक भी अन्देशा नहीं था कि बातचीत असफलता की सीढ़ी तक पहुँच गई थी, बल्कि दूसरी ओर वातावरण काफ़ी आशामय प्रतीत हो रहा था। इधर भारत में तो यह परिस्थिति थी और उधर न्यूयार्क में क्या हो रहा था ? ७ अप्रैल की रात्रि को न्यूयार्क के टाउनहाल में भाषण देते हुए भारत के भूतपूर्व वाइसराय लार्ड इरविन और अमरीका के तत्कालीन ब्रिटिश राजदूत लार्ड हेलीफैक्स ने यह संभावना प्रकट करते हुए कि सम्भवतः भारतीय प्रवक्ता क्रिप्स प्रस्तावों को ठुकरा दें, कहा:—

"अगर हमारा प्रयत्न असफल रहा तो ब्रिटिश सरकार को बड़े-बड़े संगठित भारतीय दलों की सहायता अथवा सहयोग के बिना ही विवश होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ेगा। भारत के सबसे बड़े सुसंगठित राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के सहयोग से हम वंचित रहे हैं। कांग्रेस समस्त भारत का एक छोटा-सा भाग है और भारत के अन्य दल और संस्थाएँ, इसका यह एकमात्र दावा कि वह सारे भारत का प्रतिनिधित्व करती है, मानने को तैयार नहीं हैं।"

यह भाषण ७ अप्रैल को दिया गया और यह निश्चित है कि ऐसा भाषण देने के लिए लार्ड हेलीफैक्स को आवश्यक हिदायतें लन्दन से ही प्राप्त हुई होंगी। इससे दो बातें साफ़ ज़ाहिर हो जाती हैं। पहली बात तो यह है कि कांग्रेस-द्वारा क्रिप्स-प्रस्तावों को नामंजूर किये जाने की खबर समाचार-पत्रों में ७ अप्रैल को ही प्रकाशित हो जाती, पर कर्नल जॉनसन के हस्तक्षेप करने पर उसका प्रकाशन रोक दिया गया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लन्दन में ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स-योजना की असफलता को निश्चित समझ लिया था और इसकी सूचना उसने न्यूयार्क को भी दे दी। दूसरी बात यह है कि ब्रिटेन अमरीका को खुश करने की फिक्र में था। इसी उद्देश्य के लिए लार्ड हेलीफैक्स के उक्त भाषण की व्यवस्था भी की गई थी। इसलिए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि मूल क्रिप्स-योजना का असली मक़सद भी अमरीका के जनमत को संतुष्ट करना ही था।

चाहे युद्ध की परिस्थिति में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में कोई परिवर्तन हुआ हो अथवा कोई और वजह हुई हो लेकिन यह एक सचाई है कि १० अप्रैल की शाम को सर स्टैफर्ड क्रिप्स के रुख में पूर्ण परिवर्तन हो गया और वे इस बातचीत को बन्द कर देने के लिए व्यग्र और चिंतित-से दिखाई दिये। इधर इस बातचीत का खत्म होना था कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने विरोधी रुख अख्तियार कर लिया और वे कांग्रेस पर इलज़ाम-पर-इलज़ाम लगाते चले गए। १० अप्रैल की शाम को ज्यों ही कांग्रेस के प्रधान और पंडित नेहरू सर स्टैफर्ड क्रिप्स के यहां (३, क्वीन विक्टोरिया रोड) से वापस लौटे तो सर स्टैफर्ड क्रिप्स फौरन श्री जिन्ना की कोठी पर दौड़े गए। अगले दिन कार्यसमिति को उनकी तरफ से एक कटु पत्र मिला। जिसमें उन्होंने कांग्रेस पर यह दोष लगाया था कि वह अल्पसंख्यकों पर शासन करना चाहती है और उन्हें दबाकर रखना चाहती है। यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि उन्होंने ऐसा पत्र लिखा; क्योंकि कांग्रेस ने तो इस सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा था कि उसे या मुस्लिम लीग अथवा अन्य राजनीतिक दलों को कितने-कितने स्थान मिलने चाहिएं। न कभी कांग्रेस ने यही सुझाव पेश किया था कि प्रधान सेनापति के अलावा राष्ट्रीय सरकार के १४ सदस्यों में से उसे बहुमत दिया जाना चाहिये। इसलिए अगर इनमें से कांग्रेस को पांच या छः स्थान दिये भी जाएं तो भी उसका बहुमत केवल उसी हालत में हो सकेगा यदि किसी अल्पमत के प्रतिनिधि उसके साथ होंगे। इसलिए एक तरह से पांसा अल्पमतों के पक्ष में था। वे जिधर चाहते पलड़ा झुका सकते थे। इस प्रकार राष्ट्रीय सरकार की योजना बहुमत के शासन की योजना न होकर वास्तव में अल्पमत के शासन की योजना हो गई।

उसी रात को सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने दिल्ली रेडियो स्टेशन से एक ब्राडकास्ट किया जिसमें से उन्होंने कुछ ऐसे भद्दे वाक्य निकाल दिये थे जो उनके वक्तव्य की लिखित प्रति में मौजूद थे, और जिसे उन्होंने पहले ही प्रकाशनार्थ पत्रों को दे दिया था। बाद में पत्रों में उनका वह वक्तव्य ज्यों-का-त्यों प्रकाशित हुआ।

वह वक्तव्य इस प्रकार था :—

"ऐसा आलोचनात्मक और अरचनात्मक रुख तो आमतौर पर कचहरियों अथवा बाज़ारों में पाया जाता है और किसी समझौते पर पहुँचने का यह तरीका भी नहीं है। लेकिन यदि भारत को संसार में एक सुदृढ़ और स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपना उचित स्थान प्राप्त करना है तो उसे समझौता अवश्य करना चाहिये।"

उसी दिन सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने एक पत्र-प्रतिनिधि-सम्मेलन में घोषणा की कि ब्रिटेन की प्रस्तावित योजना को वापस ले लिया गया है और फिर वही स्थिति हो जाती है जो उनके भारत आने से पहले विद्यमान् थी। उन्होंने यह स्वीकार किया कि ये वार्तालाप और विचार-विनिमय हर पक्ष की ओर से बहुत स्पष्ट और मैत्रीपूर्ण ढंग से चलते रहे हैं। हर पक्ष ने दूसरे पक्ष की बात को स्वीकार किया है। यद्यपि इस समय हम एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, तथापि हमारे मतभेदों में कटुता अथवा विद्वेष की भावना नहीं है। ऐसे आकर्षक और मधुर शब्दोंवाले वक्तव्य के बाद शायद ही किसी को यह आशा हो सके कि वे झूठी और ग़लत धारणाओं के आधार पर कांग्रेस पर आक्रमणों की बौछार-सी लगा देंगे और हर मौके से लाभ उठाकर उसके विरुद्ध विष उगलेंगे।

लेकिन इंग्लैण्ड वापस पहुँचने पर सर स्टैफर्ड में कांग्रेस पर एक और दोष यह लगाया कि वह लड़ाई के दौरान में ही विधान में परिवर्तन करना चाहती है, यद्यपि इस दिशा में कभी कोई कोशिश नहीं की गई थी। हां, इतना ज़रूर था कि स्वयं सर स्टैफर्ड क्रिप्स के सुझाव पर यह बात मान ली गई थी कि पार्लमेण्ट में कुछ साधारण सा वैधानिक परिवर्तन करने का प्रस्ताव रखा जाएगा जिससे कि भारतीय विधान की यह कठिनाई दूर हो सके कि 'राष्ट्रीय सरकार के तीन सदस्यों ने कम-से-कम १० वर्ष तक सम्राट् की सरकार के अधीन कार्य किया हो।' आखिर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने ऐसा अनुमान कौन-से गलत और झूठे आधार पर लगाया। इसके अलावा उन्होंने कामन-सभा में भारत-विषयक एक बहस के दौरान में एक ऐसा वक्तव्य दिया, जिसमें उन्होंने कांग्रेस पर एक और मूर्खता करने का दोषारोपण किया जो नीचे लिखे वाक्य से साफ ज़ाहिर है –

"ऐसे अवसर पर भारत की रक्षा जैसे महत्वपूर्ण और तात्कालिक विषय के सम्बन्ध में किसी तरह का भी ख़तरा नहीं उठाया जा सकता।"

यह निःस्संदेह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स जैसे विवेकशील और प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति ने अपनी असफलता के लिए ऐसा बहाना ढूंढ़ा। दिल्ली में आप जितने दिन रहे, आपने एक बार भी यह नहीं बताया कि यदि रक्षा-विभाग भारतीयों के हाथों में दे दिया गया अथवा राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई जो अल्पसंख्यक उसे नहीं मानेंगे। न तो सिक्खों ने ही ऐसा कहा और न लीग की कार्यसमिति ने ऐसी कोई बात कही। उन्होंने अपने सार्वजनिक सुझावों अथवा समझौते की बातचीत के दौरान में इस किस्म की कोई बात नहीं कही। पार्लमेण्ट में यह सवाल पहली बार ही उठाया गया और यह और भी आश्चर्यजनक था कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स की कोटि के उच्च और प्रतिष्ठित व्यक्ति को भी इस अवसर पर विशेष रूप से नयी युक्तियां गढ़नी पड़ीं, क्योंकि उनके पास युक्तियों और तर्क का एक तरह से अभाव हो गया था।

तब संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के ये प्रस्ताव अगस्त १६४० के प्रस्तावों का ही एक परिवर्द्धित संस्करणमात्र थे। हम इसे यों भी कह सकते हैं कि ये प्रस्ताव ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के निर्जीव और मृत शिशु के समान थे। और सर स्टैफर्ड क्रिप्स नयी दिल्ली में बीस दिन तक इस प्राणहीन शिशु में कृत्रिम उपायों से जीवन-संचार करने की चेष्टा करते रहे। उसमें जीवन फूंकने की उन्होंने लाख कोशिश की; पर सब बेकार गया। बीच-बीच में कभी उसमें थोड़ा स्पन्दन और गति का अनुभव होने लगता। परन्तु कांग्रेस कार्यसमिति ने ३१ मार्च, १६४२ को इस शिशु के मरने की घोषणा करदी थी—अर्थात् इन प्रस्तावों के प्रकाशित होने से

पहले ही उसने उनकी असफलता की घोषणा करदी थी। केवल सर स्टैफर्ड क्रिप्स के अनुरोध और निवेदन करने पर ही उसने अपनी ओर से इनके ठुकराए जाने का समाचार प्रकाशित नहीं होने दिया। इसके बाद उसे अनेक तरह की छोटी-मोटी रिआयतें देकर फुसलाने की कोशिश की गई। लेकिन इसका परिणाम जले पर नमक छिड़कने-जैसा ही हुआ। दरअसल ईमानदारी से गलती को सुधारने की कोशिश ही नहीं की गई। ८ अप्रैल तक यही स्थिति रही। उसके बाद उन्हें फिर नामंजूर कर दिया गया और अब उनकी सफलता की कोई आशा न रही। उस शिशु के पुनर्जीवित होने को सब आशाओं पर पानी फिर गया। लेकिन इसी बीच एक अमरीकी डाक्टर कर्नल जॉनसन आ गया। पहले डाक्टर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने उससे इस शिशु के बारे में सलाह-मशविरा किया। परन्तु इस नये डाक्टर का नुसखा भी बेकार रहा और अन्त में ११ अप्रैल को इस शिशु को ज़मीन में गाड़ दिया गया—अर्थात् ११ अप्रैल को क्रिप्स-प्रस्तावों के अन्तिम रूप से असफल हो जाने की घोषणा कर दी गई।

क्रिप्स की वापिसी के एक महीने बाद १२ मई की ईस्ट इंडिया एसोसियेशन के सम्मुख भाषण करते हुए सर अल्फ्रेड वाटसन ने कहा, "ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल ने भारतीय समस्या को हल करने में जल्दी-बाजी से काम लेकर निरन्तर गलतियां ही कीं। किसी प्रान्त या रियासत को संघ से अलग हो जाने का अधिकार देना एक गलत कदम था।" आगे आपने कहा कि, "कांग्रेस ने समझौते की अपनी शर्तें पेश करके यह साबित करने की कोशिश की है कि ब्रिटिश सरकार ने उसकी राष्ट्रीय मांगें ठुकराकर भूल की है। उसने सारा दोष ब्रिटिश सरकार के माथे मढ़ने की चेष्टा की है।"

सर स्टैफर्ड क्रिप्स स्वयं कभी गंभीर बनने की कोशिश करते और कभी विदूषक-जैसा अभिनय करते। ऐसी अवस्था में कर्नल जॉनसन का रंगमंच पर अभिनय केवल दर्शकों का ध्यान सर स्टैफर्ड क्रिप्स के अभिनय से हटाकर उनका मन-बहलाव करने का ही था। इलाहाबाद में अखिल भारतीय महासमिति की बैठक के थोड़ी देर बाद ही पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कर्नल जॉनसन से मुलाकात की और इसके बाद ही यह घोषणा की गई कि राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के दूतको १६ मई को आवश्यक कार्य से अमरीका जाना पड़ रहा है। इन सम्बन्ध में स्वयं कर्नल जॉनसन ने एक वक्तव्य में बताया कि "मैं राष्ट्रपति रूजवेल्ट से परामर्श करने जा रहा हूँ।" आगे आपने कहा, "मैं बड़ी उत्सुकतापूर्वक निकट-भविष्य में ही भारत लौटने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जिससे कि हम समान शत्रु के विरुद्ध अपने समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनी कोशिशें जारी रख सकें।" यह संभव है कि कर्नल जॉनसन को अमरीका, सर स्टैफर्ड क्रिप्स के इंग्लैण्ड लौटने पर भारत में उनके प्राइवेट सेक्रेटरी श्री सप्राई की प्रधान रूजवेल्ट से विशेष मुलाकात के परिणामस्वरूप ही बुलाया गया हो, क्योंकि कर्नल जॉनसन ने कहा था कि एक दिन आप लोगों को क्रिप्स-प्रस्तावों पर जॉनसन-टीका भी पढ़ने को मिलेगी।

क्रिप्स बनाम मिलनर

क्रिप्स के असफल होकर इंग्लैण्ड वापस जाने के बाद एक दिलचस्प बात यह पैदा हो गई कि क्या उनके प्रस्ताव अभी तक कायम थे और क्या ब्रिटेन की ओर से ये कम-से-कम शर्तें थीं, जिन पर भारत उसके साथ कोई सौदा पटा सकता था। इस सम्बन्ध में, १९१९ में लार्ड मिलनर के मिस्री मिशन का स्मरण हो आता है। इस मिशन का मिस्र ने बड़ी सफलतापूर्वक बहिष्कार कर दिया था। हां, इसका एक परिणाम यह हुआ कि इस मिशन ने मिस्र की आजादी की

मांग को पूरा करने और उसे ब्रिटेन का संरक्षित देश न रहने देने के सम्बन्ध में कुछ निर्णय अवश्य कर लिए (हालांकि मिशन के सम्मुख विचारणीय विषयों में मिस्र के ब्रिटेन के एक संरक्षित देश ही बने रहने की बात कही गई थी)। इनमें से एक निर्णय यह किया गया था कि अर्थ और न्याय-विभाग को छोड़कर बाकी के सब विभाग, जिनमें पर-राष्ट्र विभाग भी शामिल था, मिस्रियों को सौंप दिये जाएं। आजादी का यह कितना विचित्र और अनोखा स्वरूप था। ब्रिटेन ने अपना यह निर्णय श्री जगलुल पाशा को उनकी स्वीकृति लिए बिना ही बता दिया और यह कह दिया कि समझौते के लिए ये हमारी न्यूनतम शर्तें हैं। जहां तक भारत का प्रश्न है, सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने भी अपने ये प्रस्ताव ११ अप्रैल को वापस ले लिए थे और १२ अप्रैल को वे इंग्लैण्ड लौट गए। फिर भी श्री चर्चिल और श्री एमरी बार-बार यही घोषणा करते रहे कि ये प्रस्ताव ज्यों-के-त्यों कायम हैं और उनमें किसी किस्म का परिवर्तन नहीं किया गया। परन्तु लार्ड वेवल ने १७ फरवरी, १९४४ के अपने भाषण और गांधीजी के नाम अपने १७ अगस्त, १९४४ के पत्र में इनमें संशोधन करते हुए यह अनुरोध किया था कि देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से पहले भारत के प्रमुख वर्गों में भावी विधान तैयार करने के तरीके के सम्बन्ध में कोई समझौता होजाना आवश्यक है।

लुई फिशर ने क्रिप्स-मिशन के सम्बन्ध में कुछ बड़े दिलचस्प रहस्यों का उद्‌घाटन करते हुए न्यूयार्क के 'नेशन' में २६ सितम्बर, १९४२ को अपने एक लेख में इस प्रकार लिखा—

"क्रिप्स ने भारत में अपने कुछ कर्मचारियों और अन्य लोगों को भी यह बताया कि मैंने इंग्लैण्ड से रवाना होने से पहले ही श्री विंस्टन चर्चिल से आग्रह किया था कि वे वाइसराय को हटादें। प्रत्यक्ष था कि उन्होंने पहले से ही यह भांप लिया था कि वाइसराय की तरफ से उनके मार्ग में कठिनाइयां पैदा की जाएंगी। क्रिप्स के कथनानुसार श्री चर्चिल ने इसका यह उत्तर दिया कि ऐसा कोई कदम उठाना बड़ा असुविधाजनक और कष्टकर होगा। इसके अलावा प्रधान मंत्री श्री चर्चिल ने उन्हें यह आश्वासन भी दिया कि यद्यपि वाइसराय समझौते की बातचीत के मार्ग में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे; लेकिन रक्षा के प्रश्न पर अन्तिम फैसला लार्ड वेवल ही करेंगे। परन्तु क्रिप्स का यह कहना था कि मुझे भारत में वास्तविक मंत्रि-मण्डल के आधार पर सरकार कायम करने का पूरा हक है; परन्तु बाद में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को लन्दन से जो नयी हिदायतें मिलीं उनके अनुसार उनसे यह विशेषाधिकार वापस ले लिया गया। सर स्टैफर्ड क्रिप्स को साफ तौर पर और असंदिग्ध शब्दों में यह बता दिया गया कि जबतक उन्हें वाइसराय और लार्ड वेवल की स्वीकृति न मिल जाए तबतक वे ब्रिटिश सरकार की घोषणा के मसविदे की शर्तों के बाहर नहीं जा सकते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्रिप्स-मिशन किस आधार पर और क्योंकर असफल रहा। उसी सायंकाल क्रिप्स ने यह भी कहा कि मेरे शत्रुओं ने मुझे परास्त कर दिया है।

"इस पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने अपना बिस्तरा-बोरिया बांध लिया। फिर भी परिस्थिति को सुधारने की एक और कोशिश की गई। फरवरी, १९४२ में जापान सुदूर-पूर्व में निरन्तर आगे बढ़ता चला जा रहा था। उसे ध्यान में रखते हुए राष्ट्रपति रूजवेल्ट की भारतीय समस्या में दिलचस्पी बढ़ती गई और जब आखिर में ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल ने क्रिप्स-मिशन को भारत में भेजने का फैसला किया तो उन्होंने भारतीय समस्या को हल करने के लिए श्री चर्चिल के पास एक प्रस्ताव भेजा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट भारत में इस मिशन की गतिविधि को

निरन्तर देखते रहे और जब ९ अप्रैल को इन्हें उसके असफल होजाने की सूचना मिली तो आपने श्री चर्चिल से क्रिप्स को भारत में ही कुछ समय तक और टिके रहने और फिर से बातचीत शुरू करने की सलाह दी । परन्तु वे नहीं रुके ।

१४ नवम्बर, १९४२ को न्यूयार्क के 'नेशन' में श्री ग्राहम सप्राई ने अपने एक लेख में इस बात से इन्कार किया कि श्री क्रिप्स ने इस तरह का कोई वायदा किया था । इसका जवाब देते हुए लुई फिशरने लिखा कि "क्रिप्स ने अपना वायदा इसलिए वापस नहीं लिया कि उन्होंने यह वायदा ईमानदारी और सचाई के साथ नहीं किया था बल्कि इसलिए कि उससे मतभेद रखनेवाले अंग्रेजों ने उनकी पीठ में छुरा भोंक दिया था ।"

संधि

ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के साथ स्वतंत्र भारत के सम्बन्ध किस तरह के होंगे इस सम्बन्ध में प्रोफेसर कूपलैंड ने स्पष्ट रूप से प्रकाश डालते हुए कहा :—

"परन्तु भारत की स्थिति अन्य स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों से भिन्न है । उसकी भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की है कि हमें शान्तिकाल में भी वहां अंग्रेजी सेनाएं रखनी पड़ेंगी और एक संयुक्त रक्षा-व्यवस्था के रूप में भारतीय सेनाओं के साथ उनका सम्बन्ध कायम रखना पड़ेगा ।"

साफ जाहिर है कि दोनों सम्बद्ध सरकारों के मध्य होनेवाली संधि का आधारभूत विषय यही होगा । १९४२ की घोषणा के मसविदे में इस तरह की एक संधि की बात कही गई है । यह भी बताया गया है कि इस संधि में वे सभी विषय शामिल होंगे जो ब्रिटेन-द्वारा भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित करने के परिणामस्वरूप पैदा होंगे । और सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने दिल्ली में अपने एक पत्र-प्रतिनिधि-सम्मेलन में कहा था कि भारत की रक्षा-व्यवस्था में ब्रिटेन की सहायता भी इनमें से एक विषय होगा । उन्होंने कहा था कि "नये भारतीय संघ अथवा संघों की मर्जी और आग्रह के बिना इस देश में कोई शाही सेना नहीं रहेगी ।" इस तरह की व्यवस्था के हमारे सामने और भी उदाहरण हैं । १९२१ के स्मट्स-चर्चिल समझौते के अनुसार दक्षिण अफ्रीका के समस्त तटीय प्रदेश की रक्षा की ज़िम्मेदारी यद्यपि दक्षिण अफ्रीका की यूनियन के ऊपर है, फिर भी साइमन स्टौम के बन्दरगाह को एक नौसैनिक अड्डे के रूप में इस्तेमाल करने और वहां अपना एक नौसैनिक बंदरगाह कायम रखने का अधिकार ब्रिटिश सरकार को दिया गया है । १९२१ की ऐंग्लो-आयरिश संधि की ७ वीं धारा के अनुसार जो बाद में १९३८ में रद करदी गई, कुछ निर्धारित बन्दरगाहों की रक्षा की ज़िम्मेदारी ब्रिटेन को ही सौंप दी गई थी और यह भी कहा गया था कि तटीय प्रदेश की रक्षा के लिए हवाई सुविधाओं की व्यवस्था और तेल का भंडार जमा रखने की ज़िम्मेदारी भी ब्रिटेन की होगी । १९४१ में न्यूफाउंडलैंड, ब्रिटिश पश्चिमी द्वीप-समूह और ब्रिटिश गायना के बचाव के अड्डे अमरीका को पट्टे पर देने के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ था । इसी प्रकार जब मिस्र ब्रिटेन के पंजे से छुटकारा पाने पर एक पूर्ण स्वाधीन राष्ट्र बना तो "ब्रिटेन और मिस्र की संधि" की ८ वीं धारा के अनुसार स्वेज नहर की रक्षा की ज़िम्मेदारी ब्रिटेन को दी गई और इसके लिए उसे मिस्र में अपनी सेनाएं रखने का अधिकार भी दिया गया ।

विधान-निर्मात्री परिषद्

आगे चलकर विधान-निर्मात्री परिषद् के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए प्रोफेसर कूपलैंड ने लिखा है—

इस सम्बन्ध में सर स्टैफर्ड क्रिप्स के प्रस्तावों के अनुसार एक ऐसी विधान-परिषद् की कल्पना की गई थी जिसमें कुल मिलाकर २०७ सदस्य होंगे। इनमें से १८९ ब्रिटिश भारत के और ४१ रियासतों के। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रान्तों की निम्न धाराओं के संपूर्ण सदस्य मिलकर एक निर्वाचक-मंडल की हैसियत से और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर करेंगे। यह चुनाव एकांकी हस्तान्तरण मतदान पद्धति के आधार पर किया जाएगा। परन्तु यदि हम इतिहास को उठाकर देखें तो हमें पता चलेगा कि अन्य देशों की विधान-परिषदों के मुकाबले में २०७ सदस्यों की यह संख्या बहुत ही कम है। भारत के संघ-न्यायालय के भूतपूर्व प्रधान विचारपति सर मौरिस ग्वायर ने बताया है कि १७८९ में क्रान्तिकारी फ्रांस की विधान-परिषद् में ९०० सदस्य थे और इसी प्रकार फ्रांस की १८४८ की विधान-परिषद् में भी लगभग इतने ही सदस्य थे। परन्तु इनका परिणाम केवल युद्ध ही निकला था और फ्रांस में काफी समय तक शान्ति स्थापित नहीं हो सकी थी। इसी तरह से १८४८ में जर्मनी की राष्ट्रीय परिषद् में ५०० सदस्य थे, पर वह भी असफल रही थी। १९१९ में वीमर प्रजातंत्र की परिषद् में ४२० सदस्य थे, परन्तु वह भी असफल रही। १९१७ की रूसी विधान-परिषद् का केवल एक ही अधिवेशन हो सका। इसके विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि जिन देशों में विधान-निर्माण का कार्य सफल रहा उसकी वजह यह थी कि उनकी विधान-निर्मात्री संस्थाओं में थोड़े सदस्य थे। उदाहरण के तौर पर फिलैडेलफिया का विधान लगभग ३० सदस्यों ने बनाया था और शार्लोट और क्वेबेक के विधान-सम्मेलन में क्रमशः २२ और २३ प्रतिनिधियों ने ही भाग लिया। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका, कैनाडा और रूस का विधान तैयार करनेवाली संस्थाओं में क्रमशः ५०, ३० और ३१ सदस्य ही थे।

यह भी बताया गया है कि अमरीका, कैनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका की विधान-परिषदों के सदस्य अपने प्रान्तों और रियासतों के प्रतिनिधि के रूप में उनमें शामिल हुए थे। इसलिए प्रोफेसर कूपलैण्ड ने यह सिफारिश की कि सारे भारत को ही एक निर्वाचक-मंडल न मानकर प्रत्येक प्रान्तीय धारा-सभा को ही एक इकाई मान लिया जाय।

आगे चलकर प्रोफेसर कूपलैण्ड ने बताया है कि किस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका की यूनियन के विधान की स्वीकृति केप कॉलोनी (अन्तरीप-उपनिवेश), ट्रांसवाल और ओरेंज रिवर फ्री स्टेट की धारासभाओं और नेटाल के जनमत द्वारा दी गई थी। इसी प्रकार विभिन्न रियासतों की धारा-सभाओं में सोच-विचार किये जाने के बाद आस्ट्रेलिया के विधान के मसविदे में बाद में वहां की विधान-परिषद् ने संशोधन किये और उसके बाद प्रत्येक रियासत में उस पर लोकमत की स्वीकृति ली गई। जहां तक विधान-परिषद् के सदस्यों की संख्या का सवाल है, हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इसका मुख्य कार्य तो छोटी-छोटी समितियों द्वारा ही किया जायगा जैसा कि भारत की समस्या के सम्बन्ध में १९३०-३१-३२ की गोलमेज परिषदों के अवसर पर लन्दन में हुआ था। बाद में इन समितियों के फैसले स्वीकृति के लिए पूर्ण अधिवेशन के सामने पेश किये गए थे। संसार में सभी जगह इसी कार्यपद्धति पर अमल किया जाता है। १७८९ और १८४८ में फ्रांस तथा १९१७ में रूस की विधान-परिषदों के असफल होने की वजह उनके सदस्यों की बड़ी संख्या न होकर उन देशों की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां ही थीं।

हमारे पास भूतकाल के ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जबकि ब्रिटिश सरकार ने फ्रांस से प्राप्त किये हुए प्रदेशों में कैथोलिक मतावलंबियों की आजादी अक्षुण्ण बनाए रखने की कोशिश

की है और इसी तरह से १७७४ के क्वेबेक के विधान में भी ब्रिटिश पार्लमेंयट ने इसी बात की कोशिश की। लेकिन बाद में १८६७ के कानून के अन्तर्गत ब्रिटेन को इस दायित्व से मुक्त कर दिया गया।

संधि के एक पहलू पर प्रोफेसर कूपलैंड ने बड़ी रोचक टिप्पणी करते हुए लिखा है :

"१९४२ की भारत-विषयक घोषणा के मसविदे में जातीय और धार्मिक अल्पमतों की रक्षा करने के लिए जिस एंग्लो-भारतीय-संधि की व्यवस्था का प्रस्ताव किया गया है वह असन्तोषजनक है और उसपर फिर से सोच-विचार किया जाना चाहिए।" परन्तु राष्ट्रवादी भारत एक और केवल एक ही शर्त पर अपने आन्तरिक मामलों में खासकर अल्पमतों के संरक्षण के सम्बन्ध में किसी बाहरी हस्तक्षेप को मानने को तैयार था और यह शर्त थी किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की। उसके लिए यह संभव नहीं था कि वह अपने यहाँ तो अल्पसंख्यकों के लिए अपने ऊपर खास जिम्मेदारियाँ ले ले, लेकिन और दूसरे देश जहाँ अल्पमतों की ऐसी ही समस्याएँ हों, अपने ऊपर उनके सम्बन्ध में किसी किस्म की भी जिम्मेदारी न लें। उदाहरण के तौर पर अगर ब्रिटेन उत्तरी आयरलैण्ड के कैथोलिक अल्पमत और अमरीका के हब्शियों के सम्बन्ध में तथा दक्षिणी अफ्रीका बान बातु निवासियों के संरक्षण का आश्वासन देने को तैयार हो और इस सम्बन्ध में किसी स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के कायदे और कानूनों का पालन करने का वायदा करे तो भारत भी इस संस्था में दूसरे राष्ट्रों की तरह समानता के आधार पर शरीक होने को तैयार है। लेकिन यह व्यवस्था भी व्यावहारिक राजनीति नहीं कही जा सकती। अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण की कोई निश्चित और व्यावहारिक व्यवस्था तो विधान के अन्तर्गत ही उनके लिए विशेष संरक्षणों की व्यवस्था करना है।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने जिस धूमधाम से भारत में समझौते की बातचीत की थी उसका वर्णन स्वयं उनके ही एक देशवासी प्रोफेसर लास्की के शब्दों में नीचे दिया जाता है:—

"ब्रिटेन के भारत-विषयक संपूर्ण इतिहास में केवल एक ही उल्लेखनीय और उज्ज्वल कारनामा देखने में आया—अर्थात् सर स्टैफर्ड क्रिप्स का मिशन। और इसके लिए हमें श्री एटली का काफी आभार मानना चाहिए। परन्तु यह काम बहुत देर से किया गया। बहुत से प्रमुख भारतीयों की राय है कि ब्रिटेन की इस कार्रवाई का वास्तविक उद्देश्य भारतीय दावों की स्वीकृति न होकर जापानियों के खिलाफ एक चाल थी, और इस काम में बड़ी जल्दबाजी दिखाई गयी। चाहिए तो यह था कि जब तक भारत में एकता न स्थापित हो जाती तब तक सर स्टैफर्ड क्रिप्स वहीं रहकर इसकी कोशिश करते रहते। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सर स्टैफर्ड क्रिप्स के लिए भारत में यह रुख अख्तयार करके कि 'या तो आप इन प्रस्तावों को स्वीकार कीजिए अथवा ठुकरा दीजिए' वहाँ से वापस आकर यह घोषणा करना कि हमने उन प्रस्तावों को वापस ले लिया है—खतरनाक और घातक था। उससे यह खयाल पैदा हो जाना सर्वथा अनिवार्य था कि हमारा असली मकसद भारत की आजादी न होकर केवल अपने सहयोगी राष्ट्रों में यह प्रचार करना था कि हम भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए उत्सुक हैं, क्योंकि हमारे दोस्त और सहयोगी राष्ट्र फिलिपाइंस के साथ अमरीका के सम्बन्धों की भारत के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धों से तुलना कर रहे थे।"

: १४ :

बम्बई प्रस्ताव—पृष्ठभूमि और परिणाम

सर स्टैफर्ड भारत आये और असफल होकर इंग्लैण्ड वापस लौट गये। भारत के सभी प्रमुख दलों और सार्वजनिक संस्थाओं ने क्रिप्स-प्रस्तावों को नामंजूर कर दिया था। परन्तु प्रत्येक की वजह अलग-अलग थी। यह स्थिति बिलकुल साइमन-कमीशन-जैसी थी। उस समय भी १९२७-२९ में विभिन्न दलों और सार्वजनिक संस्थाओं ने अलग-अलग वजहों से उसका बहिष्कार किया था। कांग्रेस-द्वारा क्रिप्स-प्रस्तावों को नामंजूर किये जाने की मुख्य वजह यह थी कि उनके अनुसार शासन-परिषद् धारासभा के प्रति जिम्मेदार नहीं थी। इसके अलावा ऐसा करने के दूसरे और गौण कारण ये थे—एक तो प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग हो जाने की आज्ञा दे दी गयी थी। दूसरे भारतीय रियासतों की जनता को इस योजना के अन्तर्गत कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। उसके लिए उसमें कोई गुंजाइश नहीं थी। तीसरे, रक्षा और युद्ध-विभागों को सुरक्षित विषय मानकर उन्हें भारतीयों को देने से इन्कार कर दिया गया था। उधर दूसरी ओर मुस्लिम लीग की स्थिति यह थी कि वह इस योजना को केवल उस हालत में स्वीकार करने को राजी थी अगर कांग्रेस भी उसे स्वीकार कर लेती। उसने इन प्रस्तावों को इस वजह से नामंजूर कर दिया कि उनके अनुसार प्रान्तों को संघ से अलग होने का पूरा और साफ-साफ शब्दों में कोई अधिकार नहीं दिया गया था और न ही उनसे पाकिस्तान की माँग ही पूरी होती थी। हिन्दू महासभा ने इन्हें इसलिए अस्वीकार कर दिया कि इनमें भारत के विभाजन की गुँजाइश रखी गई थी, हालाँकि इस बात की बड़ी अस्पष्ट-सी संभावना थी। दलित वर्ग का यह कहना था कि हमें काफी संरक्षण नहीं दिये गये। भारतीय ईसाइयों और मजदूरों ने इन्हें उसी बिना पर नामंजूर कर दिया जिस पर कांग्रेस ने किया था। सिर्फ रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ही एक ऐसा दल था जिसने इन्हें स्वीकार किया। रियासतों को इनसे कोई सरोकार नहीं था; क्योंकि चाहे वे भारतीय संघ में शामिल होतीं या न होतीं; उनके लिए तो नयी परिस्थिति में अपने संधिजन्य अधिकारों में संशोधन करना ही था। रही रियासतों की जनता। उसके लिए इनमें कोई गुंजाइश नहीं थी। इसलिए वह इनकी ओर देखना भी नहीं चाहती थी।

क्रिप्स-मिशन की असफलता की प्रतिक्रिया इतनी जोरदार और व्यापक रूप में हुई थी कि लोग यह शक करने लगे कि क्या वास्तव में बेचारे क्रिप्स की पीठ में ब्रिटिश सरकार ने छुरा भोंक दिया है अथवा डीक्वेंसी के शब्दों में चालाक क्रिप्स "महज धोखेबाजी, छल-कपट, विश्वासघात

और दुहरी चालों से काम ले रहे थे और उन्हें इस पर जरा भी पश्चात्ताप नहीं था !" परन्तु इस सम्बन्ध में इतना कहना ही काफी होगा कि उनके अभिनय को देखकर कांग्रेस में उनका निकटतम और घनिष्ट मित्र तथा जिस पर वे यह नाज कर रहे थे कि उसके जरिये वे अपने राजनीतिक उद्देश्य में सफल हो जाएंगे, उससे कोसों दूर चला गया। उनके मित्र को आखिर विवश होकर यह कहना पड़ा कि "मुझे यह देखकर बड़ा दुःख हो रहा है कि क्रिप्स-जैसा व्यक्ति भी शैतान का ही साथ दे रहा है।" भारत से लन्दन लौटकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने अमरीका के नाम जो भाषण ब्राडकास्ट किया उसकी बड़ी जोरदार प्रतिक्रिया हुई। इस भाषण में क्रिप्स ने कहा, "हमने प्रतिनिधित्वपूर्ण भारतीय राजनीतिक नेताओं को तत्काल वाइसराय की शासन-परिषद् में ऐसा प्रतिनिधित्व देने का प्रस्ताव किया जैसा कि आपके उन मंत्रियों को प्राप्त है जो आप (अमरीका) के राष्ट्रपति को परामर्श देते हैं।" क्या वास्तव में यह सच था ? क्या यह सरासर झूठ नहीं था ? क्या यह एक बिल्कुल गलत परिभाषा नहीं थी ? लेकिन उन्हें इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उन्होंने यह भी कहा कि कांग्रेस अल्पसंख्यकों पर छा जाना चाहती है। वह उन्हें आलोकित करना चाहती है। कांग्रेस के एक प्रतिनिधि ने ही कर्नल जानसन से इस मामले में हस्तक्षेप करने को कहा। कांग्रेस ने गांधीजी के इशारे पर ही इन प्रस्तावों को ठुकराया। गांधीजी ने इन प्रस्तावों को एक दिवालिए बैंक की गैर-मियादी हुंडी कहा। इस के अलावा आपने इस बात से भी साफ इन्कार कर दिया कि मैंने समझौते की बातचीत के दौरान में "मंत्रिमण्डल" शब्द का प्रयोग किया है। आपने कहा कि मैंने तो इसे यों ही इस्तेमाल किया था। मेरा मतलब इसके असली मानों से नहीं था। उन्होंने इतनी झूठी और गलत बातें कहीं कि उनसे उनका ही नुकसान हुआ और उनके भूतपूर्व मित्र तथा अभिभावक और समर्थक उनके पक्के दुश्मन बन गए। राजनीतिज्ञों, पत्रकारों, लेखकों और प्रचारकों ने इन्हीं असत्य और बेबुनियादी बातों को लेकर झूठा प्रचार करना शुरू कर दिया। उन्होंने अन्ध महासागर से लेकर प्रशान्त महासागर, यूरोप से लेकर अमरीका, पार्लमेण्ट से लेकर अमरीकी कांग्रेस और सार्वजनिक रंगमंचों से लेकर गिरजाघरों तक इन्हीं झूठी और निराधार बातों का प्रचार करने का बीड़ा उठा लिया। राजनीतिज्ञों ने इनकी नकल कर ली, और पादरियों तथा लाट पादरियों ने इन्हीं बातों को अपना धर्मोपदेश बनाकर लोगों तक पहुंचाना शुरू कर दिया। आइये, अब हम जरा श्री बर्नार्ड शा के विचारों का भी विवेचन करके देखें कि इस प्रकार की असत्य बातों के सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं:—

"आजकल जब कोई झूठी बात सार्वजनिक रूप धारण कर लेती है तो उस पर काबू पाना मुश्किल होजाता है। चाहे कितने ही अधिकृत रूप से उसका खण्डन करने की चेष्टा की जाय फिर भी अनजान लोग उसपर यकीन किये जाते हैं और पत्रकार एक-दूसरे की तबतक नकल करते रहते हैं जब तक कि वे यह फैसला नहीं कर लेते कि अब उस पर यकीन करने की जरूरत नहीं रही। अगर मैं उन असत्य बातों का खयाल करूँ जो मैं अपने बचपन से लेकर अब तक सुनता आ रहा हूं और जिनका खण्डन भी हो चुका है तो मैं यह कह सकता हूं कि ऐसी झूठी बातें प्रायः आसानी से डेढ़ शताब्दी तक जारी रह सकती हैं।

"जब महारानी विक्टोरिया गद्दी पर बैठीं तो लार्ड मेल्बोर्न उनका पथ-प्रदर्शन किया करते थे। कहते हैं कि एक बार उन्होंने मंत्रिमण्डल की बैठक में कहा था कि 'मुझे इस बात की परवाह नहीं कि हमें कितना निन्दनीय और घृणित झूठ कहना होगा, लेकिन आप में से तब तक कोई भी व्यक्ति इस कमरे से बाहर नहीं जा सकता जब तक कि हम सब इस पर राजी न होजाएं कि हमें

समान झूठ ही कहना है और उसी पर जोर देना है।' चाहे यह कहानी सच्ची हो या झूठी, परन्तु अत्यधिक ईमानदार राजनीतिज्ञ का भी शासन-प्रबन्ध चलाने के लिए लोगों से कहना पड़ता है कि उनके लिए किस बात पर यकीन करना हितकारक है और फिर चाहे वह बात सच हो या झूठ। अगर अगले सप्ताह ही वह बात झूठ साबित हो जाय तो इंग्लैण्ड में उसका कोई असर या प्रतिक्रिया न होगी; क्योंकि ब्रिटेन के लोग किसी राजनीतिक भाषण को केवल उतनी अवधि तक ही याद रखते हैं जितनी कि प्रातः और सायंकाल की प्रकाशित होने वाले समाचारपत्रों के दरमियान रहती है।"

परन्तु गांधीजी न तो कोई राजनीतिज्ञ अथवा पत्रकार और न कोई गिरे हुए राजनीतिज्ञ अथवा चालाक प्रचारक थे। वे तो एक पैगम्बर और दार्शनिक तथा एक अनीति की राह पर चलनेवाले समाज में नैतिक आदर्श के व्यक्ति थे। उनका सिद्धान्त असत्य का मुकाबला सत्य और अन्धकार का मुकाबला प्रकाश तथा मृत्यु पर जीवन द्वारा विजय पाने का था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि "जब तक समाज में शक्ति का बँटवारा अनुचित अनुपात में रहेगा तब तक सामाजिक संघर्ष चलता रहेगा और समाज के सभी लोगों के साथ न्याय नहीं हो सकेगा।" उनका अन्तिम उद्देश्य इस प्रकार के "राजनीतिक साधनों का पता लगाना था जिनसे समाज के लिए एक आध्यात्मिक तथा सामाजिक आदर्श की प्राप्ति हो सके।" इसलिए उन्होंने अप्रैल, १९४२ के अन्त में अपना आन्दोलन शुरू कर दिया। "भारत के लिए चाहे इसका कैसा भी परिणाम क्यों न हो, उसकी और ब्रिटेन की भी वास्तविक सुरक्षा इसी में है कि अंग्रेज व्यवस्थापूर्वक और समय रहते भारत से चले जाएँ।" "संसार की सभी बुराइयों की जड़ में शक्ति का अनुचित अनुपात में जो बँटवारा दिखाई देता है उसे दूर करने का यही एक तरीका है। यह कोई पहला मौका नहीं था जब कि गांधीजी ने अंग्रेज़ों से भारत को छोड़कर चले जाने को कहा हो। २२ अप्रैल, १९४१ में श्री एमरी ने कामन-सभा के सामने अपने एक भाषण में इस बात पर ज़ोर दिया था कि भारत के राजनीतिक दलों को आपस में कोई समझौता कर लेना चाहिये। श्री एमरी के इस उत्तेजनापूर्ण भाषण का प्रत्युत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा था, "आखिर ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ यह बात क्यों नहीं मान लेते कि यह भारत का घरेलू मामला है ? वे भारत से एक बार हट जाएं, मैं वायदा करता हूं कि कांग्रेस, लीग और देश के दूसरे सभी दल तब यह अनुभव करने लगेंगे कि सब का भला इसी में है कि हम सब आपस में मिल जाएँ।" गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि "ब्रिटेन के इस देश में बने रहने से जापानियों को भारत पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन मिलता है।" "मुझे यक़ीन हो गया है कि अब वह वक्त आ गया है जब अंग्रेज़ों और भारतीयों को एक-दूसरे से सर्वथा किनारा कर लेना चाहिये।" "अगर वास्तव में अंग्रेज़ भारत से तत्काल और व्यवस्थितरूप में, पूर्णतः हट जाएं तो उससे मित्रराष्ट्रों का लक्ष्य एकदम पूर्ण नैतिक आधार पर अधिष्ठित हो जाएगा।"

"ब्रिटेन की सफलता की पहली कसौटी अपनी गलती को सुधारना है।"

"प्रत्येक ब्रिटेनवासी से मेरी प्रार्थना है कि वह मेरी इस अपील का समर्थन करे कि अंग्रेज़ एशिया और अफ्रीका के हर हिस्से से इसी घड़ी हट जायँ।"

"और अगर नैतिक पहलू को भी तराजू के एक पलड़े पर रख दिया जाय तो ब्रिटेन का, हिन्दुस्तान का और दुनियां का इसमें नफा-ही-नफा है।"

"हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का नहीं, अंग्रेज़ों का है। उसका 'अंग्रेज़ी मिल्कियत' के

तौर पर वर्णन भी किया गया है। सच तो यह है कि विजेता को किसी रूप में भी दी गई मदद सच्चे अर्थों में 'स्वेच्छापूर्ण' नहीं कही जा सकती।"

"अगर इस व्यापक अविश्वास और असत्य का हम अपनी सारी आत्मा से विरोध नहीं करेंगे, तो वह हमारे जीवन मात्र को निकम्मा बना देगा।"

"हम पर अंग्रेज़ों का जो अप्राकृतिक प्रभुत्व चल रहा है, उसको शान्त और अहिंसक रीति से समाप्त करने के लिए और नूतन-युग की स्थापना के लिए मेरी यह प्रार्थना है।"

"हिन्दुस्तान को भगवान् के भरोसे छोड़ जाओ। अगर इतनी श्रद्धा न हो तो उसे अराजकता के हाथों सौंप जाओ।"

"अंग्रेज़ों से मैंने हिन्दुस्तान छोड़ देने की बात कही है, उसकी खरी खूबी और ज़रूरत इसी में है कि यह काम फौरन हो, यानी अंग्रेज़ जल्दी-से-जल्दी यहां से चले जायँ।"

आगे चलकर गांधीजी ने इस बात को स्पष्ट किया कि किस प्रकार हमें जापानियों का विशुद्ध अहिंसात्मक असहयोग के आधार पर विरोध करना चाहिये और उन्होंने लोगों को सलाह दी कि उन्हें किसी भी तरीके से जापानियों की मदद नहीं करनी चाहिये। उन्हें जापानियों के प्रति किसी प्रकार से दयालुतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये बल्कि उन्हें तो करोड़ों प्राणियों की आहुति देने को तैयार रहना चाहिये। उन्होंने बताया कि किस प्रकार वे यह कहा करते थे कि उनका नैतिक सहयोग पूर्णरूप से ब्रिटेन के लिए ही है, लेकिन "मेरा मन आज उसे यह मदद देने से इन्कार करता है। जब तक ब्रिटेन और अमरीका दोनों ही अपनी अन्तर्शुद्धि नहीं करते, उन्हें इस युद्ध में शरीक होने का कोई नैतिक अधिकार नहीं। लोकतंत्रवाद की, सभ्यता की और मानव जाति की स्वतंत्रता की रक्षा का दावा करने का उन्हें तब तक कोई अधिकार नहीं जब तक वे गोरी जातियों की श्रेष्ठता की धुन को सर्वथा नष्ट नहीं कर देते।"

"अंग्रेज़ी हुकूमत से छुटकारा पाने के लिए लोगों को किसी तरह से भी जापानियों की मदद पर भरोसा नहीं रखना चाहिये।"

"जहां पारस्परिक विश्वास और सम्मान का अभाव हो, वहां हार्दिक सहयोग और मदद का सवाल ही नहीं उठता।"

"मान लीजिए राष्ट्रीय सरकार कायम हो गई और वह मेरी आशा के अनुरूप हुई तो उसका पहला काम यह होगा कि वह आक्रमणकारी ताकतों के सामने बचाव की कार्रवाई के लिये मित्रराष्ट्रों से संधि करे।" इसके बाद गांधीजी ने ब्रिटेन के हिन्दुस्तान छोड़ जाने का मर्म समझाने की कोशिश की। क्या यह मुमकिन नहीं कि ब्रिटेन के मेरे प्रस्ताव को मंजूर कर लेने पर धुरी-राष्ट्रों की मनोदशा में भी एक ऐसा परिवर्तन आ जाय कि जिसकी वजह से लड़ाई का सम्मान-पूर्ण अन्त हो जाय ? इसी प्रकार क्या यह सम्भव नहीं कि इसका परिणाम यह हो कि मित्रराष्ट्रीय सेनाएं भारत की स्वतंत्र सरकार के साथ संधि करके और अपने खर्च पर इस देश में रहकर जापानियों के आक्रमण का मुकाबिला करें और चीन की मदद करें ?" (देखो हरिजन पृष्ठ १९६, २८ जून) इसी प्रकार यदि सभी मित्र-राष्ट्रीय सेनाएं यकायक यहां से हटादी गईं तो संभव है कि जापान भारत पर कब्जा करले और चीन का भी निश्चित रूप से पतन हो जाय।"

उपर्युक्त तथा अन्य ऐसे ही वक्तव्यों में जो बाद में लार्ड लिनलिथगो और श्री एमरी द्वारा बड़े-बड़े इलजाम लगाने के मुख्य आधार बन गये थे, गांधीजी ने कुछ निश्चित और अविवादास्पद निचोड़ जनता के सामने रख दिये थे, जो नीचे दिये जाते हैं:—

(१) ब्रिटेन ने बलपूर्वक भारत को साम्राज्यवाद का सहयोगी बना रखा है।

(२) यह युद्ध पराजित राष्ट्रों को धुरी-राष्ट्रों के पंजे से मुक्त कराने के लिए लड़ा जा रहा है।

(३) मित्र-राष्ट्र यह दावा कर रहे हैं कि वे इस प्रकार की स्वतंत्रता स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं; इसलिए उन्हें चाहिये कि वे स्वयं भी उन देशों की स्वतंत्रता छीनकर इस बात के अपराधी न बनें जिन्हें उन्होंने स्वतंत्रता के इस संग्राम में घसीटा है।

(४) भारत एक ऐसा ही देश है जिसे ज़बरदस्ती लड़ाई में घसीटा गया है और ब्रिटेन इसके लिए अपराधी है। इसलिये ब्रिटेन और उसके पक्ष में लड़नेवाले मित्रराष्ट्रों को इस लड़ाई का नैतिक समर्थन प्राप्त नहीं है।

(५) इसलिए भारत को पहले आज़ाद करना चाहिए और फिर उसके बाद अंग्रेज़ नैतिक आधार पर लड़ाई करने का दावा कर सकेंगे।

(६) इसके बाद ब्रिटेन और भारत में एक संधि हो जानी चाहिये जिसकी शर्तों के अनुसार अंग्रेज़ और मित्रराष्ट्रीय सैनिक युद्धकाल तक भारत में रह सकेंगे।

(७) इस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से अंग्रेजों के हट जाने पर भारत अराजकता से बच जाएगा। भारत से हट जाने का मतलब यह नहीं कि प्रत्येक अंग्रेज़ अपना बिस्तर-बोरिया बाँधकर यहाँ से चला जाए बल्कि, "मेरा मतलब तो अंग्रेज़ी प्रभुत्व को हटा लेने से है और इस प्रकार हिन्दुस्तान में रहनेवाला हर अंग्रेज़ अपने को भारत का दोस्त बना सकता है; 'चले जाओ' का अर्थ है "मालिकों के रूप में चले जाओ।"[1]

जैसा कि सरकार का कहना था गांधीजी ने यह कभी नहीं कहा कि "भारत छोड़ो अथवा समझौते के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह गई।" बल्कि उनका दृढ़ विश्वास हो गया था कि, "भारत छोड़ो प्रस्ताव पर समझौते की अब कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई।"

(८) सभी दलों में समझौता हो जाने की मांग का वास्तविक उत्तर गांधीजी के इस वक्तव्य से मिल जाता है: "आप ग़ुलाम से कभी यह नहीं पूछते कि क्या तुम आज़ाद होना चाहते हो। ग़ुलाम तो अक्सर ग़ुलामी की ज़ंजीरों में ही बँधा रहना चाहता है। "अगर भारत का एक हिस्सा ग़ुलामी से प्रेम करता है तो उसका मतलब नहीं कि सारा ही देश परतंत्रता में जकड़ा रहे। कांग्रेस की मांग है कि दोनों ही हिस्सों को समान रूप से और एक साथ आज़ादी दी जाय।

(९) अगर ब्रिटेन भारत से हट जाये तो भारत की आन्तरिक स्थिति में वास्तविकता की पुट आ जायगी और विभिन्न दलों में एकता तथा सद्भाव की स्थापना हो जाएगी।

(१०) सम्भव है कि इस कार्रवाई के कारण सभी दलों में कोई सम्मानपूर्ण समझौता हो जाय।

इस प्रकार के आश्चर्यजनक वक्तव्य देकर और अंग्रेज़ों से ऐसी मांगें करके गांधीजी जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा था; "बड़ी ऊंची-ऊँची बातें" कर रहे थे। बाद में ५-७-४२ के अपने एक लेख में गांधीजी ने लिखा: "मैंने इस सवाल पर पूरी तौर से ग़ौर नहीं किया था। मेरी आदत बिना विचारे तुरन्त ही कोई बात कह देने की नहीं है।"

गांधीजी के इन वक्तव्यों का वास्तविक अर्थ समझना बहुत कठिन था। ब्रिटेन तो क्या स्वयं गांधीजी के कुछ सहयोगियों के लिए भी उनके वक्तव्यों के वास्तविक अर्थ समझने में

[1] देखो हरिजन।

कठिनाई होती थी। पर उनके आलोचक अक्सर उनके वक्तव्यों का एक उद्धरण यहाँ से लेते और एक उद्धरण वहाँ से लेते और यह सन्तोष करके बैठ रहते कि उनका वास्तविक उद्देश्य यही था। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि दोनों दलों में कोई बड़ा मतभेद था, बल्कि बात यह थी कि दोनों पक्षों का किसी विषय पर विचार करने का ढंग अलहदा था। यह अन्तर वैसा ही था जैसा कि आत्मा और विवेक अथवा मस्तिष्क और बुद्धि का।

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि अप्रैल-मई १९४२ में अखिल भारतीय महासमिति की इलाहाबाद की बैठक में यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि विभिन्न समस्याओं पर सोच-विचार करने के तरीक़े में और रुख़ में दोनों पक्षों का मतभेद है। उस ऐतिहासिक अधिवेशन में गांधीजी की अनुपस्थिति के कारण बड़ी कठिनाइयाँ पैदा हो गईं। और बाद के महीनों में भी ये कठिनाइयाँ दूर नहीं हो सकीं। यद्यपि इलाहाबाद की बैठक में कार्यसमिति ने अक्षरशः गांधीजी का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, फिर भी गांधीजी की भावना की ही विजय हुई; क्योंकि कार्यसमिति और अखिल भारतीय महासमिति ने जापान की आक्रमणकारी सेना का विरोध करने के लिए अहिंसात्मक असहयोग का रुख़ अख्त्यार करने का फ़ैसला किया। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर कूपलैण्ड की यह आलोचना कि "ऐसा प्रतीत होता है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने गांधीजी के मसविदे का विरोध करते हुए कहा था कि इसकी समस्त विचार-धारा और पृष्ठ-भूमि जापान के पक्ष में जाती है और उससे ऐसा प्रकट होता है कि उनके विचार से लड़ाई में जीत धुरी-राष्ट्रों की होगी।" इससे पहले यही विचार सरकार भी "अगस्त के उपद्रवों के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व" नामक अपनी पुस्तिका में प्रकट कर चुकी है, और यह विचार सर्वथा अनुचित और असंगत है। मसविदे साधारणतः सोच-विचार और आलोचना करने के लिए पेश किये जाते हैं। कोई भी मसविदा पूर्ण और अन्तिम नहीं कहा जा सकता और यदि कहीं उस पर विचार-विनिमय करते समय उसका बनानेवाला वहाँ स्वयं उपस्थित न हो तो उसका अर्थ समझने या उसकी व्याख्या करने में और भी ज़्यादा मुश्किल पेश आती है। इसलिए जवाहरलालजी के कहने का तात्पर्य तो यह था कि मसविदे की भाषा ऐसी है कि उसका अर्थ कुछ और ही लिया जा सकता है। इसी प्रकार किसी तार के मसविदे की विभिन्न तरीक़ों से छानबीन की जाती है और उसके विभिन्न अर्थ लगाकर उसकी समीक्षा कर ली जाती है। इसी प्रकार की समीक्षा के लिए पंडित नेहरू ने ज़ोर दिया था जिससे कि उस मसविदे के सम्बन्ध में कोई ग़लत धारणा न बन जाये अथवा उसका कोई और ही अर्थ न ले लिया जाय। इस प्रकार से सभी मसविदों की छानबीन और समीक्षा करना कार्यसमिति का न्यायोचित अधिकार था। प्रोफेसर कूपलैण्ड ने अपनी पुस्तक के दूसरे भाग के २८८वें पृष्ठ पर लिखा है कि "पंडित नेहरू ने आत्मसमर्पण कर दिया है, क्योंकि अब तक तो वे हिंसात्मक ढंग से जापानियों के प्रतिरोध की बात कहते चले आ रहे थे और यही बात उन्होंने दिल्ली में सर स्टैफर्ड क्रिप्स से भी कही और बाद में भी कही; लेकिन अब उन्होंने आक्रमण का मुक़ाबला करने का एकमात्र उपाय अहिंसात्मक असहयोग बताया है।" परन्तु उन (कूपलैण्ड) का यह विचार ग़लत था। क्या जवाहरलाल नेहरू ने इसका विचार किये बिना ही कि ब्रिटेन क्या कर रहा है और उसने भारतीय मांग के बारे में क्या कहा है, जापानियों के विरुद्ध लड़ने का वायदा किया था? अगर यही बात थी तो फिर झगड़ा किस बात का? परन्तु वास्तविक स्थिति यह थी कि इलाहाबाद की बैठक से पूर्व और उसके बाद भी ब्रिटेन और भारत

का झगड़ा जारी रहा। जापानी आक्रमण का ख़तरा ख़त्म हो चुका था। जापान अपने मक़सद में असफल रहा। परन्तु बड़ा सवाल अभी तक वैसे ही क़ायम रहा। ग़ुलामी से निजात पाने के लिए भारत को क्या करना चाहिए? क्रिप्स-मिशन असफल हो चुका था। भारत हाथ-पर-हाथ रख कर कैसे बैठ सकता था? उसकी चेतावनियों, विरोध-प्रदर्शनों अथवा प्रस्तावों से डर कर अंग्रेज़ भारत को सत्ता हस्तान्तरित करनेवाले नहीं थे। उसके पास ब्रिटेन के ख़िलाफ़ अपनी अहिंसात्मक लड़ाई और ज़ोरदार बना देने के अलावा और कोई चारा ही नहीं था। व्यक्तिगत सत्याग्रह की परीक्षा एक सीमित उद्देश्य के लिए और सीमित पैमाने पर पहले ही किया जा चुका था। यद्यपि यह आंदोलन एक छोटे पैमाने पर शुरू किया गया था, फिर भी यह व्यवस्थित रहा और बड़ा प्रभावशाली साबित हुआ। पंडित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आज़ाद को १४ महीने से भी अधिक समय तक जेल में बन्द रखने के बाद आख़िर ३ दिसम्बर, १९४१ को रिहा कर दिया गया था उसके बाद तीन महीने से भी कम समय में ही सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने भारत की यात्रा की। अभी मुश्किल से तीन महीने और गुज़रे होंगे कि भारत के राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ देखने में आईं। जुलाई, १९४२ में कार्यसमिति की वर्धा में एक बैठक हुई, जिसमें उसने एक सामूहिक आन्दोलन के सम्बन्ध में अपनी योजनाएँ बनाईं।

१४ जुलाई, १९४२ की घटनाओं का ज़िक्र करने से पहले हम कांग्रेस के इतिहास में एक और महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख करना चाहते हैं। यह घटना गांधीजी की योजनाओं के प्रति श्री राजगोपालाचारी के रुख के सम्बन्ध में है। वे गांधीजी के सिद्धान्तों में शत-प्रतिशत विश्वास नहीं रखते थे। इस बात का हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं कि किस तरह से उन्होंने अहिंसा की सर्वोच्च सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया था और अब वे यह आग्रह करने लगे कि हमें मुस्लिम लीग की मांग स्वीकार कर लेनी चाहिये। उनका खयाल था कि इस प्रकार हम एक ऐसा संयुक्त और दृढ़ मोर्चा स्थापित कर लेंगे, जिसकी उपेक्षा या विरोध करना ब्रिटेन के लिए बहुत कठिन हो जायगा। उन्होंने बड़ी जल्दबाजी में २३ अप्रैल को मद्रास में प्रान्तीय धारासभा के कांग्रेसी दल की एक बैठक बुलाकर उसमें दो प्रस्ताव पास करवा लिये। एक प्रस्ताव में मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग मंजूर करने का आग्रह और दूसरे में मद्रास के कांग्रेसी मंत्रिमंडल में सुधार करने की मांग की गई थी। पहला प्रस्ताव उन्होंने स्वयं ही इलाहाबाद की अखिल भारतीय महासमिति की बैठक में पेश किया। परन्तु यह प्रस्ताव १५ के मुकाबले में १२० के बहुमत से रद हो गया। और दूसरा प्रस्ताव उन्होंने वापस ले लिया। इस मौके पर श्री जगत-नारायण लाल का प्रस्ताव पेश हुआ, हालांकि यह प्रस्ताव कार्यक्रम में शामिल नहीं था। लेकिन ६० सदस्यों ने इसका समर्थन किया था। यह प्रस्ताव १७ के मुकाबले के ९२ के बहुमत से पास हो गया और इसके फलस्वरूप कांग्रेस की स्थिति साफ और असंदिग्ध शब्दों में देश के सामने पेश कर दी गई। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि किसी भी रियासत अथवा प्रादेशिक इकाई को भारतीय संघ अथवा फेडरेशन से पृथक् होने का अधिकार और स्वतंत्रता देने का अर्थ यह होगा कि उसके फलस्वरूप भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे और ऐसा करना भारत की विभिन्न रियासतों और प्रान्तों तथा सारे देश के हितों की दृष्टि से घातक होगा और इसलिए कांग्रेस ऐसे किसी भी प्रस्ताव से सहमत नहीं हो सकती। अपना उक्त प्रस्ताव पेश करने के उद्देश्य से श्री राजगोपाला-चारी कांग्रेस की कार्यसमिति से पहले ही इस्तीफा दे चुके थे। और अपना प्रस्ताव रद हो जाने पर

भी वे अडिग रहे और उन्होंने घोषणा की कि मैं इसी आधार पर अपना प्रचार करूँगा। १२ जुलाई, १६४२ तक उनका विद्रोह इतनी सीमा तक पहुँच गया था कि पार्लमेण्टरी बोर्ड के प्रधान सरदार वल्लभभाई पटेल के कहने पर गांधीजी ने श्री राजगोपालाचारी को सलाह दी कि वे मद्रास की धारासभा और कांग्रेस की प्रारंभिक सदस्यता से भी इस्तीफा दे दें। और उन्होंने १५ जुलाई को ऐसा ही किया भी। श्री भूलाभाई जे० देसाई ने भी अस्वस्थता के कारण जुलाई के प्रथम सप्ताह में कांग्रेस की कार्यसमिति से इस्तीफा दे दिया। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए अब हम जुलाई, १६४२ की घटनाओं पर विचार करना चाहते हैं।

जुलाई, १६४२ में कार्यसमिति का एक लम्बा अधिवेशन हुआ जो ६ जुलाई से लेकर १४ जुलाई तक जारी रहा। उस समय के वातावरण में बहुत खिंचाव पाया जाता था। कार्यसमिति के परिवर्तनवादी सदस्यों की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। उन्हें बारंबार गांधीजी की नीति और सिद्धान्तों पर आश्रित रहना पड़ रहा था। अगस्त के ऐतिहासिक निर्णय के समय सभी के दिलों में एक भारी तूफान उठा हुआ था और जुलाई के निर्णयों ने उस महान् निर्णय की भूमिका तैयार की थी। फिर भी कांग्रेस के दोनों पक्षों में कुछ बातें समान रूप से पाई जाती थीं। गुलामी स्वयं तो एक बुराई है ही, लेकिन गुलाम रहकर भारत अपनी रक्षा नहीं कर सकता था। वह कमजोर पड़ गया था। संसार की सुरक्षा और नाजीवाद, फासिस्टवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद के अन्त के लिए भारत में तत्काल ब्रिटिश शासन का अन्त नितान्त आवश्यक समझा जा रहा था। सितम्बर १६३६ से लेकर अक्टूबर, १६४० तक कांग्रेस ने ब्रिटेन को परेशानी में न डालने की नीति अख्त्यार की और फिर अक्टूबर, १६४० से लेकर अक्टूबर, १६४१ तक उसने व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन के जरिये अपना विरोध प्रकट करते हुए जान-बूझकर संयम से काम लिया। लेकिन इसका परिणाम क्या हुआ? ब्रिटेन पर इसका रत्ती भर भी असर नहीं हुआ। दूसरी ओर हम क्या देखते हैं कि क्रिप्स-मिशन की असफलता के बाद भारत में बड़ी शीघ्रता के साथ और व्यापक रूप से ब्रिटेन के खिलाफ दुर्भावना अपना जोर पकड़ती गई, जिसे देखते हुए कार्यसमिति को डर था कि कहीं भारतीय जनता जापानी आक्रमण का निष्क्रिय रूप से प्रतिरोध न करे। इसे दूर करने का केवल एक ही उपाय था ब्रिटेन भारत को आजादी दे दे और तब उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि यह सारी दुर्भावना ब्रिटेन के प्रति सद्भावना के रूप में परिवर्तित हो जाएगी। और जब तक तीसरा दल इस देश में विद्यमान् रहेगा, साम्प्रदायिक झगड़े भी नहीं सुलझ सकेंगे। ब्रिटिश सरकार से भारत से हट जाने की जो मांग की जा रही थी उसके पीछे सद्भावना थी और उसके फलस्वरूप देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना में मदद मिलती। ब्रिटिश सरकार से इस प्रस्ताव को स्वीकार करने का जोरदार आग्रह किया गया।

वस्तुतः भारत उस समय बड़े संकट और दुविधा में फँस गया था।

जुलाई के दूसरे सप्ताह में कांग्रेस की कार्यसमिति ने वर्धा में जो प्रस्ताव पास किया उससे देश को कोई आश्चर्य नहीं हुआ और परोक्ष रूप से वह प्रस्ताव कांग्रेस की उन नीतियों और सिद्धान्तों से विभिन्न था जिन पर वह पिछले तीन सालों से चलती आ रही थी। कांग्रेस ने हमेशा से ही प्रजातंत्रवादी शक्तियों का समर्थन किया है और इसीलिए वह युद्ध में जिन मित्र-राष्ट्रों से सहानुभूति रखती थी तथा उसने फासिस्टवाद और नाजीवाद का स्पष्ट रूप से विरोध किया और इसी उद्देश्य से उसने जानबूझकर इस लड़ाई में ब्रिटेन को परेशान न करने का रुख अपनाया। लेकिन वर्धा-प्रस्ताव का इससे भिन्न मतलब भी लिया जा सकता था। ज़िम्मेदार

लोगों का यह कहना था कि भारत-द्वारा ब्रिटेन को इस तरह के अहिंसात्मक आन्दोलन में फँसा देने का परिणाम यह होगा कि इससे जापानियों को भारत पर आक्रमण करने में प्रोत्साहन मिलेगा और और कांग्रेस ब्रिटेन को परेशान न करनेवाली नीति के मार्ग से हट जाएगी। प्रस्ताव पर एकबारगी विचार करने से उससे ऐसा अर्थ प्रतिध्वनित होना सर्वथा संभव प्रतीत होता था और उसकी यह आलोचना भी समीचीन प्रतीत होती थी । इसलिए हमें उस पर कांग्रेस की विगत नीति को ध्यान में रखते हुए सोच-विचार करना होगा।

यह ठीक है कि कांग्रेस ने ब्रिटेन को परेशानी में न डालने की नीति अख्तियार की थी और इसीलिए उसने एक सालतक अर्थात् नवम्बर, १६४० तक अपना सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित भी रखा । इसके अलावा इसकी एक और वजह, जैसा कि स्वयं कांग्रेस के आलोचकों का कहना था, यह थी कि वह प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों की हामी और फासिस्टवाद तथा नाजीवाद की विरोधी थी । वाणी स्वातंत्र्य के प्रश्न पर जब व्यक्तिगत आन्दोलन शुरू किया गया था तो यह कहा गया था कि कांग्रेस ब्रिटेन को परेशान न करनेवाली अपनी नीति से हट गई है । फिर भी जहां एक तरफ अक्टूबर, १६४० का यह व्यवस्थित व्यक्तिगत-आन्दोलन ब्रिटेन को परेशान न करनेवाली नीति से भिन्न कहा जा सकता है,दूसरी तरफ उसे महज़ आंसू पोंछने की चेष्टा करना भी कहा गया था । परन्तु सचाई यह थी कि कांग्रेस इस नीति पर इतनी दूर तक नहीं चल सकती थी कि उसके फलस्वरूप वह अपना अस्तित्व ही मिटा बैठती । यदि हम इस स्पष्टीकरण को ध्यान में रखें तो फिर हम उन घटनाओं को भी आसानी से समझ सकते हैं जिनका परिणाम कांग्रेस का १४ जुलाई वाला वर्धा का प्रस्ताव था । कांग्रेस ने कभी प्रतीक्षा, कभी व्यग्रता और चिन्ता, कभी विनम्र विरोध और कभी जोरदार विद्रोह की जो नीति अपनाई थी, उसमें तारतम्य अवश्य था । आइये, अब हम जरा इस नीति की समीक्षा करके देखें कि क्या इसका यह परिणाम अनिवार्य था ?

लड़ाई छिड़ने के बाद से कांग्रेस और सरकार जिस नीति पर चल रही थी, उससे सम्बद्ध घटनाओं का फिर से उल्लेख करना अनावश्यक प्रतीत होता है। लड़ाई के प्रारम्भ से ही कांग्रेस एक गुलाम की तरह नहीं बल्कि आजाद और बराबर की साझेदारी के दोस्त के रूप में लड़ाई में मदद करने को तैयार थी । इस बारे में हमें दो महत्त्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना है । एक तो यह कि कांग्रेस भारत को उसकी मर्जी के खिलाफ लड़ाई में घसीटने पर कभी राजी नहीं हो सकती थी । दूसरे, देश लड़ाई में सिर्फ इसी शर्त पर शामिल हो सकता था कि तत्काल उसकी आजादी का हक मंजूर कर लिया जाता और यह मान लिया जाता कि अपने भाग्य का निर्णय करने का अधिकार स्वयं उसीको है । वह जब चाहे अपनी मर्जी से युद्ध-प्रयत्नों में शामिल हो या न हो । पूना-प्रस्ताव इसी दिशा में एक कदम था । क्रिप्स के साथ समझौते का प्रयत्न भी पूना के इसी निर्णय का अन्तिम परिणाम था । जैसा कि सारी दुनिया जानती है, क्रिप्स के प्रस्तावों से भारत को गहरी निराशा हुई और उसे भारी ठेस पहुँची । अगर इतने पर भी ब्रिटेन के अनुदारवादी यह कहें कि क्रिप्स-प्रस्ताव अधिक-से-अधिक रिआयत थी जो ब्रिटेन भारत को दे सकता था, तो उससे हम केवल एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह एक ऐसे कट्टर-पंथी राष्ट्र का नारा था जो पिछली बातों से सबक सीखना नहीं जानता । क्रिप्स की भारत-यात्रा से भारत को बजाय

ब्रिटेन ही नफे में रहा; क्योंकि इससे क्रिप्स ने अपने मुल्क के लिए नीचे लिखी चार चीज़ें हासिल करलीं—

(१) परोक्ष रूप से कांग्रेस ने एक ऐसी अस्थायी व्यवस्था मान ली जिसके अन्तर्गत भारत स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेश का दरजा मानने को तैयार हो जायगा और ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में रहने या उनसे अलग होने की आज़ादी होगी।

(२) भारत ने अपनी समस्या के तात्कालिक राजनीतिक हल को मानना स्वीकार कर लिया, जिसमें रियासतों की जनता शामिल नहीं थी।

(३) पाकिस्तान के प्रश्न पर भारत का अनिश्चित फैसला।

(४) युद्ध-काल के लिए कांग्रेस ने रक्षा-विभाग के अन्तर्गत कार्यों का विभाजन स्वीकार कर लिया।

जहांतक भारत का सवाल है, क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद ये सब रिआयतें खत्म हो गईं और यह संभावना भी नहीं है कि भविष्य में ब्रिटेन समझौते की जो बातचीत चलाएगा, उसमें इन्हीं बातों का फिर से समावेश किया जाएगा। सर स्टैफर्ड क्रिप्स के भारत से वापस चले जाने के बाद भारत के सामने अपना मार्ग और कर्तव्य स्पष्ट था। आइये, अब हम इस पर भी जरा संक्षेप में ध्यान दें।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स अभी दिल्ली में ही थे जब कि १६ अप्रैल, १९४२ को जापानियों ने कोकनद और विजगापट्टम पर बम-वर्षा की। अधिकारियों के कहने पर मद्रास और पूर्वी किनारे के शहरों और कस्बों को खाली कर दिया गया। इस कार्रवाई का तात्कालिक कारण यह था कि एक तो जापानियों ने उक्त दोनों स्थानों पर बम-वर्षा की थी, दूसरे बंगाल की खाड़ी में जापानी जहाज देखे गए और तीसरे इस बम-वर्षा के बाद लंका में ट्रिंकोमाली से लेकर कलकत्ता तक व्यापक आतंक छा गया था। अगर दुश्मन हिन्दुस्तान पर हमला कर दे तो भारत को उस हालत में क्या करना चाहिए ? क्या उसे धोबी के कुत्ते की तरह अपने को अपनी क़िस्मत पर छोड़ देना चाहिए अथवा आक्रान्तता का डटकर मुक़ाबला करने की तैयारी करनी चाहिए ? यह बात रणनीति की नहीं है। न यह कोई सैनिक विषय था; क्योंकि भारत रणनीति और सैनिक चालों से अपरिचित था। उसके पास कोई हथियार न थे। उस समय बिना सोचे-समझे यह कहा जा रहा था कि भारत को जापानी आक्रमण का सामना छापामार दस्तों के रूप में करना चाहिए। परन्तु छापामार लड़ाई के लिए भी तो हथियारों की ज़रूरत रहती है और वाइसराय स्वयं कह चुके थे कि भारत के पास तो ट्रेनिंग-प्राप्त सिपाहियों के लिए काफ़ी हथियार नहीं हैं। इसलिए छापामार लड़ाई असम्भव थी और फिर हिंसा और अहिंसा का तो सवाल ही अलग रहा। देश के सामने दो ही कार्य थे। एक कार्य तो यह था कि दुश्मन का मनोवैज्ञानिक और नैतिक आधार पर डटकर प्रतिरोध किया जाय और दूसरा मार्ग था उसके सामने चुपचाप घुटने टेक देने का। इसलिए समस्या मनोवैज्ञानिक थी और उस पर हमें विचार भी मनोवैज्ञानिक ढंग पर ही करना था। पिछले १५० बरस से देश अपने को कमज़ोर और निःसहाय समझ रहा था। ऐसी हालत में उसे बचाने का केवल एक ही तरीक़ा था और वह तरीक़ा था मनोवैज्ञानिक आधार पर दुश्मन का प्रतिरोध करने का। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत स्वयं एक बहुत पुराने और देर से चले आनेवाले आक्रमण का शिकार था और अब भारत से यह कहा जा रहा था कि वह इस आक्रमण को चुपचाप बरदाश्त करके आनेवाले आक्रमण का डट कर

मुक़ाबला करे। कहने का अभिप्राय यह है कि पुराना आक्रान्त अपने शिकार से यह कह रहा था और आशा रखता था कि वह नये आक्रमणकारी का अपनी शक्ति से मुक़ाबला करे। तब स्थिति इस प्रकार हुई कि भारत अपनी विगत परतंत्रता पर कोई आपत्ति न उठाकर नयी परतंत्रता का डटकर सामना करे। और यह थी कि एक मनोवैज्ञानिक असम्भावना। अगर आप भूतकाल के आक्रमणकारी के आगे सिर झुका देते हैं तो उसका मतलब यह हुआ कि आप नयी और भावी आक्रान्तता के सामने भी सिर झुका सकते हैं। अगर भारत ने भूतकाल में अपनी आज़ादी पर किए गये आक्रमण सहन कर लिये थे तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वह भविष्य में उन्हें सहन कर ले; क्योंकि भारतीय तो भाग्यवादी होते ही हैं। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतिरोध न करने का मतलब था कि हम जापानी आक्रमण का भी सामना न करें, बल्कि उसका स्वागत करें। इसलिए वास्तव में कांग्रेस ने इसके ख़िलाफ़ ही फ़ैसला किया। इसलिए उसने यह फ़ैसला भौतिक आधार पर नहीं किया; क्योंकि इस आधार पर उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता थी ही नहीं। उसने यह फ़ैसला किया मनोवैज्ञानिक आधार पर। यह फ़ैसला केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं था बल्कि आध्यात्मिक भी; क्योंकि कांग्रेस के आह्वान का उत्तर तो भारत की जनता ने दिया जिसपर अँग्रेज़ी शिक्षा का कोई असर नहीं हुआ था। और जनता का सीधा-सादा तथा साफ़ शब्दों में उत्तर यह था कि आक्रमण आख़िर आक्रमण है, चाहे वह पुराना हो या नया और जबतक पुराने आक्रमण का सामना न कर लिया जाता तब तक नये का सामना करने का सवाल ही कैसे उठ सकता था। मानव की आत्मा पुराने आक्रमण का मुक़ाबला करने को उतावली हो उठी थी। जो लोग यह कहने का दावा करते हैं या यह दोषारोपण करते हैं कि कांग्रेस ने अपने पिछले सिद्धान्तों और नीति को तिलांजलि दे दी, उन्हें उपर्युक्त प्रत्युत्तर से शान्त हो जाना चाहिए। किसी को परेशान न करने की नीति स्वतः बहुत अच्छी और उपयोगी है; लेकिन यह नीति सिर्फ एक-तरफ़ा ही नहीं हो सकती। कांग्रेस ने लाख कोशिश की कि ब्रिटेन को तंग न किया जाय, लेकिन ब्रिटेन के कान पर जूँ तक न रेंगी। बल्कि वह उल्टा भारत को ही परेशान करता रहा और उसके लिए सबसे बड़ी परेशानी उस वक़्त पैदा हुई जबकि शत्रु के आक्रमण की मेघमालाएँ भारत के क्षितिज पर छाने लगीं। ऐसी नाज़ुक घड़ी में उसे क्या करना होगा? वह दुविधा में फँस गया और कोई दृढ़ तथा अन्तिम निर्णय किए बिना वह संकट से मुक्त नहीं हो सकता था।

परन्तु विवेकशील पाठक को स्पष्ट हो जाएगा कि कार्यसमिति ने अपने प्रस्ताव में तत्काल ही लड़ाई छेड़ देने की घोषणा नहीं की थी। कार्यसमिति ने बड़ी सावधानी, बुद्धिमता, आत्मसम्मान और दूरदर्शिता के साथ अपनी स्थिति को पुनः स्पष्ट करते हुए ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया था, कि वह कांग्रेस के न्यायोचित प्रस्ताव को मंजूर कर ले। उसकी माँग यह थी कि भारत से विदेशी सत्ता हटा ली जाय और वह चाहती थी कि ब्रिटेन सद्भावनापूर्वक भारत से हट जाय। ब्रिटेन मलाया, सिंगापुर अथवा बर्मा से सद्भावनापूर्वक नहीं हटा था। वहाँ से उसे मजबूरी की हालत में हटना पड़ा था और बाद में इन तीनों देशों की जनता पर जो बीती उसे दुनिया ख़ूब जानती है। उन्हें दुहरे आक्रमण का मुकाबला करना पड़ा। एक तरफ जापान का और दूसरी तरफ ब्रिटेन का। परिणाम यह हुआ कि ये देश चक्की के दो पाटों की तरह उनके बीच में पिस गये। यही नहीं, उनमें दोनों ही

आक्रान्तताओं के प्रति कूट-कूट कर दुर्भावना भर गई। और भारत यह नहीं चाहता था कि उस पर भी ऐसी ही बीते। इसलिए कांग्रेस ब्रिटेन से अनुरोध कर रही थी कि वह भारत को उस विपत्ति से बचाए जो दक्षिण-पूर्वी एशिया में उसके पड़ोसी राष्ट्रों पर आई है। आखिर ब्रिटेन का भारत से हटना स्वयं भी तो एक न्यायोचित कार्य और लड़ाई के आदर्शों के सर्वथा अनुकूल होगा।

इस स्थल पर हम कार्यसमिति द्वारा १४ जुलाई, १६४२ को पास किये गये प्रस्ताव का उल्लेख करना सर्वथा उचित समझते हैं।

१४ जुलाई १६४२ को वर्धा में कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा पास किया गया प्रस्ताव

"जो घटनाएँ प्रतिदिन घट रही हैं और भारतवासियों को जो-जो अनुभव हो रहे हैं उनसे कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की यह धारणा पुष्ट होती जा रही है कि भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त अति शीघ्र होना चाहिये। यह केवल इसलिए नहीं कि विदेशी सत्ता अच्छी-से-अच्छी होते हुए भी स्वयं एक दूषण और परतंत्र जनता के लिए अनिष्ट का अबाध स्रोत है, बल्कि इसलिए कि दासत्व-श्रृङ्खला में जकड़ा हुआ भारत अपनी ही रक्षा के काम में, और मानवता का विध्वंस करनेवाले युद्ध के भाग्य-चक्र को प्रभावित करने में, पूरा पूरा भाग नहीं ले सकता। इस प्रकार भारत की स्वतंत्रता न केवल भारत के हित में आवश्यक है बल्कि संसार की सुरक्षा के लिए और नाजीवाद, फासिस्टवाद, सैनिकवाद और अन्य प्रकार के साम्राज्यवादों एवं एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के आक्रमण का अन्त करने के लिए भी। संसारव्यापी युद्ध के छिड़ने के बाद से कांग्रेस ने यत्नपूर्वक परेशान न करनेवाली नीति को ग्रहण किया है। सत्याग्रह के प्रभावहीन हो जाने का खतरा उठाते हुए भी कांग्रेस ने इसे जानबूझ कर सांकेतिक स्वरूप दिया और यह इस आशा से कि परेशान न करनेवाली इस नीति के यौक्तिक पराकाष्ठा तक पहुँचने पर इसका यथोचित समादर किया जायगा और वास्तविक सत्ता लोकप्रिय प्रतिनिधियों को सौंप दी जायगी जिससे कि राष्ट्र विश्व भर में मानव स्वतंत्रता, जिसके कुचल दिये जाने का खतरा उपस्थित है, प्राप्त करने के कार्य में अपना पूरा सहयोग देने में समर्थ हो सके। इसने यह आशा भी कर रखी थी कि ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया जायगा जिससे भारत पर ब्रिटेन के आधिपत्य के और भी दृढ़ होने की सम्भावना हो।

"किन्तु इन आशाओं को चकनाचूर कर डाला गया है। क्रिप्स की निष्फल योजना ने स्पष्ट रूप से दिखला दिया है कि भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व किसी प्रकार शिथिल न होने दिया जायगा। सर स्टैफर्ड क्रिप्स के साथ वार्ता करने में कांग्रेस-प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय मांग के अनुरूप कम-से-कम अधिकार प्राप्त करने का जी-तोड़ प्रयत्न किया किन्तु सफलता न मिली। इस असफलता के परिणामस्वरूप ब्रिटेन के विरुद्ध विद्वेष-भावना में शीघ्रता के साथ और व्यापक रूप से वृद्धि हुई है और जापानियों की सैनिक सफलता से विशेष सन्तोष प्राप्त हुआ है।

"कार्यसमिति इस स्थिति को घोर आशंका की दृष्टि से देखती है, क्योंकि यदि इसका

प्रतिरोध न किया गया तो, अनिवार्य रूप से इसका परिणाम आक्रमण को निष्क्रिय भाव से सहन करना होगा। समिति की धारणा है कि सब प्रकार के आक्रमणों का प्रतिरोध होना ही चाहिए क्योंकि इसके आगे झुक जाने का अर्थ अवश्य ही भारतीयों का पतन और उनकी परतंत्रता का जारी रहना होगा। कांग्रेस नहीं चाहती कि मलाया, सिंगापुर और बर्मा पर जो बीती है वही भारत पर भी बीते इसलिए वह चाहती है कि भारत पर जापान या किसी अन्य विदेशी सत्ता की चढ़ाई या आक्रमण के विरुद्ध प्रतिरोध शक्ति का संगठन करे। ब्रिटेन के विरुद्ध जो विद्वेष-भावना वर्तमान है उसे कांग्रेस सद्भावना के रूप में परिणत कर देगी और भारत को, संसार भर के राष्ट्रों और अधिवासियों के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने के संयुक्त उद्योग और इसके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले कष्ट और क्लेशों में स्वेच्छापूर्वक भाग लेने को प्रेरित करेगी। यह केवल उसी अवस्था में सम्भव है जब भारत स्वतंत्रता के आलोक का अनुभव करे।

"कांग्रेस-प्रतिनिधियों ने साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने का शक्ति भर प्रयत्न किया है। किन्तु विदेशी सत्ता की उपस्थिति में यह काम असम्भव हो गया है और वर्तमान अवास्तविकता के स्थान पर वास्तविकता की स्थापना तभी हो सकती है जब विदेशी प्रभुता और हस्तक्षेप का अन्त कर दिया जाय और भारतीयजन, जिनमें सब दलों और समुदायों के व्यक्ति होंगे, भारतीय समस्याओं का सामना करें और पारस्परिक समझौते के आधार पर उनका हल ढूँढ़ निकालें।

"तब सम्भवतः वर्तमान राजनीतिक दल जो प्रधानतः ब्रिटिश सत्ता को अपनी ओर आकृष्ट करने और उसे प्रभावित करने के उद्देश्य से संगठित हुए हैं, अपनी कार्रवाई बन्द कर देंगे। भारत के इतिहास में, फिर यह बात पहले-पहल अनुभव की जायगी कि भारतीय नरेश, जागीरदार, जमींदार और सम्पत्तिवान तथा धनिकवर्ग उन श्रमजीवियों से अपना धन और सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, जो खेत-खलिहान, कारखानों और दूसरे स्थानों पर काम करते हैं और जो वास्तव शक्ति एवं सत्ता के अधिकारी हैं। भारत में ब्रिटिश शासन के हटा लिए जाने पर देश के जिम्मेदार स्त्री-पुरुष एक साथ मिलकर एक अस्थायी सरकार का निर्माण करेंगे जो भारत के समस्त महत्वपूर्ण वर्गों का प्रतिनिधित्व करेगी और बाद में ऐसी योजना को जन्म देगी जिससे विधान निर्मात्री-परिषद् की रचना हो सकेगी जो राष्ट्र के सब वर्गों के स्वीकार करने योग्य भारतीय शासन-विधान का निर्माण करेगी। स्वतंत्र भारत के प्रतिनिधि और ब्रिटेन के प्रतिनिधि दोनों देशों के सहयोग और भावी सम्बन्ध को स्थिर करने के लिए, आक्रमण का सामना करने के सामूहिक कार्य में सहयोगियों के रूप में, परस्पर वार्तालाप करेंगे।

"कांग्रेस की हार्दिक इच्छा है कि वह, जनता की सम्मिलित इच्छा और शक्ति के बल पर भारत को आक्रमण का सफल प्रतिरोध करने के योग्य बनावे। भारत से ब्रिटिश सत्ता के उठा लिए जाने का प्रस्ताव पेश करने में कांग्रेस की यह इच्छा नहीं है कि इससे ब्रिटेन अथवा मित्र-राष्ट्रों के युद्ध-कार्यों में बाधा पहुँचे या इससे जापान या धुरी-समूह के किसी अन्य राष्ट्र को भारत पर आक्रमण करने या चीन पर दबाव बढ़ाने को प्रोत्साहन मिले। और न कांग्रेस मित्र-राष्ट्रों की रक्षा-शक्ति को हानि पहुँचाने का इरादा रखती है।

"इसलिए जापानियों के या किसी और के आक्रमण को दूर रखने या उसका प्रतिरोध करने के लिए, तथा चीन की रक्षा और सहायता के लिए कांग्रेस भारत में मित्रराष्ट्रों की सशस्त्र

सेनाओं को टिकाने के लिए, यदि उनकी ऐसी इच्छा हो, राजी है। भारत से ब्रिटिश सत्ता के हटा लिए जाने के प्रस्ताव का उद्देश्य यह कभी नहीं था कि भारत से सारे अंग्रेज और निश्चय ही वे अंग्रेज विदा होजायँ जो भारत को अपना घर बना कर वहाँ दूसरों के साथ नागरिक और समानाधिकारी बन कर रहना चाहते हैं। यदि इस प्रकार का हटना सद्भावनापूर्वक सम्पन्न हो तो इसके परिणामस्वरूप भारत में स्थायी शासन की स्थापना और आक्रमण का प्रतिरोध करने तथा चीन को सहायता देने में इस सरकार तथा संयुक्त राष्ट्रों के मध्य सहयोग हो सकता है। कांग्रेस इस बात को समझती है कि ऐसा मार्ग ग्रहण करने में खतरे भी उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए और खासकर वर्तमान संकटापन्न स्थिति में देश एवं संसार भर में कहीं अधिक खतरों और विपदाओं से घिरे हुए स्वतंत्रता के विशालतर आदर्श को बचाने के लिए, किसी भी देश को ऐसे खतरों का सामना करना ही पड़ता है। अस्तु, जबकि कांग्रेस राष्ट्रीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अधीर है, वह जल्दबाजी में कोई काम करना नहीं चाहती और न ऐसा मार्ग ग्रहण करना चाहती है जिससे मित्रराष्ट्रों को परेशानी हो। इसलिए यदि ब्रिटिश सरकार इस अत्यन्त यौक्तिक और उचित प्रस्ताव को स्वीकार कर लेगी, जो न केवल भारत के बल्कि ब्रिटेन के और उस स्वतंत्रता के हित में है जिससे मित्र-राष्ट्र अपने को संश्लिष्ट घोषित करते हैं, तो कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार के इस कार्य से प्रसन्नता होगी। अतएव, यदि यह अपील व्यर्थ गई तो कांग्रेस वर्तमान स्थिति के स्थायित्व को, जिससे परिस्थिति का धीरे-धीरे बिगड़ना और भारत की आक्रमण-विरोधी शक्ति और इच्छा का दुर्बल होना स्वाभाविक है, घोर आशंका की दृष्टि से देखेगी। उस स्थिति में कांग्रेस का अपनी समस्त अहिंसात्मक शक्ति का, जो सन् १९२०—जबकि इसने राजनीतिक अधिकारों और स्वाधीनता के समर्थन के लिए अहिंसा को अपनी नीति के एक अंग के रूप में स्वीकार किया था—के बाद संचित की गई है, अनिच्छापूर्वक उपयोग करने को बाध्य होना पड़ेगा। इस प्रकार के व्यापक संघर्ष का नेतृत्व अनिवार्य रूप से महात्मा गांधी करेंगे। चूँकि, जो प्रश्न यहाँ उठाए गए हैं वे भारतीय जनता एवं मित्रराष्ट्रों की जनता के लिए सुदूरव्यापी तथा अत्यन्त महत्त्व के हैं। इसलिए कार्यसमिति अन्तिम निर्णय के लिये इन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सुपुर्द करती है। इस कार्य के लिए ७ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक होगी।"

इस सम्बन्ध में हमें श्री डी-वेलरा के उस वक्तव्य का स्मरण हो आता है जो उन्होंने १९२९ में ब्रिटेन के प्रति दिया था:—

"भूतकाल में तुम्हारा जो कुप्रभाव पड़ा है, उसीकी वजह से इस देश में मतभेद पाए जाते हैं। आपको चाहिए कि आप उस प्रभाव को यहाँ से हटा लें। कम-से-कम न्याय के नाम पर ही आपको ऐसा करना चाहिये। अगर आप ऐसा करते भी हैं तो इसके लिए आपको धन्यवाद नहीं दिया जा सकता। परन्तु चूँकि हमारे देश में एक ऐसा राजनीतिक अल्पमत है जो आपके साथ संपर्क बनाए रखना चाहता है, इसलिए हम उस वर्ग की मांग केवल एक ही शर्त पर पूरी करने को तैयार हैं और वह शर्त यह है कि उसे सिर्फ इसी राष्ट्र के प्रति पूरी तरह से वफादार रहना पड़ेगा।"

ब्रिटेन बार-बार यह ऐलान कर रहा था कि वह लड़ाई के तुरन्त बाद ही भारत को आजादी देने जा रहा है। इसलिए उसे दो सवालों का जवाब देना था। यदि ब्रिटेन भारत

को इसी वक्त आजादी दे दे तो क्या उसे भारत की सर्वोत्तम मदद अधिक अच्छे ढंग से नहीं मिल सकेगा ? अथवा क्या वह परतंत्र भारत को विवश करके उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे लड़ाई में अधिक मदद प्राप्त कर सकेगा ? और यदि इस महान् युद्ध में ब्रिटेन की मदद न की गई तो वह कमजोर पड़ जाएगा। कोई भी विवेकशील व्यक्ति इसका केवल एक ही जवाब देगा कि आपको जो कुछ करना है, आज ही और अभी कर डालिए, उसे कल पर मत छोड़िये, क्योंकि अगर आप उसे कल पर छोड़ देंगे तो उसका परिणाम आम दुर्भावना, सन्देह और उदासीनता की भावना को प्रोत्साहन देना होगा। कांग्रेस के प्रस्ताव में साफ तौर पर कह दिया गया है कि अगर जनता को ब्रिटेन और जापान दोनों में से किसी एक को चुनना है तो उसका (जनता का) इरादा क्या है। कांग्रेस यथा-शक्ति सर्वसाधारण की इस भावना के खिलाफ ईमानदारी के साथ लड़ना चाहती है। अगर किसी व्यक्ति में से कोई भावना निकाल देना चाहते हैं तो आपको उसमें उसके बराबर ही कोई और भावना पैदा कर देनी होगी जो पहली भावना को दबा सके। जिस व्यक्ति से आप नशे या शराबखोरी की लत छुड़ा देना चाहते हैं, उसे आपको चाय अथवा कहवा की ओर आकर्षित करना होगा। अगर भारतीय जनता के अन्दर से जापान के प्रति उसकी अनुचित भावना को निकाल देना चाहते हैं तो आपको उसकी जगह उसके अन्दर कोई ऐसी सद्भावना पैदा कर देनी होगी जिससे प्रेरित होकर वह अपनी सारी दुर्भावना, घृणा और निराशा को अपने भीतर से निकाल फेंके। और यह भावना केवल उसकी अपनी आजादी की भावना ही हो सकती है।

एक बार आप भारतीय जनता से यह कह दीजिए कि वह वायु, आकाश के पक्षियों और समुद्र की मछली की तरह स्वतंत्र है और फिर उसके बाद देखिए कि वह अपनी इस स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को उद्यत हो जाएगी। वह अपने नये और पुराने दोनों ही आक्रमणकारियों से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए मर मिटेगी। कार्यसमिति के जुलाई, १९४२ के प्रस्ताव का यही तर्क और यही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। प्रस्ताव के व्यावहारिक भाव में जिस सामूहिक कार्रवाई की कल्पना की गई है, उसका दारोमदार मुख्यतः ब्रिटेन के विवेक और उसकी दूरदर्शिता पर है। यह काम और जिम्मेदारी अब स्वयं ब्रिटेन की है कि वह अपने और भारत के इतिहास की इस नाजुक घड़ी में इस तरह की पेचीदगी न पैदा होने दे। इसके अलावा ब्रिटेन के सहयोगी राष्ट्रों का भी फर्ज है कि वे भारत के लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को संयुक्त राष्ट्रों के पक्ष में करके और उसके अबाध स्रोतों से लाभ उठाकर अपनी अन्तिम विजय सुनिश्चित कर लें। उनका फर्ज है कि वे इस मामले में स्वयं दखल दें, क्योंकि भारत प्रत्यक्ष-रूप से उन्हें ऐसा करने का अनुरोध नहीं कर सकता। प्रथम महायुद्ध में अमरीका से इस तरह का कोई अनुरोध करना अपराध घोषित किया गया था। परन्तु अब तो ३ अप्रैल, १९४२ के बाद से जब से कर्नल जॉनसन भारत आए हैं, प्रति सप्ताह ऐसे अनुरोध किये जा रहे हैं। लेकिन ये अनुरोध भारत अमरीका से नहीं कर रहा बल्कि अमरीका भारत से कर रहा है कि उसे प्रजातंत्रवाद की शक्तियों के पक्ष में अपना सहयोग देना चाहिये। प्रथम महायुद्ध की बात कुछ और थी। उस समय (१९१४–१८) जब श्रीमती एनी बेसेन्ट ने होचनर दम्पति को राष्ट्रपति विल्सन के पास भारत के पक्ष का समर्थन करने के लिए भेजा था, तो श्री मॉण्टेग्यू गुस्से से लाल हो उठे थे। पर अब १९४२ में हालत कुछ और थी। स्वयं प्रधान रूजवेल्ट के निजी प्रतिनिधि कर्नल

जॉनसन ने भारत के प्रति अनुरोध करते हुए कहा :—

"हे सदाशय भारतीयो ! आप हम पर उसी प्रकार विश्वास रखिए, जैसे कि हम आप पर रखते हैं।"

यह काम ब्रिटेन और अमरीका का ही है कि वे ब्रिटेन के पंजे से और हाल में 'ऐंग्लो-अमरीकी राष्ट्रमण्डल' के पंजे से शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति दिलाने के लिए एक दूसरे पर जोर डालें। उसका परिणाम मित्रराष्ट्रों की विजय होगी और उससे भारत और ब्रिटेन बहुत-सी मुसीबतों से बच जाएँगे तथा दोनों पारस्परिक सद्भावना के अटूट बन्धन में बंध जाएंगे।

इस प्रस्ताव को पास किये दो महीने गुजर चुके थे और इस अवधि में जो घटनाएं हुईं उनके परिणामस्वरूप अखिल भारतीय महासमिति के पास इसके सिवा और कोई चारा ही नहीं था कि वह अपने बम्बईवाले अधिवेशन में कार्यसमिति के प्रस्ताव को पास करे। उसने यह प्रस्ताव कुछ साधारण हेर-फेर के साथ पास कर दिया। यह साधारण परिवर्तन भी उसमें इसलिए किया गया कि कुछ बातों पर अधिक जोर दिया जा सके और कुछ बातों को अधिक स्पष्ट किया जा सके।

कार्यसमिति की सिफारिशों पर ७ और ८ अगस्त, १९४२ को अखिल भारतीय महासमिति द्वारा बम्बई में पास किया गया प्रस्तावः—

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने कार्यसमिति के १४ जुलाई १९४२ के प्रस्ताव के विषयों पर, जो कार्यसमिति द्वारा प्रस्तुत किये गये थे, और बाद की घटनाओं पर, जिनमें युद्ध की घटनावली, ब्रिटिश सरकार के जिम्मेदार वक्ताओं के भाषण और भारत तथा विदेशों में की गयी आलोचनाएं सम्मिलित हैं, अत्यन्त सावधानी के साथ विचार किया है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी उस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए उसका समर्थन करती है और उसकी राय है कि बाद की घटनाओं ने इसे और भी औचित्य प्रदान कर दिया है और इस बात को स्पष्ट कर दिखाया है कि भारत में ब्रिटिश शासन का तात्कालिक अन्त, भारत के लिए और मित्रराष्ट्रों के आदर्श की पूर्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस शासन का स्थायित्व भारत की प्रतिष्ठा को घटाता और उसे दुर्बल बनाता है और अपनी रक्षा करने तथा विश्व-स्वातंत्र्य के आदर्श की पूर्ति में सहयोग देने की उसकी शक्ति में क्रमिक ह्रास उत्पन्न करता है।

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने रूसी और चीनी मोर्चों पर स्थिति के बिगड़ने को निराशा के साथ देखा है और वह रूसियों और चीनियों की उस वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा करती है जो उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने में प्रदर्शित की है। जो लोग स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न कर रहे हैं और आक्रमण के शिकार हुए व्यक्तियों से सहानुभूति रखते हैं उन सबको नित्य बढ़ता जानेवाला खतरा उस नीति की परीक्षा करने के लिये बाध्य करता है जिसका मित्र-राष्ट्रों ने अभी तक अवलम्बन किया है और जिसके कारण बारम्बार भीषण असफलताएँ हुई हैं। ऐसे उद्देश्यों, नीतियों और प्रणालियों पर आरूढ़ बने रहने से असफलता सफलता में परिणत नहीं की जा सकती, क्योंकि पिछले अनुभव से प्रकट हो चुका है कि असफलता इन नीतियों में निहित है। ये नीतियां स्वतन्त्रता पर इतनी आधारित नहीं की गई हैं जितनी कि अधीन और औपनिवेशिक देशों पर आधिपत्य बनाये रखने और साम्राज्यवादी परम्पराओं तथा प्रणालियों को अक्षुण्ण बनाने रखने के प्रयत्नों पर। साम्राज्य को अधिकार में रखना शासन-सत्ता की शक्ति

बढ़ाने के बजाय एक भार और शाप बन गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद को सर्वोत्कृष्ट क्रीड़ा-भूमि भारत इस प्रश्न की कसौटी बन गया है, क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता से ही ब्रिटेन और मित्रराष्ट्रों की परीक्षा होगी और एशिया तथा अफ्रीका की जातियों में आशा और उत्साह भर जायगा।

"इस प्रकार इस देश में ब्रिटिश शासन के अन्त होने की अतीव और तत्काल ही आवश्यकता है। इसी के ऊपर युद्ध का भविष्य और स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र की सफलता निर्भर है। स्वतन्त्र भारत अपने समस्त विशाल साधनों को स्वतन्त्रता के पक्ष में और नाजीवाद, फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लगा कर इस सफलता को सुनिश्चित कर देगा। इससे केवल युद्ध की स्थिति पर ही पर्याप्त प्रभाव नहीं पड़ेगा वरन् समस्त पराधीन और पीड़ित मानव-समाज भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हो जायगा और भारत जिन राष्ट्रों का मित्र होगा उनके हाथों में विश्व का नैतिक और आत्मिक नेतृत्व भी आ जायगा। बन्धनों में जकड़ा हुआ भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मूर्तिमान स्वरूप बना रहेगा और उस साम्राज्यवाद का कलंक समस्त मित्रराष्ट्रों के सौभाग्य को दूषित करता रहेगा।

"इसलिये आज के खतरे को देखते हुए भारत को स्वतन्त्र कर देने और ब्रिटिश आधिपत्य को समाप्त कर देने की आवश्यकता है। भविष्य के लिए किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञाओं और गारंटियों से वर्तमान परिस्थिति में सुधार नहीं हो सकता और न उसका मुकाबला किया जा सकता है। इनसे जन-समुदाय के मस्तिष्क पर वह मनोवैज्ञानिक प्रभाव नहीं पड़ सकता जिसकी आज आवश्यकता है। केवल स्वतन्त्रता की दीप्ति से ही करोड़ों व्यक्तियों का वह बल और उत्साह प्राप्त किया जा सकता है जो तत्काल ही युद्ध के रूप को बदल देगा।

"इसलिये अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पूरे आग्रह के साथ भारत से ब्रिटिश सत्ता के हटा लेने की मांग को दुहराती है। भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा हो जाने पर एक अस्थायी सरकार स्थापित कर दी जायगी और स्वतन्त्र भारत मित्रराष्ट्रों का मित्र बन जायगा और स्वातन्त्र्य-संग्राम के सम्मिलित प्रयत्न की परीक्षाओं और दुःख-सुख में हाथ बँटायेगा। अस्थायी सरकार देश के मुख्य दलों और वर्गों के सहयोग से ही बनायी जा सकती है। इस प्रकार यह एक मिली-जुली सरकार होगी जिसमें भारतीयों के समस्त महत्वपूर्ण वर्गों का प्रतिनिधित्व होगा। उसका प्रथम कर्त्तव्य अपनी समस्त सशस्त्र तथा अहिंसात्मक शक्तियों द्वारा मित्रराष्ट्रों से मिल कर भारत की रक्षा करना, आक्रमण का विरोध करना, और खेतों, कारखानों तथा अन्य स्थानों में काम करनेवाले इन श्रमजीवियों का कल्याण और उन्नति करना होगा जो निश्चय ही समस्त शक्ति और अधिकार के वास्तविक पात्र हैं। अस्थायी सरकार एक विधान-निर्मात्री परिषद् की योजना बनायेगी और यह परिषद् भारत-सरकार के लिए एक ऐसा विधान तैयार करेगी जो जनता के समस्त वर्गों को स्वीकार होगा। कांग्रेस के मत से यह विधान संघ विषयक होना चाहिए जिसके अन्तर्गत संघ में सम्मिलित होनेवाले प्रान्तों को शासन के अधिकतम अधिकार प्राप्त होंगे। अवशिष्ट अधिकार भी इन प्रान्तों को प्राप्त होंगे। भारत और मित्रराष्ट्रों के भावी सम्बन्ध इन समस्त स्वतन्त्र देशों के प्रतिनिधियों-द्वारा निश्चित कर दिये जायंगे जो अपने पारस्परिक लाभ तथा आक्रमण का प्रतिरोध करने के सामान्य कार्य में सहयोग देने के लिये परस्पर वार्तालाप करेंगे। स्वतन्त्रता भारत को अपनी जनता की सम्मिलित इच्छा और शक्ति के बल पर आक्रमण का कारगर ढंग से विरोध करने में समर्थ बना देगी।

"भारत की स्वतन्त्रता विदेशी आधिपत्य से अन्य एशियाई राष्ट्रों की मुक्ति का प्रतीक और प्रारम्भ होगी। बर्मा, मलाया, हिन्दचीन, डच द्वीपसमूह, ईरान और ईराक को भी पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि इस समय जापानी नियन्त्रण में जो देश हैं उन्हें बाद को किसी औपनिवेशिक सत्ता के अधीन नहीं रखा जायगा।

"इस संकट-काल में यद्यपि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को प्रधानतः भारत की स्वाधीनता और रक्षा से सम्बन्ध रखना चाहिये तथापि कमेटी का मत है कि संसार की भावी शान्ति, सुरक्षा, और व्यवस्थित उन्नति के लिये स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक विश्वसंघ बनाने की आवश्यकता है। अन्य किसी बात को आधार बना कर आधुनिक संसार की समस्याएं नहीं सुलझाई जा सकतीं। इस प्रकार के विश्वसंघ से उसमें सम्मिलित होनेवाले राष्ट्रों की स्वतंत्रता, एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण और शोषण का रोकना, राष्ट्रीय अल्प-संख्यकों का संरक्षण, पिछड़े हुए समस्त क्षेत्रों और लोगों की उन्नति और सब के सामान्य हित के लिये विश्व-साधनों का एकत्रीकरण किया जाना निश्चित हो जायगा। इस प्रकार का विश्वसंघ स्थापित हो जाने पर समस्त देशों में निश्शस्त्रीकरण हो सकेगा। राष्ट्रीय सेनाओं, नौसेनाओं और वायुसेनाओं की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और विश्वसंघ-रक्षक सेना विश्व में शान्ति रखेगी और आक्रमण को रोकेगी।

"स्वतन्त्र भारत ऐसे विश्वसंघ में प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होगा और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझाने में अन्य देशों के साथ समान आधार पर सहयोग करेगा।

"ऐसे संघ का द्वार उसके आधारभूत सिद्धान्तों का पालन करनेवाले समस्त राष्ट्रों के लिये खुला रहना चाहिये। युद्ध के कारण यह संघ आरम्भ में केवल मित्रराष्ट्रों तक ही सीमित रहेगा। यदि यह कार्य अभी प्रारम्भ कर दिया जाय तो युद्ध पर, धुरी राष्ट्रों की जनता पर, और आगामी शान्ति पर इसका बहुत जोरदार प्रभाव पड़ेगा।

"परन्तु कमेटी खेदपूर्वक अनुभव करती है कि युद्ध की दुःखद और व्याकुल कर देनेवाली शिक्षाएं प्राप्त कर लेने के पश्चात् और विश्व पर संकट के बादलों के घिरे होने पर भी कुछ ही देशों की सरकारें विश्वसंघ बनाने की ओर कदम उठाने को तैयार हैं। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया और विदेशी पत्रों की भ्रमपूर्ण आलोचनाओं से स्पष्ट हो गया है कि भारतीय स्वतन्त्रता की स्पष्ट मांग का भी विरोध किया जा रहा है, यद्यपि यह वर्तमान खतरे का सामना करने और अपनी रक्षा तथा इस आवश्यक घड़ी में चीन और रूस की सहायता कर सकने के लिये की गई है। चीन और रूस की स्वतन्त्रता बड़ी मूल्यवान है और उसकी रक्षा होनी चाहिए, इसलिये कमेटी इस बात के लिये बड़ी उत्सुक है कि उसमें किसी प्रकार की बाधा न पड़े और मित्रराष्ट्रों की रक्षा करने की शक्ति में कोई विघ्न न होने पावे। परन्तु भारत और इन राष्ट्रों के लिये खतरा नित्य बढ़ता ही जा रहा है। और इस समय विदेशी शासन-प्रणाली के आगे सिर झुकाने से भारत का पतन होता जा रहा है और स्वयं आत्मरक्षा करने तथा आक्रमण का विरोध करने की उसकी शक्ति घटती जा रही है। इस दशा में ,न तो नित्य बढ़ते जानेवाले खतरे का कोई प्रतिकार ही नहीं किया जा सकता है और न मित्रराष्ट्रों की जनता की कोई सेवा ही की जा सकती है। कार्यसमिति ने ब्रिटेन और मित्रराष्ट्रों से जो सच्ची अपील की थी उसका अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला है। बहुत से विदेशी क्षेत्रों में की गई आलोचनाओं से प्रकट हो गया है कि भारत और विश्व की आवश्यकताओं के विषय में अज्ञानता फैली हुई है। कभी-कभी तो आधिपत्य बनाये रखने की भावना और जातिगत ऊँच-नीच का प्रतीक वह विरोध भी दिखाया गया है जिसे

अपनी शक्ति और अपने उद्देश्य के औचित्य का ज्ञान रखनेवाली कोई भी अभिमानी जाति सहन नहीं कर सकती।

"इस अन्तिम क्षण में विश्व-स्वातन्त्र्य का ध्यान रखते हुए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी फिर ब्रिटेन और मित्रराष्ट्रों से अपील करना चाहती है। परन्तु वह यह भी अनुभव करती है कि उसे अब राष्ट्र को एक ऐसी साम्राज्यवादी और शासनप्रिय सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छा प्रदर्शित करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है जो उस पर आधिपत्य जमाती है और जो उसे अपने तथा मानव-समाज के हित का ध्यान रखते हुए काम करने से रोकती है। इसलिये कमेटी भारत के स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के अविच्छेद्य अधिकार का समर्थन करने के उद्देश्य से अहिंसात्मक प्रणाली से और अधिक-से-अधिक विस्तृत परिमाण पर एक विशाल संग्राम चालू करने की स्वीकृति देने का निश्चय करती है, जिससे देश गत २२ वर्षों के शान्तिपूर्ण संग्राम में संचित की गई समस्त अहिंसात्मक शक्ति का प्रयोग कर सके। यह संग्राम निश्चय ही गांधीजी के नेतृत्व में होगा और कमेटी उनसे नेतृत्व करने और प्रस्तावित कार्रवाइयों में राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन करने का निवेदन करती है।

"कमेटी भारतीयों से इन खतरों और कठिनाइयों का, जो उनके ऊपर आयेंगे, साहस और दृढ़तापूर्वक सामना करने तथा गांधीजी के नेतृत्व में एक बने रहकर भारतीय स्वतन्त्रता के अनुशासित सैनिकों के समान उनके निर्देशों का पालन करने की अपील करती है। उन्हें यह अवश्य याद रखना चाहिए कि अहिंसा इस आन्दोलन का आधार है। ऐसा समय आ सकता है जब निर्देश देना अथवा निर्देशों का हमारी जनता तक पहुँचना सम्भव न होगा और जब कोई भी कांग्रेस समिति कार्य नहीं कर सकेगी। ऐसा होने पर इस आन्दोलन में भाग लेनेवाले प्रत्येक नर-नारी को सामान्य निर्देशों की सीमा में रहते हुए अपने-आप काम करना चाहिए। स्वतन्त्रता की कामना और उसके लिये प्रयत्न करनेवाले प्रत्येक भारतीय को स्वयं अपना पथ-प्रदर्शक बनकर उस कठिन मार्ग पर अग्रसर होते जाना चाहिए जहां विश्राम का कोई स्थान नहीं है और जो अन्त में भारत की स्वतन्त्रता और मुक्ति पर जाकर समाप्त होता है।

"अन्त में यह बताया है कि यद्यपि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने स्वतन्त्र भारत की भावी सरकार के विषय में अपना विचार प्रकट कर दिया है, तथापि कमेटी समस्त सम्बद्ध लोगों के लिये यह बिल्कुल स्पष्ट कर देना चाहती है कि विशाल संग्राम आरम्भ करके वह कांग्रेस के लिये कोई सत्ता प्राप्त करने की इच्छुक नहीं है। सत्ता जब मिलेगी तो उस पर समस्त भारतीयों का अधिकार होगा।"

प्रस्ताव में इस बात पर जोर दिया गया था कि नैतिक दृष्टि से भारत की गुलामी उसके लिए अपमानजनक है और उससे युद्ध-प्रयत्न में वह कमजोर पड़ जाता है। गुलाम भारत युद्ध-प्रयत्न में इतनी जोरदार सहायता नहीं कर सकता जितना कि स्वतंत्र भारत। साम्राज्य-वाद एक अभिशाप है और उस पर आधारित सिद्धान्तों और नीतियों का असफल रहना अवश्यंभावी और अनिवार्य है। भविष्य में स्वाधीनता के वायदों से लोगों पर कोई वैज्ञानिक और नैतिक प्रभाव नहीं पड़ता। अस्थायी सरकार और विधान-निर्मात्री परिषद् का परिणाम यह होगा कि उससे भारतीय संघ की स्थापना हो सकेगी और भारतीय संघ का परिणाम होगा विश्वसंघ। विश्वसंघ की स्थापना संयुक्त राष्ट्र मिलकर करेंगे और भारत इस संघ का एक स्वतंत्र और बराबर का सदस्य होगा। अन्त में प्रस्ताव में ब्रिटेन से अपील की गई है कि

वह भारत की मांग को मंजूर करले और अगर उसने भारत की मांग ठुकरादी तो उसका परिणाम सामूहिक आन्दोलन होगा । इस प्रस्ताव में तीन नयी बातें हैं । पहली तो यह कि अस्थायी सरकार का प्रथम कर्तव्य "अपनी समस्त सशस्त्र तथा अहिंसात्मक शक्तियों द्वारा भारत की रक्षा करना। दूसरे, यह कि भावी संघ-योजना का जिक्र करते हुए कांग्रेस ने साफतौर पर बता दिया है और अधिक ठीक कहना तो यह होगा कि उसकी दुबारा[1] इस बात को स्पष्ट कर दिया कि यह विधान संघ-विषयक होना चाहिये जिसके अन्तर्गत संघ में शामिल होनेवाले प्रान्तों को अधिकतम अधिकार प्राप्त होंगे और इन प्रान्तों को अवशिष्ट अधिकार भी प्राप्त होंगे। और तीसरे, यह कि भारत की स्वतंत्रता विदेशी आधिपत्य से अन्य एशियाई राष्ट्रों की मुक्ति की प्रतीक और प्रारम्भ होगी। बर्मा, मलाया, हिन्द चीन, डच पूर्वी द्वीपसमूह, ईरान और ईराक को भी पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये । भारत की स्वतंत्रता उक्त उद्देश्यों की प्रतीक और पूर्व-भूमिका होगी तथा इन देशों को दूसरी किसी भी औपनिवेशिक सत्ता के शासन अथवा नियंत्रण में नहीं रहने दिया जाएगा ।"

७ और ८ अगस्त को जब अखिल भारतीय महासमिति का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ तो उसके सदस्यों और जनता दोनों में ही बड़ी उत्तेजना पाई जाती थी । सभामंडप कमेटी की बैठक की बजाय कांग्रेस का एक छोटा-सा अधिवेशन प्रतीत हो रहा था, जिसमें करीब बीस हजार आदमी सम्मिलित हुए थे । बम्बई शायद कंजूसी का नाम ही नहीं जानता और वह प्रान्त अपने आतिथ्य-सत्कार के लिए संभवतः सब से ज़्यादा मशहूर हो चुका है । वाद-विवाद और सोच-विचार के वातावरण में सहसा परिवर्तन होगया । इसकी वजह थी हैदराबाद (दक्षिण) के एक प्रमुख मुसलमान डा० अब्दुल लतीफ का मित्रतापूर्ण रुख । डा० लतीफ पिछले कुछ समय से पाकिस्तान की योजना तैयार कर रहे थे । आपने सहसा इस प्रश्न पर लीग के रुख की कड़ी आलोचना करते हुए यह सुझाव पेश किया कि उसे पाकिस्तान की मांग छोड़कर राष्ट्रीय सरकार की स्थापना पर अधिक ध्यान देना चाहिये । कांग्रेस के प्रधान और डा० लतीफ के दरमियान इस सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी भी हुई । कांग्रेस के प्रधान ने कांग्रेस की स्थिति पुनः स्पष्ट करते हुए कहा कि कार्यसमिति ने अपने दिल्लीवाले अधिवेशन में किसी प्रादेशिक इकाई के स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार की जो स्वीकृति दी थी वह अब भी वैसी ही कायम है और उसपर इलाहाबाद में श्री जगत-नारायण के पाकिस्तान-विरोधी प्रस्ताव का कोई असर नहीं पड़ता । एक मित्र जो कांग्रेस और लीग दोनों के ही समान दोस्त थे, श्री जिन्ना से बातचीत करने के बाद गांधीजी से यह पूछने आए कि क्या कांग्रेस के प्रधान का ब्रिटेन के सम्मुख पेश किया गया वह सुझाव अभी तक कायम है जिसमें उन्होंने यह कहा था कि यदि ब्रिटेन चाहे तो किसी भी संप्रदायको भारत की सत्ता हस्तान्तरित कर सकता है (अर्थात् राष्ट्रीय सरकार की स्थापना मुस्लिम लीग ही करे) । इस पर गांधीजी ने कहा कि कांग्रेस ने यह कोई शेखी नहीं बघारी थी, बल्कि उसने यह घोषणा सोच-समझकर और पूरी गंभीरता के साथ ही की थी । कांग्रेस को अपना सामूहिक आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिए इतनी उतावली न थी। उसे इस काम की कोई जल्दबाजी नहीं थी । वह तो कोई आन्दोलन शुरू करने से पहले

[1] अवशिष्ट अधिकारों से सम्बन्ध रखनेवाली धारा वास्तव में दूसरी गोलमेज परिषद् के प्रारम्भ होने से पहले जुलाई, १९३१ में कांग्रेस की कार्यसमिति द्वारा पास किये गए एक प्रस्ताव की पुनरावृत्ति मात्र है ।

वाइसराय के साथ एक शान्तिपूर्ण और मैत्रीपूर्ण समझौते का अन्तिम प्रयत्न कर लेना चाहती थी। और अगर आवश्यक समझा जाय तो चीन, अमरीका और अन्य मित्र राष्ट्रों से पहले अनुरोध करने के बाद ही कोई आन्दोलन छेड़ना चाहती थी।

यदि सरकार यह आशा लगाए बैठी थी कि अखिल भारतीय महासमिति कार्यसमिति का प्रस्ताव नामंजूर कर देगी तो समिति की कार्रवाई ने उनका यह विचार और आशा बिलकुल मिथ्या साबित कर दिया। सरकार भी अपने तौर पर सोई नहीं बैठी थी। वह जागरूक थी; क्योंकि जैसा कि बाद की घटनाओं से जाहिर होता है, सरकार कांग्रेस के आन्दोलन का मुकाबला करने की आवश्यक तैयारी उसी दिन से कर रही थी जब कि जुलाई, १९४२ में कार्यसमिति ने वर्धा में अपना प्रस्ताव पास किया था। सरकार का विचार था कि अखिल भारतीय महासमिति की बैठक का इससे अधिक महत्व और कुछ भी नहीं था कि वह कांग्रेस के विधान के लिये एक रिआयत थी—अर्थात् वह एक रस्मी कार्रवाई थी। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में जितने भी संशोधन पेश किये गए वे सब रस्मी थे और साम्यवादी दल के संशोधन के अलावा शेष सभी संशोधन वापस ले लिए गए। जून, १९४१ में जब से रूस इस लड़ाई में शामिल हुआ, इस दल ने यह कहना शुरू कर दिया कि यह लड़ाई जनता की लड़ाई है और जैसा कि आमतौर पर ख़याल किया जाता है कि उन्होंने लन्दन में अपने प्रधान कार्यालय की हिदायतों के मुताबिक युद्ध-प्रयत्न में भाग लेने का आग्रह और प्रचार किया। चुनांचे यह दल सांप्रदायिक एकता और भारत की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्रों को सहायता देने का हामी था। उक्त प्रस्ताव पंडित जवाहरलाल नेहरू ने पेश किया और सरदार पटेल ने उसका समर्थन किया और यह प्रस्ताव केवल १३ विरोधीमतों के पास होगया। प्रस्ताव के विरोधियों में १२ साम्यवादी और तेरहवें व्यक्ति एक साम्यवादी के पिता थे।

इस अवसर पर विभिन्न प्रवक्ताओं ने जो विचार और भाव व्यक्त किए उनका स्मरण करना न केवल दिलचस्प होगा बल्कि उससे कांग्रेस के निर्णय की योजना और उद्देश्य को ठीक तरह से समझने में भी बड़ी मदद मिलेगी। प्रस्ताव की आलोचनाओं का उत्तर देते हुए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने बताया कि किस प्रकार साम्यवादी दल बिलकुल ग़लती पर था और उसे जनता का समर्थन भी सर्वथा प्राप्त नहीं था। उन्होंने कहा कि ब्रिटेन और अमरीका तो युद्ध के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण से विचार करते हैं कि उनके पास कितने टैंक और हवाई जहाज़ हैं। लेकिन तात्कालिक आवश्यकता युद्ध के भौतिक पहलू की बजाय उसके नैतिक पहलू पर ज़ोर देने की है। युद्ध के लिए सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसे एशियाइयों और अफ्रीकनों का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। आगे आपने कहा कि इस प्रस्ताव को पास करने के फलस्वरूप जो ज्वाला उठेगी उससे काकेशिया से लेकर चुंगकिंग तक का अन्धकारपूर्ण क्षितिज आलोकित हो उठेगा। सांप्रदायिक गुत्थी का जिक्र करते हुए पण्डित नेहरू ने बताया कि कांग्रेस को अपने प्रतिनिधि तक चुनने के अधिकार से वंचित करने की कोशिश की गई हैं; क्योंकि मुस्लिम लीग यह कभी गवारा नहीं कर सकती कि कांग्रेस की तरफ़ से समझौता करनेवाली किसी समिति में कोई मुसलमान भी रहे। यह कांग्रेस और उसके प्रधान मौलाना आज़ाद की तौहीन थी। हो सकता है कि कांग्रेस ने सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने की कोशिश करते समय कोई ग़लती या भूल की हो; पर उसकी आत्मा निर्मल और शुद्ध थी; क्योंकि उसने इस दिशा में जो भी प्रयत्न किये वे सब सच्चे दिल से और ईमानदारी से किए।

लेकिन वे सब कोशिशें बेकार रहीं। यह प्रस्ताव भारतीय जनता—पददलित मानवता की आवाज़ का द्योतक है। कांग्रेस ने अपनी मांग सच्चे दिल से पेश की थी। परन्तु उसने इस प्रस्ताव में सहयोग का जो प्रस्ताव किया था उसका आधार केवल समानता की शर्त पर संसार के दूसरे स्वतंत्र राष्ट्रों के प्रति सहयोग का हाथ बढ़ाना था। परतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत अपने सहयोग का हाथ बढ़ाने को तैयार नहीं था। यह बड़े दुःख की बात है कि पश्चिम के नेताओं ने उन प्रारम्भिक और मूलभूत परिवर्तनों से आँखें मूँद लीं जिनसे मानवता को प्रेरणा मिलती है। वाशिंगटन में अमरीका की प्रतिनिधि सभा के सम्मुख भाषण देते हुए श्री चर्चिल अभी तक एंग्लो-सेक्सन जाति की दो शाखाओं के ही गुण गा रहे थे; परन्तु एंग्लो-सेक्सन जाति इस विचार से कि वह बड़ी शान-शौकत से दुनिया में अग्रसर हो रही है, चाहे कितनी ही खुश क्यों न हो, पर सच तो यह है कि दुनिया में और भी जातियाँ विद्यमान हैं और चाहे कुछ भी हो एशिया तो कम-से-कम यह स्थिति कभी बरदाश्त नहीं कर सकता। स्वयं भारतीय राष्ट्रवाद भी अपने प्रारम्भिक संकुचित दायरे से निकल कर अब अन्तर्राष्ट्रीयता के धरातल पर पहुँच गया था। भारतीयों की अपेक्षा दुनिया का शायद ही कोई और ऐसा राष्ट्र हो जो परतंत्रता को अधिक अच्छी तरह से समझ और अनुभव कर सकता हो। वे चिरकाल से परतंत्रता की बेड़ियों को पहने चले आ रहे हैं और अब उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वे इन्हें उतार कर ही दम लेंगे। इस अग्नि-परीक्षा में से या तो वे एक स्वतंत्र राष्ट्र की तरह सफल होकर दुनिया के रंगमंच पर आयेंगे और या फिर अपने आपको भस्मसात् ही कर देंगे।

मौलाना आज़ाद ने मुस्लिम लीग के साथ समझौता करने के लिए एक समिति नियुक्त करने के सम्बन्ध में अपने इलाहाबादवाले प्रस्ताव का फिर ज़िक्र किया। प्रस्ताव पास हो जाने के बाद अपने अन्तिम भाषण में मौलाना आज़ाद ने लोगों से धैर्य रखने का अनुरोध करते हुए कहा कि अगर कांग्रेस का इरादा जल्दी ही सामूहिक आन्दोलन नहीं छेड़ने का है तो इसका तात्पर्य सिर्फ एक ही है कि वह अपनी स्थिति और भी दृढ़ बना लेना चाहती है। उन्होंने कहा कि स्वयं मेरा इरादा इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट और जेनरलिस्सिमो चांगकाई शेक को लिखने का है। मैं उनसे भारत की मांग के सम्बन्ध में अनुरोध करना चाहता हूँ।

प्रस्ताव पास हो जाने के बाद गांधीजी ने अपना भाषण दिया। वास्तव में उस दिन गांधीजी एक अवतार और पैग़म्बर की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर भाषण दे रहे थे। उनके अन्दर आग धधक रही थी। गांधीजी उस दिन राजनीति के निम्न धरातल से ऊपर उठ कर उत्कृष्ट मानवता, विश्वव्यापी भ्रातृत्व, शान्ति, और मानवमात्र के प्रति सद्भाव से परिपूरित होकर दिव्य लोक की चर्चा कर रहे थे। वास्तव में गांधीजी सभी राष्ट्रों के समान हितचिन्तक, ग़रीब जनता के मित्र, उत्पीड़ित और पददलित मानवता और परतंत्रता के पाश में आबद्ध लोगों के उद्धारक की हैसियत से बोल रहे थे। वे मानों अब्राहम लिंकन के इन सुविख्यात् और शाश्वत महत्त्व के शब्दों से अपना भाषण कर रहे थे और जनता से आग्रह कर रहे थे कि "आप किसी के प्रति अपने मन में द्वेष और वैरभाव न रखें; सभी के प्रति दयालुतापूर्ण बर्ताव करें, हमेशा ईश्वर द्वारा प्रदर्शित सत्य मार्ग पर दृढ़ रहें। हमने जो काम करने का बीड़ा उठाया है, उसे पूरी लगन के साथ पूरा करें, ताकि न केवल इस देश में, अपितु समस्त विश्व में शाश्वत शान्ति और न्याय की स्थापना हो सके।"

गांधीजी उस दिन वास्तव में राष्ट्र के मुख्य सेवक के प्रतिनिधि के रूप में बोल रहे थे।

उन्होंने इस अवसर पर संयुक्त राष्ट्रों से हार्दिक अपील की कि वे अपने जीवन के इस महत्त्वपूर्ण अवसर से न चूकें। इसी प्रकार उन्होंने हरएक हिन्दुस्तानी से कहा कि वह अपने को आज़ाद समझे। गांधीजी ने समाचार-पत्रों, नरेशों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, सरकारी कर्मचारियों और अन्य लोगों को भी यही संदेश दिया।

"मैं इस लड़ाई में आपका नेतृत्व करने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेता हूँ, सेनापति अथवा नियंत्रक के रूप में नहीं, बल्कि आपके तुच्छ सेवक के रूप में और जो कोई सर्वाधिक सेवा करेगा वही मुख्य सेवक माना जायगा। मैं तो राष्ट्र का मुख्य सेवक हूँ।" अपना भाषण समाप्त करते हुए गांधीजी ने कहा, "आपलोगों को जो भी मुसीबतें और कष्ट झेलने पड़ेंगे, मैं उनमें आपका हाथ बँटाना चाहता हूं।"

अपने आन्दोलन के सम्बन्ध में विदेशों की टीका-टिप्पणी का संक्षेप में ज़िक्र करते हुए गांधीजी ने कहा—"मुझे भारत और उसके बाहर अपने कितने ही मित्रों की दोस्ती और विश्वास से हाथ धोना पड़ा है। इतना ही नहीं, उनमें से कुछ को तो मेरी बुद्धिमत्ता पर ही संदेह होने लगा है और दूसरे कुछ लोगों को मेरी ईमानदारी पर भी। बुद्धिमत्ता से हाथ धोने की बात तो मैं गवारा कर सकता हूं; लेकिन जहाँ तक ईमानदारी और सचाई का सवाल है वह मेरी एक अमूल्य निधि है, जिसे मैं किसी भी हालत में नहीं खो सकता।

"मुझे अपने अन्दर की आवाज़ को दबा देना होगा। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मुझे अकेले ही संसार से लोहा लेना पड़ेगा। वह मुझे यह भी कहती है कि 'जबतक तुम में निश्शंक होकर संसार का सामना करने की ताक़त है, जबतक तुम सुरक्षित हो, भले ही दुनिया तुम्हें किसी और नज़र से देखे। तुम उस दुनिया की परवाह न करो और केवल उस परमात्मा से डरते हुए अपना काम करते रहो।......मैं चाहती हूं कि तुम अपनी पूरी आयु तक जीवित रहो।' लेकिन मेरा यह सवाल नहीं कि मैं इतने काल तक जीवित रहूँगा। जब मैं इस दुनिया में नहीं रहूँगा, तो हिन्दुस्तान आज़ाद हो जायगा और न केवल हिन्दुस्तान ही आज़ाद होगा, बल्कि समस्त संसार स्वतंत्रता की सांस ले रहा होगा।"

आज़ादी का अर्थ जैसा वे समझते थे, उसके अनुसार उन्हें सन्देह था कि इंग्लैण्ड और अमरीका भी स्वतंत्र हैं।

गांधीजी ने सवाल किया "आख़िर आज भारत की आज़ादी मांग कर कांग्रेस ने कौन-सा अपराध किया है?"

"क्या ऐसी मांग करना ग़लती है; क्या उस संस्था पर सन्देह करना ठीक है? मुझे आशा है कि इंग्लैण्ड ऐसा नहीं करेगा। मुझे उम्मीद है कि अमरीका के राष्ट्रपति भी ऐसा नहीं सोचेंगे। और मुझे उम्मीद है कि चीन के सर्वोच्च प्रधान सेनापति मार्शल चांगकाई शेक भी, जो इस समय अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए जापानियों के साथ भीषण युद्ध कर रहे हैं, कांग्रेस के बारे में ऐसी कोई बात नहीं सोचेंगे। अगर संसार के सभी राष्ट्र मेरा विरोध करें; यदि समस्त भारत भी मुझे समझाने की कोशिश करे तो भी मैं अपने मार्ग से विचलित नहीं हूँगा। मैं आगे ही क़दम बढ़ाता जाऊँगा—सिर्फ भारत के लिए नहीं, बल्कि सारे संसार की ख़ातिर।"

गांधीजी ने कहा कि यद्यपि ब्रिटेन ने भारत को सबसे अधिक उत्तेजित किया है, फिर भी "हम कोई निकम्मा वार नहीं करेंगे। अब तक हमने वास्तव में बड़ी सज्जनता और शराफ़त

से काम लिया है। हम ऐसी निकम्मी हरकत कभी नहीं करेंगे। हम ऐसे ओछे हथियारों से काम नहीं लेंगे।" अपना भाषण समाप्त करते हुए गांधीजी ने कहा, "मैंने कांग्रेस को बाज़ी पर लगा दिया है; वह करेगी या मरेगी।"

गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम सवाल पर भी विशद रूप से प्रकाश डालते हुए साफ़-साफ़ शब्दों में कहा, "पाकिस्तान के सवाल पर मेरे मन में कोई भ्रम नहीं है। चाहे कुछ भी हो, पाकिस्तान हिन्दुस्तान के बाहर नहीं बन सकता। हम सभी को एक-दूसरे के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर देश की आज़ादी की कोशिश करनी चाहिए। मैं बड़ा उतावला हूँ। आज़ादी सबके लिए है, किसी एक जाति या क़ौम के लिए नहीं। किसी भी क़ौम को हिन्दुस्तान की हुकूमत सौंप देने की जो मांग मौलाना साहब ने ब्रिटेन के सामने पेश की है, मैं उसका समर्थन करता हूँ। अगर मुसलमानों को हुकूमत सौंप दी जाय तो उससे मुझे कोई रंज नहीं होगा, आख़िर वे हिन्दुस्तानी हैं। आख़िर हिन्दुस्तान उनका अपना घर है। कांग्रेस के दरवाजे सबके लिए खुले हैं। वे कांग्रेस पर क़ब्ज़ा करके उसकी नीति बदलवा सकते हैं। कोई उन्हें इससे रोक नहीं सकता। कांग्रेस एक प्रजातन्त्रात्मक संस्था है। हिन्दू भी यह समझ लें कि उन्हें अल्पसंख्यकों-सहित सबके लिए लड़ना है। मुसलमानों की जान बचाने के लिए उन्हें अपनी जान की क़ुरबानी करनी चाहिए। यह अहिंसा का पहला पाठ है। हमें अपने पड़ोसी के प्रति सहिष्णु बनना चाहिए। मुसलमानों और दूसरों को भी मेरी यही सलाह है।

"अब की जो लड़ाई छिड़ेगी, वह तो सामूहिक लड़ाई होगी। हमारी योजना में गुप्त कुछ भी नहीं है। हमारी तो खुली लड़ाई है। पकल साहब की गश्ती चिट्ठी तो आपने देखी ही होगी? कुकुरमुत्ते की तरह पैदा होनेवाली संस्थाओं की मदद से कांग्रेस का विरोध या उसे कुचल डालना सरकारी अमलदारी के लिए नामुमकिन है। हम एक सल्तनत का मुकाबला करने जा रहे हैं और हमारी लड़ाई बिलकुल सीधी लड़ाई होगी। इस बारे में आप किसी भ्रम में न रहें। दिल में कोई उलझन न रखें। लुक-छिपकर कोई काम न करें। जो लुक-छिपकर काम करते हैं, उन्हें पछताना पड़ता है।"

जनता को यह गम्भीर राय देने और इसी प्रकार सरकार को यह गम्भीर चेतावनी देने के पहले गांधीजी ने अपने पक्ष की कमज़ोरियों को खूब भाँप लिया था। अपने पक्ष के समर्थन की वे पूरी-पूरी तैयारी करके आए थे। वे जानते थे कि उनके प्रस्ताव के बारे में क्या-क्या आपत्तियाँ उठाई जाएँगी। उनका जवाब वे पहले से ही सोच आए थे। इनमें सर्वप्रथम और महत्त्वपूर्ण सवाल हिन्दुओं और मुसलमानों के मतभेद का था। अपना भाषण देने से पहले ही उन्हें विश्वास था कि वे इस विषय में श्री जिन्ना से समझौता कर सकते हैं। वे अपने श्रोताओं और सरकार दोनों से ही बेख़बर नहीं थे।

उनके दिल की बात जनता नहीं जानती थी। वास्तविकता यह थी कि ठीक उस दिन उन्होंने "युद्ध के दौरान में अन्तर्कालीन व्यवस्था" के सम्बन्ध में श्री जिन्ना को एक पत्र लिखा था।

इस अन्तर्कालीन व्यवस्था के सम्बन्ध में ११ अगस्त के "टाइम्स आफ इण्डिया' में एक अज्ञात लेखक ने स्वर्गीय श्री महादेव देसाई द्वारा लिखाए गए कुछ उद्धरण प्रकाशित किये जिनका सम्बन्ध गिरफ्तारियाँ होने से कुछ ही घण्टे पूर्व गांधीजी तथा बम्बई के एक मुसलमान नागरिक के बीच हुए पत्र-व्यवहार से था:—

गांधीजी के नाम पत्र:—"मुस्लिम लीग को हुकूमत सौंप देने के बारे में मौलाना अबुल कलाम आजाद ने जो वक्तव्य दिया है, उसके सम्बन्ध में आज श्री महादेव देसाई से मेरी दोस्ताना बातचीत हुई है। चूँकि मुझे उस वक्तव्य की वास्तविकता के बारे में सन्देह था, इसलिए मैंने श्री महादेव देसाई से उस पर प्रकाश डालने को कहा। जनता के हितों की दृष्टि से उसका स्पष्ट हो जाना बहुत ज़रूरी है। श्री महादेव देसाई से बातचीत करने के बाद मैंने इस बारे में सारी स्थिति श्री जिन्ना को स्पष्ट करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। श्री जिन्ना ने मुझ से कहा कि वे ऐसे किसी भी प्रस्ताव पर गौर से सोच-विचार करेंगे। उन्होंने इस प्रस्ताव के बारे में बड़े संगीन इलज़ाम लगाए हैं, लेकिन अगर उन्हें इसकी ईमानदारी और सत्यता के बारे में विश्वास हो जाय तो वे प्रसन्नतापूर्वक अपने ये इलज़ाम वापस ले लेंगे और खेद प्रकट करेंगे। मेरी राय में उनके लिये यह अत्यधिक उचित ही था।"

गांधीजी का जवाब:—"आपका पत्र मिला, जिसमें आपने कायदे-आज़म से अपनी आज की बातचीत का सार लिखा है। इस सम्बन्ध में साफ-साफ शब्दों में कह देना चाहता हूं कि 'हरिजन' के पिछले एक अंक में मैंने जब मुस्लिम लीग के नाम मौलाना आजाद का प्रस्ताव प्रकाशित किया था तो वह हर तरीके से एक गंभीर चीज़ थी। मैंने उसे पूरी ज़िम्मेदारी और गंभीरतापूर्वक पेश किया था। आपकी सुविधा के लिए मैं उसे पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूं। यदि मुस्लिम लीग बिना किसी ननुनच के कांग्रेस की तत्काल आजादी देने की माँग का पूर्णरूप से समर्थन करे, लेकिन इस शर्त पर कि स्वतंत्र भारत धुरी-राष्ट्रों के हमले को रोकने और चीन और रूस दोनों की मदद के उद्देश्य से मित्रराष्ट्रीय सेनाओं को अपनी सैन्य कार्रवाई करने देगा, उस हालत में अगर ब्रिटेन समस्त हिन्दुस्तान की तरफ से जिसमें देशीराज्य भी शामिल हैं, मुस्लिम लीग को वे सभी अधिकार सौंप दे जो आज उसके पास हैं, तो कांग्रेस को इस पर रत्तीभर आपत्ति नहीं होगी। तब कांग्रेस न केवल भारतीय लोगों की तरफ से बनाई गई मुस्लिम लीग की सरकार को सहयोग प्रदान करेगी, बल्कि वह स्वतंत्र सरकार की शासन-व्यवस्था चलाने में भी भाग लेगी। यह बात मैं पूरी ईमानदारी और गंभीरता के साथ कह रहा हूं। जैसा कि स्वाभाविक है, आपके पत्र के उत्तर में इतनी जल्दी उस प्रस्ताव के सभी वास्तविक पहलुओं और व्यापक परिणामों पर प्रकाश नहीं डाल सकता। आप चाहें तो इसे कायदे-आज़म को दिखा सकते हैं। इतना ही नहीं, आप चाहें तो इसे किसी भी ऐसे व्यक्ति को दिखा सकते हैं जिसे भारत की तात्कालिक स्वतंत्रता और एक स्वतंत्र भारत के सम्बन्ध से दिलचस्पी हो।"

गांधीजी ने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा कर दी थी कि आन्दोलन शुरू करने के पूर्व वे वाइसराय को एक पत्र लिखना चाहते हैं। वे उनके जवाब की प्रतीक्षा करना चाहते थे। उनका खयाल था कि इसमें शायद दो-तीन सप्ताह लग जायँ। इस बीच उन्होंने देश-वासियों को सलाह दी कि वे कांग्रेस के १३ सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम में अपनी शक्ति लगाएँ। इसके अलावा उन्होंने लोगों को नीचे लिखी हिदायतें भी दीं:—

१—अखबारों को स्वतंत्रतापूर्वक और निर्भीक होकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। उन्हें सरकार से डरना नहीं चाहिए और न किसी से रिश्वत लेनी चाहिए। अधिकारियों-द्वारा अपना दुरुपयोग किये जाने की अपेक्षा काम बन्द कर देना कहीं अधिक अच्छा होगा और तब उन्हें अपनी इमारतों, मशीनों और बड़े-बड़े कारोबार की कुरबानी देने को तैयार रहना चाहिये।

संपादक-सम्मेलन की स्थायी समिति के सरकार को जो वचन दे रहा है, पत्रों को उससे अपना कोई वास्ता नहीं रखना चाहिये। पकल साहब को उनका यही जवाब हो सकता है। उन्हें अपने आत्म-सम्मान को मिट्टी में नहीं मिलने देना चाहिये। उन्हें किसी हालत में अपमान नहीं सहन करना चाहिये।

२—राजाओं को संबोधित करते हुए गांधीजी ने कहा,—

"राजाओं को यह समझ लेना चाहिए कि मैं उनका शुभचिन्तक हूं। मेरे पिता दीवान रह चुके हैं। स्वयं मेरा जन्म भी एक रियासत में ही हुआ था। मैंने उनका नमक खाया है। मैं नमकहरामी नहीं करना चाहता। राजाओं को स्थिति के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। उन्हें समय की गति को पहचान कर अपने शासन की बागडोर अपनी प्रजा को सौंप देनी चाहिये और इसकी सूचना सरकार के राजनीतिक विभाग को भी दे देनी चाहिये। अगर वे ऐसा करने से चूक गये तो फिर स्वतंत्र भारत में उनके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। राजाओं को अपनी स्वेच्छाचारिता और तंत्रशाही का परित्यग कर देना चाहिये।"

३—आन्दोलन के स्वरूप और उसे किस ढंग से चलाना चाहिये, इस बारे में गांधीजी ने साफ-साफ कह दिया था कि "गुप्त रूप से कोई काम न कीजिये, यह पाप है। लुक-छिपकर कोई आन्दोलन न चलाइये।"

४—विद्यार्थियों और शिक्षकों को संबोधित करते हुए गांधीजी ने कहा कि 'वे अपने अन्दर आजादी की भावना को धारण करें। कांग्रेस के साथ खड़े रहें। यह कहने की हिम्मत दिखायें कि वे कांग्रेस के हैं। और अगर ज़रूरत आ ही पड़े तो वे अपने धन्धे और 'कैरियर' को खुशी-खुशी छोड़ दें।"

सरकारी नौकरों का ज़िक्र करते हुए गांधीजी ने उन्हें सलाह दी कि 'उनके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वे फौरन ही अपनी नौकरियों से इस्तीफे दे दें, लेकिन उन्हें सरकार को यह तो लिखकर दे ही देना चाहिए कि वे कांग्रेस के साथ हैं।"

क्रिप्स-मिशन की असफलता के बाद हमें क्या करना चाहिये, इस बारे में स्वयं कांग्रेसियों की भी आमराय एक ही जैसी थी। और यदि इस सम्बन्ध में गांधीजी और जवाहरलाल जी भी एक ही राय के हो जाते तो फिर सोने में सोहागा हो जाता, क्योंकि उसका मतलब यह होता कि देश के वृद्धवर्ग और नवयुवक-वर्ग में एक ही मत स्थापित होगया है—अर्थात् दोनों में कोई मतभेद नहीं रहा। इसका अर्थ यह होता कि पूर्व के विशुद्ध सत्याग्रही और पश्चिम के यथार्थवादी राजनीतिज्ञ की राय में अब कोई फर्क नहीं रहा। दोनों एक-दूसरे से सहमत हो गए हैं। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जुलाई के प्रस्ताव से पहले भी इन दोनों नेताओं के दृष्टिकोण एक-दूसरे से अलग-अलग थे। परन्तु उनमें सुगमता से सामंजस्य स्थापित हो गया था। ९ जून को इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति क्या थी, इस पर श्री लुई फिशर ने अपनी पुस्तक "ए वीक विद गांधी" में प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"आगामी आन्दोलन के बारे में अब नेहरू भी गांधीजी से पूर्णतः सहमत होगए थे। उन्होंने गांधीजी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने में जो ननुनच की थी, उसकी वजह यह थी की उन्हें आशा थी कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट, चांगकाई शेक अथवा कोई और व्यक्ति भारतीय मामले में हस्तक्षेप करके अंग्रेज़ों और भारतीयों के गतिरोध को दूर कर देगा और अंग्रेज़ों का संगठित रूप से विरोध करेगा।"

परन्तु घटना-चक्र चलता रहा और उसके साथ कांग्रेस के अनुयायियों में सद्-भावनापूर्ण मतभेद पैदा होता गया। कार्य-समिति के वर्धा और बम्बई वाले प्रस्तावों के सम्बन्ध में उनमें मतभेद था। उस अवसर पर क्या ये प्रस्ताव पास किये जाने चाहिये थे, इस सम्बन्ध में उनमें सच्चे दिल से मतभेद था। क्रिप्स के एकदम वापस चले जाने के बाद और ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने प्रस्ताव वापस ले लेने के बाद क्या कांग्रेस को इस तरह का कोई अल्टीमेटम देना उचित था? इस सम्बन्ध में कांग्रेसजनों में काफी मतभेद था। क्रिप्स-मिशन की असफलता के बाद चुपचाप और निष्क्रिय होकर बैठ रहना नाव को समुद्र में बिना पतवार के छोड़ देने के समान था। लेकिन एक पवित्र विचार-धारा यह थी कि अगर हम पांच-छः महीने तक धीरज से काम लेकर प्रतीक्षा करते तो हमारी शर्तें मंजूर करली जातीं और ब्रिटिश सरकार की ओर से संशोधित प्रस्ताव उपस्थित किये जाते। परन्तु इस दृष्टिकोण के अनुसार हम ब्रिटिश-जनता की प्रकृति की उपेक्षा कर देते हैं। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक का यह विचार था कि जब अंग्रेज कोई अन्तिम कदम उठाले तभी उसके साथ कोई समझौते की बातचीत या विचार-विनिमय हो सकता है। एक बार जब वे ऐसा कोई कदम उठा लेते हैं तो उस पर डट जाते हैं और फिर उसके खिलाफ किसी किस्म के विरोध की भी परवाह नहीं करते। गांधीजी के विरोधी इस बात की उपेक्षा करके यह कहते हैं कि गांधीजी ने ऐसा अल्टीमेटम देकर बहुत भारी भूल की। ऐसी भूल उन्होंने पिछले २५ वर्षों में (१९१६ से १९४२ तक) कभी नहीं की थी। उनका यह ख़याल करना कि आन्दोलन धीरे-धीरे और व्यवस्थित रूप से चलेगा उनकी एक महान् भूल थी। गांधीजी का कहना यह है कि वे भारतीय प्रतिरोध की दीवार को एक-एक ईंट लगाकर खड़ी करना चाहते थे। इस पर उनके विरोधियों की यह युक्ति है कि ऐसा केवल तभी संभव हो सकता था अगर गांधीजी पहली ईंट रखकर उस पर यह दीवार खड़ी करने के लिए स्वच्छन्द रहते। लेकिन उन्होंने या तो इस बात की कल्पना ही नहीं की अथवा उनका ऐसा यक़ीन ही नहीं था कि ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के बड़े नेताओं को एक साथ और सहसा गिरफ्तार कर लेने की योजना बना रखी थी और वह उसे कार्यान्वित करके इस बात की संभावना ही खत्म कर देगी कि सत्याग्रह-आन्दोलन किसी व्यवस्थित रूप में चलाया जा सके। जिन लोगों का ऐसा दृष्टिकोण था उन्हें क्षणभर के लिए भी गांधीजी के नेतृत्व पर आपत्ति नहीं थी। लेकिन एक विशिष्ट विषय पर उन लोगों का गांधीजी से मतभेद था। उन्होंने यह भी मान लिया कि हो सकता है कि कांग्रेस ने अपनी निर्णय-शक्ति में गलती की हो, लेकिन सरकार पर जो प्रहार पड़ा वह उस आघात से कहीं अधिक जोरदार रहा जो कांग्रेस पर पड़ा। नेताओं की एक साथ गिरफ्तारी का यह परिणाम हुआ कि जनता क्रोध से उन्मत्त हो उठी और वह नेता-विहीन होगई और उसके बाद सरकार ने स्वयं जो हिंसात्मक दमन-चक्र चलाया उसके प्रत्युत्तर में कुछ कार्रवाइयों ने स्वतः हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। फलतः कुछ समय के लिए परिस्थिति क़ाबू से बाहर हो गई।

यह कहा गया है कि वर्धा और बम्बई में एक स्पष्ट और प्रभावशाली दृष्टिकोण यह भी था कि हमें इस बात की प्रतीक्षा करनी चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से प्रभावित होकर ब्रिटेन को स्वयं ही अक्ल आजाएगी। इस पक्ष के समर्थकों का यह कहना है कि कर्नल जॉनसन ने प्रधान रूज़वेल्ट से इस विषय पर जो लिखा-पढ़ी की उसी के परिणाम-स्वरूप १२ अप्रैल, १९४२ को कराची में क्रिप्स को तार मिला कि वे अभी भारत में ही रुके रहें। पर क्रिप्स का कहना था कि अब इसका कोई फायदा नहीं होगा। इस घटना के अलावा हमारे पास यह आशा करने का

और कोई आधार नहीं है कि शायद ब्रिटेन की तरफ से कुछ नये प्रस्ताव पेश किये जाते। ऐसे मौके पर जब कि क्रिप्स की बातचीत के रुख और उसके निर्णय के कारण भारत को अपमानित किया गया हो—चुपचाप बैठ रहना खतरनाक था। युक्ति और तर्क के तौर पर अगर हम यह मान भी लें कि उस नाजुक घड़ी में इस तरह का अल्टीमेटम देना एक भूल थी और उसका मतलब था जापान को आक्रमण के लिए प्रोत्साहन देना, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि यह एक नैतिक भूल थी। हां, अलबत्ता यह एक गलत चाल कही जा सकती है। विदेशी शासन के जुए से देश को मुक्त कराने के लिए एक नये साधन को काम में लेने के औचित्य के बारे में मत-भेद होना अनिवार्य है। और जब तक इस प्रश्न का नैतिक पहलू स्पष्ट था तब तक कोई भी आदमी कांग्रेस पर किसी तरह का दोषारोपण नहीं कर सकता था। एक सवाल यह था कि क्या देश को १९२७ के बाद से आनेवाले संग्राम के लिए तैयार करने के बाद उसे विजेता की दया पर छोड़ देना उचित था? गांधीजी के सामने केवल एक नैतिक प्रश्न था। उनका दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट था। उन्हें धीरे-धीरे करके कदम उठाना था। उन्हें पहले वायसराय से मिलना था और उसके बाद यह फैसला करना था कि क्या देश को सामूहिक आन्दोलन के लिए संगठित किया जाय। परन्तु इसी बीच ९ अगस्त, १९४२ को नेताओं की आम और व्यापक गिरफ्तारियों के कारण उनकी सारी योजना चकनाचूर हो गयी। वह वहीं धरी रह गई। सरकार ऐसी कार्रवाई करेगी—इसकी सम्भवतः किसी ने कल्पना भी नहीं की थी अथवा यह गलती इसलिए हुई कि यह खयाल किया गया था कि १९४०–४१ के व्यक्तिगत-सत्याग्रह-आन्दोलन की भांति गांधीजी बाहर रहकर ही इस नये आन्दोलन का भी नेतृत्व कर सकेंगे। लेकिन शायद गांधीजी लार्ड लिनलिथगो के साथ अपनी मित्रता के बारे में बड़े आशावाद से काम ले रहे थे। भारत में किसी अंग्रेज से मित्रता होने के अर्थ यह हैं कि उससे भारत में अंग्रेजी राज को सुरक्षित किया जा रहा है और अगर आप उस दोस्ती को चुनौती देंगे तो उसे तुरन्त तोड़ दिया जाएगा।

कुछ लोगों का यह तर्क था कि गांधीजी ने "हरेक अंग्रेज के प्रति" अपना खुला पत्र लिखकर अदूरदर्शितापूर्ण गलती की। क्योंकि उन्हें इस बात का पहले ही यकीन हो जाना चाहिये था कि अंग्रेज उस नाजुक घड़ी में किसी तरह से भी उनके अहिंसात्मक सिद्धान्त को नहीं अपना सकेंगे। इसलिए उनके पत्र को जर्मनों का समर्थक ही समझा जाएगा, क्योंकि उसमें गांधीजी ने ब्रिटेन को हिटलर की पाशविक शक्ति के आगे आत्म-समर्पण कर देने की सलाह दी थी। उनके आलोचकों का कहना था कि हिटलर के नाम उन्होंने जो पत्र लिखा है उसका भी यही असर पड़ेगा। गांधीजी ने २२ जुलाई, १९३९ को हिटलर के नाम नीचे लिखा एक संक्षिप्त-सा पत्र लिखा :—

"मानवता की खातिर मित्र मुझसे आग्रह कर रहे हैं कि मैं आपको यह पत्र लिखूं। लेकिन मैंने उनकी प्रार्थना नहीं मानी, क्योंकि मेरी राय में ऐसा कोई पत्र लिखना मेरी धृष्टता और अशिष्टता का द्योतक होगा। पर कोई शक्ति मुझसे कह रही है कि मुझे दुविधा में न पड़कर आप से अपील अवश्य करनी चाहिये, भले ही उसका कुछ ही मूल्य क्यों न हो। यह साफ ज़ाहिर है कि आज दुनिया में आप ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो इस लड़ाई की रोकथाम कर सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप मानव पशु और जंगली बन सकता है। क्या आपको उस उद्देश्य की कीमत नहीं चुकानी होगी, भले ही आपके लिए उसका कितना ही महत्व क्यों न हो? क्या आप एक ऐसे व्यक्ति की अपील पर गौर करेंगे, जिसने जान-बूझकर लड़ाई के तरीके को नहीं अपनाया

और जिसे इसमें काफी सफलता भी मिली है ? खैर, अगर आपको यह पत्र लिखकर मैंने कोई गलती की है, तो मैं पहले से ही यह मान लेता हूँ कि आप मुझे क्षमा करेंगे ?' (हरिजन)

दूसरी तरफ और दूसरों की तरह गांधीजी का भी अपने अनुभव के आधार यह खयाल था कि सरकार कांग्रेस के मजबूत और वीर कार्यकर्त्ताओं को एक-एक करके पकड़ लेगी और अन्त में नेतागण अकेले रह जाएँगे। तब वह उन्हें भी मजबूर कर देगी कि वे स्वयं ही गिरफ्तार हो जाएँ। सब बातों का खयाल करके गांधीजी ने अनुभव किया कि हमें बम्बई-प्रस्ताव पास करना ही चाहिए और उन्होंने जो कदम उठाया था उसके लिए उन्होंने कभी खेद नहीं प्रकट किया। तब फिर लार्ड लिनलिथगो और श्री एमरी की उसे वापस लेने की माँग वे क्योंकर मान सकते थे। लेकिन समय आने पर वे खुद ही इस प्रस्ताव को वापस ले लेंगे और ६ मई, १९४४ को अपनी रिहाई के बाद गांधीजी ने अनुभव किया कि १९४४, १९४२ नहीं है। इसलिए न तो वे कांग्रेस को कोई सामूहिक आन्दोलन शुरू करने की सलाह ही देंगे और न ही स्वयं उसकी हिमायत करेंगे। परन्तु उनकी ऐसी विचार-धारा बाद में जाकर बनी।

इसके अलावा एक दृष्टिकोण यह भी था कि लड़ाई के प्रारम्भिक भाग में सामूहिक-आन्दोलन शुरू करना कारगर नहीं हो सकता था, क्योंकि जनता इस आशा में बैठी थी कि लड़ाई से लाभ उठाया जाए। लेकिन इस दृष्टिकोण का समर्थन करना भी बहुत कठिन है, क्योंकि यह दृष्टिकोण उस वक्त न पेश करके बाद में पेश किया गया। परन्तु वास्तविकता यह है कि अगस्त १९४२ तक ऐसी कोई भी घटना नहीं हुई, जिससे हम इस नतीजे पर पहुँचते कि जनता को इस लड़ाई से लाभ पहुँच रहा है। हाँ, अलबत्ता यह ज़रूर हुआ कि कुछ ठेकेदारों ने अपनी जेबें खूब गरम कर लीं। पर तथ्य तो यह था कि जिन लोगों ने इस लड़ाई में खूब हाथ रँगे थे, वे उनमें से नहीं थे जो राष्ट्र की मुक्ति के आन्दोलन में शामिल होते और अगर यह कहा जाय कि मजदूरों को पहले की निस्बत ज्यादा मजदूरी मिल रही थी तो हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते कि मुद्रा-बाहुल्य और ऊँची कीमतों के कारण उन्हें बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ीं। संक्षेप में कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि उक्त प्रस्ताव के समर्थक उसके औचित्य से सर्वथा सहमत थे, फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट चेतावनी दे दी कि इस संग्राम में कूदने से पहले कांग्रेस अपनी तरफ से शान्तिपूर्ण समझौते के लिए कोई कसर नहीं उठा रखेगी।

इस बात के बावजूद कि एक-के-बाद-एक सभी कांग्रेसी प्रवक्ताओं ने पहले सरकार से समझौता करने पर जोर दिया; सरकार ने उनकी बातों पर कोई ध्यान न देकर उलटे जनता पर अपना जोरदार दमन-चक्र चलाने की तैयारी शुरू कर दी। ब्रिटिश सरकार का विश्वास था कि जिस तरह ७ दिसम्बर, १९४१ को जापानियों ने पर्लहार्बर पर बमवर्षा करके अमरीका-द्वारा युद्ध की घोषणा किये जाने से पहले ही उस पर प्रहार कर दिया था, उसी प्रकार यदि कांग्रेस-द्वारा अचानक हमला कर दिया जाय तो पहले ही प्रहार में उसकी सफलता निश्चित है। इसलिए उसने पौ फटने से पहले ही कांग्रेसकार्यसमिति के सदस्यों और बम्बई के ४० प्रमुख नागरिकों को गिरफ्तार करके उन्हें विक्टोरिया टरमिनस स्टेशन पर पहुँचा दिया, जहाँ उनके लिए एक स्पेशल ट्रेन तैयार खड़ी थी। यह सारी कार्रवाई उसने इतनी तेजी और अप्रत्याशित ढंग से की कि कुछ लोग अपने साथ अपनी

ऐनक, बटुआ, कपड़े, पुस्तकें और इसी प्रकार का अन्य आवश्यक सामान भी ले जाना भूल गए। परन्तु ये सभी लोग बड़े खुश थे। इसमें बूढ़े और नौजवान दोनों ही शामिल थे। निस्सन्देह देश में कुछ ऐसी अफवाहें फैली हुई थीं कि कार्यसमिति सदस्यों को गिरफ्तार कर पूर्वी अफ्रीका के यूगैण्डा में जलावतन कर दिया जाएगा। लेकिन चूँकि अखिल भारतीय महासमिति का अधिवेशन अबाध गति से जारी था, इसलिए लोगों का ध्यान प्रमुख कांग्रेसजनों की गिरफ्तारी की संभावना से हटकर इस आन्दोलन की भावी गतिविधि और रूपरेखा पर केन्द्रित हो रहा था। गांधीजी और उनका दल, जिसमें मीराबेन और श्री महादेव देसाई भी शामिल थे, इस स्पेशल ट्रेन के 'यात्री' थे। लेकिन श्री प्यारेलाल और माता कस्तूर बा तथा मौलाना आजाद के संरक्षक को यह स्वतंत्रता दी गई कि अगर वे चाहें तो उन्हें भी उनके साथ जाने की स्वतंत्रता है, लेकिन इस शर्त पर कि उनके साथ 'सी क्लास' के बन्दियों जैसा व्यवहार किया जाएगा। परन्तु इन महानुभावों ने सरकार की उक्त रियायतों से लाभ उठाना अस्वीकार कर दिया। लेकिन कुछ समय बाद श्री प्यारेलाल और बा को भी गिरफ्तार करके गांधीजी के नजरबन्द कैम्प में भेज दिया गया।

कार्यसमिति के सदस्य किस जेल में नजरबन्द किये जाएँगे, इस सम्बन्ध में सरकार ने बड़ी सतर्कता से काम लिया और इस खबर को प्रकाशित नहीं होने दिया। लेकिन अखबारों में यह छप गया था कि गांधीजी को पूना में आगा खाँ के महल में नजरबन्द किया जा रहा है। गांधीजी, उनके दल और श्रीमती सरोजिनी देवी को चिंचवाद नामक स्थान पर गाड़ी से उतार कर यरवडा जेल के पास एक बँगले में ले जाया गया। बम्बईवाले दल को किर्की में गाड़ी से उतार कर यरवदा भेज दिया गया और कार्यसमिति के सदस्यों को लेकर यह स्पेशल ट्रेन ढौंड पहुँची, जहाँ से उसने मदरास-बम्बई वाली लाइन पर स्थित अहमदनगर का रुख किया। अहमदनगर में चाँदबीबी के किले में बड़े लम्बे-चौड़े हालवाले एक बड़े और अलग भवन में इन लोगों को लाकर नजरबन्द कर दिया गया।

आखिर इसकी क्या वजह थी कि कांग्रेस ने अँग्रेजों के खिलाफ एक ऐसे मौके पर हथियार उठाने का पक्का फैसला कर लिया जबकि वे दूसरे महायुद्ध के जाल में फँसे हुए थे और उनका भाग्यचक्र डांवाडोल परिस्थिति में था ? और सरकार ने अपनी तरफ से ऐसा खतरनाक और जल्दबाजी का कदम क्यों उठाया जबकि वह यह खूब जानती थी कि इसके कारण देश में एक ज्वालामुखी फट पड़ेगी ? इसलिये यह कहना गलत न होगा कि यद्यपि कांग्रेस ने देश की जनता में विद्रोह की भावना कूट-कूटकर भरदी थी, लेकिन उसमें आग लगा देने की जिम्मेदारी सरकार की थी। कांग्रेस बड़ी दुविधा में पड़ गई। प्रथम महायुद्ध के बाद के वर्साई की संधि के समय संसार के सभी राष्ट्रों को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार प्रदान करने और पिछड़े हुए राष्ट्रों को उन्नत करने के सम्बन्ध में जो बड़े-बड़े और आकर्षक वायदे किये गए थे वे सिर्फ एक धोखे की टट्टी ही साबित हुए। उस समय फ्रांस के शेर क्लीमेंसू और ब्रिटेन के जादूगर लायड जार्ज ने जिस तरीके से प्रधान विल्सन को चकमा देकर उन्हें उल्लू बनाया था, उसी तरह उस वक्त से लेकर १२ अप्रैल, १९४२ तक, जबकि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने भारत से अपना किनारा किया और बाद में न जाने दुनिया को कितनी मनगढ़न्त और झूठी कहानियां सुनाईं—यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि ब्रिटेन भारत के साथ महज़ धोखेबाजी, झूठे वायदों और छल-कपट से काम ले रहा है। पिछली

लड़ाई से लेकर अप्रैल १९४२ तक की यह सारी कहानी एक ही थी। लड़ाई से पहले जो कुछ हुआ था और अब लड़ाई के दौरान में जो कुछ हो रहा था उससे कांग्रेस को यकीन होगया था कि ब्रिटेन जो बात कहता है उस पर यकीन नहीं किया जा सकता, क्योंकि दरअसल वह अपने वायदों और बातों पर अमल ही नहीं करना चाहता। साइमन कमीशन, गोलमेज़ परिषदों और भारतीय-विधान का सारा विगत इतिहास दृष्टि से ओझल कर दिया गया। उधर कांग्रेस तथा हर संभ्रान्त नागरिक को अपना युद्ध-कालीन अपमान सहन करना पड़ रहा था। यह स्पष्ट था कि युद्ध-सामग्री, खाद्य, कपड़े, जहाजों और असंख्य रासायनिक पदार्थों का उत्पादन दस गुना बढ़ाया जा सकता था और देश में अनेकों नये उद्योग भी स्थापित किये जा सकते थे; परन्तु भारतीय-सुरक्षा-परिषद् और पूर्वी देश-समूह की रसद-परिषद् की प्रथम बैठक से यह बात स्पष्ट होगई कि उनका एकमात्र उद्देश्य भारत में आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन रोक देना था, जिससे कि आस्ट्रेलिया अथवा कैनेडा में तैयार होनेवाले माल पर कोई असर न पड़ सके। यह विचार न केवल भारतीय राजनीतिज्ञों का ही था, बल्कि देश के प्रमुख औद्योगिकों का भी और अगर इसके लिए कोई सबूत चाहिये तो वह सबूत है ब्रिटेन और अमरीका का ग्रेडी-मिशन की सन्तोषजनक सिफारिशों को ताक पर रख देने का फैसला। अगर व्यापारिक लाभ के उद्देश्य के साथ-साथ देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होकर मजदूरों और उद्योगों का ध्यान नफा कमाने के मार्ग से हटाकर उत्पादन बढ़ाने की ओर आकर्षित किया जाता तो उससे देश को और आम जनता को लाभ पहुँच सकता था। और यह काम आसानी से हो सकता था। इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए अमरीका के प्रसिद्ध पत्रकार एडगर स्नो ने जुलाई, १९४२ में लिखा था; "खतरे वाले इलाकों से कारखानों को हटाने की योजना और ग्रेडी-मिशन की सिफारिशों के अनुसार उद्योगों को उन्नत करना तथा उनके युक्ति-युक्त संगठन को कार्यान्वित करना संभव है। चीन की तरह से शरणार्थियों और गांवों के बेकार लोगों को ट्रेनिङ्ग देकर उनसे लड़ाई के लिए आवश्यक सामान तैयार कराया जा सकता है। सेना में तथाकथित लड़ाकू जातियों के अनपढ़ रंगरूटों को भारी संख्या में भरती करने की बजाय विद्यार्थियों और पढ़े-लिखे लोगों को रक्षा-विषयक ट्रेनिङ्ग दी जा सकती है। अनिवार्य भरती की योजना लागू की जा सकती है और एक बड़े पैमाने पर लोगों को सैनिक-शिक्षा भी दी जा सकती है। यदि सैनिकों और नागरिकों को यह बता दिया जाय कि उन्हें अपनी इस नयी आजादी की रक्षा करनी है तो राजनीतिक शिक्षा द्वारा उनके नैतिक साहस को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। इस समय हम देखते हैं कि आम धारणा यह है कि खतरे के प्रथम लक्षणों के प्रकट होते ही कलकत्ता, बम्बई और अन्य स्थानों से मजदूरों ने अपना-अपना काम छोड़कर भागना शुरू कर दिया है। लेकिन अगर भारत आजाद हो तो वे डटकर अपने कर्तव्य-पथ पर चलते रहेंगे। उस हालत में भारतीय जनता रक्षा-सम्बन्धी आवश्यक साधनों का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने के बजाय भारतीय नेताओं के नियंत्रण में रहकर लड़ाई में सहयोग देने को तैयार रहेगी। उस हालत में भारत अपनी कमजोरी को छोड़कर दुनिया के अन्य राष्ट्रों के समकक्ष होकर संसार में अपना स्वतंत्र स्थान ग्रहण कर सकेगा।"

'भारत छोड़ो' आन्दोलन : प्रारंभिक तैयारियाँ

लुई फिशर ६ जून, १९४२ को गांधीजी से पूछा कि "आपको यह खयाल ठीक कब

आया ?" गांधीजी ने उत्तर में कहा, "क्रिप्स के प्रस्थान के थोड़ी देर बाद ही; मैंने भारत के एक अंग्रेज मित्र श्री होरेस एलग्जेंडर को उनके एक खत के जवाब में अपना एक पत्र लिखा था, जिसमें इसका जिक्र किया गया था। इसके बाद यह विचार मेरे मन में घर कर गया। उसके बाद प्रचार शुरू हुआ। उसके बाद मैंने एक प्रस्ताव की रचना की। मुझे पहला खयाल यह हुआ कि हमें क्रिप्स-योजना की असफलता का कोई जवाब देना चाहिए। अगर क्रिप्स-मिशन कोई उल्लेखनीय और सन्तोषजनक चीज ही नहीं तो फिर वह कितनी निकम्मी है। मान लीजिये कि मैं उनसे जाने को कहता हूं, पर यह खयाल तब पैदा हुआ जब हमारी सभी आशाओं पर फिर गया। जवाहरलाल और दूसरों लोगों ने हमसे क्रिप्स की बड़ी तारीफ की थी। फिर भी उनकी सारी योजना धूल में मिल गई। मैंने अपने से प्रश्न किया कि क्या इस स्थिति को सुधारने का जिम्मा मेरा है ? अंग्रेजों के यहाँ रहते हमें अपने काम में सफलता नहीं मिल सकती। सोमवार को मौन के दिन मेरे मन में यह विचार पैदा हुआ।"

बम्बई-प्रस्ताव की पृष्ठ-भूमि तो वर्धा में कांग्रेस-द्वारा जुलाई, १६४२ में पास किये गये प्रस्ताव से भी पहले तैयार हो चुकी थी। इस स्थिति का स्वयं गांधीजी ने "अपने अमरीकी मित्रों के प्रति" शीर्षक लेख में बड़ी सुन्दरता के साथ विवेचन किया है। गांधीजी के अलावा श्री लुई फिशर ने अपनी पुस्तक "ए वीक विद गांधी" और श्री एडगर स्नो ने सारी परिस्थिति के सम्बन्ध में निजो रूप से छानबीन करने के बाद जुलाई में अमरीका के पत्रों के लिए लिखे गए अपने लेख में बड़ी विशदता के साथ प्रकाश डाला है। गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद प्रकाशित किया गया उनका लेख नीचे दिया जाता है :—

"हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा की कार्य-समिति ने पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास किया है—जिस पर देश और विदेश में बहुत बहस हुई है, और जिसकी उतनी ही निन्दा भी की गई है—उसके सम्बन्ध में अपनी स्थिति को स्पष्ट करना मेरे लिए आवश्यक हो गया है, क्योंकि यह माना जाता है कि वह मेरी ही प्रेरणा से पास किया गया है। आप मुझसे बिल्कुल अपरिचित तो नहीं हैं। पश्चिमी देशों में शायद अमरीका ही एक ऐसा देश है, जहां मेरे अधिक-से-अधिक मित्र हैं ; और ग्रेट ब्रिटेन भी इसका अपवाद नहीं है। मुझे व्यक्तिगत रूप से पहचाननेवाले अंग्रेज मित्र अमरीकी मित्रों के मुकाबले मुझे अधिक पारखी और सूक्ष्मदर्शी मालूम हुए हैं। अमरीका में मुझे वीर-पूजा के नाम से प्रसिद्ध एक बीमारी का शिकार होना पड़ता है। डा० होम्स, जो स्वयं एक सज्जन पुरुष हैं, और जो अभी कल तक न्यूयार्क की यूनिटी चर्च के पादरी थे, मेरे व्यक्तिगत परिचय में आए बिना ही अमरीका में मेरा विज्ञापन करनेवाले एजेण्ट बन गए थे। मेरे बारे में वहां उन्होंने कुछ ऐसी मजेदार बातें कहीं, जिन्हें मैं खुद भी नहीं जानता था। इसलिये अकसर अमरीका से मुझे ऐसे परेशान करनेवाले खत मिला करते हैं, जिनमें मुझे कोई चमत्कार कर दिखाने की उम्मीद रखी जाती है। डा० होम्स के बहुत दिनों बाद स्वर्गीय विशप फिशर ने, जो हिन्दुस्तान में मेरे सीधे परिचय में आए थे, वहां इस काम का बीड़ा उठाया था। वे मुझे अमरीका तक घसीट ले जाने में करीब-करीब कामयाब हो चुके थे, लेकिन दैव को कुछ और ही मंजूर था। इसलिए मैं आपके उस विशाल और महान् देश की यात्रा न कर सका और न आपके अद्भुत देश-वासियों के दर्शन कर पाया। इसके सिवा, थोरो के रूप में आप ही ने मुझे एक ऐसा शिक्षक दिया, जिसके "सविनय अवज्ञा का कर्तव्य" (ड्यूटी आफ सिविल डिस्ओबीडियन्स) नामक निबन्ध के द्वारा मुझे अपने उस

कार्य का वैज्ञानिक समर्थन प्राप्त हुआ था, जो मैं इन दिनों दक्षिण अफ्रीका में कर रहा था। ग्रेट ब्रिटेन ने मुझे रस्किन जैसा गुरु दिया, जिसके "सर्वोदय" यानी "अनटू दिस लास्ट" ग्रंथ ने मुझमें इतना परिवर्तन किया कि मैं एक ही रात में बिल्कुल बदल गया। मैंने वकालत छोड़ी। शहर में रहना छोड़ा। और मैं एक देहाती बनकर डरबन से दूर एक ऐसे चक पर रहने लगा जो नजदीक के रेलवे स्टेशन से भी तीन मील दूर था। और रूस ने टालसटाय के रूप में मुझे वह गुरु दिया, जिससे मुझे अपनी अहिंसा का एक बुद्धिसम्मत और तर्क-शुद्ध आधार प्राप्त हुआ। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के मेरे उस आन्दोलन को, जो उस वक्त शुरू ही हुआ था, और जिसकी अद्भुत सम्भावनाओं को उस समय तक मैं जान भी नहीं पाया था, अपना आशीर्वाद दिया था। मेरे नाम लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने पहली बार यह भविष्यवाणी की थी कि मैं एक ऐसे आन्दोलन को चला रहा हूँ, जिसके कारण निश्चय ही दुनिया के पददलित लोगों को आशा का एक संदेश प्राप्त होगा। इसलिये आप यह समझ सकेंगे कि इस वक्त जो कदम मैंने उठाया है, उसमें ग्रेट ब्रिटेन के और पछांही देशों के खिलाफ दुश्मनी का कोई भाव नहीं है। "अनटू दिस लास्ट" में दिये गए "सर्वोदय" के सन्देश को अच्छी तरह पचाने और आत्मसात् करने के बाद मैं इस फासिस्टवाद या नाजीवाद के अनुमोदन या समर्थन का दोषी नहीं बन सकता, जिसका ध्येय व्यक्ति का और उसकी स्वतन्त्रता का दमन करना है।

"मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप मेरे निर्माण की इस पूर्वभूमिका को ध्यान में रखकर हिन्दुस्तान से हट जाने के मेरे उस सूत्र को पढ़ेंगे, जो आमतौर पर "क्विट इंडिया" यानी "भारत छोड़ो" के नाम से पुकारा जाता है। इस सूत्र के पूर्वापर सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए इसका जो अर्थ निकल सकता है, उतना ही अर्थ आप इससे निकालिये—उससे ज्यादा नहीं। मेरा दावा है कि मैं अपने बचपन से ही सत्य का पुजारी रहा हूँ। मेरे लिये यह अत्यन्त स्वाभाविक वस्तु थी। मेरी भक्ति-भाव युक्त खोज के कारण "ईश्वर सत्य है" के प्रचलित वचन के बदले यह दिव्य अर्थवाला वचन प्राप्त हुआ कि "सत्य ही ईश्वर है।" इस वचन के कारण मैं मानों ईश्वर को अपने सामने साक्षात् खड़ा पाता हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि वह मेरे रोम-रोम में व्याप्त है। अपने और आपके बीच में इसी सत्य को साक्षी रखकर मैं बलपूर्वक यह कहता हूँ कि अगर मुझे अचानक यह बोध न हुआ होता कि ग्रेट ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों के हित के लिये यह ज़रूरी है कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान को बन्धन से मुक्त करने के अपने कर्तव्य का साहसपूर्वक पालन करे तो मैंने अपने देशवासियों को यह सलाह कभी न दी होती कि वे ग्रेट ब्रिटेन को हिन्दुस्तान से अपनी हुकूमत उठा लेने को कहें और इसके खिलाफ पेश की जानेवाली किसी भी मांग की परवाह न करें।

"अगर ब्रिटेन ने इस सर्वोत्तम न्याय से काम लिया तो आज हिन्दुस्तान में उसके खिलाफ जितना भी असंतोष बढ़ रहा है, वह सब मिट जायगा—उसकी कोई वजह नहीं रह जायगी। अपने इस एक कार्य-द्वारा वह बढ़ते हुए दुर्भाव को सद्भाव में बदल डालेगा। मेरा निवेदन है कि इससे ब्रिटेन को वैसी ही मदद मिलेगी, जैसी लड़ाई में काम आनेवाले उन सभी जंगी जहाजों और हवाई जहाजों के रूप में आपकी ओर से उसे मिल रही है, जिन्हें आप अपने अद्भुत-शक्ति वाले इंजीनियरों और आर्थिक साधनों की बदौलत बना सकते हैं।

"मैं जानता हूँ कि स्वार्थ-बुद्धि से किये गए एकतरफा प्रचार-द्वारा कांग्रेस की स्थिति को आपके कानों और आंखों के सामने अनेक प्रकार से विकृत रूप में पेश किया गया है। मेरे बारे

में यह कहा गया है कि मैं दम्भी हूँ और ब्रिटेन का मित्र-वेषधारी धूर्त शत्रु हूँ। विपक्षी से समझौता करने की मेरी जो प्रत्यक्ष तैयारी हमेशा रही है, उसे मेरी असंगति बताया गया है और यह साबित किया गया है कि मैं बिल्कुल ही अविश्वसनीय आदमी हूँ। अपने इन दावों के समर्थन में सबूत पेश करके मैं इस पत्र को बोझल नहीं बनाना चाहता। अमरीका में अब तक मेरी जो साख रही है, अगर वह इस वक्त मेरे काम नहीं आ सकती तो अपनी सफाई में कितनी ही दलीलें क्यों न दूं, उनका कोई परिणामकारी प्रभाव न होगा।

"आपने ग्रेट ब्रिटेन को अपना साथी बना लिया है, इसलिये ग्रेट ब्रिटेन के प्रतिनिधि हिन्दुस्तान में जो कुछ भी करेंगे, उसकी जिम्मेदारी से आप अपने को बचा नहीं सकते। अगर आपने समय रहते सारासार का विवेक नहीं किया--असत्य के ढेर से सत्य को नहीं पकड़ा--तो आप मित्र-राष्ट्रों के कार्य को भयंकर हानि पहुंचाएंगे। इसका आप विचार कीजिए। बिना किसी शर्त के हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता को मान लेने की जो मांग कांग्रेस कर रही है, उसमें अनुचित क्या है? कहा जाता है कि 'यह उसका वक्त नहीं है।' हम कहते हैं, 'हिन्दुस्तान की आज़ादी को मान लेने का यही मनोवैज्ञानिक मुहूर्त है,' क्योंकि उसी एक हालत में जापानी हमलों का अचूक प्रतिकार किया जा सकता है। मित्र-राष्ट्रों के हित और कार्य की दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्त्व है, गोकि हिन्दुस्तान के लिये भी उसका उतना ही महत्त्व है।

"मैं चाहता हूं कि आप यह समझें कि अगर हिन्दुस्तान की आज़ादी को तुरन्त ही मंजूर कर लिया गया तो वह प्रथम कोटि का महत्त्व रखनेवाला युद्ध-प्रयत्न होगा।"

श्री एडगर स्नो की यह राय थी कि, अमरीकी जनता ने अभीतक यह महसूस नहीं किया कि भारत का विरोध हमारे लिए कितना निर्णायक और घातक साबित हो सकता है। अब तक जर्मनी ने जितने भी देशों पर अधिकार किया है, उन सब की अपेक्षा यह देश कहीं बड़ा है। इसकी जन-शक्ति नाज़ी साम्राज्य की तुलना में दुगनी है। इसके साधन अपार हैं। ब्रिटेन, रूस और आस्ट्रेलिया को छोड़कर यह देश मित्रराष्ट्रों का सबसे बड़ा औद्योगिक अड्डा है। पश्चिमी गोलार्द्ध से बाहर होने के कारण यह दक्षिण-पूर्वी एशिया में हमारा अन्तिम मजबूत अड्डा है।"

इसके बाद आपने लिखा है कि किस प्रकार इस महान् देश और जाति के सबसे बड़े नेता गांधीजी हैं। "यह बड़ी विचित्र-सी बात है कि वाइसराय ने अन्त में मुझे यकीन दिला दिया कि मुझे गांधीजी से मुलाकात करने में और देर नहीं करनी चाहिए। वाइसराय ने मुझे बताया कि कांग्रेस सिवा गांधीजी के और कुछ भी नहीं है। गांधीजी ही उसके प्रतीक हैं।" यह बात बिलकुल ठीक है और जब तक गांधीजी जीवित हैं कांग्रेस-संगठन उन्हीं का प्रतीक रहेगा। कांग्रेस मुख्य रूप से उन्हीं की राजनीतिक प्रतिभा पर आधारित है।

आगे चलकर श्री एडगर स्नो ने लिखा है कि "ऐसे विशाल देश में और ऐसे महान् नेता के नेतृत्व में पिछले बीस वर्षों में यदि 'कांग्रेस भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतीक' बन गई है तो इस पर हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। परन्तु वाइसराय महोदय मेरे इस विचार से सहमत नहीं हैं। यह सत्य है कि गांधीजी के वचन सूत्रबद्ध होते हैं। उनके विचारों में जो पारस्परिक विरोध प्रतीत होता है, उसे भारतीय जनता अपनी प्रेरणा-शक्ति से समझ लेती है, क्योंकि 'गांधीजी में, आपको रहस्यवाद, आध्यात्मवाद और परंपरागत भावनाओं' के साथ 'राजनीतिक यथार्थवाद' का सुन्दर सम्मिश्रण मिलेगा। वास्तव में उनके 'भारत-छोड़ो' आन्दो-

त्याग के सिद्धान्त पर हमें इसी दृष्टिकोण से सोच विचार करना चाहिए। 'साम्राज्य छोड़िए और भारत को अपने पक्ष में कीजिए' इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आपने लिखा है कि एक मुख्य बात जिसे हमें समझ लेना चाहिए यह है कि गांधीजी के कुछ विचार और वक्तव्य हमें चाहे कितने ही अनोखे क्यों न प्रतीत होते हों, परन्तु उनका भारत के राष्ट्रीय नेता होने की उनकी स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। बल्कि इसके विपरीत उन विचारों के कारण भारतीय जनता में उनकी स्थिति और भी अधिक सुदृढ़ हो जाती है। वे ही आत्मा हैं और वे ही विचार-शक्ति। वे एक महान् आत्मा हैं, जिसकी अधिकांश भारतीय पूजा करते हैं। और गांधीजी में भारतीय जनता को अन्धविश्वास है।"

अगर इस प्रकार का नेता भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के निमित्त सरकार के प्रति विद्रोह करने की कल्पना करे तो उसके पास ऐसे विद्रोह का कोई कारण और अपना कोई झण्डा भी होना ज़रूरी है। कारण ढूँढ़ने में हमें कोई कष्ट नहीं होना चाहिए, क्योंकि पिछली कई पीढ़ियों से जो नयी-नयी घटनाएँ हो रही थीं उनके कारण भारतीय जनता में ब्रिटेन के प्रति अविश्वास की भावना बहुत जोर पकड़ती जा रही थी। जहाँतक झण्डे का प्रश्न है इस नेता के पास अपना तिरंगा झंडा है, जिस पर चर्खे का चिह्न है, जो पवित्रता, बलिदान और भारत की निर्धन जनता की आकांक्षाओं का प्रतीक है। ब्रिटेन ने अपने जो वायदे तोड़े हैं, उनके लिए हमें १८३३ के अधिकार-पत्र अथवा महारानी विक्टोरिया की १८५८ की घोषणा का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। प्रथम महायुद्ध के समय स्वभाग्य-निर्णय के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था, उस पर कभी अमल नहीं किया गया। वह एक बेकार सी चीज़ साबित हुई। इतना ही नहीं, १६१८ की संधि के बाद जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड ने तो इस सिद्धान्त को महज़ एक मज़ाक साबित कर दिया। गांधी-इरविन समझौते में केन्द्रीय सरकार के उत्तरदायित्व, संघ-योजना और भारत के हित में संरक्षणों की जो बातें कही गई थीं, वे केवल १६३५ के भारतीय विधान में ही पड़ी रह गई और १६३६ में दूसरे महायुद्ध के शुरू होने पर इस विधान को भी मुलतवी कर दिया गया। इतना ही नहीं, मानों जले पर नमक छिड़कने के लिए प्रधानमन्त्री चर्चिल ने यह घोषणा की कि अगस्त १६४० का अटलांटिक अधिकारपत्र भारत पर लागू नहीं होता। अन्त में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने बड़े नाटकीय ढंग से भारतीय राजनीतिक अखाड़े में पदार्पण किया और उसका परिणाम भारत के लिए निराशा और तबाही के सिवा और कुछ नहीं हुआ। इसके अलावा युद्ध काल में दूसरे देशों की भाँति भारत को अपने उद्योगों को उन्नत करने का भी प्रोत्साहन नहीं दिया, जैसा कि ग्रेडी-मिशन की सिफारिशों के प्रति सरकार के व्यवहार से पता चलता है। उसने इन सिफारिशों की कोई परवाह नहीं की और उन्हें कभी प्रकाश में नहीं आने दिया। तथ्य यह है कि मार्च, १६४२ में निकट-पूर्व और सुदूर-पूर्व में मित्रराष्ट्रों की सशस्त्र-सेनाओं की रसद के प्रमुख अड्डे के रूप में भारत के औद्योगिक साधनों को उन्नत करने में सहायता देने के उद्देश्य से अमरीका ने एक टेकनिकल मिशन भारत भेजा। इसके प्रधान अमरीका के व्यापारिक संबन्धों के भूतपूर्व असिस्टेण्ट सेक्रेटरी श्री हेनरी एफ० ग्रेडी थे। उनके अलावा इसमें श्री ए० डबल्यू हैरिंगटन, प्रधान, सोसाइटी आफ ऑटोमोबील इंजीनियर्स, श्री एच० ई० बेस्टन, प्रधान, बेस्टन इंजीनियरिंग कंपनी (आपका काम युद्ध के लिए, भारतीय कारखानों के सम्बन्ध में सलाह देना था) और श्री डर्क डेकर, डाइरेक्टर,

इलीयनोस स्टील कारपोरेशन—भी शामिल थे। श्री डर्क का मुख्य काम शिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित कारीगरों की ट्रेनिंग में मदद देना था। कर्नल लुई जॉनसन को प्रधान रूजवेल्ट का निजी प्रतिनिधि बनाकर भारत भेजा गया। ग्रेडी-मिशन ने अपनी रिपोर्ट ८ जून, १९४२ को प्रधान रूजवेल्ट को पेश कर दी, परन्तु यह रिपोर्ट अत्यन्त गोपनीय रखी गई। समाचार-पत्रों से पता चलता है कि उन्होंने सिफारिश की थी कि युद्ध के लिए भारत में राइफलें, गोला-बारूद विस्फोटिक, बख्तरबन्द गाड़ियों के ढाँचे इत्यादि तैयार किये जाएँ। आपका कहना था कि युद्ध के लिये आवश्यक सामान भारत में तैयार होना चाहिए। ग्रेडी-मिशन ने उन साधनों पर भी प्रकाश डाला, जो भारत और अमरीका की सरकारों को उपलब्ध हो सकते थे। पता चला है कि मिशन ने भारत में यातायात, और जलविद्युत् की सुविधाओं और भारतीय कारीगरों तथा मजदूरों की उच्च कार्यक्षमता की बड़ी तारीफ करते हुए इस सम्बन्ध में आवश्यक समस्याओं पर प्रकाश डाला। इसके अलावा मिशन ने इस बात पर भी जोर दिया कि अगर कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार का पारस्परिक प्रतिरोध सुलझ जाये तो भारतीय रँगरूटों और साज-सामान से और भी अच्छी तरह से काम लिया जा सकेगा।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ग्रेडी-रिपोर्ट का मुख्यतः एक युद्धकालीन योजना से सम्बन्ध था। उसमें यह बताया गया था कि युद्ध-प्रयत्नों से सम्बन्ध रखनेवाले कौन-से उद्योग भारत में जल्दी ही स्थापित किये जा सकते हैं। इस योजना का भारत की युद्धोत्तर औद्योगिक उन्नति से किसी प्रकार का भी कोई सम्बन्ध न था। परन्तु इस सम्बन्ध में भारतीय जनता की आशंकाएं सत्य सिद्ध हुईं, क्योंकि नवम्बर, १९४२ में वाशिङ्गटन के सरकारी हल्कों से पता चला कि अन्य परिस्थितियों को देखते हुए ग्रेडी-रिपोर्ट पर फिलहाल कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी और उसके बाद तो वह रिपोर्ट खटाई में ही पड़ गई। उसकी किसी ने भी सुध नहीं ली। इस रिपोर्ट पर अमरीका के नौसैनिक विभाग और स्वराष्ट्र-विभाग, आर्थिक-युद्ध-बोर्ड और अन्य विभागों के विशेषज्ञ दो महीने से अधिक समय तक सोच-विचार करते रहे। इसलिए भारत को इससे कोई सन्तोष नहीं हो सकता था कि बहुत-सी सामग्री, समय और जहाज जो श्री ग्रेडी द्वारा प्रस्तावित योजनाओं को कार्यान्वित करने में इस्तेमाल हो सकते थे, उन्हें इस काम में न लाकर सभी मोर्चों पर शत्रु का प्रत्यक्ष प्रतिरोध करने में लगा दिया गया। यह आश्वासन दिया गया कि युद्ध के परिणामस्वरूप भारत को एक बड़ा लाभ यह होगा कि वह विशेषकर भूमध्यसागर के छोटे रास्ते से अपने लिए आवश्यक सुविधा प्राप्त कर सकेगा। वाशिङ्गटन के सरकारी अधिकारियों का कहना था कि "मित्रराष्ट्रों ने युद्ध के मोर्चों पर विभिन्न किस्म का ऐसा साज-सामान इस्तेमाल किया है जो उन योजनाओं को कार्यान्वित करने के काम में नहीं आ सकता था जिसकी सिफारिश ग्रेडी-मिशन ने की है, और अमरीका के विभिन्न सरकारी विभागों ने ग्रेडी-रिपोर्ट के प्रायः सभी पहलुओं का समर्थन किया है। बाद में अचानक यह फैसला किया गया कि समय, शक्ति और साज-सामान—विशेषकर जहाजी सामान--भारत की बजाय 'युद्ध कंपनियों' को दे दिया जाय।

अन्त में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि बर्मा से भारत लौटनेवाले शरणार्थियों की कोई सहायता नहीं की गई, उनके साथ भेद-भावपूर्ण बर्ताव किया गया और उन्हें अपनी किस्मत पर छोड़ दिया गया। मार्ग में इन लोगों को अपार कष्ट उठाने

पड़े। लेकिन उनको तुलना में बहुत से श्वेतांगों के साथ कहीं अधिक अच्छा बर्ताव किया गया। इस घटना से तथा जिस शोचनीय तरीके से बर्मा, मलाया और सिंगापुर की रक्षा की गई उसे देखते हुए भारतीयों को यह निश्चय हो गया कि भारत की रक्षा का प्रश्न अंग्रेजों पर नहीं छोड़ा जा सकता और केवल एक राष्ट्रीय सरकार ही भारत को जापानी आक्रमण के अभिशाप से बचा सकती है और उसका मुकाबला कर सकती है, क्योंकि राष्ट्रीय सरकार ही राष्ट्र की पूर्ण भौतिक और नैतिक सहायता प्राप्त कर सकती है।

ऐसी अवस्था में प्रश्न था कि क्या भारत निश्चेष्ट होकर बैठा रहे और देश की रक्षा का भार अंग्रेजों पर छोड़ दे जो एक से अधिक बार अपनी असफलता का परिचय दे चुके थे या वह सचेष्ट होकर अपना काम करे तथा बाहर और भीतर दोनों ही स्रोतों से सहायता प्राप्त करे? यद्यपि अधिकांश जनता अपनी आंतरिक शक्ति को ही उन्नत करने के पक्ष में थी, फिर भी जनता का एक बड़ा भाग, इस दिशा में बाहरी हस्तक्षेप विशेषकर अमरीका की सहायता चाहता था। अप्रैल, १९४२ में कर्नल जॉनसन के कारण जो उम्मीदें पैदा होगई थीं वे अबतक बनी हुई थीं। श्री जिन्ना-जैसे नेता को आशंका थी कि देश में घरेलू युद्ध प्रारम्भ हो जाएगा। परन्तु कांग्रेस कहती थी कि इस आशंका के लिए कोई कारण नहीं है और श्री एडगर स्नो का विचार था कि "केवल अविश्वसनीय आत्म-प्रवंचना के वशीभूत होकर ही हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता, उन जिम्मेदारियों को छोड़कर जो मित्र-राष्ट्रों की सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए जरूरी हैं—शेष सारी जिम्मेदारियां और शक्ति यथासंभव भारतीयों को सौंप देने की है।"

परन्तु ब्रिटेन पर इनमें से किसी बात का भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसके अभिमान और प्रतिष्ठा को इस बात से ठेस पहुंचती थी कि एक परतंत्र राष्ट्र अपनी स्वाभाविक गुलामी और परवशता को छोड़कर युद्ध के नगाड़े बजा रहा है। एक ऐसे संगठन के शान्तिदूत का, जो उन्हें युद्ध की धमकियां देता रहा हो—भला वह क्योंकर स्वागत कर सकता था। इससे उसके बड़प्पन को धक्का लगता था। सरकारी आदेश था कि तीन बजने से पहले-पहले "सभी" को गिरफ्तार करके जेलों में ठूंस दिया जाय। इसलिए पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार जो कुछ बम्बई में हुआ वही देश के सभी भागों—देशी राज्यों और प्रान्तों, शहरों और कस्बों में हुआ। कांग्रेस कमेटियां ग़ैर-कानूनी घोषित करदी गईं। कांग्रेस के दफ्तरों पर कब्जा करके उनमें ताले डाल दिये गए। कांग्रेस की कार्रवाइयों पर पाबंदियां लगादी गईं। अखिल भारतीय महासमिति के जो सदस्य अपने घरों को वापस लौट रहे थे, उन्हें गाड़ियों में मार्ग में ही गिरफ्तार कर लिया गया। बम्बई में पुलिस ने कांग्रेस-भवन, अखिल भारतीय महासमिति के भव्य और विशाल पंडाल तथा ग्वालिया तालाब के क्रीड़ा-मैदान पर कब्जा कर लिया। सभी प्रकार के जुलूस और सभाएँ निषिद्ध घोषित करदी गईं और शहर की सारी पुलिस, रिजर्व पुलिस और सैनिक दस्तों को एकत्र कर लिया गया। कांग्रेस के स्वयंसेवकों और देशसेविकाओं ने निर्धारित समय पर अपना उत्सव मनाया, परन्तु पुलिस ने अश्रु-गैस छोड़कर और लाठी-चार्ज करके उन्हें तितर-बितर करने की चेष्टा की। पंडाल पर लहराते हुए राष्ट्रीय झंडे को नीचे गिरा दिया गया और जो स्वयंसेवक उसकी रक्षा के लिए आगे बढ़े उन पर मार-पीट की गई। कांग्रेस कार्यसमिति,

अखिल भारतीय महासमिति और बम्बई प्रान्त में बम्बई, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां अवैध घोषित करदी गईं । इसी प्रकार से उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के अलावा शेष सभी प्रान्तों की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां ग़ैर-कानूनी करार दे दी गईं । शायद इतना ही काफी नहीं था । केन्द्रीय सरकार ने नयी दिल्ली से ८ अगस्त के अपने एक आदेश के अन्तर्गत अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की ओर से चलाए गए सार्वजनिक आन्दोलन अथवा इस आन्दोलन के विरुद्ध सरकार-द्वारा अपनाए गए उपायों से सम्बन्ध रखनेवाले किसी वास्तविक समाचार का (जिनमें सदस्यों द्वारा दिये गए भाषणों अथवा वक्तव्यों के विवरण सम्मिलित हैं) किसी भी मुद्रक, प्रकाशक अथवा संपादक-द्वारा मुद्रण अथवा प्रकाशन वर्जित कर दिया । परन्तु नीचे लिखे साधनों से जिनका प्रकाशित करनेवाले समाचार-पत्रों में उल्लेख कर दिया जाएगा, प्राप्त होनेवाले समाचार इसके अपवाद होंगे:—

(अ) सरकारी साधन, अथवा,

(ब) एसोसियेटेड प्रेस आफ इंडिया, यूनाईटेड प्रेस आफ इंडिया, अथवा ओरियंट प्रेस आफ इंडिया, अथवा,

(स) संबद्ध समाचार-पत्र द्वारा नियमित रूप से नियुक्त किये गए उस संवाददाता से प्राप्त हुए समाचार, जिसके नाम की उस जिले के जिला मैजिस्ट्रेट के यहां रजिस्ट्री होचुकी होगी, और जिसमें वह अपना काम करता है ।

सरकार ने कांग्रेस के प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपना खेद, क्षोभ और प्रस्ताव में निहित चुनौती का मुकाबला करने का अपना दृढ़ निश्चय प्रकट करने में विलंब नहीं होने दिया । वस्तुतः देखा जाय तो सरकार ने अपनी तैयारियां उसी वक्त से शुरू करदी थीं, जब उसने देश के राजनीतिक-जीवन में उथल-पुथल के प्रारंभिक चिह्न देखे, क्योंकि १४ जुलाई, १९४२ के वर्धा-प्रस्ताव के थोड़ी देर बाद ही उसने १७ जुलाई १९४२ को एक गश्ती चिट्ठी जारी की जो बाद में "पकल गश्ती चिट्ठी" नाम से प्रसिद्ध हुई । यहां हम उस चिट्ठी का विस्तृत रूप से उल्लेख करना उचित समझते हैं ।

पकल-गश्ती चिट्ठी

यह स्मरण रहे कि बम्बई में अखिल भारतीय महासमिति के अधिवेशन से कुछ ही समय पहले अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के कार्यालय की तलाशी लेकर गांधीजी-द्वारा भेजे गए प्रस्ताव के मसविदे की प्रतियों पर कब्ज़ा करके उन्हें छाप दिया था । इसके अलावा उसने इस सम्बन्ध में, इलाहाबाद की बैठक में कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों के भाषणों का अपूर्ण और अनियमित विवरण भी प्रकाशित किया था । ऐसा प्रतीत होता है कि इससे पहले सरकार ने गांधीजी के मसविदे की नकल प्राप्त करने के लिए ५०० रु० का इनाम भी घोषित किया था । प्रस्ताव के इस मसविदे का उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर आए हैं । मानो कि नैतिक न्याय का ही यह तकाजा हो कि भारत-सरकार के सेक्रेटरी सर-फ्रेडरिक पकल की एक गोपनीय और महत्वपूर्ण गश्ती चिट्ठी गांधीजी के हाथों में पड़ गई और उन्होंने इसके साथ भूमिका के रूप में अपनी एक टिप्पणी जोड़कर बम्बई में उसे विस्तृतरूप से प्रचारित कर दिया । यह टिप्पणी और गश्ती चिट्ठी नीचे दिये गए हैं:—

"राष्ट्रीय आन्दोलनों को कैसे कुचला जाय; आश्चर्यजनक रहस्योद्घाटन

"गोपनीय सरकारी कागज पत्र; कांग्रेस-विरोधी तत्वों को संगठित करने का प्रयत्न.

"मेरा यह सौभाग्य है कि मेरे ऐसे मित्र हैं जिन्होंने मुझे राष्ट्रीय महत्व के चुटकुले भेजे हैं जिन्हें मैं जनता के लिए प्रकाशित कर रहा हूँ। श्री महादेव देसाई ने मुझे स्मरण दिलाया है कि ऐसा ही एक बार आज से सात साल पहले हुआ था जबकि एक मित्र ने सुप्रसिद्ध हेलेट गश्ती चिट्ठी का रहस्योद्‌घाटन किया था। ऐसा ही एक और अवसर भी था जबकि स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी को एक महत्वपूर्ण कागजपत्र मिला था जो इतना सनसनीखेज नहीं था जितनी कि हेलेट की गश्ती चिट्ठी अथवा सर फ्रेडरिक पकल और उनके सहायक श्री डी० सी० दास की दिलचस्प चिट्ठी है। अत्यधिक शोचनीय बात तो यह है कि ये चिट्ठियाँ गोपनीय थीं। उन्हें मुझे धन्यवाद देना चाहिये कि मैंने उन्हें यथासंभव व्यापकरूप से प्रचारित कर दिया है, क्योंकि यह अच्छा ही हुआ कि जनता को यह मालूम हो जाय कि सरकार राष्ट्रीय आन्दोलनों को कुचलने के लिए किस सीमा तक आगे बढ़ सकती है, चाहे वे कितने ही अनजान, स्पष्टवादी और निष्पक्ष क्यों न हों। ईश्वर ही जाने कि और कितने ऐसे ही सरकुलर जारी हुए होंगे जो कभी प्रकाश में भी नहीं आए। मैं इस सम्बन्ध में एक सम्मानपूर्ण मार्ग का प्रस्ताव करना चाहता हूं। सरकार को चाहिये कि वह खुले रूप में लोकमत को प्रभावित करे और फिर उसीके फैसले को मान ले। कांग्रेस-लोकमत जानने के लिए मत गणना अथवा किसी और उचित तरीके को मानने के लिए तैयार है और वह उस निर्णय को स्वीकार करने का वायदा करती है। वास्तव में यही प्रजातंत्र है।

"इसी बीच जनता को समझ लेना चाहिए कि 'भारत-छोड़ो' माँग की यह एक और वजह है और हमारी यह माँग दिखावटी नहीं है, वल्कि जनता के दुःखित हृदय की आवाज़ है। जनता को जान लेना चाहिये कि राष्ट्रीय हितों के साथ विश्वासघात करने के अलावा और भी ऐसे तरीके हैं जिनसे जीविकोपार्जन किया जा सकता है। निश्चय ही उन्हें सर फ्रेडरिक पकल की हिदायतों के अन्तर्गत सुझाए गए आपत्तिजनक साधनों में सहयोग नहीं देना चाहिए।

बम्बई, ६ ८—४२ मो० क० गांधी

"गोपनीय एक्सप्रेस लेटर

संख्या २८-२९-४२

गवर्नमेंट आफ इण्डिया

डिपार्टमेण्ट आफ इन्फर्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग

नई दिल्ली, १७ जुलाई, १९४२

"सर फेडरिक पकल, के० सी० आई० ई०, सी० एस० आई०, सी० एस० सेक्रेटरी टू गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया की ओर सेः—

"सभी प्रान्तीय सरकारों के चीफ सेक्रेटरियों तथा दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, बलोचिस्तान और कुर्ग के चीफ कमिश्नरों के नामः—

"७ अगस्त को बम्बई में होनेवाले अखिल भारतीय महासमिति के अधिवेशन में अभी तीन सप्ताह और हैं। इस बीच मुख्य समस्या कांग्रेस के प्रस्ताव में वर्णित ठोस सुझावों के विरुद्ध प्रचार और उस प्रस्ताव के अन्त में गांधीजी के शब्दों में 'खुले विद्रोह' की जो धमकी दी गई है उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करना है। हमें (१) उन लोगों को प्रोत्साहन देना है

जिनके सहयोग पर हम यकीन कर सकते हैं, (२) जो लोग अभीतक दुविधा में पड़े हैं, उन्हें अपने साथ मिला लें, और (३) कांग्रेसजनों में दृढ़ निश्चय की भावना को रोकें। ऐसा करने में हमारा एक उद्देश्य तो यह है कि कांग्रेस पर दबाव डाला जाय कि वह अपना कदम पीछे हटा ले और दूसरा उद्देश्य यह है कि अगर हमें कांग्रेस के खिलाफ कोई कार्रवाई करनी ही पड़े तो हमें देश के अन्दर और बाहर से जनता का समर्थन प्राप्त हो सके। कृपया आप लोग सभी उपलब्ध साधनों द्वारा जोरदार प्रचार करें जिससे कि प्रभावशाली व्यक्ति और प्रमुख गैर-कांग्रेसी संगठन कांग्रेस के प्रस्ताव के अन्तर्गत वर्णित योजना का खुले रूप में और तर्क के आधार पर विरोध करें। इस प्रचार की मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं:—

(१) नैतिक सिद्धान्त का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि भारत की भावी स्थिति के सम्बन्ध में सम्राट् की सरकार की घोषित नीति यह है कि लड़ाई में विजय प्राप्त कर लेने के बाद स्वयं भारतीयों को ही अपनी स्वतंत्र सरकार की रूप-रेखा निर्धारित करनी चाहिए और इस मध्यवर्ती काल में भारतीय-जनता प्रमुख तत्वों को अपने देश, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा संयुक्त-राष्ट्रों के सलाह-मशविरों और मामलों में मौजूदा विधान के अन्तर्गत तत्काल और सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए।

(२) वास्तविक प्रश्न व्यवहार-बुद्धि का है। क्या युद्धकाल में प्रस्तावित योजना व्यावहारिक हो सकेगी? क्या उसके परिणाम-स्वरूप मित्रराष्ट्रों की विजय सुनिश्चित हो सकेगी अथवा लड़ाई की अवधि में एक दिन की भी कमी हो जायगी?

(३) दूसरे प्रश्न का जवाब चाहे कुछ भी क्यों न हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन का परिणाम मित्रराष्ट्रों के हितों को क्षति और धुरीराष्ट्रों को लाभ पहुँचाना होगा।

(४) जापान अभी इसी पशोपेश में पड़ा हुआ है कि वह उत्तर में रूस पर आक्रमण करे अथवा पश्चिम में भारत के खिलाफ। गांधीजी इस बात को मानते हैं कि प्रस्ताव को स्वीकार करने के फलस्वरूप देश की शासन-व्यवस्था में अराजकता फैल जायगी, और निश्चित है कि उसकी स्वीकृत के अर्थ होंगे घरेलू युद्ध; दोनों ही तरह से जापान को पश्चिम की ओर आक्रमण करने में मदद मिलती है।

(५) आजकल धुरीराष्ट्रों के रेडियो-स्टेशन से जो प्रचार हो रहा है, उसके मुख्य पात्र कांग्रेस के नेता होते हैं। इससे साफ जाहिर है कि भारत के दुश्मन कांग्रेस के प्रस्तावों में अपना हित-साधन समझते हैं।

(६) मित्रराष्ट्रों की विजय के अलावा भारत के पास अपने उद्देश्य-प्राप्ति का कोई और साधन ही नहीं। "गुलामों की दुनिया में आजाद भारत का होना असम्भव है।"

२—प्रस्ताव की कुछ साधारण आलोचना इस प्रकार है:—

(क) यह प्रस्ताव एक दल का घोषणापत्र है। यह कांग्रेस की आवाज है; भारत की नहीं। एक ही आधार ऐसा है, जिसपर इसे हम प्रचार का साधन न कहकर एक गम्भीर कागजपत्र कह सकते हैं अर्थात् सभी दल इसका समर्थन करें। लेकिन इस में कांग्रेस के अलावा सभी दलों और लोगों की अवहेलना की गई है। जहाँ तक युद्ध का प्रश्न है, मुसलमान, सिक्ख, साम्यवादी, रायवादी, संगठित मजदूर, किसान सभाएँ, और विद्यार्थियों के प्रमुख संगठन कांग्रेस के विरोधी

हैं। लोग स्वेच्छा से सेना में भरती हो रहे हैं। इससे साबित हो जाता है कि युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेस भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

(ख) इस बात को ध्यान में रखिए कि इससे पहले कांग्रेस ने जो सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू किया था, उसे सर सिकन्दर हयात खाँ ने अंग्रेजों की पीठ में छुरा भोंकना बताया था।

(ग) क्रिप्स-प्रस्तावों की जो ग़लत व्याख्या की गई है, उसे ध्यान में रखिए, क्योंकि उनके अनुसार लड़ाई ख़त्म हो जाने के बाद हिन्दुस्तान को औपनिवेशिक स्वराज्य अथवा आज़ादी देने का वायदा किया गया था।

(घ) इसे ध्यान में रखिए कि कांग्रेस ने 'सांप्रदायिक गुत्थी' को सुलझाने की कोशिश नहीं की, बल्कि इसके विपरीत इस बात पर ज़ोर दिया गया कि मुसलिम लीग के साथ समझौता करना असम्भव था। श्री राजगोपालाचारी को कांग्रेस से इस्तीफ़ा देने पर विवश किया गया है।

(ङ) इस वक्तव्य पर ज़ोर दिया जाय कि यदि भारत में ब्रिटेन के प्रति व्यापक दुर्भावना है और जापानियों की सफलता पर सन्तोष प्रकट किया जाता है तो ऐसा सन्तोष केवल कांग्रेसजन ही प्रकट करते हैं, और यदि ब्रिटेन के ख़िलाफ़ दुर्भावना पाई जाती है तो उसे कांग्रेस ने जान-बूझ कर फैलाया है, क्योंकि अगर उसे मित्रराष्ट्रों के पक्ष का समर्थन करना होता तो वह उनका विरोध करने के बजाय जापान का विरोध करती।

(च) इस बात पर ज़ोर दीजिए कि कांग्रेस जो स्वयं तो विशुद्ध रूप से एक स्वेच्छाचारी संस्था है और जिस पर बड़े-बड़े उद्योगपतियों और मध्यम वित्तवाले लोगों का क़ब्ज़ा है—मज़दूरों को सत्ता हस्तान्तरित करने का स्वांग रचती है। इस समय मज़दूरों को मताधिकार प्राप्त नहीं है और अस्थायी युद्ध-सरकार पर प्रभाव डालने के लिए उन्हें इसी समय मताधिकार नहीं दिया जा सकता।

३. प्रस्ताव के अन्तर्गत जिस ठोस रूप में ये सुझाव पेश किए गये हैं, वे एकदम अस्पष्ट और अव्यावहारिक हैं। जान-बूझकर क्रिप्स के प्रस्तावों का उलटा अर्थ लगाया गया है। वे प्रस्ताव प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप थे। प्रतिनिधिपूर्ण धारा सभाओं की स्थापना के निमित्त उनके अन्तर्गत साधारण निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी जिससे विधान निर्मात्री परिषद् का निर्वाचन प्रजातंत्रात्मक ढंग पर होगा और उसे भारत के भावी विधान पर स्वतंत्रतापूर्वक सोच-विचार करने का अधिकार रहेगा। वास्तव में उन प्रस्तावों के अन्तर्गत गांधीजी के शब्दों में ब्रिटिश शक्ति के "व्यवस्थापूर्वक भारत से हटजाने की" व्यवस्था दी गई थी। कांग्रेस के प्रस्तावों में ऐसी कोई भी बात नहीं पाई जाती जो प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल हो। उनका उद्देश्य अस्थायी कांग्रेसी सरकार के हाथों में सत्ता सौंप देना है और उसके बाद यह सरकार ख़ुद फैसला करेगी कि भविष्य के लिये कौन-सी व्यवस्था आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखिए कि पहले तो ब्रिटिश राज के यहाँ से हट जाने को कहा गया है और उसके बाद अस्थायी सरकार बनाई जाने की। इस संक्रान्ति-काल में क्या होगा? अस्थायी सरकार किस तरह से और कौन बनाएगा और वह किस विधान के अन्तर्गत अपना काम करेगी? कांग्रेस ने अन्य महत्त्वपूर्ण तत्वों की सहायता प्राप्त करने की कोशिश नहीं की और ये तत्व इस बात को कभी बरदाश्त नहीं करेंगे कि अस्थायी रूप से भी कांग्रेस को सत्ता सौंप दी जाय। इस योजना में बड़ा समय लग जाएगा—कम-से-कम कई महीने—और अनिश्चितता की इस

अवधि में यदि कोई सरकार सम्राट् की सरकार का भार अपने ऊपर लेगी भी तो वह कमज़ोर और अनिश्चित सरकार होगी। क्या यह सम्भव है कि इस अवधि में जापानी निश्चेष्ट होकर बैठे रहेंगे? सविनय-अवज्ञा-आंदोलन जापानियों को एक खुला निमंत्रण है और यदि ब्रिटिश सरकार इन प्रस्तावों को मान भी ले तब भी उसका परिणाम भारत के शत्रुओं को उस पर टूट पड़ने का खुला निमंत्रण देना होगा।

४. युद्ध में सहयोग प्रदान करने का प्रस्ताव निषेधात्मक है। यह केवल एक इच्छामात्र प्रकट की गई है कि "जहाँ तक हो सकेगा" युद्ध-प्रयत्न के मार्ग में रुकावट नहीं पैदा की जायगी अथवा मित्रराष्ट्रों की सुरक्षा-व्यवस्था को कोई नुक़सान नहीं पहुँचने दिया जाएगा। दूसरों के साथ मिलकर अन्त तक डटे रहकर लड़ने के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा गया। हाल में गांधीजी ने जोकुछ भी लिखा है—ऐसा रुख़ उसके सर्वथा अनुकूल है। उन्होंने यह कल्पना कर ली है कि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद सेना भंग कर दी जाएगी और उन्होंने धुरी-राष्ट्रों के पास भारतीय राजदूतों को भेजने की बात भी कही है। अपने तौर पर उन्होंने अधिक-से-अधिक यह वायदा किया है कि मित्रराष्ट्रीय सेनाएँ भारत की रक्षा के लिए यहाँ ठहर सकती हैं, लेकिन आपने उन (मित्रराष्ट्रों) को इस कार्य में सक्रिय सहयोग देने का कोई वायदा नहीं किया। "मैं यह कह सकता हूँ कि स्वतंत्र भारत मित्रराष्ट्रों के साथ मिलाकर चलेगा, लेकिन मैं यह नहीं कह सकता कि क्या भारत सैनिकवाद में भी हिस्सा बँटाएगा अथवा वह अपने लिए अहिंसात्मक तरीक़े को अख्तियार करेगा। लेकिन मैं यह बात बिना किसी हिच-किचाहट अथवा लज्जा अनुभव किये बिना कह सकता हूँ कि अगर मेरी चली तो मैं उसे अहिंसात्मक मार्ग पर ले जाने की भरसक चेष्टा करूँगा।" इसके अलावा यह बात भी ध्यान देने-योग्य है कि कांग्रेस में शान्तिवादी भरे पड़े हैं और उसने बतौर एक संगठन के यह कभी नहीं कहा कि कांग्रेस की सरकार देश की 'रक्षा' में भाग लेगी अर्थात् उसने लड़ाई जीतने के लिए युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लेने का न तो पहले कभी वायदा किया है और न वह अब कर रही है। इस प्रस्ताव में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि इसमें आक्रमण का प्रतिरोध करने की बड़ी लम्बी-चौड़ी डींग हांकी गई है, फिर भी उसमें इसका ज़िक्र तक भी नहीं किया गया कि इस प्रतिरोध का स्वरूप क्या होगा और सारे प्रस्ताव में जान-बूझ कर हिंसा या अहिंसा का उल्लेख नहीं किया गया। प्रस्ताव में 'आक्रमण के निष्क्रिय प्रतिरोध' की निन्दा की गई है, लेकिन पिछले कई वर्षों से गांधीजी इसी बात का ही तो प्रचार करते रहे हैं। वर्धा में निराशावाद और पराजय की जो भावना पाई जाती थी और जो अधिकांश कांग्रेसियों में अब भी पाई जाती है—उस पर १२ जुलाई के 'हरिजन' में श्री महादेव देसाई ने एक उल्लेखनीय लेख में काफ़ी प्रकाश डाला है। इसका उल्लेख आपको अँग्रेज़ी 'हरिजन' के २२६वें पृष्ठ पर "निराशा का खेल" नामक शीर्षक-पैरे में मिलेगा। पढ़े-लिखे लोगों के साथ बातचीत करते समय इस लेख का उल्लेख करना उपयोगी साबित होगा।

५. प्रस्ताव के अन्त में धमकी दी गई है जो अस्पष्ट है और उसका बाद में गांधीजी और मौलाना आज़ाद ने खुलासा करते हुए यह कहा है कि उसका मतलब व्यापक पैमाने पर एक सार्वजनिक आन्दोलन से है। अगर कांग्रेस की बात न मानी गई तो वह सन्तोष करके नहीं बैठ रहेगी और दूसरों को अपना काम नहीं करने देगी, बल्कि वह तो भारत को जापान

और जर्मनी के हवाले कर देगी। इस सम्बन्ध में फ़ारसी की नीचे दी गई एक लोकोक्ति उपयोगी साबित हो सकती है--

ना खुद खुरम न बेकस देहम ;
परसिद शबद्दा बेशद देहम।

"न तो इसे मैं खुद खाऊँगा और न ही मैं इसे किसी और को ही दूँगा;
इसे पड़ा सड़ने दो, जिससे कि इसे मैं कुत्तों को दे सकूँ।"

६. इसी वक़्त कांग्रेस पर सीधा हमला करना अर्थात् उसे पांचवाँ दस्ता इत्यादि कहना उचित नहीं होगा; और ख़ासकर व्यक्तिविशेष पर तो बिलकुल ही हमला न किया जाय; इन दोनों का परिणाम यह होगा कि वफ़ादार कांग्रेसजन ऐसी बात का समर्थन करने लग जाएँगे जिस पर शायद उन्हें वास्तविक रूप से यक़ीन न हो। इस वक़्त तो हमारा उद्देश्य यह है कि लोकमत को कांग्रेस की नीति के ख़िलाफ़ संगठित किया जाय और इस बात पर ज़ोर दिया जाय कि कांग्रेस की नीति युद्ध के सफलतापूर्वक संचालन के हितों के विरुद्ध है। वफ़ादार और डांवाडोल स्थितिवाले लोगों को यह आश्वासन दिलाया जा सकता है कि सरकार गड़बड़ का मुक़ाबला आसानी से और उचित रूप से करने में समर्थ है और वह अपने इन साधनों से अवश्य काम लेगी।

७. राष्ट्रीय युद्ध-मोर्चे से हमें पूरा-पूरा लाभ उठाकर इन प्रस्तावों का विरोध करना चाहिए, जिनसे केवल युद्ध-प्रयत्न को ही नुक़सान पहुँच सकता है। स्थानीय प्रचार-कार्य के लिए हम भाषणों, स्थानीय-पत्रों के नाम पत्रों, परचों, व्यंग्यचित्रों; पोस्टरों और लोगों में जाकर बातचीत करने के साधनों से काम ले सकते हैं। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार द्वारा अखिल भारतीय रेडियो स्टेशनों को आवश्यक हिदायतें दे दी जायेंगी।

व्यंग्यचित्रों अथवा पोस्टरों के सम्बन्ध में नीचे लिखे सुझाव पेश किए जाते हैं:--

(१) दृश्य : घर का एक कमरा, जिसके दाएं और बाएं दरवाजे हैं। बाएं दरवाजे से एक ब्रिटिश सैनिक बाहर जा रहा है और कमरे के बीच में फ़र्श पर खड़ा हुआ एक कांग्रेसी उसे अलविदा कह रहा है। कांग्रेसी के पास ही एक किसान खड़ा है जो दाएं दरवाजे की ओर देख रहा है, जिसमें एक जापानी सिपाही का सिर दिखाई दे रहा है। इस पोस्टर का शीर्षक यह हो सकता है: "बाबूजी, देखिए कौन आ रहा है ?"

(२) दृश्य : एक चौराहा। एक खम्भे पर "विजय" लिखा है। दो यात्री : एक कह रहा है, "आज़ादी का मार्ग कौन-सा है ?" दूसरा जवाब देता है, "मेरे साथ चले आओ। विजय का मार्ग तुम्हें अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचा देगा।"

(३) हिटलर, मुसोलिनी और तोजो। हरएक के पास माइक्रोफोन है और वे चिल्ला रहे हैं, "मैं कांग्रेस के प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।

हस्ताक्षर--एफ० एच० पकल
सेक्रेटरी टू गवर्नमेंट आफ इण्डिया।"

"गोपनीय

एक्सप्रेस लैटर
गवर्नमेंट आफ उड़ीसा पब्लिसिटी डिपार्टमेंट
संख्या ८६५ (१६) पब.

रायसाहब डी० सी० दास, एम० ए०, डिप्टी सेक्रेटरी और गवर्नमेंट के पब्लिसिटी अफसर की ओर से सभी कलेक्टरों, सभी सब-डिवीज़नल अफसरों के नाम।

कटक, तारीख़, २२ जुलाई, १९४२

श्रीमन्,

अपने संख्या ८७८ (२०) पब्लिसिटी तारीख़ २१ जुलाई, १९४२ के पत्र के सिलसिले में, मैं भारत सरकार के सूचना और ब्राडकास्टिंग विभाग के १७ जुलाई, १९४२ के संख्या २८-२५-४२ के गोपनीय एक्सप्रेस पत्र की एक प्रति भेज रहा हूँ और मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप सभी उपलब्ध साधनों द्वारा इस में निर्दिष्ट आधार पर ज़ोरदार प्रचार करने के उद्देश्य से तत्काल कार्रवाई कीजिए, जिससे कि आपके ज़िले, सब-डिवीज़न के प्रभावशाली व्यक्ति और प्रमुख ग़ैर-कांग्रेसी संगठन कांग्रेस के प्रस्ताव के अन्तर्गत वर्णित योजना का खुले रूप में और तर्क के आधार पर विरोध करें।

इस विभाग को कटक, बालासोर और गंजाम ज़िलों के जिन मौजूदा ग़ैर-कांग्रेसी संगठनों के बारे में पता है, उनका उल्लेख इस पत्र के हाशिये में नीचे किया गया है। इस समय प्रान्त में जो विभिन्न युद्ध-समितियाँ काम कर रही हैं, उनके अलावा दूसरे ज़िलों में और भी इसी तरह के ग़ैर-कांग्रेसी संगठन हो सकते हैं और कटक, बालासोर और गंजाम के ज़िलों में भी ऐसे ही कितने और संगठन हो सकते हैं। ग़ैर-कांग्रेसी संगठनों से आवेदन किया जा सकता है कि वे भारत-सरकार के इस पत्र में वर्णित आधार पर सभायें करके प्रस्ताव पास करें। पास किये गए इन प्रस्तावों का न केवल इस प्रान्त के बल्कि दूसरे प्रान्तों के अधिक-से-अधिक समाचार-पत्रों में प्रकाशित करके उन्हें यथासम्भव व्यापक रूप से प्रचारित किया जाय। इस उद्देश्य के लिए जहाँ तक हो सके यूनाइटेड प्रेस और एसोसिएटेड प्रेस के प्रतिनिधियों की सेवाओं से भी लाभ उठाया जाय। आपके इलाक़े के प्रभावशाली व्यक्तियों के ज़रिये कांग्रेस की प्रस्तावित योजना का विरोध करने का सर्वोत्तम तरीक़ा शायद यह हो सकता है कि वे लोग निर्दिष्ट आधार पर ग़ैर-कांग्रेसी समाचार-पत्रों में लेख प्रकाशित करें। ग़ैर-कांग्रेसी पत्रों के संपादकों से कहा जाय कि वे निर्दिष्ट आधार पर कांग्रेस की प्रस्तावित योजना के विरोध में अग्रलेख लिखें। ७ अगस्त को बम्बई में होने वाले अखिल-भारतीय महासमिति के अधिवेशन में चूँकि तीन सप्ताह से भी कम समय रह गया है,

कटक
उड़िया जनता संघ,
उड़िया मुसलमान संघ
उड़िया ज़मींदार संघ
अखिल उड़ीसा बंगाल निवासी संघ,
उड़ीसा में आकर बसनेवाले बंगालियों का संघ,
उड़ीसा की महिला सर्विस लीग,

बालासोर
उड़ीसा के मिल-मालिकों का संघ

गंजाम
गंजाम ज़मींदार संघ,
अखिल उड़ीसा संघ,
आंध्र-मंडली और
उड़िया समाज

इसलिए तात्कालिक और ज़ोरदार कार्रवाइयाँ करने की प्रार्थना की जाती है।

मैं हूँ आपका अत्यधिक आज्ञाकारी सेवक,
हस्ताक्षर—डी० सी० दास
सरकार का उप-मंत्री और प्रचार अफसर।

यद्यपि सरकार ने कांग्रेस पर अचानक 'विद्युत् आक्रमण' करने का फैसला अपनी ओर से बड़ा गुप्त रखा था, लेकिन जनता उसे आमतौर पर जानती थी। कांग्रेस पर इन बातों का इसके अलावा और कोई प्रभाव नहीं पड़ा कि गांधीजी हृदय से किसी शान्तिपूर्ण समझौते के लिए यथासंभव जो कोशिशें करना चाहते थे, उनपर तुषारपात हो गया। सरकार का यह कहना था कि वह प्रारम्भ में ही कांग्रेस के आन्दोलन को दबा देना चाहती थी जिससे कि वह व्यापकरूप से न फैल सके। जहां एक तरफ कांग्रेस ने अपने आन्दोलन के सम्बन्ध में वास्तव में अभी विस्तृत बातों का कोई फैसला नहीं किया था और गांधीजी ने केवल इतना कहा था कि अहिंसा और सत्य के आधार पर अबतक के व्यक्तिगत और सार्वजनिक आन्दोलनों में जिस कार्यक्रम को अपनाया गया था, उसकी सब बातें इस आन्दोलन में भी रहेंगी। परन्तु दूसरी तरफ यह स्पष्ट था कि सरकार इतनी उत्तेजनापूर्ण कार्रवाइयां कर रही थी कि उनसे जनता को हिंसा और तोड़-फोड़ की वे सब कार्रवाइयां करने का प्रोत्साहन मिलता था, जिनकी उसे आशंका थी और जिन्हें आधार बनाकर वह अपनी कार्रवाई का औचित्य सिद्ध कर रही थी। और जनता के बारे में कारलाइल ने लिखा है कि वह एक "असीम दाह्य पदार्थ है।" उसे आसानी से भड़काया जा सकता है। संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि सरकार ने जनता को अराजकता और अव्यवस्था फैलाने के लिए प्रोत्साहित किया और उसे यकीन था कि वह अहिंसात्मक सार्वजनिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन की अपेक्षा जनता की अराजकता को अपने बल-प्रयोग से सुगमता से दबा लेगी। सरकार गुजरात में बारदोली-चौरासी के इलाके में १६२८ और १६३० में बारदोली तथा अन्य ताल्लुकों के तथा कर्नाटक में उत्तरी कनारा के सिरसी और सिद्धपुर ताल्लुके के कर न देने के आन्दोलन के अनुभव को आसानी से नहीं भुला सकती थी। बल-प्रयोग पर आधारित सरकारों की हमेशा से ही यह नीति रही है कि नैतिक सिद्धान्तों पर उनके विरुद्ध जो भी आन्दोलन छेड़ा जाय उसका मुकाबला वे हिंसा से करती हैं। अगर सरकार का यह विचार था कि इस प्रकार की बम-वर्षा के जरिये वह जनता का विद्रोह कुचल देगी तो यह उसकी भूल थी, क्योंकि उसने जनता पर जिन हथियारों से वार किया, वे ही हथियार उसने स्वयं अपने ही खिलाफ इस्तेमाल किये।

जब गिरफ्तारियों और आर्डिनेन्सों की यह उत्तेजना खत्म होगई तो सरकार ने जिस कार्यप्रणाली को अपनाया था, बाहरी दुनिया, ब्रिटेन तथा भारत की जनता और सरकार पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई उसका हम अध्ययन करना चाहते हैं। यह कहा गया था कि ब्रिटेन और साम्राज्य के समाचार-पत्रों ने भारत में जो कुछ हुआ था उसका एक स्वर से समर्थन किया। इससे उलटे हो भी नहीं सकता था। हां, केवल उनके दृष्टिकोण में जरा फर्क जरूर था। अगर 'टाइम्स' ने युक्तियों और तर्क का सहारा लेकर सरकार की इस कार्रवाई का समर्थन किया तो 'संडे टाइम्स' और 'संडे क्रानिकल' ने आपे से बाहर होकर उत्तेजनात्मक टिप्पणियां लिखीं।

हो सकता है कि आज के युग में हमें यह विचार कि "हम अपने साम्राज्य को देश के भीतर अराजकतावादियों और उसके बाहर बर्बर लोगों की दया पर नहीं छोड़ सकते" अत्यधिक कठोर और मुंहफट प्रतीत हो, लेकिन जब हम देखते हैं कि इसके साढ़े तीन महीने बाद ही १० नवम्बर, १९४२ को प्रधान मंत्री श्री चर्चिल ने भी अपने 'मेंशन हाउस' वाले भाषण में ऐसे ही उद्गार प्रकट किये तो हमें इस पर कोई आश्चर्य नहीं होता। उसमें श्री चर्चिल ने कहा था:—

"हमारे पास जो कुछ भी है उसे हम अपने कब्ज़े से बाहर नहीं जाने देंगे। हमें मालूम है कि सीना-ज़ोरी और प्रलोभन किसी बीते हुए युग के दैत्य नहीं हैं, बल्कि साम्राज्य के संरक्षक और अधिष्ठाता देव हैं।"

भारत पर भी इसकी एक ही प्रतिक्रिया हो सकती थी और उसका सम्बन्ध भूत की बजाय भविष्य से था। स्वयं ब्रिटेन बारंबार जिस राजनीतिक दल के संगठन, उसकी शक्ति, प्रभाव और महत्त्व की प्रशंसा करते नहीं थकता था, उसे उसने निष्क्रिय बना दिया और जनता को निषिद्ध मार्गों पर चलने के लिए प्रोत्साहन दिया। मुस्लिम लीग के प्रधान इस स्थिति से बहुत संतुष्ट थे और उनका तर्क यह था कि कांग्रेस का आन्दोलन लीग के खिलाफ था और उसकी मांग का मकसद ब्रिटेन को जनता के दबाव के आगे घुटने टेक देने पर विवश करना था। जहां तक देश के दूसरे सांप्रदायिक, नरमदल वाले और विभिन्न वर्गों के संगठनों का प्रश्न है--उन सब ने सरकार से अपनी नीति में संशोधन करने का आग्रह किया, क्योंकि उनके विचार से कांग्रेस की न्यायोचित मांग का जवाब दमन कदापि भी नहीं हो सकता था और इसके अलावा संगठनों ने सरकार की जल्दबाजी को भी अनुचित ठहराया।

मानो ऐसा प्रतीत होता है कि केवल सरकार ही एक ऐसा दल था जिसे स्वयं अपनी इस कार्रवाई से संतोष या प्रसन्नता नहीं हो सकी, क्योंकि पहले दिन की घटनाओं के कारण जनता के दिलों पर जो आतंक छा गया था उससे वह उनका ध्यान हटा देना चाहती थी। इसके लिए वह यह कह रही थी कि गांधीजी और उनके सहयोगियों को गिरफ्तार करने का निर्णय नयी शासन-परिषद् के सदस्यों ने एकमत होकर किया है, और इस परिषद् में ११ सदस्य भारतीय हैं। यद्यपि श्री अणे और सरकार उस बैठक में उपस्थित नहीं थे, जिसमें उक्त फैसला किया गया था, फिर भी उन्होंने इससे पहले के विचार-विनिमय के समय इस नीति-से अपनी सहमति प्रकट की थी। वास्तव में यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सरकार ने इस तरह का दावा किया, क्योंकि बाद में केन्द्रीय असेम्बली में श्री अणे ने यह घोषणा की कि अगर मैं उस बैठक में उपस्थित रहता तो मैं निश्चय ही इस फैसले का विरोध करता, यद्यपि बाद में देश में जो कुछ हुआ है उसे देखते हुए मेरा यह विरोध मेरे जीवन की एक भारी भूल होती। इसके अलावा सरकार ने विदेशों में यह कहना शुरू कर दिया कि वह क्रिप्स के प्रस्तावों के अन्तर्गत वाइसराय की शासन-परिषद् के भारतीयकरण की कल्पना कर रही है और कांग्रेस की चुनौती के जोरदार जवाब के रूप में वह भारतीयों को और अधिक सत्ता हस्तान्तरित करने का विचार कर रही है। सरकार ने इस समस्या के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला। उसने यह कहा कि उसे गांधीजी के अनशन की संभावना भी है और जबतक कांग्रेस के नेता सार्वजनिक आन्दोलन का अपना प्रस्ताव वापस नहीं ले लेते तब तक वह अपने निर्धारित मार्ग पर अटल रहेगी।

भारत-सरकार का प्रस्ताव

इस सर्वसम्मत निर्णय के बाद ही इस बारे में भारत-सरकार ने ८ अगस्त को अपना प्रस्ताव प्रकाशित किया और इसलिए हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह प्रस्ताव उसने पहले से ही तैयार करके रखा होगा, जिससे कि गिरफ्तारियों के बाद ही उसका प्रकाशन होसके । प्रस्ताव का प्रारम्भ इस प्रकार होता है; (१) पिछले कुछ दिनों से सपरिषद् गवर्नर जनरल को मालूम रहा है कि कांग्रेस-दल-द्वारा अवैध और कुछ दिशाओं में हिंसक कार्यों के लिए खतरनाक तैयारियां की गई हैं, जिनका उद्देश्य और बातों के अलावा यह भी है कि यातायात् और सार्वजनिक उपयोग के साधनों में विघ्न डाला जाय, हड़तालों का संगठन किया जाय और सरकारी कर्मचारियों को राजभक्ति से विमुख किया जाय और रक्षा के उपायों में, जिनमें रंगरूटों की भरती भी शामिल है, बाधा पहुँचायी जाय। वास्तव में तथ्य तो यह है कि कांग्रेस कार्यसमिति ने आन्दोलन का कोई भी कार्यक्रम अभी तैयार ही नहीं किया था और सरकार ने अपनी सूचना की अधिकार-सीमा के बाहर जाकर कांग्रेस पर ऐसा दोषारोपण किया और उस समय देश में कोई भी ऐसा उत्तरदायित्वपूर्ण कांग्रेसजन बाहर नहीं था जो सरकार के इन इलजामों का प्रत्युत्तर देता ।

आगे चलकर सरकार ने अपने इसी प्रस्ताव में कांग्रेस की मांग का ज़िक्र करते हुए कहा कि उस पर सोच-विचार ही नहीं किया जा सकता क्योंकि, "इसकी स्वीकृत से भारत में अव्यवस्था और अराजकता फैल जायगी और मानव-स्वतंत्रता के सार्वजनिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो उद्यम वह कर रहा है वह बिलकुल ही ठण्डा पड़ जायगा ।" यह एक अनोखा तर्क है, क्योंकि मानव-स्वतंत्रता के सार्वजनिक उद्देश्य में भारत की अपनी स्वतंत्रता भी तो सम्मिलित है । संक्षेप में कहने का अर्थ यह है कि कांग्रेस की मांग 'भारत-छोड़ो' की थी, लेकिन उसका संक्षिप्त-सा खुलासा यह था कि ब्रिटिश सत्ता यहाँ से हटा ली जाय । सरकार ने इस नारे की जो अक्षरशः व्याख्या करने की चेष्टा की उससे कोई भी व्यक्ति धोखे में नहीं आ सकता था, क्योंकि सरकार निश्चितरूप से यह जानती थी कि इसके मानी इसके सिवाय और कुछ नहीं कि ब्रिटेन भारत की स्वतंत्रता की घोषणा कर दे और देश में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की घोषणा करे जिसमें केन्द्रीय धारासभा के निर्वाचित तत्वों के प्रतिनिधि शामिल हों और इस सरकार के पास रक्षा-विषय तथा युद्धजन्य विषयों को छोड़कर शेष सभी विषय हों। इससे देश में किसी किस्म की अराजकता अथवा अव्यवस्था नहीं फैल सकेगी। परन्तु जब सरकार के सामने यह पहलू उपस्थित किया जाता तो, इसके लिए सरकार का जवाब एक ओर तो यह होता कि, "इस देश में गहरे भेद-भाव विद्यमान हैं और जिनके ऊपर उत्तरदायित्व हो, उन सब का लक्ष्य इसे दूर करने का होना चाहिए। वर्तमान भारत-सरकार को भी दूर होने की आकांक्षा और आशा है।" और दूसरी तरफ वह कहती कि "वह कांग्रेस को भारत की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था मानने के लिए तैयार नहीं है।" और इसके साथ ही गवर्नर-जनरल के इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि, "भारत के राजनीतिक जीवन में बहुत दिनों से कांग्रेस-दल का एक बहुत ही प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।"

वास्तविकता यह थी कि सरकार ने कांग्रेस की स्थिति बड़ी डाँवाडोल बना रखी थी। इसके बावजूद कि कांग्रेस के जिम्मेदार नेताओं ने यह स्पष्ट कर दिया था कि 'भारत-छोड़ो' नारे का अर्थ वह नहीं है जो सरकार ले रही है और श्री लुई फिशर तथा श्री एडगर स्नो और प्रमुख

अमरीकी पत्रकार भी कांग्रेस की इस व्याख्या से सन्तुष्ट थे। सरकार उसका अर्थ कभी तो अक्षरशः लेती और कभी यह कहती कि देश के विभिन्न वर्गों में गहरे मतभेद विद्यमान् हैं, हालाँकि इनकी जिम्मेदारी स्वयं उसीके कन्धों पर थी। और फिर कभी वह, जैसा कि क्रिप्स ने कहा था, यह कहने लगती कि युद्धकाल में किसी किस्म का वैधानिक परिवर्तन संभव नहीं है। यद्यपि सरकार ने अपने प्रस्ताव में स्वीकार किया है कि भारत के राजनीतिक जीवन में कांग्रेस का एक बहुत ही प्रमुख स्थान है, फिर भी वह केवल यह युक्ति देती कि "भारत-सरकार का कर्तव्य है कि वह भारत के सब विचार और भावनाओं के समुदायों के हितों पर समुचित दृष्टि रखे।"

श्री एमरी ने बाद के अपने एक वक्तव्य में घोषणा की कि—"जब तक कांग्रेस अपना प्रस्ताव वापस नहीं लेती और उसे पास करने पर खेद प्रकट नहीं करती तब तक सरकार कांग्रेस के साथ कोई समझौता नहीं कर सकती।" लेकिन लन्दन के 'टाइम्स' ने इस वक्तव्य पर आपत्ति करते हुए कहा कि कांग्रेस के बिना कोई समझौता संभव नहीं है। इससे प्रकट है कि सरकार किस प्रकार निरन्तर अपना दृष्टिकोण बदल रही थी। पहले तो ब्रिटिश सरकार ने स्वयं ही देश का सांप्रदायिक आधार पर विभाजन किया और फिर राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की। कांग्रेस की मांग के खिलाफ उसी ने इस विभाजन की आड़ लेना शुरू कर दिया। लड़ाई के पहले तीन वर्षों में तो सरकार ने पाकिस्तान के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा, परन्तु १७ दिसम्बर, १९४२ को वाइसराय ने, यद्यपि भारत की भौगोलिक एकता पर जोर दिया, पर साथ यह भी कहा कि सांप्रदायिक भेद-भाव उसकी प्रगति में बाधक हैं। क्या ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों की मांग के सम्बन्ध में अपनी कोई राय ज़ाहिर करने का साहस दिखाया? अगर वह इससे सहमत थी तो उसे ऐसा कह देना चाहिए था। और अगर वह इससे असहमत थी तो भी उसे अपनी राय प्रकट कर देनी चाहिए थी। परन्तु तथ्य यह है कि वह जानती थी कि सांप्रदायिक मतभेद असंगत हैं, फिर भी वह उनकी आड़ में भारत की प्रगति में रुकावट डालती रही। इससे ब्रिटिश सरकार के इस झूठे दोषारोपण की पोल खुल जाती है कि:—

"अपना प्रभुत्व जमाने के लिए और अपनी अधिनायकत्वपूर्ण नीति पर आरूढ़ रहने के लिए इसके नेताओं ने बराबर ही उन प्रयत्नों में बाधा डाली है जो भारत को पूर्ण राष्ट्रीयता प्रदान करने के लिए किये गए हैं।"

तब इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि कांग्रेस की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार भारत को स्वायत्त शासन प्रदान करने के लिए अधिक उत्सुक है। भारत में सरकार की नीति के विभिन्न पहलुओं पर फिर से प्रकाश डालते हुए अन्त इस प्रस्ताव में कहा गया है कि:—

"सम्राट् की सरकार ने इस बात की गारण्टी दे दी है कि भारतवासियों को स्वायत्त शासन प्राप्त करने का पूरा-पूरा अवसर दिया जाएगा।"

क्या आपने इस दुनिया में कभी कोई ऐसा लेनदार देखा होगा, जो अपने देर के कर्ज़ के भुगतान के सम्बन्ध में कर्ज़दार के इस आश्वासन से सन्तुष्ट हो जाय कि वह उसका कर्ज़ा अवश्य चुका देगा?

सरकार के उक्त प्रस्ताव के अलावा कांग्रेस और उसके नेता गांधीजी के ऊपर अर्द्ध-सरकारी हल्कों की ओर से यह दोष भी लगाया गया कि कांग्रेस ने हाल में अपनी पिछले बाईस-वर्ष की नीति परिवर्तन करके यह कहना शुरू कर दिया है कि आजादी मिलने के बाद सांप्रदायिक ऐक्य स्वयं ही स्थापित हो जाएगा, जबकि इससे पहले वह यह कहा करती थी कि स्वाधीनता की प्राप्ति से पहले सांप्रदायिक ऐक्य अत्यावश्यक है। परन्तु कांग्रेस के आलोचक यह बात क्योंकर भूल जाते हैं कि

१९२०-२१ में भी जब कांग्रेस ने स्वराज्य की मांग पेश की थी, और जो बाद में १९२९ में पूर्ण स्वाधीनता की मांग के रूप में परिवर्तित हो गई थी—सांप्रदायिक एकता का नारा बुलन्द किया गया था ? हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्र की प्रगति का अन्दाजा हम अंकगणित शास्त्र के अधार पर नहीं लगा सकते और राष्ट्रीय सुधारक जिस क्रमिक प्रगति की योजना बनाते हैं और कल्पना करते हैं वह केवल हमारे आन्तरिक पथ-प्रदर्शन के लिए ही होती है, बाहर के उन विरोधियों के लिए तर्क के नहीं, जो सभी प्रकार की वास्तविक प्रगति का विरोध करना अपना कर्तव्य समझते हैं। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। एक महान् राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रारम्भ में अपने विरोधियों की घृणा और उदासीनता का शिकार बनना पड़ता है और बाद में उनकी भर्त्सना तथा अन्त में उनकी विरोधी चालों का। सांप्रदायिक एकता एक प्रशंसनीय उद्देश्य था। अभी हम इस लक्ष्य तक पहुँचे भी नहीं थे कि हमारे ऊपर जोरदार प्रहार करके हमारी कोशिशों को मिट्टी मिलाने की चेष्टा की गई। अब तक तो प्रश्न केवल सैद्धान्तिक ही था, पर अब उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार देश की प्रगति अवगुंठित हो गई है। इस प्रकार १९०६-१९०९ में जहाँ लार्ड मिण्टो ने इन सांप्रदायिक दावों का समर्थन किया, मांटेगू के जमाने में उन्हें सुदृढ़ बना दिया गया और जब उस समस्या का कोई हल निकलने ही वाला था कि उसे नया जामा पहना दिया गया। अब यह समस्या कोई धार्मिक, सांस्कृतिक, वैधानिक अथवा नौकरियों में अनुपात का प्रश्न नहीं रहा, बल्कि यह प्रश्न देश को दो संघों में विभक्त करने का बन गया है—अर्थात् अंकगणित के आधार पर बच्चे के दो टुकड़े कर दिए जाएँ। जब देश में विद्यमान तीसरे दल की कोशिशों के परिणामस्वरूप विभाजन की मांग अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है तो अपने छोटे भाई के लिए कांग्रेस के भ्रातृप्रेम और एकता के लिए उसकी कोशिशों का गलत अर्थ लगाया जाता है। यदि एक पक्ष उस की इन कोशिशों को सन्देह की नजरों से देखता है तो दूसरा उसे उसकी कमजोरी समझता है और इस प्रकार विभाजन की मांग ज्यों की त्यों बनी रहती है। इन कठिन और जटिल परिस्थितियों में गांधीजी को अचानक यह आभास और अनुभव हुआ कि तीसरे दल को भारत से अवश्य ही चले जाना चाहिए और उसके यहाँ से हट जाने के बाद ही देश में कौमी एकता स्थापित हो सकती है। इसलिए कांग्रेस पर यह दोषारोपण करना कि वह अपने निर्धारित मांग से च्युत हो गई है, अपने अन्याय की ज़िम्मेदारी को दूसरों के मत्थे मढ़ने की चेष्टा करना है।

अन्त में एक बात और, सरकार और कांग्रेस के इन आलोचकों ने व्यर्थ में बहुत बढ़ाकर यह दिखाने की कोशिश की है कि लड़ाई के जमाने में कोई वैधानिक परिवर्तन संभव नहीं है। इस तर्क में हमें कोई जान नहीं दिखाई देती। सर स्टैफर्ड क्रिप्स पहले आदमी थे जिन्होंने अपने प्रस्तावों के पक्ष में इस तर्क से काम लिया, लेकिन साथ ही वही ऐसे व्यक्ति थे जो पार्लमेण्ट में एक ऐसा कानून पास कराना चाहते थे, जिसके अनुसार यह शर्त उड़ा दी जाए कि गवर्नर-जनरल की शासन परिषद् में कुछ सदस्य ऐसे होने चाहिए जिन्होंने कम-से-कम दस साल तक सरकार की नौकरी की है। अगर सरकार सत्ता हस्तान्तरित करने को राजी हो, तो फिर इस परिवर्तन को वैध रूप देने के लिए पार्लमेण्ट की स्वीकृति लेना कोई कठिन कार्य नहीं रह जाता। ऐसा कानून पास करना निस्सन्देह उस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने की अपेक्षा अधिक कठिन नहीं था, जिसके अनुसार जून, १९४० में श्री चर्चिल ने फ्रांस और ब्रिटेन को एक बना

देने का सुझाव उपस्थित किया था। इसी समय भारतीय समस्या का विवेचन करते हुए प्रो० लास्की ने 'न्यू स्टेट्समैन ऐण्ड नेशन' में इस प्रकार लिखा था—

"अगर इस समस्या को सुलझाने हमारा इरादा पक्का हो तो वह सुलझ सकती है। अगर हम पहला स्थान भारतीय आजादी को और दूसरा ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को दें तो यह समस्या आसानी से सुलझ सकती है। अगर हम बर्मा और मलाया में अपनायी गई अपनी नीति का त्याग करके अभी से भारतीयों की स्वतंत्र सद्भावना एकत्र करने की कोशिश करें और उन्हें स्पष्ट बता दें कि यह उनका अपना ही काम है तो यह समस्या सुलझ सकती है। इसके कारण हमें बड़े-बड़े वैधानिक परिवर्तन करने होंगे और सर स्टैफर्ड क्रिप्स का कहना है युद्धकाल में ऐसे वैधानिक परिवर्तन करना असंभव है। परन्तु श्री चर्चिल इस विचार से सहमत नहीं हैं। एक अत्यन्त संकटपूर्ण और नाजुक घड़ी में उन्होंने फ्रांस और ब्रिटेन को एक दूसरे से मिला देने का प्रस्ताव किया था और हमारे इतिहास में यह सबसे बड़े वैधानिक परिवर्तन का प्रस्ताव था। इस में बड़े-बड़े खतरे हैं। इसमें वह पूर्णता नहीं है जिसके लिए लम्बे-लम्बे वाद-विवाद और धैर्य-पूर्वक योजना-निर्माण की जरूरत पड़ती है। सर स्टैफर्ड क्रिप्स की योजना के समाप्त हो जाने के बाद 'भारत से हमें आत्महत्या करके लौटना' हमारी प्रतिष्ठा के लिए एक भारी बट्टा है, इसके अनुसार जिस एकता की स्थापना की कल्पना की गई है वह शायद चिरस्थायी नहीं हो सकेगी। अगर हम खतरे न उठायें तो फिर युद्ध का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। भारत को वास्तव में लड़ाई में भाग लेने के लिए तैयार करने के उद्देश्य से शासन-सम्बन्धी परिवर्तन करना कोई बड़ा बलिदान नहीं है। अगर भारत लड़ाई में हमारे साथ होकर लड़े तो इससे हमारी भौतिक तथा नैतिक शक्ति का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है, और इतिहास में कोई भी राष्ट्र सिवा अपनी मृत्यु-शय्या के और किसी समय अपने अन्तिम शब्द नहीं कहता। क्या ऐसी एकता भारत में कायम भी रह सकेगी, यह तो भविष्य के गर्भ में है। यह कहना निस्सन्देह युक्ति-युक्त और तर्क-संगत प्रतीत होता है कि जो संप्रदाय अपने ऊपर बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियाँ उठाते हैं उन्हें उससे अच्छा सामूहिक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है, अगर वे वर्षों तक आपस के लड़ाई-झगड़ों में ही लगे रहे हैं और इस तरह से हताश और निराश होकर बैठ जाएँ।

"कम-से-कम यह एक ऐसा कार्यक्रम है जो हमारी और भारतीयों—दोनों की ही सद्भावनाओं को परखने की एक कसौटी है। और अगर हमारा यह प्रयत्न असफल रहता है तो हमें और अच्छा समझाने तक यथाशक्ति योग्यता के साथ अपनी जिम्मेदारियों को निभाना चाहिए। लेकिन अगर हमारी यह कोशिश कामयाब रही तो मैं यह दावा कर सकता हूँ कि उसके फलस्वरूप लड़ाई का सारा स्वरूप ही बदल जायगा, क्योंकि इस तरह से हमारी स्थिति इतनी दुर्भेद्य बन जायगी कि हम यह दावा कर सकेंगे कि हम स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं। इससे हमारे मित्रों और हमारी सेनाओं के सम्मुख हमारी वह रचनात्मक शक्ति स्पष्ट हो जायगी जिसके सहारे हम उस वक्त भी जीवित रह सके जब हम बिलकुल अकेले थे। हमें भारत में अपनी साम्राज्यवादी सत्ता का त्याग कर देना चाहिए और इससे हमें नुकसान पहुँचने के बजाय लाभ ही पहुँचेगा, क्योंकि उसके कारण हमें न केवल भारतीय जनता की मित्रता ही प्राप्त हो जायगी बल्कि उन सभी स्त्री-पुरुषों का सम्मान भी प्राप्त हो जायगा जो यह जानते हैं कि केवल साहस और कल्पना-शक्ति के सहारे ही स्वतंत्रता की दीप्ति प्रज्ज्वलित रह सकती है।

"इसके अलावा यह कोई निगूढ़ सिद्धान्तों का ही विषय नहीं है। यदि फ्रांस ब्रिटेन के साथ मिल जाना पसन्द करता तो उसके कारण शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के इतिहास में पहली ही बार इतने विशाल और व्यापक वैधानिक परिवर्तन करने पड़ जाते। चलिए, इसे एक ओर छोड़-कर अब हम ब्रिटिश साम्राज्य और मित्रराष्ट्रों की समस्याओं पर तनिक सोच-विचार करें।

चुनाव-सम्बन्धी सुधार

इंग्लैण्ड की बुरी तरह से बदनाम संयुक्त सरकार ने संसार के सबसे बड़े महायुद्ध के समय अत्यधिक विवादास्पद कानून पास किये, जिनका सम्बन्ध ऐसी समस्याओं से था, जिन्हें लेकर भूतकाल में या तो दलगत सरकारें भंग कर दी गई थीं अथवा उन पर वर्षों तक विचार ही नहीं किया गया, क्योंकि कोई भी दलगत सरकार उन्हें अपने हाथ में लेने को तैयार नहीं थी। शिक्षा-सम्बन्धी बिल और चुनाव-सम्बन्धी सुधारों के कानून पर किसी दल-विशेष के हितों की दृष्टि से विचार न करके विशुद्ध राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से ही सोच-विचार किया जाता था और ये दोनों ही कानून बड़े महत्त्वपूर्ण थे। सीटों का विभाजन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, चुनाव का खर्च इत्यादि सभी विवादास्पद विषय १९१६ और १९२४ की प्रथा के अनुसार स्पीकरों (अध्यक्षों) के सम्मेलन के सुपुर्द कर दिये गए थे और इस बिल की एक अत्यधिक उल्लेखनीय बात सीमा-निर्धारण-सम्बन्धी कमीशन था, जो समय-समय पर जन-संख्या के एक स्थान से दूसरे स्थान तक चले जाने की समस्या की समीक्षा करता रहता था।

स्वयं ब्रिटेन में भी यद्यपि युद्धकालीन कामन सभा का निर्वाचन १९३५ में हुआ था, फिर भी इस मध्यवर्ती काल में मई १९४४ के अन्त तक उसमें २०६ सदस्य चुने गये जो सदस्यों की कुल संख्या के एक तिहाई से भी अधिक है। और इनमें से भी जैसा कि "टाइम्स" ने बताया है "१२८ सदस्य युद्धकाल में ही चुने गए हैं; ६४ निर्विरोध और ६४ सविरोध।"

रूसी राष्ट्रमण्डल

निश्चय ही यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अकेले रूस ने ही विश्व के सबसे बड़े युद्ध के समय विकेन्द्रीकरण का साहसिक कदम उठाया। इससे प्रकट होता है कि रूस का उद्देश्य अपना विकास अधिकाधिक प्रजातंत्रात्मक आधार पर करने का है। संभवतः इस नये रूसी संघ का उद्देश्य पूर्वी यूरोप में ऐसी कठपुतली सरकारें स्थापित करना है जिन्हें अन्ततोगत्वा रूस में बतौर 'स्वतंत्र' इकाइयों के शामिल होने पर राजी किया जा सके। इस प्रकार क्या यह संभव था कि यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्र रूस के "शक्ति-समुदाय" के प्रति आकर्षित हो सकें जबकि उसके लिए यह कहना बड़ा आसान था कि उसका इरादा किसी प्रदेश को अपने में मिलाने का नहीं है।

९ जून, १९४२ को श्री लुई फिशर से बातचीत करते हुए गांधीजी ने कहा था:—

"भारत छोड़कर चले जाने और न जाने के बीच का कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है। मेरा अभिप्राय बिस्तर-बोरिया बाँधकर चले जाने से नहीं है। परन्तु मैं तो इसी बात पर अधिकाधिक ज़ोर दूँगा कि राजनीतिक शक्ति अँग्रेज़ों के हाथ से लेकर भारतीयों को सौंप दी जाय।"

केवल आस्ट्रेलिया, अमरीका और बेल्जियम ने ही युद्ध-काल में बड़े-बड़े वैधानिक परिवर्तन करने का साहस नहीं किया बल्कि रूस-जैसे बड़े और विशाल देश में भी ऐसे परिवर्तन हुए। जनवरी १९४४ में युद्ध की परिस्थिति बड़ी नाजुक हो गई और रूस हताश होकर दूसरा मोर्चा खोलने की बारम्बार मांग कर रहा था। श्री रूजवेल्ट, श्री चर्चिल और श्री स्टालिन का

तेहरान-सम्मेलन अभी समाप्त ही हुआ था कि रूस ने अपने यहाँ बिना किसी पशोपेश और दिखावे के बड़े क्रान्तिकारी वैधानिक परिवर्तन किए। इन विधानों के अन्तर्गत सोवियत संघ ने अपने अधीनस्थ प्रजातंत्रों और उप-प्रजातंत्रों के पास केवल सांस्कृतिक स्वायत्त शासन का अधिकार ही रहने दिया।

इस वक़्त भारत सरकार कांग्रेस के विरुद्ध अपना दमन-चक्र चला रही थी और इधर आस्ट्रेलिया भी अपने आंतरिक और बाहरी वैधानिक ढांचे में बड़े-बड़े परिवर्तन करने में व्यस्त था। एक वैधानिक सम्मेलन में सर्वसम्मति से संघीय सरकार को युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए और अधिक अधिकार देने का फैसला किया गया। इस बारे में आस्ट्रेलिया की पार्लमेंट के विरोधी दल का कहना था कि शीघ्र ही आस्ट्रेलिया की जनता से यह कहा जानेवाला है कि वह "एक वैधानिक क्रान्ति का समर्थन करे।" इस सम्बन्ध में जिन दो क़ानूनों पर वाद-विवाद किया जा रहा था, उनमें से एक का सम्बन्ध वेस्टमिंस्टर के विधान की धारा २ और ६ से था। इस बिल का उद्देश्य इन धाराओं को वैध घोषित करना था जिससे कि १८६५ के औपनिवेशिक क़ानून का वैधीकरण विधान उस क़ानून को अवैध घोषित करने पर न लागू किया जा सके जिसे स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेश की पार्लमेण्ट ने पास कर दिया हो और जिसके अन्तर्गत उस पार्लमेंट को नौसैनिक अदालतों के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार सौंपे गए हों। वेस्टमिनिस्टर के विधान के अन्तर्गत ऐसे क़ानून पास करने का अधिकार दिया गया है और ये क़ानून सम्बद्ध स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेश पर तबतक लागू नहीं हो सकते जबतक कि उसकी पार्लमेंट-द्वारा उनकी स्वीकृति स्वनिर्मित क़ानून-द्वारा न दे दी गई हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त बिल के परिणामस्वरूप आस्ट्रेलिया को न केवल ब्रिटेन से बिना पूछे पूर्ण स्वाधीनता के अनुसार अपना काम करने की आज़ादी रहेगी, बल्कि उसे अतिरिक्त-प्रादेशिक कार्रवाइयों के लिए भी क़ानून बनाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाएगा और वह किसी भी अधिकृत प्रदेश में नागरिक सरकार स्थापित कर सकेगी। इसके अलावा राष्ट्रमण्डल को जहाजों के सम्बन्ध में कुछ क़ानून बनाने के लिए सम्राट् की अनुमति नहीं लेनी पड़ेगी। आस्ट्रेलिया के दूसरे क़ानून का उद्देश्य "विधान में परिवर्तन करके पार्लमेंट को, आस्ट्रेलिया की ओर से मित्रराष्ट्रों के एक सदस्य के रूप में आस्ट्रेलिया के युद्ध-उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए क़ानून बनाने का अधिकार देना है, जिसमें युद्धोत्तर-काल में आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय तथा युद्धोत्तर पुनर्निर्माण कार्य भी सम्मिलित है।" बहुत से विशेषज्ञों की राय है कि इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप संघीय राष्ट्रमण्डल पूर्ण अधिकारोंवाली केन्द्रीय सरकार में परिवर्तित हो जाएगा। इस प्रकार संघीय पार्लमेंट को असीमित अधिकार मिल जाएँगे और रियासतों के अधिकार कम हो जाएँगे। इस क़ानून की एक धारा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि:—

"यह घोषणा की जाती है कि पार्लमेंट की अधिकार-सीमा उन सभी क़ानूनों पर लागू होगी जिनका उद्देश्य पार्लमेंट की राय में आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय की प्राप्ति है।"

इसी तरह से एक और धारा के अन्तर्गत सिनेट को तोड़ देने का अधिकार दिया गया और एक अन्य धारा के अनुसार सामाजिक क़ानून की वैधता पर आपत्ति उठाना निषिद्ध घोषित किया गया है। सम्मेलन की एक समिति द्वारा इन बिलों की छानबीन के बाद उनके सम्बन्ध में लोकमत जानने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार

का क़ानून सरल क़ानून था ? यह एक बड़ा वैधानिक परिवर्तन था, जिसका सम्बन्ध सारे राष्ट्र से था। यह घटना नवम्बर, १९४२ की है।

इतना ही नहीं २१ अगस्त, १९४३ को आस्ट्रेलिया में नये निर्वाचन भी हुए, क्योंकि मज़दूर दल के सदस्य श्री कर्टिन ने तत्कालीन आस्ट्रेलियन सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया था, जो केवल एक ही वोट से स्वीकृत हो सका था। इसलिए पार्लमेंट भंग करके वहाँ नये चुनाव किए गये।

इसी प्रकार दक्षिण अफ्रीका की यूनियन ने भी युद्ध में भाग लेना चाहिए अथवा नहीं, इस विषय को लेकर ७ जुलाई, १९४१ को अपने यहाँ नया चुनाव किया।

उधर अमरीका में भी ऐसा ही हुआ। नवम्बर, १९४२ में अमरीका में भावी राष्ट्रपति के चुनाव के लिए राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। और वहाँ कुछ गवर्नरों का भी चुनाव किया गया। लेकिन इधर भारत को लीजिए। यहाँ प्रायः सभी स्थानीय निर्वाचन विशेषकर स्थानीय संस्थाओं के चुनाव अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर दिए गये और नवम्बर, १९४२ में केन्द्रीय असेम्बली का निर्वाचन हुए आठ साल होने को आए थे। परन्तु निर्वाचन तो एक साधारण विषय रहा। अमरीका को लड़ाई में शामिल हुए अभी दूसरा ही वर्ष व्यतीत हो रहा था कि वहां रियासतों में संधियों के सम्बन्ध में वाद-विवाद चल रहा था। यह था एक बड़ा वैधानिक परिवर्तन। नवम्बर, १९४२ के तीसरे सप्ताह में अमरीका के निचले गृह में एक सदस्य ने अमरीकी विधान में परिवर्तन करने का बिल पेश किया। और संधि-निर्माण का काम अमरीका में देश के राष्ट्रपति तथा सिनेट की संयुक्त ज़िम्मेवारी का है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त ठोस उदाहरणों से हम एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह कहना कि युद्धकाल में भारतीय विधान में बड़े-बड़े परिवर्तन नहीं किये जा सकते—महज़ एक ढकोसलेबाजी है। इससे केवल यही प्रकट होता है कि ब्रिटेन सत्ता हस्तांतरित करने को तैयार नहीं। कांग्रेस-द्वारा अपना बम्बई-प्रस्ताव पास करने के बाद केवल तीन महीने के भीतर ही देश में जो घटनाएँ हुईं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस ने जो क़दम उठाया था वह बिल्कुल ठीक और उचित था। और देश की शासन-व्यवस्था में लोकमत की कुछ भी क़द्र है तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस दिन से गांधीजी और उनके साथी गिरफ्तार किए गये थे और सरकार ने अपना दमन-चक्र चलाया था—उसी दिन से देश के विभिन्न वर्ग उनकी रिहाई और फिर से समझौते की बातचीत शुरू करने की मांग करने लगे थे। यह मांग भारत के प्रमुख उद्योगपतियों या व्यापारियों की ओर से नहीं की जा रही थी, बल्कि साम्यवादियों की ओर से की जा रही थी—जो युद्ध-प्रयत्न में सक्रिय भाग लेने के समर्थक थे। इसके अलावा यह मांग ट्रेड यूनियन कांग्रेस की ओर से जिसका राजनीति से दूर-दराज़ का भी ताल्लुक़ नहीं था, नरमदल वालों की ओर से, जो कभी भी कांग्रेस के पक्षपाती नहीं रहे थे; मिल-मालिकों और लखपतियों की ओर से, जिनके हितों का कांग्रेस के ग्रामोद्योगों से कोई मेल-मिलाप नहीं था; सिक्खों की ओर से, जिनकी राष्ट्रीयता सर्वथा निर्मल और विशुद्ध थी; भारतीय ईसाइयों के संगठन की ओर से, जिसका उद्देश्य सदा से ही सीमित और संकुचित रहा है; एंग्लो-इण्डियन एसोसिएशन की ओर से, जिसका दृष्टिकोण केवल हाल ही में उचित रूप से भारतीय बना था; स्थानीय बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों की की ओर से, जिसके लिए उन्हें एकदम भंग कर दिया गया था; धार्मिक संस्थाओं की ओर से,

जिनकी दृष्टि में गांधीजी आधुनिक युग के धार्मिक विचारों के पोषक हैं, हिन्दूमहासभा की ओर से, जिसे कांग्रेस फूटी आँखों भी नहीं भाती थी, विशेष प्रयोजन के लिए आयोजित सभाओं की ओर से, प्रमुख व्यक्तियों की ओर से तथा डा० सप्रू और श्री जयकर-सरीखे निर्दल नेताओं की ओर से की जा रही थी। लेकिन सरकार ने इन मांगों, सुझावों, और अनुरोधों की कोई परवाह नहीं की और वह मदान्ध होकर दमन-चक्र चलाती रही। इसका ज़िक्र हम एक और अलग अध्याय में करेंगे।

९ अगस्त को नेताओं की गिरफ्तारी के बाद सरकार ने पहला हमला कांग्रेस के स्वयं-सेवकों की रैली पर किया। उसने राष्ट्रीय झण्डे को नीचे गिरा दिया और लोगों को चेतावनी दी कि वे उस मैदान में एकत्र न हों। इस झण्डे का उद्घाटन उसी दिन प्रातः पंडित नेहरू द्वारा किया जाना था। पुलिस की चेतावनी के बावजूद श्रीमती आसफअली ने झंडा फहराया और इन गिरफ्तारियों की घोषणा की। प्रान्तभर में और बम्बई नगर में सार्वजनिक सभाओं, जमघटों और जुलूसों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए और इनके लिए अधिकारियों से पहले से अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक घोषित किया गया। शस्त्रास्त्रों को लेकर चलना निषिद्ध कर दिया गया और एक पखवारे के लिए कुछ इलाकों में लोगों को शाम के ७-३० बजे के बाद और सुबह ६-० बजे से पहले अपने घरों से बाहर निकलने की मनाही करदी गई। पहले ही दिन पुलिस और सेना ने लोगों पर लाठी-चार्ज किया, उनपर अश्रु-गैस छोड़ी और उन्हें गोलियों का शिकार बनाया। बम्बई-जैसे निषेधात्मक आदेश एक-साथ ही सभी प्रान्तों में लागू किये गए। संयुक्त प्रान्त की सरकार ने अपने यहां कांग्रेस कार्यसमिति, अखिल भारतीय महासमिति, तथा सभी प्रान्तीय, जिला, नगर, तहसील, वार्ड और मंडल कांग्रेस कमेटियों को अवैध घोषित कर दिया और १९३२ के संयुक्त प्रान्तीय विशेषाधिकार कानून को प्रान्त के सभी जिलों पर लागू कर दिया। इलाहाबाद में स्वराज्य-भवन पर कब्ज़ा कर लिया गया। मध्यप्रान्त में नागपुर कांग्रेस समाजवादी दल, नागपुर हिन्दुस्तान लाल सेना, और हिन्दुस्तान लाल सेना को भी ग़ैर कानूनी घोषित कर दिया गया। उड़ीसा की सरकार ने न केवल कांग्रेस कमेटियों को ही ग़ैर-कानूनी घोषित किया, बल्कि उनके दफ्तरों, और अन्य-संबद्ध संस्थाओं को भी, जिनकी संख्या ३८ थी, घोषित क्षेत्र करार दिया। यही हाल लाहौर, नयी दिल्ली और कराची में भी हुआ। केवल लाहौर में ही कांग्रेस समाजवादी दल और उसकी सहायक संस्थाओं की ग़ैर-कानूनी संस्थाओं की आमसूची में सम्मिलित किया गया। उधर दक्षिण में, मदरास में भी इसी प्रकार तीनों प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां और उनकी संस्थाएं ग़ैर-कानूनी घोषित करदी गईं। बंगाल, आसाम और पटना में भी इसी तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये गए और पटना का सदाकत आश्रम भी एक घोषित क्षेत्र करार दिया गया। इस प्रकार वास्तविकता यह थी कि कांग्रेस पर एक-तरफा हमला कर दिया गया और उसे अवज्ञा के न जाने किन विदित और अविदित कार्यों के लिए सजा दीगई। कांग्रेस को अपना विरोध-प्रदर्शन-आन्दोलन चलाने का पूरा और स्पष्ट अधिकार था। इसे चाहे आप 'खुला विद्रोह' ही कहिये--और अधिकारी अपने पिछले अनुभव के आधार पर जानते थे कि इस तरह के आन्दोलन को पराजित नहीं किया जा सकता। इसलिए जब नेता और उनके अनुयायी युद्ध की घोषणा होने से पहले ही युद्ध-बन्दी बना लिए गए तो फिर भला आप यह आशा कैसे कर सकते हैं कि सैनिक इस युद्धकला के सिद्धान्तों पर उचित रूप से अमल करेंगे। और

न ही आप जनता से, जो वर्षों से अपने क्षोभ और गुस्से को दबाए बैठी थी—यह आशा कर सकते थे कि वह सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों और उन पर आधारित नीति का पालन कर सकेगी । न ही यूरोप और अफ्रीका की अव्यवस्था और हत्याकांड के उदाहरण का उनके संयम पर कोई प्रभाव पड़ सकता था । और सरकार केवल जनता से ही यह आशा करती थी कि वह संयम से काम ले । इसलिए इन परिस्थितियों में जनता ने समझा कि उन्हें ऐसा मौका जीवन में शायद फिर कभी मिल सके, इसलिए वह काबू से बाहर हो गई ।

लोग बिलकुल निराश और हतोत्साह होगए । देश के सभी छोटे-बड़े नेताओं को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया था । इसलिए बाहर एक भी ऐसा जिम्मेदार स्त्री-पुरुष नहीं बचा था, जो इन सार्वजनिक कार्रवाइयों के समय जनता का पथ-प्रदर्शन कर सकता । अगर इस तरह की जल्दबाजी से काम लेकर सरकार ने यह ख़याल किया था कि इस आन्दोलन को शुरू में ही दबा दिया जाएगा अथवा वह आन्दोलन हफ्ते या दो हफ्ते में स्वयं ही मर जाएगा तो यह उसकी भूल थी और उसने शीघ्र ही अपना यह अनुचित आशा-वाद महसूस भी कर लिया । सभाओं, जुलूसों, प्रदर्शनों, मिलने-जुलने की स्वतंत्रता और वाणी स्वातंत्र्य पर लगाए गए प्रतिबन्धों की तनिक भी अवज्ञा करने पर जब अधिकारियों-द्वारा जनता पर न केवल लाठी-चार्ज द्वारा बल्कि राइफलों, रिवाल्वरों, मशीनगनों की मार और बमवर्षा की गई तो वह गुस्से से पागल हो उठी । नेताओं की गिरफ्तारी को मुश्किल से १२ घण्टे भी नहीं हुए थे कि सरकार ने ईंट-पत्थरों और गोलियों की बौछार की वही पुरानी कहानी दुहरानी शुरू करदी । इस तरह एक विषाक्त और दूषित चक्र चल पड़ा जिसे देखकर नागरिक न तो चुप ही बैठ सकते और न उसे रोक सकते थे । जनता की भीड़ चलती हुई रेलों पर पत्थर बरसाने लगी, गाड़ियों और कारों को रोकने लगी, रेलवे स्टेशनों को नुकसान पहुंचाने लगी, और उनमें अथवा उनकी संपत्ति को अग्नि की भेंट करने लगी, अनाज की दूकानें, लूटी जाने लगीं, टेलीफोन के तार काटे जाने लगे, कारों के टायरों को खोल दिया गया और उन्हें बेकार कर दिया गया और विक्टोरिया, बैलगाड़ी तथा तांगेवालों को परेशान किया जाने लगा । आम जनता की इन ज़्यादतियों के अलावा आर्डिनेन्स-द्वारा निषिद्ध घोषित किये जाने पर भी देशभर में हड़तालें हुईं, जिनमें स्कूल, कालेजों और विश्वविद्यालय के छात्रों ने विशेषरूप से भाग लिया । विद्यार्थियों ने पिकेटिङ्ग करने में भी प्रमुख भाग लिया । शिक्षण संस्थाएं और यूनिवर्सिटियां बहुत शीघ्र ही खाली हो गईं और देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक अर्थात् अलीगढ़ को छोड़कर ढाका से दिल्ली तक और लाहौर से लेकर मद्रास तक सभी शिक्षा-संस्थाएं बन्द होगईं । परन्तु बनारस विश्वविद्यालय पर सेना ने आन्दोलन के शुरू में ही कब्जा कर लिया था । इस आन्दोलन के शुरू में रेल की पटरियों और फिश-प्लेटों को उखाड़ने की घटनाएं भी देखने में आईं, जिनके कारण रेलवे-यातायात् पंगु बना दिया गया । उदाहरण के तौर पर कई दिन तक मद्रास मेल नहीं चल सकी और बाद में कुछ समय तक रात्रि के समय वह बन्द करदी गई । बिम्रगुन्ता से लेकर बेजवाड़ा तक का १३० मील का रेल-मार्ग बुरी तरह से छिन्न-भिन्न हो गया था । बिहार में लगभग दो सप्ताह तक मुंगेर का बाहरी दुनिया के साथ सब प्रकार का संपर्क कटा रहा । जहां तक रेलों की अव्यवस्था का प्रश्न है सबसे अधिक गड़बड़ बिहार में रही । अहमदाबाद में सभी मिलें बन्द रहीं, लेकिन

बम्बई में केवल तीन-चार मिलें ही बन्द रहीं। म्युनिसिपैलिटियों के असंख्य ही बिजली के बल्ब, आग बुझाने के केन्द्र, और म्युनिसिपैलिटियों के छकड़े चकनाचूर कर दिये गये। बी० बी० एण्ड सी० आई० के दादर रेलवे स्टेशन के पास ६ अगस्त को एक कार को अग्नि की भेंट कर दिया गया। ६ अगस्त को बी० बी० एण्ड सी० आई० और जी० आई० पी० रेलों की सभी गाड़ियाँ लगभग एक घण्टे तक पूरी तरह से बन्द रहीं। और सरकार ने इस गड़बड़ का डटकर मुकाबला किया। गड़बड़ शुरू होने के दूसरे दिन-१० अगस्त को बम्बई में पुलिस और सेना को सुबह १० बजे से लेकर शाम के ४ बजे तक लगभग १० बार भीड़ पर गोली चलानी पड़ी। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ६ अगस्त, रविवार के दिन बम्बई-नगर के उपद्रवों में ६ व्यक्ति मारे गए, और १६६ घायल हुए, जिनमें २७ पुलिस के सिपाही भी थे। ११ अगस्त मंगलवार के दिन पुलिस ने सुबह से लेकर दोपहर के २-३० बजे तक बम्बई में लगभग १३ बार गोली चलाई। इसी प्रकार १० अगस्त तक पुलिस ने पूना, अहमदाबाद, लखनऊ और कानपुर में भी गोली चलाई। संयुक्त प्रान्त की सरकार ने एक आर्डिनेन्स लागू किया जिसके अन्तर्गत यह ऐलान किया गया कि आग लगाने या किसी विस्फोटक द्वारा शरारत फैलाने पर किसी भी व्यक्ति को अपराधी घोषित किया जा सकेगा और उसे ताजीरात हिन्द के अन्तर्गत दी जानेवाली साधारण सजा के अलावा कोड़े लगाए जाने की भी सजा दी जा सकेगी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति ऐसी किसी इमारत, मोटर-गाड़ी, मशीन इत्यादि को नुकसान पहुँचाएगा, जो सरकारी कार्य के लिए इस्तेमाल की गई हो अथवा की जानेवाली हो, अथवा किसी रेलवे स्टेशन, ट्राम, सड़क, पुल, नहर इत्यादि को नुकसान पहुँचाएगा अथवा बलात्कार करेगा, किसी इमारत में चोरी करेगा, या डाकेजनी करेगा तो उसे भी अपराधी घोषित करके दण्ड दिया जा सकेगा। मध्य-प्रान्त में स्थानीय संस्थाओं को कांग्रेस के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए भंग कर दिया गया और इसी आधार पर दूसरे प्रान्तों में ही ऐसा किया गया। पुलिस ने पूना, नयी दिल्ली और नासिक में भी गोली चलाई। रेलवे स्टेशनों, इन्कमटैक्स के दफ्तरों, स्कूल और कालेज की इमारतों, डाक-खानों, और रेल के मालगोदामों में आमतौर पर आग लगाई गई। बिहार में एक भीड़ ने सेक्रेटेरियट पर हमला करने की कोशिश की। इस पर गोरखा सैनिकों ने गोली चलाई, जिससे पांच आदमी मारे गए और १६ घायल हुए। सरकार की आराजकता के विरोधस्वरूप बिहार और बम्बई के एडवोकेट जनरलों तथा बम्बई के सरकारी वकील ने अपने पदों से इस्तीफे दे दिये।

बम्बई-शहर में यातायात् रोक दिया गया। यहां तक कि प्राइवेट कारों को भी तब तक नहीं गुजरने दिया गया जब तक कि उसमें बैठी हुई सवारियों में कम-से-कम किसी एक ने गांधी टोपी न पहनी हो। ट्राम-पटरियों को बारीक पत्थरों से पाट दिया गया, जिन्हें आसानी से नहीं हटाया जा सकता था। सड़कों के जंकशनों पर लटकी हुई जंज़ीरों को खोल कर उनके साथ ट्रामों को बाँध दिया गया और उनके मार्ग में कहीं से लाकर बड़े-बड़े दरवाजे गाड़ दिये गए, जिनके कारण ट्रामों का चलना और भी कठिन हो गया। यह भी पता चला कि रेल की पटरियों पर तेल आदि-लगा कर उन्हें पूरी तरह से चिकना कर दिया गया, जिससे कि यदि अचानक ब्रेक लगाए जाएं तो वे बेकार साबित हों।

संस्थाओं और गैर-सरकारी लोगों से था।" जब उनसे यह पूछा गया कि वे किस आधार पर यह कह रहे हैं कि विध्वंस की ये कार्रवाइयां कांग्रेस ने कीं तो सर नजीमुद्दीन ने कहा कि "मैं स्वयं तो उस समय उन स्थानों पर विद्यमान था नहीं; लेकिन मुझे ऐसी रिपोर्टें मिली हैं और वे ही मेरा आधार हैं।"

बम्बई-प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद देश में जो व्यापक आन्दोलन उठा उसके दौरान में जान और माल का कितना नुकसान हुआ, उसका संक्षिप्त ब्योरा नीचे दिया जाता है:--

क्षतिग्रस्त अथवा विध्वस्त रेलवे स्टेशन	२००
जिन डाकखानों पर हमला किया गया	५५०
विध्वस्त डाकखाने	५०
क्षतिग्रस्त डाकखाने	२००
टेलीग्राम और टेलीफोन के काटे गये तार	३,५०० स्थान
जलाए गए थाने	७०
अन्य सरकारी इमारतें	८५

केन्द्रीय असेम्बली में २४ नवम्बर, १९४२ को सर सुलतान अहमद ने बताया कि पुलिस को २३९ अवसरों पर गोली चलानी पड़ी। इसमें उन्होंने बिहार और आसाम को शामिल नहीं किया और इसके अलावा संयुक्तप्रान्त और बंगाल के सम्बन्ध में पूरे आंकड़े नहीं दिये गए थे। सेना के ११ व्यक्ति मारे गए और ७ घायल हुए, और पुलिस के ३१ व्यक्ति मारे गए और बहुत-से घायल हुए। २४ सितम्बर, १९४२ तक जनता के कुल मिलाकर ६५८० व्यक्ति मारे गए और १,००० घायल हुए। परन्तु सर सुलतान अहमद ने बताया कि चूँकि भीड़ कुछ मृत और घायल व्यक्तियों को उठाकर अपने साथ ले गई, इसलिए अन्दाजन ये आंकड़े २००० होंगे। आपने बताया कि सही तौर पर यह कहना बड़ा कठिन है कि क्या सेना में भी कोई गड़बड़ हुई, क्योंकि इस सम्बन्ध में आवश्यक विवरण प्राप्त करना बड़ा कठिन है। अगस्त से लेकर नवम्बर, १९४३ तक १०० शहरी मारे गये और बहुत से घायल हुए।

सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करके आयोजित सार्वजनिक सभाओं और जुलूसों पर तथा दंगाइयों पर पुलिस को गोली चलानी पड़ी, जिसकी वजह से उपर्युक्त व्यक्ति मारे गए; लेकिन बिहार, उड़ीसा और बंगाल में पाँच ऐसे उदाहरण भी थे जबकि भीड़ पर वायुयानों से मशीनगन-द्वारा हमला किया गया और इनमें से एक स्थान पर गलती से रेल के कुलियों के दल पर हमला किया गया। २५ सितम्बर, १९४२ की केन्द्रीय असेम्बली में नीचे लिखा विस्तृत विवरण दिया गया। २५ सितम्बर को पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ने राज-परिषद् में यह सवाल पूछा कि क्या किसी जगह भीड़ पर वायुयानों से मशीनगनों-द्वारा हमला किया गया है, अगर किया गया है तो कहाँ-कहाँ ?

सर एलन हार्टले ने अपने लिखित उत्तर में कहा, "हाँ" नीचे लिखे पाँच स्थानों पर.—

(१) जिला पटना में, बिहार शरीफ के लगभग १२ मील दक्षिण में गिरिआक नामक स्थान के पास रेलवे लाइन पर।

(२) भागलपुर जिले में कुरसेला के लगभग १५ मील दक्षिण में भागलपुर से साहिबगंज को जानेवाली रेलवे लाइन पर।

(३) नदिया जिले में कृष्णागढ़ के लगभग १६ मील दक्षिण में रानाघाट के समीप।

(४) मुंगेर जिले में हाजीपुर से कटिहार जानेवाली रेलवे लाइन पर पसरहा और महेशकुंड के दरमियान रेलवे 'स्टाप' के समीप।

(५) तलचर रियासत में "तलचर नगर के दक्षिण में दो या तीन मील के फासले पर।"

बंगाल व्यवस्थापिका सभा में इसी विषय पर प्रश्न पूछे गए और भूतपूर्व सर विजयप्रसादसिंह राय (दल-विहीन) ने रानाघाट की दुर्घटना का ज़िक्र करते हुए पूछा कि, "क्या इस स्थान पर मशीनगनों-द्वारा किया गया हमला ज्यादती नहीं थी ?" इस दुर्घटना के सम्बन्ध में आवश्यक तथ्य गृह के सामने उपस्थित करते हुए श्री हक ने कहा कि उस वक्त सेना-द्वारा देखभाल की कार्रवाई की जा रही थी और उन्होंने रेलवे लाइन पर काम करनेवाले कुलियों को गलती से तोड़फोड़ का काम करनेवाले व्यक्ति समझकर उनपर कुछ गोलियाँ चलाईं। सौभाग्य से इस दुर्घटना में कोई क्षति नहीं हुई। सभाएँ करने, जुलूस निकालने, शान्तिपूर्ण धरना देने, नारे लगाने, झण्डा फहराने और रेल में नारे लिखने पर मुख्यतः लाठी-चार्ज किया गया, कैद की सजाएँ दी गईं और जुर्माने किये गए। इन प्रदर्शनों में स्त्रियों, लड़कियों, पुरुषों, बच्चों और विद्यार्थियों ने प्रमुख रूप से भाग लिया। कोड़े और बेंत लगाने की सजा का देशभर में दौरदौरा था। कभी-कभी विद्यार्थियों को इसलिए कोड़े लगाए गए कि उनके हाथ में पत्थर थे। तार काटने और सार्वजनिक इमारतों को क्षति पहुँचाने के अपराध में गाँवों और शहरों से सामूहिक जुर्माने किये गए। कुल मिलाकर १ करोड़ रुपये से भी अधिक जुर्माना किया गया। सभी अधिकारियों और सुरक्षा-कोर के सदस्यों को भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत बिना वारण्ट के गिरफ्तार करने का अधिकार दे दिया गया था।

बंगाल में मिदनापुर जिले के तमलुक और कोण्टाई सब-डिवीजनों के सम्बन्ध में सरकार ने जो आंकड़े प्रकाशित किये हैं उनसे पता चलता है कि उक्त दोनों इलाकों में कितनी अराजकता फैल गई थी :—

कांग्रेस-द्वारा जलाए गए मकान :—

पुलिस और सरकारी इमारतें...	...४३
प्राइवेट मकान...	...३८
सरकार-द्वारा जलाए मकान...	
कांग्रेस कैम्प...	...३१
प्राइवेट मकान...	...१३४

जनता को इस बात का कोई ज्ञान नहीं था कि इस आन्दोलन के सम्बन्ध में जमशेदपुर में हड़ताल रही। इंग्लैण्ड की "फ्रेंड्स सोसाइटी" के सदस्य श्री एच० वी० अलग्जेण्डर ने अपनी पुस्तक "सिन्स क्रिप्स" (क्रिप्स बाद से) के टाटा की इस हड़ताल का जिक्र करते हुए इसके ४७ वें पृष्ठ पर लिखा है :—

"आम तौर पर जनता को यह मालूम नहीं कि टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के २०,००० कर्मचारियों ने १५ दिन तक हड़ताल जारी रखी और यह कारखाना भारत में गोला-बारूद तैयार करने का एक प्रमुख कारखाना है। लेकिन हड़ताल के बावजूद वहाँ कोई गड़बड़ नहीं हुई। आम खयाल के विपरीत जब यह बात अच्छी तरह से प्रकट हो गई कि रेल-कर्मचारी अथवा अन्य औद्योगिक मजदूर उनके साथ इस हड़ताल में शामिल नहीं हो रहे और कांग्रेस का यह 'विद्युत्-

प्रहार' असफल रहा है तो इस कारखाने के अधिकारियों ने मजदूरों से काम पर वापस लौट जाने का आग्रह किया और उन्हें यह आश्वासन दिया कि वे देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए अपनी तरफ से भरसक कोशिश करेंगे।''

बाद में सर आर्देशर दलाल की शासन-परिषद् में नियुक्ति का अर्थ संभवतः इस आश्वासन की आंशिक रूप में पूर्ति थी, क्योंकि यदि अधिकारियों ने ऐसा आश्वासन पूरी सचाई और गम्भीरता के साथ दिया था तो उन्हें इस सम्बन्ध में सरकार का समर्थन अवश्य प्राप्त हुआ होगा, और सरकार इस दिशा में अपने उत्तरदायित्व को खूब समझती थी।

अभी इन घटनाओं को हुए तीन सप्ताह भी पूरे नहीं हुए थे कि भारत में और भी घटनाएँ हुईं, जिनपर हम विचार करना आवश्यक समझते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना वाइसराय की शासन-परिषद् से सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर का इस्तीफा था। आपने ५ सितम्बर को अपना ओहदा संभाला था और अभी आपको अपना पद संभाले हुए मुश्किल से १५ दिन ही हुए होंगे कि आपने इस्तीफा दे दिया। यद्यपि वाइसराय की शासन-परिषद् के इतने ऊँचे पद पर आसीन होने के लिए बहुत से सदस्य लालायित हो उठते, लेकिन सर सी० पी० इसे अपने लिए कोई बहुत बड़ी कृपा नहीं समझते थे। वे इससे पहले भी इस पद को सुशोभित कर चुके थे और इस बात का ज़िक्र हम पहले ही कर चुके हैं कि लार्ड विलिंगडन ने उन्हें रक्षा-सदस्य नियुक्त करने की सिफारिश की थी। इस बार वे अपनी ही शर्तों पर इसमें शामिल हुए थे और ब्रिटिश सरकार ने भी उनकी ये शर्तें स्वीकार कर ली थीं। इस प्रकार अपनी शर्तों की पूर्व-स्वीकृति के बाद ही वे शासन-परिषद् में आए। लेकिन जिस तरह से बाघ अपना रंग नहीं बदल सकता, उसी प्रकार नौकरशाही भी अपने तरीके नहीं बदल सकती। इसलिए जब दिल्ली पहुँचकर उन्होंने अपना ओहदा संभाला तो उन्हें नौकरशाही की शासन-व्यवस्था में बड़ी गड़बड़ी-सी दिखाई दी। शासन-परिषद् की बैठक में जब वे पहली बार ही शामिल हुए तो उन्हें गांधीजी और कार्यसमिति की गिरफ्तारी से सम्बन्ध रखनेवाली नीति पर सोच-विचार करना पड़ा। क्या इन लोगों को अखिल भारतीय महासमिति की बैठक से पहले गिरफ्तार कर लिया जाय अथवा बाद में? उस समय परिषद् के सम्मुख एकमात्र विचारणीय विषय यही था। वाइसराय के नाम गांधीजी के पत्र की प्रतीक्षा करने की शायद कोई आवश्यकता नहीं समझी गई, क्योंकि ५ अगस्त से पहले ही यह बात विदित हो चुकी थी कि वे निश्चित रूप से वाइसराय को एक पत्र लिखेंगे। परन्तु सरकार को इतने पर ही सन्तोष नहीं हुआ। सरकार ने आन्दोलन को कुचल देने के सम्बन्ध में पहले से ही कानून और आर्डिनेन्स तैयार करके रख लिए थे। सर सी० पी० ने स्वेच्छा से सूचना विभाग को चुना था और अपना पद संभालने से पहले उन्होंने अपने कर्तव्यों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला था। उन्होंने यह आशा भी प्रकट की थी कि मैं गांधीजी से मिलकर समझौता करने की चेष्टा करूँगा। लेकिन यह सब निष्फल रहा। परन्तु ऐसा प्रकट होता है कि उनके विचारों का आभास सरकार को पहले ही हो चुका था। इसलिए पहले ही मौके पर उन्हें अपने अन्य सहयोगियों के निर्णय से सहमत होना पड़ा और जैसा कि बाद में सरकारी विज्ञप्ति में बताया गया गांधीजी और उनके सहयोगियों को गिरफ्तार करने का निर्णय शासन-परिषद् का सर्वसम्मत निर्णय था। वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि गृह-विभाग ने सर सी० पी० के विचारों को पहले ही भाँप लिया था और उसने उनके पद सँभालने से पहले ही सूचना-विभाग के कार्य-क्षेत्र को

संकुचित और सीमित बनाकर अपने फैसले कर लिए। इसलिए सर सी० पी० आते ही दुविधा में पड़ गए। परन्तु शिष्टाचार का तकाजा था कि वे जल्दबाजी से काम न लें। फलतः १५ दिन के बाद यह बहाना बनाया गया कि रियासतों के हितों को देखते हुए उनका सरकारी पद पर बने रहना उचित और लाभकारी प्रतीत नहीं होता। हिमालय की चोटी पर बैठने की बजाय उनकी आवश्यकता कुमारी अन्तरीप में अधिक है। इसलिए उन्होंने ट्रावन्कोर वापस चले जाने का फैसला किया, परन्तु इसके लिए कोई वजह भी तो चाहिये थी। इसलिए इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी ओर से जो वक्तव्य दिया और सरकार ने अपनी ओर से जो विज्ञप्ति प्रकाशित की, उन दोनों में ही वास्तविकता पर पर्दा डालने की कोशिश की गई है। विज्ञप्ति और उनका वक्तव्य नीचे दिये गए हैं :—

नयी दिल्ली से २१ अगस्त को प्रकाशित एक विज्ञप्ति में कहा गया है कि सूचना और ब्राडकास्टिंग विभाग के सदस्य सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है और वाइसराय ने उसे स्वीकार कर लिया है। उनके उत्तराधिकारी की नियुक्ति के सम्बन्ध में शीघ्र ही घोषणा कर दी जाएगी।

उनके इस्तीफे की घोषणा करते हुए एक सरकारी विज्ञप्ति में कहा गया है कि, "सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने गवर्नर-जनरल को सूचित किया है कि देशी-राज्यों के प्रति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रुख के सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में जो सुझाव प्रस्तुत किये गए हैं उन्हें वे बहुत गम्भीरता से देखते हैं। इस सुझाव को, जो गांधीजी-द्वारा प्रस्तुत किया गया कहा जाता है और जिसका अभिप्राय है, कि देशी-राज्यों सहित समस्त भारत को मुस्लिम लीग के हाथों में सौंप देना चाहिए, वे इतनी चिन्ता की दृष्टि से देखते हैं कि देशी राज्यों के प्रति, जिनके साथ उनका सम्बन्ध बड़ा पुराना और घनिष्ट है, अपने उत्तरदायित्व को तथा देशी राज्यों की स्वतंत्रता और स्थिति के विरुद्ध कोई खतरा पैदा होने पर उसके प्रतिकार के लिए आवश्यक संगठन तैयार करने की स्वतंत्रता प्राप्त करने की अपनी उत्कट इच्छा को दृष्टि में रखकर वे भारत सरकार के सदस्य बने नहीं रह सकते। उन्होंने गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की है कि वे उन्हें उनके पद के कार्यभार से मुक्त कर दें जिससे कि वे इस सम्बन्ध में, जिसे वे सबसे अधिक महत्त्व का समझते हैं, स्वतंत्रता के साथ कार्य कर सकें।"

सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने अपने त्याग-पत्र के सिलसिले में कहा है, "मैं इस बात को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव में निर्देशित सविनय-अवज्ञा-आंदोलन के सम्बन्ध में, जिसके विनाशकारी परिणाम हम आज देख रहे हैं, भारत-सरकार ने, जिसका मैं सदस्य रहा हूँ, जो कुछ भी कार्रवाई की है तथा जो भी नीति ग्रहण की है उससे मैं पूर्णतया सहमत हूं। मेरे त्याग-पत्र का कारण केवल यह है कि भारतीय इतिहास के इस विषम-काल में वर्तमान सामूहिक आन्दोलन के सम्बन्ध में, जिसे यदि रोका न गया तो उससे भारत की प्रगति और युद्ध-तत्परता में अवश्य बाधा पड़ेगी और भविष्य में प्रस्तावित होनेवाले वैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में, जहां तक कि देशी राज्यों पर, जिनकी भलाई और भविष्य में मैं गहरी रुचि रखता हूँ, उनका प्रभाव पड़े, मुझे अपने विचारों को प्रकट करने तथा आवश्यक कार्रवाई करने के लिए बोलने और आने-जाने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त रहे।"

गवर्नर-जनरल ने सर सी० पी० रामस्वामी के त्याग-पत्र को बड़े खेद के साथ स्वीकार कर लिया है। (—एसोसिएटेड प्रेस)।

सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर शनिवार की सुबह बम्बई होकर मद्रास के लिए रवाना हो गये। भारत सरकार के इन्फर्मेशन एण्ड-ब्राडकास्टिंग विभाग के सेक्रेटरी सर फ्रेडरिक पकल और डिप्टी सेक्रेटरी श्री पी० एम० थापर और सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर के कुछ निजी मित्र उन्हें अलविदा कहने के लिए स्टेशन पर गए।

दिल्ली से प्रस्थान करने से पूर्व सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने एक भेंट में बताया कि, "अपने पद को, जिसे मैंने अभी हाल में छोड़ दिया है, संभालने के लिए दिल्ली आने से मैंने त्रिवेन्द्रम में यह कहा था कि मेरा यदि एकमात्र नहीं तो कम-से-कम मुख्य उद्देश्य भारत के राजनीतिक-जीवन के विभिन्न तत्वों में, जिनमें इस समय मतभेद पाया जाता है, समझौता कराने की कोशिश करना होगा। मैंने यह भी कहा था कि यदि मैं अपनी इस चेष्टा में सफल हो गया तो मैं यह समझूँगा कि मैंने देश के प्रति अपने तुच्छ कर्त्तव्य का पालन किया है। और यदि मैं असफल रहा तो कम-से-कम मुझे यह संतोष तो होगा कि मैंने अपनी ओर से भरसक चेष्टा की है। निस्संदेह मैं अपने उद्देश्य में असफल रहा हूँ।

"मुझे खेद है कि भारत का अत्यधिक प्रभावशाली राजनीतिक संगठन और उसकी ओर से पेश की गई वैधानिक मांगें—जिन्हें चाहे तत्काल स्वीकार किया जाय या नहीं—अबतक बातचीत और पारस्परिक समझौते का आधार बनी हुई हैं—और उसका यह कार्यक्रम चाहे इसके संगठन-कर्त्ताओं का कुछ भी उद्देश्य क्यों न रहा हो—देश में सिवा हिंसात्मक प्रदर्शनों और निरुद्देश्य विनाश के और कुछ भी नहीं उत्पन्न कर सका है और उस कार्यक्रम का ऐसा परिणाम होना सर्वथा अनिवार्य भी था। यह समय दोषारोपण करने का नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि ये समस्याएँ इतनी महान् और महत्त्वपूर्ण हैं कि उन पर तत्काल ही कोई दृढ़ कार्रवाई की जानी चाहिए। और यदि वर्तमान परिस्थितियाँ जारी रहने दी गईं तो देश पर उनका प्रभाव बड़ा व्यापक होगा।

"मुझे अब भी आशा है कि यदि सब व्यक्ति सद्भावनापूर्वक मिलकर इस बात की ज़ोरदार कोशिश करें कि वर्तमान सविनय-अवज्ञा-आंदोलन को—जिसके सम्बन्ध में सरकार की ओर से और अधिक कार्रवाई करने की ज़रूरत नहीं प्रतीत होती—अविलम्ब बन्द कर दिया जाय तो भारत की राजनीतिक मांग शीघ्र ही पूरी की जा सकती है। भारत जल्दी ही अपना मक़सद हासिल कर लेगा।

'विधान निर्माण के कार्य में सफलता का एकमात्र दारोमदार समझौता है और यदि ब्रिटिश-भारत और देशी-राज्यों की जनता यह अनुभव करने लग जाय कि आपस के झगड़ों और वैमनस्य से कुछ भी नहीं हाथ लगेगा और आधारभूत विषयों पर मित्रतापूर्ण ढंग से विचार-विनिमय-द्वारा सब कुछ प्राप्त हो सकता है तो मेरा यक़ीन है कि भारत का उद्देश्य बहुत शीघ्र ही पूरा हो जायगा, जैसी कि बहुत-से लोगों को इस समय आशा नहीं है।

"जहाँ तक मुझे मालूम है अगर भारत में एकता स्थापित हो जाय और राष्ट्र के बड़े-बड़े तत्वों में आपस में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध क़ायम हो जाएँ तो संसार की कोई शक्ति नहीं जो भारत के पूर्ण राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक हो सके।

"हाल में मेरा ब्रिटिश भारत की राजनीति से कोई सम्पर्क नहीं रहा, फिर भी मैं इसके

उद्देश्यों का समर्थन करने में किसी से पीछे नहीं हूँ। क्या मैं, कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू-महासभा और देश के महान् अल्पसंख्यकों से अनुरोध कर सकता हूँ कि वे आपस में और देशी राज्यों के साथ समझौता कर लें। भारत में देशी राज्यों का स्थान सुरक्षित रहना चाहिए, क्योंकि उनके महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके अलावा उनमें से बहुतों ने सभी दिशाओं में इतनी प्रगति की है जो ब्रिटिश भारत से कहीं अधिक है।''

इसलिए हमें कोरे सिद्धान्तवाद को और विरोधी रुख को छोड़कर भारत की वर्तमान अराजकता को समाप्त कर देने का दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये और जहाँ तक सम्भव और व्यावहारिक जान पड़े, भारत को लड़ाई और उसके बाद के जमाने में अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उसका सुनिश्चित स्थान दिलाने और दुनिया की एक महत्त्वपूर्ण और बड़ी ताकत बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। सभी सद्भावना रखनेवाले और आशावादी स्त्री-पुरुषों की यही हार्दिक अभिलाषा और प्रार्थना होनी चाहिये।''

समाचार-पत्रों के नाम अपने एक वक्तव्य में सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने कहा कि, ''मैं वाइसराय की शासन-परिषद् से अपने पद-त्याग के अवसर पर सार्वजनिक रूप से श्रीमान् वाइसराय के प्रति निजी मैत्री-पूर्ण सम्बन्धों, और इस थोड़ी-सी अवधि में जबकि मैं अपने पद पर उनके एक सहयोगी के रूप में रहा हूँ, और उससे पूर्व उन्होंने निरन्तर जो हार्दिक सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए उनका अत्यधिक आभारी हूँ। मैं यह बात किसी गलतफहमी का खतरा उठाए बिना कह सकता हूँ कि वे एक उच्चात्मा और सहानुभूति रखनेवाले शासक हैं।

''यह मेरी आशा और यकीन है कि उनके कार्यकाल की अवधि के समाप्त होने से पहले ही इन कुछ महीनों में देश में फिर से साधारण परिस्थितियां उत्पन्न हो जाएंगी जिससे कि वे भारत के उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रभावशाली भाग ले सकें और 'यह देश लड़ाई में विजय प्राप्ति के बाद एक संयुक्त और सुदृढ़ राजनीतिक सत्ता के रूप में पूर्ण राष्ट्रीयता को प्राप्त कर सके।'' (एसोसियेटेड प्रेस।)

सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर के इस्तीफे पर यहाँ के राजनीतिक क्षेत्रों में कोई आश्चर्य नहीं प्रकट किया गया। निस्संदेह उनके इस्तीफे का मुख्य कारण यह था कि वे रियासतों के राजनीतिक मामलों में प्रमुख रूप से भाग लेना चाहते थे। उनके इस्तीफे का एक कारण, जैसा कि स्वयं उन्होंने समाचार-पत्रों के नाम अपने एक वक्तव्य में दिल्ली से प्रस्थान करने से पूर्व बताया था, यह था कि वे देश के विभिन्न तत्वों में समझौता कराने में असफल रहे।

सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर के इस्तीफे के परिणामस्वरूप भारत-सरकार के विभिन्न विभागों के वर्तमान कार्य-विभाजन पर काफी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के तौर पर सूचना-विभाग का मुख्य कार्य समाचार-पत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों तथा सरकारी कार्रवाइयों के उचित रूप से प्रकाशन से है। लेकिन प्रेस-सम्बन्धी कानूनों की व्यवस्था की जिम्मेदारी गृह-विभाग की है और हाल में समाचार-पत्रों तथा उनसे संबन्ध रखनेवाले पत्रकारों, संवाददाताओं आदि पर जो प्रतिबन्ध लगाए गए और उनके खिलाफ जो कानूनी कार्रवाइयां की गईं, उनका सम्बन्ध सूचना विभाग से नहीं था। इसी प्रकार

गृह-विभाग और नागरिक रक्षा-विभाग तथा व्यापार-विभाग और शिक्षा-विभाग में भी बड़ी असंबद्धता और असमानता पाई जाती है।

वास्तव में, वाइसराय की शासन-परिषद् के पूर्ण भारतीयकरण की ए.. और वजह, जिसे राजनीतिक क्षेत्रों में अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है, यह है कि कार्य-प्रणाली के वर्तमान नियमों के अन्तर्गत विभिन्न विभागों को इतने व्यापक अधिकार प्राप्त हैं कि संभवतः शासन-परिषद् के कुछ सदस्यों की यह राय है कि यदि परिषद् का पूर्ण रूप से भारतीयकरण किया जाय, अथवा विभागों का पुनर्विभाजन किया जाय, तो संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर अधिक सुगमता के साथ अमल किया जा सकता है।

जहां एक तरफ सरकार की मनमानी और हिंसात्मक कार्रवाइयों के कारण समाज के परेशान करनेवाले तत्त्व प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर उसका मुकाबला कर रहे थे, और सार्वजनिक सुरक्षा-व्यवस्था के लिए खतरा पैदा कर रहे थे, वहाँ दूसरी तरफ आग़ा खां महल में नजर-बन्द गांधीजी तथा उनके सहयोगियों और कार्यसमिति के सदस्यों के, जिन्हें किसी अज्ञात स्थान में नजर-बन्द रखा गया था, स्वास्थ्य के बारे में गहरी चिन्ता प्रकट की जा रही थी। इसके अलावा जनता को इस बात से भी गहरी चिन्ता हो रही थी कि क्या गांधीजी अनशन करेंगे, जैसा कि उन्हों ने अपनी गिरफ्तारी से पहले ऐसा करने की घोषणा की थी। और अगर कहीं उन्होंने अनशन किया तो उसका क्या परिणाम होगा? इस प्रकार जब कि देश भर में इस संबंध में गहरी चिन्ता प्रकट की जा रही थी, श्री महादेव देसाई के अचानक निधन का समाचार प्राप्त हुआ। इन गिरफ्तारियों को हुए अभी एक सप्ताह भी नहीं हुआ था कि देश पर ऐसा गहरा वज्रपात हुआ।

खुला विद्रोह—१९४२

कुछ लेखकों ने समाज और सरकार दोनों को एक दूसरे के साथ इस प्रकार मिला दिया है कि उनमें भेद करना कठिन होगया है। हालांकि ये दोनों चीजें न केवल अलग-अलग ही हैं, बल्कि उनका मूल-स्रोत भी पृथक्-पृथक् है। समाज का जन्म हमारी आवश्यकताओं, और इच्छाओं का परिणाम है, जबकि सरकार का आविर्भाव हमारी दूषित, विषाक्त और निकृष्ट मनोवृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के कारण हुआ। समाज हमारे प्रेम-भावों को एक सूत्र में बांध करके ठोस रूप से हमारी संपन्नता और समृद्धि को प्रोत्साहित करता है और सरकार हमारे अवगुणों और पापाचार पर नियंत्रण रखकर निषेधात्मक रूप से हमारी मदद करती है। एक का काम पारस्परिक मेल-मिलाप को प्रोत्साहन देना है तो दूसरे काम भेद-भाव पैदा करना है। एक संरक्षक है तो दूसरा दण्ड देनेवाला है।

"प्रत्येक राष्ट्र में समाज यदि वरदान है तो सरकार, चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हो, एक आवश्यक बुराई है और यदि वह बहुत ही खराब हो तो उस सरकार को बरदाश्त करना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि जब हम मुसीबतें और कष्ट उठाते हैं अथवा सरकार-द्वारा हमें ऐसे कष्ट पहुँचाए जाते हैं, जिनकी आशा हम एक सरकार-विहीन देश में कर सकते हैं, तो हमारी विपदा यह कल्पना करके चरमसीमा तक पहुँच जाती है कि हम अपने ही साधनों-द्वारा कष्ट भुगत रहे हैं अर्थात् अपनी विपत्तियों और कष्टों के साधन स्वयं हमने ही तो बनाये हैं।

"नरमे दिल के लोग ग्रेटब्रिटेन के अपराधों को इतना गंभीर नहीं समझते और वे अब भी इसी आशा में बैठे हैं कि जो कुछ भी होगा अच्छा ही होगा और ये समझते हैं कि हम इन सब बातों के बावजूद फिर मित्र बन सकेंगे। लेकिन आप मानव समाज की भावनाओं की तनिक जाँच-पड़ताल करके देखिये, समझौते के सिद्धान्त को प्रकृति की कसौटी पर परख कर देखिये और फिर मुझे बताइये कि क्या इसके बाद भी आप उस सत्ता-शक्ति के प्रति प्रेमभाव, आदर-भाव और राजभक्ति प्रकट करने को तैयार होंगे, जिसने आपके देश में आग लगाई है और आपको हिंसा और बल-प्रयोग का शिकार बनाया है? अगर आप यह सब नहीं कर सकते तो अपने-आपको धोखा दे रहे हैं और इस तरह से अपनी भावी पीढ़ी और संतति की तबाही का कारण बन रहे हैं। ब्रिटेन के साथ, जिससे न तो आप प्रेम कर सकते हैं और न ही जिसका आदर कर सकते हैं, आपके भावी सम्बन्ध अप्राकृतिक होंगे और चूँकि ये सम्बंध केवल मौजूदा सुविधाओं को ध्यान में रखकर ही स्थापित किये जाएँगे, इसलिये थोड़ी देर के बाद उनका परिणाम पहले से भी बुरा होगा। लेकिन अगर आप यह कहते हैं कि आप उसके इन अतिक्रमणों की भी उपेक्षा कर सकते हैं तो मैं आपसे पूछता हूं कि क्या आपका घर जला दिया गया है? क्या आपकी आँखों के सामने ही आपकी संपत्ति नष्ट की गई है? क्या आपकी स्त्री और बच्चों को रहने की जगह और खाने को रोटी भी मयस्सर नहीं होती? क्या आपने उसके हाथों अपने माँ बाप या बच्चे की क्षति उठाई है और स्वयं बर्बाद हो गए हैं और तबाही उठा रहे हैं? अगर आपने इनमें से कोई भी बात नहीं देखी है तो आप उन लोगों की भावनाओं को नहीं पहचान सकते जिन्होंने ऐसे कष्ट और मुसीबतें झेली हैं। लेकिन यदि आपने भी ये कष्ट और मुसीबतें सही हैं और फिर भी आप अपने हत्यारे के साथ हाथ मिला सकते हैं तो आप पति, पिता, मित्र अथवा प्रेमी कहाने के अधिकारी और हकदार नहीं हैं और जीवन में चाहे आप कुछ भी क्यों न हों, आपका पद चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, आप कायर हैं और चापलूस हैं।

"आदमी जितना ही नुकसान झेलता है वह कोई साहसिक कार्य करने से उतना ही डरता है। धनिक वर्ग साधारणतः भय और आशंका का गुलाम होता है और वह कुत्ते की तरह पालतू और स्वामिभक्त होता है।

"मैं भी आपलोगों की तरह ही वहमी हूं; पर मेरी यह धारणा रही है और अभी तक है कि सर्वशक्तिमान् प्रभु उन लोगों को, जिन्होंने प्रत्येक न्यायोचित तरीके से और ईमानदारी के साथ लड़ाई की विपत्तियों से बचने का प्रयत्न किया है, सैनिक विनाश अथवा सर्वनाश से अवश्य बचाएगा। न ही मैं इतना अनीश्वरवादी बन सकता हूँ कि यह खयाल करने लग जाऊँ कि उस प्रभु ने संसार पर शासन करना छोड़ दिया और हम लोगों को शैतान की दया पर छोड़ दिया है और चूँकि मेरा ऐसा विश्वास नहीं कि ईश्वर ने हमारा साथ छोड़ दिया है, इसलिए मेरी समझ में नहीं आ सकता कि ब्रिटेन के सम्राट् किस आधार पर हमारे विरुद्ध ईश्वर से सहायता की याचना कर सकते हैं, क्योंकि उन्हीं की तरह एक साधारण हत्यारा, डाकू या चोर भी ईश्वर से ऐसी ही सहायता की याचना कर सकता है।

"मैं किसी एक से नहीं, बल्कि सभी से, किसी एक राष्ट्र से नहीं, बल्कि सभी राष्ट्रों से अनुरोध करता हूँ कि वे कमर कसकर हमारी मदद करें, और जब एक इतने महान् उद्देश्य को बाजी पर लगा दिया गया हो तो फिर आप इस कार्य में हमारी पूरी शक्ति से मदद कीजिये। इसलिए भावी संसार को बता दीजिए कि एक समान संकट की घड़ी में भी, जबकि हमारा सर्वस्व ही

खतरे में पड़ गया था, हमने भाग्य पर अवलंबित न रहकर अपने दृढ़ विश्वास को कार्यरूप में परिणत करके उस खतरे का सामना किया। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप कहाँ रहते हैं और जीवन में आपकी स्थिति क्या है, क्योंकि अच्छाई और बुराई का प्रभाव आप सब पर एक-सा ही पड़ेगा। चाहे आप निकट हों या दूर, चाहे आप अपने घर में हों या विदेश में, चाहे आप अमीर हों या गरीब, सुख-दुख का आप सब पर एक समान प्रभाव पड़ेगा। जो व्यक्ति इस समय अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता उसे मृत-समान समझिए, उसके बच्चों का खून उसे उसकी कायरता पर धिक्कारेगा; क्योंकि उसने ऐसे वक्त पर पीठ दिखाई जबकि थोड़ी-सी शक्ति से ही वह सारे राष्ट्र को विनाश के गड्ढे में गिरने से बचा लेता और उसे संपन्न बनाए रखता। मैं उस आदमी पर जान देता हूँ जो मुसीबत में भी मुसकराता है, विपत्ति में मजबूत हो जाता है और शक्ति-संचय करता है, और विवेक-बुद्धि से वीर बन जाता है। विपत्तियों से घबरा जाना छोटे दिलवालों का काम है। लेकिन जिस आदमी का दिल मजबूत है और जो अपनी आत्मा की प्रेरणा से अपना काम करता है वह मरणपर्यन्त अपने सिद्धान्तों पर डटा रहेगा। मैं समझता हूँ कि मेरा तर्क बिल्कुल सही और स्पष्ट है। दुनिया की सारी धन-दौलत और वैभव भी मुझे एक आक्रमणात्मक युद्ध में सहयोग देने का प्रलोभन नहीं दे सकते थे, क्योंकि इसे मैं एक पाप और हत्या समझता हूँ: लेकिन आज कोई चोर या डाकू मेरे घर में घुसकर मेरी जायदाद नष्ट कर देता है या जला देता है अथवा मुझे या मेरे घर के लोगों को मार डालता है अथवा मारने की धमकी देता है और अपने आगे सिर झुका देने को कहता है, तो क्या मैं उसके आगे सिर झुका दूँ ? मेरे लिए इसका कोई महत्त्व नहीं कि यह काम कोई सम्राट् कर रहा है अथवा कोई साधारण आदमी, मेरे देश वासी कर रहे हैं अथवा किसी दूसरे देश के, कोई अकेला बदमाश कर रहा है अथवा उनकी सेना। अगर हम इस तर्क की गहराई तक पहुँचे तो हमें पता चलेगा कि इसमें कोई फर्क नहीं। न ही मैं यह समझ सकता हूँ कि एक मामले में हम किसी को दण्ड दें और दूसरे में उसे क्षमा कर दें। वे भले ही मुझे विद्रोही कहें, मेरे ऊपर इसका कोई असर नहीं पड़ सकता। लेकिन अगर मैं एक नराधम और पाशविक दृष्टि के व्यक्ति के आगे घुटने टेक दूँ तो मेरी आत्मा विद्रोह कर उठेगी और इस आदमी से दया की भिक्षा माँगना मेरे लिए असह्य हो उठेगा।

"जो लोग यह उम्मीद करते हैं कि सफलता प्राप्त होने पर शत्रु रहमदिलवाला हो जाएगा, वे भारी भ्रम में हैं। जिन लोगों ने न्याय करने से इन्कार कर दिया हो, उनसे दया की आशा रखना निरी मूर्खता है। और यह कहना कि विजय के बाद शत्रु दयालु हो जायेगा, युद्ध की एक चाल है। लोमड़ी की चालाकी उतनी ही घातक है जितना कि भेड़िये का आक्रमण।

"अगर दुनियां में कोई राष्ट्र कभी इतना पागल, मूर्ख और अपने हितों से इतना अन्धा और अपने विनाश पर तुला हुआ दिखाई दिया है तो वह ब्रिटेन है। दुनियां में राष्ट्रीय पाप जैसी भी कोई वस्तु विद्यमान् है। मनुष्यों के पापों की सजा तो हम परलोक पर छोड़ सकते हैं, लेकिन राष्ट्रीय पाप की सजा तो इसी दुनियां में दी जा सकती है।

"मेरा यह पक्का विश्वास है कि ब्रिटेन दुनियां में ईश्वर के प्रति सब से बड़ा अपराधी और कृतघ्न रहा है। उसके पास यद्यपि अपार व्यापारिक साधन हैं और उसका साम्राज्य इतना विस्तृत है और उसके पास पूर्वी और पश्चिमी संसार—दोनों को ही सभ्य बनाने के साधन मौजूद हैं, फिर भी उसने उनसे कोई फायदा न उठाकर केवल अपने दम्भ को ही बढ़ाया है और

यथाशक्ति उन देशों का शोषण किया है। सिकन्दर की तरह उसने युद्ध को एक खेल और मन-बहलाव का साधन समझ रखा है और केवल व्यर्थ के लिए दुख और कष्टों का तांता बांधा है। अभी तक उसने भारत और अफ्रीका के शोषण का बदला नहीं दिया है—उनके शोषण का ऋण नहीं चुकाया है। हाल में उसने सेंट विन्सेंट के गिरजाघर को निर्दयतापूर्वक नष्ट करके और 'शांति, स्वतंत्रता और सुरक्षा' की प्रार्थना का उत्तर तलवार-द्वारा देकर राष्ट्रीय अत्याचारों की अपनी सूची में और भी वृद्धि कर ली है। ये बड़ी गम्भीर बातें हैं और इनका जवाब उसे ईश्वर के आगे देना पड़ेगा। जल्दी या देर से सभी देशों को अपने किये का फल भुगतना पड़ा है। अंत में जाकर बड़े-बड़े विशाल साम्राज्य मिट्टी में मिल गए हैं और ब्रिटेन को भी एक दिन अपने किये पर पश्चाताप करना पड़ेगा। और मैं चाहता हूं कि वह दिन जितनी ही जल्दी आये ब्रिटेन के लिए उतना ही अच्छा होगा।"—(श्री टामस् पेन के "सूझ-बूझ और संकट" नामक लेख का उद्धरण—१०-१-१७७६।)

भारत की आज़ादी का आन्दोलन भी एक खुला आन्दोलन था, परन्तु उसकी प्राप्ति का साधन अहिंसा है। इसके हाल के स्वरूप को 'खुला विद्रोह' कहा गया है और श्री पेन के कथनानुसार संसार में पहला 'खुला विद्रोह' अमरीका में १७७६ में शुरू हुआ जब कि अमरीका ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। उनका कहना है कि "यह ऐसा समय होता है जब कि मनुष्य की कड़ी परीक्षा होती है।" यह परीक्षा अमरीका और भारतवर्ष दोनों के लिए एक-सी थी। अमरीका यद्यपि अपने इस विगत अनुभव को भुला चुका था, लेकिन भारत को अभी अपने अज्ञात भावी संघर्ष का अनुभव करना है। ऐसे समय में सरकार की भी कड़ी परीक्षा होती है। सरकार अस्तव्यस्त हो सकती है, पर समाज अपने अविचलित भाव से चलता रहता है। राष्ट्र के कानूनों का उल्लंघन किया जा सकता है लेकिन जनमत, जो समाज और प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का आधार-स्तम्भ है, एक वास्तविक शक्ति है जो शांति और व्यवस्था को बनाए रखता है। सरकार केवल बुराई को दूर करने और उस पर काबू पाने के लिए ही दखल देती है। अधिकांश जनता व्यवस्थाप्रिय होती है, परन्तु सरकार अपनी शक्ति और अधिकारों के सम्बन्ध में अपनी तत्परता को नहीं छोड़ सकती। यह बात पेन के शब्दों में आप सुन चुके हैं, जो इस प्रकार है—

"मेरा पक्का विश्वास है कि ब्रिटेन दुनियां में ईश्वर के प्रति सब से बड़ा अपराधी और कृतघ्न राष्ट्र है। उसके पास यद्यपि अपार व्यापारिक साधन हैं और उसका साम्राज्य इतना विस्तृत है और उसके पास पूर्वी और पश्चिमी संसार—दोनों को ही सभ्य बनाने के साधन मौजूद हैं, फिर भी उसने कोई फायदा न उठाकर केवल अपने दम्भ को बढ़ाया और यथाशक्ति उन देशों का शोषण किया है। सिकन्दर की तरह उसने युद्ध को एक खेल और मन-बहलाव का साधन समझ रखा है और केवल व्यर्थ के लिए दुख और कष्टों का तांता बांधा है। अभी तक उसने भारत और अफ्रीका के शोषण का बदला नहीं दिया है उनके शोषण का ऋण नहीं चुकाया है।"

भारत ब्रिटेन के खून का बदला नहीं लेना चाहता और न ही वह, जैसा कि लेखक का विचार है यह चाहता है कि "ब्रिटेन को भी एक दिन अपने किए पर पश्चात्ताप करना पड़े।" भारत भी अमरीका की भांति ही ब्रिटेन का भला चाहता है। वह उसका शुभचिंतक है। भारत की एकमात्र आकांक्षा और प्रार्थना यह है कि इसी प्रकार ब्रिटेन और अमरीका भी भारत का भला चाहें और वे उसकी आज़ादी की घोषणा कर दें।

१९४२ में लड़ाई की गति-विधि में अप्रत्याशित परिवर्तन देखने में आए। इस भयानक

छिड़ का एक अध्याय प्रायः समाप्त होने जा रहा था। मुसोलिनी ने अचानक ही अपने प्रधान-मंत्रित्व पद से इस्तीफा दे दिया और यह घटना संसार में फासिस्टवाद की अन्त्येष्टि का श्रीगणेश था। ऐसा प्रतीत होता है कि एशिया के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि यूरोप के आदर्श और सिद्धान्त दो पक्षों में बंटे हुए थे और इसीलिए यूरोपीय राष्ट्रों की शक्ति पारस्परिक विरोध के कारण कमज़ोर पड़ गई थी और छिन्न-भिन्न हो रही थी। एक तरफ फासिस्टवाद और साम्यवाद का पारस्परिक विरोध था और दूसरी तरफ इन दोनों का साम्राज्यवाद से विरोध था। लड़ाई की दूसरी सालगिरह पर स्टालिन ने तीसरे इंटरनेशनल को भंग कर देने की घोषणा की और इस प्रकार यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय संकट के रूप में साम्यवाद के अन्त की पूर्व-भूमिका थी--चाहे रूस में वह कितने ही समय तक क्यों न स्थापित रहे। इस प्रकार रूस ब्रिटेन और अमरीका के और अधिक निकट-संपर्क में आ गया। १९ साल की शान-शौकत और मान-मर्यादा के बाद अंतर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर से दूसरे ड्यूस् के अन्तर्धान हो जाने के परिणाम-स्वरूप कम से कम आधे फासिस्ट तो अपनी जन्मभूमि में ही खत्म हो गए। इन घटनाओं के बाद अब जर्मनी के नाजीवाद के लिए ब्रिटेन के चिरकालीन साम्राज्यवाद और अमरीका के नवीन साम्राज्यवाद के साथ दो दो हाथ होकर लड़ाई का दो-टूक फैसला करना बाकी रह गया था।

आइये, अब हम तनिक चंगेज़ खां और तैमूरलंग के युग पर दृष्टिपात करके देखें कि क्या बल-प्रयोग और हिंसा के संसार में भी कोई प्रगति और उन्नति हुई थी। बारहवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक तातार और मुगल कबीलों के इन साहसी वीरों को अपने ही कबीलों का विनाश करने में मज़ा आता था और अक्सर इन सभी कबीलों का धर्म इस्लाम होता था और वे एक ही पैगम्बर के मानने वाले होते थे। कलम-ए-पाक का पवित्र शब्द भी मध्य एशिया, एशिया माइनर और हिन्दुस्थान की इन लड़ाकू जातियों को एकता के सूत्र में नहीं बांध सका, जिस प्रकार कि ईसाई-धर्म ब्रिटेन और जर्मनी जैसे दो प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी राष्ट्रों अथवा फ्रांस और इटली-जैसे दो कैथोलिक राष्ट्रों अथवा ईसाई-धर्म के अनुयायी फ्रांस और ब्रिटेन को एक तरफ तथा जर्मनी और इटली को दूसरी तरफ एक-दूसरे के साथ एकता के सूत्र में पिरोने में असफल रहा है। तैमूर ने मध्य एशिया में एक के बाद एक प्रदेश को जीतने के बाद एक तरफ ईरान, ईराक और सीरिया की ओर रुख किया और दूसरी तरफ अनातोलिया, काकेशिया, जार्जिया और मास्को की ओर। इसके अलावा उसने जहां एक तरफ काबुल और कन्धार के पार मुलतान और दिल्ली तक वहाँ दूसरी ओर नेपल्स और वीनस तक अपनी सेनाओं का जाल फैला दिया। अभियानप्रिय इन सेनाओं का मुख्य उद्देश्य निजी शान-शौकत और प्रतिष्ठा को कायम रखना होता है और उनका इनाम प्रायः लूटमार होती है। अंत में तैमूर के ये मकसद भी पूरे हो गए। तैमूर लंगड़ा था और हमेशा घोड़े की पीठ पर सवार रहता था। एक समय था जब कि उसकी घुड़-सवार सेना में डेढ़-लाख घोड़े थे। अपनी इन लड़ाइयों में वह अपनी बेगम और बच्चों को अपने साथ रखता था। उसके हथियार खंजर, भाले और तलवारें थीं। उसने बहुत ख्याति प्राप्त की और इतिहास के पन्ने अपने कारनामों से भर दिये। उस जमाने में यूरोप, एशिया के विजेताओं का पानी भरता था। एक हजार साल से भी ज्यादा अर्से तक एशिया ने यूरोप पर अपने प्रभुत्व का सिक्का जमाए रखा। बाबर तैमूर का पड़पोता था। उसने भी अपना जीवन अपने पूर्वजों की भांति ही शुरू किया और अन्त में वह छोटी ही उम्र में दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान हुआ और अपनी संतान के लिए एक विशाल साम्राज्य अपने पीछे छोड़ गया। इसके बाद यूरोप की किस्मत का

सितारा चमका और उसने एशियाई राष्ट्रों पर कब्जा कर लिया। उनका साम्राज्य तहस-नहस कर डाला और एशिया के लाखों-करोड़ों इन्सानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यूरोप की औद्योगिक उन्नति का युग व्यापारिक क्षेत्र और दूसरे प्रदेशों पर कब्जा करने का युग था। १७८३ में भापके इंजन का अविष्कार हुआ। इसके बाद इस नये युग में जो लड़ाइयां लड़ी गईं उनका उद्देश्य और आधार सर्वथा नवीन था। पहले तो उनका स्वरूप प्रत्येक शताब्दी में बदलता रहा और बाद में प्रत्येक दशक में। जिन लोगों को प्रथम महायुद्ध की याद है वे जानते हैं कि किस प्रकार उस समय जंगी जहाजों, पनडुब्बियों, हवाई जहाजों, नये प्रकार की शक्तिशाली तोपों और टैंकों को देखकर दुनिया दंग रह गई थी। दूसरे महायुद्ध ने तो पिछली सभी बातों को मात दे दी। जंगी बेड़े विगत इतिहास की एक वस्तु बन गए और पनडुब्बियों ने व्यापारिक जहाजों की कमर ही तोड़दी। 'वर्जित' शब्द का सैनिक शब्दकोष में कोई महत्त्व ही नहीं रह गया। इस लड़ाई में गोला-बारूद और खाद्य, गैर-सैनिक यात्री और माल—सभी चीजें वर्जित थीं। वायुयानों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। ऊपर आकाश में मँडराते हुए वायुयानों की मदद के बिना काफलों का आना-जाना असंभव हो गया। बमवर्षा युद्धकला का एक स्वीकृत साधन बन गया। न केवल हवाई अड्डों, बन्दरगाहों, गोला-बारूद के कारखानों और सैनिक बारकों पर ही बमवर्षा की गई, बल्कि नागरिक जनता, अस्पतालों, अस्पताली जहाजों, गिरजाघरों और पुस्तकालयों, शाही-महलों, पार्लमेण्ट के भवनों, चित्रकला की गैलरियों और थियेटरों को भी अछूता नहीं छोड़ा गया। युद्धकाल में प्रति सप्ताह, प्रति-मास और प्रतिवर्ष वैज्ञानिक युद्धकला के नये-नये हथियार बनाकर दे रहे थे। सुरंगों की रोक-थाम करने के लिए, सुरंगें साफ करने के लिये जहाज थे। लेकिन इस पर चुम्बकीय सुरंगों से काम लिया जाने लगा और फिर उन्हें चुम्बक-विरोधी साधनों से हटाया जाने लगा। इसके अलावा विषैली गैसों का खतरा निरन्तर मौजूद रहता था और जब-कभी इन युद्धलिप्त राष्ट्रों ने आवश्यकता समझी, युद्धबंदियों, बन्धकों और यहां तक कि नागरिकों को भी हजारों की संख्या में मौत के घाट उतार दिया गया। आजकल की सभ्य युद्धकला के आधुनिकतम तरीकों की भयानक क्रूरताओं के आगे तैमूर और चंगेजखां के मध्यकाल की बर्बरता और अत्याचार भी शर्म से जमीन में गड़ गए। इस तरह के युद्धकाल के जमाने में कांग्रेस ने संसार के सामने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का फैसला करने के लिए बिलकुल नये तरीके का आविष्कार किया और यह तरीका था अहिंसा का। और उसने बारम्बार यही चेष्टा की कि ब्रिटेन उसकी मुसीबत की घड़ी में परेशान न किया जाय। लड़ाई शुरू होने के बाद एक साल से भी अधिक समय तक वह हर तरह के सक्रिय कार्यक्रम में भाग लेने से बचती रही। परन्तु ऐसे वातावरण में जहां संसार के शक्तिशाली राष्ट्र हिंसा के समर्थक और प्रतिपादक हों, कांग्रेस की विनम्रता को उसकी कमजोरी, और अहिंसा को उसकी ठोस कायरता समझा गया।

हिट का एक अध्याय प्रायः समाप्त होने जा रहा था। मुसोलिनी ने अचानक ही अपने प्रधान-मंत्रित्व पद से इस्तीफा दे दिया और यह घटना संसार में फासिस्टवाद की अन्त्येष्टि का श्रीगणेश था। ऐसा प्रतीत होता है कि एशिया के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि यूरोप के आदर्श और सिद्धान्त दो पक्षों में बंटे हुए थे और इसीलिए यूरोपीय राष्ट्रों की शक्ति पारस्परिक विरोध के कारण कमज़ोर पड़ गई थी और छिन्न-भिन्न हो रही थी। एक तरफ फासिस्टवाद और साम्यवाद का पारस्परिक विरोध था और दूसरी तरफ इन दोनों का साम्राज्यवाद से विरोध था। लड़ाई की दूसरी सालगिरह पर स्टालिन ने तीसरे इंटरनेशनल को भंग कर देने की घोषणा की और इस प्रकार यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय संकट के रूप में साम्यवाद के अन्त की पूर्व-भूमिका थी--चाहे रूस में वह कितने ही समय तक क्यों न स्थापित रहे। इस प्रकार रूस ब्रिटेन और अमरीका के और अधिक निकट-संपर्क में आ गया। १६ साल की शान-शौकत और मान-मर्यादा के बाद अंतर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर से दूसरे ड्यूस् के अन्तर्धान हो जाने के परिणाम-स्वरूप कम से-कम आधे फासिस्ट तो अपनी जन्मभूमि में ही खत्म हो गए। इन घटनाओं के बाद अब जर्मनी के नाजीवाद के लिए ब्रिटेन के चिरकालीन साम्राज्यवाद और अमरीका के नवीन साम्राज्यवाद के साथ दो-दो हाथ होकर लड़ाई का दो-टूक फैसला करना बाकी रह गया था।

आइये, अब हम तनिक चंगेज़ खां और तैमूरलंग के युग पर दृष्टिपात करके देखें कि क्या बल-प्रयोग और हिंसा के संसार में भी कोई प्रगति और उन्नति हुई थी। बारहवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक तातार और मुगल कबीलों के इन साहसी वीरों को अपने ही कबीलों का विनाश करने में मज़ा आता था और अक्सर इन सभी कबीलों का धर्म इस्लाम होता था और वे एक ही पैगम्बर के मानने वाले होते थे। कलम-ए-पाक का पवित्र शब्द भी मध्य एशिया, एशिया माइनर और हिन्दुस्थान की इन लड़ाकू जातियों को एकता के सूत्र में नहीं बांध सका, जिस प्रकार कि ईसाई-धर्म ब्रिटेन और जर्मनी जैसे दो प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी राष्ट्रों अथवा फ्रांस और इटली-जैसे दो कैथोलिक राष्ट्रों अथवा ईसाई-धर्म के अनुयायी फ्रांस और ब्रिटेन को एक तरफ तथा जर्मनी और इटली को दूसरी तरफ एक-दूसरे के साथ एकता के सूत्र में पिरोने में असफल रहा है। तैमूर ने मध्य एशिया में एक के बाद एक प्रदेश को जीतने के बाद एक तरफ ईरान, ईराक और सीरिया की ओर रुख किया और दूसरी तरफ अनातोलिया, काकेशिया, जार्जिया और मास्को की ओर। इसके अलावा उसने जहां एक तरफ काबुल और कन्धार के पार मुलतान और दिल्ली तक वहाँ दूसरी ओर नेपल्स और वीनस तक अपनी सेनाओं का जाल फैला दिया। अभियानप्रिय इन सेनाओं का मुख्य उद्देश्य निजी शान-शौकत और प्रतिष्ठा को कायम रखना होता है और उनका इनाम प्रायः लूटमार होती है। अंत में तैमूर के ये मकसद भी पूरे हो गए। तैमूर लंगड़ा था और हमेशा घोड़े की पीठ पर सवार रहता था। एक समय था जब कि उसकी घुड़-सवार सेना में डेढ़-लाख घोड़े थे। अपनी इन लड़ाइयों में वह अपनी बेगम और बच्चों को अपने साथ रखता था। उसके हथियार खंजर, भाले और तलवारें थीं। उसने बहुत ख्याति प्राप्त की और इतिहास के पन्ने अपने कारनामों से भर दिये। उस जमाने में यूरोप, एशिया के विजेताओं का पानी भरता था। एक हजार साल से भी ज्यादा अर्से तक एशिया ने यूरोप पर अपने प्रभुत्व का सिक्का जमाए रखा। बाबर तैमूर का पड़पोता था। उसने भी अपना जीवन अपने पूर्वजों की भांति ही शुरू किया और अन्त में वह छोटी ही उम्र में दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान हुआ और अपनी संतान के लिए एक विशाल साम्राज्य अपने पीछे छोड़ गया। इसके बाद यूरोप की किस्मत का

सितारा चमका और उसने एशियाई राष्ट्रों पर कब्जा कर लिया। उनका साम्राज्य तहस-नहस कर डाला और एशिया के लाखों-करोड़ों इन्सानों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यूरोप की औद्योगिक उन्नति का युग व्यापारिक क्षेत्र और दूसरे प्रदेशों पर कब्जा करने का युग था। १७८३ में भापके इंजन का अविष्कार हुआ। इसके बाद इस नये युग में जो लड़ाइयां लड़ी गईं उनका उद्देश्य और आधार सर्वथा नवीन था। पहले तो उनका स्वरूप प्रत्येक शताब्दी में बदलता रहा और बाद में प्रत्येक दशक में। जिन लोगों को प्रथम महायुद्ध की याद है वे जानते हैं कि किस प्रकार उस समय जंगी जहाजों, पनडुब्बियों, हवाई जहाजों, नये प्रकार की शक्तिशाली तोपों और टैंकों को देखकर दुनिया दंग रह गई थी। दूसरे महायुद्ध ने तो पिछली सभी बातों को मात दे दी। जंगी बेड़े विगत इतिहास की एक वस्तु बन गए और पनडुब्बियों ने व्यापारिक जहाजों की कमर ही तोड़दी। 'वर्जित' शब्द का सैनिक शब्दकोष में कोई महत्त्व ही नहीं रह गया। इस लड़ाई में गोला-बारूद और खाद्य, गैर-सैनिक यात्री और माल—सभी चीजें वर्जित थीं। वायुयानों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। ऊपर आकाश में मँडराते हुए वायुयानों की मदद के बिना काफलों का आना-जाना असंभव हो गया। बमवर्षा युद्धकला का एक स्वीकृत साधन बन गया। न केवल हवाई अड्डों, बन्दरगाहों, गोला-बारूद के कारखानों और सैनिक बारकों पर ही बमवर्षा की गई, बल्कि नागरिक जनता, अस्पतालों, अस्पताली जहाजों, गिरजाघरों और पुस्तकालयों, शाही-महलों, पार्लमेण्ट के भवनों, चित्रकला की गैलरियों और थियेटरों को भी अछूता नहीं छोड़ा गया। युद्धकाल में प्रति सप्ताह, प्रति-मास और प्रतिवर्ष वैज्ञानिक युद्धकला के नये-नये हथियार बनाकर दे रहे थे। सुरंगों की रोक-थाम करने के लिए, सुरंगें साफ करने के लिये जहाज थे। लेकिन इस पर चुम्बकीय सुरंगों से काम लिया जाने लगा और फिर उन्हें चुम्बक-विरोधी साधनों से हटाया जाने लगा। इसके अलावा विषैली गैसों का खतरा निरन्तर मौजूद रहता था और जब-कभी इन युद्धलिप्त राष्ट्रों ने आवश्यकता समझी, युद्धबंदियों, बन्धकों और यहां तक कि नागरिकों को भी हजारों की संख्या में मौत के घाट उतार दिया गया। आजकल की सभ्य युद्धकला के आधुनिकतम तरीकों की भयानक क्रूरताओं के आगे तैमूर और चंगेजखां के मध्यकाल की बर्बरता और अत्याचार भी शर्म से जमीन में गड़ गए। इस तरह के युद्धकाल के जमाने में कांग्रेस ने संसार के सामने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का फैसला करने के लिए बिलकुल नये तरीके का आविष्कार किया और यह तरीका था अहिंसा का। और उसने बारम्बार यही चेष्टा की कि ब्रिटेन उसकी मुसीबत की घड़ी में परेशान न किया जाय। लड़ाई शुरू होने के बाद एक साल से भी अधिक समय तक वह हर तरह के सक्रिय कार्यक्रम में भाग लेने से बचती रही। परन्तु ऐसे वातावरण में जहां संसार के शक्तिशाली राष्ट्र हिंसा के समर्थक और प्रतिपादक हों, कांग्रेस की विनम्रता को उसकी कमजोरी, और अहिंसा को उसकी ठोस कायरता समझा गया।

: १५ :

अमरीका में प्रतिक्रिया

हिन्द महासागर के एक ओर प्रशान्त महासागर और दूसरी ओर अन्ध महासागर है। इसलिए शान्तिकाल में सैनिक महत्त्व की दृष्टि से इस सारे ही इलाके को एक ही महत्त्वपूर्ण श्रृङ्खला समझा जाता है। इसे हम प्राचीन और नवीन संस्कृति को एक दूसरे से जोड़नेवाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी भी कह सकते हैं। वास्तव में भारत न तो प्रशान्त महासागर का प्रायद्वीप ही कहा जा सकता है और न ही अन्ध महासागर का प्रदेश। भारत एक ऐसा प्रदेश है जो "संयुक्त राष्ट्रों के उद्देश्यों की सत्यता को परखने की कसौटी है और इस सत्यता का आधार भारत के प्रति ब्रिटेन-द्वारा की जानेवाली कार्रवाई और व्यवहार है जिसका अमरीका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करता है।"[1] इसलिए भारत का पूर्वीय एशिया की समस्याओं अथवा विश्व-शान्ति से सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी-बड़ी समस्याओं से घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि चाहे आप कुछ भी क्यों न कहें, भारत में घटनेवाली प्रत्येक घटना की संसारपर प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है। भारत की तुलना हम एक लज्जाशील और सुन्दर नवयुवती से कर सकते हैं जिसकी वजह से सभ्य और ऐश्वय-प्रिय संसार की मानसिक शान्ति भंग हो जाती है और वह अव्यवस्थित-चित्त हो जाता है। अथवा इसे हम संसार का आकर्षण-केन्द्र कह सकते हैं। संसार उसकी ओर ललचाई हुई दृष्टि से देखता है। उसका विशाल जनसमूह संसार के बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्रों की वांछित मण्डी है, जिसे हथियाने के लिए जापान और ब्रिटेन, ब्रिटेन और जर्मनी, जर्मनी और अमरीका, और अमरीका और जापान में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। उसकी वन्य-सम्पदा, खनिज और कृषिजन्य धन को देखकर संसार के साम्राज्यवादी राष्ट्रों के मुँह में पानी भर आता है। वास्तविकता तो यह है कि बीसवीं सदी के दूसरे विश्व-युद्ध में भारत का महत्त्व पहले महायुद्ध को अपेक्षा कहीं अधिक साबित हुआ है। भारत चीन को सहायता पहुँचाने और जापान पर आक्रमण करने, मध्यपूर्व पर नियन्त्रण रखने तथा रूस की मदद करने का एक सुन्दर और सुदृढ़ अड्डा साबित हुआ है। इसलिए वह समस्त संसार का आकर्षण-केन्द्र बन गया है। यद्यपि ब्रिटेन की तरह अमरीका को भी भारत में अपनी सेनाएँ एकत्र करने और सैनिक तैयारियों के लिए एक सुदृढ़ और वांछित अड्डा मिल गया, लेकिन भारतीय जनता को उसके परंपरागत प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों, व्यापक दृष्टिकोण, न्यायप्रियता, छोटे-छोटे राष्ट्रों और पराधीन देशों के पक्ष के समर्थन के लिए उसकी तत्परता में सन्देह होने लगा। उसके लिए यह समझना कठिन था कि आखिर अमरीका अपने उद्देश्यों से क्यों विचलित होता जा रहा है। इसका जवाब यह है कि ज्यों-ज्यों दूसरे महायुद्ध में प्रगति होती रही अमरीका को यूरोप और एशिया के मामलों में अपनी तटस्थता की नीति का

[1] हैलट एबेण्ड : पैसिफिक चार्टर (प्रशान्त का अधिकार-पत्र)।

परित्याग करना पड़ा और वह ब्रिटेन की लड़ाइयों में उसका सहायक और भागीदार बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह इस लड़ाई की जय-पराजय के चक्कर में पूरी तरह से फँस गया और न्यायप्रियता और औचित्य की निष्पक्ष भावना को खो बैठा। अब उसने मुनरो-सिद्धांत को तिलांजलि देकर यूरोप और एशिया के मामलों में गहरी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। जापान को पराजित करना अमरीका के हितों के अनुकूल था और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारत जापानी द्वीपों पर आक्रमण करने का प्रमुख अड्डा भी बन गया। भारत के बारे में उसकी जानकारी बहुत-ही कम थी और वह उसकी स्थिति के सम्बन्ध में इतना घबराया हुआ था कि युद्ध बनाम भारत की राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में ब्रिटेन ने उसे जो कुछ भी कहा उसने वही सही मान लिया। इसलिए अमरीका की दृष्टि में भारत की समस्या ब्रिटेन का घरेलू मामला बन गया और उसे भारत से कोई सरोकार न रह गया। ब्रिटेन के और एक युद्धलिप्त राष्ट्र, साहूकार और मित्रराष्ट्रों के अग्रणी के रूप में अमरीका के पंजे से मुक्ति पाने के लिए भारत ने जो भी संघर्ष किया और उसकी जो भी प्रतिक्रिया हुई उसका हमें सतर्कतापूर्वक अध्ययन करना चाहिये और ऐसा करना न केवल भारत के हितों की दृष्टि से ही आवश्यक है बल्कि इस लड़ाई में निहित-विश्व व्यापी बड़ी-बड़ी समस्याओं के हितों की दृष्टि से भी। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर इस पुस्तक में अमरीका के घटनाक्रम पर सतर्कतापूर्वक सोच-विचार किया गया है।

यदि अगस्त १९४२ का आन्दोलन और गांधीजी तथा कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी लड़ाई के शुरू में हुई होती तो निस्संदेह अमरीका में उसकी प्रतिक्रिया उस प्रतिक्रिया से सर्वथा विभिन्न होती जो वास्तव में हुई। कारण यह है कि ज्यों-ज्यों लड़ाई ने ज़ोर पकड़ा अमरीका ने ब्रिटेन के साथ अपने आर्थिक सम्बन्ध फिर से स्थापित किये। लेकिन वह अभी तक पहली लड़ाई के अनुभव को नहीं भूला था। उसे मालूम था कि उस वक्त ब्रिटेन के और उसके आर्थिक सम्बन्ध कैसे थे और ब्रिटेन उसे उसका कर्ज अदा नहीं कर सका था। इसलिए इस बार उसने ब्रिटेन को बड़ी कड़ी शर्तों पर माल देना मंजूर किया। पहले तो वह उसे "नक़द चुकाओ और माल उठाओ" के सिद्धांत पर माल देता रहा। लेकिन बाद में जब ब्रिटेन की अमरीका में लगाई हुई सिक्योरिटियां भी खत्म हो गईं तो इसने उधार-पट्टे की एक नयी प्रणाली निकाली। इस प्रणाली के परिणामस्वरूप ब्रिटेन और अमरीका में घनिष्ठ व्यापारिक और आर्थिक संपर्क स्थापित हो गया और पर्लहार्बर पर जापानी आक्रमण होने (७ सितम्बर, १९४१) तक उन दोनों की यह घनिष्ठता निरन्तर बढ़ती ही गई। परन्तु इस घटना के बाद से इन दोनों राष्ट्रों में न केवल खरीद और बिक्री और उधार-पट्टे की व्यवस्था ही चलती रही, बल्कि उनके उद्देश्यों, आदर्शों, हितों और कार्यक्रम में भी एकता और तारतम्य स्थापित हो गया। निस्सन्देह १९३९-४० और १९४१ तक अमरीका कुछ हदतक ब्रिटेन पर अपना प्रभाव डालता रहा और यह प्रभाव ऐसा ही था जैसा कि एक दुकानदार का अपने गाहक, अथवा साहूकार का अपने कर्ज़दार या ज़मींदार का किसान पर होता है। लेकिन जब अमरीका लड़ाई के अखाड़े में कूद पड़ा तो उसकी भी गिनती बहुत-से युद्धलिप्त राष्ट्रों में होने लगी। पर इतने पर भी उसकी स्थिति प्रमुख ही बनी रही। अब लड़ाई से अमरीका का भी उतना ही सम्बन्ध था जितना ब्रिटेन का, क्योंकि जापान फिलिपाइंस पर अपना कब्जा कर लिया था और वह प्रशांत में विशेषकर न्यूब्रिटेन और न्यूगिनी तथा आस्ट्रे-लिया के आस-पास के टापुओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके अमरीका पर आक्रमण करने की योजनाएं बना रहा था। इसलिए ऐसी हालत में यह सवाल ही नहीं उठ सकता था कि अमरीका

भारत की वैधानिक प्रगति अथवा उसकी स्वतंत्रता के बारे में ब्रिटेन पर प्रभाव डालेगा, यद्यपि ब्रिटेन के विवेकशील व्यक्ति और भारत-स्थित अमरीका के पत्रकार यह आशा कर रहे थे। चाहे कुछ भी हो, कांग्रेस अपने इरादों और निर्णयों के बारे में अमरीका और चीन दोनों को ही सूचित कर देना अपना परम कर्तव्य समझती थी। यही वजह है कि बम्बई में अखिल भारतीय महासमिति की बैठक में गांधीजी, कांग्रेस के प्रधान और पंडित जवाहरलाल ने इन राष्ट्रों के अध्यक्षों को इस सम्बन्ध में पत्र लिखने की बात पर इतना ज़ोर दिया था।

जहां तक सवाल ब्रिटिश सरकार का है वह अच्छी तरह से जानती थी कि भारतीय समस्या का केन्द्र जहां एक ओर लन्दन की बजाय दिल्ली बनता जा रहा था, वहाँ दूसरी तरफ न्यूयार्क भी बन रहा था। इसी वजह से उसने अमरीका में आई० सी० एस० के एक योग्य व्यक्ति श्री बाजपेयी को अपना प्रतिनिधि नियुक्त करना आवश्यक समझा। इस प्रकार लार्ड हेलीफेक्स अमरीका में ब्रिटेन के राज-दूत और सर गिरजाशंकर बाजपेयी भारत-सरकार के हाई कमिश्नर नियुक्त हुए। ब्रिटिश सरकार को पूरा यक़ीन था कि उक्त दोनों महानुभावों के हाथ में उसके स्वार्थ सुरक्षित हैं। और अगर इस कथन की पुष्टि के लिए हमें कोई प्रमाण चाहिये तो यह प्रमाण लार्ड हेलीफेक्स की उस पूर्व-कल्पना से मिल सकता है जो उन्होंने ११ अप्रैल, १९४२ को क्रिप्स-मिशन की असफलता के बारे में की थी, यद्यपि दिल्ली में अभी इस असफलता की कोई घोषणा नहीं की गई थी। लार्ड हेलीफेक्स ने अमरीकी जनता के सामने कांग्रेस को बदनाम करने की कोशिश की और ब्रिटेन तथा उसके एजेण्ट क्रिप्स के पक्ष का समर्थन किया। प्रत्यक्ष है कि ब्रिटेन इसी नीति पर आचरण करना चाहता था। परन्तु कांग्रेस को अपना संदेश अमरीकन जनता तक पहुँचाने के लिए ब्रिटेन की उदारता, अमरीका की रियासतों में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं और भारत-स्थिति अमरीकी संवाददाताओं की सद्भावना पर निर्भर रहना पड़ता था। पता चला है कि जब ये अमरीकी संवाददाता भी बम्बई-प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपने संदेश और समाचार अमरीका न भेज सके तो उनमें से एक संवाददाता वायुयान-द्वारा चीन पहुंचा और वहाँ से अपना संदेश उसने अपने पत्र को अमरीका भेजा। निस्संदेह इस संघर्ष में भारत का पलड़ा हलका था, फिर भी भारत-सरकार अपने पक्ष के प्रचार के लिए अमरीकी रियासतों में भाषण देने के लिए वक्ताओं को भेजती रही और इन लोगों को (दिसम्बर १९४२ में) प्रशांत-संपर्क-सम्मेलन में भाग लेनेवाले प्रतिनिधियों के रूप में अमरीका भेजा गया। इन वक्ताओं ने वहाँ पहुँचकर देश के विभिन्न इलाकों का दौरा किया और अपने स्वामियों के पक्ष तथा उनकी नीति का प्रतिपादन किया।

जिस प्रकार ब्रिटिश और भारत सरकार ने अपने-अपने प्रतिनिधि अमरीका भेजे—उसी प्रकार समय-समय पर उसके प्रतिनिधि भी भारत आते रहे। अप्रैल १९४२ में क्रिप्स-मिशन के सम्बन्ध में कर्नल जॉनसन के नाम से प्रायः सभी भारतीय राजनीतिक क्षेत्र काफी परिचित हो गए थे। आप शीघ्र ही अमरीका वापस चले गए। परन्तु बम्बई-प्रस्ताव के पास होने के अगले दिन ही प्रधान रूजवेल्ट के एक और प्रतिनिधि श्री लौचलिन क्यूरी नयी दिल्ली में पधारे (९ अगस्त, १९४२) और पता चला कि उन्होंने वाइसराय के साथ बड़ी देर तक बातचीत भी की। यद्यपि राजनीतिक क्षेत्रों में इस भेंट को काफी महत्त्व दिया जा रहा था लेकिन अमरीकी क्षेत्रों की ओर से इन अटकलबाजियों की कोई पुष्टि न मिल सकी और श्री क्यूरी ने भी न तो पत्र-प्रतिनिधियों से और न किसी प्रमुख भारतीय से ही बातचीत की। इसके बाद उनके बारे में और कोई

समाचार भी नहीं मिला। उनके बाद श्री विलियम फिलिप्स आए जिनके सम्बन्ध में हम आगे चलकर ज़िक्र करेंगे। वे भी कर्नल जॉनसन के लौटने के ठीक एक वर्ष बाद अप्रैल १९४३ में भारत से अमरीका वापस चले गए और आपके बाद आर्चबिशप (पादरी) स्पैलमेन भारत पधारे। अमरीका के राष्ट्रपति भारतीय घटना-क्रम की प्रगति से अपना घनिष्ट संपर्क रख रहे थे। परन्तु यह बात यहीं तक सीमित नहीं थी। १९४२ की गर्मियों के प्रारम्भ में भारत-स्थित अमरीकी पत्र-प्रतिनिधियों में एक उल्लेखनीय व्यक्ति भी थे, जो भारत में यद्यपि काफी देर तक रहे, फिर भी उन्होंने यहां रहते हुए अपने विचारों के सम्बन्ध में कोई बात नहीं प्रकट होने दी। लेकिन अमरीका पहुँचकर उन्होंने भारत के पक्ष में ज़ोरदार आन्दोलन किया और भारत की समस्या को तर्क-संगत और निष्पक्ष भाव से अमरीकी जनता के समक्ष उपस्थित किया। जुलाई १९४२ में जब वे भारत से अमरीका के लिए रवाना हुए तो अपने साथ प्रधान रूजवेल्ट के लिए गांधीजी का एक संदेश भी लेते गए। यद्यपि अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति द्वारा बम्बई-प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद गांधीजी को प्रधान रूजवेल्ट के नाम अपना पत्र भेजने का कोई अवसर नहीं मिल सका फिर भी श्री लुई फिशर-द्वारा उनका निजी संदेश अमरीका के राष्ट्रपति के पास पहुंचा दिया गया। गांधीजी ने प्रधान रूजवेल्ट से प्रार्थना की थी कि भारत की स्वतंत्रता की मांग के सम्बन्ध में जो गतिरोध पैदा हो गया है उसे दूर करने के लिए आपको मध्यस्थ बनना चाहिये।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि कितने ही अमरीकी लेखकों और विचारकों ने भारत के पक्ष का समर्थन किया है, लेकिन वहां के शासकवर्ग ने भारत के प्रति न्यायोचित व्यवहार करने के लिए ब्रिटेन के शासक वर्ग पर दबाव नहीं डाला। यद्यपि यह सत्य है कि ४ जुलाई, १७७६ को अमरीका की जनता ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा के ज़रिए हमेशा के लिए यह घोषित कर दिया था कि उन्हें स्वाधीनतापूर्वक जीवन-यापन करने का अधिकार है और डेढ़ शताब्दी के बाद उसने अपने प्रधान के द्वारा इस बात की पुनः घोषणा की कि सभी मनुष्यों को स्वतंत्रता अर्थात्--वाणी-स्वातंत्र्य, धर्म-स्वातंत्र्य, अभाव तथा भय से मुक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता का अधिकार है और इसके साथ ही यद्यपि अमरीकी जनता ने अपना यह दृढ़ निश्चय प्रकट किया कि वे संसार से इन स्वाधीनताओं को मिटने नहीं देंगे, और वचन दिया कि संयुक्त-राष्ट्रों के साथ मिलकर वे उन सब शक्तियों का विध्वंस कर देंगे जो मानव-समाज को गुलाम बनाने की कोशिश करेंगी, लेकिन दुर्भाग्यवश यह भी सत्य है कि इन "चार स्वाधीनताओं" के जन्म-दाता और अमरीका के महान् राष्ट्रपति, जिन्होंने ११ अगस्त १९४२ को भारत की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया था, भारत के बारे में उन प्रतिज्ञाओं और स्वाधीनताओं की पूर्ति किये बिना ही १२ अप्रैल, १९४५ को अपनी इहलीला समाप्त करके परलोक सिधार गए।

परन्तु यह एक असाधारण-सी बात है कि इससे भी पहले ८ अगस्त को वाशिंगटन से भारत के नाम नीचे लिखा संदेश पहुँचा:—

"परिस्थिति से निकट-संपर्क रखनेवाले प्रेक्षकों का कहना है कि कांग्रेस की कार्य-समिति ने भारत को तत्काल आज़ादी देने के सम्बन्ध में ब्रिटेन के सामने पेश की गई अपनी माँग के समर्थन के लिए प्रधान रूज़वेल्ट, मार्शल चांगकाई शेक और मोशियो मेस्की से अपील करने का जो प्रस्ताव पास किया है उसकी वाशिंगटन में अनुकूल प्रतिक्रिया होने की संभावना नहीं है।

"वाशिंगटन पोस्ट ने लिखा, अपील में इन लोगों से झगड़े का निपटारा करने के लिए

मध्यस्थ बनने की प्रार्थना नहीं की गई, बल्कि इसमें केवल यह आग्रह किया गया है कि वे 'सामूहिक रूप से ब्रिटिश सरकार को ऐसी कार्रवाई करने के लिए विवश करें जो वह इस नाजुक घड़ी में नहीं करना चाहती और जो कार्रवाई वह सभी सम्बद्ध देशों और व्यक्तियों के हितों को ध्यान में रखते हुए नहीं कर सकती।' पत्र ने इस बात पर जोर दिया है कि कांग्रेस दल प्रत्यक्षतः उस सीमा तक इन व्यक्तियों की सद्भावना और निष्पक्षता पर यकीन नहीं करता।"

इसके बाद से नौ महीने से भी अधिक समय तक एक तरफ ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकार और दूसरी ओर प्रमुख पत्रकारों और प्रचारकों में भारतीय समस्या के बारे में अमरीकी जनमत को शिथिल करने और अमरीका के प्रधान को प्रभावित करने की जोरदार होड़ लगी रही। भारत से इंगलैण्ड वापस जाने के कुछ समय बाद ही सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने 'न्यूयार्क टाइम्स' में एक लेख लिखा और प्रधान रूज़वेल्ट को सारा मामला समझाने के लिए उन (क्रिप्स) के निजी सेक्रेटरी श्री स्प्राई को उनके पास भेजा गया। श्री स्प्राई ने अमरीका के पत्रों में क्रिप्स के पक्ष का समर्थन और कांग्रेस को आलोचना करते हुए लेख लिखे। तत्काल ही श्री लुई फिशर ने उन्हें जोरदार और मुँहतोड़ जवाब देते हुए कई एक लेख लिखे, जिनमें उन्होंने कांग्रेस के रेकार्डों के अक्षरशः उद्धरण पेश किये और वाइसराय और भारत के उच्च अधिकारियों से अपनी बात-चीत का उल्लेख किया। भारत में वे लेख काफी देर के बाद पहुँचे, लेकिन जब वे भारतीय पत्रों में प्रकाशित हुए तो लोगों को पता चला कि किस प्रकार अमरीका की जनता में भारत के पक्ष में प्रचार हुआ है और उसके समक्ष भारत को वास्तविक रूप में व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार एक और प्रसिद्ध अमरीकी संवाददाता श्री एडगर स्नो ने भी भारत के पक्ष में बहुत से लेख लिखे और ये सब लेख तथा भारतीय स्थिति के सम्बन्ध में एक व्यापक वक्तव्य प्रसिद्ध अमरीकी पत्रिका "पैसिफिक अफेयर्स" में प्रकाशित होने तथा दिसम्बर १९४२ के प्रारम्भ में श्री लुई फिशर ने भारत के बारे में स्वयं अमरीका में जो भाषण दिये उनके कारण उस देश में ब्रिटेन के एजेण्टों और उसके राजदूत ने जो भ्रमजाल फैलाया था उसका सारा रहस्य खुल गया, और जनता के सामने भारत की वास्तविक स्थिति उपस्थित हो सकी।

इनकी तुलना में अमरीका में श्री अर्नेस्ट लिंडले जैसे पत्रकारों की भी कमी नहीं थी जो प्रधान रूजवेल्ट के गैर सरकारी प्रवक्ता होने का दम भरते थे। उन्होंने लिखा कि, "अमरीका की सरकार के लिए भारत की समस्या बड़ी पेचीदा है और कांग्रेस-द्वारा क्रिप्स-योजना को ठुकरा देने के बाद अमरीका की सरकारी और निजी राय कांग्रेस के विरुद्ध होगई है। यह राय इस बात से कांग्रेस के ख़िलाफ और भी ज़्यादा होगई है कि गांधीजी सशस्त्र होकर जापान का प्रतिरोध करने के विरोधी हैं और वे उसके साथ समझौता करने के हिमायती हैं—यद्यपि संभवतः इसे हम पश्चिमी दृष्टिकोण से देश-द्रोह की संज्ञा नहीं दे सकते, लेकिन इसे हम शत्रु को अहिंसात्मक प्रतिरोध-द्वारा विजय से वंचित करने का एक तरीका कह सकते हैं और इस साधन की उपादेयता में उनके इस यकीन को हम केवल उनकी धार्मिक भावना और धर्मान्धता ही कह सकते हैं।" आगे चलकर आप लिखते हैं:—

"ख़तरा था कि इसका यह प्रभाव पड़ेगा कि कांग्रेस दल के नेता अमरीका के भी उतने ही कट्टर विरोधी हो जाएंगे जितने कि वे ब्रिटेन के हैं और इसके अलावा एक ख़तरा यह भी था कि उसके प्रचारक दुनियां पर यह असर डालने की कोशिश करेंगे कि संयुक्तराष्ट्रों के श्वेत लोग भारत के दमन की नीति में ब्रिटेन का हाथ बँटा रहे हैं। परन्तु यह ख़तरा प्रधान रूज़वेल्ट की इस घोषणा

से कम हो गया कि अमरीकी सेनाएँ भारत में केवल धुरीराष्ट्रों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए ही भेजी गई हैं और उन्हें हिदायत करदी गई है कि वे भारत के आन्तरिक मामलों में भाग न लें। लेकिन अभी तक यह ख़तरा पूरी तरह से दूर नहीं हो सका और यह तभी दूर हो सकेगा यदि समझौते के जरिये भारत की आन्तरिक राजनीतिक कठिनाइयों को दूर करने की एक और कोशिश की जाय।"

भारत की राजनीतिक समस्या को हल करने के लिए विभिन्न उपाय सुझाए गये। लेकिन वास्तविक सवाल तो यह था कि इस बारे में हमें किस सिद्धान्त को अपनाना चाहिए। एक उपाय यह सुझाया गया था कि "भारतीय समस्या का फैसला संयुक्त राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के एक पंच द्वारा करा लिया जाय।"

इसी सम्बन्ध में अमरीका की प्रसिद्ध पत्रिका 'एटलांटिक मैगजीन' ने लिखा—"भारतीय समस्या को हल करने का एक रचनात्मक तरीका यह है कि मित्रराष्ट्र संयुक्त रूप से यह घोषणा कर दें कि यदि लड़ाई में उनकी जीत हुई तो उनका उद्देश्य क्या होगा। भारत की समस्या साधारण समझौते का ही एक अंग होना चाहिये।"

सिर्फ अमरीका में ही ऐसे विचार नहीं प्रकट किये गए बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेश कैनेडा के एक प्रमुख राजनीतिक दल 'कोआपरेटिव कामनवेल्थ फेडरेशन' ने भी अपने यहां के प्रधान मंत्री श्री मेकेंज़ी किंग से आग्रह किया कि वे मित्रराष्ट्रों के जरिये "इस समय और युद्ध के बाद भारत में स्वायत्त सरकार की स्थापना" के लिए फिर से समझौते की बातचीत शुरू करने पर ज़ोर दें।

बम्बई-प्रस्ताव के बाद नेताओं की गिरफ्तारी को अभी मुश्किल से दो ही महीने हुए होंगे कि अक्टूबर, १६४२ में अमरीका में भारत के पक्ष में एक ज़ोरदार लहर दौड़ गई। बात यह थी कि वहां के राजनीतिज्ञों, लेखकों और पत्रकारों ने अपने भाषणों और लेखों के ज़रिये अमरीकी जनता के सामने यह स्पष्ट कर दिया कि आज से डेढ़ शताब्दी पहले वाशिंगटन और उसके अनुयाइयों ने स्वतंत्रता की जो चिनगारी प्रज्ज्वलित की थी उसकी लपटें भारत तक फैल गई हैं। नोबेल-पारितोषिक विजेता श्रीमती पर्ल बक और प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युतांग ने भारत के पक्ष में अपनी ज़ोरदार लेखनी उठाई। इन दोनों व्यक्तियों ने भारत के पक्ष का समर्थन किया। इनके अलावा जगह-जगह पर श्री वेंडेल विल्की ब्रिटेन और अमरीका दोनों की ही टीका-टिप्पणी करते हुए पश्चिम और पूर्व दोनों के ही साम्राज्यवादियों का घोर विरोध कर रहे थे। इन आलोचनाओं के तत्काल बाद समाचारपत्रों में जो साहित्य प्रकाशित हुआ उससे स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि इन बातों का सभ्य संसार पर बहुत अधिक असर पड़ा। इस सम्बन्ध में हम इनमें से कुछ लेखों की समीक्षा करना चाहते हैं जिससे कि यह प्रकट हो जाएगा कि यद्यपि भारत के बाहर उसके पक्ष को पूर्ण रूप से समर्थन नहीं प्राप्त हो सका, फिर भी सभी जगह के स्वाधीनता-प्रेमी भारत में ब्रिटेन की स्वेच्छाचारिता के बारे में सतर्क और जागरूक थे।

१६४३ में लिन युतांग के बारे में यह कहा गया था कि आप "पिछले १० वर्षों में अंग्रेज़ी-साहित्य के सब से उल्लेखनीय व्यक्ति हुए हैं। आप पूर्व और पश्चिम की एकता के प्रतीक हैं। आप पश्चिमी भाषा में लिखनेवाले एक माननीय लेखक और पूर्वी दार्शनिक हैं, जिन्होंने चीन के जीवन, सदाचार, इतिहास और दर्शन-शास्त्र को पश्चिमी दुनिया के सामने सर्वोत्तम ढंग से उपस्थित किया है।" आपने 'न्यू मासेज़' नामक पत्र में ब्रिटेन और अमरीका के कुछ शक्तिशाली तत्वों

की पोल खोलते हुए इस बात की घोर निन्दा की कि वे संसार में ऐंग्लो-अमरीकन प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं और अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने हाल के साहित्य के कुछ उद्धरण भी पेश किये। इन लेखकों का कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस भी सिर्फ ऐंग्लो-अमरीकी पुलिस ही होगी और भविष्य में स्थापित होनेवाले किसी भी विश्वसंघ में समानता का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जाएगा। इस महान् दार्शनिक ने लिखा कि, "इस सारी समस्या के पीछे गोयबल्स और हिटलर की जातीय श्रेष्ठता की फासिस्ट विचार-धारा काम कर रही है। जब तक जातीय श्रेष्ठता का यह दम्भ कायम रहेगा तब तक संसार के राष्ट्रों में वास्तविक समानता नहीं स्थापित हो सकती।" इसलिए आपने यह आशंका प्रकट की कि "जिस प्रकार युद्ध का सचालन वाशिंगटन और लन्दन से हो रहा है उसी प्रकार शान्ति का संचालन भी इन्हीं स्थानों से होगा।" उन्हें यह आशा नहीं कि श्री चर्चिल चाहे वे लड़ाई में कितने ही सफल नेता क्यों न साबित हुए हों, शांति-स्थापना के लिए वे अब्राहम लिंकन जैसे महान् नेता नहीं साबित हो सकेंगे। "हमारी कम-से-कम आशा अब प्रधान रूजवेल्ट पर ही निर्भर है; श्री चर्चिल पर नहीं, क्योंकि उन्होंने कामन सभा में यह घोषणा की है कि अटलांटिक का अधिकार-पत्र भारत पर लागू नहीं होता।" आपकी राय है कि उस प्रस्तावित संघ के मुकाबले में जिसमें सिर्फ अंग्रेज़ी-भाषा-भाषी जनता की सुरक्षा की ही कल्पना की गई है और जिससे भारत को अलग रखा गया है, हमें चीन, भारत और रूस का एक ऐसा शक्तिशाली संघ बनाना चाहिये जिसमें १,००,००,००,००० लोग अथवा संसार की कुल जन-संख्या का आधा भाग शामिल होगा। भारत अथवा चीन का एक विश्व-व्यापी संघ स्थापित करने में हमारी वास्तविक कठिनाई इन देशों की बड़ी जन-संख्या और प्रतिनिधि सभा में उनके प्रतिनिधियों की अत्यधिक संख्या है। इसके अलावा भारत की स्वाधीनता की तात्कालिक समस्या के सम्बन्ध में श्री लिन युतांग ने स्पष्ट विचार प्रकट किये।

चीन के प्रसिद्ध लेखक श्री लिन युतांग ने अमरीका की एक नयी मासिक पत्रिका 'फ्री वर्ल्ड' के नाम अपने संदेश में भारत को तत्काल स्वाधीन करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। यह पत्रिका एक ऐसे आन्दोलन का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जिसे अमरीका में पहले ही काफी समर्थन प्राप्त हो चुका था।

'फ्री वर्ल्ड' के अंग्रेज़ी, चीनी, स्पेनिश और फ्रांसीसी संस्करण तो पहले से ही निकल रहे हैं और निकट-भविष्य में उसका एक भारतीय संस्करण निकालने का भी प्रबन्ध किया जा रहा है।

इस पत्रिका के नाम अपने सन्देश में श्री लिन युतांग ने लिखा : "एशिया में इस समय बड़ी महत्वपूर्ण घटनाएं घट रही हैं और उनका प्रभाव केवल भारत की ३९ करोड़ जनता पर ही नहीं पड़ रहा, बल्कि संयुक्त राष्ट्रों के युद्ध की भावी प्रगति और उसके आवश्यक स्वरूप पर भी पड़ रहा है। एक चीनी होने के नाते मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि उनका प्रत्यक्ष और सर्व-प्रथम प्रभाव चीन पर ही पड़ेगा। अतः हमारे लिए यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि हम भारत की घटनाओं की समीक्षा कोरे आलोचकों के रूप में ही न करें बल्कि अपने दो मित्रों-इंगलैण्ड और भारत के बीच इस झगड़े में जिम्मेदार साझेदारों के रूप में भाग लें। यदि हम एक या दूसरे पक्ष का समर्थन करें अथवा इस संघर्ष को सहन करते रहें तो उसका एक ही परिणाम होगा कि या तो उसे हम बढ़ाएंगे अथवा कम करेंगे। संयुक्तराष्ट्रों के ऊपर एक नैतिक कर्तव्य आ पड़ा है। इसलिए मेरा आग्रह है कि आपलोग भारतीय परिस्थिति की वास्तविकताओं को पहचानें।

"हमलोग अब तक हिन्दू-विरोधी प्रचार पर ही विश्वास करते रहे हैं। हां, अगर हम चाहें तो अपनी मानसिक शान्ति अथवा संतुष्टि के लिए इस कल्पना पर यक़ीन कर सकते हैं कि कांग्रेस भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यदि हम चाहें तो इस असत्य पर भी विश्वास करलें कि मुसलमान कांग्रेस में शामिल नहीं हैं, श्री जिन्ना अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं, भारतीय जनता अंग्रेज़ों से प्यार करती है और वहां सब काम ठीक-ठाक चल रहा है। हम इस बात पर यक़ीन करके अपनी नैतिक विजय समझ बैठते हैं कि हम तो भारत को स्वाधीनता देना चाहते हैं, लेकिन स्वयं भारतीय ही एकमत होकर उसे नहीं लेना चाहते। इस कल्पना के शिकार होकर और क्रिप्स-मिशन के बाद अपनी निष्क्रियता के कारण स्वयं हमलोगों ने ही इस प्रत्यक्ष संघर्ष को प्रोत्साहन दिया है।

"अब धोखे में पड़े रहने का समय बीत चुका है और हमें इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा। लेकिन स्वयं हमारा भाग्य भी तो इससे बँधा है। अमरीका में इस समय भारत के विरुद्ध जो झूठा और अनाप-शनाप प्रचार किया जा रहा है और उसे बदनाम करने की जो चेष्टाएं की जा रही हैं, उन्हें हमें रोकना पड़ेगा। विवेकशील नागरिक जानते हैं कि अमरीकी जनता के सामने भारत का पक्ष कभी सही रूप में नहीं पेश किया गया। उसके पास तो केवल वे ही समाचार पहुंचते हैं जो कलकत्ता और नयी दिल्ली से सेंसर होकर आते हैं और जिन पर अंग्रेज़ों का रंग चढ़ा होता है। वे लोग जानते हैं कि भारत के बारे में उन्हें जो समाचार मिलते हैं वे बिल्कुल गलत, झूठे और बहुधा एकतरफ़ा होते हैं। यह मानव-स्वभाव है कि हम उन लोगों को अवश्य ही बदनाम करने की कोशिश करेंगे जिन्हें हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि हम केवल उनके भले के लिए ही उन्हें नुक़सान पहुंचा रहे हैं। यही मानव प्रकृति का एक शाश्वत नियम है। गांधीजी शांतिवादी हैं, पर वे वास्तविकता से कोसों दूर हैं और केवल अंग्रेज़ों का सर्वनाश चाहते हैं।

"सवाल तो यह है कि गांधीजी इतने मूर्ख क्यों हैं? पंडित जवाहरलाल नेहरू और कांग्रेस के दूसरे नेता क्यों इतने मूर्ख हैं? क्यों भारतीय लोग इतने मूर्ख हैं कि वे उनके बहकाने में आजाते हैं? बहुत-से अमरीकी आलोचकों और सम्पादकों के लिए हिन्दुओं को समझना बड़ा कठिन है। गांधीजी मूर्ख हैं, क्योंकि वे उसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लड़ रहे हैं जिसके लिए वाशिंगटन लड़ा था—अर्थात् अंग्रेज़ों के पंजे से अपने देश को स्वाधीन कराया जाय। पंडित नेहरू इसलिए मूर्ख हैं कि वे 'स्वाधीनता' के इस छोटे से शब्द का महत्त्व उतना ही समझते हैं जितना कि वाशिंगटन अथवा टाम्स पेन समझते थे। सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र अपने देश की स्वतंत्रता के लिए वही-कुछ अनुभव कर रहा है जो तेरह उपनिवेश अपने लिए अनुभव कर रहे हैं। गांधीजी और नेहरू भी उतने ही हठी हैं जितने कि वाशिंगटन थे अथवा जितने श्री डी-वेलरा आज हैं। भारत के साथ भी वैसा ही अन्याय हो रहा है जैसा कि अमरीका के उपनिवेशों और आयरलैण्ड के साथ हुआ था। अब चूंकि अमरीकी जनता को स्वाधीनता मिल गई है, इसलिए वह इस छोटे से शब्द का वह महत्त्व भूल गई है जो स्वाधीनता-विहीन लोगों के लिए हो सकता है। यही एक चीज़ है जो भारत के सम्बन्ध में समझ में नहीं आती।

"यही एक शक्ति है जिसे गांधीजी और नेहरू ने संचारित किया है। वे दोनों वाशिंगटन के प्रशंसक हैं। इसलिए उन्हें उसी दिव्य पुरुष की आत्मा से प्रोत्साहन भी मिला है। इसी से प्रोत्साहित होकर उस महान् राष्ट्र ने भी राष्ट्रीय स्वाधीनताओं की प्राप्ति के लिए लड़े जानेवाले हमारे इस युद्ध के दौरान में अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता का नारा लगाया है। हाल में श्री कार्डेल

हल ने विभिन्न राष्ट्रों से स्वाधीनता के लिए लड़ने का आग्रह किया था और भारतीय जनता भी उन्हीं के आदेश का पालन कर रही है। श्री हल अपने शब्दों को वापस लेकर अब भारतीयों से यह नहीं कह सकते कि 'आपको स्वाधीनता के लिए नहीं लड़ना चाहिये।' हम यूनान, यूगोस्लाविया अथवा अधिकृत फ्रांस की स्वाधीनता के लिए तो आतुर प्रतीत होते हैं, लेकिन उधर भारत में स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए लड़े जानेवाले सब से बड़े राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति अपनी आंखें मूंद लेते हैं।

"भारत स्वाधीन होना चाहता है। क्रिप्स ने उसकी यह माँग ठुकरादी। भारतीय लोग एक स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से संयुक्त राष्ट्रों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर लड़ना चाहते हैं। कांग्रेस के प्रस्ताव में साफ-तौर पर कहा गया था कि वह भारत में मित्र-राष्ट्रों के सैनिकों के बने रहने के पक्ष में है और यह चाहती है कि वे भारत की रक्षा करें—लेकिन एक शर्त पर कि भारत को स्वतंत्र करके उसे बराबरी का पद दिया जाय। भारत एक स्वर से तत्काल अपनी आजादी की माँग कर रहा है। उसके महान् नेता, जिन्होंने भारत को उसकी आजादी का हकदार साबित कर दिया है, इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि वे उस आजादी का अधिकाधिक उपयोग धुरी-राष्ट्रों के खिलाफ करेंगे। मैं यह चेतावनी देता हूं कि जब तक भारत स्वाधीन नहीं हो जाएगा वह अपने स्वातंत्र्य-संग्राम को नहीं छोड़ेगा।

"इन अकाट्य तथ्यों और सत्यता को ध्यान में रखते हुए यदि हम भारत को उसकी वह वस्तु नहीं लौटाते जो हमने चुराली थी तो उसका एकमात्र कारण हमारी श्रेणीगत अथवा राष्ट्रीय राजनीति ही कही जा सकती है। जो लोग राजनीतिक चालें चलने में सिद्धहस्त हैं वे अपने अविवेक और अदूर-दर्शिता के कारण समान युद्ध-प्रयत्न को विफल बनाने में ही सहायक होंगे। हम उन्नीसवीं सदी के मनोविज्ञान और साम्राज्यवादी राजनीति के बल पर यह लड़ाई कभी नहीं जीत सकते। लड़ाई हम से कहीं आगे निकल गई है, हमें उसके साथ कदम रखने की कोशिश करनी चाहिये।"

पर्ल बक—

सुप्रसिद्ध लेखिका पर्ल बक ने आम जनता का ध्यान जापानियों के जातीय दृष्टिकोण पर आधारित प्रचार की ओर आकर्षित करते हुआ बताया कि "किस प्रकार आज भी श्वेत लोगों में जातीय दुर्भावना घर किये हुए है......अगर हम जापानियों के प्रचार के कारण पैदा होनेवाले ख़तरे को स्वीकार करलें तो हमारे लिए बेहतर होगा। सच तो यह है कि सुदूर-पूर्व में श्वेत लोगों ने अपने बन्धुओं के प्रति बुद्धिमत्तापूर्ण अथवा न्यायोचित बर्ताव नहीं किया। श्वेत जातियों की सबसे अधिक खतरनाक मानवीय मूर्खता यह रही है कि उनमें निराधार दुर्भावना घर किये रही है जिसके वशीभूत होकर श्वेत जातिका अधम-से-अधम व्यक्ति भी यह ख़याल करता रहा है कि वह किसी भी राजा का, यदि वह काले रंग का है, तिरस्कार कर सकता है।...काले वर्ण के हमारे सहयोगी अनजाने में या धोखे में हमारे साथ मिलकर धुरीराष्ट्रों के खिलाफ नहीं लड़ रहे हैं। वे जानते हैं कि शायद उनके लिए यह लड़ाई समाप्त न हो और साथ ही वे यह भी जानते हैं कि शायद उन्हें अपने इन्हीं श्वेत वर्ण-सहयोगियों के खिलाफ स्वाधीनता के लिए लड़ना पड़े।"

अपनी सब से हाल की रचना 'अमेरिकन यूनिटी ऐण्ड एशिया' (जान डे, न्यूयार्क) में में श्रीमती पर्ल बक ने एक बार फिर भारतीय समस्या और ब्रिटेन तथा भारतीय जनता के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए अन्त में लिखा है, "भारत में पुरानी चालें चलने का समय

बीत गया है और भविष्य के लिए ४० करोड़ जनता की सद्भावना प्राप्त करने के उद्देश्य से हमारे लिए यह बेहतर होगा कि हम भारतीयों को अपने विचार और शक्तियों का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करने की इजाजत दें जिससे कि वे इस लड़ाई में जापानियों के पंजे से छुटकारा पा सकें।"

वेंडेल विल्की—

हाल में भारत और एशिया में प्रजातंत्र की रक्षा तथा उसके प्रतिपादन के लिए शायद ही किसी व्यक्ति ने इतना जोर लगाया हो जितना कि प्रधान रूजवेल्ट के प्रतिद्वन्द्वी श्री वेंडेल विल्की ने लगाया। इससे केवल दो वर्ष पूर्व आप अमरीका के प्रधान के चुनाव में हार गये थे। लेकिन अब आप युद्ध-संचालन के कार्य में प्रधान रूजवेल्ट के प्रधान सहयोगी बन गए थे। उनके कहने पर आपने विश्व-भ्रमण किया। आपने १६० घण्टों में ३१,००० मील का दौरा किया। प्रधान रूजवेल्ट ने आपको कुछ विशेष कार्य सौंपे थे। उन्हें पूरा करने के साथ-साथ श्री विल्की ने स्वतंत्र रूप से भी विश्व-व्यापी समस्याओं का गहरा अध्ययन किया। विश्व-भ्रमण से लौटने के बाद आपने अप्रैल १९४३ के शुरू में 'वन वर्ल्ड' नामक एक पुस्तक लिखी जिसकी ५ लाख प्रतियां हाथों-हाथ बिक गईं। यद्यपि आपकी पुस्तक की भाषा और शैली जरा कठिन और दुरूह है, फिर भी एशिया और भारत के बारे में आपने जो विचार प्रकट किये हैं, वे अत्यन्त तर्कसंगत और जोरदार हैं।

श्री वेंडेल विल्की ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि अफ्रीका से लेकर अलास्का तक जहां कहीं भी वे गए उनसे एक ही सवाल पूछा गया "भारत के बारे में क्या स्थिति है?" इसी सम्बन्ध में आगे आपने लिखा है कि चीन के सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति ने उन्हें बताया, "अगर आप भारत की समस्या को भविष्य पर छोड़ देते हैं तो उससे जनता की नजरों में ब्रिटेन की नहीं बल्कि अमरीका की प्रतिष्ठा कम होजाती है। उससे ब्रिटेन नहीं, अमरीका के नाम पर बट्टा लगता है।" श्री विल्की का कहना है कि "अगर हम अपने आदर्श और उद्देश्य में विश्वास रखते हैं और उनकी प्राप्ति में मध्यपूर्व की शक्तियों का सहयोग चाहते हैं तो हमें अपने स्वार्थ के लिए वहां की जनता को एक दूसरे के खिलाफ लड़ाना बन्द करके वहां अपना प्रभुत्व और नियंत्रण स्थायी बनाने की कोशिश छोड़ देनी चाहिये।" अँग्रेज अफसरों के बारे में आपने बड़ी मनोरंजक और उल्लेखनीय बातें लिखी हैं। एक दिन सायंकाल सिकन्दरिया में आप दस अँग्रेजों के साथ भोजन करने बैठे। ये सभी व्यक्ति नौ-सैनिक कूटनीतिक विभाग और दूतावास के सदस्य थे। "ये सभी व्यक्ति" श्री विल्की ने लिखा है, "ब्रिटिश साम्राज्य के अनुभवी और योग्य शासक समझे जाते थे।" आपने औपनिवेशिक प्रणाली के भविष्य के बारे में उनके विचार जानने की कोशिश की। आपने लिखा है कि "मुझे इसका जो जवाब मिला वह रुडयार्ड किपलिंग का दृष्टिकोण था जिसमें सिसिल रोडस् के उदारवाद की गन्ध तक भी नहीं थी। ये व्यक्ति जिन पर लन्दन में निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करने की जिम्मेवारी थी, इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ थे कि दुनिया बदलती जा रही है। इनमें से अधिकांश व्यक्तियों को अटलाँटिक अधिकार-पत्र का ज्ञान था। लेकिन उन्हें यह बात कभी नहीं सूझी कि हो सकता है कि उसके फलस्वरूप उनका काम बदल जाय अथवा उन्हें अपने विचार बदलने पड़ें।" इस मुलाकात के परिणामस्वरूप आप इस नतीजे पर पहुंचे,—"हम उसी हालत में जीत सकते हैं अगर नये व्यक्तियों और नये विचारों को लेकर हम पूर्व के लोगों के साथ अपना संपर्क स्थापित करें। इसके बिना शान्ति स्थापित करने का कोई भी प्रयास केवल एक और विराम-संधि ही साबित होगी।" श्री एमरी ये सुझाव पेश किया था कि भारतीय विश्व-विद्यालयों में पढ़नेवाले नवयुवकों को भारत के नवीन विधान का अध्ययन करना चाहिये और

पुरानी पीढ़ी के लोगों को छुट्टी दे देनी चाहिये। श्री एमरी को चाहिये कि वे ब्रिटिश अफसरों के बारे में श्री विल्की के उपर्युक्त विचारों पर ध्यान दें।

श्री वेंडेल विल्की के ब्राडकास्ट के भाषण से अमरीका ही नहीं दुनिया भर में तहलका मच गया। रिपब्लिकन दल के लोगों ने इसे एक 'उच्च संदेश' बताया, जो अधिकांश अमरीकियों की आशाओं और दृढ़-विश्वास का द्योतक था। उनका यकीन था कि इससे संयुक्तराष्ट्रों को काफी लाभ पहुँच सकता था।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ये विचार एक ऐसे व्यक्ति ने प्रकट किये जो ३१,००० मील की अपनी यात्रा में भी भारत नहीं पधार सके, क्योंकि उन्हें यहां आने के लिए भारत-सरकार ने आमंत्रित नहीं किया, कारण कि भारत-सरकार अपने को मुसीबत में नहीं डालना चाहती थी। लेकिन इससे तो उक्त पुस्तक के लेखक के विचारों का महत्त्व और भी बढ़ेगा।

हेनरी ए० वालेस—

इन्हीं दिनों न्यूयार्क में 'फ्री वर्ल्ड एसोसियेशन' के तत्वाधान में 'फ्री वर्ल्ड कांग्रेस' का एक अधिवेशन हुआ। एसोसियेशन की ओर से एक भोज दिया गया। इस अवसर पर अमरीका के उप-प्रधान श्री वालेस ने एक अत्यन्त विवेकयुक्त और दूरदर्शितापूर्ण भाषण दिया, जिसका मुख्य विषय, "जन क्रांति" अथवा "साधारण व्यक्ति का देश" था। कहा जाता है कि इस भाषण के परिणामस्वरूप अमरीका और विदेशों में न केवल संयुक्तराष्ट्रों के उद्देश्यों के प्रति बल्कि साधारण मानव के अधिकारों के प्रति भी गहरी दिलचस्पी और जाग्रति पैदा हो गई। "पिछले १५० वर्षों में स्वाधीनता के मार्ग में जो प्रगति हुई है, उसे हम जन-क्रान्ति ही कह सकते हैं।"

अमरीका की विभिन्न रियासतों के भूतपूर्व गवर्नरों, राष्ट्रपति-पद के उम्मीदवारों और उस महान् प्रजातंत्र के उप-प्रधानों ने ही भारत और प्रशान्त के देशों के पक्ष का समर्थन नहीं किया, बल्कि अमरीका के मज़दूरों ने भी उन्हें सामयिक सहायता प्रदान की। अमरीका के शक्तिशाली मज़दूर संगठन—औद्योगिक संघ कांग्रेस ने बोस्टन में अपने वार्षिक सम्मेलन में एकमत से भारत की आज़ादी की मांग का समर्थन करते हुए एक प्रस्ताव किया। प्रस्ताव में कहा गया था—"औद्योगिक संघों की यह कांग्रेस राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए भारतीय जनता की आकांक्षाओं का समर्थन करती है जिससे कि भारत के लोग धुरी-आक्रांतों के ख़िलाफ लड़ी जानेवाली लड़ाई में अपनी सारी ताक़तों और साधनों से काम लेकर उसमें पूरी तरह से भाग ले सकें।" कांग्रेस ने यह भी घोषणा की कि समस्त संसार के उपनिवेशों के लाखों-करोड़ों लोग बड़ी उत्सुकता से भारतीय समस्या के सन्तोषजनक हल की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

बोस्टन, शिकागो, न्यूयार्क, वाशिंगटन, मेक्सिको, और कैनेडा सभी जगह भारतीय प्रश्न की चर्चा हो रही थी। एक ओर जब कि अक्टूबर, नवम्बर और दिसम्बर १९४२ में ये घटनाएं और चर्चाएं हो रहीं थीं--दूसरी ओर फिलिपाइंस राष्ट्र-मण्डल में नवम्बर, १९४२ में वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था। इस अवसर पर प्रधान रूजवेल्ट ने पहली बार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घोषणा की जिससे अटलांटिक अधिकार-पत्र की कुछ अस्पष्ट धाराओं के सम्बन्ध में अमरीका के इरादों पर प्रकाश पड़ता है।

अपने-अपने तौर पर तो ये दावे, घोषणाएं और मांग ठीक हैं; लेकिन इनका व्यापक रूप से ज़िक्र करने का अर्थ यह नहीं कि हम इस धोखे में थे कि अमरीका भारतीय समस्या को सुलझा देगा अथवा प्रधान रूजवेल्ट कभी प्रधान मंत्री चर्चिल पर दबाव डालने की कोशिश करेंगे।

बल्कि इनसे तो संसार के सभी राष्ट्रों के लिए समानता और स्वतन्त्रता के इन पोषकों और दावेदारों की भीरुता पर प्रकाश पड़ता है। इन्हीं आशंकाओं पर अमरीका की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'लाइफ' के सम्पादकों ने ब्रिटिश जनता के नाम अपने उस 'खुले पत्र' में काफी प्रकाश डाला है जो उन्होंने संयुक्त राष्ट्रों के युद्ध और शांति की समस्याओं से सम्बन्ध रखनेवाले उद्देश्यों के बारे में लिखा था, क्योंकि उन दिनों अमरीका में युद्ध और शांति-कालीन उद्देश्यों को लेकर बड़ा ज़ोरदार वाद-विवाद चल रहा था। पत्र का आशय इस प्रकार है :

"निस्सन्देह किसी एक पत्र के लिए अमरीका की जनता की ओर से बोलने या विचार प्रकट करने का दावा करना धृष्टता है। फिर भी 'लाइफ' के सम्पादक ऐसी धृष्टता करने का साहस कर रहे हैं। लेकिन हम आपको यक़ीन दिलाते हैं कि इस मामले में हम अमरीका के १३,४०,००,००० लोगों में से एक बड़े भाग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

"हम आपको यह पत्र सभ्यता की एक ऐसी नाज़ुक घड़ी में लिख रहे हैं जिसका हमारे दोनों देशों से घनिष्ट सम्बन्ध है। संस्थाओं, रस्मोरिवाज, भाषा अथवा खून के रिश्ते से दुनियां में हमारी दोनों जातियों से अधिक एक-दूसरे से निकट और कोई नहीं है। इसलिए हम एक ही परिवार के सदस्य होने के नाते आपको यह पत्र लिखने का साहस कर रहे हैं।

"हमने इस लड़ाई में भाग लेने में बड़ी सुस्ती से काम लिया है। बरसों तक तो हम इसे टालने की ही कोशिश में रहे। और अब भी हमारी प्रगति उत्साहवर्द्धक नहीं कही जा सकती। हम घरेलू मामलों के चक्कर में ही बुरी तरह फँसे हुए हैं और निकम्मे सरकारी कर्मचारी वास्तव में अमरीकी पैमाने पर हमारी जनता और साधनों को एकत्र करने में असफल रहे हैं। परन्तु इस मामले में आप भी हम से पीछे नहीं रहे। आप भी बरसों तक ऐसे ही चक्करों में फँसे रहे हैं, हालांकि आप लड़ाई के अखाड़े के कहीं अधिक नज़दीक हैं। हम ये बातें आप पर इलज़ाम लगाने अथवा अपने मामले में कोई बहाना पेश करने की गरज़ से नहीं कह रहे, हम तो सिर्फ़ यह ज़ाहिर करने की कोशिश कर रहे हैं कि यह कहना कि, मौजूदा भयानक परिस्थिति के लिए हममें से कौन अधिक ज़िम्मेवार है, बिल्कुल बेमानी चीज़ है।

"निस्संदेह इंग्लैण्ड का कोई भी स्त्री-पुरुष यह नहीं कह सकता कि हमारा इरादा इंग्लैण्ड को उसके इस ऐतिहासिक संघर्ष में पूर्ण सहयोग देने का नहीं है अथवा नहीं रहा है। भले ही हमने यह सहयोग देर से दिया हो। इस सवाल पर हमने दलबन्दी से कभी काम नहीं लिया। १६४० के चुनावों में भी रिपब्लिकन दल के नेताओं ने अमरीका की सरकार की धुरीराष्ट्र-विरोधी और ब्रिटेन की पक्षपाती नीति का समर्थन किया था। यहां तक कि १६४१ में उधार-पट्टे की क्रांतिकारी प्रणाली भी दलगत प्रश्न नहीं बन सकी। निस्सन्देह आप उधार-पट्टे के अंतर्गत हमें महत्वपूर्ण सहायता दे रहे हैं। फिर भी आपसे हमें खरबों रुपया देना बाकी है और अभी न मालूम आपको कितने खरबों और रुपया देना होगा। शायद आपका यह ख़याल है कि हमें पहली लड़ाई में आपका कर्ज़ा माफ़ कर देना चाहिये था शायद हमें ऐसा करना चाहिये था। लेकिन सच तो यह है कि आपने यह कर्ज़ हमें कभी अदा ही नहीं किया और फिर भी हमने आपको उधार-पट्टे के अन्तर्गत मदद देना मंजूर कर लिया।

"आपसे ये अप्रिय और कड़वी बातें हम इसलिए नहीं कह रहे कि हमें पैसे से इतना मोह है, जितना कि आप ख़याल करते हैं, बल्कि यह साबित करने के लिए कि हम हर मुसीबत उठाकर भी आपकी मदद करना चाहते हैं। अगर इससे भी आपको संतोष न हुआ हो तो कम-से-कम आपके

महान् नेता श्री विंस्टन चर्चिल के उन भाषणों से तो इंग्लैण्ड के हर व्यक्ति को यकीन हो गया होगा जो उन्होंने अमरीका के लड़ाई में शामिल होने के बाद दिये हैं कि हम लोग आपके पक्ष में शामिल होगए हैं। कारण कि श्री चर्चिल ने यह कहा था कि निस्संदेह हांगकांग, सिंगापुर और पूर्वी-द्वीप समूह हमारे हाथ से निकल गए हैं फिर भी उन्हें इस बात का दुःख नहीं, क्योंकि अमरीका तो उनके साथ होगया है। और यह लाभ इस हानि से कहीं अधिक अच्छा है।

"सम्भव है कि हम अमरीकियों में इस बारे में कुछ मत-भेद रहा हो कि हम किस बात के लिए लड़ रहे हैं, लेकिन हमारे सामने एक बात बिलकुल साफ और निश्चित है कि हम ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए नहीं लड़ रहे। यद्यपि हम यह बात इतनी रुखाई से नहीं कहना चाहते, लेकिन हम आपको धोखे में भी नहीं रखना चाहते। अगर आपके युद्धकला-विशारद ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने की योजनाएं बना रहे हैं तो उन्हें एक न एक दिन यह पता लग जाएगा कि इस काम में और कोई दूसरा उनका हाथ नहीं बँटाने जा रहा।

"इसलिए लड़ाई में आपके साझेदार के तौर पर हम आप से एक ठोस रिआयत चाहते हैं। आप इस गरज से लड़ाई लड़ना छोड़ दें कि आप अपने साम्राज्य को ज्यों का त्यों कायम रखना चाहते हैं, बल्कि आप इस उद्देश्य से रूस और अपने अन्य सहयोगियों से मिलकर युद्ध में लड़िए कि हमें हर मुमकिन तरीके से यह लड़ाई जीतनी है। लड़ाई जीत लेने के बाद फिर ब्रिटिश जनता यह फैसला करले कि उसे अपने साम्राज्य का क्या करना है (पर यह निश्चित रखिए कि हमें साम्राज्य से कोई वास्ता नहीं है)। लेकिन अगर आप संयुक्तराष्ट्रों की जीत के बल पर अपने साम्राज्य से चिपके रहना चाहते हैं तो निश्चय ही आप हार जाएंगे। इसलिए कि आप हमारा साथ खो बैठेंगे।

"हां, अलबत्ता इन बातों को देखकर आप हमसे यह मांग कर सकते हैं कि आखिर हम किस तरह की लड़ाई लड़ना चाहते हैं। संक्षेप में, दो तरह की लड़ाइयां होती हैं। एक तो वह जो हम वास्तव में लड़ रहे हैं और दूसरी वह जो हमें जीतने के लिए लड़नी चाहिये।

"जो लड़ाई हम वास्तव में लड़ रहे हैं, वह केवल अमरीका के बचाव की लड़ाई है। इससे अधिक और कुछ भी नहीं। जिस प्रकार इंग्लैंड के बचाव के लिए हर व्यक्ति बड़ी से बड़ी मुसीबत उठाने को तैयार है, उसी तरह अमरीका भी अपने बचाव के लिए बड़ी-से-बड़ी मुसीबत उठाने को कटिबद्ध है। लेकिन इस तरह की दोनों की लड़ाई से तो सिर्फ हिटलर को ही फायदा पहुंच सकता है। और अगर वास्तव में धुरी-राष्ट्रों को परास्त करना चाहते हैं तो हमें इंग्लैंड या अमरीका के बचाव का खयाल छोड़कर किसी बड़े आदर्श और उद्देश्य के लिए लड़ना होगा।

"हो सकता है कि हम अमरीकी लोग बड़े अजीब लोग हों। आप हमें ज़रा अधिक व्यावहारिक—डालर-प्रेमी, स्वचालित गाड़ियां, और इंजनवाले तथा इंजीनियर समझते हैं। ठीक है, हम व्यावहारिक जरूर हैं। लेकिन आप हमें तब तक बिलकुल ही नहीं समझ सकते जबतक कि आप यह न महसूस करलें कि हमारे लिए सिद्धान्तों का कितना महत्त्व और मूल्य है। पहले तो हम आप से ही सिद्धान्तों पर लड़े हैं। हमारा इतिहास आपको बताएगा कि एक बार हमने काले रंग के लोगों की आज़ादी के सिद्धान्त की रक्षा के लिए स्वयं अपने ही ५,००,००० आदमियों को मौत के घाट उतार दिया। और यह छिपाकर रखने से कोई फायदा नहीं कि अमरीका इस लड़ाई में केवल उसी हालत में सर्वांगीण सहायता करेगा जब कि उसे यह विश्वास होजाय कि यह लड़ाई उन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए लड़ी जा रही है, जिनमें अमरीका के निवासियों का दृढ़ विश्वास है

और साथ ही उन्हें यह विश्वास भी होजाए कि ये सिद्धान्त, उस समय की तुलना में जबकि लड़ाई छिड़ी थी, और भी दृढ़ होगए हैं।

"हो सकता है कि आप यह एतराज करें कि हमने इन सिद्धान्तों को इतना स्पष्ट नहीं किया जितना कि आपने। और ऐसा एतराज करना ठीक भी है। लेकिन हम आपको साफ-साफ बता देना चाहते हैं कि इसकी एक वजह यह है कि हमें यह यकीन नहीं कि अगर हम इन सिद्धान्तों को स्पष्ट भी करदें तब भी आप उनके लिए लड़ सकेंगे। मिसाल के तौर पर हम महसूस करते हैं कि आपके सामने हिन्दुस्तान एक टेढ़ी समस्या है लेकिन हमारा यह यकीन नहीं कि आज तक आपने उस समस्या को हल करने के लिए जो भी कदम उठाया है वह किसी भी सिद्धान्त पर आधारित था। हिन्दुस्तान में आप जो-कुछ कर रहे हैं उसे देखते हुए भला आप हमसे 'सिद्धान्तों' के बारे में कुछ कहने की उम्मीद या हमारे सैनिकों के बारे में कुछ कहने की हिम्मत क्योंकर रख सकते हैं ?

"हमारी राय में ही नहीं, बल्कि अधिकांश अमरीकियों की भी यही राय है कि इस लड़ाई का एक आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि अगर कोई राष्ट्र स्वाधीन होना चाहता है तो वह अकेले स्वाधीन नहीं हो सकता—उसे औरों के साथ ही स्वाधीन होना पड़ेगा। अपनी आजादी हासिल करने के लिए हम यह कोशिश कर रहे हैं कि दूसरे भी आजाद होजाएं। और हममें से अधिकांश इसी सिद्धान्त पर इस लड़ाई में लड़ने को तैयार हैं। जब हम में से अधिकांश इसे संयुक्तराष्ट्रों के युद्ध की संज्ञा देते हैं तो इससे हमारा वास्तविक अभिप्राय यही होता है। हम यह समझते हैं कि यह लड़ाई आजाद लोग ही लड़ रहे हैं और इसलिए लड़ रहे हैं कि आजादी को और भी दृढ़ता के साथ कायम रखा जा सके और उसे और भी अधिक व्यापक रूप दिया जा सके। और हममें से अधिकांश यह अनुभव भी करने लग गए हैं कि सिर्फ इसी तरह की लड़ाई लड़कर हम वास्तविक विजय प्राप्त कर सकते हैं।

"और यही बात हम सीधे और साफ शब्दों में इंग्लैंड के लोगों से कह रहे हैं। अगर आप हमें अपने पक्ष में रखना चाहते हैं तो आप हमारी बातों को मान लीजिए। अगर आप ऐसा करेंगे तो आप जान जाएंगे कि हमारा पक्ष भारी है। यह हमेशा से भारी रहा है। यह ब्रिटिश राज से भी बड़ा है। यह ब्रिटिश साम्राज्य से भी बड़ा है। यह हम दोनों की संयुक्त शक्ति से भी बड़ा है। आप देखेंगे कि हमारा पक्ष एशिया के मैदानों, अफ्रीका के रेगिस्तानों, मिसिसिपी नदी की घाटियों और तटवर्ती स्थानों तथा टेम्स नदी के तटवर्ती स्थानों में भी विद्यमान् है। हमारा पक्ष आकाश से भी अधिक बड़ा और व्यापक है।"

इन सब बातों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि अमरीका में हवा का रुख़ किधर था। लेकिन इसका श्रेय अमरीका के प्रसिद्ध लेखक और पत्रकार श्री लुई फिशर को है। आप ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अमरीका पहुँचकर भारतीय आन्दोलन के सम्बन्ध में विस्तृत समाचार अपने देशवासियों तक पहुंचाए। उस समय भारत में दमन-चक्र ज़ोरों पर चल रहा था। आपने अमरीका पहुंचकर वहां के लोगों को बताया कि इस आन्दोलन के पीछे कौन-कौन शक्तियां काम कर रही हैं और इसकी वास्तविकता क्या है ? आपने ही मुख्यतः अमरीका का जनमत भारत के पक्ष में तैयार किया। श्री लुई फिशर ने अमरीका के सुप्रसिद्ध पत्र 'नेशन' में क्रिप्स-मिशन की असफलता और कांग्रेस के प्रस्तावित जन-आन्दोलन के सम्बन्ध में एक लेख-माला लिखी। क्रिप्स मिशन की असफलता का ज़िक्र हम क्रिप्स से सम्बन्ध रखनेवाले अध्याय में सविस्तार कर चुके हैं। एक प्रकार से

क्रिप्स की यह असफलता कांग्रेस के प्रस्तावित सामूहिक आन्दोलन की भूमिका कही जा सकती है। क्रिप्स के वापस चले जाने के बाद भारत और उसकी जनता की जो हालत हुई उसका और अमरीका के लेखकों-द्वारा उसकी समीक्षा का उल्लेख भी हम पहले अध्यायों में कर चुके हैं। श्री लुई फिशर जून १६४२ में एक सप्ताह तक सेवा-ग्राम में गांधीजी के सहवास में रहे, उसके बाद वे वाइसराय से मिले और उनसे गांधीजी से हुई बातचीत के प्रकाश में भारतीय राजनीतिक परिस्थिति पर विचार-विनिमय किया। इसके बाद आपने भारतीय स्थिति के बारे में अपनी स्वतन्त्र राय कायम करके इन बातों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला, जो भारत में उठनेवाले तूफान की पूर्वभूमिका कही जा सकती थीं। भारत के वाइसराय लार्ड लिनलिथगो पहले व्यक्ति थे जिन्होंने श्रीफिशर के सामने यह स्वीकार किया कि "गांधीजी भारत में सब से बड़े व्यक्ति हैं" और श्री फिशर उनके साथ एक सप्ताह तक रह चुके थे। आपने बताया कि बर्मा की सेना के सेनापति जनरल एलग्जेंडर ने अपनी एक भेंट में बर्मा की पुनर्विजय पर बहुत ज़ोर दिया। उन्होंने कहा कि यह ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग है और वे इस साम्राज्य की रक्षा के लिए ही लड़ रहे हैं। जनरल वेवल ने श्री फिशर से कहा कि, "श्री चर्चिल मिस्र की स्वाधीनता के सब से बड़े और कट्टर विरोधी रहे हैं और १६३५ के भारतीय विधान का, जिसके अंतर्गत भारत को थोड़ा-बहुत स्वायत्त शासन दिया गया है, कामन सभा में प्रमुख विरोध भी श्री चर्चिल ने ही किया था। उस समय वे विरोधी दल के नेता थे।" आगे श्री फिशर ने भारत के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि किस तरह से इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप हमारे सामने यह सवाल उठ खड़ा हुआ है कि आखिर हम किस बात के लिए लड़ रहे हैं" और जब उन्होंने गांधीजी से यह कहा कि "हम संसार को एक बेहतर और अच्छा संसार बनाने की कोशिश कर रहे हैं" तो गांधीजी ने उत्तर दिया कि "मुझे सन्देह है कि ऐसा हो सकेगा। मैं तो तत्काल इंग्लैण्ड और अमरीका में हृदय-परिवर्तन देखना चाहता हूँ। और केवल उसी हालत में मैं आपके वक्तव्य पर यक़ीन कर सकूंगा।" इस तरह गांधीजी ने दो राष्ट्रों को युद्ध में उनकी नैतिक परिस्थित के बारे में दुविधा में डाल दिया। श्री फिशर का कहना है कि "गांधीजी जापान या धुरीराष्ट्रों के हिमायती नहीं हैं। वे तो ब्रिटेन के पक्षपाती हैं। चीन के पक्षपाती हैं। अमरीका के पक्षपाती हैं। वे चाहते हैं कि लड़ाई में जीत हमारी ही हो। लेकिन उनका ख़याल है कि जब तक हम अपने युद्ध-उद्देश्यों को पवित्र बनाकर इस कार्य में भारतीयों की सहायता नहीं प्राप्त कर लेते तब तक हम नहीं जीत सकते।" इसके बाद श्री फिशर ने समस्त भारत में व्याप्त ब्रिटिश-विरोधी भावना का उल्लेख करते हुए हवाई सेना के एक बंगाली मुसलमान का ज़िक्र किया है जिसने अंग्रेज़ों की ज़ोरदार निन्दा करते हुए उनसे कहा—"हम इतने लम्बे अर्से से गुलाम चले आते हैं कि बहुतों को इस बात की फ़िक्र ही नहीं कि हमारा मालिक कौन है।" वे जिस भी अंग्रेज़ से मिले उसने यही कहा कि भारत इससे पहले कभी इतना कट्टर ब्रिटिश-विरोधी नहीं रहा है। "यह समस्या हम गांधीजी को अमरीका में बदनाम करके या पूना में बन्द करके नहीं हल कर सकते। आख़िर बर्मा में तो कोई गांधी नहीं था।"

युद्ध की अप्रियता को देखते हुए फिशर ने यह सुझाव पेश किया कि "लन्दन और नयी दिल्ली में ब्रिटिश सरकार का पहला कर्तव्य भारतीय नागरिकों की सहायता प्राप्त करना होना चाहिये था। क्रिप्स ने इसकी कोशिश की। लेकिन वे ब्रिटेन के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञों के सहयोग से वंचित रहे।" फिशर ने इस बात पर ज़ोर दिया कि गांधीजी, नेहरूजी और अन्य कांग्रेस-नेता

व्यापक रियायतें देने को तैयार हैं और आपने बताया कि किस तरह गांधीजी "भारत-छोड़ो" की अपनी मांग में कमी करके यह मानने [illegible] कि अमरीका और ब्रिटेन भारत में अपनी सशस्त्र सेनाएं रख सकते हैं और भारत को धुरीराष्ट्रों के विरुद्ध एक प्रमुख सैनिक अड्डे के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं। "लेकिन अंग्रेज़ों ने अपने दिल और दिमाग़ से काम लेना बन्द कर दिया है। मुझे यक़ीन है कि उन्होंने यह फैसला कर लिया है कि गांधीजी का प्रभाव कम होता जा रहा है और उनकी शक्ति को तहस-नहस करने का यही एक सुनहरा अवसर है।" आगे फ़िशर ने प्रश्न किया है कि "लेकिन अगर अंग्रेज़ गांधीजी के आन्दोलन को कुचलने में सफल भी हो गए तो उनके हाथ क्या आएगा? तब भारत उनका और भी कट्टर विरोधी, क्षुब्ध और निराश हो जाएगा और वह आसानी से जापान और जर्मनी का शिकार बन जाएगा। अगर उन्होंने गांधीजी को कुचलने की कोशिश की तो प्रजातन्त्र और स्वाधीनता के लिए लड़ी जानेवाली इस लड़ाई में हमारी एक महानतम सफलता यह होगी कि हम प्रजातन्त्र और स्वाधीनता के एक बड़े और विश्व-विख्यात् आन्दोलन को कुचल कर रख देंगे।" भारतस्थित बड़े-बड़े अंग्रेज़ अधिकारियों ने फिशर को बताया कि अगर भारत पर आक्रमण हुआ तो उन्हें भारतीयों के सहयोग पर बहुत अधिक विश्वास नहीं है। फिशर ने लिखा है कि "इससे साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि वे क्यों दुश्मन पर हमला करने की बजाय गांधीजी पर भी आक्रमण करना चाहते थे। लेकिन हाल में उन्होंने पूर्व की सैनिक और नागरिक समस्याओं के सम्बन्ध में इतनी गलतियां की हैं कि हम उनकी विवेक-बुद्धि पर यक़ीन नहीं कर सकते।" अपने प्रथम लेख के अन्त में श्री फिशर ने फिर इस बात पर ज़ोर दिया है कि गांधीजी में प्रतिशोध की भावना कतई नहीं है और आगे आपने पंडित नेहरू की एक सभा का ज़िक्र किया है जिसमें उन्होंने कहा था—"कि मैं स्वयं जापान के खिलाफ तलवार उठाकर लड़ूंगा।" लेकिन आपकी राय है कि ब्रिटेन को अपना रुख बदलने के लिए किसी बाहरी शक्ति की प्रेरणा चाहिये और यह प्रेरणा उसे केवल अमरीका से ही हासिल हो सकती है। "भारत अमरीका के युद्ध-उद्देश्य को परखने की एक कसौटी है।"

अपने दूसरे लेख में फिशर ने इस प्रश्न को फिर उठाया है कि गांधीजी का दृष्टिकोण कितना औचित्यपूर्ण है और लिखा है कि जब मैंने उनसे यह सवाल किया कि अगर चीन और रूस ने उनसे अपना आन्दोलन शुरू न करने की अपील की तो वे क्या करेंगे? इस पर गांधीजी ने कहा, "उन्हें आप मुझ से अपील करने दीजिए। हो सकता है कि मैं उनकी बात मान लूँ। अगर आपकी पहुँच अधिकारियों तक है तो आप उनसे यह कह दीजिए।" फिशर ने पूछा, "क्या आप मुझे यह बात वाइसराय से कहने की इजाज़त देंगे?" गांधीजी ने उत्तर दिया, "हां, अवश्य। आपको वाइसराय से यह बात कहने की मेरी ओर से पूरी इजाज़त है। उन्हें आप मुझ से बात-चीत करने दीजिए। हो सकता है कि मैं उनकी बात मानलूँ।" श्री फिशर वाइसराय से मिले और उनसे कहा कि गांधीजी का रुख समझौता करने का है, अड़ंगा डालने का नहीं; और स्वयं गांधीजी के शब्दों को आधार मानकर उन्होंने समझौते की एक संभावित रूपरेखा भी तैयार करके उनके (वाइसराय) सामने पेश की। आगे फिशर ने लिखा कि, "मैंने वाइसराय से कहा कि बेहतर होगा अगर वे किसी कांग्रेसी नेता से इस मामले में बात-चीत करें। लेकिन वाइसराय ने उत्तर दिया कि यह खयाल बड़ी भारी नीति का है जिसका निर्णय बहुत-सी बातों को ध्यान में रखकर करना होगा।" प्रधान रूजवेल्ट के नाम अपना पत्र श्री फिशर को देते हुए गांधीजी ने उनसे कहा, "आप अपने प्रधान से जाकर कहिये कि वे मुझे समझाने की कोशिश करें।" अन्त में श्री फिशर

ने लिखा है कि "गांधीजी किसी हालत में दंगे और अव्यवस्था को नहीं चाहते थे। उन्होंने इनके खिलाफ जनता को चेतावनी दी। गांधीजी, पंडित नेहरू और अन्य कांग्रेसी नेताओं को जेल में डाल देने और सत्याग्रह-आन्दोलन को दबा देने से भारतीयों को अंग्रेजों का अधिक पक्षपाती अथवा युद्ध के हिमायती नहीं बनाया जा सकता। किसी-न-किसी व्यक्ति को अनियमित रूप से शीघ्र ही और उत्साह के साथ कदम उठाना होगा। ऐसे व्यक्ति केवल प्रधान रूजवेल्ट ही हो सकते हैं। उन्हें सिर्फ यह कोशिश करनी चाहिये कि वे ब्रिटिश सरकार को गांधीजी से बातचीत करने के लिए राजी कर लें। गांधीजी स्वयं बातचीत करलेंगे। उन्हें उसकी परवाह नहीं है। वे पहले भी ऐसा कर चुके हैं। वे बड़े धार्मिक और क्षमादान करनेवाले हैं।"

× × × ×

अपनी इस लेख-माला के तीसरे लेख में श्री फिशर ने जमशेदपुर में टाटा के कारखाने के सम्बन्ध में बड़े महत्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटना करते हुए कुछ स्पष्ट बातें हमारे सामने उपस्थित की हैं।

"अगस्त के तीसरे सप्ताह में भारतीय मजदूरों ने गांधी जी की रिहाई की मांग की और उन्होंने टाटा के गोला-बारूद के कारखाने में हड़ताल करदी। यह कारखाना ब्रिटिश साम्राज्य में इस्पात का सबसे बड़ा कारखाना है। किसी भी समाचार-पत्र में इस-बारे में कोई खबर नहीं छपी। नई दिल्ली के अर्द्ध-सरकारी दैनिक 'स्टेट्समैन' ने स्वीकार किया है कि "सारे भारत में दंगे और तोड़-फोड़ का काम इतने व्यापक पैमाने पर हो रहा है कि ब्रिटिश सरकार ने उसकी कल्पना तक भी नहीं की थी।

"भारत के राष्ट्रीय क्षेत्रों की यह राय है कि सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन तो अभी शुरू ही हुआ है...।"

"हाल में मुस्लिम लीग के प्रधान श्री मोहम्मद अली जिन्ना ने बम्बई में मुझे बताया कि अगर कांग्रेस ने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन प्रारम्भ किया तो हिन्दुओं और मुसलमानों में ज़ोरदार दंगे होंगे। अब तक इस तरह की किसी घटना का समाचार नहीं मिला। सच्ची बात यह है कि प्रायः सभी भारतीय अपने देश को आजादी चाहते हैं और कोई भी भारतीय दल अथवा नेता इसे हासिल करने में रुकावट नहीं बनना चाहता। कांग्रेस के नेताओं का कहना है कि सांप्रदायिकतावादी बहुत से सिक्ख और मुसलमान इस आंदोलन में उनकी मदद कर रहे हैं।

"भारत के भीतर और बाहर अंग्रेज भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ किसी क़िस्म का भी समझौता करने को तैयार नहीं हैं। वे सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन को कुचल देना चाहते हैं। उनका ख़याल है कि अगर उन्होंने भारत के साथ समझौता करने को कोई तत्परता दिखाई तो उनकी प्रतिष्ठा को, जो हांगकांग, मलाया, सिंगापुर और बर्मा में उनकी सैनिक पराजयों के कारण पहले ही काफी कम हो गई है, और भी बट्टा लगेगा। लेकिन अगर यह अव्यवस्था फैल गई तो क्या एक महीने अथवा छः सप्ताह के भीतर फिर अंग्रेजों को नहीं झुकना पड़ेगा? और तब उनके लिये और भी अधिक बुरा होगा।

"अंग्रेजों ने इस निराशापूर्ण सम्भावना के प्रति आंखें मूंद रखी हैं और यह कह रहे हैं कि भारतीय आन्दोलन को कुचलने के लिये उन्हें समय को ज़रूरत है।

मान लीजिए कि गोलियों, बेंतों और कोड़ों की मार के डर से कुछ समय के लिए भारतीय दब भी जाएं, तो क्या उसके बाद वे फिर नहीं उठ पाएंगे? संयुक्त राष्ट्रों को तो जरूरत इस

बात की है कि भारतीय जनता सक्रिय रूप से उनकी मदद करे।

"उन्हें यह मदद मिल सकती थी। इस समय समस्त भारत में भारतीय भावना को व्यक्त करने का बहुधा एक ही शब्द आप को सुनाई देगा—'निराशा।' मैंने यह शब्द कांग्रेसी नेताओं, भारतीय औद्योगिकों, शिक्षकों, विद्यार्थियों और सैनिकों के मुंह से सुना। यह निराशा मनुष्य की काम करने की इच्छा और काम करने की उसकी योग्यता के अन्तर के फलस्वरूप पैदा होती है।

"भारतीय अपने देश का बचाव करने के लिए उत्सुक हैं। लेकिन अपने अंग्रेज मालिकों के सहयोगी के रूप में वे यह काम नहीं कर सकते। सरकारी वक्तव्यों से जाहिर होता है कि क्रिप्स-द्वारा समझौतों की बातचीत इसलिए असफल रही कि भारतीय अपने देश की रक्षा में अधिकाधिक भाग लेना चाहते थे और श्री क्रिप्स इसके विरोधी थे। अगर भारतीयों को इस लड़ाई में लड़ने की पूरी स्वतन्त्रता होती तो निराशा की यह भावना खत्म हो जाती और उसकी जगह आनन्द, खुशी और साहस की एक लहर-सी दौड़ जाती जिससे संयुक्त राष्ट्रों को बड़ी मदद मिलती।

"अमरीकी लोग स्वभावतः उपनिवेशों में रहनेवाली जनता की स्वाधीनता के समर्थक हैं। लेकिन इस डर से कि कहीं भारतीयों के रुख के कारण लड़ाई का स्वरूप न बदल जाय, वे साम्राज्यवाद के पंजे से मुक्ति पाने की भारतीय चेष्टा के प्रति कुछ उदासीन से दिखाई देते हैं। परन्तु इस समय अमरीकियों में पहली भावना फिर से जोर पकड़ती जा रही है, क्योंकि बहुत से लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि अंग्रेजों को गांधीजी-द्वारा किया गया समझौते का आग्रह ठुकराना नहीं चाहिये था।

"अमरीका की सिनेट और प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों के पास बड़ी संख्या में पत्र पहुँच रहे हैं जिन में भारत के मामले में अंग्रेजों की अड़ंगा-नीति की शिकायतें को गई हैं। खतरा यह है कि युद्ध के हिमायतियों के रूप में पेशेवर अंग्रेज और धुरी-राष्ट्रों के अमरीकी दोस्त भारतीय समस्या से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश करेंगे। और इसकी हमें रोक-थाम करनी होगी।

"मैं भारत के बारे में इंगलैण्ड के आलोचना इसलिए करता हूं कि मैं इंगलैण्ड का दोस्त हूँ और आशा करता हूँ कि वह स्वयं अपनी मूर्खता से बच जाएगा। अमरीकी लोग निजी रूप से भारत के बारे में चाहे जो कुछ भी कहें—इस पर किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती—लेकिन अगर इस बारे में सिनेट या प्रतिनिधि-सभा में कोई प्रस्ताव पेश करने की कोशिश की गई तो उससे बृटिश सरकार चिढ़ जाएगी और भारत को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा। अगर अमरीका को सरकारी तौर पर इस मामले में हस्तक्षेप करना है तो वह विवेकपूर्ण और गैर-रस्मी तौर पर होना चाहिये।

"लेकिन फिलहाल अमरीका की सरकार बृटेन की हठधर्मी के बारे में बिलकुल चुपचाप बैठी है और भारतीय मामले को सुलझाने की कोई चेष्टा नहीं कर रही। इस तरह की नाजुक और पेचीदा परिस्थिति को सुलझाने के लिए हमें कूटनीति और नम्रता से काम लेना होगा। हो सकता है कि इसके कारण लड़ाई कई बरसों तक लम्बी खिंच जाए और हमलोग संकट में पड़ जाएं। अन्य दोस्ती पर आंच आए बिना भी एक जोरदार और जबरदस्त दोस्त के कान खींचे जासकते हैं।

"अंग्रेज जानते हैं कि अमरीका कुछ करना चाहता है, लेकिन उन्हें सन्देह है कि इन दोनों देशों के सम्बन्ध शायद यह भार न उठा सकें।

"वास्तव में भारत हमारी समस्या है और सरकार भारतीय समस्या के बारे में परेशान है। परन्तु हम ब्रिटेन का खयाल करके इस मामले में हाथ नहीं डाल रहे। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है और इस से इंगलैंड को चिंतित होना चाहिये। अंग्रेज भारत में अपनी 'प्रतिष्ठा' और अधिकार बनाए रखने की फिक्र में हैं। उनका ख्याल है कि सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन के दमन-द्वारा वे भारत में अपनी सत्ता को कायम रखकर उसकी रक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ बना रहे हैं। लेकिन मेरी राय इसके सर्वथा विपरीत है।"

श्री लुई फिशर १९४३ में अमरीका में भी भारत के पक्ष का समर्थन करते रहे। गांधीजी के उपवास की नाजुक घड़ी में भी उन्होंने २३ फरवरी १९४३ को सेन-फ्रांसिस्को में भारत के पक्ष का समर्थन करते हुए एक भाषण दिया। इस अवसर पर भी उन्होंने भारत के सम्बन्ध में प्रचारित बहुत-सी भ्रान्त धारणाओं को दूर करने की चेष्टा की और जुलाई १९४२ में भारत के अपने दौरे के साथ उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण जानकारी हासिल की थी उसके आधार पर भारत की वास्तविक स्थितिको अमरीकी जनताके सामने रखनेकी कोशिश कीं। उन्होंने कहा कि उनका विचार है कि भारत की मुख्य समस्या आर्थिक है, जिसका सम्बन्ध भारत के लाखों-करोड़ों मनुष्यों से है। भारत की जनसंख्या हर साल ५० लाख बढ़ जाती है और इनमें से केवल १० लाख आदमियों को ही हर साल नौकरी मिल सकती है। खाद्य और कपड़े के उत्पादन में जनसंख्या के अनुपात से वृद्धि नहीं हो पाती। किसान किसी सवाल का जवाब नहीं देना चाहते; लेकिन वे यह कहते हैं कि हम भूखे हैं। जब कोई दर्शक भारत में जाता है तो उसे चारों ओर असंतोष, दुःख, गरीबी और निराशा ही दिखाई देती है। स्वयं वाइसराय ने भी फिशर से कहा कि इससे पहले भारत कभी ब्रिटेन का इतना कट्टर विरोधी नहीं रहा।"

लुई फिशर ने यह भी बताया कि किस प्रकार एक भोज के अवसर पर लेडी लिनलिथगो ने उनसे पूछा कि क्या यदि भारत को स्वाधीनता दे दी गई तो वह अपना शासन-प्रबन्ध स्वयं चला सकेगा?

सभी जगह लोग प्रतिष्ठापूर्वक और आजाद होकर जीवन बिताना चाहते हैं जैसा कि एक समय अमरीका के लोग चाहते थे और संसार की कुल जन-संख्या का आधा भाग, जो चीन और भारत में रहता है, भी ऐसी ही जिन्दगी बिताना चाहता है। गांधीजी भारत की स्वाधीनता की इस सर्वव्यापक आकांक्षा के प्रतीक हैं। वे भारत की स्वाधीनता के लिये ही जी रहे हैं और इसी में उनका अस्तित्व भी निहित है।

वाइसराय ने श्री फिशर से यह भी कहा कि "भारत में ब्रिटिश सेना का मुख्य काम देश पर कब्ज़ा रखना है।" फिशर ने कहा है कि "क्या इन परिस्थितियों में अमरीका किसी भी हथियार से विदेशी आक्रान्तता के खिलाफ़ लड़ने को तैयार नहीं होगा? गांधीजी सच्चे अर्थों में ईसाई हैं। उनका प्रभाव क्षीण नहीं हो रहा। उनके उपवास से भारत का कोना-कोना हिल गया है और भारत का आत्म-बलिदान और त्याग में दृढ़ विश्वास है। उपवास के दौरान में गांधीजी की रिहाई के प्रश्न पर वाइसराय की शासन-परिषद् के दस भारतीय सदस्यों में से जिन तीन ने अपने पदों से इस्तीफा दिया है उनमें से सर एच० पी० मोदी एक लखपती पारसी हैं और उन्होंने यह अनुभव किया कि वे अँग्रेजों के साथ सहयोग नहीं कर सकते। इसी प्रकार भारत के लाखों दूसरे व्यक्ति

"अंग्रेजों से घृणा करते हैं और उनका स्पर्श तक भी नहीं करना चाहते। गांधीजी के उपवास का एशिया भर में व्यापक प्रभाव पड़ेगा।" फिशर ने गांधीजी से १९४२ में मुलाक़ात की थी। उस समय गांधीजी केवल समझौता कर लेना चाहते थे। उन्होंने सार्वजनिक रूप से अपनी मांगें कम कर दी थीं। इस साल गर्मियों में उन्होंने दो बार वाइसराय से भेंट करने की प्रार्थना की, लेकिन उसे ठुकरा दिया गया। (अगर जून में श्री फिशर को ऐसी सूचना मिली थी तो साफ ज़ाहिर हो जाता है कि गांधीजी ने जुलाई में कार्यसमिति की बैठक होने से भी पहले वाइसराय से मुलाक़ात करने की कोशिश की थी। जुलाई की इसी बैठक में ही कार्यसमिति ने अपना वह प्रस्ताव पास किया था, जिसकी अनुमति बाद में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने बम्बई में दी।) वाइसराय के इस रुख़ की वजह बड़ी साधारण-सी थी। फिशर ने लिखा है, "जिस समय श्री चर्चिल ५५ वर्ष के थे तो उन्होंने कहा था—और उसके बाद से उनमें रत्ती-भर भी परिवर्तन नहीं आया—कि "सत्य तो यह है कि एक दिन हमें गांधीवाद और उन सब बातों से जिनका वह प्रतीक है—दो-दो हाथ होना पड़ेगा और उन्हें कुचल कर रख देना होगा।" और अब चर्चिल को पहली बार अधिकृत रूप से गांधीजी से निबट लेने का मौक़ा मिला है। अंग्रेजों ने गान्धीजी और भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन को कुचलकर रख देने का दृढ़ निश्चय कर लिया है।

श्री फिशर ने यह भी बताया कि मार्शल चांगकाई शेक ने श्री चर्चिल और प्रधान रूजवेल्ट को स्पष्ट रूप से कह दिया है कि स्वतन्त्रता के लिए लड़े जानेवाले इस युद्ध के दौरान में भारतीय स्वतन्त्रता के महान् आन्दोलन को दबा देने की कोशिश करने का एक ही परिणाम होगा कि सम्भवतः सारा ही एशिया धुरीराष्ट्रों के पक्ष में हो जाए।

फिशर ने गांधीजी को अच्छी तरह से समझ लिया था और उनका कहना है कि गांधीजी जो-कुछ भी सोचते हैं उसे साफ़ कह देते हैं। उदाहरण के तौर पर उन्होंने बताया कि सोमवार का उपवास गांधीजी ने इस तरह से शुरू किया कि अकसर हज़ारों की तादाद में लोग उनके पास सलाह-मशविरा करने आया करते थे और वे इन सब झंझटों से एक दिन विश्राम कर लेना चाहते थे। उन्होंने यह भी बताया कि किस प्रकार गांधीजी ने उन्हें बताया कि "मैं जापान जाकर जापानियों से समझौता करूंगा।" और इसके साथ ही उन्होंने कहा, "मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि अंग्रेज़ कदापि मुझे जापान नहीं जाने देंगे और मैं यह भी जानता हूं कि अगर किसी तरह से मैं वहां चला भी जाऊं तब भी जापानी मुझसे समझौता नहीं करेंगे।" तो फिर ऐसा कहने का क्या फायदा? फिशर की नज़रों में मार्शल चांगकाई शेक ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो यह फैसला दे सकते हैं कि कौन जापानियों का पक्षपाती अथवा विरोधी है। "मार्शल चांगकाई शेक गांधीजी के भक्त और भारतीय स्वतंत्रता के हिमायती हैं और उन्होंने हाल में बार-बार इस मामले में इस गरज़ से (जैसा कि मैं आपको पहले ही बता चुका हूं) हस्तक्षेप करने की कोशिश की है जिससे अंग्रेज़ भारत में नरमी और संयम की नीति से काम लें।"

आगे श्री फिशर ने बताया कि 'भारत-छोड़ो'-आंदोलन का सूत्रपात कैसे और क्योंकर हुआ? मलाया, सिंगापुर, हांगकांग और बर्मा में एक-दूसरे के बाद परास्त हो जाने के कारण और इस के साथ ही "भारत की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मुसीबतों, क्षोभ और कटुता" के फल-स्वरूप भारतीयों को यह विश्वास न रहा कि अंग्रेज भारत की रक्षा कर सकेंगे। इस पर प्रधान रूजवेल्ट की प्रेरणा से श्री क्रिप्स को यह मामला सुलझाने के लिए भारत भेजा गया, लेकिन वे

नाकाम रहे। फिशर ने बताया कि किस प्रकार श्री चर्चिल को उन्हें (क्रिप्स) ब्रिटेन के युद्ध-मंत्रिमण्डल में सम्मिलित करना पड़ा जिससे कि सिंगापुर के पतन और शाही वायु-सेना के देखते-देखते ही दो जर्मन राकेट जंगी जहाजों के हाथों निकल भागने के कारण उत्पन्न हुए जनता के क्षोभ को शांत किया जा सके, और किस तरह उसके बाद जब मिस्र में रोमेल परास्त हो गया और जब हमने उत्तरी अफ्रीका पर अपनी सेनाएं उतार दीं, तो उन्हें मंत्रि-मण्डल से अलग कर दिया गया। इन बातों से पता चलता है कि क्रिप्स-योजना उस चाल का ही अंग थी जिसके अनुसार क्रिप्स को असफल बनाने की चेष्टा की जा रही थी। इस प्रकार स्थिति और भी खराब हो गई। इसकी गांधीजी पर बड़ी प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने स्वाभाविक तौर पर स्वतः अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि "मैं इन बातों से ऊब गया हूं। अंग्रेज़ों को भारत से चले ही जाना चाहिये।" लेकिन उसके बाद ही वे सँभले और इसमें संशोधन करते हुए उन्होंने कहा, "अंग्रेज़ और अमरीकी भारत में रह सकते हैं, उन्हें अपनी सशस्त्र सेनाओं को संगठित करने की आज्ञा है और वे भारत को धुरीराष्ट्रों के खिलाफ़ एक सैनिक अड्डे के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं।" गांधीजी अथवा कांग्रेस की एकमात्र मांग यह थी कि, "भारत में एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित करदी जाए जो सैनिक कार्रवाइयों में दखल नहीं देगी, लेकिन जो लड़ाई में विजय-प्राप्ति के उद्देश्य से सहायता करने के निमित्ति तत्काल संयुक्त राष्ट्रों से एक समझौता करेगी।" फिशर ने बताया कि ये शब्द स्वयं गांधीजी के ही हैं।

अब रहा प्रश्न अटलांटिक-अधिकार-पत्र का। कामन-सभा में इस सवाल का जवाब देते हुए कि क्या उक्त अधिकार-पत्र की धारा ३ भारत के बारे में भी लागू होती है, श्री चर्चिल ने घोषणा की "नहीं, श्रीमन्!" श्री फिशर उस समय स्वयं पार्लमेण्ट में दर्शकों की गैलरी में उपस्थित थे। उन्होंने खुद चर्चिल को यह कहते हुए सुना। इस बारे में आपने लिखा है कि श्री हेलीफेक्स अथवा श्री हर्बर्ट मौरीसन, श्री स्मट्स अथवा श्री क्रिप्स ने बाद में चाहे जो कुछ-भी क्यों न कहा हो, लेकिन इन दो शब्दों—"नहीं, श्रीमन्"—की वैधता अथवा प्रामाणिकता पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि, इसके विपरीत १० नवम्बर, १९४२ को श्री चर्चिल ने अपने मैन्शन हाउसवाले भाषण में इसी बात पर ज़ोर देते हुए यह घोषणा की कि वे ब्रिटिश साम्राज्य की अंत्येष्टि करने के लिए सम्राट् के प्रधान मन्त्री नहीं बने हैं।

इसके बाद फिशर ने युद्ध-उद्देश्यों का ज़िक्र करते हुए कहा है कि "यह लड़ाई दुनियां का मानचित्र बदलने के लिए नहीं लड़ी जा रही, बल्कि यह तो स्वयं हमारे अस्तित्व को कायम रखने के लिए लड़ी जा रही है। यह तो हमारे जीवन के आधार-भूत सिद्धांतों की रक्षा के लिए लड़ा जानेवाला एक सामाजिक युद्ध है। हमने कैसर को परास्त किया। लेकिन हमें हिटलर का मुँह देखना पड़ा और अब हिटलर को हराने के बाद हिटलर से भी बुरा कोई और हिटलर मिल सकता है।"

इस प्रकार इन बड़े-बड़े प्रश्नों को अपने गर्भ में लिए १९४२ समाप्त हुआ और १९४३ का श्रीगणेश हुआ। नये वर्ष के प्रारंभ में २६ जनवरी को अमरीका के कई शहरों में भारतीय-स्वाधीनता-दिवस मनाया गया। यह स्मरणीय दिवस भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने १९२९ में मनाना शुरू किया था। साल में जब नौजवान एक बार इस तरह का पवित्र और महत्वपूर्ण दिवस मनाते हैं और वह भी, एक दूरस्थ प्रदेश में तो उनकी भावनाओं का विशेषरूप से उत्तेजित हो उठना सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके अलावा ऐसे वार्षिक उत्सवों पर प्रदर्शनों का

आयोजन भी स्वाभाविक ही है। कभी-कभी तो ऐसे अवसरों पर दुर्घटनाएं भी हो जाती हैं। चुनांचे इस साल न्यूयार्क और वाशिंगटन दोनों ही शहरों में इस अवसर पर प्रदर्शन किये गए।

कुछ बड़े-बड़े प्रोफेसरों ने इस अवसर पर भारतीय समस्या के बारे में अपने स्वतन्त्र और निर्भीक विचार भी जनता के सामने रखे। भारतीय आन्दोलन की अमरीका में जो प्रतिक्रिया हुई उसे जानने के लिए हमें इन विचारधाराओं का अध्ययन समीचीन प्रतीत होता है। प्रोफेसर फ्रेडरिक समन ने 'दि टाइम' नामक पत्रिका में "भारत को बचाने के लिए" शीर्षक से एक लेख में लिखा—"भारत इस बात की कसौटी है कि क्या हम में जीवित रहने का सामर्थ्य है।"

इसी प्रकार १९४३ के प्रारम्भ में हारवर्ड यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर और हारवर्ड रक्षा दल के प्रधान श्री राल्फ बार्टन पेरी ने अमरीका के स्थायी असिस्टेंट सेक्रेटरी श्री सुमनर वेल्स को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने भारतीय गतिरोध को दूर करने में अमरीका की असफलता और हस्तक्षेप न करने की नीति की आलोचना की थी। श्री सुमनर वेल्स ने तत्काल इसका उत्तर दिया और उनका पत्र प्रोफेसर राल्फ बार्टन पेरी के इस आरोप का जवाब था कि "अमरीकी सरकार की नीति का आधार सैनिक सूझ-बूझ नहीं बल्कि प्रतिक्रियावादी विचार है।" आपने अमरीका के स्वराष्ट्र विभाग को इस सम्बन्ध में अपना "वास्तविक रुख" घोषित करने की चुनौती दी। श्री सुमनर वेल्स ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा—"यह एक बड़ी जटिल और पेचीदा समस्या है। भारत के लोगों को ईमानदारी के साथ यह आश्वासन दिया गया है कि युद्ध-कालीन परिस्थितियों के अनुकूल होते ही उन्हें अपनी इच्छानुकूल और स्वतन्त्र रूप से अपनी सरकार स्थापित करने का अवसर दिया जाएगा।"

प्रोफेसर राल्फ बार्टन पेरी के कथन के जवाब में श्री सुमनर वेल्स ने भारत के बारे जो वक्तव्य दिया था, उसका जो विवरण रायटर ने तार द्वारा यहां भेजा, उसमें एक वाक्य का उल्लेख ही नहीं किया गया था। नयी दिल्ली से प्रातःकाल प्रकाशित होनेवाले समाचारपत्रों में से तीन ने तो रायटर का ही विवरण प्रकाशित किया, लेकिन "हिन्दुस्तान टाइम्स" ने अपने न्यूयार्क-स्थित संवाददाता का ही संदेश प्रकाशित किया जिसमें उसने लिखा था कि "निस्सन्देह अमरीका की सरकार भारत की जटिल वैधानिक समस्या को हल करने मे सहायता प्रदान करने को व्यग्र है।" श्री सुमनर वेल्स के प्रत्युत्तर के रूप में प्रोफेसर पेरी ने जो-कुछ कहा, उससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी पहली आलोचना वापस ले ली और ब्रिटेन तथा अमरीका में प्रचलित विचार-धारा को ही स्वीकार कर लिया। यह स्वीकार करते हुए कि भारतीय परिस्थिति के सम्बन्ध में अमरीका में अनेक तरह के विचारोंवाले व्यक्ति हैं, श्री पेरी ने कहा कि कुछ बातें ऐसी हैं जिनके बारे में आम राय एक-सी है और जैसा कि श्री सुमनर वेल्स ने माना है—"अमरीका के राष्ट्र विभाग की राय भी उन बातों के बारे में वही है। प्रथम, एक ऐसे विधान के अन्तर्गत जिसमें भारत की अपनी आवश्यकताओं और भावनाओं के अनुसार देश की शान्ति और आंतरिक उन्नति की व्यवस्था की गई हो। भारत को पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता का अधिकार है और इसके लिए अमरीका की पूर्ण सहानुभूति भारत के साथ है, क्योंकि स्वयं अमरीका को भी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए ऐसे ही संघर्ष की आवश्यकता पड़ी थी। दूसरे, जैसा कि १७८९ में अमरीका ने किया था, भारत को भी अपना विधान स्वयं ही बनाना चाहिये। तीसरे, इस प्रकार की आज़ादी को अगर कोई ख़तरा हो सकता है तो वह केवल धुरीराष्ट्रों से ही। चौथे, अंग्रेज़ों के भारत से हटजाने का परिणाम धुरीराष्ट्रों पर विजय प्राप्त करने में बाधा पहुंचाना होगा और पांचवें, अगर भारतीय

जल्दबाजी से काम न लें तो अमरीका के लोगों का यह ख़याल है कि वे भारत के लोगों को उनकी स्वाधीनता प्राप्त करने तथा सारे संसार के लिए एक स्वतंत्र व्यवस्था कायम करने में मदद पहुँचा सकते हैं और साझेदार बन सकते हैं।"

एक और तीसरे प्रोफेसर, जो सौभाग्य से हारवर्ड विश्वविद्यालय के अपने समकालीन प्रोफेसर की तरह दुविधाओं और संदेहों के शिकार नहीं हैं, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर वाल्टर फेल्पो हाल हैं, जिन्होंने 'करण्ट हिस्ट्री' पत्रिका में अपने एक लेख में इस बात पर जोर दिया कि भारत में जो-कुछ हो रहा है उससे केवल अकेले ब्रिटेन ही नहीं बल्कि सभी संयुक्तराष्ट्रों का घनिष्ट संपर्क है। इन्होंने लिखा कि "उनके नाम पर एक तरफ ब्रिटेन को अपना वाइसराय भारत से बुला लेना चाहिये, कांग्रेस-दल के साथ फिर से समझौता करना चाहिये और अमरीका तथा चीन कि एक पंचायती बोर्ड की सहायता से इस समस्या का हल ढूंढना चाहिये और दूसरी तरफ भारत से कहना चाहिये कि वह अपने असहयोग-आन्दोलन को बन्द कर दे, युद्धकाल तक के लिए उपर्युक्त पञ्चायती-बोर्ड का फैसला मान ले और सैनिक और गैर-सैनिक सभी तरीकों से जापानियों को बर्मा और चीन से मार भगाने में कोई कसर न उठा रखे।" आगे आपने कहा कि "भारतीय लोग प्रतिदिन अधिकाधिक ब्रिटिश-विरोधी बनते जा रहे हैं, लेकिन उसका मतलब यह नहीं कि वे जापानियों के हामी या पक्षपाती भी बनते जा रहे हैं। उन्हें ब्रिटेन की सद्भावना में जो थोड़ा-बहुत विश्वास भी था, उसे भी वे अब खोते जा रहे हैं। भारत की इस उदासीनता और बेरुखी से युद्ध-प्रयत्न में बाधा पहुँचती है। परन्तु संदेह की यह भावना पारस्परिक है। लेकिन यह कहने से कि गांधीजी जापानी अभिमान को स्वीकार करने को तैयार हैं जैसा कि हाल में 'पञ्च' में प्रकाशित एक कार्टून में दिखाया गया है, कोई लाभ नहीं हो सकता। इस प्रकार गांधीजी के प्रति पैदा हुई सद्भावना को नष्ट नहीं किया जा सकता। क्रिप्स का गांधीजी की सद्भावना के बारे में सन्देह प्रकट करना बड़ा सरल काम है, लेकिन उससे कोई बहुत भारी लाभ नहीं हो सकता। चर्चिल और एमरी कह रहे हैं कि कि अब और समझौते की कोई बात नहीं होगी। ऐसा करने से उनके अभिमान को धक्का लगेगा, लेकिन युद्ध और शान्ति दोनों में ही जो व्यक्ति खतरा उठाने से डरता है वह कभी सफल नहीं हो सकता। बहुत संभव है कि लड़ाई के बाद ब्रिटिश साम्राज्य को भारत से हाथ धोना पड़े। हमें इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए कि इस संघर्ष का अन्त क्या होगा। भारत को अपने अधिकार में रखने अथवा साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के दिन अब लद गए। चर्चिल और एमरी चाहे जो-कुछ भी क्यों न कहें लेकिन कोई भी व्यक्ति यह नहीं खयाल कर सकता कि अब समझौता हो ही नहीं सकता। ये दोनों व्यक्ति साम्राज्यवादी हैं और साम्राज्यवाद उनकी रगों में ठूंस-ठूंस कर भरा हुआ है। लेकिन ब्रिटेन के टोरियों अथवा अनुदारवादियों की यह विशेषता है कि परिस्थितियों को देखते हुए अन्त में उन्हें विवश होकर झुकना ही पड़ता है।

श्री एमरी का ८ अक्टूबर वाला भाषण उन भाषणों से बिलकुल मिलता-जुलता है जो १७७४-७५-७६ में कामन सभा में दिये गए थे। अब और समझौता नहीं हो सकता। बेहतर होगा अगर वे दोनों ही "अमरीका के साथ समझौते की बात-चीत" के बारे में एडमण्ड बर्क के तत्कालीन भाषणों को पढ़ें।.........इस वक्त कांग्रेस नहीं, बल्कि ब्रिटेन ही समझौता नहीं करना चाहता।"

अन्त में, हम भारत में प्रधान रूजवेल्ट के निजी दूत का उल्लेख करना चाहते हैं जिन्होंने

बंगाल, आसाम और उड़ीसा को छोड़कर लगभग चार महीने से भी अधिक समय तक इस देश के विभिन्न भागों का दौरा किया, सभी प्रकार के लोगों से बातचीत की, और भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं एवं संस्थाओं तथा उसकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन किया। वे जितने समय भी यहाँ रहे उन्होंने भारत के बारे में जान-बूझकर मौन धारण किये रखा और तटस्थ भाव से रहे। दिसम्बर १९४२ से लेकर अप्रैल १९४३ तक, जबकि उन्हें अमरीका के राष्ट्रपति ने सारी स्थिति जानने के लिए वापस बुला लिया, भारत में उनकी गतिविधियां पहले तो अत्यधिक दिलचस्पी का विषय बनी रहीं, लेकिन बाद में अत्यधिक उदासीनता का और अन्त में उल्लेखनीय सहानुभूतिका, क्योंकि प्रधान-मंत्री चर्चिल और भारत में उनके एजेण्टों ने प्रधान रूजवेल्ट के विशेष दूत के प्रति शिष्टतापूर्ण और सौजन्यपूर्ण व्यवहार नहीं किया। यह स्मरण रहे कि श्री टामस् एम० विल्सन द्वारा १९४१ में नयी दिल्ली में अमरीकी मिशन की स्थापना की गई थी और दिसम्बर १९४२ में श्री फिलिप्स को उसका चार्ज सँभालने के लिए भेजा गया।

श्री फिलिप्स ने मुस्लिम लीग के मन्त्री और बाद में उसके अध्यक्ष, हिन्दू महासभा के कुछ व्यक्तियों, कुछ बड़े-बड़े सार्वजनिक व्यक्तियों से, जिनका कांग्रेस से कोई सीधा संपर्क अथवा किसी किस्म का भी सम्बन्ध नहीं था, कुछ ऐसे लोगों से जो कांग्रेस से अलहदा हो चुके थे और खुले तौर पर उसके कार्यक्रम के विरुद्ध काम कर रहे थे, कुछ उदारदलीय नेताओं से, जो एक बीते हुए युग के प्रतिनिधि थे, कुछ निर्दलीय नेताओं से जो भारतीय राजनीति से बिलकुल अलग-थलग रहते हैं, तथा सिखों, हरिजनों और भारतीय ईसाइयों के प्रतिनिधियों से मुलाकात की। भारत-जैसे एक विशाल देश में ये दल बहुत अधिक नहीं कहे जा सकते। लेकिन फिर भी, उन सभी ने एक स्वर से एक ही बात कही होगी—अर्थात् भारत को जल्दी से जल्दी आजादी मिलनी चाहिये। लेकिन एक संगठन—(जो श्री एमरी के शब्दों में) "सबसे बड़ा, आर्थिक दृष्टि से सर्वोत्तम और व्यापक रूप से सुसंगठित संस्था," अर्थात् भारतीय राष्ट्रीय महासभा जेल की दीवारों के पीछे बन्द पड़ी थी और बाहर लोगों को आशा थी कि श्री फिलिप्स इनमें से कुछ से--कम-से-कम गांधीजी से तो अवश्य ही मुलाकात कर सकेंगे। जब अप्रैल, १९४३ के शुरू में यह समाचार मिला कि उन्हें अमरीका वापस बुलाया जा रहा है तो अमरीका के सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री एण्ड्र्यू पियर्सन ने 'वाशिंगटन मेरी-गो-राउण्ड' नामक अपने स्तंभ में घोषणा की कि "देश का व्यापक दौरा करने के बाद भी भारत के भविष्य के महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्न के बारे में श्री फिलिप्स जो रिपोर्ट पेश करने जा रहे हैं वह केवल साधारण दृष्टिकोण को व्यक्त करने-वाला विवरण ही होगा।" आपका कथन अशंतः सही और अशंतः गलत साबित हुआ। उनका यह खयाल गलत था कि अगर अमरीका का राजदूत वास्तव में कोशिश करता तो वह भारत में किसी भी व्यक्ति से मुलाकात कर सकता था। यहां तक श्री चर्चिल ने इस प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया कि श्री फिलिप्स को नेताओं से मुलाकात करने की इजाजत दी जाय। जब स्थिति इतनी नाजुक और रहस्यपूर्ण हो चुकी थी तो श्री फिलिप्स ने दुनिया के सामने ऐसा रहस्योद्घाटन किया जो एक बम-विस्फोट के समान था। श्री फिलिप्स कुछ दिन वाइसराय के साथ रहने के लिए देहरादून गए। उसी दिन देहरादून से—जो उस समय भारत-सरकार का प्रधान कार्यालय था—पत्र-प्रतिनिधियों के साथ श्री फिलिप्स की विदाई से पूर्व की मुलाकात का विवरण मिला। इस बातचीत के दौरान में उन्होंने जो कुछ हुआ था उसे साफ-साफ शब्दों में मान लिया।

एक सवाल का जवाब देते हुए उन्होंने कहा, "मैं गांधीजी से मुलाकात और बातचीत करना चाहता था। मैंने इसके लिए उचित अधिकारियों से आग्रह किया। लेकिन मुझे सूचित किया गया कि वे मुझे आवश्यक सुविधाएं प्रदान करने में असमर्थ हैं।"

'वाशिंगटन पोस्ट' को छोड़कर, जिसने दबी जबान से भारत-सरकार के रुख का समर्थन किया था—न्यूयार्क, शिकागो और यहां तक कि वाशिंगटन के अमरीकी पत्रों ने भी एक स्वर से भारत-सरकार के इस रुख की कड़ी भर्त्सना की। उदाहरण के तौर पर हम यहां वाशिंगटन के 'ईवनिंग स्टार' का एक उद्धरण पेश करना चाहते हैं। पत्र ने लिखा, "प्रधान रूजवेल्ट के निजी प्रतिनिधि श्री विलियम फिलिप्स को जेल में बन्द भारतीय नेताओं—गांधीजी और पंडित जवाहरलाल नेहरू से—जो ब्रिटेन और राष्ट्रीय भारत के झगड़े में अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं—मुलाकात करने की आज्ञा न देने के सम्बन्ध में भारत के ब्रिटिश अधिकारियों ने जो तर्क दिये हैं उन्हें समझना अत्यधिक कठिन है।"

श्री फिलिप्स निस्संदेह एक कूटनीतिज्ञ थे। वे अपनी मुलाकातों में कुछ हद तक सतर्कता से काम लेते हुए भी बड़ी विनम्रता से पेश आते। परन्तु वे अपने स्थान पर चट्टान की तरह दृढ़ रहते और लाख कोशिश करने पर भी भारतीय समस्या के बारे में अपने विचारों को संकेतमात्र से प्रकट नहीं होने देते थे। केवल एक ही बार उन्होंने अपने इस नियन्त्रण को कुछ ढीला किया। गांधीजी के उपवास के शुरू में ही (१० फरवरी, १९४३ को) उन्होंने अपना निर्धारित दौरा स्थगित कर दिया और इसी उपवास के दौरान में जो ३ मार्च को समाप्त हुआ, श्री फिलिप्स ने इसके फलस्वरूप पैदा होनेवाली स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न किये जाने पर कहा कि "भारतीय स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर अमरीका और ब्रिटेन के बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी सोच-विचार कर रहे हैं।" इससे यह खयाल पैदा होगया था कि अमरीकी स्वराष्ट्र विभाग के सेक्रेटरी श्री कार्डल हल और शायद अमरीका में ब्रिटेन के राजदूत लार्ड हेलीफेक्स इस बारे में कोई बातचीत कर रहे हैं। श्री कार्डल हल से पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि उन्हें नहीं मालूम कि श्री फिलिप्स के इस कथन का वास्तविक अर्थ क्या है। वास्तव में श्री हल ने यह कहा कि वक्तव्य में प्रत्यक्ष रूप से जो कुछ कहा गया है उससे अधिक उन्हें कुछ भी नहीं मालूम। भारतीय स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर सोच-विचार करनेवाले ये व्यक्ति प्रत्यक्षतः स्वयं श्री फिलिप्स और प्रधान रूजवेल्ट थे। अगर यह बात सही नहीं थी तो श्री कार्डल हल महज असली बात को छिपाने की कोशिश कर रहे थे।

यह प्रकरण समाप्त करने से पूर्व हम अमरीका के समाचारपत्रों और जनता की उस तत्परता, उदारवादिता और निष्पक्षता के लिए आभार-प्रदर्शन करना चाहते हैं, जिसका परिचय उन्होंने एक कठिन समय में भारतीय समस्या के प्रति दिया। विस्कोसिन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ई० रौस ने अमरीका के दैनिक समाचारपत्रों पर एक बड़ा आरोप यह लगाया है कि वे "ठीक समाचार नहीं देते।" उन्होंने बताया है कि इसके तीन आर्थिक कारण हैं—संपादक-मालिक की जगह पूंजीपति-मालिक, विज्ञापनदाता का प्रभाव, और इसके परिणामस्वरूप पत्र का एक ही और विशेष प्रकार के स्वार्थों के पक्ष का प्रतिपादन करना। भारतीय समस्या के निबटारे के के लिए ब्रिटेन ने अमरीका को अपने सुझावों से १२ अगस्त १९४२ को ही अवगत करा दिया था। यह सुझाव नाममात्र के एक राष्ट्र-मंडल की घोषणा थी। इसके साथ ही सभी दलों की एक अस्थायी सरकार बनाने और युद्ध का पूर्ण संचालन ब्रिटेन के पास ही रहने की घोषणा

भी की गई। और अमरीका के समाचारपत्र भी निरन्तर इसी सुझाव की पीठ ठोंकते रहे। उनके सामने भारतीय समस्या को सुलझाने का यही एक तरीका प्रतीत होता था, क्योंकि इसी की वे बार-बार दुहाई दे रहे थे।

अमरीकी कांग्रेस

श्री फिलिप्स की भारत-यात्रा, उनका व्यस्त और विद्युत्-दौरा, गैर-कांग्रेसी नेताओं के साथ उनकी बातचीत और कांग्रेसी नेताओं से मुलाकात करने में उनकी असफलता—ये सभी घटनाएं इस विश्व-व्यापी नाटक का ही एक अंग हैं। और अमरीका भी इस नाटक का एक दृश्य है। अमरीकी कांग्रेस उन खतरों से बचने की भरसक चेष्टा कर रही थी, जिनका सामना प्रधान विल्सन को वर्साई की संधि के बाद करना पड़ा था, क्योंकि उस समय सिनेट ने इस संधि का समर्थन करने से साफ इन्कार कर दिया था। अमरीका अब समझदार और सयाना होगया था। इसलिए वह पहले से अपने सिद्धान्तों की घोषणा कर देना चाहता था। वह प्रधान मन्त्री चर्चिल और प्रधान रूजवेल्ट के संयुक्त प्रयत्नों के परिणामस्वरूप निर्धारित अटलांटिक अधिकार-पत्र पर विशेष रूप से अमल करने की घोषणा कर देना चाहता था, जिससे कि बाद में शान्ति स्थापित होने पर कांग्रेस यह न कह सके कि उसे तो अटलांटिक अधिकारपत्र के बारे में कुछ ज्ञान ही नहीं। आइओवा के एक डेमोक्रेट सदस्य सिनेटर गुई एम० जिलट ने जो सिनेट की विदेश-संपर्क-समिति के एक सदस्य थे- एक प्रस्ताव पेश किया जिस के अन्तर्गत यह घोषणा की गई थी कि अमरीकी सिनेट अटलांटिक अधिकारपत्र के आधारभूत सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए प्रधान रूजवेल्ट को परामर्श देती है कि वे अन्य संयुक्त राष्ट्रों के साथ मिलकर तत्काल एक युद्धोत्तरकालीन 'शान्ति-अधिकारपत्र' तैयार करें।

"राज के लिए मिशन" शीर्षक एक लेख में 'टाइम' (२४-४-४३) ने लिखा :—

"८ जनवरी, १६४३ को बोस्टन का एक लम्बे कद का पतला ब्राह्मण भारत पहुँचा। प्रधान रूजवेल्ट ने उसे इस लड़ाई के एक अत्यन्त नाजुक कूटनीतिक मिशन पर वहां भेजा है। हमेशा सही बात बतानेवाले श्री विलियम फिलिप्स इटली में अमरीका के अन्तिम राजदूत थे। भारत में उन्हें अभी तक राजदूत कहा जाता है। लेकिन पत्र-प्रतिनिधियों के साथ अपने पहले ही सम्मेलन में उन्होंने सभी राष्ट्रवादी भारतीयों द्वारा पूछे जानेवाले इस सवाल का जवाब कूटनीतिक-हंसी में उड़ाते हुए दिया कि 'क्या आप सम्राट् की सरकार के, भारत-सरकार के अथवा भारतीय जनता के राजदूत हैं?' श्री फिलिप्स ने अपने प्रमाणपत्रों के आधार पर ठीक ही कहा कि वे भारत-सरकार के राजदूत हैं। पिछले सप्ताह, जब कि उनके मिशन का रहस्य अभी तक प्रकट नहीं हो सका, राजदूत फिलिप्स ने घोषणा की कि वे हवाई जहाज से अमरीका वापस जा रहे हैं। उन्होंने बड़ी प्रतिष्ठा और गौरव के साथ अपना काम किया है। उन्होंने कठिन परिश्रम किया है। उन्होंने विभिन्न राजनीतिक विचारोंवाले बहुत-से भारतीयों से भेंट की है। सार्वजनिक रूप से अब तक वे मौन धारण किये रहे हैं। अंग्रेज उनसे खुश हैं। भारतीय भी उनसे असन्तुष्ट नहीं।"

श्री फिलिप्स ने विदा होने से पूर्व अपने पत्र-प्रतिनिधि सम्मेलन में कहा "मैं अपनी सरकार के अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति के सामने अपना विवरण उपस्थित करने में असमर्थ हूं।"

ऐसे समय जबकि दुनिया को यह बताने की कोशिश की जा रही थी कि अमरीका की भारत के बारे में कोई दिलचस्पी नहीं है, बी० बी० सी० की भूतपूर्व गवर्नर कुमारी मारग्रेट फ्राई

के एक वक्तव्य का उद्धरण देना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि उससे उक्त गलत धारणा का निराकरण हो जाता है और साथ ही यह साबित होजाता है कि अमरीका में इस सम्बन्ध में कितना क्षोभ प्रकट किया गया कि श्री फिलिप्स को गांधीजी से मिलने की आज्ञा नहीं दीगई। अमरीका में अपने भ्रमण से लन्दन वापस आने पर कुमारी फ्राई ने कहा; "भारत के विषय को लेकर अमरीका की साधारण जनता में ब्रिटेन की कड़ी आलोचना हो रही है।" यद्यपि अमरीकी जनता को इस-बारे में पूरी जानकारी नहीं है, फिर भी इसी आधार पर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। "मैं अमरीका के सभी भागों में हो आई हूं और सभी जगह भारत का प्रश्न उठाया गया। भारत के मामले में हम अकसर जिस तरीके से चलते हैं, उसमें हम अमरीकी जनता की प्रतिक्रिया का कोई खयाल नहीं रखते। हो सकता है कि श्री फिलिप्स को कांग्रेसी नजरबन्दों से मिलने की आज्ञा न देने के पीछे कोई ठोस कारण रहे हों, लेकिन अमरीका में प्रत्यक्ष रूप से उसकी प्रतिक्रिया दुर्भाग्यपूर्ण ही कही जाएगी।"

प्रशान्त की समस्याएं

अन्ध महासागर और प्रशान्त महासागर मानों इस विशाल भूतल के पार चक्कर लगानेवाले एक बड़े दानव की दो बड़ी-बड़ी भुजाएं हैं। यदि अन्ध महासागर की सीमा पर फैलता चला गया है तो एशिया प्रशान्त और अमरीका दोनों की ही सीमाओं पर फैलता चला गया है। चर्चिल को अटलांटिक अधिकार-पत्र से संतोष हो सकता है, लेकिन भारत और दूसरे एशियाई राष्ट्र तो एक प्रशान्त अधिकारपत्र की भी मांग करेंगे और अमरीका के दोनों भागों की दिलचस्पी दोनों ही अधिकार-पत्रों में है। भारत में इस व्यापक दिलचस्पी से लाभ उठाया गया। चुनांचे 'इंडियन इंस्टीट्यूट आफ इण्टरनेशनल अफेयर्स' (अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की भारतीय संस्था) ने बड़ी सरगर्मी दिखानी शुरू कर दी और उस साल सर्दियों में अमरीका में होनेवाले अखिल प्रशान्त सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत की ओर से एक शिष्टमण्डल भेजा गया। सम्मेलन का अधिवेशन १४ दिसम्बर, १६४२ को समाप्त हुआ और अमरीका में इन छः सूरमाओं की उपस्थिति से लाभ उठाने की पूरी-पूरी कोशिश की गई। इन लोगों से भारतीय समस्या के विभिन्न पहलुओं—मुसलमानों, परिगणित जातियों, ईसाइयों और भारतीय नरेशों के बारे में भाषण कराने का आयोजन किया गया।

अखिल प्रशान्त सम्मेलन का कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की भारतीय संस्था के पास नहीं भेजा गया; लेकिन भारत के अलावा प्रशान्त की सीमाओं पर स्थित देशों के युद्धोत्तर-कालीन आर्थिक और राजनीतिक पुनर्निर्माण से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं पर विशेष रूप से सोच-विचार किया गया। भारतीय शिष्टमंडल को जो हिदायतें दीगई थीं उनसे पता चलता था कि पाकिस्तान के पक्ष और विपक्ष पर सोच-विचार किया जाएगा। हिन्दू महासभा के दृष्टिकोण के प्रतिनिधि श्री मेहरचन्द खन्ना ने यदि भारत के विभाजन का विरोध किया तो शिष्टमडल के मुसलमान सदस्यों ने मुसलमानों के लिए स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार करने पर जोर दिया और श्री एन० शिवराज ने यह सवाल उठाया कि लीग और कांग्रेस की अटल मांग के अंतर्गत ६ करोड़ अछूतों की स्थिति क्या होगी? बाद में नवानगर के जाम साहब और सरदार के० एम० पनिक्कर ने देशी राजाओं के दृष्टिकोण को अमरीका के लोगोंके सामने रखने के उद्देश्य से उस देश का दौरा किया। इसी प्रकार वाइसराय की शासन-परिषद् के सदस्य सर रामस्वामी मुदलियर और भारत-सरकार के आर्थिक सलाहकार सर डी० ई० ग्रेगरी ने भी अपने-अपने विचार प्रकट

किये। श्री पी० जे० ग्रिफिथ्स ने गैर-सरकारी यूरोपियन दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। यह आशा की जाती थी कि ये विभिन्न प्रवक्ता यथासंभव भारतीय समस्या के सभी पहलुओं पर व्यापक रूप में प्रकाश डाल सकेंगे। इनमें से कुछ तो सम्मेलन प्रारम्भ होने से पहले ही अमरीका में भाषण दे रहे थे और कुछेक ने बाद में सम्मेलन समाप्त हो जाने के बाद अमरीका का दौरा किया। प्रत्यक्षत: सरकार का यह ख़याल था कि अमरीका में कांग्रेस के दृष्टिकोण और हाल की घटनाओं पर काफी प्रकाश पड़ चुका है और सरकारी रिपोर्टों के अनुसार भारतीय स्थिति के सम्बन्ध में उस देश में "ग़लत धारणाएं' फैली हुई थीं इसलिए उन्हें दूर करने के लिए भारत-सरकार ने उक्त इन्स्टीट्यूट के प्रधान सर रामस्वामी मुदालियर की सिफारिश पर बहुत से प्रतिनिधि वहां भेजे। पंडित हृदयनाथ कुंजरू और दूसरे बहुत-से लोगों ने इन प्रतिनिधियों के चुनाव पर यह एतराज किया कि उन्हें भारत की स्थिति को देखते हुए उचित रूप में नहीं नामज़द किया गया-और न ही जनता को इस बारे में पूरी जानकारी है। लेकिन जब भारत-सरकार ही एक प्रजातंत्रात्मक संस्था नहीं, तो फिर उसके संरक्षण में पनपनेवाली अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं का क्या कहना।

भारत वापस आने पर शिष्टमण्डल के केवल दो सदस्यों ने महत्वपूर्ण घोषणाएं कीं। सबसे पहले सर जफरुल्ला खां और सबसे बाद में श्री मेहरचन्द खन्ना अमरीका से वापस भारत पहुँचे और भारतीय समस्या के कुछ पहलुओं के बारे में दोनों ने एक दूसरे से बिलकुल विरोधी विचार प्रकट किये, जैसा कि उनके वक्तव्यों से स्पष्ट है। सर मोहम्मद जफरुल्ला खां ने एक मुलाकात के दौरान में अमरीका के दौरे के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि "अमरीका के लोग भारत की समस्या में बड़ी दिलचस्पी ले रहे हैं और उन्हें भारतीयों की आकांक्षाओं के प्रति गहरी सहानुभूति है, परन्तु भारतीय परिस्थिति के सम्बन्ध में उन्हें पूरी-पूरी और सही जानकारी नहीं है।" श्री मेहरचन्द खन्ना ने पत्र-प्रतिनिधियों की एक मुलाकात में बताया कि अमरीका में एक बात की बड़ी चर्चा है कि, "कांग्रेस खत्म हो गई है और बहरहाल मुसलमान उसके साथ नहीं हैं और वे युद्ध-प्रयत्न में सहयोग दे रहे हैं। डरने की कोई वजह नहीं है, क्योंकि सेना में ६० फीसदी लोग मुसलमान, राजपूत, गोरखे और मराठे हैं, और अमरीकनों के खयाल में ये सभी मुसलमान हैं।"

प्रशान्त-सम्मेलन में जोकुछ हुआ, तीन महीने तक तो सरकारी तौर पर उसके बारे में इस देश को कोई समाचार ही नहीं दिया गया, हालांकि भारत का इससे घनिष्ट संपर्क था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अटलांटिक-अधिकारपत्र के बारे में काफी बहस हुई। लेकिन प्रशान्त के मामलों की संस्था ने 'प्रशान्त में युद्ध और शान्ति' शीर्षक से एक रिपोर्ट प्रकाशित की है, जिसमें विजय के बाद जापान का क्या होगा, भारत का भविष्य और चीन की स्थिति इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

इस रिपोर्ट से ज़ाहिर होता है कि उक्त संस्था के सुदूर-पूर्व के कूटनीतिज्ञों और विशेषज्ञों ने ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों पर सविस्तार विचार-विमर्श किया, विशेषकर भारतीय समस्या को हल करने की उस योजना पर जिसे एक भारतीय प्रतिनिधि ने उपस्थित किया था। इस योजना की मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—(१) वाइसराय की शासन-परिषद् के तीन प्रमुख विभागों अर्थात् अर्थ, गृह और युद्ध-यातायात् में भारतीयों की नियुक्ति; लेकिन किसी भी बात को रद करने का वाइसराय का विशेषाधिकार ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, (२) क्रिप्स-प्रस्तावों की पूर्ति के लिए

आवश्यक समझे जानेवाले नये विधान के अध्ययन के लिए जांच-पड़ताल-सम्बन्धी एक कमीशन की स्थापना, जिसमें विभिन्न विचारों के पोषक भारतीय नेता शामिल रहेंगे, (३) उक्त कमीशन की सहायता के लिए संयुक्त राष्ट्रसङ्घ की एक सलाहकार समिति का संगठन, (४) यह कमीशन उस विधान-निर्मात्री परिषद् के स्वरूप को निर्धारित करेगा, जिसके ऊपर विधान का मसविदा तैयार करने की जिम्मेदारी होगी। रिपोर्ट में बताया गया है—"तीसरे अधिवेशन के समाप्त होने तक भारतीय सदस्यों-द्वारा पेश की गई योजना को, जिसके बारे में शुरू में अमरीकी सदस्यों को कुछ सन्देह था, बहुत से लोग व्यावहारिक और महत्वपूर्ण समझने लगे। शुरू में यह ख़याल था कि अमरीका अथवा संयुक्तराष्ट्रों के कहने पर तीसरा दल इस मामले में मध्यस्थता करे अथवा सीधे और बाकायदा तौर पर हस्तक्षेप किया जाय; लेकिन बाद में यह बात स्पष्ट हो गई कि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा करना व्यावहारिक न होगा। इस मामले में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने से यह खतरा पैदा हो सकता है कि उससे अल्पसंख्यक—विशेषकर मुसलमान और भी अधिक हठधर्मी से काम लेने लगें और अपने संरक्षण के लिये पहले से ही कुछ आश्वासन दिये जाने पर जोर दें। नयी योजना का अर्थ इस काम का श्रीगणेश करना और समस्या पर फिर से सहयोगपूर्ण ढंग से सोच-विचार करने की प्रणाली को अपनाना है।"

ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया भारत के सम्बन्ध में अमरीका की दिलचस्पी घटने की बजाय बढ़ती ही गई और १९४२ में भारत के सम्बन्ध में अमरीका में 'अमेरिकन राउण्ड टेबल' नाम से एक नये राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हुई। इस संगठन ने २९ अक्टूबर, १९४३ को प्रधान रूजवेल्ट से आग्रह किया कि वे भारत और बृटेन में समझौता कराने की कोशिश करें। इसके प्रधान 'चर्चमैन' के संपादक श्री शिपलर हैं। इसकी स्थापना से पूर्व नीचे दिया गया एक ज़ोरदार वक्तव्य प्रकाशित हुआ, जिस पर अमरीका के प्रभावशाली व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे :—

"अमरीका के लोगों का ख़याल है कि भारतीय स्थिति बड़ी संकटपूर्ण है, क्योंकि उससे संयुक्त राष्ट्रों की विजय के लिए खतरा पैदा हो गया है। भारत में हमारे सैनिकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और हम एक विशाल पैमाने पर युद्ध का साज-सामान वहां जमा कर रहे हैं। हमने उसकी रक्षा का अधिकांश भार अपने कन्धों पर ले लिया है। इसका प्रभाव चीन की स्थिति और लड़ाई में उसके निरन्तर भाग लेने के सामर्थ्य पर भी पड़ सकता है। अगर हम धुरी-राष्ट्रों के खिलाफ लड़ी जानेवाली इस लड़ाई में ४० करोड़ जनता की शक्ति से लाभ उठाने में असफल रहे तो अमरीका और हमारे सहयोगी राष्ट्रों के सैनिकों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी।

"हम स्वायत्त शासन के लिए भारतीयों की न्यायोचित आकांक्षाओं का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं। इसलिए हम प्रधान रूजवेल्ट से आग्रह करते हैं कि वे अन्य संयुक्त राष्ट्रों के सहयोग से युद्ध में भारतीय जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करें और भारतीयों को उनकी राजनीतिक स्वाधीनता दिलाने का आश्वासन दें।"

चीन

दूसरे महायुद्ध का एक प्रत्यक्ष और तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि भारत और चीन एक-दूसरे के बहुत निकट-संपर्क में आगए। सितम्बर, १९३८ में पंडित जवाहरलाल नेहरू की

चुंगकिंग-यात्रा और १९४२ में मार्शल और श्रीमती चांगकाई शेक की भारत-यात्रा के फल-स्वरूप विश्व के दो बड़े-बड़े एशियाई राष्ट्रों की संस्कृति और आकांक्षाओं को एकता के सूत्र में नये सिरे से बांधने में बड़ी सहायता मिली। अतीत में इन देशों में निरन्तर सांस्कृतिक और व्यापारिक संपर्क बना रहा है। दोनों देशों की कुल आबादी मिलाकर १ अरब अथवा सारी दुनिया की लगभग आधी आबादी बैठती है। स्मरण रहे कि अगस्त १९४२ में बम्बई-प्रस्ताव के अन्तर्गत अपना महान् आन्दोलन प्रारंभ करने से पूर्व गांधीजी का इरादा राष्ट्रपति रूजवेल्ट और मार्शल चांगकाई शेक को पत्र लिखने का था। वास्तव में गांधीजी ने एक पत्र तो उन्हें पहले ही लिख दिया था। और इसके विभिन्न अंश श्री लुई फिशर द्वारा 'नेशन' में (अक्टूबर, १९४२) और रायटर-द्वारा भारतीय पत्रों में प्रकाशित किये जा चुके थे। दोनों का संयुक्त विवरण इस प्रकार है :—

"चीन के प्रति अपने विचारों और अपनी इस उत्कट अभिलाषा के कारण कि हमारे इन दोनों बड़े देशों को एक दूसरे के अधिक निकट-संपर्क में आना चाहिये और पारस्परिक लाभ के लिए आपस में सहयोग रखना चाहिये, मैं आपको स्पष्ट रूप से यह बताने के लिए व्यग्र हूँ कि मैंने अंग्रेजों से भारत से हट जाने के सम्बन्ध में जो अपील की है उसका अर्थ किसी भी रूप में जापान के विरुद्ध भारत की रक्षा-व्यवस्था को कमजोर करना अथवा आपको अपने संघर्ष के दौरान में परेशानी में डालने का नहीं है। आपके देश की आजादी को ताक पर रखकर अपने देश की आजादी खरीदने का अपराधी मैं नहीं बनना चाहता।

"मेरे सामने तो ऐसा सवाल उठता ही नहीं, क्योंकि मैं साफ तौर पर जानता हूं कि इस तरीके से भारत को आजादी नहीं मिल सकती और चीन अथवा भारत दोनों में से किसी भी देश पर जापानी प्रभुत्व विश्व शान्ति के लिए समान रूप से घातक सिद्ध होगा। इसलिए हमें उस प्रभुत्व को रोकने की भरसक चेष्टा करनी चाहिए और मैं चाहता हूं कि भारत इस दिशा में अपना स्वाभाविक और न्यायोचित भाग ले। मेरा ख़याल है कि भारत गुलाम रहकर यह काम नहीं कर सकता।

"मैं जिस किसी भी कार्रवाई की सिफारिश करूँगा, उसमें इस बात का पूरा-पूरा ख़याल रखूँगा, कि उससे चीन को नुकसान न पहुंचे अथवा जापानियों को भारत या चीन पर हमला करने में प्रोत्साहन न मिले।"

यह समझना कठिन है कि गांधीजी-द्वारा भारत की स्थिति की इतनी स्पष्ट व्याख्या के रहते हुए भी श्रीमती चांगकाई शेक ने अप्रैल १९४३ में न्यूयार्क में गांधीजी की विचार-धारा को धूमिल क्योंकर बताया था।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी गिरफ्तारी से पूर्व एक नौजवान चीनी पत्रकार को स्वयं अपने ही हाथों से लिखकर जो संदेश दिया था, उससे स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि भारतीय और स्वयं कांग्रेस इस बात से भलीभांति परिचित थी कि भारतीय समस्या के निबटारे का चीन के भाग्य से गहरा संपर्क है। संदेश इस प्रकार है :—

"चीन की जनता को हम फिर से आश्वासन देते हैं कि हमारे ऊपर चाहे जोकुछ भी बीते हम आपका साथ अन्त तक देते रहेंगे। यह काम हम इस वजह से प्रेरित होकर नहीं करेंगे कि चूंकि चीन की आज़ादी का हमारे लिए बहुत महत्त्व है, बल्कि इसलिए कि उसकी आजादी के साथ भारत की आजादी का प्रश्न भी बँधा हुआ है। अगर चीन पराधीन बना रहता है तो

उससे हमारी आजादी भी खतरे में पड़ जाती है और उसका कोई महत्त्व नहीं रहता। परिस्थितियों से विवश होकर इस समय हम जो कदम भी उठाने जा रहे हैं उसका मकसद केवल भारत की आजादी हासिल करना है ताकि हम चीन और भारत पर आक्रमण करनेवाली शक्ति के खिलाफ अपनी पूरी ताकत और दृढ़ निश्चय के साथ लड़ सकें। आजाद हिन्दुस्तान इस काम को जितनी दृढ़ता और जोर के साथ कर सकता है, उतना गुलाम हिन्दुस्तान अपनी सारी ताकत से भी नहीं कर सकता। इसलिए इस नाजुक घड़ी और खतरे में हम चीन के प्रति अपना दृढ़ विश्वास फिर से प्रकट करते हैं। हमारा विश्वास है कि यह बड़ी लड़ाई एक भारी क्रान्ति या इन्कलाब है और उसकी कामयाबी का दारोमदार महज सभी लोगों की आजादी पर है। अगर इस वक्त हिन्दुस्तान को आजादी नहीं मिलती तो इसका उद्देश्य ही विफल हो जाएगा और हम सब एक खतरनाक और अन्धकारपूर्ण खाई में जा गिरेंगे। यही वजह है कि भारत की आजादी एक तात्कालिक आवश्यकता बन गई है और उसे भविष्य के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। इस वक्त हम जिस मुसीबत और विपदा में पड़े हुए हैं, उसका भी यही तकाजा है।

"चीन की जनता और उसके महान् नेता जनरलिस्सिमो चांगकाई शेक और श्रीमती चांगकाई शेक को मैं अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ और आपलोगों के उस शौर्य्य का आदर और स्वागत करता हूँ जो लड़ाई और असीम कष्टों और दुखों के पिछले पांच सालों में एक चमकते हुए तारे की तरह संसार का पथ-प्रदर्शन करता रहा है।

बम्बई, ८ अगस्त, १९४२ —जवाहरलाल नेहरू"

चीनियों ने भारत की मांग का समर्थन किया। चीनी ब्रिटेन के रुख से बड़े परेशान थे। भारत ही एक ऐसा मार्ग है जिसके जरिए चीन को इंग्लैण्ड और अमरीका की रसद पहुंच सकती है। इसके अलावा चीनी चूँकि पूर्व की विचार-धारा से परिचित थे, इसलिए वे जानते थे कि एशिया के महान् स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को कुचलने का परिणाम संयुक्त-राष्ट्रों-द्वारा धुरी-राष्ट्र-विरोधी फ़ैसले की नैतिकता के लिए कितना घातक सिद्ध होगा।

यह जानना बड़ा दिलचस्प होगा कि विभिन्न राष्ट्रों पर भारतीय संकट की प्रतिक्रिया कैसी हुई। चीनी जनता, जो एशियाई राष्ट्र होने के नाते स्वयं विदेशी जुए को अपने कन्धे से उतार फेंकने के लिए इतनी जूझती रही है, आसानी से भारतीयों की भावनाओं और आकांक्षाओं का अनुमान लगा सकती थी; उसे भारत की आजादी और भारतीयों की वर्तमान मुसीबत में उनसे पूरी-पूरी सहानुभूति है।

लेकिन यह बात बड़ी आसानी से समझ में आ सकती है कि अपने तौर पर चीन भारत के साथ सहानुभूति प्रकट करने के अलावा और कुछ नहीं कर सकता था। गांधीजी की गिरफ्तारी के तीन दिन बाद १२ अगस्त को चुंगकिंग से नीचे लिखा सन्देश प्राप्त हुआ :—

"गांधीजी की गिरफ्तारी, उपद्रवों और रक्तपात का समाचार जानकर यहां बहुत शोक हुआ है। मौजूदा लड़ाई के पीछे तो यह भावना काम कर रही है कि आजादी के लिए लड़ी जानेवाली लड़ाई पर किये गये आक्रमण का डटकर प्रतिरोध किया जाए और इसके बिना मौजूदा लड़ाई एक बेमानी चीज है। भारत की आजादी की लड़ाई संयुक्त-राष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों के सर्वथा अनुरूप है और इसलिए कोई वजह नहीं कि हम भारत के प्रति सहानुभूति क्यों न प्रकट करें।"

दक्षिण अफ्रीका

एक क्षण के लिए अब हम पाठकों का ध्यान अमरीका और चीन से हटाकर दक्षिण अफ्रीका की ओर ले जाना चाहते हैं, जहां गांधीजी ने सत्य और अहिंसा के क्षेत्र में अपने प्रारम्भिक परीक्षण किये थे, और बाद में उन्होंने इन्हीं परीक्षणों को राष्ट्रीयता और विश्व-जातीयता की बड़ी-बड़ी समस्याओं को हल करने के लिए भारत में एक विशाल पैमाने पर कार्यान्वित किया था। अंग्रेज़ बड़े होशियार और अनुभवी हैं। वे यह कभी गवारा नहीं कर सकते थे कि उन्होंने गांधीजी पर जापानियों का पक्षपाती और पंचमांगी होने के सम्बन्ध में जो दोषारोपण किया है उसे दुनिया अक्षरशः सही मान ले, क्योंकि इन बे-बुनियाद इलज़ामों का खण्डन उस दार्शनिक राजनीतिज्ञ ने किया जिसके साथ गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में अपनी पहली लड़ाई लड़ी थी और वे एक ऐसे दुश्मन हैं जो हर तरह से गांधीजी के अस्त्र के शिकार होने-लायक हैं।

लन्दन के एक पत्र-प्रतिनिधि-सम्मेलन में भारतीय पत्रकारों को जवाब देते हुए जनरल स्मट्स ने कहा:—

"गांधीजी को 'पंचमांगी' कहना महज़ एक बेवकूफी है। वे एक महान् व्यक्ति हैं। वे संसार के एक महापुरुष हैं और उन्हें इस तरह की श्रेणी में किसी सूरत में भी नहीं रखा जा सकता। वे आध्यात्मिकता के आदर्शों में रंगे हुए हैं और मानव-समाज के सम्बन्ध में उनके वे ही विचार हैं जैसे कि मैंने अभी प्रकट किये हैं। यह सन्देहास्पद हो सकता है कि क्या हमारी इस कठिन दुनिया में उन आदर्शों पर हमेशा अमल किया जा सकता है; लेकिन इसमें तो किसी को कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि गांधीजी एक महान् देशभक्त, महापुरुष और एक महान् आध्यात्मिक नेता हैं।"

इस अध्याय का उद्देश्य यह बताना था कि भारत अपनी आज़ादी के अन्तिम संग्राम के रूप में जो युद्ध छेड़ने जा रहा था उसका अमरीका, चीन और रूस-जैसे बड़े-बड़े राष्ट्रों पर क्या असर पड़ा। अमरीका ने प्रत्यक्ष रूप से भारतीय मामले में दखल न देकर उससे और जोकुछ भी बन पड़ा उसने भारत के लिए किया। उसने भारत के प्रति न्याय करने के लिए ब्रिटेन पर जोर डाला। चीन ने चिरकाल से चले आनेवाले अपने संग्राम के दरमियान भी भारतीय समस्या पर न केवल भारत बल्कि अपने दृष्टिकोण से भी सोच-विचार किया। रूस अपने जीवन-मरण के संघर्ष में ही इतना अधिक व्यस्त रहा कि यदि उसने भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की प्रारंभिक अवस्था में उसके आन्दोलन के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से कोई उल्लेख नहीं किया तो उस पर हमें कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन स्टालिन ने एक बड़ा महत्वपूर्ण भाषण दिया है जिसका मुख्य आशय नीचे दिया गया है और उतना ही उच्च आदर्श राष्ट्रपति रूजवेल्ट का है जिसका उल्लेख उन्होंने १४ अप्रैल, १९४३ को वाशिंगटन में जाफरसन की समाधि पर श्रद्धांजलि अर्पित करने के अवसर पर दिये गये अपने भाषण में किया था। उन्होंने बताया कि जाफरसन ने अपने समय में कठिन मुसीबतें उठाते हुए जिस भावना का परिचय दिया था, उसी की आवश्यकता हमें आज है, क्योंकि इस समय भी हमारे सामने वैसा ही संकट उपस्थित है। जाफरसन ने इस तथ्य का सामना किया कि "जो लोग अपनी आजादी के लिए नहीं लड़ेंगे वे इसे खो सकते हैं। हमने भी ऐसे ही तथ्य का सामना किया है। उन्हें शान्ति प्रिय थी; आज़ादी प्रिय थी—फिर भी कई अवसरों पर उन्हें इन में से एक को चुनने पर विवश होना पड़ा······"

लाल सेना की २५वीं (१९४३) सालगिरह पर मोशिए स्टालिन ने मित्र-राष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों के बारे में एक इतना स्पष्ट वक्तव्य दिया जैसा कि पहले कभी नहीं दिया गया था। उन्होंने कहा :—

"इंग्लैण्ड, रूस और अमरीका के सहयोग का कार्यक्रम जातिगत भेदभाव की समाप्ति, राष्ट्रों की समता और उनके प्रदेशों की अखण्डता, परतंत्र-राष्ट्रों की मुक्ति, और उन्हें उनके सत्ता-संपन्न अधिकारों को फिर से दिलाना, प्रत्येक राष्ट्र को स्वेच्छा से अपने मामले तै करने का अधिकार देना, जिन राष्ट्रों ने कष्ट और मुसीबतें झेली हैं उन्हें आर्थिक सहायता देना और उन्हें अपने भौतिक कल्याण की प्राप्ति में सहायता प्रदान करना, प्रजातंत्रात्मक स्वतन्त्रताओं का पुनः संस्थापन और हिटलरी शासन का विध्वंस है।"

यदि हम प्रधान मन्त्री चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट-द्वारा बनाए गए अष्टसूत्री अधिकार-पत्र की तुलना श्री स्टालिन-द्वारा प्रकाशित किये शतसूत्री अधिकारपत्र से करें तो स्पष्ट रूप से पता चल जाएगा कि यह अधिकारपत्र पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, असंदिग्ध, व्यापक और उदार है। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अगर ब्रिटेन उक्त कार्यक्रम की पहली मद ही स्वीकार कर ले तो दक्षिण अफ्रीका में ऐसे भारतीय-विरोधी कानून के लिए गुंजाइश ही नहीं रह जाती, जो उसने अप्रैल १९४३ में सार्वभौम विरोध और भारत-सरकार की पवित्र चेतावनियों के बावजूद पास कर दिया।

: १६ :

ब्रिटेन में प्रतिक्रिया

इधर भारत-सरकार ने कांग्रेसजनों और कांग्रेस-संगठन पर अपना 'तूफानी और विद्युत् आक्रमण' शुरू कर दिया और समाचारपत्रों और देश के सार्वजनिक जीवन को कुचलने की ठानी, उधर भारत-मन्त्री श्री एमरी ने लन्दन में तुरन्त ही दो ब्राडकास्ट-भाषण दिये। एक भाषण उन्होंने ६ अगस्त, १६४२ को ब्रिटेन के लोगों के नाम और दूसरा १० अगस्त को अमरीका के लोगों के नाम ब्राडकास्ट किया।

अपने पहले ब्राडकास्ट में श्री एमरी ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स के मिशन का हवाला देते हुए कहा कि भारत के उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रबन्ध और युद्ध-प्रयत्न में भाग लेने की बातचीत मुख्यतः कांग्रेस-नेताओं के दुराग्रह अथवा "सब कुछ दीजिए या कुछ भी नहीं" वाले रुख के कारण असफल हो गई। आगे आपने कहा कि ब्रिटेन के प्रस्तावों को ठुकरा देने का परिणाम यह हुआ है कि इससे भारतीय लोकमत अत्यधिक निराश हुआ है और कांग्रेस के नेतृत्व में उसका विश्वास बुरी तरह से उठ गया है। ज्यों-ज्यों हम १६४२ के बाद के तीन सालों और वर्किंङ्ग कमेटी के सदस्यों की गिरफ्तारी के अन्तिम अध्याय के इतिहास का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करेंगे हमें श्री एमरी के उक्त कथन की सत्यता स्पष्ट होती जायगी। श्री एमरी इस बात पर फूले नहीं समाते थे कि उन्होंने गांधीजी और उनके सहयोगियों के बीच की कड़ी काट दी है। वे प्रसन्न थे कि उन्होंने नेताओं और जनता के पारस्परिक संपर्क की शृङ्खला को तोड़ दिया है और इस प्रकार संभावित विस्फोट को रोक दिया है। वे खुश थे कि उनके हाथ इस बात से और भी ज्यादा मजबूत हो गए हैं कि वाइसराय की परिषद् के जिन पन्द्रह सदस्यों ने कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी के बारे में फैसला किया था, उनमें से ग्यारह सदस्य स्वयं भारतीय थे, जिन्हें इस सम्बन्ध में "भारत के अधिकांश जिम्मेदार स्त्री-पुरुषों का समर्थन प्राप्त है।" अमरीका के नाम अपने ब्राडकास्ट में भी श्री एमरी ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये।

भारत की घटनाओं के बारे में ब्रिटेन की जनता और विभिन्न हलकों की प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न थीं। वहां के न केवल सरकारी और गैर-सरकारी हलकों की प्रतिक्रियाएं ही एक-दूसरे के विपरीत थीं, बल्कि समाचारपत्रों में भी मतैक्य न था। इस युग के प्रारंभिक-काल में लन्दन के सुप्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स' का रुख बिल्कुल असाधारण रहा। इस पत्र की सदा से यह नीति रही है कि वह ब्रिटेन की पदारूढ़ सरकार का शत प्रतिशत समर्थन करता है, चाहे वह सरकार किसी भी दल की क्यों न हो; लेकिन इस अवसर पर उसने अपनी इस परंपरा को तिलांजलि देकर सत्य की खोज और इस मामले के पक्ष-विपक्ष के सम्बन्ध में निष्पक्ष जांच-पड़ताल करने पर जोर दिया। 'मांचेस्टर गार्जियन' की भांति उसने भी तत्कालीन सरकार की सर्वतोमुखी दमन-नीति

का समर्थन न करके युगों से चली आनेवाली दमन और समझौते की दुहरी नीति का प्रतिपादन किया। जब कभी पार्लीमेंट अथवा स्वयं भारत में भारतीय समस्या के बारे में कोई घटना घटती तो यह पत्र अपने विचार अवश्य प्रकट करता। चुनांचे सदा की भांति इस बार भी श्री एमरी के ब्राडकास्टों के बारे में उसने अपना दृष्टिकोण जनता के सामने रखा। इस अवसर पर उसने लिखा कि "किसी रचनात्मक नीति के बिना दमन-नीति युद्ध और शान्ति दोनों ही में असफल और बेकार साबित होगी। इतना ही नहीं, वह उससे कहीं अधिक ख़तरनाक भी साबित हो सकती है।"

इन गिरफ्तारियों से दो महीने पहले 'न्यू स्टेटसमैन ऐण्ड नेशन' ने 'गांधीजी यथार्थवाद की ओर' (२७–६–४२) शीर्षक लेख में लिखाः—"'हरिजन' में गांधीजी के सब से हाल के वक्तव्य को देखने से पता चलता है कि पंडित नेहरू और डा० आज़ाद के साथ उनकी जो बातचीत हुई है उसके फलस्वरूप वे अधिक यथार्थवादी हो गए हैं।" यह मांग करते हुए कि ब्रिटेन के प्रभुत्व से भारत का मुक्ति पाने का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय उन्होंने (गांधीजी) लिखा हैः—

"लेकिन मैं स्वयं उनकी सैनिक आवश्यकता को स्वीकार करता हूँ। जापानी प्रभुत्व को रोकने के लिए संभवतः उन (अंग्रेज़ों) को भारत में रहना पड़े। जापानी आक्रमण को रोकने की यह भावना हम दोनों में समान रूप से है। संभवतः चीन के लिए भी ऐसा ही आवश्यक हो।

"तब इसका मतलब यह हुआ कि अगर ब्रिटेन यह कह दे कि वह अब भारत का शासक नहीं रहा तो वे (गांधीजी) भारत की रक्षा के लिए ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्नों में बाधा न पहुंचाकर उसे ऐसा करने की खुली छुट्टी दे देंगे। अगर गांधीजी उस वक्त भी, जब कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत गए थे, ऐसा ही दृष्टिकोण रखते तो सम्भव है कि उन (क्रिप्स) का मिशन सफल हो जाता।"

गांधीजी की गिरफ्तारी के पांच दिन बाद 'न्यू स्टेटसमैन ऐण्ड नेशन' ने भारतीय दुर्घटना के सम्बन्ध में लिखा—"ऐसे अवसरों पर हिंसा-से-हिंसा का जन्म होता है और अहिंसा पर चलनेवाली जनता, जैसा कि गांधीजी इससे पहले भी एक अवसर पर देख चुके हैं, शायद ऐसे काम कर बैठे जो कि गांधीजी के सिद्धांतों के प्रतिकूल हो। दमन के क्षेत्र में यदि एक बार पुलिस को खुली छुट्टी दे दी गई तो हिंसात्मक दुर्घटनाओं का घटना अनिवार्य है।"

'मांचेस्टर गार्जियन' ने ब्रिटेन, गैर-कांग्रेसी भारतीयों और मित्र राष्ट्रों से भी अनुरोध किया कि "आप हमें इस झगड़े को निपटाने में मदद दें जिसकी वजह से हम सभी को नुकसान पहुंच रहा है।" ब्रेलसफोर्ड-जैसे सुप्रसिद्ध लेखक ने 'रेनाल्ड्स न्यूज़' और श्री लियोनल फील्डन ने 'आब्ज़र्वर' में लिखे गए अपने लेखों में यह सुझाव रखा कि "गांधीजी को विंडसर अथवा चेकर्स में अतिथि के रूप में आमंत्रित करके सरकार को उनसे समझौता कर लेना चाहिए, और वे मूर्ख नहीं हैं।"

इसके अलावा कलकत्ता के विशप और भारत के लाट-पादरी डा० फौस वेस्टकॉट ने भी ब्रिटिश सरकार से कांग्रेस के साथ समझौता कर लेने का ज़ोरदार आग्रह किया। आपने बताया कि किस प्रकार "भारत-सरकार ने वास्तव में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन छेड़ने का आदेश मिलने से पहले ही अपनी कार्रवाई शुरू करदी और उसने यह कार्रवाई ऐसे मौके पर की जब कि गांधीजी सविनय-अवज्ञा को स्थगित करने और वाइसराय से इस सम्बन्ध में बातचीत करने की घोषणा कर चुके थे, ताकि कांग्रेस भारत की सैनिक रक्षा-व्यवस्था के काम में पूरी तरह से भाग

ले सके।'' लाट-पादरी ने इस बात पर ज़ोर दिया कि कांग्रेस के नेताओं के अंतिम वक्तव्यों में अब भी समझौता करने की 'दृढ़ भावना' पाई जाती है। आपने आगे कहा कि "दमन-नीति के परिणामस्वरूप सरकार को समझौते की कोशिशों को नहीं छोड़ देना चाहिए। स्वयं कांग्रेस के भीतर ऐसे शक्तिशाली तत्त्व मौजूद हैं जो युद्ध-प्रयत्न में सक्रिय रूप से भाग लेने और मित्रराष्ट्रों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करने के पक्ष में हैं। इस वक्त सभी को समान रूप से युद्ध-प्रयत्न के लिए संगठित करने का एक ही तरीका है कि देश के राजनीतिक दलों के वास्तविक नेताओं को एक ऐसी शासन-परिषद् स्थापित करने के लिए कहा जाय जिसे वास्तविक अधिकार प्राप्त हों। निस्सन्देह समझौते के मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं। इसका आधार युद्ध में सहयोग होना चाहिए और नई सरकार को जनता के प्रमुख वर्गों और दलों का प्रतिनिधि होना चाहिए। हो सकता है कि समझौते की बातचीत निराशाजनक और असफल रहे, लेकिन इस दिशा में चाहे कितनी ही कठिनाइयां क्यों न हों, समझौता दमन की शिकार बनी पीड़ित जनता के घरेलू युद्ध से कहीं अधिक बेहतर है। ज्यों-ज्यों जापानी भारतीय सीमा के समीप पहुँचेंगे वे यह जानने की कोशिश करेंगे कि क्या उनके लिए ऐसा भारत अच्छा साबित होगा जिसके साथ अभी समझौते की बातचीत चल रही है अथवा ऐसा भारत जिसके साथ एक उचित समझौते की सब कोशिशें छोड़ दी गई हैं।''

१२ अगस्त, १९४२ को ब्रिटेन के मज़दूर दल ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें उसने अपनी नेशनल एक्ज़ीक्यूटिव-द्वारा २२ जुलाई को पास किये गए प्रस्ताव को दुहराया और उसके नेता श्री ग्रीनवुड ने भी वही विचार प्रकट किये, जिनका ज़िक्र इस वक्तव्य में किया गया था।

मज़दूर दल और ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अपने संयुक्त वक्तव्य में कहा :—

"भारतीय स्वायत्त शासन के पक्ष में मज़दूर दल की घोषणाओं, क्रिप्स-मिशन, और उसके बाद भारतीय नेताओं और भारतीय दलों के वक्तव्यों के प्रकाश में और एशिया तथा समस्त प्रशस्त क्षेत्र में जापानी आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत के लिए इस समय जो भारी खतरा पैदा हो गया है, उसे देखते हुए, हम भारतीय लोगों से हार्दिक अपील करना आवश्यक समझते हैं।

"हम यह बात विशेष रूप से याद दिलाना चाहते हैं कि बरसों से लेबर-पार्टी का यह सुनिश्चित मत और दृढ़ धारणा रही है कि भारतीयों को स्वभाग्य-निर्णय का पूर्ण अधिकार है। गत मई में भी पार्टी ने अपने वार्षिक-सम्मेलन में इसी नीति का समर्थन किया है और अब ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट ने भी स्पष्ट रूप से भारतीयों के इस अधिकार को मान लिया है। इसके अलावा हम सम्मेलन के उस सर्वसम्मत मत का भी स्मरण दिलाना चाहते हैं, जिसमें उसने ब्रिटिश सरकार और भारतीय जनता—दोनों ही से शीघ्र ही कोई सन्तोषजनक समझौता कर लेने का अनुरोध किया है।

"मज़दूर दल को यक़ीन है कि युद्धोत्तर-कालीन संसार में स्वतंत्र भारत की स्थापना निश्चित है और इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार-द्वारा किसी प्रकार के विलम्ब या टालमटोल की नीति की सम्भावना नहीं है।

"दुनिया जानती है कि भारतीय स्वतन्त्रता के सिद्धांत के सम्बन्ध में अब पूर्ण मतैक्य है। यह एक बड़ी भारी और ऐतिहासिक सफलता है। यह स्पष्ट है कि यदि मित्रराष्ट्रों की जीत नहीं

होती तो न केवल भारत की ही, बल्कि सारी दुनियां की आज़ादी ख़तरे में पड़ जाएगी। लेकिन इस जीत या हार की बाज़ी हिन्दुस्तान की जंगी कोशिशों पर निर्भर है, और हिन्दुस्तान को भी इस लड़ाई से उतना ही वास्ता है जितना कि ब्रिटेन, स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों, चीन, रूस, अमरीका और दूसरे साथी मुल्कों को है।

"हम भारत के विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों से इस प्रश्न पर इसी-दृष्टिकोण से सोच-विचार करने का आग्रह करते हैं, क्योंकि लेबर पार्टी को यक़ीन है कि अगर उन्हें इस तरह राजी कर लिया जाय तो इस बात के अलावा, कि स्वराज्य के लिए भारत के अधिकार को अपूर्ण रूप से मान लिया गया है, लड़ाई के बाद के जमाने में भी हिन्दुस्तान दुनियां में अपने लिए एक आज़ाद और बराबरी के हक़ वाले मुल्क का दावा कर सकेगा।

"इन सब बातों का ख़याल करके ही मज़दूर दल को भारत में घटनेवाली हाल की दुखद घटनाओं पर सोच-विचार करने के लिए विवश होना पड़ा है। मज़दूर दल की नेशनल एक्जीक्यूटिव तो पहले ही २२ जुलाई को यह घोषणा कर चुकी है कि वह स्वराज्य-प्राप्ति के लिए भारतीयों की आकांक्षाओं और उनकी भलाई, एवं उन्नति के लिए चिंतित है। वह हाल में अपने वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर किये गए अपने इस अनुरोध को फिर दोहराती है कि भारतीयों और ब्रिटिश सरकार को चाहिए कि वे शीघ्र ही आपस में कोई सन्तोषजनक समझौता करलें। इसलिए वह भारत में सविनय-अवज्ञा-आंदोलन की सम्भावना और संसार की आज़ादी को सुरक्षित रखने के लिए इस वक्त मित्र-राष्ट्र जो ज़ोरदार लड़ाई लड़ रहे हैं उस पर पड़नेवाले उसके प्रभाव को बड़ी गम्भीरता के साथ देखते हैं। इस तरह की तहरीक सियासी ग़ैर-जिम्मेदारी का सबूत होगी और हो सकता है कि उसकी वजह से आज़ादी चाहनेवाले सभी लोगों का मुस्तकबिल ख़तरे में पड़ जाय और उससे हिन्दुस्तान की आज़ादी की सभी उम्मीदों पर भी पानी फिर जाय।"

ब्रिटिश मज़दूर दल ने १२ अगस्त के अपने एक वक्तव्य में कांग्रेसी नेताओं की नज़रबन्दी को 'सामयिक और अनिवार्य' ठहराते हुए कहा कि "लेबर पार्टी यह ख़याल करने के लिए मजबूर हो गई है कि सिविल नाफरमानी की मौजूदा तहरीक से हिन्दुस्तान की आज़ादी को निश्चित रूप से नुक़सान पहुँचेगा, क्योंकि इस प्रकार के आंदोलन के परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्रों के नेताओं की चिंताओं और जिम्मेदारियों का बढ़ जाना लाजिमी है और इसके अलावा उसकी वजह से समान-शत्रु को प्रोत्साहन मिलेगा।

"इसलिए मज़दूर दल की राय है कि भारत-सरकार-द्वारा कांग्रेसी नेताओं की नज़रबन्दी सामयिक और अनिवार्य थी। साथ ही उसे यक़ीन है कि ब्रिटिश सरकार किसी भी ऐसी कार्रवाई की मंजूरी नहीं देगी जिससे वर्तमान संकट अनावश्यक रूप से और भी अधिक बढ़ जाय। वह सरकार से अनुरोध करता है, कि वह (सरकार) स्पष्ट रूप से यह घोषणा करदे कि सविनय-अवज्ञा-आंदोलन के छोड़ देने पर वह मैत्रीपूर्ण और स्वतन्त्र विचार-विनिमय को फिर से शुरू करने को तैयार है, जिससे कि भारतीय स्वराज्य के उस सिद्धांत को कार्यान्वित किया जा सके जिसके सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार पहले ही घोषणा कर चुकी है और जिसे पार्लामेण्ट की स्वीकृति भी मिल चुकी है और भारत सभी के लिए आज़ादी हासिल करने की इस लड़ाई में संयुक्तराष्ट्रों को हार्दिक सहयोग प्रदान कर सके।"

'न्यू स्टेट्समैन ऐंड नेशन' ने कामन-सभा में भारत-विषयक बहस के शुरू होने से पहले

५ सितम्बर को फिर इसी विषय को उठाया और इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत की समस्या एक अत्यावश्यक प्रश्न है जिसका कामन-सभा को अपने आगामी अधिवेशन में सामना करना होगा। हमें इसका हल ढूंढ़ने की एक और कोशिश किये बिना इस ख़तरनाक और शर्मनाक परिस्थितिको और आगे नहीं बढ़ने देना चाहिए। पत्र ने भारत की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में एक श्वेत-पत्र प्रकाशित करने का अनुरोध किया और कहा कि उसमें यह बताया जाय कि अब तक भारत में कितने आर्डिनेन्स जारी हुए हैं, कितने व्यक्ति मुकदमा चलाकर और बिना मुकदमा चलाए नजरबन्द किये गए हैं, कोड़े लगाने से सम्बन्ध रखनेवाला आर्डिनेन्स और इसी किस्म के दूसरे आर्डिनेन्सों पर किस हद तक अमल किया गया है और भारत में वास्तविक हानि कितनी हुई है? इसके अलावा पत्र ने ब्रिटिश-सरकार से यह बताने का भी आग्रह किया कि उसने भारत के उन जिम्मेदार लोगों की कोशिशों का क्या उत्तर दिया है जो यह कहते रहे हैं और जिनका यह यक़ीन रहा है कि भारत की रक्षा के लिए अब भी एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो सकती है।"

एबरडीन में ७ सितम्बर को श्री इटली ने अपने एक भाषण में कहा कि, "भारतीय समस्या के समाधान में हमने बहुत-सी गलतियां की हैं, लेकिन हमने एक शताब्दी से भी अधिक समय तक भारत में आन्तरिक शांति और अच्छे शासन-प्रबन्ध को बनाए रखा है और पिछले पचीस साल में भारत ने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए बड़ी भारी प्रगति की है। इस दिशा में और प्रगति इसलिए नहीं हो सकी कि एक तो भारतीयों में आपस में कोई समझौता नहीं हो पाया और दूसरे ३० करोड़ की आबादीवाले देश में प्रजातंत्र की स्थापना में काफी कठिनाइयां हैं।"

सितम्बर में जब पार्लमेण्ट का अधिवेशन हुआ तो श्री चर्चिल ने भारत के बारे में एक वक्तव्य दिया जो उनके पिछले सभी वक्तव्यों से बाज़ी ले गया। उन्हें भारत, कांग्रेस अथवा गांधीजी से कोई विशेष प्रेम नहीं था। उनका एकमात्र उद्देश्य एक दिन गांधीवाद को धराशायी करके पैरों-तले कुचल देना था। १९३१ में ही उन्होंने गांधी-अरविन समझौते के प्रति अपनी घृणा और विरोध का परिचय दे दिया था। उन्हें यह कभी गवारा नहीं हो सका कि कोई वाइ-सराय गांधीजी से बराबरी की बिना पर बातचीत करे। उस वक्त उन्होंने कहा था :—

"यह देखकर बड़ी ग्लानि, लज्जा और भय होता है कि गांधीजी-सरीखा मिडिल टेम्पल का एक वकील और राजद्रोही, अर्द्धनग्न रूप में बराबरी के आधार पर सम्राट् के प्रतिनिधि के साथ बातचीत करने के लिए वाइसराय भवन में जाय।"

अपनी नीति के बारे में श्री चर्चिल ने एक बार कहा था कि मेरी नीति "दुश्मन को पछाड़-कर उसके साथ उदारतापूर्ण व्यवहार" करने की है। व्यक्तिगत घृणाभाव की हम उपेक्षा कर सकते हैं, लेकिन जहां तक सवाल तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर बयान करने का है, वह तो सर्वथा कल्पना-तीत है, जैसा कि उनके निम्न भाषण से प्रकट होता है।

अपने चिर-प्रतीक्षित वक्तव्य में श्री चर्चिल ने १० सितम्बर १९४२ को कहा—"भारत के घटनाक्रम में निरन्तर सुधार हो रहा है और सभी बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि स्थिति आशाप्रद है।" आगे आपने घोषणा की कि "सरकारी घोषणा के वे सिद्धान्त, जिनके आधार पर क्रिप्स-योजना बनाई गई थी, अब भी ब्रिटिश सम्राट् और पार्लमेण्ट की निर्धारित नीति को व्यक्त करते हैं।" आगे श्री चर्चिल ने इस योजना के सिलसिले में कहा:—

"कांग्रेस पार्टीके सिवा और जिन लोगोंका उससे बुनियादी मतभेद है वे ब्रिटिश-भारतके ६ करोड़

मुसलमान हैं (इस अवसर पर एक सदस्य ने कहा,'यह एक बेहूदा बात है' और इस पर 'शान्ति, शान्ति' की आवाजें सुनाई दीं) जिन्हें आत्मनिर्णय का पूरा-पूरा हक है। इसके अलावा दलित-वर्ग अथवा ५ करोड़ 'अछूत'—जिन्हें अछूत इसलिए समझा जाता है कि उनके स्पर्शमात्र से उनके धर्म-बन्धु हिन्दुओं का धर्म भ्रष्ट हो जाता है, और देशी नरेशों की ६॥ करोड़ जनता, जिनके साथ हमने संधियां कर रखी हैं, कांग्रेस की विरोधी है और उनका उससे किसी किस्म का कोई संबन्ध नहीं है। इस प्रकार भारत की कुल ३९ करोड़ की आबादी में से केवल इन तीन वर्गों की २३ करोड़ ५० लाख जनता ही उसके विरुद्ध है। इसके अलावा इसमें ब्रिटिश भारत के हिन्दुओं, सिक्खों और ईसाइयों के बहुत-से वे वर्ग शामिल नहीं हैं, जिनका कांग्रेस की वर्तमान-नीति से विरोध है। यह जरूरी है कि हमें ब्रिटेन में और दूसरे देशों में इन मुख्य तथ्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस आधार-भूत तथ्य के बिना भारतीय समस्या अथवा ब्रिटेन और भारत के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करना संभव नहीं है। अब कांग्रेस बहुत-सी बातों में गांधीजी की अहिंसा की उस नीति को, जिसका वे इतने समय से सैद्धान्तिक रूप से प्रचार करते रहे हैं, तिलांजलि देकर खुले रूप में एक क्रान्तिकारी आन्दोलन की शक्ल में प्रकट हुई है। उसके इस आन्दोलन का उद्देश्य यातायात के साधनों—रेल और तार आदि को पंगु बना देना और साधारणतः अव्यवस्था फैलाना, दुकानें लूटना, पुलिस पर हमले और क्रूरतापूर्ण अत्याचार करना है। इस सारे कार्यक्रम का मकसद अथवा उसका परिणाम भारत पर जापान के आक्रमण के खिलाफ देश की रक्षा-व्यवस्था के मार्ग में अड़चन पैदा करना है और जापानी आक्रान्तता इस समय आसाम की सीमा और बंगाल की खाड़ी के पूर्वी किनारे पर खड़ा है।

"हो सकता है कि कांग्रेस की इन कार्रवाइयों में विस्तृत पैमाने पर जापानियों का हाथ हो और उन्होंने सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों को ही अपना विशेष लक्ष्य चुना हो। उदाहरण के तौर पर यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि बंगाल की रक्षा के लिए भारत की जो सेनाएं इस समय आसाम की सीमा पर तैनात हैं, उन पर खास तौर से हमला किया गया है। इन परिस्थितियों में वाइसराय और भारत-सरकार ने वाइसराय की शासन-परिषद् की सर्वसम्मति से, जिसमें अधिकांश भारतीय ही हैं—जो देशभक्त और बुद्धिमान् व्यक्ति हैं—इस संस्था के केन्द्रीय और प्रान्तीय संगठनों को कुचल देना आवश्यक समझा है, क्योंकि इस (संस्था) ने विरोधी कार्रवाइयां करने की ठान ली है।

"गांधीजी और दूसरे बड़े-बड़े नेताओं को नजरबन्द कर लिया गया है और उन्हें हर किस्म की सहूलियतें और आराम पहुँचाने को कोशिश की गई है। जब तक यह संकट दूर नहीं हो जाता उन्हें जेल में ही रखा जाएगा। वास्तव में यह बड़े सौभाग्य की बात है कि लड़ाकू जातियों के ऊपर कांग्रेस का कोई प्रभाव नहीं है, क्योंकि ब्रिटिश फौजों के अलावा हिन्दुस्तान के बचाव की मुख्य जिम्मेवारी इन्हीं जातियों पर है। इनमें से बहुत-सी जातियों का हिन्दू-कांग्रेस से गहरा मतभेद है और वे यह कभी भी गवारा नहीं करेंगी कि कांग्रेस उन पर हकूमत करे अथवा उन्हें उनकी मर्जी के खिलाफ इस तरह से गुलाम बनाया जाय।"

आगे श्री चर्चिल ने कहा—"भारत में अनिवार्य सैनिक सेवा अथवा भर्ती नहीं है, लेकिन फिर भी दस लाख से भी ज्यादा भारतीय इस विश्व-युद्ध में संयुक्तराष्ट्रों की मदद के लिए स्वेच्छा से शामिल हुए हैं। भारतीय सैनिकों ने लड़ाई के विभिन्न अखाड़ों में अपनी

बहादुरी के जौहर दिखाए हैं और यह बड़े संतोष की बात है कि इन पिछले दो महीनों में, जब कि कांग्रेस भारत-सरकार के खिलाफ अपनी शक्ति का संगठन करती रही है, १,४०,००० से भी अधिक नये रंगरूट स्वेच्छा से सेना में भरती हुए हैं और उन्होंने सम्राट् के प्रति वफादारी की शपथ उठाई है और इस तरह से अपने देश की रक्षा के लिए उन्होंने पिछले सब रेकार्ड तोड़ दिये हैं। अब तक जो कुछ भी हुआ है उससे तो यही साबित होता है कि कांग्रेस भारतीय सेना को उसके कर्तव्य-पथ से विमुख करने में असफल रही है। वह उसे अपने मायाजाल से प्रभावित नहीं कर सकी। इतना ही नहीं, भारतीय सरकारी अफसरों अथवा स्वयं भारतीय जनता को प्रभावित करने में भी वह बुरी तरह असफल रही है। भारत प्राय: यूरोप जितना ही बड़ा और विस्तृत महाद्वीप है। परन्तु वास्तव में उसकी आबादी इससे अधिक है और भारतीयों में यूरोपियनों से कहीं अधिक धार्मिक और जातिगत भेदभाव हैं, जिनकी वजह से वे एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग हैं।

"३६ करोड़ जनता का संपूर्ण शासन-प्रबन्ध स्वयं भारतीयों के ही हाथों में है और भारतीय सिविल सर्विस में अंग्रेजों की संख्या तो ६०० से भी कम है। सभी सार्वजनिक सर्विसें इस समय अपना काम कर रही हैं। पांच प्रान्तों में, जिनमें दो सबसे बड़े प्रान्त भी शामिल हैं और जिनकी आबादी ११ करोड़ है, धारासभाओं के प्रति उत्तरदायी प्रान्तीय मंत्रिमंडल काम कर रहे हैं। शहरों और देहातों के बहुत-से स्थानों में जनता ने नागरिक अधिकारियों का हाथ बँटाया है।

"यातायात् के साधनों को काट देने से संबन्ध रखनेवाला कांग्रेस का विद्रोह अब असफल होता जा रहा है। आग लगाने और लूटमार की कार्रवाइयों को दबाया जा रहा है और जान-माल का बहुत ही कम नुकसान हुआ है। इतने विशाल और विस्तृत देश में ५०० से भी कम जानें गई हैं और नागरिक अधिकारियों की सहायता के लिए ब्रिटिश-सेना के केवल थोड़े-से ब्रिगेड ही इधर-उधर भेजने पड़े हैं। अधिकांश जगह भारतीय जनता ने बलवाइयों की खूब खबर ली है और उन पर काबू पा लिया है।

"मुझे पूरा यकीन है कि यह सभा चाहेगी कि मैं बहादुर भारतीय पुलिस और भारतीय सरकारीवर्ग के प्रति, जिनका व्यवहार साधारणतः बड़ा प्रशंसनीय रहा है, उनकी दृढ़ता और राजभक्ति के लिए आभार प्रकट करूं। संक्षेप में, सबसे बड़ी और उल्लेखनीय बात, जोकि कांग्रेस के इस हिंसात्मक आन्दोलन से स्पष्ट हुई है, यह है कि कांग्रेस देश का प्रतिनिधित्व नहीं करती; वह एक कमजोर जमात है और वह देश के साधारण जीवन को व्यवस्थित करने में नाकामयाब रही है। वाइसराय और उनकी शासन-परिषद् जिन दृढ़, लेकिन संयत साधनों का सहारा लेकर विभिन्न भारतीय वर्गों और संप्रदायों के जीवन की रक्षा कर रही है, और देश के बचाव के लिए भारतीय और ब्रिटिश सेनाओं को जापानी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए खुली छुट्टी दे रही है, उसके लिए सरकार उनका समर्थन करना आवश्यक समझती है।

"इस सम्बन्ध में मैं आपको यह बता दूं कि बहुत-सी सेनाएं भारत पहुंच गई हैं और इस वक्त उस देश में श्वेत सैनिक इतनी बड़ी संख्या में मौजूद हैं, जितने पहले कभी नहीं रहे, यद्यपि देश की विशालता और भारी जनसंख्या को देखते हुए वे अब भी बहुत थोड़े हैं। इसलिए मैं इस सभा को सूचित कर देना चाहता हूं कि भारत की मौजूदा स्थिति से हमें अनुचित रूप से घबराना या निराश होना नहीं चाहिए।"

उसी दिन प्रश्नोत्तर के समय भारत-मन्त्री ने बताया कि संयुक्त-राष्ट्रों के प्रधान सह-

योगियों को भारत की वर्तमान राजनीतिक स्थिति से अवगत कराने के लिए उचित कार्रवाई की गई है।

नैतिक दृष्टि से और अंक-गणित के आधार पर श्री चर्चिल के आंकड़े बिल्कुल ग़लत और भ्रमपूर्ण हैं। अगर यह मान लिया जाय कि सारे भारत की मुस्लिम आबादी ६ करोड़ है तो फिर रियासतों में और मुसलमान कैसे गिने जा सकते हैं। इन ६ करोड़ मुसलमानों में आखिर रियासतों के मुसलमान भी तो शामिल हैं। अगर स्वयं कांग्रेस का प्रधान एक उच्चकोटि का, सुसंस्कृत और संभ्रान्त मुसलमान है तो फिर श्री चर्चिल यह दावा कैसे कर सकते हैं कि भारत का एक भी मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं है। अगर कांग्रेस के ५० अध्यक्षों में से ८ अध्यक्ष उच्चकोटि के विद्वान् और उच्च सामाजिक स्थिति के मुसलमान हो सकते हैं तो फिर आप कांग्रेस को केवल एक हिन्दू संस्था किस प्रकार कह सकते हैं?

भारत में, जहां कि राजनीति धर्म और नैतिकता के स्तर तक पहुंचा दी गई है, राजनीतिक झूठ आप को बेहूदा और विस्मयजनक बात प्रतीत होगी। लेकिन श्री चर्चिल को इसकी कोई परवाह नहीं थी। उनके लिए झूठ बोलना एक मामूली बात है। उनसे पूछा गया कि "आपने रूसियों में झूठी आशाएं क्यों पैदा होने दीं? आपने अमरीका और रूस के साथ मिलकर १९४२ में यूरोप में दूसरा मोर्चा कायम कर देने की घोषणा क्यों की?" इन प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने कहा :—"मैं साफ-तौर पर यह कह दूं कि मैं दुश्मन को धोखा देना बिल्कुल मुनासिब और न्याय-संगत समझता हूँ, भले उससे स्वयं हमारी जनता क्यों न गलतफहमी में पड़ जाय।" [११-११-४२ को युद्ध-परिस्थिति के सम्बन्ध में दिये गए उनके भाषण से] इस प्रकार के थे ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री जिनके साथ भारत का वास्ता पड़ा था।

बहस का उत्तर देते हुए श्री एमरी ने यह आशा प्रकट की कि सम्भवतः निकट-भविष्य में भारतीयों में किसी विधान के बारे में समझौता हो जाय। आपने कहा—"परन्तु इससे बड़ी गलती और क्या हो सकती है कि सफलता की तनिक भी आशा के बिना समझौते की बातचीत चलाई जाय। हमें कांग्रेस में हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा करनी होगी। इस बीच ब्रिटिश सरकार अपनी नीति की साधारण रूप-रेखा के अन्तर्गत किसी भी प्रस्ताव का स्वागत करेगी।" भारत के प्रमुख दलों में समझौता कराने के लिए सर तेजबहादुर सप्रू और श्री राजगोपालाचारी की कोशिशों का जिक्र करते हुए श्री एमरी ने कहा कि "भारत की राष्ट्रीय एकता को दृढ़ और स्थायी आधार पर स्थापित करने के लिए ब्रिटिश सरकार हर कोशिश का स्वागत करेगी।"

जब उनसे ऐसे कागज-पत्र छापने को कहा गया जिस से यह ज़ाहिर होता हो कि वास्तव में कांग्रेस और उसके अधीनस्थ संगठनों ने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन के लिए हिदायतें जारी की थीं, तो श्री एमरी ने कहा—"निस्सन्देह भारत-सरकार इस पर सोच-विचार करेगी कि कौन-सी सूचना प्रकाशित करना वांछनीय और उचित होगा और मैं इस बारे में उससे सलाह-मशविरा करूँगा। समाचारपत्रों में २६ अगस्त को संक्षेप में वे हिदायतें पहले ही छप चुकी हैं जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के ८ अगस्त वाले प्रस्ताव के पास होने से कुछ समय पूर्व मद्रास प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन के संचालन के सम्बन्ध में जारी की थीं। दूसरे प्रान्तों में जो घटनाएं हुई हैं, वे मद्रास की घटनाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। वास्तव में उनकी रूपरेखा भी मद्रास-जैसी ही है। जैसा कि कांग्रेस के अगस्तवाले प्रस्ताव से जाहिर होता है, गांधीजी-द्वारा शासन-व्यवस्था को पूर्ण रूप से पंगु बना देने के आदेश को कार्यान्वित

करने की जिम्मेदारी जिलों और लोगों की अपनी-अपनी मर्जी पर छोड़ दी गई थी। भारत-सरकार को इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपद्रवों की मुख्य जिम्मेदारी कांग्रेस के नेताओं की ही है, भले ही प्रत्येक हिंसापूर्ण कार्य में उनका प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध न हो।" जब आप से यह पूछा गया कि क्या यह वांछनीय नहीं है कांग्रेस-द्वारा दी गई वास्तविक हिदायतें सभा के सामने रखी जायँ तो श्री एमरी ने कहा, "इस बात का का फैसला करना भारत-सरकार का काम है कि उसके पास जो सूचना पहुँची है उसमें से कितनी प्रकाशित करने-योग्य है।"

प्रत्यक्ष है कि यह उल्लेख उन हिदायतों के बारे में हैं जो मद्रास की एक कांग्रेस-कमेटी-द्वारा जारी की गई बताई जाती है और जिन्हें मद्रास-सरकार ने २६ अगस्त को डंके की चोट देकर छापा था। लेकिन श्री एमरी ने स्वयं ही अपने कथन का महत्त्व कम कर दिया, जैसा कि उनके नीचे दिये गए वक्तव्य से प्रकट हो जाता है:—

"जुलाई में इस बारे में मद्रास-सरकार को बहुत से ऐसे प्रमाण और सामग्री मिली, जो छापने-योग्य नहीं है। इनमें उसके हाथ वे हिदायतें भी आगईं जो मद्रास की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों द्वारा जारी की जा रही थीं। मुझे इन सभी हिदायतों को आप को पढ़कर सुनाने की आवश्यकता नहीं। उनमें सरकारी अफसरों से अपनी नौकरियां छोड़ देने, मजदूरों की हड़तालें कराने, दूकानों पर पिकेटिंग करने, जंजीरें खींच कर गाड़ियां रोकने, बिना टिकट के यात्रा करने और टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काटने का अनुरोध किया गया है। इनमें कहा गया है कि इस बात का ख्याल रखा जाय कि रेल की पटरियां न उखाड़ी जायं और जान को नुकसान न पहुंचाया जाय। लेकिन निश्चय ही इस पर अमल नहीं किया गया।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों द्वारा जारी की गई हिदायतों में साफ तौर पर जो चेतावनी दी गई थी मद्रास-सरकार ने उसका ज़िक्र तक करना भी मुनासिब नहीं समझा और वाइसराय की शासन-परिषद् के नये सदस्य सर मोहम्मद उस्मान ने भी राज-परिषद् में इसका कोई ज़िक्र नहीं किया, हालांकि श्री एमरी कामन-सभा में इसका उल्लेख पहले ही कर चुके थे।

श्री एमरी ने सदा की भांति बड़े-बड़े दलों के आपसी समझौते-द्वारा एक विधान बनाने की दुहाई दी। लेकिन सवाल तो यह है कि इस बात पर कौन जोर दे रहा था कि १० करोड़ मुसलमान संघ-योजना के अन्तर्गत कोई विधान कैसे मान सकते हैं? ८ अगस्त १६४० को भारत में और १४ अगस्त को कामन सभा में की गई घोषणा के जन्मदाता कौन थे? क्या क्रिप्स-योजना के अंतर्गत प्रांतों को पृथक् होने का अधिकार देने की जिम्मेवारी लार्ड लिनलिथगो और श्री एमरी पर नहीं थी? क्या ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री का इसमें हाथ नहीं था? स्वयं ही भारतीयों में मतभेद और फूट की नींव डालकर अब ये महानुभाव किस मुंह से 'आपसी समझौते' की बात कह रहे थे।

श्री एमरी ने फरमाया है कि "श्री क्रिप्स हज़ारों मील का सफर करके भारत के लोगों से सामूहिक रूप से मिलने गए, लेकिन फिर भी भारत के विभिन्न दल भारतीय विधान के बारे में कोई समझौता करने के लिए न तो स्वयं ही तैयार हुए और न ही उन्होंने क्रिप्स के साथ समझौता करने की कोशिश की।" इससे बड़ा झूठ और क्या हो सकता है? जितने दिन भी श्री क्रिप्स भारत ठहरे, क्या कभी किसी ने विभिन्न दलों और वर्गों से एक साथ मिलकर एक-दूसरे से वचार-विनिमय करने की बात कही? लेकिन इसके विपरीत उन्होंने तो केवल उन्हीं लोगों से

बातचीत करना मुनासिब समझा जिन्हें स्वयं उन्होंने अथवा उनके सलाहकारों ने उपयुक्त समझा। इतना ही नहीं, न जाने यकायक उन्होंने अपनी इस बातचीत का सिलसिला ख़त्म करके इंग्लैण्ड वापस भाग जाने की क्यों सोची ?

२६ सितम्बर को लन्दन में युद्ध की परिस्थिति का सिंहावलोकन करते हुए श्री एमरी ने कहा, "किसी भी दल-द्वारा लादा गया विधान कभी टिक नहीं सकता, लेकिन गांधीजी और कांग्रेस के संगठन का नियंत्रण करनेवाले इनके मुट्ठीभर साथियों का असली मकसद यही है। इसी मकसद को हासिल करने के लिए उन्होंने हाल में बड़े पैमाने पर तोड़-फोड़ का आन्दोलन शुरू करने का फैसला किया था। और इस तरह से वे भारत-सरकार से घुटने टिकवा लेना चाहते थे। उससे न केवल तात्कालिक युद्ध-प्रयत्न के लिए भारी ख़तरा पैदा हो जायगा, बल्कि भारत की भावी स्वतंत्रता और एकता भी खतरे में पड़ जायगी।"

यह एक और झूठ है, जिसका हमें प्रतिवाद करना होगा। क्या कभी कांग्रेस ने यह कहा है कि सिर्फ उसे ही भारत का विधान तैयार करने का हक है ? परन्तु इसके विपरीत कांग्रेस ने तो वर्तमान पृथक् निर्वाचन-पद्धति के आधार पर ही एक विधान-परिषद् चुने जाने की मांग की है और यह भी साफ तौर पर घोषणा की है कि किसी भी 'साम्प्रदायिक प्रश्न' के निर्णय में संबद्ध अल्पसंख्यकों के बहुमत से ही कोई फैसला किया जायगा।

अगर संयुक्त प्रांत, बिहार और मद्रास-जैसे प्रांतों में दलित जातियों के लगभग सभी प्रतिनिधि कांग्रेसजन हो सकते हैं और अगर बिहार और मद्रास में हरिजन कांग्रेसी मन्त्री भी हो सकते हैं तो आप यह कैसे दावा कर सकते हैं कि हरिजनों का कांग्रेस से कोई वास्ता ही नहीं है। इसके अलावा कांग्रेस देश के आंतरिक नवजागरण और बाहरी आज़ादी के एक राष्ट्रीय आंदोलन की प्रतीक है। इसलिए ब्रिटेन के अनुदार अथवा मज़दूर दल के खिलाफ उदार दल से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। ऐसा करना गलती होगी। कांग्रेस उस विचार-धारा के लोगों की एक प्रतिनिधि-संस्था है जो विदेशी जुए से भारत को मुक्त करने के लिए हर कुर्बानी देने को तैयार हैं और जो आत्म-बलिदान का दृढ़ निश्चय किये हुए हैं। भारत के ग्यारह सूबों में से आठ में वह प्रांतीय स्वायत्त-शासन की योजना पर अमल कर रही थी और शेष प्रांतों में से कम-से-कम एक में, जो अंग्रेज़ों के बनाए कानूनों के मुताबिक सब से बड़ा था, विभिन्न दलों ने अपनी नीचता-पूर्ण चालबाजियों के बल पर कांग्रेस के सत्तारूढ़ होने में अड़चनें पैदा कीं, फिर भी उसमें कांग्रेस का ही प्रभाव सर्वोपरि बना रहा। यह कांग्रेस ही थी जिसे १६३७ में लार्ड लिनलिथगो ने यह आश्वासन दिया था कि गवर्नर प्रांतों के रोजमर्रा के शासन-प्रबन्ध में अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग नहीं करेंगे और सभी जानते हैं कि केवल ऐसे ही आश्वासनों की वजह से कांग्रेस के लिए विभिन्न प्रांतों में जुलाई १६३७ में मंत्रिमंडल बनाने संभव हो सके थे। अगर सभी प्रांतों की कुल सीटों में से, जिनकी संख्या १४०० से भी ऊपर थी, कांग्रेस ने एक ही बार में ७११ सीटों पर कब्ज़ा कर लिया था तो फिर आप उसे जाली संगठन क्योंकर कह सकते थे जैसी कि श्री चर्चिल की कोशिश थी। इसके अलावा हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मार्च-अप्रैल १६४२ में जब सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आए थे तो उन्होंने यही घोषणा की थी कि उनका पहला काम केवल कांग्रेस और लीगवालों से मुलाकात और बातचीत करना है। आखिर उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया और क्या वजह है कि श्री चर्चिल ने, जिन्होंने उसे भारत भेजा था, सिक्खों, ईसाइयों और गैर-कांग्रेसी हिन्दुओं के बारे में कुछ भी कहने की हिदायतें नहीं कीं।

जाहिर है कि श्री चर्चिल यह नहीं कर सकते थे कि 'चित भी मेरी और पट्ट भी मेरी।' इसके अलावा उन्होंने भारतीय सिविल सर्विस में काम करनेवाले ६०० अंग्रेज़ों का ज़िक्र करते हुए कहा कि वास्तव में तो इस सर्विस का सारा प्रबन्ध स्वयं भारतीयों के ही ऊपर है। ठीक यही हालत जर्मनी-द्वारा पराजित किये जाने के बाद १९४३ में फ्रांस की थी। लेकिन क्या इसके ये मानी हैं कि हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानियों की हकूमत हो गई थी जैसे कि फ्रांस में फ्रांसीसियों की थी। इस लड़ाई ने यह साबित कर दिया है कि सिर्फ हिन्दुस्तान ही एक ऐसा देश नहीं है जो अपने मालिक की गुलामी और उसके टुकड़ों पर पलना पसन्द करता है, लेकिन एक बार पराजित और निहत्थे हो जाने पर यूरोपीय राष्ट्र भी ऐसा ही करते हैं। गुलामी की वजह से ही लोग नौकरियां करते हैं और जगहें खाली नहीं होने देते। गरीबी, अभाव और मुफलिसी की वजह से ही लाखों आदमी भारतीय सेना में भरती हुए हैं—अथवा क्या स्वयं क्रिप्स के शब्दों में यह कहना उचित न होगा कि वस्तुतः आज भारत की अपनी कोई सेना है ही नहीं।

श्री चर्चिल ने कामन-सभा में कांग्रेस पर यह इलजाम लगाया था कि वह व्यापारिक, औद्योगिक और आर्थिक हितों के बल-बूते पर नाचती है। मान लीजिए कि यह सही है, तो क्या ऐसा करना कोई गुनाह या पाप है? कांग्रेस तो अपने चवन्नी के सदस्यों के बल-बूते पर खड़ी है और जब वे गरीब हो जाते हैं तो उसे भी भूखों मरना पड़ता है। क्या भारत के व्यापारी और कारखानेदार भारतीय नहीं हैं? क्या वे कर नहीं देते? क्या उन्हें स्वराज्य लेने का कोई हक नहीं? क्या कभी कांग्रेस उनके इशारों पर नाची है? क्या शराब-बंदी के सिलसिले में बम्बई में लगाया गया मकान-टैक्स, कर्ज़-सहायक-बिल और काश्तकारी बिल उन (व्यापारियों और औद्योगिकों) की भलाई के लिए पास किये गए थे अथवा गरीबों के लिए? श्री चर्चिल किस के बूते पर टिके हुए हैं? ब्रिटेन के असली शासक कौन हैं? इसका जवाब स्वयं प्रोफेसर हेरल्ड लास्की ने, जो कि ब्रिटेन के एक लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति और नाजी तथा फासिस्ट आक्रांतताओं के खिलाफ एक प्रजातन्त्रवादी दृढ़ मोर्चे के समर्थक हैं, दिया है। इस वक्त कामन-सभा में अनुदार दल का बोलबाला है, जो कि १९३५ में एक गलत और झूठे सवाल को लेकर चुना गया था। इस पार्टी का असली मकसद तो उत्पादन के साधनों पर यथा-संभव गैर-सरकारी लोगों का कब्जा बनाए रखना है। अन्त में, हम यह कहना चाहते हैं कि श्री चर्चिल को यह कहने या दावा करने का कोई हक नहीं कि कांग्रेस ने अहिंसा को तिलांजलि देकर यातायात् के साधनों को नष्ट-भ्रष्ट कर देने की साजिश की है। उन लोगों ने, जिनका कांग्रेस के साथ दूर-दराज का भी ताल्लुक़ नहीं है, स्वयं यह माना है कि बम्बई और अहमदाबाद के उपद्रवों की जिम्मेदारी उनके ऊपर है। सच तो यह है कि जब कांग्रेस के नेताओं को अपना आन्दोलन छेड़ देने से पहले ही ठूंस-ठूंसकर जेलों में भर दिया गया तो देश क्रोध से पागल हो उठा और जब क्रोधोन्मत्त जनता निःशक्त होती है तो उसका खुली लड़ाई के तरीकों को छोड़कर गुप्त साधनों का सहारा लेना सर्वथा स्वाभाविक है। स्वतंत्र गांधी भारत का प्रथम पहरेदार और देश की शांति तथा व्यवस्था का सब से बड़ा शासक है। लेकिन अंग्रेज़ों के लिए अहिंसा के सिद्धांत और उनकी युद्धकला को समझना मुश्किल है और उनकी कोशिश हमेशा उसे हिंसा में परिवर्तित करने की रहेगी। कांग्रेसी नेताओं की असामयिक, एक साथ और अन्धाधुन्ध गिरफ्तारी के बारे में उनका यह तर्क है कि गांधीजी-द्वारा वाइसरायं से मुलाकात करने का अर्थ-तैयारी करना और समय टालना था। मान लीजिए कि यह बात सही है। क्या ब्रिटिश सरकार एक निहत्थी जनता के विद्रोह को नहीं दबा सकती? कांग्रेस

सदा ही अहिंसा पर दृढ़ रही है और उसने भूतकाल में जब-कभी भी कोई अहिंसात्मक कार्रवाई देखी है—उसकी डटकर और खुले तौर पर निन्दा की है। परन्तु इस अहिंसात्मक आन्दोलन को असफल, मूर्खतापूर्ण और यहां तक अराजकतावादी कहने की धृष्टता तो स्वयं ब्रिटेन ने ही की है।

इंग्लैंड और भारत में ही नहीं, बल्कि अमरीका और दूसरे मुल्कों में भी श्री चर्चिल के इस भाषण पर गहरा खेद प्रकट किया गया। पार्लमेण्ट के सदस्य श्री ऐलन और विरोधी दल के नेता और भूतपूर्व मंत्री ग्रीनवुड ने प्रधान मंत्री के इस भाषण की आलोचना करते हुए इसे एक तरह से "उत्तेजनात्मक, और विरोध-मूलक" बताया जिससे 'लाखों ही लोगों को धक्का' पहुँचेगा।

१० सितम्बर को कामनसभा में दिये गए श्री चर्चिल के उक्त भाषण के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए 'टाइम्स' ने अपने एक अग्रलेख में लिखा—"कांग्रेस सभी विवेकशील भारतीयों अथवा शायद उनके बहुमत का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती। यद्यपि यह ठीक है कि केवल कांग्रेस के दृष्टिकोण का ख्याल करते हुए ही कोई समझौता करना संभव नहीं है। परन्तु यह भी उतना ही सही है कि उसकी उपेक्षा करके कोई समझौता नहीं हो सकता।" इसी प्रकार श्री चर्चिल के वक्तव्य की आलोचना करते हुए 'मांचेस्टर गार्जियन' ने लिखा कि "उन्होंने भारतीय स्थिति की कुछ ऐसी सहल बातों का, जिसका प्रचार अमरीका में हो चुका है, खण्डन किया है।...यद्यपि उपद्रवों को दबाने की उनकी नीति का स्वागत किया जायगा परन्तु यदि चर्चिल के वक्तव्य को अन्तिम वाक्य मान लिया जाय तो उससे न केवल ब्रिटेन बल्कि मित्रराष्ट्रों की भी गहरी निराशा होगी।"

परोक्ष-रूप से इस तरह से श्री एमरी को भी कांग्रेस के साथ समझौता न करने के लिए मुनासिब जवाब मिल जाता है। फिर इसी विषय को लेकर २८ सितम्बर को 'मांचेस्टर गार्जियन' ने लिखा "भारत के मामले में ब्रिटिश राजनीतिज्ञता की साख को धीरे-धीरे बट्टा लग रहा है। हम अमरीका और चीन को यह यकीन दिलाने में असफल रहे हैं कि हम अब तक अपने उदार विचारों पर दृढ़ बने हुए हैं। श्री चर्चिल का भाषण एक खतरे और संकट से कम नहीं था। क्योंकि उससे यह नहीं जाहिर होता था कि हम भारतीय समस्या को जल्दी सुलझाने के लिए उत्सुक और बेचैन हैं और न ही उससे यही जाहिर होता था कि हमने भारत की आजादी के बारे में संयुक्तराष्ट्रों के दृष्टिकोण का ही कोई ख़याल रखा है।"

भारत में तो श्री चर्चिल के भाषण ने केवल घाव पर नमक छिड़कने का काम किया। सायंकाल के समय प्रकाशित होने वाले दैनिक मुस्लिम पत्र 'स्टार आफ इंडिया' ने लिखा कि भारत में श्री चर्चिल के भाषण से इतना अधिक क्षोभ फैलेगा जितना कि उनके यह कहने पर भी नहीं फैला था कि अटलांटिक अधिकार-पत्र भारत पर लागू नहीं होगा, क्योंकि वे एक कट्टर साम्राज्यवादी हैं, जिन्हें दूसरे देशों को स्वाधीन करने की अपेक्षा साम्राज्य में शामिल करने की अधिक लालसा और उत्सुकता रहती है।"

'अमृत बाजार पत्रिका' ने लिखा—"यह भाषण आदि से लेकर अन्त तक उत्तेजनापूर्ण है। इससे अराजकता को प्रोत्साहन मिलता है और यह भारत की प्रगतिशील शक्तियों को चुनौती है।"

श्री चर्चिल के उक्त वक्तव्य को 'खतरनाक' बताते हुए 'सिविल ऐन्ड मिलिटरी गजट' ने लिखा—"प्रत्येक वास्तविक राष्ट्रवादी और देशभक्त भारतीय यह कह सकता है और उचित

रूप से कह सकता है कि भारत ने तो रोटी मांगी थी लेकिन उसके बदले में उसे मिला पत्थर। साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुत से राष्ट्रवादी भारतीयों के दिलों में ब्रिटेन के लिए अत्यधिक सम्मान और प्रेम है और वे मित्रराष्ट्रों की असंदिग्ध रूप से हार्दिक सहायता करना चाहते हैं। यह कहकर कांग्रेस को बदनाम करने या उसकी मान-प्रतिष्ठा घटाने की कोशिश करना कि केवल थोड़े से लोग ही उसके समर्थक हैं, सिवाय मूर्खता के और कुछ नहीं है।''

श्री चर्चिल ने गैर-कांग्रेसियों में ६ करोड़ मुसलमानों, ५ करोड़ अछूतों और ६॥ करोड़ रियासती जनता की गिनती की थी। बेहतर होता अगर इसमें वे उन १० करोड़ लोगों को भी शुमार कर लेते जो राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं और इस तरह से उन्हें तसल्ली हो जाती कि कांग्रेस के साथ केवल ५ करोड़ लोग हैं और इस प्रकार भारत के बारे में उनके दृष्टिकोण की निरर्थकता प्रमाणित हो जाती।

उक्त पत्र की राय है कि ''अगर प्रधानमंत्री भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करके उसके हाथों में सत्ता हस्तान्तरित करने की कोशिश करते तो वे इस देश के अधिकांश विवेकशील राष्ट्रवादियों की आकांक्षाओं की पूर्णतः तृप्ति करने में सफल हो जाते।

''अगर ब्रिटेन ऐसा करता तो इस देश में उसके प्रति मौजूद व्यापक संदेह निराधार साबित हो जाता और इस प्रकार भारत की वर्तमान गुत्थी को सुलझाने की जिम्मेदारी स्वयं भारतीयों के कन्धों पर डाल दी जाती। अन्त में पत्र ने लिखा कि ब्रिटेन ने एक महान् अवसर खो दिया।''

हिन्दू महासभा ने ब्रिटेन से अपनी ढीलढाल की नीति छोड़कर इस दिशा में अविलम्ब कार्रवाई करने का अनुरोध किया।

अक्तूबर १९४२ के अन्त में पार्लीमेण्ट में भारत-विषयक बहस होने से पहले ही १० अक्तूबर को 'न्यू स्टेट्समैन ऐण्ड नेशन' ने भारतीय समस्या को सुलझाने लिए वास्तविक कोशिश करने पर जोर देते हुए लिखा कि ''क्या भारत में गतिरोध को दूर करने के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता ? हमारी राय में अमरीका की मध्यस्थता के जरिये भारतीय समस्या को सुलझाने का प्रस्ताव ठुकरा कर हमने गलती की है।'' 'टाइम्स' ने लिखा कि ''ब्रिटिश सरकार को अपना प्रयास नहीं छोड़ना चाहिए और वाइसराय की शासन-परिषद् के उन पांच स्थानों पर भी जिन पर इस समय अंग्रेज हैं—भारतीयों को ही युक्त कर देना चाहिए। कठिनाई तो यह है कि कोई भी भारतीय जिसे अपने देशवासियों का विश्वास प्राप्त नहीं है अथवा जिसे किसी दल का समर्थन प्राप्त नहीं है, वाइसराय की शासन-परिषद् में नहीं शामिल हो सकता। और उसमें ऐसे भारतीयों को लेने से कोई लाभ नहीं जो सिवाय अपने किसी का भी प्रतिनिधित्त्व नहीं करते। इस दिशा में एकमात्र उचित तरीका यह होगा कि श्री राजगोपालाचारी सर तेजबहादुर सप्रू अथवा सर सिकन्दर हयातखां जैसे किसी योग्य भारतीय राजनीतिज्ञ, से राष्ट्राय सरकार की स्थापना के लिए कहा जाय। भारतीयों को शक है कि हम उन्हें सत्ता सौंपने को तैयार नहीं हैं, इसलिए जब तक हम उपयुक्त कार्रवाई नहीं करेंगे तब तक हम नहीं जान सकेंगे कि भारत के विभिन्न दल देश की रक्षा के लिऐ संगठित होकर कोई कार्रवाई करना चाहते हैं या नहीं।''

श्री एमरी ने गांधीजी के उद्धरणों का जिक्र किया था। उन पर हम 'सरकारी नीति पर गांधीजी'-शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत सोच-विचार करेंगे। इसके अलावा उसमें हम भारत के उपद्रवों के बारे में भारत सरकार की पुस्तिका और श्वेतपत्र के उद्धरणों पर भी सविस्तार सोच-विचार करेंगे।

पार्लमेण्ट में श्री चर्चिल और श्री एमरी के इन उल्लेखनीय वक्तव्यों के थोड़े दिनों बाद ही अक्टूबर १९४२ में भारत के बारे में ब्रिटेन की दोनों सभाओं में फिर पूरी तरह से बहस हुई जबकि बर्मा और भारत (अस्थायी और मिश्रित) विषयक बिल का दूसरा प्रवचन प्रारम्भ हुआ। इस नाटक का दृश्य है ब्रिटेन की सामन्त-सभा और रंगमंच के अभिनेता हैं भारत के उप-मन्त्री ड्यूक आफ डेवनशायर। लेकिन उन्होंने भी वही पुराना राग अलापा। आपने कहा कि क्रिप्स-मिशन इस वजह से असफल होगया कि चूंकि कांग्रेस पार्टी कोई समझौता करने को राजी नहीं थी और दूसरे इसलिए कि वह अपने को भारत की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था मानने का दावा करती थी। आगे आपने कहा कि "अगर हम भारत के उन विभिन्न तत्वों की उपेक्षा करके, जिनकी कुल संख्या मिलाकर कांग्रेस से कहीं अधिक है, कांग्रेस के हाथ में सत्ता सौंप देते तो उसका एकमात्र परिणाम अव्यवस्था और अराजकता होती। इसी प्रकार अगर कांग्रेस-द्वारा बिना दूसरे दलों की सहायता के एक प्रतिनिधि सरकार स्थापित करने की कोशिश की जाती तो उससे भी समस्या सुलझ नहीं सकती थी। यह काम इसलिए भी कठिन था कि कांग्रेस को छोड़कर हिन्दुओं की दूसरी सबसे बड़ी पार्टी हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग की मांगें परस्पर-विरोधी थीं। बस, गतिरोध की यही एक वजह है और बेचारी ब्रिटिश सरकार को तो यों ही व्यर्थ में बदनाम किया जा रहा है।" वाह! खूब!! दरअसल उसे योंही बेकार में बदनाम किया जा रहा है! पहले तो खुद अंग्रेज ही क्रिप्स-घोषणा के जरिये देशी रियासतों को भारत से अलग रखते हैं और प्रान्तों को संघ से अलग हो जाने का हक देते हैं और फिर उस पर तुर्रा यह कि कांग्रेस और लीग में समझौता नहीं होता। इतना ही नहीं, ८ अगस्त १९४० को वे हिन्दू महासभा को भी स्वीकार कर लेते हैं और यह ढिंढोरा पीटना शुरू कर देते हैं कि एक और संस्था का दूसरी ग़ैर-कांग्रेसी संस्थाओं से मत-भेद है और यह मतभेद भी इस बात पर है कि कांग्रेस के बिना ही विधान बना लिया जाय। इस तरह से ब्रिटेन हिन्दुस्तान को बदनाम करने की कोशिश करता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह कहानी बन्दर और दो बिल्लियों की प्रसिद्ध कहावत से भी बाजी मार ले गई। यहां बन्दर दो नहीं, तीन या चार अपनी मर्जी के मुताबिक जितनी बिल्लियां चाहे आपस में लड़ा सकता है।

इतने पर भी ड्यूक आफ-डेवनशायर के शब्दों में इतनी शिष्टता या सौजन्य अवश्य बाकी पाया जाता है:—"मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि हमारे पास ऐसा कोई प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान् नहीं है, जिससे हम यह कह सकें कि हिन्दुस्तान में दुश्मन अपना असर फैला रहा है," लेकिन वे कांग्रेस पर यह इलजाम लगाने से नहीं थकते कि "उसने अपना आन्दोलन युद्ध-प्रयत्न के मार्ग में रोड़ा अटकाने के मकसद से चलाया है।" इसके बाद ड्यूक ने "पादरियों और राजनीतिज्ञों पर इसलिए कीचड़ उछालने की कोशिश की है कि वे लोग भारत के गतिरोध की जिम्मेदारी ब्रिटेन अथवा भारत-सरकार पर क्यों डाल रहे हैं और क्यों यह कह रहे हैं कि इस मामले में पहल ब्रिटेन को ही करनी चाहिए।"

अन्त में अपने "वामपक्षी" समाचार-पत्रों और 'टाइम्स' की खबर ली है। 'टाइम्स'

की खबर आपने इसलिए ली कि चूंकि पत्र में लिखा था कि "अगर राजनीतिक कठिनाइयां दूर कर दी जायँ तो भारत के युद्ध-प्रयत्न में दसगुना वृद्धि हो सकती है और ब्रिटिश सरकार अगर चाहे तो ये कठिनाइयां दूर कर सकती है । कठिनाई यह नहीं है कि हमें रंगरूट नहीं मिलते, बल्कि असली चीज तो यह है कि हमें वैधानिक समस्या सुलझाने के लिए विशेषज्ञ और कुशल व्यक्ति नहीं मिलते ।" ड्यूक ने घोषणा की कि क्रिप्स-मिशन की असफलता के बाद अगला कदम अब हिन्दुस्तान को ही उठाना चाहिए ।

पहली अक्तूबर को श्री एमरी से कामन-सभा में यह सवाल पूछा गया• कि भारत के कितने प्रभावशाली व्यक्तियों अथवा संगठनों ने कांग्रेसी बन्दियों के साथ समझौते की बातचीत करने के बारे में मुनासिब सहूलियतें देने को लिखा है । उनसे यह भी पूछा गया कि 'पंडित नेहरू इस वक्त कहां हैं और क्या उनके साथ लिखा-पढ़ी की जा सकती है ?" इसके जवाब में श्री एमरी ने कहा कि "मुझे इस बारे में किसी ने नहीं लिखा, पंडित नेहरू को घरेलू मामलों के बारे में अपने परिवारवालों से पत्र-व्यवहार करने की इजाजत है, लेकिन मैं यह बताने को तैयार नहीं कि वे कहां हैं ।" जब उनसे यह पूछा गया कि भारत में उपद्रव फैलानेवाली भीड़ पर वायुयानों से जो बम-वर्षा कीगई है उसके बारे में वे पूरा हाल बताएँ और भविष्य में इन तरीकों से काम न लें तो श्री एमरी ने कहा, "पिछले सप्ताह भारत की केन्द्रीय असेम्बली में सरकारी तौर पर जो वक्तव्य दिया गया है और जो यहां के पत्रों में भी प्रकाशित हो चुका है, मैं उससे अधिक और कुछ नहीं कह सकता । इसमें बताया गया है कि हाल के उपद्रवों में पांच दफा भीड़ पर वायुयान से मशीनगन-द्वारा गोली-वर्षा करनी पड़ी है और यह गोली उस वक्त चलाई गई जबकि बिहार में १८ सितम्बर को एक वायुयान दुर्घटना में चालक के मर जाने पर उस वायुयान के कर्मचारियों को भीड़ ने मौत के घाट उतार दिया । जिन इलाकों में व्यापक रूप से रेलमार्गों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया और जहां बाढ़ के कारण फौजों के यातायात् में कठिनाइयां पैदा हुई वहां तोड़-फोड़ के काम को रोकने के लिए वायुयानों की सहायता लेना आवश्यक समझा गया ।"

भारत की वर्तमान और निकट-भविष्य की परिस्थिति के बारे में ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकार की नीति का जिक्र करते हुए श्री एमरी ने कहा कि "जहाँ तक कांग्रेस का सवाल है उसके नेताओं ने स्वयं अपनी नीति से साबित कर दिया है कि उनके साथ कोई बात-चीत नहीं हो सकती ।

"भारत सरकार-द्वारा तब तक कांग्रेसी नेताओं के साथ कोई बातचीत करने अथवा दूसरों को इसकी इजाजत देने का सवाल नहीं उठता जब तक कि भारत में उस सङ्कट के फिर पैदा हो जाने का खतरा मौजूद है जिसके लिए वे जिम्मेदार हैं अथवा जब तक वे अधिकारियों से यह साफ-साफ नहीं कह देते कि वे उन्होंने अवैध और क्रान्तिकारी तरीकों से भारत पर कब्जा कर लेने की अपनी नीति छोड़ दी है और वे न केवल हम से ही बल्कि अपने देशवासियों से भी समझौता करने को तैयार हैं । जब तक• कांग्रेस का मौजूदा रुख और दृष्टिकोण बना रहेगा तबतक उसके साथ कोई सुलह-सफाई नहीं हो सकती । उससे तो केवल मुसलमानों और दूसरे दलों के लिए और भी ज्यादा दिक्कतें पैदा हो जाएंगी । इसके अलावा सेना, पुलिस और सिविल सर्विस के लोग, जिन्होंने ऐसे संकट के समय में इतनी दृढ़ता का परिचय दिया है और जिनके

ऊपर न केवल सम्पूर्ण भारत का बल्कि मित्रराष्ट्रों का भाग्य भी बहुत अंश तक अवलंबित है, इसे एक भारी विश्वासघात समझेंगे।"

वर्तमान सभ्यता का यह एक अत्यन्त शोचनीय पहलू है कि श्री एमरी जैसा व्यक्ति भी हिटलर और गांधी, तथा हिंसा और अहिंसा पर आधारित क्रान्ति में कोई फर्क नहीं कर सकता।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा को यह मानने में कोई शर्म नहीं महसूस होती कि वह एक 'विधानवादी संस्था' से १६२० में एक क्रान्तिकारी संस्था बन गई और उसने अपना उद्देश्य सब न्यायोचित और शान्तिमय साधनों से पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आजादी हासिल करना बनाया। इन्हीं दोनों शब्दों के वास्तविक महत्व को कांग्रेस सदा से समझती रही है और इन्हें ही उसने सत्य और अहिंसा की संज्ञा दी है। जो राष्ट्र कभी तो अपने को भारत का मालिक और कभी उसका ट्रस्टी कहता रहा हो उसके लिए क्रान्ति और स्वतन्त्रता के शब्दों का महत्व समझना कठिन है, बल्कि उसे तो इन शब्दों से उलटे घृणा होगी और वह उत्तेजित हो उठेगा। परन्तु, यदि १८३३ से लेकर १९४२ तक किये गए सभी वायदों, घोषणाओं और अधिकारपत्रों को ताक पर रखकर ब्रिटेन अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता है तो आप कांग्रेस को इसके लिए क्षमा करेंगे कि उसने अपने आदर्शों को छिपाकर नहीं रखा और वह अपने अपरिवर्त्तनशील सिद्धान्तों पर दृढ़ रहते हुए ही खुले तौर पर उस साम्राज्य से लोहा लेती रही। इसमें तो रत्ती भर भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस शक्ति और सत्ता केवल अपने स्वार्थ के लिए ही हासिल करना नहीं चाहती, क्योंकि वह तो इस बात के लिए भी राजी हो गई कि ब्रिटेन सत्ता मुस्लिम लीग को हस्तान्तरित कर दे। यद्यपि कांग्रेस पर यह इलजाम लगाया गया था कि वह क्रिप्स-वार्ता में अल्पसंख्यकों को शामिल नहीं करना चाहती और इसीलिए क्रिप्स को वापस लौट जाना पड़ा, लेकिन बाद में स्वयं क्रिप्स ने ही इसका खण्डन करते हुए बताया कि दिल्ली में उनकी बातचीत के समय किसी भी दल की ओर से यह सवाल नहीं उठाया गया कि वाइसराय की शासन-परिषद् में अमुक दल के कितने प्रतिनिधि लिये जायं। दरअसल देखा जाय तो अक्सर यह होता है कि पहले झूठ का प्रचार कर दिया जाता है और उसके काफी देर बाद सत्य बात प्रकाश में आती है और तब तक वह झूठा प्रचार अपना काम पूरा कर लेता है। गतिरोध दूर करने के बारे में श्री राजगोपालाचार्य ने एमरी को जो मुंहतोड़ उत्तर दिया उसे हम यहां उद्धृत करना उचित समझते हैं :—

"श्री एमरी अपनी तरफ से इस दिशा में जो भी नया कदम उठाते हैं या प्रयास करते हैं, उसका यही नतीजा निकलता है कि दोनों पक्षों के बीच मतभेद और भी अधिक बढ़ जाते हैं। श्री एमरी के भाषण से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि ब्रिटिश सरकार ने अस्थाई सरकार की स्थापना का सब प्रयत्न और विचार त्याग दिया है।"

२६ अक्टूबर को 'मांचेस्टर गार्जियन' में बर्टरैण्ड रसल और उनकी पत्नी ने लिखा कि अंग्रेज पूरी तरह से यह अनुभव नहीं कर रहे कि अमरीका में भारतीय गतिरोध के बारे में कितनी बेचैनी और उत्तेजना पाई जाती है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि न केवल भारत, बल्कि अमरीका और दूसरे मित्र-राष्ट्रों को यकीन दिलाने के लिए भी ब्रिटेन को इस मामले में कुछ-न-कुछ अवश्य करना चाहिये।

२६ अक्तूबर १९४२ को श्री वर्नन बार्टलेट ने भारतीय गतिरोध के निराकरण के लिए 'न्यूज क्रानिकल' में निम्न योजना प्रस्तुत की :—

"जब तक आप भारत की राजनीतिक असमर्थता की भावना को दूर नहीं कर देते अथवा कोई ऐसा कदम नहीं उठाते जिस से जापानी आक्रमण की सम्भावना दूर न होती हो तब तक कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती । श्री एटली और श्री एमरी दोनों ने ही पिछले महीने यह स्पष्ट कर दिया है कि ब्रिटिश सरकार अब तक क्रिप्स-योजना पर कायम है । लेकिन उन्हें अपने इन आश्वासनों के समर्थन में ऐसा कोई वैधानिक कदम उठाना चाहिए या शाही घोषणा कर देनी चाहिए कि लड़ाई के बाद यथासंभव जल्दी-से-जल्दी भारत को आजादी दे दी जायगी । यही नहीं, इस अन्तर्कालीन अवधि में उन्हें ऐसी कोई व्यवस्था भी करनी चाहिए जिस से भारत समान-शत्रु के विरुद्ध अपना पूरा सहयोग प्रदान कर सके ।"

लन्दन के वामपक्षी सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'ट्रिब्यून' ने स्टालिन के नाम एक खुले पत्र में लिखा :—

"जर्मनी के खिलाफ लालसेना ने जो अभूतपूर्व विजय प्राप्त की है उसने आपको संयुक्त-राष्ट्रों का प्रमुख प्रवक्ता बना दिया है । रूस न केवल एशियाई बल्कि यूरोपियन शक्ति भी है, इसलिए आपको छोड़कर और कोई भी व्यक्ति, संयुक्त युद्धनीति, चीन की विस्तृत जनशक्ति के प्रयोग, और सम्पूर्ण भारतीय महाद्वीप के सहयोग-प्रयत्न के प्रश्न के बारे में अधिकृत रूप से कुछ नहीं कह सकता । यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्रों के जीवन-मरण का है और अखिल मानवता की प्रगति की बाजी लगी हुई है । इसलिए हम आप से निवेदन करते हैं कि मित्रराष्ट्रों की राजनीति के निर्धारण और वास्तविक उद्देश्य की घोषणा करने और विजय-प्राप्ति के लिए एक सर्वोच्च संयुक्त सैनिक संगठन स्थापित करने के प्रश्न पर सोच-विचार करने के लिए आप मार्शल चांगकाई शेक, राष्ट्रपति रूजवेल्ट और प्रधान मन्त्री चर्चिल का एक सम्मेलन बुलाएं ।"

१५ नवम्बर को "दमन के बाद—अब क्या" शीर्षक से हेरल्ड लास्की ने अपने एक लेख में लिखा :—

" दमन की किसी भी नीति का एक नतीजा यह निकलता है कि उससे मनुष्य एक दूसरे को समझने की भावना को तिलांजलि दे बैठते हैं । श्री लास्की ने भारतीय गतिरोध को दूर करने के लिये निम्न सुझाव पेश किया :—

"यह कहा जा सकता है कि कांग्रेसी नेता इस समय नज़रबन्द हैं । इसलिए यह साबित करने के लिए कि हम वस्तुतः समझौता करना चाहते हैं और सम्मेलन को सफल बनाने के इच्छुक हैं, हमें उन्हें रिहा कर देना चाहिये । अगर यह तर्क और युक्ति दी जाय, जैसी कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स दे रहे हैं कि यदि इस वक्त सत्ता एक भारतीय सरकार को सौंप दी जाय तो उससे देश में अव्यवस्था और अराजकता फैल जायगी । तो क्या यह नहीं हो सकता कि हम किसी भारतीय को वाइसराय नियुक्त कर दें । उदाहरण के तौर पर सर तेज बहादुर सप्रू को, जिन्हें परंपरा-द्वारा भारतीय मंत्रिमण्डल किसी मंत्री अथवा मंत्रिमण्डल का इस्तीफा मंजूर करने और ऐसा कानून, जो अल्पसंख्कों के हितों के खिलाफ हो, मंसूख करने का अधिकार दे दे । लड़ाई के बाद विधान-परिषद् के कार्य की समाप्ति तक ऐसी अन्तर्कालीन व्यवस्था करना संभव प्रतीत होता है । अगर हिन्दू वाइसराय की नियुक्ति पर कोई एतराज उठाया जाता है तो आप समझौते से किसी सुप्रसिद्ध मुसलमान को वाइसराय बना दें । अगर यह कहा जाय कि लड़ाई के खत्म होने तक अन्तर्कालीन मंत्रिमण्डल की अवधि अनिश्चित प्रतीत होती है तो आप यह कर सकते हैं कि दो-दो साल के लिए बारी-बारी से दोनों जातियों की सरकार स्थापित कर दें । यह

सम्मेलन ही इस बात का फैसला करले कि प्रधान-मन्त्री किसे बनाया जाय और रक्षा-मन्त्री उससे भिन्न संप्रदाय से लिया जाय। इसके अलावा रक्षा-विभाग पर व्यापक रूप से मंत्री का अधिकार रहे और उसके बारे में क्रिप्स-प्रस्तावों की तरह तू-तू मैं-मैं न की जाय। हां, यह किया जाय कि जिस तरह आस्ट्रेलिया का सम्बन्ध जनरल मैकार्थर और परोक्ष रूप में राष्ट्रपति रूजवेल्ट से तथा प्रशान्त-परिषद् से है, उसी प्रकार भारत का सम्बन्ध भी जनरल वेवल, ब्रिटिश युद्ध-मंत्रि-मण्डल और प्रशान्त-परिषद् के साथ रहना चाहिए। भारत की रक्षा के लिए बड़ी-बड़ी सेनाओं के संगठन का काम स्वयं भारतीयों को ही सौंप दिया जाय। युद्ध-प्रयत्न को बढ़ाने, और अगर आवश्यक समझा जाय तो भूमिक्षार नीति (Scorched Earth Policy) पर अमल करने की जिम्मेदारी भी भारतीय मंत्रिमण्डल पर होनी चाहिए। अगर वास्तव में जापान भारत पर हमला कर दे तो यह नीति भारत की इस नयी स्वतन्त्रता की प्रतीक होगी।''

अक्तूबर में हिन्दू महासभा की वर्किङ्ग कमेटी की बैठक हुई और उसे आशा थी कि वह गतिरोध को दूर करने का कोई उपाय ढूंढ निकालेगी। पार्लामेंट और उसके बाहर तथा इंगलैण्ड और भारत दोनों ही जगह बारंबार यह स्पष्ट किया जा चुका था कि जब तक कांग्रेस अपनी वर्तमान नीति पर दृढ़ रहेगी उसके साथ कोई समझौता नहीं हो सकता, लेकिन गैर-कांग्रेसी नेता आपस में मिलकर यदि कोई हल ढूंढ निकालेंगे तो सरकार उस पर अवश्य सोच-विचार करेगी। यह कहकर वास्तव में सरकार ने एक ऐसी समस्या पैदा कर दी जिसे न तो स्वयं वह और न ही गैर-कांग्रेसी जनता हल कर सकती थी। सरकार की स्थिति यह थी कि वह कांग्रेस के साथ तो कलाम तक नहीं करेगी, लेकिन कांग्रेस के बिना समस्या हल नहीं हो सकती थी। मुसलमान अपने को अल्पसंख्यक मानने को तैयार नहीं हैं, लेकिन सरकार स्वयं उनकी पाकिस्तान की योजना का समर्थन नहीं करेगी। अन्तर्कालीन अवधि में केन्द्रीय शासन-परिषद् के पूर्णतः भारतीय बन जाने पर भी मुसलमान उसमें से आधी सीटों का दावा करेंगे, क्योंकि उनका ख्याल है कि वर्ना वे अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकेंगे। इसकी वजह यह है कि प्रान्तों में कांग्रेसी शासन के परिणाम-स्वरूप वे भयभीत हो गए हैं, यद्यपि सचाई यह है कि स्वयं संयुक्त प्रान्त और मद्रास के तत्कालीन गवर्नरों ने कांग्रेसी शासन-प्रबन्ध की पूरी-पूरी प्रशंसा की और सत्ताईस महीनों तक, जब कि कांग्रेस सत्तारूढ़ रही, एक भी गवर्नर को इन मन्त्रि-मण्डलों के काम में हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं महसूस हुई। लेकिन जब हिन्दू महासभा, निर्दल नेताओं और सर्वदल सम्मेलन के नेताओं ने इस मामले में हस्तक्षेप करने की कोशिश की तो उन्हें कांग्रेस के साथ बातचीत करने की सुविधाएं देने से भी इन्कार कर दिया गया, हालांकि स्वयं सरकारी प्रवक्ता यह स्वीकार कर चुके थे कि कांग्रेस के बिना किसी समस्या का सुलझाना असम्भव है।

नवम्बर १९४२ में कामन-सभा में जब श्री एमरी से महात्मा गांधी से मिलने के लिए डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी को इजाजत न देने के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि "मैं मौजूदा परिस्थितियों में कांग्रेसी नेताओं के साथ मुलाकात करने की इजाजत देने को तैयार नहीं।''

भारत की दृष्टि से अक्तूबर का महीना, इंगलैण्ड और अमरीका में उसके लिए बहुत घटनापूर्ण रहा। दोनों ही देशों में भारत के लिए बड़ी बेचैनी पाई जाती थी। इसका एक कारण तो पार्लामेण्ट की भारत-सम्बन्धी बहस और दूसरे भारत में तेजी से घटनेवाली घटनाएं थीं। सरकार ने जो गतिरोध पैदा कर दिया था वह भी अक्तूबर में और अधिक प्रत्यक्ष हो गया।

और यह साबित होगया कि उसकी सारी जिम्मेदारी उसी पर थी।

लन्दन में इंडिया लीग की एक बैठक में एक प्रस्ताव-द्वारा भारत को आजाद करने, वहां एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना और उसके साथ तत्काल समझौते की बातचीत शुरू करने की मांग की गई। यह प्रस्ताव पार्लामेण्ट के प्रसिद्ध मजदूरदलीय सदस्य श्री आर० डब्लू सोरेन्सन ने पेश किया था। आपने इस बात पर खेद प्रकट किया कि "दमन और कहीं-कहीं हिंसात्मक घटनाओं से पूर्ण पिछले आठ सप्ताह में नागरिक जनता पर २३४ बार गोली चलानी पड़ी और उस पर वायुयानों से मशीनगनें चलाई गईं।" भारत को एक चीज से फायदा पहुँचा। यह स्मरण रहे कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने अमरीकी पत्रों में लिखा था कि उन्होंने भारत के सामने अमरीका के राष्ट्रपति और उनके सहयोगियों-जैसी ही सरकार स्थापित करने का प्रस्ताव रखा था। पर यह बात बिलकुल गलत थी और सौभाग्यवश २० अक्तूबर को भारत में भी श्री एमरी ने अमरीका के नाम अपने एक ब्राडकास्ट में इस इलजाम का खण्डन किया कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने भारत में तत्काल राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया था—लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उसे रद कर दिया। इसी तरह की बेतुकी डूनकी न जाने कितनी दफा हांकी गई। सितम्बर में प्रधान मंत्री चर्चिल ने अंकगणित के हिसाब से कांग्रेस के बारे में जो कुछ कहा था, वह सभी जानते हैं। अक्तूबर में ब्रिटेन के विदेश मंत्री श्री ईडन ने स्कॉटिश यूनियनिस्ट कांफ्रेन्स में कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य एक विश्व-शक्ति की स्थिति से पीछे नहीं हट सकता।

इसी समय कामन-सभा में श्री एमरी से पूछा गया कि अब तक क्यों वाइसराय की शासन-परिषद् के उन तीन स्थानों पर, जहां इस समय यूरोपियन सदस्य आसीन हैं, भारतीयों को नियुक्त करके उसका पूर्णतः भारतीयकरण नहीं किया गया? इस पर उन्होंने जवाब दिया कि युद्धकालीन परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए और कार्य-कुशलता के खयाल से वाइसराय ने अपनी शासन-परिषद् में विस्तार कर लिया है। उन्हें सन्तोष है कि वाइसराय की शासन-परिषद् के मौजूदा सदस्य अपने काम के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति हैं। मौजूदा यूरोपियन सदस्य इसलिए अब तक बने हुए हैं कि इन जगहों के लिए योग्य भारतीय नहीं मिल रहे।

सत्य के बारे में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के अपने मापदंड हैं जिन्हें समझना बहुत कठिन है। बहुत अरसा हुआ लार्ड लिटन ने कहा था कि "राजनीति सत्य को छिपाने का विज्ञान और कला है।" लेकिन उसके बाद से वह झूठ को सत्य साबित करने का विज्ञान और कला बन गई है। अन्यथा हमारे लिए श्री एमरी के वे उत्तर समझने कठिन हो जाते हैं, जो उन्होंने अक्तूबर में एक अमरीकी रेडियो आलोचक के प्रश्नों के सिलसिले में दिये थे। यह पूछे जाने पर कि क्या श्री चर्चिल ने भारत को अटलांटिक अधिकार-पत्र से वंचित करने की घोषणा की है, श्री एमरी ने कहा कि "इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई।" उन्होंने कहा कि ब्रिटिश नीति उक्त चार्टर की धारा ३ के अन्तर्गत निहित सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है और "इस नीति का सूत्रपात हमने पचीस वर्ष पूर्व किया था, जिसे क्रमशः उन्नत किया जाना था।" उनसे पूछा गया कि "क्या आप जो कुछ कह रहे हैं भारतीयों को उस पर यकीन है?" उन्होंने जवाब दिया, "हां, उन्हें यकीन है।"

'मांचेस्टर गार्जियन' ने इस विषय को फिर उठाया और इस बात पर जोर दिया कि अधिकारपत्र भारत पर भी लागू किया जाना चाहिए। उसने लिखा—"जब कि सरकार भारत की सहायता करने के उपाय ढूंढ रही है—जैसा कि उसके लिए सर्वथा उचित है—उसे चाहिए

कि वह अटलांटिक अधिकारपत्र के इस पेचीदा सवाल का भी फैसला कर दे।"

जब श्री एमरी को नागरिक जनता और उसके आन्तरिक झगड़ों के बारे में अपनी इस टीका-टिप्पणी से संतोष न हुआ तो वे इसमें भारतीय सैनिकों का सवाल घसीट लाए। लेकिन अकाली नेता मास्टर तारासिंह ने उन्हें मुंहतोड़ उत्तर देते हुए कहा कि क्या श्री एमरी इस गलतफहमी में पड़े हुए हैं कि भारतीय सैनिक नागरिक जनता की अपेक्षा कम देशभक्त हैं। मास्टर जी ने कहा कि "मैंने बहुत से सैनिकों से मुलाकात की है और मुझे यकीन है कि भारत में तत्काल राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने के पक्ष में अन्य जनता की अपेक्षा सैनिकों के वोट कहीं अधिक पड़ेंगे।" इसके कुछ समय बाद युद्ध-स्थिति के संबन्ध में एक वक्तव्य देते हुए श्री चर्चिल ने कहा कि दुश्मन को धोखा देने के लिए झूठ बोलने में कोई आपत्ति नहीं है।

नवम्बर में बहुत-सी आश्चर्यजनक और परस्पर विरोधी बातें देखने में आईं। श्री सी० राजगोपालाचार्य ने समझौते के लिए अपना आन्दोलन जारी रखने के उद्देश्य से जुलाई में मद्रास असेम्बली और कांग्रेस की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया था। अक्तूबर में उन्होंने पासपोर्ट और वायुयान से लन्दन जाने की इजाजत मांगी जिससे कि वे समझौते के बारे में अपनी शर्तें अधिकारियों के सामने रख सकें और उन्हें यकीन दिला सकें कि उन पर अमल करना संभव है। लेकिन उन्हें ये सहूलियतें देने से इन्कार कर दिया गया। पर इससे पूर्व सरकार भारत के लाट पादरी, डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी, भारत में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विशेष दूत श्री विलियम फिलिप्स और स्वयं श्री राजगोपालाचार्य को गांधीजी से मिलने की इजाजत देने से इन्कार कर चुकी थी और श्री राजगोपालाचार्य के साथ उसने जो सलूक किया वह उसी नीति का एक अंग था। राजाजी को इंगलैण्ड आने के लिए सुविधाएँ प्रदान करने के सम्बन्ध में ब्रिटेन के चालीस से अधिक प्रमुख व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से एक पत्र श्री एमरी को भेजा गया। इन लोगों में लार्ड मोर्ले और स्ट्राबोल्गी, जी० डी० एच० कोल, हेरल्ड लास्की, जुलियन हक्सले, ब्रेलसफोर्ड, प्रोफेसर जोड और मैडम एलिजाबेथ कैडबरी और लेडी लिटन-जैसी प्रमुख महिलाएं भी शामिल थीं। परन्तु ब्रिटिश सरकार की नीति का आभास तो हमें प्रधानमंत्री चर्चिल की उस घोषणा से मिलता है जो उन्होंने मैनशन हाउस लार्ड मेयर के वार्षिक भोज के अवसर पर दिये गए अपने भाषण में की। उन्होंने कहा कि उत्तर अफ्रीका अथवा दुनिया के किसी भी हिस्से में ब्रिटेन किसी प्रदेश पर कब्जा नहीं करना चाहता। श्री चर्चिल ने कहा:—

"हम इस लड़ाई में लाभ अथवा प्रभुता-विस्तार की दृष्टि से नहीं शामिल हुए बल्कि केवल प्रतिष्ठा और न्याय की रक्षा के लिए अपने कर्तव्य-पालन के उद्देश्य से हुए हैं। परन्तु मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ और इस बारे में कोई संदेह नहीं रहना चाहिए कि हम अपना साम्राज्य बनाए रखना चाहते हैं। मैं सम्राट् का प्रथम मंत्री ब्रिटिश साम्राज्य का दिवाला निकालने के लिए नहीं बना। अगर कभी ऐसा होता है तो उसके लिए किसी और आदमी को जन्म लेना होगा और प्रजातंत्रात्मक पद्धति के अन्तर्गत इस काम के लिए राष्ट्र से परामर्श लेना पड़ेगा। मैं इसे अपने लिए बड़े गौरव की बात समझता हूँ कि मैं इस विस्तृत राष्ट्रमण्डल तथा उन राष्ट्रों और विभिन्न जातियों के समूह का सदस्य हूँ जो ब्रिटेन के प्राचीन राजतंत्रवाद से सम्बद्ध हैं और जिसके बिना शायद पृथ्वी पर अच्छाई का लोप हो जाता। इस डगमगाते हुए संसार के बीच हम मुक्ति की एक दृढ़ चट्टान की तरह खड़े हैं।"

अगर हम श्री चर्चिल के पिछले जीवन पर दृष्टिपात करें तो हमें उनके इस भाषण पर

आश्चर्य नहीं होना चाहिए। १९३५ में जब कि वे विरोधी दल में थे उन्होंने कुछ अंग्रेजों-द्वारा भारत को नया विधान देने की निन्दा करते हुए अपने एक ब्राडकास्ट में कहा था—

"इस समय मैं अपने जिन मित्रों को संबोधन कर रहा हूँ (और मैं पिछले चार साल से भारत के बारे में आप के लिए ब्राडकास्ट करने की कोशिश कर रहा था) उन्हें यह बता दूं कि भारत का ब्रिटेन के श्रमिकों के साथ घनिष्ठ संबन्ध है। लंकाशायर के कपड़े के कारखानों में काम करनेवाले मजदूर मेरे इस कथन के साक्षी हैं। उनमें से एक लाख बेकार मजदूरों को पहले ही सरकारी सहायता मिल रही है, अगर हमने भारत को स्वराज्य दे दिया, और हमारे साथ वही सलूक किया गया (जिसका हमें खेद है) जो आयरलैण्ड ने स्वराज्य मिलने पर हमारे साथ किया था, तो निश्चित है कि इन मजदूरों की संख्या बीस लाख तक पहुँच जाएगी, और ये बीस लाख बेकार मजदूर काम-दिलाऊ केन्द्रों का चक्कर लगाते हुए नजर आएंगे। इस देश में रहनेवाले ४॥ करोड़ लोगों के रहन-सहन का स्तर यूरोप के किसी भी देश के मुकाबले में ऊँचा है। अगर हम अपने इस महान् साम्राज्य से हाथ धो बैठें तो हमारी जनता के एक तिहाई भाग को संसार के अन्य देशों से अपने व्यापारिक और दूसरे संबन्ध तोड़ देने पड़ेंगे। इस छोटे से इंगलैण्ड की अधिकांश जनता का यही हाल होगा। और इस पर हम से यह कहा जाता है कि भारत और ब्रिटेन के पारस्परिक संबन्धों के बारे में ब्रिटेन के मजदूरों अथवा साधारण जनता को दखल नहीं देना चाहिए। हम से कहा जाता है कि इन बड़े-बड़े मामलों का फैसला खुद सरकार करेगी। मजदूरों को भारत के मामले में कोई दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए। उन्हें तो अपने काम से मतलब होना चाहिए। भारत का उनसे कोई ताल्लुक नहीं है। उन्हें तो सिर्फ अपनी प्रतिदिन की आजीविका का खयाल रखना चाहिए।"

श्री चर्चिल का भाषण १० नवम्बर को हुआ था और उसी दिन सम्राट् ने पार्लीमेण्ट को स्थगित करते हुए निम्न भाषण दिया:—

"मेरी प्रजा और हमारे सहयोगियों का उद्देश्य जहां-कहीं भी स्वाधीनता पर आक्रमण हो, उसकी रक्षा करना और शत्रु के प्रदेश पर आक्रमण करना है जिससे कि हम यथा-शक्ति शीघ्र-से-शीघ्र उन देशों और शक्तियों को, जो इस समय शत्रु के कब्जे में हैं, स्वतंत्र करा सकें।

"ब्रिटेन में मेरी सरकार ने भारत के नरेशों और जनता से साफ तौर पर कह दिया है कि वह लड़ाई समाप्त हो जाने के तत्काल बाद ही स्वयं भारतीयों-द्वारा तैयार किये गए विधान के आधार पर ब्रिटिश-राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत भारत को पूर्ण स्वाधीन देखना चाहती है। इस बीच भारत के राजनीतिक दलों के नेताओं को अपने देश के शासनसूत्र और युद्ध के संचालन में पूर्णरूप से भाग लेने का निमंत्रण दिया गया था। मुझे अत्यन्त खेद है कि अभी तक उन्होंने हमारा यह निमंत्रण स्वीकार नहीं किया। मेरी हार्दिक आशा है कि वे बुद्धिमत्ता से काम लेकर स्वयं आपस में कोई समझौता करके जल्दी ही इन कठिनाइयों पर काबू पा लेंगे।"

बहुत-ही कम अवसरों पर ब्रिटेन का सम्राट् पार्लमेण्ट के सम्मुख अपने भाषणों में किसी विवादास्पद प्रश्न को उठाता है। बहुधा उनके भाषणों में केवल आंकड़े और तथ्य ही रहते हैं और नीति-सम्बन्धी बातें नहीं रहतीं। इससे पहले एक बार १९२१ में सम्राट् जार्ज पंचम ने अपने भाषण में प्रत्यक्ष रूप से आयरलैण्ड की राजनीतिक समस्या का ज़िक्र किया था। उस मौके पर उन्होंने अपने मंत्रियों के तैयार किये हुए मसविदे को नामंजूर करके जनरल स्मट्स से नया मसविदा तैयार कराया था। अगर जार्ज षष्ठ चाहते तो वे भी अपने पिता के पद्चिह्नों का अनुसरण

करके इस मसविदे को नामंजूर कर देते, क्योंकि जिस दिन यह भाषण पार्लमेण्ट में पढ़ा गया उसी दिन श्री चर्चिल ने मैनशन हाउस में अपना उक्त शरारत-भरा भाषण दिया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रधान मन्त्री का भाषण एक तरह से सम्राट् के भाषण की टीका थी। लेकिन यह कोई असाधारण बात नहीं है, क्योंकि ब्रिटिश कूटनीति के अन्तर्गत प्रायः देखा गया है कि मंत्रियों को दुहरी नीति पर चलना पड़ता है। उनकी नीति के एक पहलू से तो यह ज़ाहिर होता है कि वह भारत के पक्ष में हैं और हमें स्वराज्य की ओर ले जाती है और दूसरे पहलू से यह जाहिर होता है कि वह ब्रिटेन के पक्ष में है और ब्रिटिश-राज की जड़ें मज़बूत करनेवाली है। सम्राट् के भाषण से यद्यपि भारतीय समस्या के महत्व पर ज़ोर दिया गया था, लेकिन उससे भारतीय स्थिति को सुलझाने में कोई मदद नहीं मिल सकती थी, क्योंकि सम्राट् ने भी उन्हीं बातों का ज़िक्र किया, जिनके बारे में उनके मन्त्री अक्सर कहा करते हैं अर्थात् भारतीयों को आपस में कोई समझौता कर लेना चाहिए। यह कहना मुश्किल है कि प्रधानमंत्री का भाषण सम्राट् के भाषण की आलोचना थी अथवा सम्राट् का भाषण प्रधानमंत्री के वक्तव्य के परिणामस्वरूप भारत पर किये गए प्रहार को शांत करने का प्रयासमात्र था। बहरहाल, दोनों के वक्तव्यों का चाहे जो भी अर्थ रहा हो, इसी बीच अमरीका की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'लाइफ' के संपादक ने ब्रिटेन के नाम अपने एक खुले पत्र में यह बात साफ तौर पर प्रकट करदी कि अमरीका ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए नहीं लड़ रहा।

प्रधानमंत्री के भाषण के कारण सोया हुआ ब्रिटेन एक बार फिर सजग हो उठा। इसके कुछ दिनों बाद ही ब्रिटेन के गृह-मन्त्री हर्बर्ट मौरीसन ने भी 'भारत के लोगोंके लिए ब्रिटेन की देन' का ज़िक्र किया, लेकिन उससे भी भारत का घाव भरने में मदद नहीं मिली। उन्होंने कहा कि, "ब्रिटेन ने भारत के लोगों को स्वयं अपना विधान बनाने की पूरी आज़ादी दे दी है, चाहे उसका परिणाम पूर्ण स्वाधीनता ही क्यों न हो। लड़ाई के बाद उन्हें अपने देश के भाग्य का निर्णय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, बशर्ते कि लड़ाई के दौरान में वे संयुक्त-राष्ट्रों की विजय-प्राप्ति में कोई अड़चन न पैदा करें।" क्या आप मुझे इतिहास में कोई और ऐसा उदाहरण दे सकते हैं जब कि किसी शासक ने अपनी गुलाम प्रजा को इस तरह की आज़ादी देने की बात कही हो ? आप इसका क्या मतलब लेते हैं ? मैं तो कम-से-कम इसका मतलब यह लेता हूं कि इस तरह से ब्रिटेन ने अपने उन उद्देश्यों का एक और सबूत पेश किया है जिनसे प्रेरित होकर वह इस लड़ाई में शामिल हुआ है।

चर्चिल की वाक्पटुता, ईडन के अभिमान अथवा डेवनशायर के शरारत भरे भाषणों से भारत को इतना नीचा नहीं देखना पड़ा जितना कि एटली, मौरीसन, बेविन और ग्रीनवुड-द्वारा प्रदर्शित अहम्मन्यता और बड़प्पन की भावना से। और मौरीसन को भारत का यह जवाब है कि ब्रिटेन अपने इस प्रस्ताव के ज़रिये भारत पर अपनी बात लाद कर उसे जबरदस्ती इस लड़ाई में घसीटना चाहता है और यूरोप के पद-दलित राष्ट्रों को स्वयं गुलाम रहकर गुलामी से मुक्त कराने के लिए इस लड़ाई की आग में झोंक देना चाहता है। इतना ही नहीं, वह भारत को उन लोगों और उन घोषणाओं पर यक़ीन करने के लिए मजबूर करना चाहता है, जिन्हें ब्रिटेन ने सिवाय रद्दी काग़ज़ के टुकड़े के और कुछ नहीं समझा।

ब्रिटेन के ग़ैर-सरकारी हल्कों की प्रतिक्रिया तो और भी अधिक कटु थी। इस पुस्तक के पहले एक अध्याय में युद्ध के प्रारम्भिक महीनों की घटनाओं का वर्णन करते हुए हमने एडवर्ड थामसन की वर्धा-यात्रा का ज़िक्र किया है। नीचे उनका जो लेख उद्धृत किया गया है उससे

प्रकट हो जाता है कि १६४२ की घटनाओं से उन्हें कितनी निराशा हुई होगी :—

"भारत के समाचारों के बारे में बेचैनी और आश्चर्य होना सर्वथा स्वाभाविक है। लेकिन 'बदनाम करना' और 'पीठ में छुरा भोंकना' इत्यादि शब्दों के प्रयोग से यह ज़ाहिर होता है कि शायद अभी तक बहुत से लोग यह समझ रहे हैं कि हम बच्चों की-सी बातें करके ही लड़ाई जीत लेंगे। जो सरकारी प्रवक्ता कांग्रेस पर रूस और चीन को धोखा देने का इलजाम लगा रहे हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि इन देशों को धोखा देनेवाले भारतीय नहीं हैं, बल्कि दुर्भाग्य से स्वयं श्री एमरी हैं जिन्होंने भारत पर यह इलजाम लगाया है। पिछले दो साल में भारतीय-पत्रों ने स्वयं श्री एमरी के उस वक्तव्य को प्रकाशित किया जो उन्होंने चीन पर जापान के पहले आक्रमण के होते ही दिया था। उसमें उन्होंने कहा था कि 'जापान का पक्ष आधार-भूत वास्तविकताओं पर आधारित है और उसने मंचूरिया में शांति और व्यवस्था कायम करने और महाद्वीप पर प्रभावशाली चीनी राष्ट्रवाद के आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा के उद्देश्य से सही क़दम ही उठाया है। अगर हम जापान की निन्दा करते हैं तो स्वयं भारत और मिस्र की हमारी सारी नीति पर आँच आती है।' चुनांचे हम में से बहुतों ने जापान की निन्दा नहीं की और इसी प्रकार बहुत से लोग रूस को ख़त्म कर देने की बात सोचते रहे। कोई भी भारतीय यह मानने को तैयार नहीं कि उसके शासकों को सिवाय ब्रिटेन के स्वार्थों के किसी और बात की परवाह है।"

समय-समय पर गांधीजी और वर्किंग कमेटी के सदस्यों के साथ बाहर के लोगों का संपर्क स्थापित करने के प्रयत्न किये गए। नवम्बर के अंत में कामन-सभा में श्री एमरी से यह सवाल किया गया कि "क्या इस देश के किसी ग़ैर-सरकारी व्यक्ति को इस समय नजरबन्द कांग्रेसी नेताओं के साथ पत्र-व्यवहार करने की इजाज़त दी जाएगी, क्या ये नेता इस देश के किसी ग़ैर-सरकारी आदमी से लिखा-पढ़ी कर सकते हैं अथवा उन्हें ऐसा करने की इजाज़त दी जा सकेगी और क्या उन्हें कोई सार्वजनिक घोषणा करने की आज़ादी होगी ?" इसके जवाब में श्री एमरी ने कहा : "मुझे पता चला है कि इन नज़रबन्द भारतीय नेताओं को केवल अपने परिवारवालों के साथ पत्र-व्यवहार करने भी आज्ञा है और वह भी केवल घरेलू मामलों पर ही। मैं फिलहाल कुछ नहीं कह सकता कि उन पर से ये प्रतिबन्ध कब तक हटाए जा सकेंगे। क्या भारतीय नेताओं को कोई सार्वजनिक घोषणा करने की इजाज़त दी जा सकेगी या नहीं—यह इस पर निर्भर करेगा कि वह घोषणा किस तरह की है।"

इस आपत्काल में भी भारत को उसके पुराने शुभचिंतकों—अर्थात् इंगलैण्ड के सुहृद् संघ ने नहीं भुलाया। संघ के वयोवृद्ध कर्णधार श्री कार्ल हीथ ने भारतीय स्थिति के बारे में 'स्पेक्टेटर' में एक ज़ोरदार पत्र लिखकर अपना क्षोभ प्रकट करते हुए भारतीय समस्या को सुलझाने की हार्दिक अपील की।

पतझड़ का मौसम भी इंगलैण्ड में शांति और चैन से न गुजर सका, क्योंकि श्री वेंडल-विल्की ने प्रधान मंत्री चर्चिल की ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखनेवाली घोषणा का मुंहतोड़ जवाब दिया। इसके अलावा लार्ड क्रेनबोर्न ने ब्रिटेन की युगों पुरानी औपनिवेशिक नीति के बारे में जो कुछ कहा, उसकी भी कड़ी प्रतिक्रिया हुई। उधर अमरीका के समाचार-पत्रों ने भी ब्रिटेन की खूब खबर ली। 'टाइम्स' ने औपनिवेशिक व्यवस्था के भविष्य के सम्बन्ध में अपने एक लेख में 'अतीत की मनोवृत्तियों को छोड़ देने की' जोरदार अपील की।

ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के सम्बन्ध में श्री चर्चिल की घोषणा की न

केवल भारत में ही बल्कि सारे पूर्व में अर्थात् सुदूर-पूर्व, निकट-पूर्व और मध्य-पूर्व में कड़ी आलोचना हुई और उससे इन देशों में गहरी बेचैनी पैदा हो गई।

अरब के एक नेता के उद्‌गार

रेगिस्तान के पार २,४०० मील दूर कासाब्लांका से जहां प्रधान मन्त्री चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट अपनी युद्धनीति पर सोच-विचार कर रहे थे—जनवरी १९४३ के अन्तिम सप्ताह में एक अरब नेता ने अटलांटिक अधिकार पत्र ॐ को अरब-जगत् पर भी लागू करने की मांग की। ट्रांसजौर्डन के अमीर-अब्दुल्ला ने कहा:—

"अरबों को यकीन है कि संयुक्त-राष्ट्र न्याय के लिए लड़ रहे हैं। संयुक्त-राष्ट्र हिटलर, मुसोलिनी और जापानियों के खिलाफ इसलिए लड़ रहे हैं कि वे अत्याचार, दमन, असहिष्णुता, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद का अन्त कर देना चाहते हैं और आम जनता को सभी तरह की आजादी दिलाना चाहते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि संयुक्त-राष्ट्र यह लड़ाई इसलिए नहीं लड़ रहे हैं कि जनता की वही पुरानी विषमताएं बनी रहें और उनकी आजादी पर कुठाराघात होता रहे और उन्हें गुलाम बनाया जाता रहे, जिसकी वजह से हम तानाशाहों की निन्दा करते हैं। उन्हें चाहिए कि वे छोटे-छोटे राष्ट्रों का महत्व समझें जो अपने भाग्य का निर्णय खुद करना चाहते हैं और किसी बाहरी ताकत के बिना अपने देश पर हुकूमत करना चाहते हैं।"

इस तरह हम देखते हैं कि एटलांटिक चार्टर की धारा ३ के बारे में श्री चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट में गहरा मतभेद पाया जाता है, क्योंकि २८ अक्टूबर १९४२ को अमरीका के राष्ट्रपति ने घोषणा की कि उक्त अधिकार-पत्र (१४-८-१९४२) सारी मानवता पर लागू होता है। या तो श्री रूजवेल्ट ने यह वक्तव्य पूर्ण गंभीरतापूर्वक नहीं दिया था अथवा उन पर उनके सहयोगी का प्रभाव पड़ गया है कि उन्हें मजबूरन धारा ३ के बारे में प्रधान मंत्री चर्चिल के विचारों से सहमत होना पड़ रहा है।

इस प्रकार नवम्बर भी बीता गया और बड़े दिन आगए। पर भारत को इससे क्या, उसके दिन तो अभी नहीं फिरे थे। लार्ड लिनलिथगो का कार्यकाल और छः महीने तक अर्थात् अक्तूबर १९४३ के अन्त तक के लिए बढ़ा दिया गया और उससे न तो भारत में और न ही इंग्लैंड की प्रगतिशील शक्तियों में कोई उत्साह अथवा संतोष की भावना पाई गई। लन्दन के 'टाइम्स' ने खेद प्रकट किया कि बहुत अर्से से लोग यह आशा किए बैठे थे कि नये वाइसराय की नियुक्त के समय भारतीय नीति के सम्बन्ध में कोई व्यापक और बड़े-बड़े निर्णय किये जाएँगे। 'डेली हेरल्ड' ने लिखा कि चूंकि श्री चर्चिल को वाइसराय का कोई और उत्तराधिकारी नहीं मिल सका, इसलिए वाइसराय की योग्यताओं के सम्बन्ध में उन्हें इतने संकुचित दृष्टिकोण से काम नहीं लेना चाहिए।

वास्तव में सत्य तो यह है कि कोई भी व्यक्ति इस निराले ओहदे को सँभालने का इच्छुक

ॐ अधिकार-पत्र की धारा ३ में (जिसमें संसार के सभी लोगों को अपनी इच्छानुसार अपने देश की सरकार बनाने का अधिकार दिया गया है) श्री चर्चिल ने पहले ही एक शर्त यह जोड़ दी थी कि इसका ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों में ब्रिटेन की घोषित नीति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

नहीं था । प्रतिक्रियावादी तत्व सिर्फ थोड़े-बहुत युद्ध-प्रयत्न में ही भाग लेकर खुश थे। प्रगतिशील तत्वों को गतिरोध दूर करने का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था और जब तक नये वाइसराय को व्यापक अधिकार न दिये जाते वे उत्तरदायित्व सँभालने को तैयार नहीं थे। तब तक लार्ड लिनलिथगो को श्री एमरी की सहायता से इस दमन-चक्र को जारी रखना था । लेकिन अब हमें ब्रिटेन की भारतीय-नीति में एक परिवर्तन दिखाई दिया । अब बर्क और शैरिडन का जमाना खत्म हो चुका था जब कि वारेन हेस्टिंग्ज़ पर मुकदमा चलाया गया था । ब्राइट और कौबडन का उदारवाद का युग भी हमेशा के लिए खत्म हो चुका था । अब मैकडानल्ड, कर्नल वेजवुड और पेथिक लारेंस का जमाना भी गुजर चुका था । अब तो पार्लमेण्ट में भारत का प्रश्न उठाने वाले मैक्स्टन, ऐमन, सिलवरमैन और सोरेन्सन सरीखे कुछ व्यक्ति ही रह गए थे, जिन्हें सिर्फ इने-गिने सदस्यों का ही समर्थन प्राप्त था । स्वतंत्र मजदूर पार्टी के चार-पांच सदस्यों और साम्यवाद के एकमात्र पोषक गैलेचर को छोड़कर पार्लमेण्ट के शेष सभी सदस्य एक ही दल अर्थात् राष्ट्रीय सरकार में शामिल हो गए थे । निजी हैसियत से विभिन्न सदस्यों के अलग-अलग दृष्टिकोण हो सकते थे, किन्तु दलों की हैसियत से उन्हें एक दूसरे से पृथक् करना कठिन था । सभी का दृष्टिकोण समान रूप से साम्राज्यवादी था। यूनियनिस्ट दल की नीति "साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने की थी । साम्राज्यवाद की वजह से उन्हें धन और शक्ति हासिल होती थी । लेकिन मजदूर दल के लिए यह सवाल जीविकोपार्जन और जीवित रहने का अथवा जीवन या मरण का था । बिना साम्राज्य के मजदूरों को काम, वेतन और सुख-सुविधाएँ कहां से मिलतीं। और काम के बिना उसके मताधिकार का क्या फायदा ? वोट देने का अधिकार मिल जाने से उसका पेट तो नहीं भर सकता ? लेबर पार्टी की नेशनल एक्जीक्यूटिव कमेटी में उप-प्रधान और पार्लमेण्ट के सदस्य श्री रिडले ने भारत के सम्बन्ध में अपने दल की जो नयी नीति घोषित की, उस पर हमें इसी दृष्टिकोण से विचार करना है। श्री रिडले (मार्च १९४२ तक) दो साल तक श्री आर्थर ग्रीनवुड के पार्लमेण्टरी प्राइवेट सेक्रेटरी रहे और हाल में प्रोफेसर लास्की ने उन्हें मजदूर दल का एक योग्यतम व्यक्ति बताते हुए किसी ऊंचे ओहदे पर नियुक्त करने की सिफारिश की थी । इसलिए उन्होंने मजदूर दल की भारतीय नीति के सम्बन्ध में जो छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की उसमें अपनी इस प्रतिष्ठा को बनाए रखने की कोशिश की ।

इस पुस्तिका की भूमिका में ब्रिटेन के तत्कालीन उप-प्रधान-मन्त्री श्री सी० आर० एटली ने आशा प्रकट की कि भारत और इंग्लैण्ड दोनों ही जगह उसे बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा जाएगा।

इसी बीच 'डेली हेराल्ड' ने कांग्रेस पर कीचड़ उछालने की कोशिश की, जिसका बम्बई के भूतपूर्व कांग्रेसी मन्त्री श्री के० एम० मुंशी ने मुंहतोड़ जवाब दिया।

"भारत में अब भी कांग्रेस और सरकार में समझौता कराने की कोशिशें हो रही थीं और इस सिलसिले में हम सितम्बर के मध्य में डा० सप्रू की अध्यक्षता में इलाहाबाद में होनेवाले सम्मेलन का खास तौर पर जिक्र करना चाहते हैं। इस सम्मेलन के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए ब्रिटेन के 'न्यू स्टेटसमैन एंड नेशन' ने निराश होकर प्रश्न किया कि "अब सरकार क्या करेगी ?"

१९४२ भी समाप्त हो गया, लेकिन भारत के राजनीतिक क्षितिज पर अभी तक निराशा के घने बादल छाए हुए थे। हां, बीच-बीच में जब-कभी कोई जोरदार गर्जन होती तो उससे भावी अनिष्ट की पूर्व-सूचना मिल जाती और शान्त हल्कों में भी उथल-पुथल मच जाती और भविष्य

की कल्पना से भय का साम्राज्य छा जाता । ब्रिटिश सरकार-द्वारा 'वाइसराय के कार्यालय की अवधि' का बढ़ाना, पार्लीमेंट में श्री चर्चिल और श्री एमरी के प्रतिक्रियावादी और दुराग्रहपूर्ण भाषण, श्री राजगोपालाचार्य को गांधीजी से मिलने की इजाजत न देना, और भारतीय जनमत की तनिक भी परवाह न करके फेडरल-कोर्ट (संघ-न्यायालय) में प्रधान न्यायधीश के पद पर एक अंगरेज की नियुक्ति—इन सभी बातों से 'न्यूज क्रानिकल'-जैसे गंभीर और शान्तिप्रिय पत्र को भी यह लिखना पड़ा कि "भारत द्वारा क्रिप्स-योजना को ठुकरा देने के परिणामस्वरूप निराश होकर ब्रिटिश सरकार ने इस दिशा में और कोई रचनात्मक प्रयत्न करने की कोशिश नहीं की । लेकिन इस बीच भारत में जो कुछ हुआ है उसके बारे में अधिक जानने की आवश्यकता नहीं । हम केवल यही कह सकते हैं कि परिस्थिति हाथ से निकलती जा रही है ।"

परन्तु अनेक ऐसे विद्वानों, और समझदार लोगों की कमी नहीं थी, जिनका अभी तक गांधीजी में पूर्ण विश्वास था और जो यह कह रहे थे कि "गांधीजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो भारतीय स्थिति को बदल सकते हैं ।" प्रोफेसर हुड ने जिनकी ऐसी दृढ़ धारणा थी, लिखा कि, "जब गांधीजी के मित्र और प्रशंसक भारत-सरकार से उनसे (गांधीजी) बातचीत करने का अनुरोध करते हैं, तो उससे यह जाहिर होता है कि वे यह आग्रह इसलिए नहीं कर रहे कि गांधीजी की साख को बनाए रखें, बल्कि इसलिए कि वे गांधीजी की नैतिक प्रतिष्ठा से कितना अधिक प्रभावित हुए हैं । मेरी दृष्टि में गांधीजी एक महान् आध्यात्मिक और नैतिक नेता हैं और इसीलिए मेरा दृढ़ विश्वास है कि भारत के वर्तमान गतिरोध को दूर करने का प्रयत्न उन्हीं की ओर से होना चाहिए । निस्सन्देह गांधीजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो भारतीय स्थिति को बदल सकते हैं ।"

कांग्रेस की दृष्टि से प्रत्येक नये वर्ष की महत्वपूर्ण और पवित्र घटनाओं में स्वाधीनता-दिवस विशेष महत्व रखता है । पिछले सालों की भांति १९४३ में भी यह दिवस २६ जनवरी को लन्दन के स्वराज्य-भवन में डा० एस० वी० वार्डन की अध्यक्षता में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया । इसके दो दिन बाद श्री सोरेन्सन ने कामन-सभा में श्री एमरी से "गैर-कांग्रेसी प्रतिनिधियों पर से कांग्रेस नेताओं से मुलाकात करने के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध उठा लेने का आग्रह किया जिससे कि वे सम्भावित राजनीतिक परिस्थिति पर सोच-विचार कर सकें ।"

प्रथम महायुद्ध की भांति इस बार दूसरे महायुद्ध में भी ब्रिटिश सरकार ने दिखावे के तौर पर भारत के दो प्रतिनिधि अपने युद्ध-मन्त्रि-मण्डल में लिए । ये प्रतिनिधि वाइसराय की शासन-परिषद् के सदस्य सर रामस्वामी मुदालियर और जामनगर के जामसाहब थे ।

इंग्लैण्ड में भारत के ये दोनों प्रतिनिधि वहाँ की विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं और युद्ध-केन्द्रों का निरीक्षण करने में व्यस्त रहे । हिज हाईनेस जामसाहब तो जनवरी १९४३ में स्वदेश लौट आए । इंग्लैण्ड के लिए इन महानुभावों के प्रस्थान करने से पूर्व यह कहा जा रहा था कि सर रामस्वामी मुदालियर वहां जाकर भारतीय गतिरोध को दूर करने का प्रयत्न करेंगे । इसलिए इंग्लैण्ड में उन्होंने इस बारे में जो कुछ भी किया हो, भारत को उसकी कोई सूचना न होना स्वाभाविक ही था । लेकिन जामसाहब ने इंगलैण्ड पहुंचते ही एक भाषण दिया जिसमें आपने वाइसराय की शासन-परिषद् के पूर्ण भारतीय-करण पर जोर दिया । प्रत्यक्ष था कि वे पत्थर की दीवार से अपना सिर टकरा रहे थे और उनकी कोशिशों का ब्रिटेन पर कोई असर नहीं हो सकता था । अपने चाचा की मृत्यु के कारण उन्हें शीघ्र ही भारत वापस आना पड़ा । भारत लौटने पर

उन्होंने ८ फरवरी, १९४२ को नयी दिल्ली के एक पत्र-प्रतिनिधि सम्मेलन में स्पष्ट रूप से बताया कि युद्ध-मन्त्रि-मण्डल की बैठकों में किसी राजनीतिक अथवा वैधानिक समस्या पर सोच-विचार नहीं किया गया, क्योंकि उसका मुख्य काम तो केवल युद्ध जीतना है।

फरवरी का महीना सारे संसार के लिए सनसनीपूर्ण और बेचैनी का रहा, क्योंकि १० फरवरी को गांधीजी ने सामर्थ्य के अनुसार, यथाशक्ति उपवास प्रारंभ किया और वे तीन सप्ताह की कठोर तपस्या के बाद ३ मार्च को इसमें सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हुए। इस अनशन की ब्रिटेन और शेष संसार में होनेवाली प्रतिक्रिया पर अनशन से संबन्ध रखनेवाले अध्याय में अलग से सविस्तार सोच-विचार किया गया है।

इस प्रकार एक महीने तक वातावरण पूर्णतः शान्त बना रहा। केवल २२ फरवरी १९४३ को यह शान्ति भंग हुई जब कि सरकार ने भारत में 'भारत के उपद्रवों के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व' शीर्षक से एक पुस्तिका प्रकाशित की और उसके कुछ सप्ताह बाद ही इस बारे में ब्रिटेन में एक श्वेतपत्र भी छपा। सरकार के दृष्टिकोण से यह प्रकाशन सर्वथा सामयिक था, क्योंकि अप्रैल में पार्लमेंट में होनेवाली भारत-विषयक बहस के लिए वह पार्लमेंट के सदस्यों के हाथों में यह सामग्री पहुंचा देना चाहती थी।

'उपद्रवों के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व' शीर्षक पुस्तिका का सार नीचे दिया जाता है। भारत-सरकार का यह वक्तव्य ही लन्दन में श्वेतपत्र के रूप में प्रकाशित हुआ था।

भारत-सरकार ने गांधीजी और कांग्रेस-दल के खिलाफ ५०,००० शब्दों की एक पुस्तिका में अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हुए उन पर यह अभियोग लगाया कि "अब तक जानी गई और प्रमाणित संपूर्ण घटनाओं को दृष्टि में रखकर केवल यही बात युक्तिसंगत मालूम पड़ती है कि ९ अगस्त की गिरफ्तारियों के बाद व्यापक रूप से फैलनेवाले ऐसे उपद्रवों को कांग्रेस ने पैदा किया और उनका पथ-प्रदर्शन किया, जो कुछ क्षेत्रों में खुले विद्रोह के सिवा और कुछ न थे।"

आगे चलकर उसमें कहा गया है कि "१ अप्रैल १९४२ से लेकर जब कि गांधीजी ने प्रथम बार सार्वजनिक रूप से अंग्रेजों को भारत छोड़कर चले जाने का आग्रह किया था—७ अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक होने तक कांग्रेस हाईकमांड और बाद में कांग्रेस-संगठन समग्र रूप से विवेकपूर्ण और जानबूझ कर एक ऐसे व्यापक आन्दोलन की आधार-भूमि तैयार कर रहा था जिसका उद्देश्य भारतवर्ष को अंतिम रूप से ब्रिटिश शासन से मुक्त कराना था।"

यह दावा करते हुए कि अहिंसा की मूर्ति और उसके आदि-स्रोत गांधीजी को अच्छी तरह से मालूम था कि भारतीय जनता अहिंसा के अयोग्य है, श्वेतपत्र में कहा गया है कि "आन्दोलन के स्वरूप-संबन्धी भविष्यवाणियों में, जो गांधीजी और उनके कांग्रेसी शिष्यों ने की थीं और गिरफ्तारी के बाद के कार्यक्रमों और आदेशों में, अहिंसा के संबन्ध में जो भी उल्लेख किया गया है वह एक पवित्र आशा अथवा अधिक-से-अधिक एक विनम्र चेतावनी से अधिक कुछ नहीं है और इसके संबन्ध में यह मालूम था कि इसका कोई मूल्य नहीं होगा।"

मई में गांधीजी ने लिखा—"भारतवर्ष में अंग्रेजों की उपस्थिति जापान को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण है; उनके चले जाने से यह प्रलोभन हट जायगा।" बाद में गांधीजी

ने यह स्वीकार किया कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी जापान का भारत पर हमला होना संभव है और इसलिए कांग्रेस ने जापानी आक्रमण को रोकने के लिए भारत में मित्रराष्ट्रीय सेनाएं रखना मंजूर कर लिया।

"गांधीजी के प्रस्तावोंकी आधार-भूमि-स्वरूप दो मूलभूत उद्देश्य प्रकट होते हैं---१.ब्रिटिश प्रभुत्व से भारत को अन्तिम रूप से स्वतंत्र कराने की इच्छा, २. भारत को किसी भी मूल्य पर जापान और ब्रिटेन के बीच रणभूमि बनाने से रोकने की इच्छा। गांधीजी को जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने के साधन के रूप में अहिंसा की प्रभावशालिता में अधिक विश्वास नहीं था। वे जापान के विरुद्ध भारतवर्ष की रक्षा करने में एकमात्र अहिंसा के सामर्थ्य पर विश्वास नहीं रखते थे। न ही उस कार्य के लिए मित्रराष्ट्रों की शक्ति पर विश्वास था। यदि यह मान भी लिया जाय कि भारत की रक्षा के बारे में मित्रराष्ट्रीय सेनाओं के सामर्थ्यपर गांधीजी और कांग्रेस का विश्वास करने का इरादा था, तब भी यह जान लेना चाहिए कि गांधीजी ने स्वयं स्वीकार किया था कि मित्रराष्ट्रीय सेनाओं द्वारा प्रभावपूर्ण कार्रवाई करनेकी क्षमता बहुत कुछ एक उपयुक्त अस्थायी सरकार के निर्माण पर निर्भर होगी।"

"स्वयं सरकार पर ऐसे गुट का प्रभुत्व रहेगा जो उपर्युक्त वर्णन के अनुसार पराजयवादी है और जिसका नेता जापान से बातचीत चलाने का विचार पहले ही प्रकट कर चुका था।"

कांग्रेसी नेताओं के घोषित उद्देश्यों पर सोच-विचार करते हुए श्वेतपत्र में प्रश्न किया गया है कि "क्या इससे इन्कार किया जा सकता है कि इन लोगों ने ब्रिटेन के संकट को सुअवसर समझा और संयुक्त राष्ट्रों का भाग्य पलड़े में झूलता देखकर तथा युद्ध की दिशा अपने पक्ष में बदलने से पूर्व ही—यदि कभी ऐसा होना भी था—अपनी राजनीतिक मांगों को पूरा करवाने के लिए उस मनोवैज्ञानिक क्षण से लाभ उठाना चाहा?"

यह ज़ाहिर करने के लिए जुलाई तक गांधीजी ने अन्तिम संघर्ष छेड़ देने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। श्वेतपत्र में स्वतंत्रतापूर्वक और दिल खोलकर गांधीजी के लेखों और भाषणों के उद्धरण लिये गए हैं। उनके शब्दों को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि "अब पीछे हटने या बातचीत करने के लिए इस प्रस्ताव में कोई स्थान नहीं है। एक और मौके का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आखिरकार यह एक खुला विद्रोह है।" गांधीजी-द्वारा विवेचित और सुविचारित आन्दोलन का स्वरूप एक ऐसा संघर्ष, एक ऐसा निर्णायक युद्ध था जिसके परिणाम-स्वरूप विदेशी प्रभुत्व का अन्त कर डालना था, चाहे इस परिणाम का कुछ भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़ता। यह एक निरशस्त्र विद्रोह होता—अल्पकालीन और द्रुतगामी। निश्चित रूप से इसके द्वारा देश ऐसी अराजकता के गर्त में जा पड़ता "जिसमें गांधीजी दंगा फसादों तक का खतरा उठाने को तैयार थे-वे किसी भी सीमा तक जाने को तैयार थे जिसमें यदि आवश्यक हो तो सार्वजनिक हड़तालें भी शामिल थीं।"

आगे श्वेतपत्र में कहा गया है कि "जो कुछ भी एक अहिंसात्मक सार्वजनिक आन्दोलन कर सकता है वह सब इस संघर्ष में शामिल था—हड़तालें, रेलों का बन्द करना और संभवतः ब्रिटिश सैनिकों की गतिविधि में बाधा डालना और अंग्रेजों के खिलाफ आजकल जो शिकायतें हैं उनसे भरपूर लाभ उठाना था।" ९ अगस्त को प्रातःकाल बम्बई में गांधीजी और दूसरे कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गए और उनके साथ ही देशभर में प्रमुख कांग्रेसजनों की धर-

पकड़ की गई। "गिरफ्तार किये गए व्यक्तियों की संख्या शायद कुछ सैकड़ों से अधिक नहीं थी। चूंकि उस समय से ही बराबर इन उपद्रवों को कथित 'सरकारी दमन' का परिणाम बताने के सतत् प्रयत्न किये जारहे हैं, यह जान लेना महत्त्वपूर्ण है कि वास्तव में इस विद्रोह में यह केवल पहला अवसर था जब सरकार ने पहल की।

यह उल्लेख करते हुए कि ये बलवे मद्रास, बम्बई, बिहार मध्य तथा संयुक्त प्रांतों में भी दूर-दूर फैले हुए स्थानों में लगभग एक ही साथ शुरू हुए, श्वेतपत्र में कहा गया है कि "इन उपद्रवों-द्वारा किया गया नुकसान इतना व्यापक था कि उत्तेजना में आकर बिना किसी योजना के विशिष्ट यंत्रों के बिना इस प्रकार के कार्यों की संभावना नहीं की जा सकती। और कई स्थानों पर इस प्रकार के काम किये गए, जिनसे टेकनिकल ज्ञान का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। रेलवे-स्टेशनों के कंट्रोल रूम और ब्लाक इंस्टुमेंटों (तार आदि भेजने के यंत्रों) को छाँट-छाँट कर नष्ट-भ्रष्ट किया गया। इस प्रकार की टेकनिकल योजना का परिचय लक्ष्य स्थानों को चुनने और उन्हें नष्ट करने से मिलता है। इसके साथ ही साथ जिन उपायों से हानि की गई उनके द्वारा भी इस बात की पुष्टि होती है। निस्संदेह यह बात अर्थपूर्ण है कि वे सब क्षेत्र, जहां स्थिति अत्यंत गंभीर होगई थी सैनिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण स्थान थे। उन क्षेत्रों में भारत की कोयले की खानें ही स्थित नहीं हैं—जिनके बन्द होने से सारी यातायात् व्यवस्था, व्यापार और उद्योग ठप हो जाते—बल्कि ये सब क्षेत्र भारत के उन भागों के निकट ही थे, जिनको शत्रु-द्वारा आक्रमण का स्पष्ट खतरा था। यदि पूर्वीय तट पर रक्षा-दलों के यातायात मार्ग को अस्त-व्यस्त करना ही अभीष्ट था तो कार्य के लिए इससे अच्छे क्षेत्र नहीं चुने जा सकते थे। दूसरी ओर आसाम, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त गिरफ्तारियों के सिवा पहले सप्ताह में सब प्रान्त प्रायः शान्त रहे और सिन्ध में भी तुलनात्मक दृष्टि से थोड़ा ही उपद्रव हुआ।

"उपद्रवों से प्रभावित सभी प्रान्तों में विद्यार्थी—अपवादरहित रूप से हिन्दू विद्यार्थी—प्रारम्भिक बलवों में सबसे आगे थे। कांग्रेस की अहिंसा की नीति की प्रत्येक स्थान पर अवहेलना की गई और जन-समूहों को अंधाधुन्ध हिंसात्मक कार्यों के लिए भड़काया गया। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन जन-समूहों से ही सबको प्रेरणा मिली, सैनिकों और सरकारी कर्मचारियों से नहीं। निस्सन्देह उन्हें कई बार गोली चलानी पड़ी, किन्तु प्रायः ऐसा उन्हें आत्म-रक्षा के हेतु करना पड़ा। साधारणतः कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में सामूहिक हिंसा के जितने प्रदर्शन हुए वे असाधारण नहीं थे। कहीं भी साम्प्रदायिक दंगे नहीं हुए। उपद्रवों के सारे चित्रों से जान पड़ता है कि सामूहिक हिंसा का रुख एक पूर्व-योजित विधि के अनुसार पूर्व-निर्वाचित लक्ष्यों की ओर ही हुआ। नेताओं की गिरफ्तारी पर क्रोध से अन्धे बे-सोचे-समझे जो हाथ आया उसी की ओर बढ़े—पर ऐसा नहीं हुआ।

"मुसलमानों ने प्रायः इन बलवों में कोई भाग नहीं लिया। मज़दूरों ने भी—यद्यपि कहीं-कहीं वे काम बन्द करने की लालसा पर काबू न पा सके और कहीं-कहीं प्रत्यक्ष राजनीतिक दबाव के सामने उन्हें झुकना पड़ा, साधारणतः प्रशंसनीय संयम से काम लिया।

"हिंसात्मक सामूहिक उपद्रवों का पहला अध्याय समाप्त होने के साथ-साथ तीन नई प्रवृत्तियां प्रकट होने लगीं। पहले तो पुराने तरीके के अहिंसात्मक सविनय-अवज्ञा-आंदोलन के चिह्न प्रकट होने लगे। दूसरे, क़ानूनी सत्ता को उलटने के लिए विद्रोही दलों के प्रयत्नों के असफल रहने के परिणामस्वरूप भीषण अपराधों का सूत्रपात होने लगा। तीसरी और सबसे

महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि आतंकवाद की ओर झुकाव दिखाई पड़ने लगा। लूटमार, अग्निकाण्ड, तोड़फोड़ और सरकारी कर्मचारियों पर हत्यामूलक आक्रमण जारी रहे। बम्बई, मध्य-प्रान्त तथा संयुक्तप्रान्त में बमों का भी प्रयोग किया गया। पहले तो ये बम निम्नकोटि के तथा प्रभावहीन थे, लेकिन शीघ्र ही उनमें बड़े सुधार किये गए। आन्दोलन के बारहवें सप्ताह तक ऐसे बमों तथा विस्फोटकों का, जिनमें कुछ अत्यन्त भयानक क़िस्म के थे, व्यापक रूप से तथा विशेषकर बम्बई प्रांत में प्रयोग किया जाने लगा था।

"नवम्बर के अंत तक जनता कांग्रेस और उसके कार्यक्रम से निरन्तर अधिकाधिक ऊबती जा रही थी। इस समय तक कांग्रेस का संगठन बिलकुल गुप्त रूप धारण कर चुका था। और पुलिस के निरन्तर सफल दबाव के कारण वह और भी कमज़ोर हो गया था।" श्वेतपत्र में बताया गया है कि संघर्ष के प्रारम्भ से ही समाजवादी दल के नेताओं ने इस आन्दोलन के संचालन में प्रमुख भाग लिया। "इस समय तक यह आंदोलन एक क्रान्तिकारी गुप्त आन्दोलन का रूप धारण कर चुका था और राजनीतिक डकैतियाँ, कारखानों आदि को जान-बूझकर क्षति पहुँचाना, निष्ठुर अवसरवादिता तथा आम जनता की भलाई और रक्षा की नितान्त उपेक्षा आदि आतंक की सारी बातों का इस आन्दोलन में समावेश हो गया था।"

श्वेतपत्र में जनता की भीड़-द्वारा की गई हिंसात्मक कार्रवाइयों के उदाहरण दिये गए और इस सम्बन्ध में कांग्रेस के बुलेटिनों तथा अन्य पर्चों आदि के उद्धरणों का उल्लेख किया गया। दिल्ली से गुप्त रूप से प्रकाशित एक पर्चे का यह उद्धरण दिया गया है कि "खाद्यों के सम्बन्ध में उपद्रवों, हड़तालों और सेना तथा पुलिस को उत्तेजित करने के कार्यों को बहुत व्यापक पैमाने पर सम्पन्न करना चाहिए जिससे कि इन सबकी पूर्णाहुति उस मुहूर्त्त में हो जबकि बलपूर्वक अधिकार जमानेवाले लिनलिथगो और वेवल बन्दी बना लिये जायँ और भारत को प्रजातन्त्र राष्ट्र घोषित कर दिया जाय।"

श्वेत-पत्र में कहा गया है कि इसमें सरकार को उपलब्ध सम्पूर्ण जानकारी और प्रमाणादि नहीं प्रकट किये गए। यहां दिये गए तथ्यों और प्रमाणों के अतिरिक्त बहुत-सी सामग्री ऐसी है जिसे वर्तमान अवस्था में प्रकाशित करना वांछनीय नहीं है।

श्वेत-पत्र के इस एकतरफ़ा वक्तव्य को 'मांचेस्टर गार्जियन' ने सर्वथा उचित रूप से ही 'सरकारी वकील का भाषण' कहा था :—

"श्वेत-पत्र में उस समस्या को तो उठाया तक भी नहीं गया जिसका हमें भारत में सामना करना पड़ रहा है। हम जानते हैं कि देश का एक बड़ा भाग इस 'खुले विद्रोह' के प्रति सहानुभूति प्रकट कर रहा है और हमने हज़ारों विद्रोहियों को जेलों में बन्द कर रखा है। अपराध चाहे कितने ही संगीन क्यों न हों, हम अनिश्चित काल तक किसी दमन-नीति पर चलकर भारत की राष्ट्रीय मांग पूरी नहीं कर सकते। आखिर एक दिन हमें कोई राजनीतिक समझौता करना ही पड़ेगा।"

'डेली हेरल्ड' ने लिखा "हमारा अब तक यह विचार है कि गांधीजी ने भारी भूल की है। लेकिन अगर हम गांधीजी की निन्दा करते हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि हम भारत-सरकार अथवा इंडिया आफिस के इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि उन्होंने जो कुछ किया वह ठीक था।"

'न्यू स्टेटस्मैन ऐंड नेशन' ने अपने एक अग्रलेख में लिखा कि "भारत-सरकार ने यह

श्वेत-पत्र छापकर कोई अच्छा काम नहीं किया, जिसमें शुरू से लेकर आखिर तक गांधीजी पर व्यक्तिगत रूप से अभियोग लगाने की कोशिश की गई है और इसके अलावा वह केवल एक प्रचार-सम्बन्धी पुस्तिका है।"

'टाइम्स' सहित ब्रिटेन के शेष पत्रों ने प्रत्यक्ष रूप से गांधीजी और कांग्रेस के खिलाफ ज़हर उगला। 'उपद्रवों के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व' शीर्षक पुस्तिका ऐन उस मौके पर प्रकाशित की गई जब कि २१ दिन के उपवास के दौरान में गांधीजी का भाग्य पलड़े में झूल रहा था और ठीक उसके एक महीने बाद उक्त श्वेत-पत्र प्रकाशित किया गया। इसके प्रकाशन से लगभग पन्द्रह दिन पहले बम्बई में निर्दल नेताओं का एक सम्मेलन हुआ था। ये लोग समझौते की कोशिशें कर रहे थे और इस काम में उन्हें कुछ सफलता भी मिली। वाइसराय ने उनसे मिलने का वायदा कर लिया था और इन नेताओं से कहा गया था कि वे अपना मामला एक विचार-पत्र के रूप में पेश करें। लेकिन इस श्वेत-पत्र के कारण उनकी सब कोशिश पर पानी फिर गया। उक्त पुस्तिका छापने का उद्देश्य गांधीजी की रिहाई के लिए की जानेवाली व्यापक मांग और उनके प्रति प्रकट की गई सहानुभूति पर तुषारपात करना था। हो सकता है कि अगर हम इसके बारे में किसी कांग्रेसी की प्रतिक्रिया प्रकट करें तो उसे पक्षपातपूर्ण समझा जाय। लेकिन यहां हम 'स्टेट्समैन' में 'हमारे भारतीय प्रेक्षक' द्वारा प्रकाशित 'राजनीतिक आलोचना' को उद्धृत करना उचित समझते हैं, क्योंकि उसे अधिक निष्पक्ष खयाल किया जा सकता है:—

"लन्दन में प्रकाशित किया गया श्वेत-पत्र सर्वथा असामयिक है। यह एक ऐसे अवसर पर छापा गया है जब कि जेल के बाहर के हल्कों में कांग्रेस और सरकार में समझौते की बातचीत का आग्रह ही नहीं बल्कि प्रार्थना भी की जा रही है। इसके अलावा जोलोग गांधीजी से मिलकर आए हैं, उनका भी यही कहना है कि गांधीजी सारी स्थिति पर नये सिरे से सोच-विचार करने को तैयार हैं और उनका उद्देश्य संघर्ष के बजाय शांति ही है।"

पार्लमेण्ट की चिर-प्रतीक्षित भारत-विषयक बहस ३० मार्च को शुरू होनी थी। यहां यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं, कि इस बहस के लिए पहले से ही बड़ी तैयार की गई थी। कामन-सभा में रणभेरी बजाने का काम श्री एमरी को सौंपा गया था और लार्ड-सभा में डेवनशायर की जगह यह जिम्मेदारी लार्ड मुंस्टर के नवयुवक कन्धों पर डाली गई थी। पार्लमेण्ट के इस महत्वपूर्ण अधिवेशन से पहले, जब कि भारतीय नीति की समीक्षा की जानी थी, 'डेली हेराल्ड' ने श्रीएमरी को अपने एक अग्रलेख में सलाह-मशविरा देते हुए लिखा कि, "हम भारत के युद्ध-उत्पादन के सम्बन्ध में विशाल और प्रभाव-शाली आंकड़े पढ़ने तथा भारतीय सेना में स्वेच्छा-पूर्वक भर्ती होनेवाले बीस लाख सैनिकों की कहानी सुनने के अभ्यस्त हो चुके हैं। लेकिन फिर भी अब तक हम भारत की ३९ करोड़ जनता और उसके राजनीतिक नेताओं के मध्य किसी प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्था-द्वारा कोई सन्तोषजनक संपर्क स्थापित करने में सर्वथा असफल रहे हैं।"

३० मार्च १९४३ को पार्लमेण्ट में भारतीय स्थिति पर पुनः सोच-विचार प्रारम्भ हुआ। सभा के सामने जो प्रस्ताव पेश किया गया उसका सम्बन्ध भारत के ग्यारह-प्रांतों में से केवल छः के साथ था। इस प्रस्ताव में यह मांग की गई थी कि १९३५ के विधान के अन्तर्गत इन प्रांतों में लागू की गई धारा ९३ की सामयिक समीक्षा पार्लमेंट-द्वारा की जाय। अक्तूबर १९३९ के बाद से कांग्रेस को इन प्रांतों के मंत्रिमंडलों से इस्तीफा दिये हुए साढ़े तीन बरस हो चुके थे और उसके बाद वहां जो संकटकालीन धाराएं लागू की गई थीं, उन्हें पुनः जारी करने के प्रश्न

और प्रत्यक्ष होता है, लेकिन असत्य के पैर नहीं होते और उसका आधार दुहरी नीति होती है और वह दुहरा वार भी करता है।

युद्ध-कालीन संकट में यद्यपि यह श्वेतपत्र बहुत से आलोचकों का मुंह बन्द कर देने के लिए काफी था, फिर भी पार्लमेंट के भीतर और उसके बाहर समाचारपत्रों में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं थी जो किसी तरह से भी यह यकीन करने को तैयार नहीं थे कि गांधीजी दोषी हैं और उनकी राय में यह एक अपूर्ण और बेकार-सी पुस्तिका थी, क्योंकि उसमें भारतीय गतिरोध को दूर करने के सम्बन्ध में एक भी रचनात्मक सुझाव नहीं था और विजय-प्राप्ति की दृष्टि से मित्रराष्ट्रों के लिए महत्वपूर्ण समस्या भारतीय गतिरोध का स्रोत न होकर उसका अन्त था। वे यह जानने के लिए इतने उत्सुक न थे कि यह कैसे शुरू हुआ, जितना कि उसे शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त करने के लिये।

२ अप्रैल को 'मांचेस्टर गार्जियन' ने लिखा :—

"बारंबार क्रिप्स-योजना पर जोर देने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि कम-से-कम फिलहाल तो वह असफल हो गई है और इस समय एक बिल्कुल नयी स्थिति पैदा हो गई है, जिसका हमें यथार्थ-वादियों के रूप में फैसला करना है।"

श्री एमरी के रुख पर खेद प्रकट करते हुए 'डेली हेरल्ड' ने लिखा—"कल श्री एमरी ने जो भाषण दिया वह उनके पिछले तीन साल के बहुत से वक्तव्यों की पुनरावृत्ति-मात्र थी। हमारा सुझाव है कि इन असामयिक विषयों को पीठ ठोंकने के बजाय श्री एमरी को कामन-सभा से साफ़ तौर पर केवल यह कह देना चाहिये कि "मेरी नीति का आधार अब तक डा० डूलिटिल और डा० बर्नार्डो के सिद्धान्त हैं।"

उप-प्रधान मन्त्री श्री एटली ने अपना भाषण समाप्त करते हुए कहा कि "मैं समझता हूँ श्री गोखले, श्री राजगोपालाचार्य, पंडित नेहरू और श्री जिन्ना आदि जो वास्तव में प्रजातंत्र-वादी हैं, इस प्रकार के परिवर्तन को अमल में ला सकते हैं।" श्री गोखले १९ फरवरी, १९१५ को परलोक सिधार चुके थे, किन्तु श्री एटली-द्वारा उनके उल्लेख से पता चल जाता है कि भारत की राजनीतिक स्थिति के बारे में विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के उप-प्रधान-मन्त्री कितना ज्ञान रखते हैं।

अब हम लार्डसभा में भारत-विषयक बहस का उल्लेख करना चाहते हैं। यह बहस अर्ल आफ मुंस्टर ने शुरू की जो भारतीय राजनीति के क्षेत्र में नये-नये आये थे और उनका यह सर्व-प्रथम भाषण लार्ड स्नेल-जैसे प्रवक्ता के उस भाषण की तुलना में जो उन्होंने बहस के उत्तर में दिया—काफी अच्छा उतरा। इस उदाराशय लार्ड ने भी पुरानी परंपरा का अनुसरण करते हुए "भारतीय जनता के सभी प्रमुख अंगों के बीच समझौते" पर जोर दिया। ऐसा मालूम हो रहा था कि मानो लार्ड मुंस्टर हिटलर के लिए फ्रांस को सदा अपनी अधीनता में बनाए रखने के पक्ष का समर्थन कर रहे हों।

लार्ड सभा की बहस यद्यपि अधिक दिलचस्प रही, लेकिन उससे कोई लाभ नहीं पहुँचा। इस सम्बन्ध में हम दो भाषणों का उल्लेख करना चाहते हैं। लार्ड फेरिंगडन (मजदूर दल) ने कहा कि उन कांग्रेसी नेताओं के साथ समझौता करने का आधार प्रस्तुत है जिन में से बहुतों के उद्देश्य ब्रिटिश सरकार जैसे ही हैं। लार्ड फेरिंगडन ने यह स्वीकार नहीं किया कि गांधीजी डिक्टेटर हैं अथवा कांग्रेस एक वर्गवादी संस्था है। श्री राजगोपालाचार्य तथा अन्य भारतीय

नेताओं के गांधीजी से न मिलने के लिए वाइसराय की अनुमति न मिलने की आपने आलोचना की। आपने यह सुझाव रखा कि ब्रिटिश सरकार समस्त दलों के नेताओं को लन्दन में निमन्त्रित करे जिससे "यह मालूम किया जा सके कि कोई उपाय निकल सकता है या नहीं। यदि संभव हो तो इसमें मित्रराष्ट्रों की सरकारों का भी सहयोग ले लेना चाहिए।"

लार्ड सेम्युएल ने कहा, "भारतीय-विधान के अनुसार जब प्रजातन्त्र पर आधारित उन व्यवस्थापिका सभाओं का निर्वाचन हुआ, जिनके प्रति विभिन्न प्रान्तीय सरकारें उत्तरदायी हैं तो उदारदल ने इस पर अत्यधिक संतोष प्रकट किया था। हमने इसे वैधानिक प्रजातन्त्र-प्रणाली की सबसे बड़ी विजय कहा था, जैसी कि अब तक किसी भी पूर्वीय देश में नहीं देखने में आई। जब मैं भारत गया था तो मेरा यह ख्याल नहीं था कि प्रान्तीय विधान इतनी आश्चर्यजनक सफलता के साथ अपना काम कर रहे होंगे।"

लार्ड सभा में ६ अप्रैल १६४३ को लार्ड सेमुएल ने जो भाषण दिया था, उसका उत्तर देते हुए गांधीजी ने १४ मई, १६४३ को उन्हें एक पत्र लिखा। यह पत्र नीचे उद्धृत किया जाता है, जिसे सरकार ने लार्ड सेम्युएल तक नहीं पहुँचने दिया :—

"मैं इस पत्र के साथ ८ अप्रैल, १६४३ के 'हिन्दू' अखबार की एक कतरन भी भेज रहा हूँ जिसमें लार्ड सभा में हाल की भारत-विषयक बहस के दौरान में आपके भाषण का रायटर-द्वारा भेजा हुआ सार दिया गया है। यह ख्याल करके कि आपके भाषण का यह सार सही है मुझे विवश होकर आपको यह खत लिखना पड़ रहा है।

"मुझे आपके भाषण का विवरण पढ़कर बड़ी बेचैनी और दुख हुआ है। मैं यह खयाल नहीं कर सकता था कि आप भारत-सरकार के उस एकतरफा और सर्वथा औचित्यविहीन बयान के साथ पूर्णतः सहमत होंगे जो उसने कांग्रेस के और मेरे खिलाफ दिया है।

"आप एक दार्शनिक और उदार विचारवाले व्यक्ति हैं। दार्शनिक मनोवृत्ति वाले व्यक्ति को मैं सदा से ही एक तटस्थ व्यक्ति समझता आया हूं और उदारवाद को मैं मनुष्यों और दूसरी समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने की कोशिश का प्रतीक मानता आया हूँ।

"मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारके बयान में ऐसी एक भी बात नहीं है, जिसकी वजह से आप उन नतीजों पर पहुँचते, जो कहा जाता है कि आपने निकाले हैं।

"आपके भाषण का जो विवरण मेरे पास पहुंचा है, मैं उसकी कुछ ऐसी बातों का जिक्र करना चाहता हूं जो सत्यता की कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं।

१. 'कांग्रेस दल ने अधिकांश में प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी है।'

"कांग्रेस ने कभी भी प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों को नहीं त्यागा है। उसका इतिहास तो इस बात का द्योतक है वह हमेशा से प्रजातंत्र की दिशा में ही अग्रसर हुई है। प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो शान्तिमय और न्यायोचित साधनों-द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने में विश्वास रखता है और ४ आना वार्षिक शुल्क देता है वह इसका सदस्य बन सकता है।

२. 'यह एक वर्गवाद की ओर चले जाने के लक्षण प्रकट कर रहा है।'

"आपने यह अभियोग इस आधार पर लगाया है कि कांग्रेस कार्यसमिति कांग्रेस-मंत्रिमंडलों पर अपना नियंत्रण क्यों रखती है। क्या ब्रिटेन के निर्वाचन में सफल दल कामन-सभा में ऐसा ही नहीं करता? मेरा विचार है कि जब प्रजातंत्र-प्रणाली उन्नति और विकास की अपनी चरम सीमा तक पहुँच जायगी तब भी पार्टियां चुनाव लड़ेंगी और उनकी प्रबन्ध-समितियां अपने

सदस्यों की कार्रवाइयों और नीतियों पर अपना नियंत्रण रखेंगी। कांग्रेसजनों ने कांग्रेस-संगठन से अलहदा स्वतंत्र होकर निर्वाचन नहीं लड़ा। उम्मीदवारों को अधिकृत रूप से खड़ा किया गया था और अखिल भारतीय नेताओं ने चुनाव के समय उनकी मदद की।

"आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार 'एक वर्गवाद' का अर्थ 'ऐसी पार्टी का निर्माण करना है जो अपने मुकाबले में कोई और पार्टी न खड़ी होने दे अथवा अपने सदस्यों को किसी और दल में न शामिल होने दे।' इसी तरह एक वर्गवादी सरकार का अर्थ है 'केवल एक ही दल का शासन।' नियंत्रण रखने के लिए उसे हिंसा पर आश्रित रहना पड़ता है। लेकिन इसके विपरीत प्रत्येक कांग्रेस-सदस्य को उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त है जितनी कि कांग्रेस के अध्यक्ष को अथवा वर्किंग कमेटी के किसी सदस्य को। स्वयं कांग्रेस के अन्दर ही और भी दल हैं। इसके अलावा सबसे बड़ी बात यह है कि कांग्रेस हिंसा के प्रयोग के खिलाफ है। कांग्रेस के सदस्य स्वेच्छापूर्वक उसके अनुशासन में रहते हैं। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को अधिकार है कि वह जब भी चाहे वर्किंग कमेटी के सदस्यों को हटाकर उनकी जगह नये सदस्य चुन ले।

३. 'कांग्रेस मंत्रिमंडलोंने इसलिए इस्तीफे नहीं दिये थे कि उन्हें अपनी व्यवस्थापिका सभाओं का समर्थन नहीं प्राप्त था, बल्कि इसलिए कि कानूनी तौर पर तो यद्यपि वे अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी थे, लेकिन वास्तव में वे कांग्रेस वर्किंग कमेटी और उसके 'हाई कमांड' के प्रति जिम्मेदार थे। यह प्रजातंत्र नहीं है। यह तो तानाशाही है।'

"अगर आपको सारी बातें मालूम होतीं तो आप ऐसा कभी न कहते। कांग्रेस वर्किंग कमेटी के प्रति मंत्रिमंडलों की जिम्मेदारी के कारण मतदाताओं के प्रति उनकी जिम्मेदारी किसी तरह से भी कम नहीं हो जाती, क्योंकि वर्किंग कमेटी की शक्ति और प्रतिष्ठा भी उन्हीं निर्वाचकों पर आश्रित है, जिनके प्रति ये मंत्रिमंडल उत्तरदायी समझे जाते हैं। कांग्रेस की जो प्रतिष्ठा है, उसका एकमात्र कारण जनता के लिए की गई उसकी सेवा ही है। वास्तव में मंत्रिमंडल अपनी-अपनी व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों से ही सलाह-मशविरा करते हैं और वे उन्हीं (सदस्यों) की मर्जी से इस्तीफा देते हैं।

"लेकिन दूसरी तरफ पूर्णरूपसे एक वर्गवादी तो भारत-सरकार है जो भारत में किसी के प्रति भी जिम्मेवार नहीं है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जो सरकार स्वयं एक वर्गवाद पर आधारित है वह वही इलजाम भारत के सबसे अधिक प्रजातंत्रवादी दल पर लगाती है।

४. 'भारत का यह दुर्भाग्य है कि वहां के विविध राजनीतिक दल बहुत ही बुरे आधार पर निर्मित हुए हैं······इनका निर्माण धार्मिक संप्रदायों के आधार पर हुआ है।'

"भारत के राजनीतिक दलों का निर्माण धार्मिक संप्रदायों के आधार पर नहीं हुआ है। शुरू से ही कांग्रेस जानबूझ कर विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक संगठन रहा है। अंग्रेज, ईसाई, पारसी, मुसलमान और हिन्दू सभी इसके अध्यक्ष रह चुके हैं। इसी प्रकार भारत का उदारवादी दल भी एक राजनीतिक संगठन है। इसके अलावा और भी ऐसे संगठन हैं जो बिलकुल गैर-सांप्रदायिक है।

"इसमें कोई शक नहीं कि भारत में धार्मिक संप्रदायों पर आधारित ऐसे संगठन भी हैं जो राजनीति में भाग लेते हैं। लेकिन उससे आपके वक्तव्य का तो समर्थन नहीं होता। मैं किसी तरह से भी इन संगठनों के महत्व अथवा देशकी राजनीति में उनका जो काफी हिस्सा है—उसे कम नहीं दर्शाना चाहता। लेकिन मैं इतना अवश्य कहूंगा कि वे भारत के राजनीतिक

मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह साबित किया जा सकता है कि राजनीति-मूलक धार्मिक संगठन जानबूझ कर 'फूट डाल कर शासन करने की' सरकारी नीति का परिणाम हुआ करते हैं। जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद पूरी तरह से इस देश में मिट जायगा तो संभवतः भारत का एकमात्र प्रतिनिधित्व ऐसे राजनीतिक दल करेंगे, जिनमें सभी वर्गों, जातियों और धर्मों के लोग शामिल होंगे।

५. 'कांग्रेस अधिक-से-अधिक भारत की आधी जनसंख्या के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकती है। फिर भी वह एक वर्गवादी भावना से प्रेरित होकर समस्त जनसंख्या की प्रतिनिधि होने का दावा करती है।'

"अगर आप कांग्रेस के प्रतिनिधित्वपूर्ण स्वरूप का अन्दाजा सरकारी तौर पर उसके सदस्यों की संख्या से लगाते हैं, तो वह देश की जन-संख्या के आधे भाग का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती। भारत को ४० करोड़ जनता की तुलना में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या नगण्य-सी है। कांग्रेस ने केवल १९२० से ही सदस्य भर्ती करने शुरू किये हैं। उससे पहले कांग्रेस का प्रतिनिधित्व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी करती थी, जिसके सदस्य मुख्यतः विभिन्न राजनीतिक संगठनों-द्वारा चुने जाते थे।

"चाहे कुछ भी हो, जहाँ तक मुझे मालूम है कांग्रेस ने हमेशा ही समस्त भारत के प्रतिनिधित्व का दावा किया है, जिसमें भारतीय नरेश भी शामिल हैं। विदेशी शासन के अधीन किसी भी राष्ट्र का केवल एक ही राजनीतिक उद्देश्य हो सकता है—अर्थात् उस गुलामी से अपनी मुक्ति। और जब हम यह विचार करते हैं कि कांग्रेस ने हमेशा ही स्वतंत्रता की उस भावना को व्यक्त किया है तो हम उसके अखिल भारतीय दावे से क्योंकर इंकार कर सकते हैं। अगर कुछ दल कांग्रेस के खिलाफ हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि उसका यह दावा गलत है।

६. 'जब गांधीजी ने अंग्रेजों से भारत छोड़ जाने को कहा तो यह भी कहा कि कांग्रेस ही उनसे शासन-सूत्र अपने हाथ में लेगी'।

"मैंने यह कभी नहीं कहा कि जब अंग्रेज भारत छोड़कर जाएँगे तो 'कांग्रेस शासन-सूत्र अपने हाथ में लेगी।' वाइसराय के नाम २९ फरवरी के अपने पत्र में मैंने यह लिखा था:—

"प्रत्यक्ष है कि सरकार ने इस महत्वपूर्ण बात की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया है कि कांग्रेस ने अपने अगस्तवाले प्रस्ताव के अन्तर्गत अपने लिए तो कुछ भी नहीं मांगा। उसकी मांग तो सारे हिन्दुस्तान के लिए थी। जैसा कि आप जानते होंगे कांग्रेस तो इस बात के लिए राजी थी कि सरकार कायदे-आजम जिन्ना को राष्ट्रीय सरकार बनाने को कहे, लेकिन इस शर्त पर कि ऐसी सरकार निर्वाचित धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी हो और युद्धकाल के लिए जो बातें जरूरी हों, उनके बारे में आपस के समझौते से फैसला कर लिया जाय। कांग्रेस वर्किंग कमेटी की सदस्या श्रीमती सरोजिनी देवी के अलावा मेरा किसी भी दूसरे सदस्य से संपर्क नहीं है, इसलिए मैं उसके वर्तमान दृष्टिकोण को नहीं जानता। लेकिन ऐसा नहीं प्रतीत होता कि कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने इस मामले में अपने विचार बदल लिये हों।

७. 'अगर ब्रिटेन अथवा कैनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, अथवा दक्षिण अफ्रीका या अमरीका कांग्रेस की तरह से इस काम से किनारा कर बैठता तो संभवतः सभी जगह स्वाधीनता के हितों को नुकसान पहुँचता...कितने दुर्भाग्य की बात है कि भारत के नेता यह नहीं अनुभव करते कि मानवता के हितों की उपेक्षा करके वे भारत का हित साधन कैसे कर सकेंगे?'

"ब्रिटेन और अमरीका की तो आप बात ही छोड़िये। वे तो दोनों ही पूर्ण रूप से स्वतंत्र-राष्ट्र हैं। कैनेडा और दूसरे स्वाधीनता-प्राप्त राष्ट्रों की तुलना भी आप भारत से नहीं कर सकते, क्योंकि वे भी वास्तव में स्वतंत्र हैं। लेकिन क्या भारत इन देशों के मुकाबले में रत्तीभर भी आजाद है? क्या उसे भी इसी तरह की स्वतंत्रता हासिल है?

"भारत को अभी अपनी आजादी हासिल करनी है। मान लीजिए कि मित्रराष्ट्र हार जाते हैं अथवा सैनिक कारणों से उन्हें अपनी सेनाएं भारत से हटा लेनी पड़ती हैं, जैसी कि मुझे आशा नहीं है, तो क्या ये देश अपनी आजादी नहीं खो बैठेंगे? लेकिन अगर उस वक्त भी भारत की यही शोचनीय दशा रही तो उसे सिर्फ अपना मालिक बदलकर ही संतोष कर लेना होगा।

"जब तक आप तत्काल भारत को आजादी नहीं देंगे तब तक न तो कांग्रेस और न कोई और संगठन ही भारतीय जनता में मित्र-राष्ट्रों के उद्देश्यों के प्रति कोई अनुराग अथवा उत्साह पैदा कर सकता है। केवल यह कहने से काम नहीं चल सकता कि भविष्य में भारत को आजाद कर दिया जायगा।

"'भारत-छोड़ो' का नारा इसलिए लगाया गया है कि अगर भारत को मानव-समाज के हितों की रक्षा के लिए लड़ना है तो उसे इसी समय स्वाधीनता देनी होगी। क्या कभी किसी ठिठुरते हुए आदमी को यह कहने से गर्मी पहुँची है कि भविष्य में एक दिन उसे धूप के दर्शन होनेवाले हैं?

"दुर्भाग्य तो यह है कि कांग्रेस मेरे नेतृत्व में जो कुछ भी कहती या करती है उस पर हमारे शासक अविश्वास करते हैं और अब न जाने यकायक वे यह कैसे ख्याल करने लगे हैं कि कांग्रेस पर मेरा प्रभाव अभिशाप-स्वरूप है। यह आवश्यक है कि आपको कांग्रेस और कांग्रेसजनों के साथ मेरे संपर्क के बारे में स्पष्ट रूप से ज्ञान होजाना चाहिए। १९३४ से मैंने कांग्रेससे नियमित रूप से अपना सभी प्रकार का नाता तोड़ लिया है।

"कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी के साथ मेरा कोई मतभेद नहीं था। लेकिन मैंने अनुभव किया कि जब तक अधिकृत रूप से मेरा कांग्रेस के साथ संपर्क बना रहेगा, वर्किङ्ग कमेटी के सदस्यों और मेरे दरमियान एक दीवार-सी खड़ी रहेगी। समय-समय पर मैं अहिंसा के सम्बन्ध में जो मर्यादाएं निर्धारित कर रहा था और कांग्रेसजनों से जिस संयम की आशा करता था, उस पर अमल करना उनके लिए मुश्किल पड़ रहा था। इसलिए मैंने फैसला किया कि मेरा प्रभाव केवल नैतिक ही रहना चाहिए।

"मेरी कोई राजनीतिक आकांक्षा न थी। मेरी राजनीति सत्य और अहिंसा पर आश्रित थी और इन्हीं सिद्धान्तों के प्रतिपादन में मैंने प्रायः अपना सारा जीवन लगा दिया है। इसलिए मेरे सहयोगियों ने मुझे अधिकृत रूपसे कांग्रेस से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने की, यहां तक कि उसकी चार आना सदस्यता से भी अलहदा होने की आज्ञा दे दी। मेरे और उनके दरमियान यह तय हुआ कि जब कभी अहिंसा अथवा कौमी एकता से सम्बन्ध रखनेवाले मामलों में सलाह-मशविरे के लिए उन्हें मेरी जरूरत महसूस होगी तो मैं वर्किङ्ग कमेटी की बैठकों में उपस्थित रहा करूँगा।

"उस समय के बाद से कांग्रेस के नियमित कार्य से मेरा किसी किस्म का संपर्क नहीं रहा। इसलिए वर्किङ्ग कमेटी की बहुत-सी बैठकों में मैं शामिल नहीं हुआ। उसकी कार्रवाइयों की सूचना मुझे केवल अखबारों से ही मिली है। वर्किङ्ग कमेटी के सदस्य स्वतंत्र विचारों के लोग हैं। नयी परिस्थितियों के पैदा होजाने पर अहिंसा की परिभाषा के सम्बन्ध में वे मुझ से

बहुत गहरे सोच-विचार के बाद ही मेरी राय मानते हैं।

"इसलिए यह कहना कि मैं उन पर अनुचित रूपसे प्रभाव डालता हूँ--उनके और मेरे--दोनों के साथ ही अन्याय करना होगा। जनता जानती है कि किस तरह से अनेक अवसरों पर वर्किंग कमेटी के अधिकांश सदस्यों ने मेरी सलाह मानने से साफ इंकार कर दिया है और बहुत से उदाहरण तो आपको अभी हाल के ही मिल जाएंगे।

८. 'उन्होंने न केवल इस काम में भाग लेने से ही इन्कार कर दिया है, बल्कि कांग्रेस ने जान-बूझकर यह घोषणा की है कि इस लड़ाई में जन या धन के रूप में अंग्रेज़ों की मदद करना ग़लती है और हमें अहिंसापूर्वक युद्ध का प्रतिरोध करना चाहिए। अहिंसा के नाम पर उसने एक ऐसा आन्दोलन शुरू किया है, जिसमें बहुत-सी जगहों पर अत्यधिक हिंसा से काम लिया गया है और श्वेतपत्र में स्पष्ट रूप से साबित कर दिया गया है कि इन उपद्रवों में कांग्रेसी नेताओं का हाथ था।'

"आपके इस अभियोग से प्रकट हो जाता है कि किस तरह से कल्पित कहानियों के आधार पर ब्रिटिश जनता को गुमराह किया गया है, क्योंकि भारत-सरकार-द्वारा प्रकाशित पुस्तिका में दिये गए वक्तव्यों का सम्बद्ध उद्धरणों से कोई मेल ही नहीं बैठता और उन्हें इस प्रकार तोड़-मरोड़ कर कहा गया है कि मानों वे सत्य ही हों।

"कांग्रेस अहिंसा-द्वारा स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए वचनबद्ध है। पिछले बीस साल से वह इसी सिद्धान्त को लेकर अपना आन्दोलन चलाती रही है। यद्यपि अहिंसा पर पूरी तरह अमल करना कठिन है, फिर भी मेरी राय में कांग्रेस इस मामले में बहुत हद तक कामयाब रही है। लेकिन उसने अहिंसा-द्वारा युद्ध का मुक़ाबला करने का बहाना कभी नहीं किया। अगर वह ऐसा दावा करती और उस पर पूरी तरह से अमल करती तो आज भारत की परिस्थिति बिलकुल ही बदली हुई नज़र आती और दुनिया देखती कि संगठित हिंसा का मुक़ाबला संगठित अहिंसा द्वारा कितनी सफलतापूर्वक किया जाता है।

"लेकिन किसी जगह भी मानव-प्रकृति पूर्ण अहिंसा पर अमल नहीं कर सकी। वह कसौटी पर पूरी नहीं उतरी। ८ अगस्त के बाद देश में जो गड़बड़ हुई उसकी ज़िम्मेदारी कांग्रेस पर किसी तरह से भी नहीं आ सकती। सरकार ने एक ऐसे मौके पर जो कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त था, देशभर में कांग्रेस के नेताओं को गिरफ्तार करके जनता की क्रोधाग्नि को भड़का दिया। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि कांग्रेसजन अथवा दूसरे लोग अहिंसा की उस सीमा तक नहीं पहुँच सके थे जबकि किसी प्रकार की भी उत्तेजना का उन पर असर नहीं होना चाहिए था।

"मुझे इस पर आश्चर्य होता है कि यद्यपि आपने यह स्वीकार किया है कि 'यह श्वेत-पत्र अच्छी पत्रकारिता का नमूना कहा जा सकता है, परन्तु वह सरकारी दस्तावेज़ कहाने के योग्य नहीं है,' आपने जल्दबाज़ी में आकर अपनी राय उसी पर क़ायम की है। अगर उन भाषणों को पढ़ें, जिनका इसमें उल्लेख किया गया है तो आपको पता चल जायगा कि भारत-सरकार के लिए ६ अगस्त और उसके बाद की दुर्भाग्यपूर्ण गिरफ्तारियां करने का रत्तीभर भी कारण नहीं था और न ही उसके पास नेताओं को जेल में ठूँस देने के बाद उन पर इस तरह के इलजाम लगाने का कोई आधार था, जिनकी जांच-पड़ताल किसी भी अदालत में नहीं की गई।

६. 'गांधीजी ने राजनीतिक वाद-विवाद में बिल्कुल न्याय-विरुद्ध तरीक़े का आश्रय लेकर हमें बदनाम करने की कोशिश की। उन्होंने उपवास के ज़रिये मानव की सर्वोत्तम भावनाओं—दया और सहानुभूति से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश की। गांधीजी के पक्ष में सबसे अच्छी बात यही कही जा सकती है कि उन्होंने उपवास समाप्त कर दिया।'

"आपने मेरे उपवास के सम्बन्ध में बड़े सख्त शब्द कहे हैं। श्रीमान् वाइसराय ने भी इसी तरह की बातें कही हैं। आपके लिए तो शायद यह बहाना हो सकता है कि आपको पूरी स्थिति के बारे में कोई जानकारी नहीं है, लेकिन वाइसराय के लिए ऐसा कोई बहाना नहीं हो सकता, क्योंकि उनके पास मेरे पत्र मौजूद थे।

"मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूं कि उपवास सत्याग्रह का एक मुख्य अङ्ग है। सत्याग्रही का यह अन्तिम शस्त्र है। जब कोई व्यक्ति यह खयाल करके कि उसके साथ अन्याय हुआ, आत्म-बलिदान करने को तैयार हो जाता है तो फिर आप उसकी इस कुर्बानी को बदनाम करने की कोशिश क्योंकर कर सकते हैं।

"शायद आप न जानते हों कि अपनी शिकायतें दूर कराने के लिए सत्याग्रही कैदियों ने दक्षिण अफ्रीका में भी उपवास किया था और यही चीज़ उन्होंने भारत में की है। मेरा ख़याल है कि आपको मेरे एक उपवास का पता ही होगा। उस समय आप ब्रिटेन के मन्त्रि-मण्डल में थे। मेरा मतलब उस उपवास से है जो मैंने साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध किया था और जिसकी वजह से सम्राट् की सरकार को अपने फ़ैसले में बाद में रद्दोबदल भी करना पड़ा। अगर वह फ़ैसला क़ायम रहता तो अस्पृश्यता का अभिशाप सदा के लिए बना रहता। लेकिन उसी परिवर्तन के कारण यह संकट टल गया।

"मेरे हाल के उपवास के बाद ही भारत सरकार ने जो विज्ञप्ति प्रकाशित की थी, उसमें उसने मुझ पर यह इलज़ाम लगाया कि मैंने यह उपवास अपनी रिहाई के लिए किया था। यह इलज़ाम बिलकुल बेबुनियाद था। मैंने सरकार के जवाब में जो ख़त लिखा था, उसकी बातों को तोड़-मरोड़ कर सरकार ने मेरे ऊपर यह इलज़ाम लगाया था। ८ फरवरी का मेरा वह पत्र सरकार ने अपनी विज्ञप्ति प्रकाशित करते समय दबा दिया था।

"अगर आप इस बारे में अधिक जानकारी हासिल करना चाहें तो मैं आपका ध्यान निम्न पत्रों की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जो समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं—

"नया साल शुरू होने से पहले १६४२ का वाइसराय के नाम मेरा पत्र।

१६ जनवरी, १६४३ का मेरा पत्र।

२५ जनवरी, १६४३ का वाइसराय का जवाब।

२५ जनवरी, १६४३ का मेरा जवाब।

५ फरवरी, १६४३ का वाइसराय का जवाब।

६ फरवरी, १६४३ का मेरा पत्र।

७ फरवरी, १६४३ का सर आर० टोटेनहम का पत्र।

८ फरवरी, १६४३ का मेरा जवाब।

"और मुझे नहीं मालूम कि आपको यह ख़याल कैसे हुआ कि मैंने उपवास ख़त्म कर दिया, जिस काल्पनिक कार्रवाई के लिए आप मुझे दाद दे रहे हैं। अगर आपका यह मतलब है कि मैंने यह उपवास समय से पहले ख़त्म कर दिया तो मैं उसे अपने लिए अपमानजनक समझता।

हूँ। जैसा कि स्पष्ट है उपवास तो उचित समय पर ही ख़त्म किया गया था और उसके लिए मैं किसी प्रकार भी श्रेय का दावा नहीं कर सकता।

१०. 'उन (लार्ड सैम्युएल) का ख़याल है कि अगर कांग्रेस वास्तव में समझौते की इच्छुक होती तो उन बातों को लेकर समझौते की बातचीत नहीं टूट सकती थी, जिन्हें लेकर वह टूटी है।'

"मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और पण्डित नेहरू बहुत दिनों तक समझौते की बातचीत करते रहे। इस बारे में उन्होंने जो वक्तव्य दिया है, मैं कह सकता हूँ कि उससे यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि कोई भी ईमानदार आदमी समझौते के लिए इतनी कोशिश नहीं कर सकता था, जितनी कि उन्होंने की। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि पण्डित नेहरू सर स्टैफर्ड क्रिप्स के घनिष्ठ मित्रों में से हैं और मुझे कोई शक नहीं कि वे अबतक भी उनके अन्यतम मित्र हैं और उन्हीं के कहने पर वे (पण्डित नेहरू) इलाहाबाद से आए थे। इसलिये समझौता करने की उन्होंने कोई कसर न उठा रखी। क्रिप्स की असफलता का इतिहास अभी नहीं लिखा गया और जब यह लिखा जायगा तो आपको पता चल जायगा कि इस असफलता का कारण कांग्रेस नहीं, बल्कि कोई और था।

"मुझे आशा है कि मेरे पत्र से आप परेशान न होंगे। सत्य को बुरी तरह से दबाने की कोशिश की गई है। अगर आप एक महान् संगठन के प्रति न्याय नहीं करना चाहते तो कम-से-कम सत्य के लिए ही, जो कि मानवता का तक़ाज़ा है, वर्तमान उलझन की निष्पक्ष जांच-पड़ताल होनी चाहिए।

आपका शुभचिन्तक,
एम० के० गांधी"

भारत-सरकार ने लार्ड सेम्युएल के नाम गांधीजी का उक्त पत्र भेजने से इन्कार कर दिया। इस सिलसिले में गांधीजी और भारत-सरकार के दरमियान जो पत्र-व्यवहार हुआ वह नीचे दिया जाता है:—

गृह-विभाग।
नई दिल्ली, २६-मई, १९४३.

"प्रिय गांधीजी,

मुझे १५ मई का आपका पत्र, जिसके साथ एक पत्र लार्ड सेम्युअल के लिए भी था, मिला। मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि उन वजहों से जो एक और सिलसिले में आपको स्पष्ट करदी गई हैं, भारत-सरकार ने फैसला किया है कि आपका पत्र उन (लार्ड-सेम्युएल) को नहीं भेजा जा सकता।

आपका शुभचिन्तक।
आर० टौटेनहम"

नजरबन्दी कैम्प,
१ जून, १९-४३

"प्रिय सर रिचर्ड टौटेनहम,

मुझे आपका २६, मई का पत्र मिला जिसमें फैसले का जिक्र किया गया है। मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूं कि यह पत्र कोई राजनीतिक पत्र-व्यवहार नहीं है। बल्कि यह तो लार्ड-सभा के एक सदस्य से की गई शिकायत है, जिसमें यह दिखाने की कोशिश की गई है कि

वे कुछ ऐसी गलतफहमियों में पड़ गए हैं, जिनकी वजह से मेरे साथ बेइन्साफी की गई है। सरकार का निर्णय एक कैदी के इस साधारण अधिकार पर भी प्रतिबन्ध लगा देना है जो उसे उसके बारे में फैलाए गए भ्रम दूर करने के लिए प्राप्त हैं। इसके अलावा मैं यह भी कहना चाहता हूं कि कायदे-आज़म-जिन्ना के नाम मेरे पत्र के बारे में जो फैसला किया गया था, उसका लार्ड सेम्युअल के नाम मेरे इस पत्र से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। इसलिए मैं आपसे इस फैसले पर फिर से सोचविचार करने का अनुरोध करता हूँ।

मैं हूं,
आपका शुभचिंतक
एम० के० गांधी।

गृह-विभाग।
नई दिल्ली, ७ जून, १९४३

प्रिय गांधीजी,

लार्ड सेम्युएल के नाम आप के पत्रके सम्बन्ध में सरकार के फैसले के बारे में आपका सर रिचर्ड टौटेनहम के नाम १ जून १९४३ का पत्र मिला। और निवेदन है कि सरकार को खेद है कि उसे अपना वह फैसला बदलने की कोई वजह नहीं दिखाई देती।

आपका शुभचिंतक।
कौरनन स्मिथ

भारत में दफा ९३ वाले सूबे

भारत के कुछ प्रान्तों के गवर्नरों को और बर्मा के गवर्नर को शासन के सम्बन्ध में जो अधिकार दिये गए है, उन्हें पुनः दिये जाने के लिये ईस्टर की छुट्टियों के बाद भारत मंत्री श्री लियोपोल्ड एमरी कामन-सभा के प्रस्ताव पेश करेंगे।

मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और बिहार की व्यवस्थापिका सभाओं के संबन्ध में गवर्नरों को जिस घोषणा के अन्तर्गत अधिकार दिये गए हैं, वे केवल एक साल तक जारी रहेंगे बशर्तेकि पार्लीमेण्ट की दोनों सभाएं उन्हें अधिकार जारी रखने की स्वीकृति दें और वर्तमान अवधि ३० अप्रैल को खत्म हो जाएगी।

बर्मा की भी ऐसी ही परिस्थिति है। जापानियों ने सीमान्त के क्षेत्र के अलावा शेष बर्मा पर कब्जा कर रखा है। इसलिए १९३५ के बर्मा विधान के अनुसार वहां का शासन चलाना असंभव है। जिस घोषणा के अन्तर्गत गवर्नर ने ये अधिकार अपने हाथ में लिए थे, उसकी अवधि ९ जून को खत्म हो जाती है।

ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखनेके लिए श्री चर्चिल और एमरी के चाहे कुछ भी विचार क्यों नहो, विदेशों में साफतौर पर यह कहा जा रहा था कि यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर रहेगा। उसके भाग्यके बारे में किसी रत्ती भर भी संदेह नहीं था। इस बारे में 'न्यूयार्क डेली न्यूज' ने २ मई, १९४३ के अपने एक संपादकीय लेख में लिखा कि "बहुतेरे साम्राज्य फले-फूले और बर्बाद होगए हैं। संभवत्त ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त अब निकट आ गया है। इस अन्त का श्रीगणेश उसी समय से हुआ जब कि जहाज कोयले की बजाय तेल से चलने लगे। जब कोयले से चलते थे तो संसार भर में ब्रिटेन के पास सैनिक दृष्टिसे ऐसे महत्त्वपूर्ण केंद्र थे, जहां ये जहाज कोयला भरा करते थे और उनकी रक्षा ब्रिटेन के जंगी जहाज करते थे। इस प्रकार उनपर

ब्रिटेन का कब्जा रहता था। हम ब्रिटिश साम्राज्य की भलाई की कामना करते हैं।"

मई १९४३ में जब श्री बर्नार्ड शा से भारतीय गतिरोध के बारे में उनकी राय पूछी गई तो उन्होंने कहा कि गांधीजी को तुरन्त रिहा कर देना चाहिए और जिन लोगों ने उन्हें गिरफ्तार किया था उन्हें चाहिए कि वे मंत्रिमंडल के मस्तिष्क की खराबी के लिए उनसे क्षमा-याचना करें। भारतीय परिस्तिति को सुधारने का यही एकमात्र तरीका है।

दिसम्बर १९४२ में ब्रिटिश फेडरल यूनियन द्वारा विश्वसंघ की स्थापना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के बारे में प्रश्न किये जाने पर श्री शा ने जवाब दिया था कि, "इस समय विश्वसंघ की स्थापना मानव-जाति के सामर्थ्य के बाहर है। जिस प्रकार ब्रिटिश राष्ट्रमंडल अमरीकी उपनिवेशों पर अपना कब्जा नहीं रख सका, इसी तरह अब वह भारत पर भी अपना कब्जा नहीं जमाए रख सकता।"

: १७ :

भारत में प्रतिक्रिया

(१) भारत-सरकार—शासनाधिकारिणी

लन्दन में भारतीय स्थिति एक निरन्तर महत्त्वपूर्ण और आकर्षक प्रश्न बना रहा। कभी पार्लीमेण्ट में भारत-विषयक बहस के रूप में और कभी प्रस्ताव अथवा किसी प्रश्न के रूप में यह सवाल सामने आता रहा। प्रायः प्रत्येक सप्ताह 'हैंसर्ड' (पार्लीमेण्ट की कार्रवाई के सम्बन्ध में प्रकाशित की जानेवाली सरकारी पुस्तिका) में भारत का उल्लेख रहता, हालांकि भारतीय प्रश्नों में दिलचस्पी लेनेवाले सदस्यों की संख्या घटकर तीन या चार ही रह गई थी और यद्यपि कामन-सभा के ६०० सदस्यों में से, सरकार के विरुद्ध मत देनेवालों की संख्या कभी १७ से अधिक नहीं हुई थी। आश्चर्य की बात है कि उधर लन्दन में तो स्थिति इस प्रकार थी और इधर भारत में बम्बई-प्रस्ताव के बाद केन्द्रीय धारासभा में इस समस्या की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। एक बात तो यह थी कि जून १९३९ से केन्द्रीय असेम्बली की कांग्रेस पार्टी ने उसका बहिष्कार कर दिया था, क्योंकि सरकार ने सभा की राय लिये बिना भारतीय सेनाओं को समुद्र पार भेज दिया था, हालांकि इससे पहले वह वादा कर चुकी थी कि सेनाएं भेजने से पूर्व वह असेम्बली को सूचित कर देगी। यह कहने से कोई लाभ नहीं था कि इस फैसले के बारे में विभिन्न दलों के नेताओं को सूचित कर दिया गया था। जहां तक असेम्बली में भाग लेनेवाले शेष सदस्यों का प्रश्न है, उनका सम्बन्ध ऐसे दलों से है जिनका कोई निश्चित राष्ट्रीय दृष्टिकोण न होने के कारण सरकार से किसी किस्म का झगड़ा नहीं था। ये दल १९३४ के चुनाव से पहले नहीं थे। नवम्बर १९३४ के बाद इस सभा की अवधि साधारणतः तीन वर्ष तक की होनी चाहिए थी, लेकिन उसकी अवधि बारंबार बढ़ाई जाती रही, यहां तक कि १९४५ तक वह एक निर्जीव और मुर्दा-सी संस्था रह गई। पहले तो कांग्रेस दल ने और बाद में मुस्लिम लीग ने भी इसकी बैठकों में भाग लेना छोड़ दिया। इसलिए असेम्बली का सारा आकर्षण और महत्व ही जाता रहा। १९३९ के पतझड़ में देश के ११ प्रान्तों में से ८ में मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दे दिये। लेकिन बाद में उड़ीसा और आसाम में फिर से मंत्रिमंडल बन गए। परन्तु पंजाब, बंगाल और सिन्ध के मंत्रिमंडलों की भांति इन दोनों प्रान्तों के मंत्रिमंडल भी गवर्नरों के हाथ की कठपुतली बन कर नाचते रहे। उन्होंने कांग्रेस के सिद्धान्तों और नीति को रसातल को पहुंचा दिया। वास्तविक स्थिति तो यह थी कि क्या ये कठपुतली मंत्रिमंडल और क्या दफा ९३ वाले प्रान्त—सभी केन्द्रीय सरकार के गृह-सदस्य सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल के निरंकुश और एकछत्र शासन के नीचे पिसने लगे। और गृह-सदस्य गवर्नर-जनरल से आदेश लेते थे। उपद्रवों और कांग्रेस-संगठन को दबाने की जिम्मेवारी भी उन्हीं के कन्धों पर थी। सौभाग्य से

उनकी मदद के लिए भारत-रक्षा-विधान और संकट-कालीन अधिकार-कानून विद्यमान थे। इसके अलावा उन्होंने बहुत-से आर्डिनेन्स भी देश में लागू कर दिये जिनके परिणामस्वरूप सब प्रकार की सार्वजनिक सभाएं और सम्मेलन, जलूस, परेड, प्रदर्शिनियां और विविध प्रकार के प्रदर्शन उनकी अधिकार-सीमा के अन्तर्गत आगए। इसके बाद समाचारपत्रों का भी गला घोंट दिया गया और वे भी सरकारी अंकुश के नीचे आगए। उसके बाद विशेष अदालतों और विशेष दण्ड-विधान का दौरदौरा शुरू हुआ, जिसमें बेंत की सजा से लेकर फांसी तक की सजा शामिल थी। उसके बाद सामूहिक जुर्मानों, अनिवार्य भर्ती, कारों, बसों, नौकाओं, स्थानों, खेतों, मकानों इत्यादि पर दफ्तरों, हवाई अड्डों अथवा सेनाओं के ठहराने के कैम्पों के लिए सरकारी कब्ज़े का युग आया। ऐसा मालूम होता था कि मानों देवताओं ने एक भोज रचाया हो, अपने पल भर में ही उन्होंने अपनी मर्जी के मुताबिक सारा सामान तैयार कर लिया हो। कहने का मतलब यह कि चारों ओर नया रंग, नयी तर्ज और नयी परिस्थिति नजर आती थी। अंग्रेज अपने कानूनों और शासन-व्यवस्था की अकसर शेखी बघारा करते हैं। उनकी इस कानून-व्यवस्था ने भी नया ही रूप धारण कर लिया। सरकार जो कुछ चाहती उसे कानूनी जामा पहना देती और अगर इतने पर कहीं किसी हाईकोर्ट अथवा फेडरल कोर्ट ने किसी मामले में सरकार के खिलाफ फैसला दे दिया अथवा उसके किसी कानून को अवैध करार दे दिया तो दूसरे ही क्षण उसे वैध घोषित कर दिया जाता और उस पर पिछली तारीख से अमल होने लगता। फांसी की सजा के खिलाफ अभियुक्त से अपील का अधिकार छीन लेने की भी कोशिश की गई, लेकिन देशव्यापी जोरदार आन्दोलन के कारण सरकार को झुकना पड़ा और उसे विशेष अदालतों को अपील सुनने का अधिकार देना पड़ा। भारत-सरकार की प्रतिक्रिया एक दर्दनाक कहानी है। उससे मैजिस्ट्रेट और अभियुक्त दोनों को ही समान रूप से परेशानी उठानी पड़ी। विधान के पंडितों और तत्कालीन राजनीतिज्ञों को लाख माथापच्ची करने पर भी सरकारी नीति समझ में न आसकी।

जिस दिन कांग्रेस ने अपना बम्बई-प्रस्ताव पास किया उसी दिन ८ अगस्त को भारत-सरकार ने भी एक प्रस्ताव पास किया। इसे हम सरकार-द्वारा कांग्रेस को कुचलने के आन्दोलन का सूत्रपात कह सकते हैं। वैसे तो सरकार ने एक महीना पहले से ही अपनी तैयारियाँ शुरू कर दी थीं। हमारा अभिप्राय कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों और प्रान्तीय नेताओं की गिरफ्तारी के सम्बन्ध में भारत-सरकार के वारण्टों से है जो उसने पहले से ही तैयार कर रखे थे। सरकार अहमदनगर के किले में भी तैयारियां कर रही थी। इतना ही नहीं, उसने समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था कि वे उपद्रवों और वर्किंग कमेटी के सदस्यों के नजरबन्दी के स्थान इत्यादि के बारे में कोई समाचार न छापें। इससे देश को उस कड़ी कार्रवाई का पूर्वाभास हो गया था, जो शीघ्र ही सरकार-द्वारा की जानेवाली थी।

कांग्रेस-नेताओं की गिरफ्तारी के पांच सप्ताह बाद १५ सितम्बर को केन्द्रीय असेम्बली का अधिवेशन शुरू हुआ और उसके एक सप्ताह बाद राज-परिषद् का। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि पार्लामेण्ट और केन्द्रीय असेम्बली के अधिवेशन किसी पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार साथ-साथ ही शुरू हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि पार्लामेण्ट का अधिवेशन भारत की केन्द्रीय धारासभाओं के शुरू होने से ठीक कुछ समय पूर्व आरंभ हुआ। भारत के गृह-सदस्य का भाषण कुछ संतुलित और संयत था। उसमें ऐसी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें नहीं कही गईं, जैसी कि उनके तथा भारत-मंत्री और उप-भारत-मंत्रीके बाद के भाषणों में प्रमुख रूप से पाई जाने लगीं।

भारत-सरकार के गृह-सदस्य सर रेजिनल्ड मैक्सवेल के भाषण का सार नीचे दिया जाता है :—

देश की वर्तमान स्थिति पर सोच-विचार करने के लिए केन्द्रीय असेम्बली में प्रस्ताव पेश करते हुए गृह-सदस्य सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने कहा कि "अभी जो जानकारी प्राप्त हुई है उसके आधार पर हम इन गंभीर घटनाओं के लिए कांग्रेस को उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर सकते।"

सर रेजिनाल्ड का अनुमान था कि इन दंगों के कारण कुल मिलाकर हानि एक करोड़ रुपयों से भी अधिक होगी और उन्होंने इन उपद्रवों के कुछ खास पहलुओं का जिक्र करते हुए यह बात मानने से इन्कार किया कि ये दंगे कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के कारण यकायक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में हुए हैं। उन्होने ऐसी बातें गिनाई जो उनकी राय में यह साबित करती थीं कि इन उपद्रवों के पीछे अत्यन्त दुर्भावना के साथ पहले से ही कोई संगठन अवश्य था।

आगे आपने कहा—"आज यद्यपि कितनी ही भयानक घटनाएं घट चुकी हैं, फिर भी प्रायः सभी स्थानों में परिस्थिति पर काबू पा लिया गया है और यदि समस्त देश की बात कही जाय तो उसमें शान्ति की स्थापना हो चुकी है। यद्यपि अभी यह आत्मघातक आन्दोलन पूर्णरूप से शान्त नहीं हो सका है, फिर भी आगे जो परिस्थिति उत्पन्न होगी उसका सामना करने की अपनी शक्ति में विश्वास करने का हमारे पास उचित कारण है।

"कुछ लोग सरकार पर यह आरोप करते हैं कि उसने कार्रवाई करने में अत्यधिक जल्दबाजी से काम लिया। इसका उत्तर यह है कि कांग्रेस की ओर से जैसा प्रचार हो रहा था वैसा प्रचार होने देने के लिए सरकार तीन या चार सप्ताह का अवसर और देती तो यह संदिग्ध है कि यह विद्रोह और भी अधिक हानि हुए बिना ही दबाया जा सकता।

"जो कुछ हुआ है वही कम बुरा नहीं है, किन्तु कार्रवाई करने में देरी समस्त देश के लिए और भी बड़े संकट का कारण होती।

"कुछ लोग कहते हैं कि वर्तमान व्याधि का उचित उपचार दमन नहीं है। उनका कहना है कि शांति स्थापित करने के लिए उन सब लोगों को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए, जो देश की रक्षा व्यवस्था को खतरा पहुंचाते रहे हैं और इन्हीं को भारत के युद्ध-प्रयत्न को अग्रसर करने का काम दे देना चाहिए।"

"जिन संशोधनों को उपस्थित करने की सूचना दी गई है, मेरी राय में उनमें से कुछ का सार यही है। बहरहाल, श्रीमन्, सरकार की स्थिति उस विज्ञप्ति में स्पष्ट हो चुकी है, जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूं और उसमें मुझे कुछ भी बढ़ाना नहीं है

"एक बात बिल्कुल स्पष्ट है और वह यह है कि ऐसे समय जब कि एक शत्रु हमारे द्वार पर खड़ा है और दूसरा द्वार के भीतर है, सरकार का प्रधान कर्तव्य यथासम्भव शीघ्र-से-शीघ्र हानि की पूर्ति करना और देश को दोनों ही शत्रुओं से सुरक्षित करना है।

"सभा के सामने मुझे बाध्य होकर जो चित्र उपस्थित करना पड़ा है उससे विचारशील व्यक्तियों अथवा देश के सम्मान और गौरव की रक्षा करने के इच्छुक व्यक्तियों को प्रसन्नता न होगी।

"विनाश के इस नग्न नृत्य तथा भारतवासियों के जीवन और धन की इस हानि से

उन्हें खेद ही होगा। ऐसी बातों से स्वयं भारतवासियों की ही हानि होगी, और उन्हीं की कठिनाइयां बढ़ेंगी।

"यह भी खेद की बात है कि जो सेनाएं देश के द्वार पर तैनात होकर शत्रु का सामना करतीं उन्हें आन्तरिक विद्रोह दबाने के कार्य मे व्यस्त हो जाना पड़ा है।

"यह भी खेद की बात है कि ऐसे समय जब कि भारतीय सेनाओं की कीर्ति संसार में अपनी चरम-सीमा पर पहुँच चुकी है, जब कि विजय और उसके साथ-साथ भारत के उच्चतम स्वप्नों की पूर्ति का दिन अधिकाधिक निकट आता जा रहा है, एक राजनीतिक दल इस बात की चिंता छोड़कर कि उसके कार्यों से शत्रु को कितनी सहायता मिलेगी, निजी उद्देश्यों की पूर्ति तथा अपनी मांगों को मनवाने के लिए, देश को हानि पहुँचाने के कार्य करने पर उत्तर आया है।

"इससे पहले भी मैं इसी सभा में जल्दी भड़क उठनेवाली जनता को उत्तरदायित्व-विहीन आन्दोलन द्वारा उत्तेजित किये जाने के खतरे की चेतावनी दे चुका हूँ।

"अतीत में सरकार रोक-थाम अथवा बचाव के लिए जो कार्रवाई करती रही है और जिस के कारण सरकार की कटु आलोचना होती रही है, उसका औचित्य इन घटनाओं से सिद्ध होता रहा है।

"इससे यह भी प्रकट होता है कि इस देश में अव्यवस्था की शक्तियों को मुक्त करने का संकट कितना वास्तविक है और जब एक बार ये शक्तियां उन्मुक्त हो चुकती हैं तो गुंडेशाही जो सदा छिपकर अपने अवसर की प्रतीक्षा करती रहती है—अपना साम्राज्य स्थापित कर लेती है—जिससे किसी भी व्यक्ति के प्राण अथवा संपत्ति सुरक्षित नहीं रह जाती।

"अब जब कि सब के लिए उत्पन्न होनेवाला खतरा प्रकट हो गया है, केवल सरकार का ही नहीं वरन् उन सभी व्यक्तियों का भी, जो देश को घोर संकट से मुक्त देखना चाहते हैं, यह पवित्र कर्तव्य हो गया है कि निजी त्याग के बावजूद हिंसा तथा अव्यवस्था के कार्यों को रोकने के लिए स्वयं जनता की ही सक्रिय सहायता प्राप्त करें।

"इन बातों की केवल सैद्धान्तिक निन्दा ही पर्याप्त नहीं है। अब प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य इस बात का प्रयत्न करना है कि ये घटनाएं फिर न हों।"

अपने भाषण के शुरू के हिस्से में गृह-सदस्य ने ये बातें कहीं:—

"संपूर्ण मुस्लिम समुदाय और परिगणित जातियां इससे बिलकुल अलग रही हैं।

"पुलिस पर साधारणतः घातक हमले किये गए हैं। परन्तु केवल उसने ही नहीं, वरन् समस्त सरकारी कर्मचारियों ने, यहां तक कि छोटे-से-छोटे कर्मचारी तक ने जो समस्त देश में उन्हें आतंकित करने के प्रयत्न होते हुए भी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया है। यह इस परिस्थिति को एक अत्यन्त उल्लेखनीय घटना है।

"जिन लोगों ने कर्तव्य का पालन करते हुए अपने प्राण गंवाए हैं, उन्हें हम भूलेंगे नहीं और हम दावा कर सकते हैं कि समस्त श्रेणियों के सरकारी कर्मचारियों की राजभक्ति ने प्रमाणित कर दिया है कि जिस शासन-व्यवस्था की उन्होंने इतनी सुन्दर सेवा की है उस मे उन्हें विश्वास है। (करतल-ध्वनि)

"हमारे उत्साह का एक दूसरा स्रोत समस्त देश की वह दृढ़ता है जो इन व्यापक उपद्रवों के कारण साधारण जनता को असुविधायें होते हुए भी प्रकट की गई है।

"मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि इस आन्दोलन को किसी भी प्रकार जनता का आन्दोलन नहीं बताया जा सकता। यह सब अपने आप नहीं, वरन् जानबूझ कर कराया गया है। अब गत सप्ताहों के पागलपन के विरुद्ध जनमत में विराग के लक्षण प्रकट होने लगे हैं और ऐसी घटनायें भी देखने में आई हैं जब स्वयं ग्राम-वासियों ने सार्वजनिक संपत्ति को हानि से बचाने के लिए हस्तक्षेप किया है। परन्तु जब तक उपद्रवों को करानेवाले दूषित प्रभाव का सर्वथा प्रतिकार नहीं हो जायगा तब तक देश जनता के जीवन को अव्यवस्थित करने के ऐसे नये प्रयत्नों से अपने आपको सुरक्षित नहीं मान सकता।"

इस सम्बन्ध में आंकड़े पेश करते हुए गृह-सदस्य ने कहा—"बहुत-से पुलिस के सिपाही घायल हुए हैं और अभी तक ११ सिपाहियों के मरने के समाचार मिले हैं। इनमें कई तो बड़ी पाशविकता के साथ निहत्थे ही मार डाले गए हैं।

"पुलिस के अतिरिक्त शहरी अधिकारियों की सहायता के लिए ब्रिटिश तथा भारतीय सैनिकों का भी बहुत प्रयोग किया गया है। कम-से-कम साठ जगहों पर सैनिकों से काम लेना पड़ा था और कितनी ही बार वे केवल चुपचाप खड़े रहे और उन्हें कुछ करना नहीं पड़ा।

"जो जन-समूह शान्तिपूर्वक अथवा न्यायोचित राजनीतिक प्रदर्शनों में भाग लेते थे उन पर गोली चलाने के लिए इन सैनिकों का प्रयोग नहीं किया गया था। यदि ऐसा होता तो 'दमन' शब्द का जिसे हम प्रायः सुनते हैं, किसी हद तक प्रयोग किया जा सकता। लेकिन जिस प्रकार के उपद्रव हुए हैं इनमें संपत्ति को हानि पहुंचानेवाले जन-समूह या गिरोह ही सदा आक्रमणकारी रहे हैं।

"८ अगस्त की सरकारी विज्ञप्ति में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सरकार का उद्देश्य आन्दोलन का निरोध करना है, दंड देना नहीं। हमारी कार्रवाई इसी सिद्धान्त के अनुसार की गई है और की जायगी। पुलिस को जैसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है, उनमें अत्यधिक बल-प्रयोग करने की शिकायतें करने का कोई अर्थ नहीं है। आतंकित करनेवाली भीड़ के सामने एक छोटे-से पुलिस दल से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह उसे तितर-बितर करने के लिए आवश्यक बल-प्रयोग का हिसाब लगाता रहे। हमें यह समझ लेना होगा कि इन लोगों को, जिनके ऊपर यातायात् के महत्त्वपूर्ण साधनों की रक्षा का भार था, प्रतिदिन ही नहीं, प्रति घण्टे, जान जाने के खतरे के बीच अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ा है।

"इन क्षणों पर हिचकचाने का अर्थ यह होगा कि या तो इन्हें कुचल डाला जायगा अथवा भीड़ अपना उद्देश्य पूरा करने में सफल हो जायगी। इनका पहला काम कारगर कार्रवाई करना होता है—और यही उनका कर्तव्य है।

"इसमें संदेह नहीं कि ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया जायगा जिन में इस प्रकार उत्तेजित किये बिना ही बल-प्रयोग करने की बात कही गई हो। मैं माननीय सदस्यों से इन कहानियों के प्रचारित करने से पूर्व उनकी सत्यता की भली प्रकार परीक्षा हो चुकने का निश्चय कर लेने के लिए कहूंगा। फिर भी यदि कहीं भी ऐसी कोई घटना हुई है तो वह अनुशासन-भंग का ऐसा उदाहरण है, जिससे प्रान्तीय सरकारों का अपने सिपाहियों की कमान करनेवाले अफसरों का उतना ही संबन्ध था जितना जनता के किसी भी सदस्य का। इसलिए इस समय जब कि समस्त देश पुलिस के साहस और दृढ़ता का इतना कृतज्ञ है तो उसके आचरण के विरुद्ध लगाए गए किसी भी प्रकार के आरोप की मैं निन्दा करूंगा।

"इन मामलों में उचित तो यह होगा कि यदि कोई आरोप भली प्रकार विश्वसनीय हो तो उसकी ओर अपने सिपाहियों के अनुशासन के लिए उत्तरदायी निकटतम अधिकारियों का ध्यान दिलाना चाहिए, और यह माना जा सकता है कि सन्तुष्ट हो जाने पर वे जोकुछ उचित होगा करेंगे। परन्तु जोलोग अपने आक्रमणों के परिणामों के स्वयं शिकार हो गए हैं, उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने और अपने कर्तव्य का पालन करने में आवश्यकता पड़ने पर बल-प्रयोग करने के लिए पुलिस और अन्य सरकारी दलों से सफाई मांगने से तो मामले का बिल्कुल ही गलत रूप उपस्थित होगा।"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि 'इन उपद्रवों की जिम्मेदारी किस पर' गृह-सदस्य ने कहा :—

"कांग्रेसी नेताओं को दोष-मुक्त करने और यह दिखाने के लिए कि हाल की घटनाएं बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी-द्वारा स्वीकृत किये गए सामूहिक आन्दोलन का परिणाम नहीं हैं, प्रयत्न किये जा चुके हैं और आगे भी निस्संदेह किये जाते रहेंगे। इन लोगों ने उस समय जो प्रस्ताव पास किया है, उसकी शर्तें ऐसी हैं कि उनके बाद होनेवाली किसी भी घटना के उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकना इनके लिए कठिन है। परन्तु इसे छोड़कर भी कांग्रेस-नेताओं ने जोकुछ कहा है उसका इसके अतिरिक्त और कोई भी अर्थ लगाना असम्भव है कि ये लोग उन सब बातों को जिनके होने की सम्भावना थी, जानते थे और मानते थे।"

मद्रास-सरकार की उस विज्ञप्ति का ज़िक्र करने के बाद, जिसमें आन्ध्र-प्रांतीय-कांग्रेस कमेटी द्वारा जारी की गई हिदायतें प्रकाशित की गई थीं, गृह-सदस्य ने कहा, "कहा जा सकता है कि इन बुलेटिनों के सम्बन्ध में यह प्रमाण नहीं मिलता कि ये कांग्रेसी अथवा कांग्रेसी नेताओं के अधिकार से प्रकाशित की गई हैं, यद्यपि स्वयं उन में ऐसा कहा गया है। मैंने अन्यत्र इस बात पर प्रकाश डाला है कि जो हानिकर कार्य हुए हैं, उनकी योजना थोड़े समय में नहीं बनाई जा सकती थी और उससे पहले किसी संघटन के रहने का भी स्पष्ट पता चलता है। वास्तविक संगठन करने में कांग्रेसी नेताओं ने चाहे जितना कम या अधिक भाग लिया हो, फिर भी वे जो कुछ कहते रहे हैं उसे ध्यान में रखते हुए यह विश्वास करना असम्भव है कि उन्हें इस संगठन का पता नहीं था अथवा उनके कार्यक्रम में यह बात न थी कि सामूहिक आन्दोलन छिड़ते ही यह कार्यक्रम स्वतः अमल में आने लगेगा।

"अभी मैं यह नहीं बता सकता कि इस संगठन को प्रेरणा कहां से प्राप्त हुई। अभी हमें ऐसी कितनी ही बातों की जानकारी प्राप्त करना शेष है, जिनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं हुआ है। किन्तु इन उपद्रवों से कांग्रेस का सम्बन्ध रहने के विषय में जो सन्देह शेष रह गया हो उसे कांग्रेसियों, विशेषकर बिहार के कांग्रेसियों के उन भाषणों से असंख्य उदाहरण देकर निर्मूल सिद्ध किया जा सकता है, जिनमें साधारण जनता को हिंसा और विध्वंस करने के लिए खुलेआम उकसाया गया था। इसके अतिरिक्त बम्बई की बैठक के तत्काल बाद कितने ही कांग्रेसी नेता लापता हो गए और वे किन्हीं ऐसे कारणों से लापता हैं, जिनका स्वयं उन्हीं को पता है। इसलिए अभी जो जानकारी प्राप्त हुई है, उसके आधार पर इन गम्भीर घटनाओं के लिए हम कांग्रेस को उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर सकते।"

गृह-सदस्य ने बताया कि जो जानकारी प्राप्त हुई ह उसके आधार वे ८ अगस्त के बाद से घटनेवाली गम्भीर घटनाओं के लिए कांग्रेस को उनके उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर

सकते। उनका तखमीना था कि उपद्रव शुरू हो जाने के बाद से अब तक मिलाकर कुल एक करोड़ रुपये से भी अधिक नुकसान हुआ होगा। आपने यह बात मानने से इंकार कर दिया कि ये दंगे स्वाभाविक थे। उन्होंने बड़े अभिमान और गौरव से कहा कि उन्होंने अव्यवस्था के होते हुए भी फिर से व्यवस्था कायम करदी है। उन्होंने कहा कि अगर कांग्रेस को थोड़ा और समय मिल जाता तो उससे हालत और भी ज़्यादा बिगड़ जाती और अपरिमित क्षति होती। उन्होंने विनाश के इस नग्न नृत्य तथा भारतवासियों के जीवन और धन की इस हानि पर गहरा खेद प्रकट किया। आपने कहा कि ऐसी बातों से स्वयं भारतवासियों की हानि होगी और उन्हीं की कठिनाइयां बढ़ेंगी। आपने बताया कि सम्पूर्ण मुस्लिम-समुदाय और परिगणित जातियां इनसे बिल्कुल अलग रही हैं और आपने इस बात पर भी प्रसन्नता प्रकट की कि न केवल पुलिस वरन् समस्त सरकारी कर्मचारियों ने उन्हें आतंकित करने के समस्त प्रयत्नों के बावजूद दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया है। बहुतेरों ने तो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए अपने प्राण तक भी दे दिये। उन्हें गत सप्ताहों के पागलपन के विरुद्ध जनमत में विराग के शुभ लक्षण भी दिखाई दिये और ऐसी घटनाएं भी उनके देखने में आईं जब स्वयं ग्राम-निवासियों ने सार्वजनिक संपत्ति को हानि से बचाने के लिए हस्तक्षेप किया। कम-से-कम अठारह जगहों पर सैनिकों से काम लेना पड़ा और कितनी ही बार वे केवल चुपचाप खड़े रहे और उन्हें कुछ करना नहीं पड़ा। जो जन-समूह शांतिपूर्वक और न्यायोचित तरीकों से राजनीतिक प्रदर्शनों में भाग लेते थे उन पर गोली चलाने के लिए इन सैनिकों का प्रयोग नहीं किया गया था। लेकिन अगर किसी खास मामले में अनावश्यक रूप से अत्यधिक बल-प्रयोग किया गया हो तो उसे वे अनुशासन-भंग का एक ऐसा उदाहरण मानते हैं जिससे स्वयं प्रांतीय सरकारों का उतना ही सम्बन्ध था जितना जनता के किसी भी सदस्य का।

बहस की बहुत-सी बातों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी। यह एकतरफा चीज थी, इसलिए उसमें विवेकहीनता का होना अनिवार्य था और एक तरह से वह अभियुक्त की अनुपस्थिति में धारा-सभा के सामने उस पर दोषारोपण करना और मुकदमा चलाना था। कांग्रेस-सदस्यों की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर सरकार ने ऐसे वक्तव्य दिये, जिन्हें चुनौती नहीं दी जा सकती थी। उदाहरण के तौर पर इन वक्तव्यों में आंध्र-प्रांतीय-कांग्रेस-कमेटी-द्वारा जारी की गई कथित हिदायतों के बारे में २९ अगस्त १९४२ को मद्रास-सरकार-द्वारा प्रकाशित विज्ञप्ति का उल्लेख किया गया था। विज्ञप्ति निम्न है :—

"बारम्बार यह बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण प्रांत के विभिन्न भागों में सरकारी और रेलों की संपत्ति पर हमले, आग लगाने तथा हिंसा की दूसरी वारदातें स्थानीय गुंडों की कार्रवाइयों का परिणाम था, और कांग्रेस के नेता उनकी कभी इजाज़त नहीं दे सकते थे। सरकार के पास ऐसे कागज-पत्र मौजूद हैं, जिनसे यह साबित हो जाता है कि :—

"आंध्र-प्रांतीय-कांग्रेस-कमेटी-द्वारा जारी किये गए आदेशों में सविनय-अवज्ञा-आंदोलन चलाने के तरीकों की एक सूची दी गई थी, जिसमें अन्य कार्रवाइयों के अलावा टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काटना, रेल की पटरियों को उखाड़ना और पुलों को विध्वंस करना, जंजीर खींच कर गाड़ियां खड़ी करना और बिना टिकट के सफर करना, पुलिस और अन्य सरकारी दफ्तरों का निरीक्षण और सरकारी नौकरों को अपनी नौकरियों से इस्तीफा देने को मजबूर करना, हड़तालों का संगठन, ताड़ी की दुकानों पर पिकेटिंग और उसके डिपो पर हमले और सरकार के युद्ध-प्रयत्न में रोड़े अटकाना भी शामिल था।

"आंध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी द्वारा दिये गए आदेश जुलाई के अन्त में और तामिलनाड प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के आदेश ६ अगस्त से पहले तैयार किये गए थे । कहने का मतलब यह कि दोनों ही हालतों में ये आदेश बम्बई में ७ अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन से पहले तैयार किये गए थे।

"सरकार के पास कांग्रेस कमेटियों के अधिकारियों-द्वारा दिये गए बहुत-से भाषणों के विवरण भी पहुँचे हैं, जिनमें रेल की संपत्ति को नुकसान पहुँचाने, टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काटने, और दूसरी किस्म की सरकारी संपत्ति को नष्ट करने के कार्यक्रम का समर्थन किया गया है । सरकार को जो जानकारी प्राप्त हुई है, उसके आधार पर उसे कोई संदेह नहीं रह जाता कि इन हिदायतों का स्रोत कांग्रेस वर्किंग कमेटी थी। ये हिदायतें उसी ने जारी कीं।"

जनता सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल से यह सवाल पूछ सकती है कि क्या उनके पास वह सारी जानकारी थी जो श्री एमरी के पास उनसे भी दो-चार दिन पहले मौजूद थी । अगर ऐसा ही है तो क्या उनके लिए यह उचित नहीं था कि वे १५ सितम्बर को उन बातों का उल्लेख करते, जिनका जिक्र श्री एमरी ने कामन-सभा में अपने भाषण में करना मुनासिब समझा था और उनका यह भाषण भारत में १४ सितम्बर को प्रकाशित हो चुका था । उन्होंने कहा कि "इस (आदेश) में यह कहा गया है कि पटरियां न उखाड़ी जाएं और जीवन को कोई हानि न पहुँचाई जाय।" परन्तु इस सम्बन्ध में श्री एमरी के इस कथन के बावजूद एक सप्ताह बाद सर मोहम्मद उस्मान ने राज-परिषद् में जोकुछ कहा वह और भी ज्यादा आश्चर्यजनक था । लेकिन उससे भी अधिक हैरानी की बात तो यह है कि परिषद् में एक भी सदस्य ऐसा नहीं था जिसने सरकार से यह पूछने की हिम्मत की हो कि वह दो और दो को चार कहने की बजाय तीन क्योंकर कह रही है । वे श्री मैक्सवेल के जवाब में श्री एमरी का उक्त उद्धरण देकर सर मोहम्मद उस्मान से कह सकते थे कि सभा के नेता की हैसियत से उनके लिए सत्य का गला घोंटना शोभा नहीं देता । 'उपद्रवों के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व' नामक सरकारी पुस्तिका के २० वें पृष्ठ पर बताया गया है कि, "यहां यह बताना पर्याप्त है कि यद्यपि रेलों की पटरियों को उखाड़ना इन आदेशों में विशेष रूप से मना कर दिया गया था, फिर भी इस प्रतिबन्ध को नेताओं की गिरफ्तारी के फौरन बाद लिखित संशोधन-द्वारा हटा दिया गया था।" लेकिन इस पुस्तिका में न तो वह संशोधित गश्ती-चिट्ठी प्रकाशित की गई है और न यह बताने की कोशिश की गई है कि उक्त प्रतिबन्ध किसने उठाया ?

'उपद्रवों के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व'-शीर्षक सरकारी पुस्तिका का उत्तर देते हुए गांधीजी ने १५ जुलाई १९४३ के अपने वक्तव्य में बताया:—

"६१. इसके बाद आंध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की गश्ती-चिट्ठी को लीजिए । अपनी गिरफ्तारी से पूर्व मुझे इसके बारे में कोई ज्ञान नहीं था । इसलिए मैं उस पर निर्बाध रूप से अपने विचार नहीं प्रकट कर सकता । मेरी राय में वह कोई हानि-जनक दस्तावेज नहीं था, क्योंकि उसमें साफ तौर पर कहा गया है कि:—

"सारा आन्दोलन अहिंसा पर आधारित रहेगा । कदापि कोई ऐसा कार्य न किया जाय जो इस आदेश के विरुद्ध हो। अवज्ञा के समस्त कार्य प्रकट होने चाहिएँ, गुप्त रूप से नहीं । (खुले रूप में हों, लुके-छिपे नहीं)"

यह शर्त मूल गश्ती चिट्ठी में था। इसके अलावा उसमें निम्न चेतावनी भी दीगई थी:—

"सौ में से निन्यानवे प्रतिशत संभावना है कि गांधीजी-द्वारा शीघ्र ही इस आन्दोलन का सूत्रपात किया जायगा। संभवतः बम्बई में होनेवाली आगामी अखिल भारतीय महासमिति के कुछ घण्टों के उपरांत हो। जिला कांग्रेस कमेटियों को सतर्क रहना चाहिए और उन्हें तुरन्त ही कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। परन्तु कृपया इस बात का ध्यान रखा जाय कि जब तक गांधीजी निश्चय न करलें तब तक न कोई आन्दोलन छेड़ा जाय और न कोई प्रकट कार्य ही किया जाय। सम्भव है कि वे इसके प्रतिकूल ही निश्चय कर डालें और तब आप लोग अकारण गलती के लिए उत्तरदायी होंगे। उद्यत रहिए, तुरन्त ही संगठन कीजिए, सतर्क रहिए; परन्तु किसी प्रकार से कार्य न कीजिए।"

"जहां तक इस गश्ती-चिट्ठी में उल्लिखित बातों का सम्बन्ध है, उनमें से कुछ के लिए मैं किसी तरह से भी जिम्मेवारी नहीं ले सकता। लेकिन यह ख़याल करके कि यह चिट्ठी अधिकृत दस्तावेज है—मैं तबतक अपनी राय नहीं प्रकट कर सकता जब तक कि मुझे समिति की राय नहीं मालूम हो जाती। मुझे आपके अभियोगपत्र में वह कथित 'लिखित संशोधन' नहीं मिला जिसमें रेलों की पटरियों को उखाड़ने पर से प्रतिबन्ध उठा लिया गया था।"

इसी प्रकार का एक और दिलचस्प और निराधार वक्तव्य सर मोहम्मद उस्मान ने मारोल में श्री शङ्करराव देव के भाषण के सम्बन्ध में दिया। उनका वक्तव्य बिलकुल गलत और बेबुनियाद था। आपने कहा:—

"कांग्रेस कार्य समिति के एक सदस्य श्री शङ्कर राव देव ने जो गिरफ्तारी के बाद नजरबन्द हैं, बम्बई के शहरी जिले के मारोल और घाटको पर भागों में भाषण देते हुए २६ और २९ जुलाई को कहा था कि उनके विचार से जापान के युद्ध-प्रवेश से भारतीयों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। भारतीयों को जर्मनी की सफलता से प्रसन्नता हुई है और होनी भी चाहिए।"

इस पर बम्बई के उक्त शहरी जिले के बहुत-से प्रमुख कांग्रेस-कार्यकर्ताओं ने तत्काल सरकार के इस वक्तव्य का खण्डन किया था, जो 'बम्बई क्रानिकल" में प्रकाशित हुआ था। राज-परिषद् में सर मोहम्मद उस्मान के इस वक्तव्य के सम्बन्ध में एक प्रमुख दैनिक के विचार नीचे दिये गए हैं:—

"वाइसराय की शासन परिषद् के जिन सदस्यों ने कांग्रेस को इस तरह से बदनाम करने की कोशिश की है और हिंसा के वर्तमान कृत्यों की जिम्मेदारी उस पर डाली है, उन्हें अच्छी तरह से मालूम था कि उनका खंडन करनेवाला कोई नहीं है। वे यह भी जानते थे कि वैधानिक रूप से वे ग़ैर-जिम्मेदार हैं, अन्यथा वे अधिक संयम और जिम्मेदारी से काम लेते। श्री के० सी० नियोगी के इस कथन से कि यह दमन 'धुरीराष्ट्रों की कुछ पाशविकताओं का नमूना है' इन लोगों ने चिढ़कर यह जिम्मेदारी अपने कन्धों पर उतार कर कांग्रेस पर से लादने की कोशिश की है।

सर सुलतान अहमद ने इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार करते हुए यहां तक कह डाला कि कांग्रेस की ओरसे अथवा कांग्रेस के नामपर विभिन्न प्रकारके अन्तरिक विनाशके लिए जो तैयारियां हो रही थीं उनसे वे लोग (सरकार) पूर्णतया परिचित थे। हमें यकीन है कि यह एक बेबुनियाद इलजाम है और बिना सोचे-समझे लगाया गया है। अगर वह सामग्री-जिस पर-यह आधारित है, कांग्रेस पर दोषारोपण के लिए पर्याप्त थी तो फिर सरकार को चाहिए था कि उसे बहुत पहले ही प्रकाशित

कर देती अथवा सम्बद्ध नेताओं पर किसी अदालत में मुकद्मा चलाती। वास्तव में जब सरकार ने श्री देवदास गांधी पर चलाए गए मुकदमे में इस सामग्री से फायदा उठाने की कोशिश की तो अदालत ने उसे एक दम व्यर्थ और अविश्वसनीय बताया। मैजिस्ट्रेट ने कहा कि—"कोई भी व्यक्ति यह बात यकीनी तौर पर नहीं कह सकता कि गांधीजी किस कार्यक्रम पर अमल करने की बात सोच रहे थे। इस सामूहिक आन्दोलन की रूप-रेखा जाने बिना यह कहना मुश्किल है कि नेताओं की गिरफ्तारी के बाद जो प्रदर्शन अथवा हिंसात्मक कार्रवाइयां देखने में आईं, वे इस प्रस्तावित सामूहिक आन्दोलन का ही अंग थीं।" सर सुलतान अहमद का यह कहना कि "घटनाओं ने साबित कर दिया है कि सरकार ने जोकुछ किया ठीक किया"–बिल्कुल बेमानी चीज है। क्योंकि इस प्रकार उन्होंने असली सवाल को सिर्फ टालने अथवा अपने इलजाम को दुहराने की कोशिश की है। ऐसी ही गलती श्रीअणे ने भी की जब कि उन्होंने यह कहा कि यद्यपि कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार करने का निर्णय उनकी अनुपस्थिति में किया गया था, परन्तु जब उन्होंने स्वयं उत्तेजित और दगा करने पर आमदा भीड़ के कारनामें देखे तो उन्होंने अनुभव किया कि सरकार का यह फैसला कितना विवेकपूर्ण और मुनासिब था। उन्होंने बड़ी सरलता के साथ यह मानने से इन्कार कर दिया कि अन्धाधुंध दमन-चक्र के परिणाम-स्वरूप भी अहिंसात्मक कार्रवाई किये जाने की संभावना हो सकती है। प्रतिशोध की भावना से भड़काए गए अंधाधुंध हिंसापूर्ण दंगे भारत के लिए कोई नयी चीज नहीं हैं। किसी स्वतंत्र और प्रामाणिक साक्ष्य के अभाव में ऐसी आशंका कर लेना खतरनाक है।"

इस सम्बन्ध में यह जान लेना भी आवश्यक है कि केन्द्रीय असेम्बली में होनेवाली इस बहस और वाइसराय की शासन-परिषद् के सदस्यों के वक्तव्यों की जनता पर क्या प्रतिक्रिया हुई? सर चिमनलाल सीतलवाड बम्बई की शासन-परिषद् के सदस्य रह चुके हैं और वे न केवल एक प्रमुख सार्वजनिक व्यक्ति ही हैं, बल्कि एक ऐसे उदारवादी नेता भी हैं, जिन्होंने कभी कांग्रेस को माफ नहीं किया है। भारतीय स्थिति के सम्बन्ध में २५ सितम्बर को आपने निम्न विचार प्रकट किये:—

"वाइसराय की परिवर्द्धित शासन-परिषद् के कुछ सदस्यों के कुछ वक्तव्य अत्यन्त खेद-जनक हैं। पता चला है कि जब सर मोहम्मद उस्मान से यह सवाल किया गया कि क्या सरकार केन्द्र में एक अस्थायी सरकार स्थापित करने के लिए समझौते की बातचीत शुरू करने का विचार रखती है तो उन्होंने जवाब दिया कि इस प्रश्न का सम्बन्ध मुख्यतः गवर्नर-जनरल और साम्राट की सरकार से है।"

इस सारी अवधि में ही भारत-सरकार अपनी कार्रवाई करने में व्यस्त रही और उसके प्रतिनिधियों ने कोई भाषण न देकर मौन साधे रखा। इन बड़े-बड़े प्रतिनिधियों में वाइसराय महोदय भी शामिल थे। उन्होंने दिसम्बर १९४२ के मध्य तक मौन धारण किये रखा और प्रान्तीय गवर्नरों ने भी एकाध बार छोड़कर प्रायः मौन ही रखा। इन प्रान्तीय गवर्नरों के अलावा सितम्बर में दो सैनिक अफसरों ने भी अपने वक्तव्य दिये। इनमें से एक पूर्वीय सेना के कमांडर लेफ्टीनेन्ट जनरल एन०एम० एस० अरविन थे, जिन्होंने अपनी सेनाओं के नाम कलकत्ता से ब्राड-कास्ट करते हुए कहा कि "भारत में हमारे सामने ऐसी कोई कठिनाई नहीं पेश आ रही है जिससे भविष्य के सम्बन्ध में हमारा विश्वास डिग सके।"

आगे आपने कहा कि "स्वयं भारत के हितों का खयाल करते हुए उसकी रक्षा करना हमारा

परम कर्तव्य है। लेकिन यह तभी हो सकता है अगर आप सदैव जोरदार कार्रवाई करते रहें। इससे उनकी आत्म-श्लाघा, अवास्तविकता और अनुचित आत्म-विश्वास की भावना का परिचय मिलता है। एक तरह से लेफ्टिनेन्ट-जनरल अरविन जनरल डायर के संक्षिप्त संस्करण थे। परन्तु भारत के तत्कालीन प्रधान सेनापति जनरल आर्किबाल्ड वेवल ने संयम और शान्त भाव का परिचय दिया। उक्त लेफ्टिनेन्ट-जनरल के ब्राडकास्ट से एक दिन पहले नयी दिल्ली में अमरीकी और बृटिश संवाददाताओं ने सर आर्किबाल्ड वेवल के सम्मान में एक भोज दिया था। इस अवसर पर भाषण देते हुए उन्होंने अन्य बातों के अलावा यह भी कहा—

"भारत की परिस्थिति से मैं संतुष्ट हूं। यद्यपि उपद्रवों का भारत के युद्ध-प्रयत्न पर कुछ सीमा तक प्रभाव अवश्य पड़ा है, फिर भी यह महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है कि हर महीने ७०,००० रंगरूट सेना में भरती हो रहे हैं और सेना में किसी किस्म की गड़बड़ के लक्षण नहीं दिखाई दिये।"

अब हम थोड़ी देर के लिए प्रान्तीय गवर्नरों के भाषणों का ज़िक्र करना चाहते हैं। लड़ाई के सिलसिले में चन्दा जमा करने और निरीक्षण के सम्बन्ध में उन्होंने अपने दौरों के दर्रामियान अनेक भाषण दिये जिनमें उन्होंने उपद्रवों के लिए कांग्रेस को उत्तरदायी ठहराते हुए जरा भी आनाकानी नहीं की। लेकिन संयुक्त प्रान्त के गवर्नर इस बात में दूसरे गवर्नरों से बाजी ले गए। अपने भाषणों में भी उन्होंने उसी कट्टरता, आक्रमक शक्ति और निर्भयता का परिचय दिया जिसका परिचय वे अपनी शासन-व्यवस्था में दे रहे थे। कानपुर में पुलिस की एक परेड के अवसर पर भाषण देते हुए संयुक्त प्रान्त के गवर्नर ने कहा—"इस प्रान्त की पुलिस अपने उत्तम कार्य का परिचय पहले ही दे चुके है, मुझ से जहां तक बन पड़ेगा मैं उसकी मदद करूँगा। लेकिन मैं चाहता हूँ कि जनता भी कांग्रेस-द्वारा चलाए गए इस आन्दोलन को विफल बनाने में उसका समर्थन करे और उसे अपना सहयोग प्रदान करे, क्योंकि अगर कहीं वह सफल हो गया तो उसके परिणाम बड़े भयंकर होंगे।" उसके बाद २४ जनवरी १९४३ को बनारस जिला पुलिस और सिविक गार्डों की एक परेड के अवसर पर पुलिस के अफसरों और सिपाहियों के सामने भाषण देते हुए उन्होंने बनारस विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में अपनी परेशानी प्रकट करते हुए कहा—"खुले रूप में हिंसात्मक कार्रवाइयों का अध्याय तो बहुत समय से खत्म हो चुका है...मुझे यहाँ के विश्वविद्यालय के बारे में बड़ी परेशानी थी, क्योंकि आन्दोलन के दौरान में एक अवसर ऐसा आ गया था जब कि यह इस विद्रोह का केन्द्र बननेवाला था... विश्वविद्यालय में फिर से अनुशासन स्थापित करने और उसे बनाए रखने में उसके अधिकारियों ने हमारी जो सहायता की है, उसके लिए मैं उनका अत्यधिक आभारी हूं।"

बिहार के गवर्नर ने तो बड़ी अजीब-सी बातें कहीं। अप्रैल १९४३ में सर टी० जी० रदरफोर्ड को बिहार का गवर्नर नियुक्त किया गया और आमतौर पर यह कहा जा रहा था कि उनके पूर्वाधिकारी अपने प्रान्त में दमन-चक्र चलाने के काम में अपने उच्चाधिकारियों को संतुष्ट नहीं कर सके। नये गवर्नर ने बिहार के प्रमुख दैनिक 'सर्चलाइट' पर से प्रतिबन्ध हटा कर और एक और पत्र की जमानत रद्द करके अपने शासनसूत्र का श्रीगणेश किया। भारत रक्षा-विधान के नियम २६ की वैधता पर आपत्ति उठाते हुए सर मौरिस ग्वायर ने जो निर्णय दिया था, उसके अनुसार आपने १७ नजरबन्दों को रिहा कर दिया। उपद्रवों के लिए कांग्रेस और बिहार प्रान्त की भर्त्सना करते हुए ३१ मार्च,१९४३ को बिहार प्रान्तीय युद्ध-समिति की बैठक के अध्यक्ष-पद से

सर रदरफोर्ड ने एक बड़ा महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया। आपने के कह —"पिछले अगस्त के उपद्रवों से साबित कर दिया है कि बिहार में आक्रमण की भावना से प्रेरित काम करनेवाले नवयुवकों का अभाव नहीं है। उचित तो यह था कि इस भावना को प्रोत्साहन देकर उन्हें उचित मार्ग पर ले जाया जाता।" यह वक्तव्य अक्षरशः सत्य था और शेष भारत के बारे में भी यही बात कही जा सकती थी।

यह एक बड़ी उल्लेखनीय बात है कि एक ओर जब पार्लीमेंट में भारतीय स्थिति के सम्बन्ध में कितनी ही बहसें हो रही थीं और कितने ही सवाल पूछे जारहे थे तथा भारत-मंत्री और उप-भारत-मंत्री को वक्तव्य देने पड़ रहे थे और घोषणाएं करनी पड़ रही थीं, दूसरी ओर वाइसराय महोदय बिलकुल मौन धारण किये हुए थे और उन्होंने उपद्रवों के बारे में सार्वजनिक रूप से कुछ नहीं कहा। अन्त में १७ दिसम्बर १९४२ को उनका मौन भंग हुआ जबकि उन्होंने व्यापारमंडल-संघ के वार्षिक अधिवेशन में भाषण दिया। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उन्होंने केन्द्रीय धारासभाओं के संयुक्त अधिवेशन में भाषण देने की प्रथा को छोड़ दिया हो। फेडरेशन के सम्मुख अपने लम्बे भाषण में वाइसराय महोदय ने देशकी राजनीतिज्ञ, औद्योगिक और सैनिक स्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए अपनी उन असफल कोशिशों का जिक्र किया जो उन्होंने भारत के विभिन्न समूहों और दलों के दरमियान· समझौता कराने के लिए की थीं। आपने यह भी कहा कि उनका कार्यकाल दस महीने तक के लिए यद्यपि बढ़ा दिया गया है, लेकिन वह समझौता कराने के लिए अपनी कोशिशों में कोई शिथिलता नहीं आने देंगे। वाइसराय ने कहा कि यदि ब्रिटेन लड़ाई के बाद अपनी सत्ता हस्तान्तरित करने को वचनबद्ध है तो कम से कम उसे यह भी तो पता होना चाहिए कि वह यह सत्ता किसे देगा। तो फिर क्या इसका मतलब यह है कि अगर इस मामले में भारतीयों में कोई समझौता न हो सका तो वह सत्ता हस्तान्तरित नहीं करेगा और भारत में हमेशा के लिए ब्रिटिश शासन जारी रहेगा? लेकिन यदि इसके विपरीत ब्रिटेन वास्तव में सत्ता हस्तान्तरित करने को तैयार है तो उसे सिर्फ ईमानदारी के साथ ऐसी घोषणा कर देनी चाहिए और उसके बाद आप देखेंगे कि देश के सभी परस्पर-विरोधी दल और समूह आपस में सुलह-सफाई कर लेंगे। वाइसराय ने देश की जिस एकता का हवाला दिया है वह केवल देश की भौगोलिक एकता अथवा ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं है, बल्कि वह उद्देश्य और साधन की मनोवैज्ञानिक एकता है। अतः इसकी प्राप्ति के लिए हमें एक लक्ष्य एवं आदर्श की आवश्यकता है। चालीस करोड़ जनता किसी मृग-मरीचिका की तलाश में नहीं जा सकती। उसे तो अपने सामने एक स्पष्ट और निर्धारित लक्ष्य चाहिए, जिसकी प्राप्ति के लिए वह कटिबद्ध होकर प्रयत्न कर सके। लेकिन यदि एक बार आप उस उद्देश्य को स्पष्ट कर दें और अपनी सत्ता देश के न्यायोचित्त प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप दें तो देश की जनता व्यवस्थित और संगठित होकर अग्रसर हो सकेगी। भूत और भविष्य की बड़ी-बड़ी बातें हांकते हुए, उन्होंने वर्तमान के बारे में जुबान तक भी नहीं हिलाई। सत्ता हस्तान्तरित करने की तनिक भी तत्परता नहीं दिखाई, केवल बड़े-बड़े वायदे किये जिन्हें पूरे करने या कार्यान्वित करने के बारे में एक भी शब्द नहीं कहा। वाइसराय ने भारत से यह यकीन करने का अनुरोध किया कि अगर अपने शासनकाल के इन अगले दस महीनों में वे भारत के विभिन्न दलों की मौजूदा खाई को पाटने में सफल हो गए तो उनसे अधिक भाग्यशाली व्यक्ति और कोई नहीं होगा। इसके बाद कितने ही सप्ताह और महीने गुजर गए, कांग्रेस के नेता और गांधीजी जेल की दीवारों के पीछे बन्द थे, जो

लिड्ट का एक अध्याय प्रायः समाप्त होने जा रहा था। मुसोलिनी ने अचानक ही अपने प्रधान-मंत्रित्व पद से इस्तीफा दे दिया और यह घटना संसार में फासिस्टवाद की अन्त्येष्टि का श्रीगणेश था। ऐसा प्रतीत होता है कि एशिया के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि यूरोप के आदर्श और सिद्धान्त दो पक्षों में बंटे हुए थे और इसीलिए यूरोपीय राष्ट्रों की शक्ति पारस्परिक विरोध के कारण कमज़ोर पड़ गई थी और छिन्न-भिन्न हो रही थी। एक तरफ फासिस्टवाद और साम्यवाद का पारस्परिक विरोध था और दूसरी तरफ इन दोनों का साम्राज्यवाद से विरोध था। लड़ाई की दूसरी सालगिरह पर स्टालिन ने तीसरे इंटरनेशनल को भंग कर देने की घोषणा की और इस प्रकार यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय संकट के रूप में साम्यवाद के अन्त की पूर्व-भूमिका थी--चाहे रूस में वह कितने ही समय तक क्यों न स्थापित रहे। इस प्रकार रूस ब्रिटेन और अमरीका के और अधिक निकट-संपर्क में आ गया। १९ साल की शान-शौकत और मान-मर्यादा के बाद अंतर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर से दूसरे ड्यूस् के अन्तर्धान हो जाने के परिणाम-स्वरूप कम से-कम आधे फासिस्ट तो अपनी जन्मभूमि में ही खत्म हो गए। इन घटनाओं के बाद अब जर्मनी के नाजीवाद के लिए ब्रिटेन के चिरकालीन साम्राज्यवाद और अमरीका के नवीन साम्राज्यवाद के साथ दो-दो हाथ होकर लड़ाई का दो-टूक फैसला करना बाकी रह गया था।

आइये, अब हम तनिक चंगेज़ खां और तैमूरलंग के युग पर दृष्टिपात करके देखें कि क्या बल-प्रयोग और हिंसा के संसार में भी कोई प्रगति और उन्नति हुई थी। बारहवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक तातार और मुगल कबीलों के इन साहसी वीरों को अपने ही कबीलों का विनाश करने में मज़ा आता था और अक्सर इन सभी कबीलों का धर्म इस्लाम होता था और वे एक ही पैगम्बर के माननेवाले होते थे। कलम-ए-पाक का पवित्र शब्द भी मध्य एशिया, एशिया माइनर और हिन्दुस्थान की इन लड़ाकू जातियों को एकता के सूत्र में नहीं बांध सका, जिस प्रकार कि ईसाई-धर्म ब्रिटेन और जर्मनी जैसे दो प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी राष्ट्रों अथवा फ्रांस और इटली-जैसे दो कैथोलिक राष्ट्रों अथवा ईसाई-धर्म के अनुयायी फ्रांस और ब्रिटेन को एक तरफ तथा जर्मनी और इटली को दूसरी तरफ एक-दूसरे के साथ एकता के सूत्र में पिरोने में असफल रहा है। तैमूर ने मध्य एशिया में एक के बाद एक प्रदेश को जीतने के बाद एक तरफ ईरान, ईराक और सीरिया की ओर रुख किया और दूसरी तरफ अनातोलिया, काकेशिया, जार्जिया और मास्को की ओर। इसके अलावा उसने जहां एक तरफ काबुल और कन्धार के पार मुलतान और दिल्ली तक वहाँ दूसरी ओर नेपल्स और वीनस तक अपनी सेनाओं का जाल फैला दिया। अभियानप्रिय इन सेनाओं का मुख्य उद्देश्य निजी शान-शौकत और प्रतिष्ठा को कायम रखना होता है और उनका इनाम प्रायः लूटमार होती है। अंत में तैमूर के ये मकसद भी पूरे हो गए। तैमूर लंगड़ा था और हमेशा घोड़े की पीठ पर सवार रहता था। एक समय था जब कि उसकी घुड़-सवार सेना में डेढ़-लाख घोड़े थे। अपनी इन लड़ाइयों में वह अपनी बेगम और बच्चों को अपने साथ रखता था। उसके हथियार खंजर, भाले और तलवारें थीं। उसने बहुत ख्याति प्राप्त की और इतिहास के पन्ने अपने कारनामों से भर दिये। उस जमाने में यूरोप, एशिया के विजेताओं का पानी भरता था। एक हजार साल से भी ज्यादा अर्से तक एशिया ने यूरोप पर अपने प्रभुत्व का सिक्का जमाए रखा। बाबर तैमूर का पड़पोता था। उसने भी अपना जीवन अपने पूर्वजों की भांति ही शुरू किया और अन्त में वह छोटी ही उम्र में दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान हुआ और अपनी संतान के लिए एक विशाल साम्राज्य अपने पीछे छोड़ गया। इसके बाद यूरोप की किस्मत का

भाव उतने जोर से नहीं मनवा सकता, जितना उसे चाहिए अथवा दुनिया में इतनी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता जितनी कि उसे प्राप्त करनी चाहिए।

"लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि देश के सभी सम्बद्ध वर्गों और दलों में वास्तविक समझौता हुए बिना केवल कृत्रिम एकता से काम नहीं चल सकता। उससे तो लाभ की बजाय हानि हो सकती है। किसी बाहरी दबाव के परिणामस्वरूप पैदा होनेवाले मतभेद उन मतभेदों की अपेक्षा अधिक खतरनाक होते हैं, जो सर्वविदित हैं और जिन्हें दूर करने की व्यवस्था आसानी से हो सकती है। केवल विभिन्न दलों और विभिन्न समुदायों के पारस्परिक समझौते-द्वारा ही हम अपना वांछित उद्देश्य हासिल कर सकते हैं और इस समझौते का आधार पारस्परिक विश्वास, एक-दूसरे की ऐतिहासिक प्रथाओं के प्रति सम्मान और उदारता का बर्ताव और भावी योजनाओं में एक-दूसरे के न्यायोचित दावों की पूर्ति होनी चाहिए। क्या हमें इस उद्देश्य की प्राप्ति की कोशिश नहीं करनी चाहिए? अगर हमें उसे हासिल करने के लिए किसी कुर्बानी की ज़रूरत पड़े तो क्या हमें यह कुर्बानी नहीं करनी चाहिए?"

किसी व्यक्ति के कथन की परीक्षा हमेशा उसके व्यवहार और आचरण से होती है। वाइस-राय महोदय ने भारत की एकता पर जोर दिया है। क्या यह एकता कोरा सिद्धान्तवाद या कोई काल्पनिक चीज है जिसके लिए उन्हें इतनी लम्बी-चौड़ी बातें करनी पड़ीं और इतनी वाकपटुता दिखानी पड़ी अथवा क्या यह सुलाह-सफाई और समझौते और आदान-प्रदान की भावना के लिए विभिन्न दलों से आग्रह था? क्या यह उपदेश विभिन्न दलों से तत्काल अपने निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने का अनुरोध था? जो लोग गतिरोध के हल के लिए वाइसराय पर आशा लगाए बैठे थे उन्हें निराश होना पड़ा, क्योंकि उन (वाइसराय) के कथन और व्यवहार—पवित्र प्रार्थना और व्यावहारिक कार्यक्रम में कोई सामंजस्य नहीं था। क्या भारत की एकता की यह दुहाई उसकी आंखों में उसी प्रकार धूल झोंकने की कोशिश नहीं थी, जिस प्रकार कि इससे पहले उसके विभाजन की दुहाई देकर उसे धोखा देने की कोशिश की गई थी? श्री राजगोपाला-चार्य-जैसे व्यावहारिक राजनीतिज्ञ को भी वाइसराय का भाषण महज एक जाल नजर आया। उनकी राय में एकता के लिए वाइसराय का यह नया प्रेम सिवा दिखावे और वाक्-जाल के और कुछ नहीं था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र की विचारधारा क्या थी। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा-द्वारा वाइसराय के भाषण का अलग-अलग अर्थ लगाना सर्वथा प्रत्याशित और स्वाभाविक था। और कांग्रेस इस सम्बन्ध में अपनी राय देने के लिए स्वतंत्र न थी।

फरवरी, १९४३ में केन्द्रीय असेम्बली में श्री नियोगी के उस प्रस्ताव पर बहस शुरू हुई जो उन्होंने उसके पिछले अधिवेशन में पुलिस-द्वारा 'हाल के उपद्रवों' को शान्त करने के लिए की गई 'ज्यादतियों' की जांच-पड़ताल के सम्बन्ध में सभा के सदस्यों की एक समिति स्थापित करने के बारे में पेश किया था। बहस का उत्तर देते हुए गृह-सदस्य ने कहा,—"अपने कर्मचारियों पर प्रतिबन्ध लगाए जाने की सभी कोशिशों का सरकार विरोध करेगी। आपने कहा कि हमें सार्वजनिक कर्मचारियों की सभी न्यायोचित कार्रवाइयों का समर्थन करना चाहिए। आपने कहा कि उन्हें विश्वास है कि सभी प्रकार के उपद्रवों को हमें हर संभव तरीके से दबाना चाहिए। अगर सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में ऐसी जांच-पड़ताल की गई जिसका प्रस्ताव किया गया है तो कानून और व्यवस्था को सुरक्षित रखना असंभव होजायगा। दृढ़निश्चय और राजभक्त पुलिस

और सरकारी कर्मचारियों के बिना इस सभा अथवा ऐसी ही अन्य संस्थाओं के किसी आदेश को कार्यान्वित करना असम्भव हो जायगा।"

भारत-सरकार-द्वारा उपद्रवों के सम्बन्ध में प्रकाशित की गई पुस्तिका के पृष्ठ-भूमि में एक विशेष इतिहास छिपा हुआ है। गांधीजी का उपवास १० फरवरी १९४३ को शुरू हुआ। एक ओर गांधीजी और वाइसराय और दूसरी ओर गांधीजी और भारत-सरकार के सेक्रेटरी के दरमियान जो लिखा-पढ़ी हुई वह बड़ी महत्वपूर्ण और सनसनी-भरा है। उपवास के दरमियान गांधीजी की हालत काफी खराब होगई और एक समय तो ऐसा आया जब कि उनके जीवन के लिए भारी खतरा पैदा होगया। इस अवसर पर २२ फरवरी १९४३ को भारत-सरकार ने उपद्रवों के सम्बन्ध में अपनी उक्त पुस्तिका प्रकाशित की। यद्यपि सरकार स्थिति अच्छी हो जाने की आशा कर रही थी, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से वह देश को बुरी-से-बुरी स्थिति का सामना करने के लिए तैयार कर रही थी। गांधीजी को रिहा न करने के लिए वह कोई उचित कारण चाहती थी और यह पुस्तिका उस औचित्य को सिद्ध करने के लिए ही प्रकाशित की गई थी। सरकार का उद्देश्य मानो यह रहा हो कि "गांधीजी ने शुरू में हिंसा को प्रोत्साहन दिया और अन्त में वे स्वयं ही उसके शिकार होगए।" पुस्तिका के प्रकाशन के अगले ही दिन केन्द्रीय असेम्बली में इस पर सोच-विचार करने के लिए सरदार संतसिंह ने एक स्थगित प्रस्ताव पेश किया जिसे अनियमित ठहराते हुए प्रधान ने कहा "पुस्तिका में उल्लिखित आँकड़ों और तथ्यों का हवाला देते हुए इसी सभा में भाषण दिये जा चुके हैं। इसलिए उसका प्रकाशन कोई अत्यावश्यक विषय नहीं है, जिसके लिए सभा की कार्रवाई स्थगित की जाय।"

२२ फरवरी, १९४३ को नयी दिल्ली से निम्न विज्ञप्ति प्रकाशित हुई:—

"आज ८६ पृष्ठ की एक पुस्तिका प्रकाशित हुई है जिसमें सरकारी अथवा अन्य दस्तावेजों से ऐसे आंकड़े और तथ्य दिये गए हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ८ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी-द्वारा स्वीकृत सामूहिक आन्दोलन के बाद देश में होनेवाले उपद्रवों की जिम्मेदारी गांधीजी और कांग्रेस के 'हाई कमाण्ड' पर है। "अन्तिम शीर्षक के अन्तर्गत सरकार ने श्री जयप्रकाश नारायण के जेल से भागने के बाद जारी की गई अपील के उद्धरण दिये हैं।"

यह बात कि श्री जयप्रकाश नारायण का गांधीजी और कांग्रेस से मत-भेद था तथा इस पुस्तिका के प्रकाशन के समय वे जेल से बाहर थे, स्वयं इस वक्तव्य का समर्थन करता है। इसलिए उनके किसी भी लेख या वक्तव्य के उद्धरण देकर सरकारी पक्ष का समर्थन करने की कोशिश इस बात का प्रमाण है कि सरकार अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के लिए कितनी हताश और अप्रतिभ हो चुकी थी।

पुस्तिका के अन्त में कहा गया है, "इन सब प्रमाणों की मौजूदगी में................ इस प्रश्न का, कि उन सार्वजनिक उपद्रवों और व्यक्तिगत अपराधों का दायित्व किस पर है, जिन्होंने भारत के यशस्वी नाम पर बट्टा लगाया है और अब भी लगा रहे हैं, केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है और वह उत्तर है—भारतीय राष्ट्रीय महासभा जिसके नेता गांधीजी हैं।"

इन सभी इलजामों का एक साथ जवाब देने के लिए हम १४ सितम्बर १९४२ को कामन-सभा में दिये गए श्री एमरी के भाषण का निम्न उद्धरण पेश करना चाहते हैं; जो उन्होंने स्वयं गांधीजी के एक वक्तव्य से लिया था:—

"गांधीजी कहते हैं कि ब्रिटिश शासन को एकदम समाप्त कर दिया जाय। सेनाएं तोड़ दी जायँ, भारत को अराजकता के हवाले कर दिया जाय और ऐसी हालत में उनका पहला कदम संभवतः जापान के साथ समझौते की बात-चीत करना होगा, जिसके प्रति भारत कोई भी दुर्भावना नहीं रखता। जब उनसे यह कहा गया कि ब्रिटेन अथवा अमरीका में प्रचार की दृष्टि से यह कोई अच्छा साधन नहीं है तो उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया कि उनका उद्देश्य अराजकता नहीं बल्कि देश में एक व्यवस्थित और मजबूत अस्थायी सरकार की स्थापना और मित्रराष्ट्रों को अधिकतम सहायता और सहयोग प्रदान करना है।"

श्री एमरी के लिए गांधीजी के पहले दिये गए वक्तव्यों के अप्रासंगिक उद्धरण पेश करने के बजाय उक्त वक्तव्य के अन्तिम भाग को स्वीकार कर लेना अधिक शोभाजनक होता, क्योंकि इस वक्तव्य के बाद उनके पहले वक्तव्यों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

केन्द्रीय असेम्बली में २५ मार्च, १९४३ को श्री टी० टी० कृष्णाचारी ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें राजनीतिक बन्दियों और नजरबन्दों के प्रति सरकार के व्यवहार में व्यापक संशोधन करने की सिफारिश और केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों को जेलों में जाकर राजनीतिक बन्दियों से मुलाकात करने के लिए इजाजत देने का आग्रह किया गया था, ताकि इन पर लगाए गए प्रतिबन्ध कम किये जासकें और उन्हें आवश्यक सुविधाएं प्रदान की जा सकें।—इस प्रस्ताव के बारे में सरकार के रुख का स्पष्टीकरण करते हुए गृह-सदस्य सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने कहा कि, "मौजूदा आन्दोलन के सिलसिले में नजरबन्द किये गए सुरक्षा-बंदियों पर लगाए गए प्रतिबन्धों में फिलहाल किसी किस्म की नरमी नहीं की जा सकती, क्योंकि अभी तक लड़ाई जारी है। आपने कहा कि अभीतक खतरा बना हुआ है और कांग्रेस का आन्दोलन भी जारी है।"

यह प्रसंग समाप्त करने से पूर्व भारत की राजनीतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में वाइसराय की शासन-परिषद् के कतिपय भारतीय सदस्यों के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। राजपरिषद् में २४ सितम्बर १९४२ को भाषण देते हुए माननीय सर जोगेन्द्रसिंह ने कहा:—

"हमें कांग्रेस और लीग को भुला देना चाहिए। हमें उन सिद्धांतों के पीछे पड़कर अपना और समय नहीं गंवाना चाहिए, जिनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। राजाओं और जनता के प्रतिनिधियों को एक साथ मिलकर आगे बढ़ना चाहिए और वर्तमान गतिरोध को दूर करके एक संयुक्त मांग पेश करनी चाहिए।"

दिसम्बर में, बम्बई के भारतीय व्यापार-मण्डल द्वारा पेश किये गए मानपत्र का उत्तर देते हुए माननीय श्री एन० आर० सरकार ने कहा:—

"आदर्शवाद की बात एक ओर रहने दीजिए, केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों ही सरकारों के शासन-संचालन में, और अपने जीवन के सर्वोत्तम भाग में देश के व्यापारिक-क्षेत्र में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण उन्नति करने के उद्देश्य से भारत के लिए अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है।"

ओटावा में २२ दिसम्बर को भाषण देते हुए ब्रिटेन के युद्ध-मन्त्रिमण्डल में भारत के प्रतिनिधि सर ए० रामस्वामी मुदालियर ने कहा, "भारत की जनता अपने राजनीतिकपद के निर्धारण के लिए अत्यधिक व्यग्र है और उनमें पाए जानेवाले मत भेद का आधार उस उद्देश्य के सम्बन्ध में न होकर उसे प्राप्त करने के विभिन्न साधनों के सम्बन्ध में है।"

पहली मई १९४४ को सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल लन्दन रवाना हो गए—जहां वे भारत-मन्त्री के 'सलाहकार' बनाए गए। उनके जीवन और कार्य क्षेत्र की समीक्षा हमें उचित प्रतीत होती है। भारत की शासन-व्यवस्था के साथ उनका गहरा और अर्से तक संपर्क बना रहा है। उनके राजनीतिक विचार और प्रवृत्तियां हाल के इतिहास का एक अध्याय बन गई हैं। पचीस साल से भी अधिक समय तक वे नौकरशाही के विकृत और शैतानी मस्तिष्क एवं प्रतिभा बने रहे। बरसों बीते जबकि बाढ़ के कारण गुजरात का खेड़ा जिला विध्वस्त हो गया। उस समय आप वहां कलक्टर थे। इस अवसर पर सरदार पटेल की अध्यक्षता में गुजरात प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी द्वारा किये गए प्रशंसनीय कार्य का उल्लेख 'कांग्रेस का इतिहास' खंड १ के परिशिष्ट में किया गया है। गुजरात प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने इस सहायता-कार्य में सरकार को नीचा दिखाकर पीड़ित लोगों की डेढ़ करोड़ रुपये तक की सहायता की। इस अवसर पर (१९१८) वाइसराय महोदय गुजरात के बाढ़-पीड़ित इलाके का निरीक्षण करने गए और श्री मैक्सवेल ने वहां के कार्यकर्ताओं से कहा कि वे इस सम्बन्ध में वाइसराय से किसी किस्म की शिकायत न करें और अगर उन्हें कुछ कहना भी है तो वह उनके (मैक्सवेल) जरिये ही कहा जाये। इस मामले की सूचना जब सरदार पटेल को दी गई तो उन्होंने कार्यकर्ताओं को सलाह दी कि वे उनसे लिखित आदेश प्राप्त करलें। लेकिन श्री मैक्सवेल ने लिखित आदेश देने से साफ इन्कार कर दिया। इसके बाद वाइसराय के सामने जो लिखित शिकायतें पेश की गईं, उनमें इस बात का खास तौर से ज़िक्र किया गया। वाइसराय महोदय ने अनेक सहायता-केन्द्रों का निरीक्षण करने के बाद लिखित रूप में कांग्रेस-द्वारा संगठित इस सहायता-कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। बारदोली-आन्दोलन के सिलसिले में बारदोली और चौरासी ताल्लुकों के पुनः बन्दोबस्त के बारे में छानबीन करने के लिये १९२८ में जो दो कमिश्नर नियुक्त किये गए, उनमें से एक श्री मैक्सवेल भी थे। दूसरे श्री ब्रूमफील्ड थे। इसके बाद आप १९३३ में बम्बई के गृह-सदस्य नियुक्त किये गए और आपने ही अगस्त १९३४ तक सरदार वल्लभभाई पटेल को १८१८ के तीसरे रेगुलेशन के अन्तर्गत सरकारी कैदी बनाकर रखा—हालांकि आन्दोलन को वापस लिए हुए कई महीने हो चुके थे। अन्त में १९४०—४४ तक आप सरकारी जीवन के उच्चतम शिखर तक पहुँच गए और हाल के इतिहास के एकमात्र निर्माता साबित हुए।

(१) गैर-सरकारी प्रतिक्रिया

जैसा कि सर्वविदित है कांग्रेस ने सरकार के खिलाफ इस दफा पहली बार एक राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन छेड़ने की बात नहीं सोची थी। १९२१ में प्रिंस आफ वेल्स के भारत-आगमन पर वैयक्तिक सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन छेड़ा गया था और फिर १९३० में स्वराज्य को लेकर नमक-सत्याग्रह शुरू हुआ था और उस समय वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही प्रकार का आंदोलन शुरू किया गया था। १९३२ का आन्दोलन इसलिए शुरू हुआ था कि एक तो सरकार गांधी—अरविन समझौते को तोड़कर फिर से देश में पहले-जैसी स्थिति कायम करना चाहती थी और दूसरे, दूसरी गोलमेज-परिषद् असफल हो गई थी। उपर्युक्त किसी भी अवसर पर जनता ने कांग्रेस के प्रति इतनी गहरी सहानुभूति प्रकट नहीं की थी, जितनी इस बार, जबकि कांग्रेस-द्वारा अपना आन्दोलन शुरू करने से पहले सरकार ने उसपर एक जोरदार आक्रमण करके देश में हिंसा और दमन का साम्राज्य स्थापित कर दिया। यह केवल पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति

ही नहीं थी, बल्कि सरकार से एक जोरदार मांग थी कि कि वह स्वयं अपने पैदा किये हुए गतिरोध का निराकरण करे और यह मांग ऐसे प्रमुख व्यक्तियों और बड़ी-बड़ी संस्थाओं की ओर से की जा रही थी जो कुछ समय पूर्व तक भारत में ब्रिटिश सरकार की ढाल बने हुए थे। सर शादीलाल, सर चिमनलाल सीतलवाड, सर तेजबहादुर सप्रू, सर ए० दलाल, सर मिर्जा इस्माइल, सर एस० राधाकृष्णन्, राइट आनरेबल वी० श्रीनिवास शास्त्री, और राइट आनरेबल श्री एम० आर जयकर जैसे बड़े-बड़े व्यक्तियों, व्यापारमंडलों, व्यापारमण्डल-संघों, ट्रेड यूनियनों, पारसी-संघों, बंगाल और पंजाबके यूरोपियन एसोसियेशनों, बिहार और बम्बई के एडवोकेट-जनरलों, श्री बिश्वास सरीखे हाईकोर्ट के जजों, कलकत्ता के लाट-पादरी जैसे प्रमुख धार्मिक नेताओं, ईसाई और साम्यवादी नेताओं, निर्दल नेता-सम्मेलन और महिला सम्मेलन प्रभृति देश की प्रमुख संस्थाओं के एकस्वर होकर सरकार से स्थिति पर पुनः विचार करने और गतिरोध को शीघ्र ही दूर करने का आग्रह करने पर भी यदि सरकार के कान पर जूं तक नहीं रेंगती तो साफ जाहिर है कि उसके दिमाग में कोई ऐसा बड़ा विकार या खराबी आ गई है कि वह स्वयं अपने भूतपूर्व समर्थकों की भी बात मानने को तैयार नहीं है।

किसी को भी यह खयाल नहीं गुजरा था कि सर शादीलाल जैसा वयोवृद्ध व्यक्ति जो सक्रिय जीवन से अवकाश ग्रहण कर चुका हो—१४ अगस्त १९४२ को ही सरकार के खिलाफ आंदोलन शुरू कर देगा। उन्होंने सरकार को चेतावनी दी कि उसने गांधीजी और वर्किंग कमेटी के सदस्यों को गिरफ्तार करते वक्त यह नहीं खयाल किया कि इसके कितने गम्भीर परिणाम होंगे और उससे राजनीतिक परिस्थिति में रत्ती भर भी सुधार नहीं होगा। श्री नरीमान ने सरकार से अपील की कि वह गांधीजी को उससे पत्र-व्यवहार करने की इजाज़त दे और गांधीजी ने सरकार से पत्र-व्यवहार अवश्य किया जैसा कि उपवास से पहले उनके और सरकार के दरमियान हुए पत्रव्यवहार से प्रकट है। श्री राजगोपालाचार्य ने उपद्रवों की निन्दा करते हुए गतिरोध को दूर करने का अनुरोध किया। भारत के लाट-पादरी ने भी शुरू में ही इस मामले में हस्तक्षेप करते हुए कहा :—

"स्वयं कांग्रेस के भीतर ऐसे तत्व विद्यमान् हैं जो मित्रराष्ट्रों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर युद्ध-प्रयत्न में सक्रिय सहयोग प्रदान करने को प्रस्तुत हैं। मेरा यकीन है कि यदि इस समय भारत के वास्तविक राजनीतिक नेताओं की एक ऐसी परिषद् स्थापित कर दी जाय जिसे शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी वास्तविक अधिकार प्राप्त हों, तो उससे सभी लोगों को समान-युद्ध-मोर्चे के लिए संगठित किया जा सकेगा।"

इस आंदोलन के सिलसिले में भारतीय सिविल सर्विस के एक सदस्य श्री आर० के० पाटिल, दो एडवोकेट-जनरलों और एक सरकारी वकील ने अपने-अपने पदों से इस्तीफा दे दिया। सरकारी वकील का नाम श्री आर० ए० जागीरदार और एडवोकेट जनरल का नाम मोतीलाल सी० सीतलवाड था—जो सर चिमनलाल सीतलवाड के पुत्र हैं और जो पांच साल तक इस पद पर काम कर चुके थे। दूसरे एडवोकेट विहार के श्री बलदेवसहाय थे, जिन्होंने अपने इस्तीफे के थोड़ी देर बाद ही सुलह-सफाई के सम्बन्ध में निम्न ज़ोरदार अपील की :—

"९ अगस्त के बाद से देश में अनेक प्रकार के गम्भीर उपद्रव देखने में आए हैं। सरकार ने दमन-नीति को अपनाया है और दुर्भाग्य अथवा अफसोस तो यह है कि बुनियादी तौर पर कोई भी ऐसी बात नहीं है जिस पर सरकार और कांग्रेस के दरमियान सुलह-सफाई न हो सके,

दोनों के बीच की खाई इतनी चौड़ी नहीं है कि रचनात्मक राजनीतिज्ञता के जरिये उसे कभी पाटा ही नहीं जा सकता।"......

इस सम्बन्ध में महाराजा होल्कर ने भी एक अत्यन्त रोचक और दिलचस्प वक्तव्य दिया।

श्री चर्चिल के इस कथन के बारे में कि कांग्रेस के पीछे बड़े-बड़े उद्योगपतियों और आर्थिक स्वार्थों का हाथ है—प्रश्न किये जाने पर भारतीय व्यापार और उद्योग संघ के प्रधान श्री जी० एल० मेहता ने नयी दिल्ली के एक पत्र-प्रतिनिधि-सम्मेलन में कहा कि भारतीय व्यापारिक वर्ग और संगठन को इसमें कोई शर्म नहीं है कि वे राष्ट्रीय आंदोलन के एक आवश्यक अंग हैं और स्वतन्त्रता तथा सत्ता हस्तान्तरित करने की कांग्रेस की मांग के साथ वे पूर्णतया सहमत हैं।

प्रशांत-युद्ध-परिषद् में न्यूजीलैण्ड के प्रतिनिधि श्री नैश ने कहा :—

"आप अपने यहां एक सरकार स्थापित कीजिए और आपकी सरकार की स्थापना हो जाने पर हम अपनी सरकार खत्म कर देंगे। लेकिन यह कहना बेवकूफी है कि इस बीच आप कोई सरकार नहीं स्थापित कर सकते। एक शर्त अवश्य है कि हम इस इलाके को मित्रराष्ट्रों के स्वार्थों की रक्षा के लिए काम में लाना चाहते हैं।"

भारतीय व्यापार-मण्डल के प्रधान श्री जे० सी० सीतलवाड ने गांधीजी और नेहरूजी-जैसे नेताओं को जेल में बन्द कर दिये जाने की निन्दा करते हुए उन लोगों के रुख पर खेद प्रकट किया जो इस आन्दोलन के लिए इन नेताओं को बदनाम कर रहे थे और इसकी सारी जिम्मेदारी उन्हीं पर डाल रहे थे।

१५ दिसम्बर १९४२ को निर्दल सम्मेलन की स्थायी समिति ने एक निम्न ज़ोरदार वक्तव्य प्रकाशित किया :—

"सरकार की वर्तमान नीति देश में निराशा और क्षोभ की एक ज़ोरदार और गहरी भावना पैदा करती है......ब्रिटेन यह शेखी बघारकर भारत की दोस्ती का हाथ नहीं बढ़ा सकता कि इस देश में इस समय इतने ब्रिटिश सैनिक मौजूद हैं जितने कि ब्रिटिश शासन के इतिहास में इससे पहले कभी नहीं रहे, बल्कि यह दोस्ती तो वह युद्ध-काल में ही भारतीयों के हाथों में अधिक-से-अधिक सत्ता हस्तान्तरित करके हासिल कर सकता है और इस प्रकार से वह भारतीयों को यक़ीन दिला सकता है कि ब्रिटिश अधिकारी ईमानदारी से भारत को आज़ाद करके उसे स्वराज्य देना चाहते हैं।"

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की जनरल कौंसिल ने ब्रिटेन की ट्रेड यूनियनों और मज़दूर दल से महात्मा गांधी, मौलाना आज़ाद और दूसरे कांग्रेसी नेताओं को तत्काल रिहा करने और भारतीय जनता को तत्काल सत्ता सौंपने की भारतीय मांग को स्वीकार करने के लिए ब्रिटेन की सरकार से अनुरोध करने की अपील की, क्योंकि नेताओं के जेल में रहते हुए किसी किस्म का समझौता सम्भव नहीं था। इस प्रस्ताव में अमरीका की ट्रेड यूनियन और मज़दूर-आंदोलन से भी आग्रह किया गया था कि वह अपनी सरकार पर इस बात के लिए ज़ोर डालें कि वह ब्रिटेन से सत्ता हस्तान्तरित करने के सम्बन्ध में भारत की राष्ट्रीय मांग को स्वीकार करलें।

बम्बई के रहनेवाले ६०० से भी ऊपर पारसियों ने अपने हस्ताक्षरों से एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उन्होंने यह घोषणा की कि भारत के नये विधान में उन्हें किसी किस्म के भी संरक्षण नहीं चाहिए। यह वक्तव्य कामन-सभा में दिये गए श्री सी० आर० एटली के उस वक्तव्य के जवाब में था, जो कि उन्होंने भारतीय स्वाधीनता के बारे में दिया था जिसमें उन्होंने कहा था—

"भारत में सिक्खों, पारसियों, नरेशों और रियासती जनता जैसे बहुत से बड़े प्रभावशाली अल्प-संख्यक मौजूद हैं, जिनके हितों की ओर हमें खास तौर पर ध्यान देना है।" पारसियों द्वारा प्रकाशित वक्तव्य में आगे चलकर कहा गया है :—

"दादा भाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता और सर दीनशा वाच्छा-जैसे अपने महान् नेताओं के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए हम पारसी लोगों ने सदैव इस बात पर ज़ोर दिया है कि हम सर्वप्रथम भारतीय हैं और हमने अपने लिए न तो कभी धारा-सभाओं अथवा स्थानीय संस्थाओं में पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग की है और न ही नौकरियों में कोई विशेष बर्ताव किये जाने के लिए आग्रह किया है। गोलमेज-परिषद् के अवसर पर भी हमारी ऐसी ही स्थिति थी। गांधीजीने इस बात का खास तौर से ज़िक्र करते हुए कहा था कि पारसी ही एकमात्र,ऐसे अल्पसंख्यक हैं जिन्होंने कभी पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग नहीं की। अब हम इस अवसर पर पुनः इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि हम अपने इसी सिद्धांत और नीति पर दृढ़ रहना अपना परमावश्यक कर्तव्य समझते हैं। व्यवहार-बुद्धि और नीति की बात तो एक ओर रहने दीजिए, नैतिक आधार पर भी हम स्पष्ट रूप से देख रहे हैं कि हमारा भविष्य देश के हमारे दूसरे समुदायों के साथ घनिष्ठ रूप से बंधा हुआ है।"

नवम्बर में एक पत्र-प्रतिनिधि-सम्मेलन के सम्मुख सर तेजबहादुर सप्रू ने यह सुझाव रखा कि वाइसराय को चाहिए कि वे राष्ट्रीय आंदोलन के अध्यक्ष के रूप में सभी दलों का एक सम्मेलन बुलाएं, जिसमें कांग्रेस भी शामिल हो।

ऊपर हमने देश के गण्यमान्य वकीलों, न्याय और कानून के पंडितों, नरेशों, राजनीतिज्ञों और व्यापार और उद्योग के बड़े-बड़े उद्योगपतियों के विरोध, अनुरोध और अपीलों का ज़िक्र किया है। अब हम देश के कुछ विद्वानों और प्रकाण्ड पंडितों के भी एतत्सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करना चाहते हैं।

काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के वाइस-चांसलर सर एस० राधाकृष्णन् ने २६ नवम्बर को विश्व-विद्यालय के दीक्षांत समारोह पर अभिभाषण देते हुए कहा—"हमें सदियों की अपनी निद्रा का त्याग करके अपना मस्तक ऊँचा उठाना चाहिए।"

अंत में हम भारत के दो अंग्रेज़ उद्योगपतियों और व्यापारियों की राय का उल्लेख करना चाहते हैं।

बंगाल चेम्बर की वार्षिक साधारण बैठक के अध्यक्षपद से भाषण देते हुए श्री० आर० आर० हैडाऊ ने कहा :—

"भारत-द्वारा पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने के सम्बन्ध में हमारा उससे कोई झगड़ा नहीं है, लेकिन उसी प्रकार हम यह बात भी रहस्य के गर्भ में छिपाकर नहीं रखना चाहते कि हमने भारत की उन्नति में जो महान् भाग लिया है और अब तक ले रहे हैं, उसके लिए हमें पूर्ण आश्वासन और संरक्षण दिया जाय।"

यूरोपियन एसोसियेशन की पंजाब-शाखा के प्रधान सर विलियम राबर्ट ने भी भारतीय गुत्थी को सुलझाने का ज़ोरदार आग्रह किया।

× × ×

नवम्बर के मध्य में 'हिन्दू' के बम्बई-स्थित संवाददाता से अपनी एक भेंट में डा० अम्बेडकर ने यह राय प्रकट की कि इस वक्त भारत में कोई राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने की

आवश्यकता नहीं है, वर्तमान राजनीतिक गतिरोध की वजह इस देश के बहुसंख्यक और अल्प-संख्यकों का पारस्परिक अविश्वास है और भारत की भावी स्थिति को सुलझाने के लिए हमें युद्ध समाप्त होने तक प्रतीक्षा करना बेहतर है। बाद में डा० अम्बेडकर ने गांधीजी और श्री जिन्ना की तुलना करते हुए कहा कि इन दोनों ही नेताओं को भारतीय राजनीति से अलग हो जाना चाहिये। डा० अम्बेडकर के इस वक्तव्य का जवाब देते हुए प्रोफेसर अब्दुल मजीद ख़ां ने कहा:—

"गांधीजी की श्री जिन्ना से तुलना करते समय डा० अम्बेडकर स्वयं अपनी ही वाक्पटुता के चक्कर में फँसकर अपने को भूल गए। वास्तव में इन दोनों में किसी तरह की तुलना हो ही नहीं सकती। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है और दोनों एक-दूसरे के सर्वथा विभिन्न हैं। कितने अफसोस और दुर्भाग्य की बात है कि डा० अम्बेडकर दूध और पानी में भी भेद न कर सके।"

कांग्रेस वर्किंग कमेटी के भूतपूर्व सदस्य श्री सी० राजगोपालाचार्य पर इसकी बहुत गंभीर प्रतिक्रिया हुई। उन्हें इस बात पर खेद था कि वे स्थिति को सुधारने के लिए कुछ भी नहीं कर सकते। इसके बाद तीन साल तक उनकी सब कोशिशें बेकार रहीं। उनकी इस असफलता ने स्पष्ट तौर पर साबित कर दिया कि कोई चाहे कितना ही प्रमुख कार्यकर्ता क्यों न हो, अगर वह अपनी पार्टी से किनारा करके निरन्तर दूसरे को खुश करने की नीति पर चलता है तो उसे आखिर में नाकाम होना ही पड़ता है।

यह तो हम पहले ही उल्लेख कर आए हैं कि जाम साहब और सर ए० आर० मुदालियर को भारत की ओर से ब्रिटेन के युद्ध-मन्त्रिमंडल में प्रतिनिधि के रूप में लिया गया था। श्री जार्ज स्लोकूम से भेंट करने पर नवानगर के महाराजा ने वाइसराय की शासन-परिषद् के पूर्ण भारतीय-करण पर, जिसमें गृह-विभाग और पद-राष्ट्र विभाग भी शामिल थे, ज़ोर दिया। उनकी इस भेंट का यह विवरण ११ अक्तूबर, १९४२ के 'संडे एक्सप्रेस' में छपा। इसके साथ ही जाम-साहब ने यह भी कहा कि वर्तमान की भांति युद्ध का संचालन-भार प्रधान सेनापति और युद्ध-मन्त्रिमण्डल के हाथों में ही रहना चाहिए।

अब हम सिन्ध की सब से अधिक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख करना चाहते हैं। २६ सितम्बर, १९४२ को सिन्ध के प्रधान मन्त्री ख़ान बहादुर अल्लाहबख्श ने ब्रिटिश सरकार की नीति के विरोधस्वरूप वाइसराय को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने अपनी 'खान बहादुर' और 'ओ० बी० ई०' की उपाधियों के परित्याग करने की घोषणा की थी। २६ सितम्बर को एक पत्र-प्रतिनिधि-सम्मेलन में अपने इस निर्णय की घोषणा करते हुए सिन्ध के बड़े वजीर ने कहा कि ब्रिटेन की नीति, "भारत में अपने साम्राज्य को कायम रखने, और इस देश को परतंत्र बनाए रखने, उसके राजनीतिक और साम्प्रदायिक मतभेदों को अपने प्रचार के लिए इस्तेमाल करने और राष्ट्रीय ताकतों को कुचल कर अपने ही स्वार्थों को पूरा करने की है।" इस सम्मेलन में उन्होंने वाइसराय के नाम भेजे गए अपने पत्र को भी पढ़कर सुनाया। एक सवाल के जवाब में उन्होंने कहा कि उन्होंने एक ओर साम्राज्यवाद और दूसरी ओर नाजीवाद और फासिस्टवाद से दुहरा युद्ध करने की ठानली है। आपने इस बात पर खास तौर से जोर दिया कि साम्राज्यवाद के खिलाफ युद्ध करना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है और प्रत्येक भारतीय का परम कर्तव्य है कि वह अपने देश पर आक्रमण करनेवाली किसी भी शक्ति का डटकर मुकाबला करते हुए देश की रक्षा करे।

२८ सितम्बर को एक पत्र प्रतिनिधि-सम्मेलन में इस प्रश्न का जवाब देते हुए कहा कि क्या उपाधियां त्यागने के उनके निर्णय का प्रत्यक्ष कारण श्री चर्चिल का भाषण है, श्री अल्लाहबख्श ने कहा, "यह इस भावना का सामूहिक परिणाम है कि ब्रिटिश सरकार सत्ता त्यागने को तैयार नहीं है, लेकिन श्री चर्चिल ने तो रही-सही उम्मीदों पर भी पानी फेर दिया।"

सरकार की ओर से श्री अल्लाहबख्श को यह जवाब दिया गया कि चूंकि उन्होंने गवर्नर का विश्वास खो दिया है, लिहाजा गवर्नर-द्वारा उन्हें १० अक्तूबर, ४२ को उनके ओहदे से हटा दिया गया। पता चला है कि पदच्युत किये जाने से पूर्व उन्होंने प्रधान मन्त्रि-पद से इस्तीफा देने से इन्कार कर दिया था, इसलिए उन्हें गवर्नर द्वारा पदच्युत कर दिया गया। उसके बाद गवर्नर ने सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्ला को मंत्रिमंडल बनाने की दावत दी जिसे उन्होंने मंजूर कर लिया।

श्री अल्लाहबख्श को १९३५ के विधान की धारा ५१ के अंतर्गत उनके ओहदे से हटाया गया था, जो इस प्रकार है :—

"मन्त्रियों का निर्वाचन और उन्हें आमंत्रित करने का बुलावा गवर्नर द्वारा भेजा जायगा, उन्हें शपथ ग्रहण करने के बाद मन्त्रिमण्डल में लिया जायगा और जब तक गवर्नर प्रसन्न रहेगा, वे अपने ओहदे पर बने रहेंगे।"

(३) मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया

जैसी कि आशा थी कांग्रेस के प्रस्तावित आन्दोलन के सम्बन्ध में लीग की प्रतिक्रिया अनुकूल अथवा तटस्थ नहीं हो सकती थी। लीग कांग्रेस का खुला विरोध ही नहीं कर रही थी, बल्कि वह कांग्रेस-द्वारा आज़ादी प्राप्त करने के प्रत्येक व्यावहारिक प्रयास का भी विरोध करती थी, हालांकि लीग का ध्येय भी भारत की आजादी था। कांग्रेस के प्रति उसे अपने इतने विरोध से संतोष न हो सका, इसलिए १९४१ में मद्रास में अपने वार्षिक अधिवेशन में लीग ने अपने ध्येय में भारत में पाकिस्तान की स्थापना अथवा मुस्लिम-बहुल प्रान्तों का एक पृथक् स्वायत्त-शासनप्राप्त संघ बनाना भी शामिल कर लिया। यह पाकिस्तान एक सम्बद्ध प्रदेश होगा जिस-का भारतीय संघ के साथ केवल दो पड़ोसी और स्वाधीन राष्ट्रों के सिवाय और किसी किस्म का सम्बन्ध नहीं रहेगा। दिन-प्रति-दिन, सप्ताह-प्रति-सप्ताह और मास-प्रति-मास लीग का सारा प्रयत्न और ध्यान पाकिस्तान की ओर लगने लगा और बहुत सी घटनाओं के कारण लीग का प्रभाव बढ़ गया और पांच प्रान्तों में स्वायत्त-शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल बनाने के फल-स्वरूप तो कुछ सीमा तक उसकी शक्ति भी बढ़ गई। यह बात नहीं थी कि इन पांचों प्रान्तों के प्रधान मन्त्रियों का लीग के साथ कोई अटूट सम्बन्ध कायम हो गया हो, बल्कि उनका यह गठबन्धन तो एक बड़ी संस्था के साथ केवल अपनी स्थिति को अधिक मजबूत बनाने के उद्देश्य से ही किया गया था। १९३७ के आम चुनावों में मुस्लिम लीग को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकी। सारे हिन्दुस्तान में मुसलमानों की ४८० सीटों में से उसे लगभग ५० सीटें ही मिल सकीं, लेकिन बाद के उप-निर्वाचनों में उसकी ताकत बढ़ गई और उसने कुल मिलाकर पचास से ऊपर स्थानों पर कब्जा कर लिया। बंगाल और पंजाब में लीग की स्थापना केवल तात्कालिक और सामयिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वतंत्र और विशेष संस्थाओं के रूप में हुई थी। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी ने, जिसमें हिन्दू-मुसलमान और सिक्ख सभी शामिल थे,

चुनाव लड़े और बंगाल में कृषक-प्रजा-पार्टी ने जिस में केवल मुसलमान ही थे, चुनाव लड़े। बाद में बंगाल में कृषक-प्रजापार्टी ने मौलवी फजलुल हक के नेतृत्व में कुछ हिन्दुओं के सहयोग से मंत्रिमण्डल बनाया। बंगाल के प्रधान-मन्त्री मौलवी फजलुल हक और पंजाब के सर सिकन्दर हयात खां थे। सिन्ध के मुस्लिम प्रधान मन्त्री सर हिदायतुल्ला को हटाकर श्री अल्लाहबख्श ने कांग्रेस-दल की सहायता से वहां अपना मंत्रिमण्डल स्थापित किया। आपको कांग्रेस की नीति और उद्देश्य से सहानुभूति थी। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार १९४२ में सरकार की नीति के विरोधस्वरूप और गांधीजी को रिहा न करने तथा देश में गतिरोध बनाए रखने के विरोध में उन्होंने अपनी उपाधियां छोड़ दी थीं और उसके फलस्वरूप गवर्नर द्वारा उन्हें पद-च्युत कर दिया गया। उनके बाद सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्ला ने नया मंत्रिमण्डल बनाया। सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्ला इससे पहले मुस्लिम लीग से इस्तीफा दे चुके थे। किन्तु दुबारा प्रधानमंत्री बनने पर उन्हें फिर से लीग में शामिल कर लिया गया। सिन्ध के दूसरे मुसलमान मन्त्री भी लीग में शामिल होगए। इस प्रकार सिन्ध का मंत्रिमण्डल एक लीगी-मंत्रिमण्डल बन गया, जिसमें हिन्दू महासभा से सम्बद्ध हिन्दू भी शामिल थे। सिन्ध की तरह बंगाल और पंजाब में भी बहुत-सी घटनाओं का वहां के मन्त्रिमण्डलों पर गहरा प्रभाव पड़ा। सर सिकन्दर हयात खां के अचानक, असामयिक और दुःखद निधन के फलस्वरूप लेफ्टिनेन्ट-कर्नल खिज्र हयात खां ने पंजाब में अपना मंत्रिमण्डल बनाया। खिज्र हयातखां इससे पहले सिकन्दर मंत्रि-मण्डल में मन्त्री रह चुके थे। न तो वे स्वयं और न ही उनके सहयोगी मुस्लिम लीगी थे, किन्तु घटनाक्रम ऐसा चला कि वे सभी मुस्लिम लीगी हो गए। बंगाल में एक अत्यन्त असाधारण घटना हो गई। प्रान्त की खाद्य-स्थिति बहुत अधिक बिगड़ गई, इसलिए वहां एक सर्वदलीय मंत्रिमण्डल स्थापित करना आवश्यक समझा गया। श्री फजलुल हक ने ऐसा मंत्रिमण्डल बनाना मंजूर कर लिया। परन्तु व्यवस्थापिका सभा में उनका बहुमत होते हुए भी—जैसा कि दो मौकों पर लिए मत-विभाजन से स्पष्ट है--प्रान्त के स्वर्गीय गवर्नर सर जान हर्बर्ट ने २९ मार्च, १९४२ को उन्हें पदच्युत किये जाने की धमकी देकर उनसे पूर्व-लिखित एक इस्तीफे पर हस्ताक्षर करवा लिये और गवर्नर ने उन्हें आश्वासन दिया कि जब तक वे अपनी स्वीकृति नहीं दे देंगे वे उनका इस्तीफा प्रकाशित या स्वीकृत नहीं करेंगे। २५ दिन के बाद एक भूतपूर्व मन्त्री सर नजीमुद्दीन बंगाल के प्रधान मंत्री बने, जिनसे लगभग एक साल पहले प्रधान मन्त्री फजलुल हक अपना पिंड छुड़ा चुके थे। सर नजीमुद्दीन हमेशा से लीग के एक नेता रहे हैं। उन्होंने अपने मंत्रिमण्डल में ७ मुसलमान जो सभी मुस्लिम लीगी थे और विभिन्न दलों के ६ हिन्दू लिए। कृषक प्रजा पार्टी का एक भी सदस्य उन्होंने अपने मंत्रिमण्डल में नहीं लिया, हालांकि उसमें बहुत काफी मुसलमान थे। ऐसे संकटकालीन अवसरों पर एक शोचनीय प्रवृत्ति आम तौर पर यह देखी गई है कि एक दल के कुछ सदस्य अपनी स्थिति से अनुचित लाभ उठाकर अपने स्वार्थों के लिए दूसरे दल में शामिल हो जाते हैं। इस तरह से वे दूसरे दल पर अपना दबाव डालने में सफल हो जाते हैं। बहरहाल बंगाल में एक संयुक्त मंत्रिमण्डल की स्थापना होगई, जिसमें सभी मुसलमान सदस्य मुस्लिम लीगी थे। आसाम में कांग्रेस-द्वारा पदत्याग के कुछ समय बाद ही सर सादुल्ला ने, जो एक मुस्लिम लीगी थे, अपना मंत्रिमण्डल बनाया। उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में गवर्नर ने मई के मध्य में एक लीगी नेता श्री औरंगजेब खां को मंत्रिमण्डल बनाने का निमंत्रण भेजा और उन्होंने २३ मई को चार मुसलमान और एक सिख मन्त्री का नाम गवर्नर को पेश

किया। इस प्रकार इन पांचों प्रान्तों में जब कि कांग्रेसजन जेलों में बन्द थे, जो मंत्रिमण्डल बने, उन्हें हम यद्यपि लीगी मंत्रिमण्डल नहीं कह सकते थे, लेकिन उनके प्रधान मन्त्री लीगी अवश्य थे। बम्बई-प्रस्ताव के कुछ समय बाद देश की परिस्थिति इस प्रकार थी।

लीग के अध्यक्ष श्री जिन्ना यद्यपि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस प्रकार के मौके की ताक में थे, फिर भी इसे हम लीग की विजय नहीं कह सकते थे, क्योंकि ये सभी संयुक्त मंत्रिमण्डल थे जिन में विभिन्न दलों और संगठनों के अनुयायी शामिल थे। इनमें दूसरे दलों को छोड़कर आनेवाले ऐसे लोग भी शामिल थे, जो राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक मामलों में अपने विचार-परिवर्तन के कारण सम्बद्ध प्रधान मंत्रियों के झण्डे के नीचे नहीं एकत्र हुए थे, बल्कि जो केवल मन्त्री बनने की लालसा से इनमें शामिल हुए थे। एक ओर जबकि बंगाल के गैर-मुस्लिम सदस्य हरिजन-दल और कांग्रेस-दल में विभाजित थे (जोकि आगे अग्रगामी दल और स्वतन्त्र दलों में विभक्त था) दूसरी ओर पंजाब के हिन्दू-मन्त्री प्रधान-मन्त्री का इसलिए विरोध कर रहे थे कि वे लीग के साथ अपना गँठजोड़ करके प्रान्त में उसकी ताकत क्यों बढ़ा रहे हैं। मुस्लिम लीग ने पंजाब-मंत्रिमण्डल को तीन महीने के अन्दर-अन्दर अपनी स्थिति में सुधार करने को कहा था, लेकिन श्री जिन्ना पंजाब की प्रगति से संतुष्ट नहीं थे।

मुस्लिम लीग की वर्किङ्ग कमेटी ने अस्थायी सरकार की स्थापना के लिए दूसरे दलों से समझौता करने की इच्छा प्रकट की, लेकिन एक शर्त पर। मुस्लिम लीग की वर्किङ्ग कमेटी ने २२ अगस्त, १९४२ को एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें उसने ब्रिटिश सरकार से मुसलमानों के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करने और पाकिस्तान की स्थापना के हक में मुसलमानों के मतदान के बाद तुरन्त ही उसे कार्यान्वित करने की मांग करते हुए दूसरी किसी भी पार्टी से देश में एक अस्थायी सरकार स्थापित करने की इच्छा प्रकट की जिससे कि देश की रक्षा और युद्ध के सफल संचालन के लिए भारत के सभी साधनों का संगठन किया जा सके। एक प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री एम० ए० जिन्ना ने कहा कि प्रस्ताव में उल्लिखित (पार्टी) शब्द से मुराद किसी भी ऐसे स्वीकृत दल से है जो देश का हित-साधन करने में समर्थ हो। उन से यह पूछे जाने पर कि क्या इसमें "सरकार भी शामिल है?"—आपने कहा कि "हां, सरकारें भी तो देश में एक पार्टी ही मानी जाती हैं। क्या यह बात ठीक नहीं है?" एक और सवाल के जवाब में आपने बताया कि लीग का उक्त प्रस्ताव सर्वसम्मत था। लीग वर्किङ्ग कमेटी की इस बैठक में २३ में से २० सदस्य उपस्थित थे और शेष तीन अनुपस्थित सदस्यों ने भी इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास प्रकट किया था। मुस्लिम लीग के युद्ध-प्रयत्न के बारे में श्री जिन्ना ने कहा कि सरकारी तौर पर लीग ने युद्ध-प्रयत्न में भाग लेने की जिम्मेवारी अपने ऊपर इसलिए नहीं उठाई कि सरकार ने सम्मानपूर्ण शर्तों पर उसे देश के शासन सूत्र में वास्तविक भाग और अधिकार देने से इन्कार कर दिया था। यह प्रश्न किये जाने पर कि क्या पाकिस्तान के सिद्धान्त की घोषणा भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा से पहले की जानी आवश्यक है—श्री जिन्ना ने उत्तर दिया कि "मैं चाहता हूं कि ब्रिटिश-सरकार इसी समय ऐसी घोषणा कर दे, जिस की मांग उक्त प्रस्ताव में की गई है, चाहे कोई उससे सहमत हो या न हो।" एक और सवाल का जवाब देते हुए आपने कहा कि "अगर ब्रिटिश सरकार ऐसी घोषणा कर दे तो लीग युद्ध के संचालन और भारत की रक्षा के लिए उसके साधनों का संगठन करने के उद्देश्य से किसी भी पार्टी से देश में एक अस्थायी सरकार की स्थापना के लिए समझौता करने को तैयार होगी।

अस्थायी सरकार को दिये जानेवाले अधिकारों के बारे में कोई शर्त या सीमा नहीं निर्धारित की जायगी। इसका फैसला आपसी समझौते के ज़रिये कर लिया जायगा। लेकिन जब तक लीग की पाकिस्तान-सम्बन्धी मांग न मान ली जाय और उसे बराबरी का हक न दिया जाय तब तक हम किसी किस्म की भी अस्थायी सरकार की स्थापना के बारे में समझौते की बातचीत करने को तैयार नहीं हैं।"

इसके कुछ समय बाद ही २५ अगस्त को अलीगढ़ मुस्लिम विश्व-विद्यालय के छात्र-संघ के सम्मुख भाषण देते हुए वाइसराय की शासन-परिषद् के रक्षा-सदस्य सर फीरोज खां नून ने भारत को पांच स्वाधीनताप्राप्त उपनिवेशों में विभाजित कर देने की एक योजना प्रस्तुत की। आपने कहा :—

"मैं चाहता हूँ कि ब्रिटिश भारत पांच स्वाधीनता-प्राप्त उपनिवेशों में विभक्त कर दिया जाय —(१) बंगाल और आसाम, (२) मध्यप्रान्त, संयुक्त प्रान्त और बिहार, (३) मदरास अर्थात् द्राविड़ी, (४) बम्बई अर्थात् महाराष्ट्रीय और (५) पंजाब, बिलोचिस्तान, सिन्ध और उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त। ये पांचों उपनिवेश न्यूज़ीलैंड, जिसकी जनसंख्या १५ लाख है, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका जिन में से प्रत्येक की जन-संख्या ७० या ८० लाख है, की भांति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो सकते हैं। किन्तु कुछ ऐसी भी बातें हैं, जिनके लिए एक केन्द्रीय सत्ता और सब उपनिवेशों की तरफ से सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है। ये विषय, मेरे विचार से रक्षा, कस्टम, (आयात-निर्यात-कर), पर-राष्ट्र सम्बन्ध और मुद्रा हैं। इन चारों विषयों के प्रबन्ध के लिये मैं एक केन्द्रीय सरकार की रचना का पक्षपाती हूँ, जिसमें पांचों उपनिवेश—सरकारों-द्वारा नामजद किये हुए प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। ये प्रतिनिधि तब तक अपने पदों पर बने रहेंगे जब तक कि नियुक्त करनेवाले अधिकारी अपने उपनिवेशों में शासनारूढ़ रहेंगे। परन्तु यह बात इस महत्वपूर्ण शर्त के साथ लागू होगी कि यदि किसी समय किसी उपनिवेश को केन्द्रीय शासन के संचालन से असंतोष होगा तो उस उपनिवेश को यह अधिकार होगा कि वह केन्द्र से पृथक् हो जाय, किन्तु साथ ही यह व्यवस्था भी रहेगी कि इस प्रकार पृथक् होनेवाला उपनिवेश मतभेद दूर हो जाने पर फिर केन्द्र में प्रविष्ट हो सके। यदि आप किसी देशी राज्य से यह कहें कि आप एक बार संघ में शामिल हुए तो फिर कभी बाहर निकल न सकेंगे तो फिर उस राज्य के अधिकारी संघ से बाहर रहने के लिए अपनी शक्ति भर कुछ भी उठा न रखेंगे, किन्तु यदि आप उन्हें पृथक् रहने की स्वतन्त्रता दे दें तो फिर आप उन्हें शामिल होने और संघ-शासन की बानगी लेने के लिए प्रवृत्त कर सकते हैं। ......"

बम्बई-प्रस्ताव के समय लीग की पृष्ठभूमि क्या थी, यह सभी जानते हैं। इससे पूर्व की उसकी स्थिति का उल्लेख उपर्युक्त वाक्यसमूहों में किया गया है। कांग्रेस-प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी जिन्ना की प्रथम प्रतिक्रिया स्पष्ट थी और आसानी से समझ में आ सकती थी। आपने कहा :-

"मुझे अत्यंत खेद है कि आखिरकार कांग्रेस ने रणभेरी छेड़ ही दी और उसने देश के विभिन्न व्यक्तियों, दलों और संगठनों-द्वारा दी गई चेतावनियों की तनिक भी परवाह न करके एक अत्यन्त खतरनाक सामूहिक आन्दोलन शुरू कर दिया है। यह यकीन करना असम्भव है कि कांग्रेस के नेता यह बात न जानते थे कि इस तरह के आन्दोलन का परिणाम हिंसा, रक्तपात और बेगुनाह लोगों का विनाश होगा। यह और भी अधिक खेदजनक है कि यह आन्दोलन इस संकटपूर्ण घड़ी में शुरू किया जा रहा है और इसका वास्तविक उद्देश्य संगीनों का भय दिखाकर

जबरदस्ती अपनी मांगें मनवाना है और अगर कांग्रेस के इस धृष्टतापूर्ण रुख और उसकी मनमानी एवं उत्तरदायित्वविहीन चुनौती से डरकर उसे खुश करने की कोशिश की गई तो उसका परिणाम पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण और दूसरे सभी प्रकार के हितों का विशेषकर मुस्लिम भारत के स्वार्थों का बलिदान होगा।"

सितम्बर में एक भेंट में श्री जिन्ना ने कहा :—

"अखिल-भारतीय महासमिति की अन्तिम बैठक के अन्तिम अधिवेशन में गांधीजी ने यह बात बहुत जोर देकर कही थी कि केवल कांग्रेस ही भारत की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था है। यही बात पण्डित नेहरू ने भी कही, लेकिन वह उनसे भी आगे बढ़ गए और कहा कि मुस्लिम-लीग एक प्रतिक्रियावादी संस्था है और मुस्लिम जनता उसके साथ है तथा कांग्रेस ही समस्त देश का प्रतिनिधित्व करनेवाली एकमात्र संस्था है। यह बात केवल भारत में ही नहीं कही गई, बल्कि इसका ढिंढोरा सारी दुनिया में पीटा गया है और चूंकि उन देशों की जनता भारत की वास्तविक परिस्थिति से परिचित नहीं है, इसलिए वह इसपर यकीन कर लेती है। यह दूषित और संगठित प्रोपेगैंडा जनता को धोखे में रखने की गरज से किया जाता है और अगर आप श्री चर्चिल का भाषण पढ़कर देखें तो आप जान जाएँगे कि उन्होंने कांग्रेस के इस दावे का खण्डन किया है।"

युद्ध-प्रयत्न के सम्बन्ध में एक अमरीकी संवाददाता के प्रश्न के जवाब में श्री जिन्ना ने निम्न वक्तव्य दिया :—

"मुस्लिम लीग युद्ध-प्रयत्न में सहयोग नहीं दे रही। इसकी वजह यह नहीं है कि वह इसका विरोध करती है, बल्कि यह है कि वह तब तक युद्ध-संचालन हार्दिक सहयोग और सहायता प्रदान करने को तैयार नहीं है जब तक कि जनता यह न अनुभव करने लग जाय कि देश के शासन-संचालन में उसका वास्तविक हाथ है। परन्तु हम ब्रिटिश सरकार की नीति की चाहे कितनी ही निन्दा क्यों न करें अथवा इसपर कितना ही खेद क्यों न प्रकट करें, पिछले तीन साल में हमारी हालत एक खरबूजे जैसी रही है। चाहे खरबूजा छुरी पर रहे अथवा छुरी खरबूजे पर रहे—दोनों ही तरह से नुकसान तो बेचारे खरबूजे का ही है। गला तो उसी का कटेगा। मान लीजिए कि ब्रिटिश सरकार की नीति से तंग आकर मैं गुस्से में कल से यह कहने लगूं कि 'ब्रिटिश सरकार को परेशान करो और उसके साथ असहयोग करो'—तो आप यकीन रखिए कि इसकी वजह से आज की अपेक्षा हमें पांच सौ गुना अधिक मुसीबतें झेलनी पड़ेंगी। यह सवाल कोई बन्दूकों का नहीं है, इस तरह से तो मुसलमानों के पास पांच सौ गुना ज्यादा बन्दूकें हैं। मैं यद्यपि हिन्दुओं को भला-बुरा नहीं कहना चाहता लेकिन भारत में कोई भी विवेकशील व्यक्ति आपको यह बता देगा कि यह तो उन (हिन्दुओं) का स्वभाव ही है और उन्हें इसी वातावरण में पाला-पोसा गया है। लेकिन मैं स्वयं अपने से ही पूछता हूं कि क्या यह ठीक है कि हम पांच सौ गुना अधिक तकलीफें दे सकते हैं, पर सवाल तो यह है कि आखिर इसका नतीजा क्या निकलेगा? मुझे तो इसके केवल दो ही परिणाम दिखाई देते हैं—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण अथवा उत्तर किसी भी दिशा से विदेशी आक्रान्तता इस देश पर छा जायगा। अगर ऐसा हुआ तो फिर भला मेरी कुर्बानियों से क्या लाभ होगा? और अगर दूसरे दल मेरे साथ नहीं है तो उसका परिणाम गृहयुद्ध होगा। दूसरा परिणाम मुझे यह दिखाई देता है कि अगर मुसलमान इस विद्रोह की आग लगाते हैं और वे ब्रिटिश सत्ता को पंगु बना देने के काम में सफल भी हो

आते हैं, तब भी मेरा ख्याल है कि इसके परिणामस्वरूप भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। चाहे मैं ब्रिटेन की नीति की कितनी ही निन्दा क्यों न करूँ और इस-बारे में जोरदार विचार प्रकट करूँ, फिर भी जब मैं इन परिणामों की बात सोचता हूँ तो मैं इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ कि मेरी स्थिति खरबूजे से भिन्न नहीं है।"

एक ओर सर सिकन्दर हयातखां की इस कोशिश से कि पंजाब के मामलों में वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र बने रहें और दूसरी ओर इस कोशिश से कि अखिल भारतीय मामलों में वे लीग के साथ चलें—उनके लिये बड़ी परेशानियाँ और पेचीदगियां पैदा हो गईं और इसी के फलस्वरूप कभी-कभी उनपर अपनी बात पर जमे न रहने का इलजाम भी लगाया जाने लगा। उनसे बहुत से विषयों पर सवाल पूछे गए। गुरु नानक के जन्म-दिवस के समारोह पर भोपाल के नवाब की पंजाब-यात्रा के अवसर पर सर सिकन्दर ने भारत की एकता के लिए जोरदार अपील की। एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि पाकिस्तान महज एक नारा है। वे स्वयं भी प्रादेशिक इकाइयों के स्वभाग्य-निर्णय के जोरदार समर्थक थे और इसकी सफलता पर विभिन्न इकाइयों के आपसी समझौते पर निर्भर थी। जहां तक उन्हें मालूम था, श्री जिन्ना ने पाकिस्तान की कोई निश्चित व्याख्या नहीं की थी। उन्होंने अब तक उसकी कोई परिभाषा देश के सामने पेश नहीं की थी। सर सिकन्दर के ख़याल में आत्मनिर्णय का सिद्धान्त क्रिप्स-योजना से भिन्न नहीं था।

श्री जिन्ना का सबसे अधिक अनोखा रुख उस वक्त प्रकट हुआ जबकि उन्होंने 'न्यूज क्रानिकल' के संवाददाता से एक भेंट में १३ अक्तूबर को जोरदार शब्दों में यह कहा कि, "भारत कभी भी अपनी समस्याओं का हल ढूँढने में सफल नहीं हो सका है, और अतीत में सदैव ब्रिटेन ने अपना हल भारत के ऊपर लादा है। इस समय वे ब्रिटेन से यह पक्का वायदा ले लेना चाहते हैं कि लड़ाई के बाद उन्हें पाकिस्तान मिल जायगा और इसके बदले में वे एक अस्थायी सरकार में इस शर्त पर शामिल होने को तैयार होंगे कि उन्हें भी हिन्दुओं जितनी ही सीटें मिलें।" आगे आपने कहा, "अगर ब्रिटिश सरकार कल ही ऐसा कोई आश्वासन दे दे तो मेरा ख़याल है कि हिन्दू-भारत इस प्रत्यक्ष और अनिवार्य परिणाम को स्वीकार कर लेगा।"

इस समय सर सिकन्दर हयातखां ने पंजाब की अन्तःसांप्रदायिक समस्या को सुलझाने के लिए जो हल निकाला था—उसके लिए समर्थन प्राप्त करने की जोरदार कोशिशें हो रही थीं और यह ख़याल किया जा रहा था कि इस हल के परिणामस्वरूप भारत की वैधानिक समस्या खुद-ब-खुद सुलझ जायगी। यह भी पता चला है कि बंगाल के कुछ प्रभावशाली नेताओं ने भी सर सिकन्दर की योजना का खूब जोरदार स्वागत किया। यद्यपि अधिकृत रूप से यह फार्मूला अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था, परन्तु पता चला कि संबद्ध सम्प्रदायों के नेताओं के पास वह भेज दिया गया था और ये लोग उस पर बड़ी गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार कर रहे थे, लेकिन उस समय तक हिन्दू और सिक्ख मुसलमानों और गैर-मुसलमानों—दोनों के लिए ही आत्मनिर्णय का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने के बारे में किसी फैसले पर नहीं पहुँच सके थे।

सर सिकन्दर की योजना के अन्तर्गत पंजाब को दो हिस्सों में बाँट देने की बात कही गई थी—पूर्वी और पश्चिमी भाग। परन्तु यह विभाजन उसी हालत में किया जाना था अगर वर्तमान मताधिकार के आधार पर निर्वाचित आगामी प्रान्तीय धारा-सभा के ७५ प्रतिशत सदस्य यह फैसला करें कि पंजाब प्रस्तावित संघ में शामिल नहीं होगा। उस अवस्था में धारा-

सभा के मुसलमान और गैर-मुसलमान सदस्य ६० प्रतिशत बहुमत से यह फैसला कर लें कि क्या उन्हें अपने-अपने सम्प्रदाय के लिए पृथक्-पृथक् राष्ट्र स्थापित करने चाहिये या नहीं। परन्तु इसका फैसला जनता की मतगणना के जरिये ही किया जाय और केवल वही लोग इसके लिए वोट दे सकेंगे, जिन्हें ऐसा करने का हक़ हासिल होगा। यदि मुस्लिम-बहुल आबादीवाला पश्चिमी प्रदेश प्रस्तावित संघ से अलग रहने का फैसला करे तो पूर्वी पंजाब के हिन्दू और सिक्ख बहुल इलाक़े को भी हक़ होगा कि अगर वह चाहे तो भारतीय संघ में शामिल हो सकता है। बाद में समाचार-पत्रों में इस बात का खंडन किया गया कि यही सर सिकन्दर की योजना थी। लेकिन उसके कुछ समय बाद इस खण्डन का भी प्रतिवाद किया गया। लेकिन इतने पर भी सर सिकन्दर ने एक ही राष्ट्र का प्रतिपादन करते हुए गुरु नानक के जन्म-दिवस पर दिसम्बर १६४१ में कहा कि, "हम एक ही राष्ट्र हैं और हमारा एक ही देश है।" दिसम्बर में भारत और इंग्लैण्ड दोनों ही जगह मुगल सम्राट् अकबर की ४०० वीं सालगिरह मनाई गई। लन्दन के समारोह में श्री एमरी ने भी भाग लिया। इस अवसर पर उन्होंने भारतीयों को अकबर की नीति पर चलने की सलाह दी।

इस अवसर पर बम्बई में एक प्रमुख मुस्लिम लीगी नेता डा० काजी की अध्यक्षता में एक मुशायरा हुआ। डा० काजी ने अपने भाषण में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर ज़ोर दिया, जिसमें अकबर महान् का दृढ़ विश्वास था।

श्री जिन्ना ने मांग की कि गांधीजी को जेल के भीतर से ही एक वक्तव्य सिविल-नाफ़रमानी बन्द कर देने के सम्बन्ध में जारी करना चाहिए जैसा कि १६४१ में सिन्ध के मन्त्रि-मण्डल के सम्बन्ध में कांग्रेस के प्रधान ने किया था।

इन्हीं दिनों सर मोहम्मद जफरुल्ला ख़ां प्रशान्त संघ के सम्मेलन में भाग लेने अमरीका गये हुए थे। न्यूयार्क से कैनेडा जाते हुए आपने भारतीय समस्या को सुलझाने के लिये दो तरीक़े बताए। आपने कहा कि पहला तरीक़ा यह है कि कांग्रेस उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम के इलाक़ों में पाकिस्तान की स्थापना के सम्बन्ध में श्री जिन्ना की मांग स्वीकार कर ले। दूसरे यह कि अँग्रेजों को भारत छोड़कर चले जाने की मांग करने से पूर्व महात्मा गांधी, पंडित नेहरू और उनके अन्य सहयोगियों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि "मुसलमानों का डर उचित है और इसलिए उन्हें एक ऐसा समझौता कर लेना चाहिए जिसके अन्तर्गत मुसलमानों और दूसरे अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण की उचित व्यवस्था कर दी गई हो।" अन्त में आपने कहा कि इस तरह से दोनों ही हालतों में जल्दी ही कोई समझौता हो जाने की उचित आशा की जा सकती है।

लीग के सभी अनुयायी उसके दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। एक विचारपत्र में मुसलमानों की ओर से भारत में ब्रिटिश हुकूमत ख़त्म किये जाने, नेताओं की रिहाई, और जिन्ना से कांग्रेस के साथ फिर से समझौते की बातचीत शुरू करने की मांग की गई। इसके अलावा इसमें तत्काल कांग्रेस और लीग में समझौते और एकता की आवश्यकता और इस संकटपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय परि-स्थिति में विदेशी आक्रमण के विरुद्ध भारत की रक्षा के लिए एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की भी ज़ोरदार मांग की गई।

१ नवम्बर १६४२ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की कौंसिल में भाषण देते हुए

श्री जिन्ना ने पाकिस्तान और केन्द्र में एक अस्थायी सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में लीग की स्थिति पर पुनः प्रकाश डाला।

नवम्बर १९४२ के मध्य में दिल्ली में श्री जिन्ना ने भारत के मुसलमानों से पाकिस्तान हासिल करने के लिये कटिबद्ध रहने की अपील करते हुए कहा कि "या तो हम पाकिस्तान लेकर रहेंगे और या फिर अपना अस्तित्व ही मिटा देंगे।" १९१७ में श्री जिन्ना एक संयुक्त भारत के ज़बरदस्त हामी थे, लेकिन १९४२ में हम देखते हैं कि वे अपने इस उच्च आदर्श से कितना नीचे गिर गये थे। ३० दिसम्बर १९१६ को लखनऊ में होनेवाले मुस्लिम लीग के अधिवेशन में इस सवाल का जवाब देते हुए कि "क्या भारत स्वतंत्रता का अधिकारी है ?"— आपने कहा था : "कभी-कभी मुसलमानों के ऊपर पृथक्वादिता का जो इलज़ाम लगाया जाता है वह मुझे बिल्कुल अनुचित और बेमानी प्रतीत होता है, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि यह महान् साम्प्रदायिक सङ्गठन संयुक्त भारत की स्थापना में बड़ी शीघ्रता के साथ एक प्रभावशाली साधन बनता जा रहा है।"

भारत को विभाजित करने की लीग की मांग की प्रतिक्रिया उत्साहवर्द्धक और सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती थी। १९४२ (दिसम्बर) में कलकत्ता के फेडरेशन आफ (यूरोपियन) चेम्बर्स आफ कामर्स के सम्मुख भाषण देते हुए वाइसराय ने भारत की 'भौगोलिक एकता' पर ज़ोर देकर मुस्लिम लीग की मांग पर पानी फेर दिया था। इसके बाद भारत से प्रस्थान करने से पूर्व नरेन्द्रमण्डल के सम्मुख दिये गए अपने भाषण में भी लार्ड लिनलिथगो ने भारत के लिये संघ-योजना का जोरदार समर्थन करके लीग के इस आदर्श पर अपना अन्तिम प्रहार किया। इसी बीच सिन्ध में श्री अब्दुलमजीद और सिन्ध असेम्बली के दो और सदस्यों ने मुस्लिम लीग से इस्तीफा दे दिया। इस घटना के कुछ समय बाद ही बंगाल के मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन हुआ।

इस अवसर पर एक और प्रसंग का उल्लेख करने के लिए हम पाठकों से क्षमा चाहेंगे। नवम्बर के पहिले सप्ताह में लाहौर के एक २५ वर्षीय नवयुवक रफीक़ साबिर मोजंगवी पर श्री जिन्ना की हत्या करने और स्वेच्छा से उन पर हमला करने के अपराध में मुकदमा चलाकर बम्बई हाईकोर्ट की फौजदारी अदालत के जस्टिस श्री ब्लैजडैन ने उसे पांच साल की सख्त कैद की सज़ा दी।

इस मुकदमे के सिलसिले में श्री जिन्ना ने जो गवाही दी उसकी तुलना यदि आप गांधी-जी के जीवन की एक ऐसी ही घटना से करके देखें तो आपको पता चल जायगा कि दोनों घटनाओं में कितना अन्तर है। दक्षिण अफ्रीका में एक बार एक पठान ने गांधीजी पर हमला किया और उनके दो अगले दांत तोड़ दिये। इस पर जब पुलिस गांधीजी के पास इस मामले के सिलसिले में पूछ-ताछ करने आई तो गांधीजी ने उसे यह कहकर वहाँ से चले जाने को कहा कि हमलावर के प्रति उनके दिल में कोई दुर्भावना नहीं है और उन्होंने कहा कि वे अच्छी तरह से अनुभव करते हैं कि उस पठान ने यह समझा होगा कि उनकी कार्रवाइयां उसके हितों के खिलाफ हैं। इसलिए उस अभियुक्त पर कोई मुकदमा नहीं चलाया गया और बाद में वही पठान गांधीजी का निजी अंगरक्षक बन गया। ऐसी ही एक और घटना उनके साथ भारत में भी हुई जबकि १९३३ में हरीजन-आन्दोलन के सम्बन्ध में पूना के उनके दौरे के दरमियान उन पर बम फेंका गया जिससे उनके दल का एक व्यक्ति ज़ख्मी हो गया। पुलिस को इस बारे में खबर तक

भी नहीं होने दी गई। श्री जिन्नावाली घटना के सम्बन्ध अल्लामा मशरकी ने कहा कि अगर उन पर ऐसा हमला किया जाता तो वे उस मामले को ही दबा देते और आगे न बढ़ने देते और हो सकता है कि उनकी यह बात अव्यावहारिक और असंगत समझी जाती। लेकिन गांधीजी के जीवन में तो चिरकाल से यही बात चली आ रही थी और वे इसे कार्य रूप में भी परिणत करके दिखा चुके थे।

आजाद मुस्लिम कान्फ्रेंस ने दिल्ली में हुई अपनी एक बैठक में निम्न प्रस्ताव पास किया :—

"आजाद मुस्लिम बोर्ड की यह सभा भारत के लोगों से अपील करती है कि वे इस महान् संकट के अवसर पर देश और जाति के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करते हुए अन्तर्सांप्रदायिक एकता और विश्वास की दृढ़ भावना पैदा करने के लिए अपनी कोई कसर न उठा रखें। सांप्रदायिक समस्या के निबटारे के सिलसिले में कांग्रेस इतना आगे बढ़ चुकी है कि उसके नेताओं के साथ और समझौता करके युद्धोत्तरकालीन वैधानिक फैसले में किसी भी संप्रदायके हितों और अधिकारों को नुकसान पहुंचाए बिना ही युद्धकाल तक के लिए एक अस्थायी संयुक्त सरकार की स्थापना की जा सकती है।"

भारत की भावी स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली संपूर्ण समस्या के प्रति श्री जिन्ना के रुख का उनके धर्मावलंबियों की एक बड़ी संख्या समर्थन नहीं कर रही थी और इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि पाकिस्तान की योजना के खिलाफ लड़ने के लिए जून १६४३ के मध्य में शेख मुहम्मद एम० एल० सी० की मध्यस्थता में 'मुस्लिम मजलिस' नाम से एक नये मुस्लिम संगठन की नींव रखी गई जिसका प्रधान कार्यालय कलकत्ता में था। अखबारों के नाम जारी किये गए अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा :—

"पिछले दो साल से श्री जिन्ना ने बारंबार कोई-न-कोई बहाना करके कांग्रेस के नेताओं से मुलाकात करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है और उन्हें यह बताने की कोशिश भी नहीं की कि पाकिस्तान की योजना या मुसलमानों के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार से उनका वास्तविक अर्थ क्या है। इस वजह से उनके अनुयायियों के दिल में उनके उद्देश्य के बारे में सन्देह पैदा हो गए हैं। कांग्रेस से बिना शर्त आत्मसमर्पण करने की उनकी मांग के कारण उनके कट्टर समर्थकों को भी यकीन हो गया है कि श्री जिन्ना को न तो भारत की आजादी की परवाह है और न ही पाकिस्तान की। उन्हें तो केवल इस बात की परवाह है भारत की आजादी और पाकिस्तान को खो देने का खतरा उठाकर भी किसी-न-किसी प्रकार से उनकी मौजूदा अनुचित स्थिति बनी रहे। मुस्लिम जनता को श्री जिन्ना को इस आंख-मिचौनी के खेल का वास्तविक महत्त्व समझाने के उद्देश्य से और उन्हें यह बताने के लिये कि वे इस तरह से एक अनिश्चित काल के लिए सांप्रदायिक समझौते को क्यों स्थगित करते जा रहे हैं, इस 'मुस्लिम मजलिस' नामक संस्था को जन्म दिया गया है। इस मजलिस के तीन उद्देश्य हैं। इसका पहला उद्देश्य भारतीय-समस्या का हल ढूंढने के लिये अन्य दलों के साथ मिलकर देश के वर्तमान गतिरोध को दूर करना है। दूसरा उद्देश्य भारत के लिए राजनीति के और आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति और तीसरा न केवल भारत के मुसलमानों की जन-संख्या को देखते हुए ही बल्कि भारत में मुसलमानों की विशिष्ट परिस्थिति और इस उप-महाद्वीप में उसके महत्त्व का ख्याल रखते हुए उनके अधिकारों का संरक्षण करने की व्यवस्था है। इसके अलावा मजलिस का एक और उद्देश्य भारत के विभाजन का विरोध

करना है, क्योंकि यह न केवल अव्यावहारिक और भारत की आजादी को नुकसान पहुंचाने-वाला है, बल्कि उससे भारतीय मुसलमानों के हितों को नुकसान पहुंचेगा।

(४) हिन्दूमहासभा की प्रतिक्रिया

समय-समय पर भारतीय राजनीतिक आकाश में विभिन्न राजनीतिक अथवा सामाजिकता-युक्त राजनीतिक संस्थाओं ने जन्म लिया है। इनमें से पुरानी राष्ट्रीय महासभा और सबसे छोटी एवं नवीनतम संस्था हिन्दू महासभा है। कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई थी और शुरू से यह एक राष्ट्रीय संस्था बनी रही जिसका एक स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य था। यहां तक कि १८८८ में आगरा और अवध (वर्तमान संयुक्त प्रान्त) के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर आकलैण्ड कॉलविन ने कांग्रेस को एक राजद्रोहात्मक संगठन करार दिया। हिन्दू महासभा को स्थापित हुए निस्संदेह लगभग पचीस साल हो चुके हैं, क्योंकि २१ दिसम्बर १९४२ को कानपुर में उसका २४वां अधिवेशन हुआ था। जिस प्रकार कांग्रेस और लीग को भारत-सरकार सदा से अधिकृत संस्थाओं के रूप में स्वीकार करती आरही है, उसी प्रकार उसने ८ अगस्त १९४० वाले वक्तव्य में पहली बार हिन्दूमहासभा को भी एक अधिकृत संस्था स्वीकार कर लिया और इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमने इसे नवीनतम राजनीतिक संगठन कहा है। बहरहाल, हिन्दू महासभा ने धीरे-धीरे अपना संगठन मजबूत किया है और हाल में उसने 'सक्रिय आन्दोलन' शुरू करने की भी धमकी दी है, जिसे समाचारपत्रों ने गलती से प्रत्यक्ष कार्रवाई का नाम दिया, किन्तु शीघ्र ही यह गलती सुधार दी गई। फिलहाल तो हिन्दू महासभा का मुख्य कार्यक्रम लीग के प्रस्तावों का विरोध करना और उनके खिलाफ लड़ना ही रहा है, परन्तु कभी-कभी उसने और सवाल भी उठाए हैं, जैसे कि सांप्रदायिक आधार पर लोगों पर लगाए गए जुर्माने का विरोध। इसी प्रकार एक और मौके पर जबकि सरकार ने पीर पगारो की विशाल संपत्ति ज़ब्त करके अप्रैल १९४३ में उसे फांसी लगा दी और लीग ने अपने एक प्रस्ताव-द्वारा सरकार से पीर की सारी संपत्ति गरीब मुसलमानों के लिए खर्च करने का आग्रह किया तो हिन्दू महासभा ने उसका विरोध करते हुए यह धन उन असंख्य हिन्दुओं को मुआवजे के तौर पर दिये जाने की मांग की, जिन्हें पीर पगारो ने लूटा था। मुस्लिम लीग और अकाली दल की भांति हिन्दू महासभा को भी तीन-तीन मोर्चों पर लड़ना पड़ता था। एक तरफ वह लीग के खिलाफ लड़ रही थी, दूसरी ओर कांग्रेस के खिलाफ। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि मानों कांग्रेस के खिलाफ कट्टर मौलवी और सनातनी पंडित एक साथ मिलकर मोर्चा ले रहे हैं। जहां तक सरकार के खिलाफ लड़ने का सवाल है, कांग्रेस को छोड़कर भारत की अन्य संस्थाओं की भांति हिन्दू महासभा भी केवल सुन्दर शब्दों से युक्त प्रस्ताव करके संतोष कर लेती थी और कभी-कभी उसके प्रस्ताव कांग्रेस के प्रस्तावों-जितने लम्बे और बड़े भी हो जाते थे। जिस प्रकार बरसों से लीग का एक ही प्रधान चला आरहा है, उसी प्रकार सभा भी लगभग स्थायी रूप से एक ही व्यक्ति को अपना प्रधान चुनती रही। १९४४ तक श्री सावरकर कई वर्षों तक सभा के प्रधान-पद को सुशोभित करते रहे। इंग्लैण्ड में भारत की आजादी के लिए उनके प्रयत्न, मार्सलीज बन्दरगाह में आश्चर्यजनक ढंग से उनके निकल भागने के बाद फ्रांस की भूमि पर अंग्रेजों-द्वारा उनकी कानून विरुद्ध गिरफ्तारी और १२ वर्ष तक रत्नगिरी में आजीवन कैद के रूप में उनकी कुर्बानियों के लिए भारत के हिन्दुओं ने उन्हें यह सम्मान प्रदान किया था। आपके इकसठवें जन्म दिन पर आपको तीन लाख रुपये से भी अधिक की एक थैली भेंट की गई।

गांधीजी और उनके साथियों की गिरफ्तारी के अवसर पर श्री सावरकर ने हिन्दुओं को सलाह दी कि वे "कांग्रेस-आन्दोलन में किसी प्रकार की भी मदद न करें।" और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी, क्योंकि जीवन भर वे भारतीय राष्ट्रवाद के स्थान पर हिन्दुत्व और हिन्दू सांप्रदायिकता का प्रचार करते रहे हैं। कांग्रेस के जेल जाने के बाद मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में मंत्रिमंडल बनाने में उन्होंने विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग कारणों से हिन्दुओं को भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया, लेकिन इन सभी मामलों में वास्तव में वे मुस्लिम लीग की नीति का अनुसरण कर रहे थे। लीग की भांति उन्हें भविष्य की बजाय अपने तात्कालिक उद्देश्य की अधिक परवाह थी, भारतीय आजादी की बजाय सांप्रदायिक लाभ का अधिक ध्यान था और ब्रिटेन के विरुद्ध लड़ने की बजाय उसके साथ मिलकर काम करने की नीति अधिक पसन्द थी।

(५) सिखों की प्रतिक्रिया

पिछले पचास साल से भी ज्यादा अर्से से भारतीय राष्ट्रवाद देश के विभिन्न संप्रदायों और प्रान्तों को एकता के एक सूत्र में बांधने की भरसक चेष्टा कर रहा था। उसकी कोशिश थी कि संपूर्ण देश की एक-समान आकांक्षाएं और एक-समान उद्देश्य हों। और इस काम में उसे कल्पनातीत और आश्चर्य-जनक सफलता भी मिली है। ऐसा मालूम होता है कि मानों रूस को छोड़कर शेष सारा ही यूरोप एक संयुक्त-राष्ट्र के रूप में उठ खड़ा हुआ हो। कभी फ्रांस, कभी रूस और कभी जर्मनी ने संपूर्ण यूरोप को अपनी-अपनी छत्रछाया में लाने की महत्वाकांक्षाएं की हैं, लेकिन उनका यह प्रयत्न समान बपौती परंपरा, भाषा, साहित्य, सामाजिक कानून और धार्मिक संस्थाओं पर आधारित राष्ट्रवाद का द्योतक न होकर साम्राज्यवाद का प्रतीक था। जब कि राष्ट्रवाद का क्षेत्र और विस्तार किसी देश की प्राकृतिक सीमाएं थीं, साम्राज्यवाद का क्षेत्र महाद्वीप की सीमाएं थीं। भारत के मामले में यह समस्या इतनी कठिन नहीं थी, क्योंकि भारतीय इतिहास के बाद के युग में लोगों के इस्लाम धर्म अथवा सिक्ख संस्कृति में शामिल होजाने पर भी देश की एकता अक्षुण्ण बनी रही। विदेशी सत्ता उचित रूप से यह दावा कर सकती है कि ऐसा केवल उसकी केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के कारण ही संभव हो सका है, क्योंकि समस्त देश के लिए एक-से कानून, एक-से यातायात् के साधन और एक ही तरह की शस्त्र-व्यवस्था रही है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस विकासवाद के परिणामस्वरूप देश में फूट के बीज भी बोए गए। भारत में सिक्खों की कुल आबादी लगभग ६५ लाख है और वे देश के एक संबद्ध प्रदेश में रहते हैं। उनकी प्रेरणा का प्रधान स्रोत स्वतंत्रता की परंपराएं और बहादुरी है। इन चीजों के लिए उनमें अटूट प्रेम और श्रद्धा होते हुए भी वे ऐसे विचारों, प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं के शिकार होगए हैं जिनका हिन्दुस्तान की व्यापक राष्ट्रीयता से मेल नहीं बैठता। विदेशी शासन की सदैव यह कोशिश रहती है कि लोगों का ध्यान अपने देश की आजादी हासिल करने के बजाय छोटी-छोटी बातों की ओर लगा दिया जाय जिससे कि वे उसे सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए विवश न कर सकें। विदेशी सत्ता की इन चालों में पड़कर देश भूल जाता है कि उसके लिए सही रास्ता कौन-सा है। देश के रहनेवाले लोग म्युनिसिपल और दूसरी स्थानीय संस्थाओं, प्रान्तीय और अखिल भारतीय नौकरियों में अपने-अपने समुदाय के लिए विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं और यह समझ लेते हैं कि इस तरह से उन्हें शक्ति प्राप्त हो जायगी। इस तरह से देश के महान् हित उनकी आंखों से ओझल

होजाते हैं। क्या कोई सिक्ख हाईकोर्ट का जज है ? उनके सिर्फ कहने भर की देर होती है कि एक सिक्ख को हाईकोर्ट का जज बना दिया जाता है। क्या पंजाब के मंत्रिमण्डल में कोई सिक्ख नहीं लिया गया ? कहने भर की देर थी कि सिकन्दर-बलदेवसिंह समझौता हो जाता है और सर सिकन्दर, सरदार बलदेवसिंह को अपने मंत्रि-मंडल में ले लेते हैं । क्या वजह है कि अब तक वाइसराय की शासन-परिषद् में कोई सिक्ख नहीं लिया गया ? दूसरे ही क्षण सर जोगेन्द्रसिंह को भूमि, स्वास्थ्य और शिक्षा-विभाग का सदस्य नियुक्त कर दिया जाता है । छोटे-छोटे सुधार हमेशा से ही बड़े-बड़े सुधारों के दुश्मन और विरोधी रहे हैं । खुश करने की इन चालों का एक ही मकसद होता है कि लोगों का ध्यान देश के राष्ट्रीय जीवन की मुख्य समस्याओं से हटाकर छोटी-छोटी समस्याओं की ओर लगा दिया जाय । भारतीय इतिहास की उस महान् विभूति सरदार रणजीतसिंह के साथ वाइसराय और गवर्नरों के हाथ की कठपुतलियां इन छोटे-छोटे सरदारों की जरा तुलना तो कर देखिए ! इसलिए अगर बम्बई-प्रस्ताव के अनुसार कार्यान्वित किये जाने-वाले कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक ओर कांग्रेस को सिक्खों की तटस्थता ही नहीं बल्कि उनके विरोध का भी सामना करना पड़ता है और दूसरी ओर अन्य दलों के साथ-साथ उनका हृदय जीतने की भी कोशिश करनी पड़ती है, तो इसमें आश्चर्य कैसा ? उसे तो अपने महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सब कुछ करना ही पड़ेगा । कांग्रेस की स्थिति इस कारण और भी अधिक पेचीदा और कठिन हो जाती है कि सिक्ख एक पेशेवर लड़ाकू जाति है और वे सेना और लड़ाई के मैदान में भी अपने लिए उतने ही संरक्षण चाहते हैं जितने कि सार्वजनिक मामलों में । परन्तु एक बात जरूर है कि लीग की भांति सिक्खों ने अखिल भारतीय समस्या को सुलझाने और देश में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के मार्ग में रोड़े नहीं अटकाए। उनकी एकमात्र मांग अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के अनुपात से सेना और ग़ैर-सैनिक नौकरियों में अपना निर्धारित भाग हासिल करना है। वे राष्ट्रवादी हैं और राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए वे अपना खून भी बहाने को तैयार हैं और यदि उन्हें उनका निर्धारित हिस्सा मिलता रहे तो वे सांप्रदायिकता को भी तिलांजलि देने को तैयार हैं।

(६) भारतीय ईसाइयों की प्रतिक्रिया

जैसी कि आशा की जाती थी अगस्त-प्रस्ताव के सम्बन्ध में भारतीय ईसाइयों की प्रतिक्रिया अच्छी और संतोषजनक रही। मार्च में दिल्ली में होनेवाले अखिल भारतीय ईसाई सम्मेलन के २५वें अधिवेशन के नाम अपने स्वागत-सन्देश में सर फ्रेडरिक-जेम्स ने कहा कि यह सम्मेलन भारत में सुलह-सफाई कराने के लिए एक सर्वथा उचित साधन सिद्ध हो सकता है। कांफ्रेंस के सम्मुख भाषण देते हुए पण्डित कुंजरू ने कहा कि एक ऐसे समय में जब कि देश के विभाजन का खतरा बढ़ता जा रहा है, केवल यही एकमात्र संस्था है जो देश की एकता का प्रतिपादन करती हुई साम्प्रदायिक हितों का खयाल न करके देश के हितों को सर्वोपरि स्थान देने को तैयार है। इसके अलावा भारतीय ईसाई स्वयं भी चूंकि एक अल्पसंख्यक हैं इसलिए वे साधारणतः दूसरे अल्पमतों की कठिनाइयों और दृष्टिकोण को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। सर महाराजसिंह ने अध्यक्षपद से भाषण देते हुए सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने, गांधीजी को रिहा करने, भारतीय राजनीतिक समस्या को हल करने के लिए सभी प्रमुख दलों की एक गोलमेज-परिषद् बुलाने और लड़ाई के समाप्त होने तक पाकिस्तान के बारे में अन्तिम-निर्णय

स्थगित करने की जोरदार अपील की। गोलमेज-परिषद् बुलाने का स्वाभाविक अर्थ यह था कि कांग्रेस के नेताओं को रिहा कर दिया जाय। इस सम्मेलन ने जो प्रस्ताव पास किये उनमें भी उसने यही विचार प्रकट किये। इसके अलावा सम्मेलन ने यह सुझाव भी पेश किया कि अगर विभिन्न सम्प्रदायों में कोई समझौता न हो सके तो 'इस समस्या का फैसला एक अन्तर्राष्ट्रीय पंच से करा लिया जाय।' सांप्रदायिक समस्या को सुलझाने के अलावा सम्मेलन ने ब्रिटिश सरकार से 'लड़ाई खत्म हो जाने के बाद दो साल के भीतर भारत को पूर्ण आजादी देने की स्पष्ट घोषणा' करने के लिए भी कहा। और इस बीच उसने 'युद्ध-प्रयत्न में भारतीय जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से केन्द्र और प्रांतों में तत्काल ऐसी संयुक्त सरकारें स्थापित' करने की मांग की। उसने यह मांग भी की कि केन्द्रीय सरकार में प्रधान सेनापति के अलावा शेष सभी सदस्य गैर-सरकारी ही लिए जाएँ।